अनुक्रम

गीता दर्शन अध्याय 1-2

पहला प्रवचन

विचारवान अर्जुन और युद्ध का धर्मसंकट

श्रीमद्भगवद्गीता अथ प्रथमोऽध्यायः

धृतराष्ट्र उवाच

धर्मक्षेत्रे कुरुक्षेत्रे समवेता युयुत्सवः।

मामकाः पाण्डवाश्चैव किमकुर्वत संजय।। 1।।

धृतराष्ट्र बोलेः हे संजय, धर्मभूमि कुरुक्षेत्र में इकट्ठे हुए, युद्ध की इच्छा वाले, मेरे और पांडु के पुत्रों ने क्या किया?

धृतराष्ट्र आंख से अंधे हैं। लेकिन आंख के न होने से वासना नहीं मिट जाती; आंख के न होने से कामना नहीं मिट जाती। काश! सूरदास ने धृतराष्ट्र का ख्याल कर लिया होता, तो आंखें फोड़ने की कोई जरूरत न होती। सूरदास ने आंखें फोड़ ली थीं; इसलिए कि न रहेंगी आंखें, न मन में उठेगी कामना! न उठेगी वासना! पर आंखों से कामना नहीं उठती, कामना उठती है मन से। आंखें फूट भी जाएं, फोड़ भी डाली जाएं, तो भी वासना का कोई अंत नहीं है।

गीता की यह अदभुत कथा एक अंधे आदमी की जिज्ञासा से शुरू होती है। असल में इस जगत में सारी कथाएं बंद हो जाएं, अगर अंधा आदमी न हो। इस जीवन की सारी कथाएं अंधे आदमी की जिज्ञासा से शुरू होती हैं। अंधा आदमी भी देखना चाहता है उसे, जो उसे दिखाई नहीं पड़ता; बहरा भी सुनना चाहता है उसे, जो उसे सुनाई नहीं पड़ता। सारी इंद्रियां भी खो जाएं, तो भी मन के भीतर छिपी हुई वृत्तियों का कोई विनाश नहीं होता है।

तो पहली बात तो आपसे यह कहना चाहूंगा कि स्मरण रखें, धृतराष्ट्र अंधे हैं, लेकिन युद्ध के मैदान पर क्या हो रहा है, मीलों दूर बैठे उनका मन उसके लिए उत्सुक, जानने को पीड़ित, जानने को आतुर है। दूसरी बात यह भी स्मरण रखें कि अंधे धृतराष्ट्र के सौ पुत्र हैं, लेकिन अंधे व्यक्तित्व की संतति आंख वाली नहीं हो सकती है; भला ऊपर से आंखें दिखाई पड़ती हों। अंधे व्यक्ति से जो जन्म पाता है--और शायद अंधे व्यक्तियों से ही लोग जन्म पाते हैं--तो भला ऊपर की आंख हो, भीतर की आंख पानी कठिन है।

यह दूसरी बात भी समझ लेनी जरूरी है। धृतराष्ट्र से जन्मे हुए सौ पुत्र सब तरह से अंधा व्यवहार कर रहे थे। आंखें उनके पास थीं, लेकिन भीतर की आंख नहीं थी। अंधे से अंधापन ही पैदा हो सकता है। फिर भी यह पिता, क्या हुआ, यह जानने को उत्सुक है।

तीसरी बात यह भी ध्यान रख लेनी जरूरी है। धृतराष्ट्र कहते हैं, धर्म के उस कुरुक्षेत्र में युद्ध के लिए इकट्ठे हुए... ।

जिस दिन धर्म के क्षेत्र में युद्ध के लिए इकट्ठा होना पड़े, उस दिन धर्मक्षेत्र धर्मक्षेत्र बचता नहीं है। और जिस दिन धर्म के क्षेत्र में भी लड़ना पड़े, उस दिन धर्म के भी बचने की संभावना समाप्त हो जाती है। रहा होगा वह धर्मक्षेत्र, था नहीं! रहा होगा कभी, पर आज तो वहां एक-दूसरे को काटने को आतुर सब लोग इकट्ठे हुए थे।

यह प्रारंभ भी अदभुत है। यह इसलिए भी अदभुत है कि अधर्मक्षेत्रों में क्या होता होगा, उसका हिसाब लगाना मुश्किल है। धर्मक्षेत्र में क्या होता है? वह धृतराष्ट्र संजय से पूछते हैं कि वहां युद्ध के लिए आतुर मेरे पुत्र और उनके विरोधियों ने क्या किया है, क्या कर रहे हैं, वह मैं जानना चाहता हूं।

धर्म का क्षेत्र पृथ्वी पर शायद बन नहीं पाया अब तक, क्योंकि धर्मक्षेत्र बनेगा तो युद्ध की संभावना समाप्त हो जानी चाहिए। युद्ध की संभावना बनी ही है और धर्मक्षेत्र भी युद्धरत हो जाता है, तो हम अधर्म को क्या दोष दें, क्या निंदा करें! सच तो यह है कि अधर्म के क्षेत्रों में शायद कम युद्ध हुए हैं, धर्म के क्षेत्रों में ज्यादा युद्ध हुए हैं। और अगर युद्ध और रक्तपात के हिसाब से हम विचार करने चलें, तो धर्मक्षेत्र ज्यादा अधर्मक्षेत्र मालूम पड़ेंगे, बजाय अधर्मक्षेत्रों के।

यह व्यंग्य भी समझ लेने जैसा है कि धर्मक्षेत्र पर अब तक युद्ध होता रहा है। और आज ही होने लगा है, ऐसा भी न समझ लेना; कि आज ही मंदिर और मस्जिद युद्ध के अड्डे बन गए हों। हजारों साल पहले, जब हम कहें कि बहुत भले लोग थे पृथ्वी पर, और कृष्ण जैसा अदभुत आदमी मौजूद था, तब भी कुरुक्षेत्र के धर्मक्षेत्र पर लोग लड़ने को ही इकट्ठे हुए थे! यह मनुष्य की गहरे में जो युद्ध की पिपासा है, यह मनुष्य की गहरे में विनाश की जो आकांक्षा है, यह मनुष्य के गहरे में जो पशु छिपा है, वह धर्मक्षेत्र में भी छूट नहीं जाता, वह वहां भी युद्ध के लिए तैयारियां कर लेता है।

इसे स्मरण रख लेना उपयोगी है। और यह भी कि जब धर्म की आड़ मिल जाए लड़ने को, तो लड़ना और भी खतरनाक हो जाता है। क्योंकि तब जस्टीफाइड, न्याययुक्त भी मालूम होने लगता है।

यह अंधे धृतराष्ट्र ने जो जिज्ञासा की है, उससे यह धर्मग्रंथ शुरू होता है। सभी धर्मग्रंथ अंधे आदमी की जिज्ञासा से शुरू होते हैं। जिस दिन दुनिया में अंधे आदमी न होंगे, उस दिन धर्मग्रंथ की कोई जरूरत भी नहीं रह जाती है। वह अंधा ही जिज्ञासा कर रहा है।

प्रश्नः ओशो, अंधे धृतराष्ट्र को युद्ध की रिपोर्ताज निवेदित करने वाले संजय की गीता में क्या भूमिका है? संजय क्या क्लेअरवायन्स, दूर-दृष्टि या क्लेअरआडियन्स, दूर-श्रवण की शक्ति रखता था? संजय की चित्-शक्ति की गंगोत्री कहां पर है? क्या वह स्वयंभू भी हो सकती है?

संजय पर निरंतर संदेह उठता रहा है; स्वाभाविक है। संजय बहुत दूर बैठकर, कुरुक्षेत्र में क्या हो रहा है, उसकी खबर धृतराष्ट्र को देता है। योग निरंतर से मानता रहा है कि जो आंखें हमें दिखाई पड़ती हैं, वे ही आंखें नहीं हैं। और भी आंख है मनुष्य के पास, जो समय और क्षेत्र की सीमाओं को लांघकर देख सकती है। लेकिन योग क्या कहता है, इससे जो कहता है वह सही भी होगा, ऐसा नहीं है। संदेह होता है मन को, इतने दूर संजय कैसे देख पाता है? क्या वह सर्वज्ञ है?

नहीं। पहली तो बात यह कि दूर-दृष्टि, क्लेअरवायन्स कोई बहुत बड़ी शक्ति नहीं है। सर्वज्ञ से उसका कोई संबंध नहीं है। बड़ी छोटी शक्ति है। और कोई भी व्यक्ति चाहे तो थोड़े ही श्रम से विकसित कर सकता है। और

कभी तो ऐसा भी होता है कि प्रकृति की किसी भूल-चूक से वह शक्ति किसी व्यक्ति को सहज भी विकसित हो जाती है।

एक व्यक्ति है अमेरिका में अभी मौजूद, नाम है, टेड सीरियो। उसके संबंध में दो बातें कहना पसंद करूंगा, तो संजय को समझना आसान हो जाएगा। क्योंकि संजय बहुत दूर है समय में हमसे और न मालूम किस दुर्भाग्य के क्षण में हमने अपने समस्त पुराने गं्रथों को कपोलकल्पना समझना शुरू कर दिया है। इसलिए संजय को छोड़ें। अमेरिका में आज जिंदा आदमी है एक, टेड सीरियो, जो कि कितने ही हजार मील की दूरी पर कुछ भी देखने में समर्थ है; न केवल देखने में, बल्कि उसकी आंख उस चित्र को पकड़ने में भी समर्थ है।

हम यहां बैठकर यह जो चर्चा कर रहे हैं, न्यूयार्क में बैठे हुए टेड सीरियो को अगर कहा जाए कि अहमदाबाद में इस मैदान पर क्या हो रहा है; तो वह पांच मिनट आंख बंद करके बैठा रहेगा, फिर आंख खोलेगा, और उसकी आंख में आप सबकी--बैठी हुई--तस्वीर दूसरे देख सकते हैं। और उसकी आंख में जो तस्वीर बन रही है, उसका कैमरा फोटो भी ले सकता है। हजारों फोटो लिए गए हैं, हजारों चित्र लिए गए हैं और टेड सीरियो की आंख कितनी ही दूरी पर, किसी भी तरह के चित्र को पकड़ने में समर्थ है; न केवल देखने में, बल्कि चित्र को पकड़ने में भी।

टेड सीरियो की घटना ने दो बातें साफ कर दी हैं। एक तो संजय कोई सर्वज्ञ नहीं है, क्योंकि टेड सीरियो बहुत साधारण आदमी है, कोई आत्मज्ञानी नहीं है। टेड सीरियो को आत्मा का कोई भी पता नहीं है। टेड सीरियो की जिंदगी में साधुता का कोई भी नाम नहीं है, लेकिन टेड सीरियो के पास एक शक्ति है--वह दूर देखने की। विशेष है शक्ति।

कुछ दिनों पहले स्कैंडिनेविया में एक व्यक्ति किसी दुर्घटना में जमीन पर गिर गया कार से। उसके सिर को चोट लग गई। और अस्पताल में जब वह होश में आया तो बहुत मुश्किल में पड़ा। उसके कान में कोई जैसे गीत गा रहा हो, ऐसा सुनाई पड़ने लगा। उसने समझा कि शायद मेरा दिमाग खराब तो नहीं हो गया! लेकिन एक या दो दिन के भीतर स्पष्ट, सब साफ होने लगा। और तब तो यह भी साफ हुआ कि दस मील के भीतर जो रेडियो स्टेशन था, उसके कान ने उस रेडियो स्टेशन को पकड़ना शुरू कर दिया है। फिर उसके कान का सारा अध्ययन किया गया और पता चला कि उसके कान में कोई भी विशेषता नहीं है, लेकिन चोट लगने से कान में छिपी कोई शक्ति सक्रिय हो गई है। आपरेशन करना पड़ा, क्योंकि अगर चौबीस घंटे--आन-आफ करने का तो कोई उपाय नहीं था--अगर उसे कोई स्टेशन सुनाई पड़ने लगे, तो वह आदमी पागल ही हो जाए।

पिछले दो वर्ष पहले इंग्लैंड में एक महिला को दिन में ही आकाश के तारे दिखाई पड़ने शुरू हो गए। वह भी एक दुर्घटना में ही हुआ। छत से गिर पड़ी और दिन में आकाश के तारे दिखाई पड़ने शुरू हो गए। तारे तो दिन में भी आकाश में होते हैं, कहीं चले नहीं जाते; सिर्फ सूर्य के प्रकाश के कारण ढंक जाते हैं। रात फिर उघड़ जाते हैं, प्रकाश हट जाने से। लेकिन आंखें अगर सूर्य के प्रकाश को पार करके देख पाएं, तो दिन में भी तारों को देख सकती हैं। उस स्त्री की भी आंख का आपरेशन ही करना पड़ा।

यह मैं इसलिए कह रहा हूं कि आंख में भी शक्तियां छिपी हैं, जो दिन में आकाश के तारों को देख लें। कान में भी शक्तियां छिपी हैं, जो दूर के रेडियो स्टेशन से विस्तारित ध्वनियों को पकड़ लें। आंख में भी शक्तियां छिपी हैं, जो समय और क्षेत्र की सीमाओं को पार करके देख लें। लेकिन अध्यात्म से इनका कोई बहुत संबंध नहीं है।

तो संजय कोई बहुत आध्यात्मिक व्यक्ति हो, ऐसा नहीं है; संजय विशिष्ट व्यक्ति जरूर है। वह दूर युद्ध के मैदान पर जो हो रहा है, उसे देख पा रहा है। और संजय को इस शक्ति के कारण, कोई परमात्मा, कोई सत्य की

उपलब्धि हो गई हो, ऐसा भी नहीं है। संभावना तो यही है कि संजय इस शक्ति का उपयोग करके ही समाप्त हो गया हो।

अक्सर ऐसा होता है। विशेष शक्तियां व्यक्ति को बुरी तरह भटका देती हैं। इसलिए योग निरंतर कहता है कि चाहे शरीर की सामान्य शक्तियां हों और चाहे मन की--साइकिक पावर की--विशेष शक्तियां हों, शक्तियों में जो उलझता है वह सत्य तक नहीं पहुंच पाता।

पर, यह संभव है। और इधर पिछले सौ वर्षों में पश्चिम में साइकिक रिसर्च ने बहुत काम किया है। और अब किसी आदमी को संजय पर संदेह करने का कोई कारण वैज्ञानिक आधार पर भी नहीं रह गया है। और ऐसा ही नहीं कि अमेरिका जैसे धर्म को स्वीकार करने वाले देश में ऐसा हो रहा हो; रूस के भी मनोवैज्ञानिक मनुष्य की अनंत शक्तियों का स्वीकार निरंतर करते चले जा रहे हैं।

और अभी चांद पर जाने की घटना के कारण रूस और अमेरिका के सारे मनोवैज्ञानिकों पर एक नया काम आ गया है। और वह यह है कि यंत्रों पर बहुत भरोसा नहीं किया जा सकता। और जब हम अंतरिक्ष की यात्रा पर पृथ्वी के वासियों को भेजेंगे, तो हम उन्हें गहन खतरे में भेज रहे हैं। और अगर यंत्र जरा भी बिगड़ जाएं तो उनसे हमारे संबंध सदा के लिए टूट जाएंगे; और फिर हम कभी पता भी नहीं लगा सकेंगे कि वे यात्री कहां खो गए। वे जीवित हैं, जीवित नहीं हैं, वे किस अनंत में भटक गए--हम उनका कोई भी पता न लगा सकेंगे। इसलिए एक सब्स्टीट्यूट, एक परिपूरक व्यवस्था की तरह, दूर से बिना यंत्र के देखा जा सके, सुना जा सके, खबर भेजी जा सके, इसके लिए रूस और अमेरिका दोनों की वैज्ञानिक प्रयोगशालाएं अति आतुर हैं। और बहुत देर न होगी कि रूस और अमेरिका दोनों के पास संजय होंगे। हमारे पास नहीं होंगे।

संजय कोई बहुत आध्यात्मिक व्यक्ति नहीं है। लेकिन संजय के पास एक विशेष शक्ति है, जो हम सबके पास भी है, और विकसित हो सकती है।

संजय उवाच

दृष्ट्वा तु पाण्डवानीकं व्यूढं दुर्योधनस्तदा।

आचार्यमुपसंगम्य राजा वचनमब्रवीत्।। 2।।

इस पर संजय बोलाः उस समय राजा दुर्योधन ने व्यूहरचनायुक्त पांडवों की सेना को देखकर और द्रोणाचार्य के पास जाकर, यह वचन कहा।

पश्यैतां पाण्डुपुत्राणामाचार्य महतीं चमूम्।

व्यूढां द्रुपदपुत्रेण तव शिष्येण धीमता।। 3।।

अत्र शूरा महेष्वासा भीमार्जुनसमा युधि।

युयुधानो विराटश्च द्रुपदश्च महारथः।। 4।।

हे आचार्य, आपके बुद्धिमान शिष्य द्रुपदपुत्र धृष्टद्युम्न द्वारा व्यूहाकार खड़ी की हुई पांडुपुत्रों की इस भारी सेना को देखिए। इस सेना में बड़े-बड़े धनुषों वाले, युद्ध में भीम और अर्जुन के समान बहुत से शूरवीर हैं। जैसे सात्यकि और विराट तथा महारथी राजा द्रुपद।

धृष्टकेतुश्चेकितानः काशिराजश्च वीर्यवान्।

पुरुजित्कुन्तिभोजश्च शैब्यश्च नरपुंगवः।। 5।।

और धृष्टकेतु, चेकितान तथा बलवान काशिराज, पुरुजित कुंतिभोज और मनुष्यों में श्रेष्ठ शैब्य।

युधामन्युश्च विक्रांत उत्तमौजाश्च वीर्यवान्।

सौभद्रो द्रौपदेयाश्च सर्व एव महारथाः।। 6।।

अस्माकं तु विशिष्टा ये तान्निबोध द्विजोत्तम।

नायका मम सैन्यस्य संज्ञार्थं तान्ब्रवीमि ते।। 7।।

और पराक्रमी युधामन्यु तथा बलवान उत्तमौजा, सुभद्रापुत्र अभिमन्यु और द्रौपदी के पांचों पुत्र, यह सब ही महारथी हैं।

हे ब्राह्मण श्रेष्ठ, हमारे पक्ष में भी जो-जो प्रधान हैं, उनको आप समझ लीजिए। आपके जानने के लिए मेरी सेना के जो-जो सेनापति हैं, उनको कहता हूं।

मनुष्य का मन जब हीनता की ग्रंथि से, इनफीरिआरिटी कांप्लेक्स से पीड़ित होता है, जब मनुष्य का मन अपने को भीतर हीन समझता है, तब सदा ही अपनी श्रेष्ठता की चर्चा से शुरू करता है। लेकिन जब हीन व्यक्ति नहीं होते, तब सदा ही दूसरे की श्रेष्ठता से चर्चा शुरू होती है। यह दुर्योधन कह रहा है द्रोणाचार्य से, पांडवों की सेना में कौन-कौन महारथी, कौन-कौन महायोद्धा इकट्ठे हैं। इससे वह शुरू कर रहा है। यह बड़ी प्रतीक की, बड़ी सिम्बालिक बात है। साधारणतः शत्रु की प्रशंसा से बात शुरू नहीं होती। साधारणतः शत्रु की निंदा से बात शुरू होती है। साधारणतः शत्रु के साथ अपनी प्रशंसा से बात शुरू होती है। शत्रु की सेना में कौन-कौन महावीर इकट्ठे हैं, दुर्योधन उनसे बात शुरू कर रहा है।

दुर्योधन कैसा भी व्यक्ति हो, इनफीरिआरिटी कांप्लेक्स से पीड़ित व्यक्ति नहीं है, हीनता की गं्रथि से पीड़ित व्यक्ति नहीं है। और यह बड़े मजे की बात है कि अच्छा आदमी भी अगर हीनता की गं्रथि से पीड़ित हो तो उस बुरे आदमी से बदतर होता है, जो हीनता की गं्रथि से पीड़ित नहीं है। दूसरे की प्रशंसा से केवल वही शुरू कर सकता है, जो अपने प्रति बिल्कुल आश्वस्त है।

यह एक बुनियादी अंतर सदियों में पड़ा है। बुरे आदमी पहले भी थे, अच्छे आदमी पहले भी थे। ऐसा नहीं है कि आज बुरे आदमी बढ़ गए हैं और अच्छे आदमी कम हो गए हैं। आज भी बुरे आदमी उतने ही हैं, अच्छे आदमी उतने ही हैं। अंतर क्या पड़ा है?

निरंतर धर्म का विचार करने वाले लोग ऐसा प्रचार करते रहते हैं कि पहले लोग अच्छे थे और अब लोग बुरे हो गए हैं। ऐसी उनकी धारणा, मेरे ख्याल में बुनियादी रूप से गलत है। बुरे आदमी सदा थे, अच्छे आदमी सदा थे। अंतर इतना ऊपरी नहीं है, अंतर बहुत भीतरी पड़ा है। बुरा आदमी भी पहले हीनता की ग्रंथि से पीड़ित नहीं था। आज अच्छा आदमी भी हीनता की गं्रथि से पीड़ित है। यह गहरे में अंतर पड़ा है।

आज अच्छे से अच्छा आदमी भी बाहर से ही अच्छा-अच्छा है, भीतर स्वयं भी आश्वस्त नहीं है। और ध्यान रहे, जिस आदमी का आश्वासन स्वयं पर नहीं है, उसकी अच्छाई टिकने वाली अच्छाई नहीं हो सकती। बस, स्किनडीप होगी, चमड़ी के बराबर गहरी होगी। जरा-सा खरोंच दो और उसकी बुराई बाहर आ जाएगी। और जो बुरा आदमी अपनी बुराई के होते हुए भी आश्वस्त है, उसकी बुराई भी किसी दिन बदली जा सकती है, क्योंकि बहुत गहरी अच्छाई बुनियाद में खड़ी है--वह स्वयं का आश्वासन।

इस बात को मैं महत्वपूर्ण मानता हूं कि दुर्योधन जैसा बुरा आदमी एक बहुत ही शुभ ढंग से चर्चा को शुरू कर रहा है। वह विरोधी के गुणों का पहले उल्लेख कर रहा है, फिर पीछे अपनी सेना के महारथियों का उल्लेख कर रहा है।

भवान्भीष्मश्च कर्णश्च कृपश्च समितिंजयः।
अश्वत्थामा विकर्णश्च सौमदत्तिस्थैव च।। 8।।
अन्ये च बहवः शूरा मदर्थे त्यक्तजीविताः।
नानाशस्त्र प्रहरणाः सर्वे युद्धविशारदाः।। 9।।

एक तो स्वयं आप और पितामह भीष्म तथा कर्ण और संग्रामविजयी कृपाचार्य तथा वैसे ही अश्वत्थामा, विकर्ण और सोमदत्त का पुत्र भूरिश्रवा, और भी बहुत से शूरवीर अनेक प्रकार के शस्त्र-अस्त्रों से युक्त मेरे लिए जीवन की आशा को त्यागने वाले सबके सब युद्ध में चतुर हैं।

अपर्याप्तं तदस्माकं बलं भीष्माभिरक्षितम्।
पर्याप्तं त्विदमेतेषां बलं भीमाभिरक्षितम्।। 10।।
अयनेषु च सर्वेषु यथाभागमवस्थिताः।
भीष्ममेवाभिरक्षन्तु भवन्तः सर्व एव हि।। 11।।

और भीष्म पितामह द्वारा रक्षित हमारी वह सेना सब प्रकार से अजेय है और भीम द्वारा रक्षित इन लोगों की यह सेना जीतने में सुगम है। इसलिए सब मोर्चों पर अपनी-अपनी जगह स्थित रहते हुए आप लोग सब के सब ही निःसंदेह भीष्म पितामह की ही सब ओर से रक्षा करें।

प्रश्नः ओशो, श्रीमद्भगवद्गीता में सारा भार अर्जुन पर है और यहां गीता में दुर्योधन कहता है, पांडवों की सेना भीम-अभिरक्षित और कौरवों की भीष्म... । तो भीष्म के सामने भीम को रखने का ख्याल क्या यह नहीं हो सकता कि दुर्योधन अपने प्रतिस्पर्धी के रूप में भीम को ही देखता है?

यह बिंदु विचारणीय है। सारा युद्ध अर्जुन की धुरी पर है, लेकिन यह पीछे से सोची गई बात है--युद्ध के बाद, युद्ध की निष्पत्ति पर। जो युद्ध के पूरे फल को जानते हैं, वे कहेंगे कि सारा युद्ध अर्जुन की धुरी पर घूमा है। लेकिन जो युद्ध के प्रारंभ में खड़े थे, वे ऐसा नहीं सोच सकते थे। दुर्योधन के लिए युद्ध की सारी संभावना भीम से ही पैदा होती थी। उसके कारण थे। अर्जुन जैसे भले व्यक्ति पर युद्ध का भरोसा दुर्योधन भी नहीं कर सकता था। अर्जुन डांवाडोल हो सकता है, इसकी संभावना दुर्योधन के मन में भी है। अर्जुन युद्ध से भाग सकता है, इसकी कोई गहरी अचेतन प्रतीति दुर्योधन के मन में भी है। अगर युद्ध टिकेगा, तो भीम पर टिकेगा। युद्ध के लिए भीम जैसे कम बुद्धि के, लेकिन ज्यादा शक्तिशाली लोगों पर भरोसा किया जा सकता है।

अर्जुन बुद्धिमान है। और जहां बुद्धि है, वहां संशय है। और जहां संशय है, वहां द्वंद्व है। अर्जुन विचारशील है। और जहां विचारशीलता है, वहां पूरे पर्सपेक्टिव, पूरे परिप्रेक्ष्य को सोचने की क्षमता है; वहां युद्ध जैसी भयंकर स्थिति में आंख बंद करके उतरना कठिन है। दुर्योधन भरोसा कर सकता है--युद्ध के लिए--भीम का।

भीम और दुर्योधन के बीच गहरा सामंजस्य है। भीम और दुर्योधन एक ही प्रकृति के, बहुत गहरे में एक ही सोच के, एक ही ढंग के व्यक्ति हैं। इसलिए अगर दुर्योधन ने ऐसा देखा कि भीम केंद्र है दूसरी तरफ, तो गलत

नहीं देखा, ठीक ही देखा। और गीता भी पीछे सिद्ध करती है कि अर्जुन भागा-भागा हो गया है। अर्जुन पलायनवादी दिखाई पड़ा है, वह एस्केपिस्ट मालूम पड़ा है। अर्जुन जैसे व्यक्ति की संभावना यही है। अर्जुन के लिए यह युद्ध भारी पड़ा है। युद्ध में जाना, अर्जुन के लिए अपने को रूपांतरित करके ही संभव हो सका है। अर्जुन एक नए तल पर पहुंचकर ही युद्ध के लिए राजी हो सका है।

भीम जैसा था, उसी तल पर युद्ध के लिए तैयार था। भीम के लिए युद्ध सहजता है, जैसे दुर्योधन के लिए सहजता है। इसलिए दुर्योधन भीम को केंद्र में देखता है, तो आकस्मिक नहीं है। लेकिन यह युद्ध के प्रारंभ की बात है। युद्ध की निष्पत्ति क्या होगी, अंत क्या होगा, यह दुर्योधन को पता नहीं है। हमें पता है।

और ध्यान रहे, अक्सर ही जीवन जैसा प्रारंभ होता है, वैसा अंत नहीं होता। अक्सर अंत सदा ही अनिर्णीत है, अंत सदा ही अदृश्य है। अक्सर ही जो हम सोचकर चलते हैं, वह नहीं होता। अक्सर ही जो हम मानकर चलते हैं, वह नहीं होता। जीवन एक अज्ञात यात्रा है। इसलिए जीवन के प्रारंभिक क्षणों में--किसी भी घटना के प्रारंभिक क्षणों में--जो सोचा जाता है, वह अंतिम निष्पत्ति नहीं बनती। और हम भाग्य के निर्माण की चेष्टा में रत हो सकते हैं, लेकिन भाग्य के निर्णायक नहीं हो पाते हैं; निष्पत्ति कुछ और होती है।

ख्याल तो दुर्योधन का यही था कि भीम केंद्र पर रहेगा। और अगर भीम केंद्र पर रहता, तो शायद दुर्योधन जो कहता है कि हम विजयी हो सकेंगे, हो सकता था। लेकिन दुर्योधन की दृष्टि सही सिद्ध नहीं हुई। और आकस्मिक तत्व बीच में उतर आया। वह भी सोच लेने जैसा है।

कृष्ण का ख्याल ही न था। कि अर्जुन अगर भागने लगे, तो कृष्ण उसे युद्ध में रत करवा सकते हैं। हम सबको भी ख्याल नहीं होता। जब हम जिंदगी में चलते हैं, तो एक अज्ञात परमात्मा की तरफ से भी बीच में कुछ होगा, इसका हमें कभी ख्याल नहीं होता। हम जो भी हिसाब लगाते हैं, वह दृश्य का होता है। अदृश्य भी बीच में इंटरपेनिट्रेट कर जाएगा, अदृश्य भी बीच में उतर आएगा, इसका हमें भी कोई ख्याल नहीं होता।

कृष्ण के रूप में अदृश्य बीच में उतर आया है और सारी कथा बदल गई है। जो होता, वह नहीं हुआ; और जो नहीं होने की संभावना मालूम होती थी, वह हुआ है। और अज्ञात जब उतरता है तो उसके प्रिडिक्शन नहीं हो सकते, उसकी कोई भविष्यवाणी नहीं हो सकती। इसलिए जब कृष्ण भागते हुए अर्जुन को युद्ध में धक्का देने लगे, तो जो भी इस कथा को पहली बार पढ़ता है, वह शॉक खाए बिना नहीं रह सकता; उसको धक्का लगता है।

जब इमर्सन ने पहली बार पढ़ा, तो उसने किताब बंद कर दी; वह घबड़ा गया। क्योंकि अर्जुन जो कह रहा था, वह सभी तथाकथित धार्मिक लोगों को ठीक मालूम पड़ेगा। वह ठीक तथाकथित धार्मिक आदमी का तर्क दे रहा था। जब हेनरी थारो ने इस जगह आकर देखा कि कृष्ण उसे युद्ध में जाने की सलाह देते हैं, तो वह भी घबड़ा गया। हेनरी थारो ने भी लिखा है कि मुझे ऐसा भरोसा नहीं था, ख्याल भी नहीं था कि कहानी ऐसा मोड़ लेगी कि कृष्ण और युद्ध में जाने की सलाह देंगे! गांधी को भी वहीं तकलीफ थी, उनकी पीड़ा भी वहीं थी।

लेकिन जिंदगी किन्हीं सिद्धांतों के हिसाब से नहीं चलती। जिंदगी बहुत अनूठी है। जिंदगी रेल की पटरियों पर दौड़ती नहीं, गंगा की धारा की तरह बहती है; उसके रास्ते पहले से तय नहीं हैं। और जब परमात्मा बीच में आता है, तो सब डिस्टर्ब कर देता है; जो भी तैयार था, जो भी आदमी ने निर्मित किया था, जो आदमी की बुद्धि सोचती थी, सब उलट-फेर हो जाता है।

इसलिए बीच में परमात्मा भी उतर आएगा इस युद्ध में, इसकी दुर्योधन को कभी कल्पना न थी। इसलिए वह जो कह रहा है, प्रारंभिक वक्तव्य है। जैसा कि हम सब आदमी जिंदगी के प्रारंभ में जो वक्तव्य देते हैं, ऐसे ही होते हैं। बीच में अज्ञात उतरता चलता है और सब कहानी बदलती चलती है। अगर हम जिंदगी को पीछे से

लौटकर देखें, तो हम कहेंगे, जो भी हमने सोचा था, वह सब गलत हुआः जहां सफलता सोची थी, वहां असफलता मिली; जो पाना चाहता था, वह नहीं पाया जा सका; जिसके मिलने से सुख सोचा था, वह मिल गया और दुख पाया; और जिसके मिलने की कभी कामना भी न की थी, उसकी झलक मिली और आनंद के झरने फूटे। सब उलटा हो जाता है।

लेकिन इतने बुद्धिमान आदमी इस जगत में कम हैं, जो निष्पत्ति को पहले ध्यान में लें। हम सब प्रारंभ को ही पहले ध्यान में लेते हैं। काश! हम अंत को पहले ध्यान में लें तो जिंदगी की कथा बिल्कुल और हो सकती है। लेकिन अगर दुर्योधन अंत को पहले ध्यान में ले ले, तो युद्ध नहीं हो सकता। दुर्योधन अंत को ध्यान में नहीं ले सकता; अंत को मानकर चलेगा कि ऐसा होगा। इसलिए वह कह रहा है बार-बार कि यद्यपि सेनाएं उस तरफ महान हैं, लेकिन जीत हमारी ही होगी। मेरे योद्धा जीवन देकर भी मुझे जिताने के लिए आतुर हैं।

लेकिन हम अपनी सारी शक्ति भी लगा दें, तो भी असत्य जीत नहीं सकता। हम सारा जीवन भी लगा दें, तो भी असत्य जीत नहीं सकता; इस निष्पत्ति का दुर्योधन को कोई भी बोध नहीं हो सकता है। और सत्य, जो कि हारता हुआ भी मालूम पड़ता हो, अंत में जीत जाता है। असत्य प्रारंभ में जीतता हुआ मालूम पड़ता है, अंत में हार जाता है। सत्य प्रारंभ में हारता हुआ मालूम पड़ता है, अंत में जीत जाता है। लेकिन प्रारंभ से अंत को देख पाना कहां संभव है! जो देख पाता है, वह धार्मिक हो जाता है। जो नहीं देख पाता है, वह दुर्योधन की तरह अंधे युद्ध में उतरता चला जाता है।

प्रश्नः ओशो, एक तो अज्ञात का विल होता है, एक व्यक्ति का अपना विल होता है। दोनों में कांफ्लिक्ट होते हैं। तो व्यक्ति कैसे जान पाए कि अज्ञात का क्या विल है, अज्ञात की क्या इच्छा है?

पूछते हैं, व्यक्ति कैसे जान पाए कि अज्ञात की क्या इच्छा है? व्यक्ति कभी नहीं जान पाता। हां, व्यक्ति अपने को छोड़ दे, मिटा दे, तो तत्काल जान लेता है; अज्ञात के साथ एक हो जाता है। बूंद नहीं जान सकती कि सागर क्या है, जब तक कि बूंद सागर के साथ खो न जाए। व्यक्ति नहीं जान सकता कि परमात्मा की इच्छा क्या है। जब तक व्यक्ति अपने को व्यक्ति बनाए है, तब तक नहीं जान सकता है। व्यक्ति अपने को खो दे, तो फिर परमात्मा की इच्छा ही शेष रह जाती है, क्योंकि व्यक्ति की कोई इच्छा शेष नहीं रह जाती। तब जानने का सवाल ही नहीं उठता। तब व्यक्ति वैसे ही जीता है, जैसे अज्ञात उसे जिलाता है। तब व्यक्ति की कोई आकांक्षा, तब व्यक्ति की कोई फलाकांक्षा, तब व्यक्ति की कोई अपनी अभीप्सा, तब व्यक्ति की समग्र की आकांक्षा के ऊपर अपनी थोपने की कोई वृत्ति शेष नहीं रह जाती, क्योंकि व्यक्ति शेष नहीं रह जाता।

जब तक व्यक्ति है, तब तक अज्ञात क्या चाहता है, नहीं जाना जा सकता। और जब व्यक्ति नहीं है, तब जानने की कोई जरूरत नहीं; जो भी होता है, वह अज्ञात ही करवाता है। तब व्यक्ति एक इंस्ट्रूमेंट हो जाता है, तब व्यक्ति एक साधनमात्र हो जाता है।

कृष्ण पूरी गीता में आगे अर्जुन को यही समझाते हैं कि वह अपने को छोड़ दे अज्ञात के हाथों में; समर्पित कर दे। क्योंकि वह जिन्हें सोच रहा है कि ये मर जाएंगे, वे अज्ञात के द्वारा पहले ही मारे जा चुके हैं। कि वह जिन्हें सोचता है कि इनकी मृत्यु के लिए मैं जिम्मेवार हो जाऊंगा, उनके लिए वह बिल्कुल भी जिम्मेवार नहीं होगा। अगर वह अपने को बचाता है, तो जिम्मेवार हो जाएगा। अगर अपने को छोड़कर साधनवत, साक्षीवत लड़ सकता है, तो उसकी कोई जिम्मेवारी नहीं रह जाती है।

व्यक्ति अपने को खो दे समष्टि में, व्यक्ति अपने को समर्पित कर दे, छोड़ दे अहंकार को, तो ब्रह्म की इच्छा ही फलित होती है। अभी भी वही फलित हो रही है। ऐसा नहीं कि हम उससे भिन्न फलित करा लेंगे। लेकिन हम भिन्न फलित कराने में लड़ेंगे, टूटेंगे, नष्ट होंगे।

एक छोटी-सी कहानी मैं निरंतर कहता रहा हूं। मैं कहता रहा हूं कि एक नदी में बहुत बाढ़ आई है और दो छोटे-से तिनके उस नदी में बह रहे हैं। एक तिनका नदी में आड़ा पड़ गया है और नदी की बाढ़ को रोकने की कोशिश कर रहा है। और वह चिल्ला रहा है बहुत जोर से कि नहीं बढ़ने देंगे नदी को, यद्यपि नदी बढ़ी जा रही है। वह चिल्ला रहा है कि रोककर रहेंगे, यद्यपि रोक नहीं पा रहा है। वह चिल्ला रहा है कि नदी को हर हालत में रोककर ही रहूंगा, जीऊं या मरूं! लेकिन बहा जा रहा है। नदी को न उसकी आवाज सुनाई पड़ती है, न उसके संघर्ष का पता चलता है। एक छोटा-सा तिनका! नदी को उसका कोई भी पता नहीं है। नदी को कोई फर्क नहीं पड़ता। लेकिन तिनके को बहुत फर्क पड़ रहा है। उसकी जिंदगी बड़ी मुसीबत में पड़ गई है, बहा जा रहा है। नहीं लड़ेगा तो जहां पहुंचेगा, वहीं पहुंचेगा लड़कर भी। लेकिन यह बीच का क्षण, यह बीच का काल, दुख, पीड़ा, द्वंद्व और चिंता का काल हो जाएगा।

उसके पड़ोस में एक दूसरे तिनके ने छोड़ दिया है अपने को। वह नदी में आड़ा नहीं पड़ा है, सीधा पड़ा है, नदी जिस तरफ बह रही है उसी तरफ, और सोच रहा है कि मैं नदी को बहने में सहायता दे रहा हूं। उसका भी नदी को कोई पता नहीं है। वह सोच रहा है, मैं नदी को सागर तक पहुंचा ही दूंगा; मेरे साथ है तो पहुंच ही जाएगी। नदी को उसकी सहायता का भी कोई पता नहीं है।

लेकिन नदी को कोई फर्क नहीं पड़ता, उन दोनों तिनकों को बहुत फर्क पड़ रहा है। जो नदी को साथ बहा रहा है, वह बड़े आनंद में है, वह बड़ी मौज में नाच रहा है; और जो नदी से लड़ रहा है, वह बड़ी पीड़ा में है। उसका नाच, नाच नहीं है, एक दुखस्वप्न है। उसका नाच उसके अंगों की टूटन है; वह तकलीफ में पड़ा है, हार रहा है। और जो नदी को बहा रहा है, वह जीत रहा है।

व्यक्ति ब्रह्म की इच्छा के अतिरिक्त कुछ कभी कर नहीं पाता है, लेकिन लड़ सकता है, इतनी स्वतंत्रता है। और लड़कर अपने को चिंतित कर सकता है, इतनी स्वतंत्रता है।

सार्त्र का एक वचन है, जो बड़ा कीमती है। वचन है, ह्युमैनिटी इ.ज कंडेम्ड टु बी फ्री--आदमी स्वतंत्र होने के लिए मजबूर है; विवश है, कंडेम्ड है, निंदित है--स्वतंत्र होने के लिए।

लेकिन आदमी अपनी स्वतंत्रता के दो उपयोग कर सकता है। अपनी स्वतंत्रता को वह ब्रह्म की इच्छा से संघर्ष बना सकता है। और तब उसका जीवन दुख, पीड़ा, एंग्विश, संताप का जीवन होगा। और अंततः पराजय फल होगी। और कोई व्यक्ति अपनी स्वतंत्रता को ब्रह्म के प्रति समर्पण बना सकता है, तब जीवन आनंद का, ब्लिस का, नृत्य का, गीत का जीवन होगा। और अंत? अंत में विजय के अतिरिक्त और कोई उपाय नहीं है। वह जो तिनका सोच रहा है कि नदी को साथ दे रहा हूं, वह विजयी ही होने वाला है। उसकी हार का कोई उपाय नहीं है। और जो नदी को रोक रहा है, वह हारने ही वाला है, उसकी जीत का कोई उपाय नहीं है।

ब्रह्म की इच्छा को नहीं जाना जा सकता है, लेकिन ब्रह्म के साथ एक हुआ जा सकता है। और तब, अपनी इच्छा खो जाती है, उसकी इच्छा ही शेष रह जाती है।

प्रश्नः ओशो, वैज्ञानिक-सिद्धि में व्यक्ति का अपना कुछ होता है। और अज्ञात इस वैज्ञानिक- सिद्धि में कैसे उतरता होगा, यह तकलीफ की बात बन जाती है!

ऐसा साधारणतः लगता है कि वैज्ञानिक खोज में व्यक्ति की अपनी इच्छा काम करती है; ऐसा बहुत ऊपर से देखने पर लगता है; बहुत भीतर से देखने पर ऐसा नहीं लगेगा। अगर जगत के बड़े से बड़े वैज्ञानिकों को हम देखें तो हम बहुत हैरान हो जाएंगे। जगत के सभी बड़े वैज्ञानिकों के अनुभव बहुत और हैं। कालेज, युनिवर्सिटीज में विज्ञान की जो धारणा पैदा होती है, वैसा अनुभव उनका नहीं है।

मैडम क्यूरी ने लिखा है कि मुझे एक सवाल दिनों से पीड़ित किए हुए है। उसे हल करती हूं और हल नहीं होता है। थक गई हूं, परेशान हो गई हूं, आखिर हल करने की बात छोड़ दी है। और एक रात दो बजे वैसे ही कागजात टेबल पर अधूरे छोड़कर सो गई हूं और सोच लिया कि अब इस सवाल को छोड़ ही देना है।

थक गया व्यक्ति। लेकिन सुबह उठकर देखा है कि आधा सवाल जहां छोड़ा था, वह सुबह पूरा हो गया है। कमरे में तो कोई आया नहीं, द्वार बंद थे। और कमरे में भी कोई आकर उसको हल कर सकता था, जिसको मैडम क्यूरी हल नहीं कर सकती थी, इसकी भी संभावना नहीं है। नोबल-प्राइज-विनर थी वह महिला। घर में नौकर-चाकर ही थे, उनसे तो कोई आशा नहीं है। वह तो और बड़ा मिरेकल होगा कि घर में नौकर-चाकर आकर हल कर दें। लेकिन हल तो हो गया है। और आधा ही छोड़ा था और आधा पूरा है। तब बड़ी मुश्किल में पड़ गई। सब द्वार-दरवाजे देखे। कोई परमात्मा उतर आए, इसकी भी आस्था उसे नहीं हो सकती। कोई परमात्मा ऐसे ऊपर से उतर भी नहीं आया था।

लेकिन गौर से देखा तो पाया कि बाकी अक्षर भी उसके ही हैं। तब उसे ख्याल आना शुरू हुआ कि रात वह नींद में सपने में उठी। सपने का उसे याद आ गया कि वह सपने में उठी है। उसने सपना देखा कि वह सवाल हल कर रही है। वह नींद में उठी है रात में और उसने सवाल हल किया है। फिर तो यह उसकी व्यवस्थित विधि हो गई कि जब कोई सवाल हल न हो, तब वह उसे तकिए के नीचे दबाकर सो जाए; रात उठकर हल कर ले।

दिनभर तो मैडम क्यूरी इंडिविजुअल थी, व्यक्ति थी। रात नींद में अहं खो जाता है, बूंद सागर से मिल जाती है। और जो सवाल हमारा चेतन मन नहीं खोज पाया, वह हमारा अचेतन, गहरे में जो परमात्मा से जुड़ा है, खोज पाता है।

आर्किमिडीज एक सवाल हल कर रहा था, वह हल नहीं होता था। वह बड़ी मुश्किल में पड़ गया था। सम्राट ने कहा था, हल करके ही लाओ। आर्किमिडीज की सारी प्रतिष्ठा हल करने पर ही निर्भर थी, लेकिन थक गया। रोज सम्राट का संदेश आता है कि कब तक हल करोगे?

सम्राट को किसी ने एक सोने का बहुत कीमती आभूषण भेंट किया था। लेकिन सम्राट को शक था कि धोखा दिया गया है, और सोने में कुछ मिला है। लेकिन बिना आभूषण को मिटाए पता लगाना है कि उसमें कोई और धातु तो नहीं मिली है! अब उस वक्त तक कोई उपाय नहीं था जानने का। और बड़ा था आभूषण। उसमें कहीं बीच में अगर अंदर कोई चीज डाल दी गई हो, तो वजन तो बढ़ ही जाएगा।

आर्किमिडीज थक गया, परेशान हो गया। फिर एक दिन सुबह अपने टब में लेटा हुआ है, पड़ा हुआ है! बस, अचानक, नंगा ही था, सवाल हल हो गया। भागा! भूल गया--आर्किमिडीज अगर होता, तो कभी न भूलता कि मैं नंगा हूं--सड़क पर आ गया! और चिल्लाने लगा, इरेका, इरेका, मिल गया। और भागा राजमहल की तरफ। लोगों ने पकड़ा कि क्या कर रहे हो? राजा के सामने नंगे पहुंच जाओगे? उसने कहा, लेकिन यह तो मुझे ख्याल ही न रहा! घर वापिस आया।

यह जो आदमी सड़क पर पहुंच गया था नग्न, यह आर्किमिडीज नहीं था। आर्किमिडीज सड़क पर नहीं पहुंच सकता था। यह व्यक्ति नहीं था। और यह जो हल हुआ था सवाल, यह व्यक्ति की चेतना में हल नहीं हुआ था। यह निर्व्यक्ति-चेतना में हल हुआ था। वह बाथरूम में पड़ा था अपने टब में--रिलैक्स्ड, शिथिल। ध्यान घट गया, भीतर उतर गया--सवाल हल हो गया। जो सवाल स्वयं से हल न हुआ था, वह टब ने हल कर दिया? टब हल करेगा सवाल को? जो स्वयं से हल नहीं हुआ था, वह पानी में लेटने से हल हो जाएगा? पानी में लेटने से कोई बुद्धि बढ़ जाती है? जो कपड़े पहने हल नहीं हुआ था, वह नंगे होने से हल हो जाएगा?

नहीं, कुछ और घटना घट गई है। यह व्यक्ति नहीं रहा कुछ देर के लिए, अव्यक्ति हो गया। यह कुछ देर के लिए ब्रह्म के स्रोत में खो गया।

अगर हम जगत के सारे बड़े वैज्ञानिकों के--आइंस्टीन के, मैक्स प्लांक के या एडिंग्टन के या एडीसन के--इनके अगर हम अनुभव पढ़ें, तो इन सब का अनुभव यह है कि जो भी हमने जाना, वह हमने नहीं जाना। निरंतर ही ऐसा हुआ है कि जब हमने जाना, तब हम न थे और जानना घटित हुआ है। यही उपनिषद के ऋषि कहते हैं, यही वेद के ऋषि कहते हैं, यही मोहम्मद कहते हैं, यही जीसस कहते हैं।

अगर हम कहते हैं कि वेद अपौरुषेय हैं, तो उसका और कोई मतलब नहीं। उसका यह मतलब नहीं कि ईश्वर उतरा और उसने किताब लिखी। ऐसी पागलपन की बातें करने की कोई जरूरत नहीं है। अपौरुषेय का इतना ही मतलब है कि जिस पुरुष पर यह घटना घटी, उस वक्त वह मौजूद नहीं था; उस वक्त मैं मौजूद नहीं था। जब यह घटना घटी, जब यह उपनिषद का वचन उतरा किसी पर और जब यह मोहम्मद पर कुरान उतरी और जब ये बाइबिल के वचन जीसस पर उतरे, तो वे मौजूद नहीं थे।

धर्म और विज्ञान के अनुभव भिन्न-भिन्न नहीं हैं; हो नहीं सकते; क्योंकि अगर विज्ञान में कोई सत्य उतरता है, तो उसके उतरने का भी मार्ग वही है जो धर्म में उतरता है, जो धर्म के उतरने का मार्ग है। सत्य के उतरने का एक ही मार्ग है, जब व्यक्ति नहीं होता तो परमात्मा से सत्य उतरता है; हमारे भीतर जगह खाली हो जाती है, उस खाली जगह में सत्य प्रवेश करता है।

दुनिया में कोई भी ढंग से--चाहे कोई संगीतज्ञ, चाहे कोई चित्रकार, चाहे कोई कवि, चाहे कोई वैज्ञानिक, चाहे कोई धार्मिक, चाहे कोई मिस्टिक--दुनिया में जिन्होंने भी सत्य की कोई किरण पाई है, उन्होंने तभी पाई है, जब वे स्वयं नहीं थे। यह धर्म को तो बहुत पहले से ख्याल में आ गया। लेकिन धर्म का अनुभव दस हजार साल पुराना है। दस हजार साल में धार्मिक-फकीर को, धार्मिक-संत को, धार्मिक-योगी को यह अनुभव हुआ कि यह मैं नहीं हूं।

यह बड़ी मुश्किल बात है। जब पहली दफा आपके भीतर परमात्मा से कुछ आता है, तब डिस्टिंक्शन करना बहुत मुश्किल होता है कि यह आपका है कि परमात्मा का है। जब पहली दफा आता है तो डांवाडोल होता है मन कि मेरा ही होगा और अहंकार की इच्छा भी होती है कि मेरा ही हो। लेकिन धीरे-धीरे, धीरे-धीरे जब दोनों चीजें साफ होती हैं और पता चलता है कि आप और इस सत्य में कहीं कोई तालमेल नहीं बनता, तब फासला दिखाई पड़ता है, डिस्टेंस दिखाई पड़ता है।

विज्ञान की उम्र नई है अभी--दो-तीन सौ साल। लेकिन दो-तीन सौ साल में वैज्ञानिक विनम्र हुआ है। आज से पचास साल पहले वैज्ञानिक कहता था, जो खोजा, वह हमने खोजा। आज नहीं कहता। आज वह कहता है, हमारी सामर्थ्य के बाहर मालूम पड़ता है सब। आज का वैज्ञानिक उतनी ही मिस्टिसिज्म की भाषा में बोल रहा है, उतने ही रहस्य की भाषा में, जितना संत बोले थे।

इसलिए जल्दी न करें! और सौ साल, और वैज्ञानिक ठीक वही भाषा बोलेगा, जो उपनिषद बोलते हैं। बोलनी ही पड़ेगी वही भाषा, जो बुद्ध बोलते हैं। बोलनी ही पड़ेगी वही भाषा, जो अगस्तीन और फ्रांसिस बोलते हैं। बोलनी ही पड़ेगी। बोलनी पड़ेगी इसलिए कि जितना-जितना सत्य का गहरा अनुभव होगा, उतना-उतना व्यक्ति का अनुभव क्षीण होता है। और जितना सत्य प्रगट होता है, उतना ही अहंकार लीन होता है। और एक दिन पता चलता है कि जो भी जाना गया है, वह प्रसाद है; वह ग्रेस है; वह उतरा है; उसमें मैं नहीं हूं। और जो-जो मैंने नहीं जाना, उसकी जिम्मेवारी मेरी है, क्योंकि मैं इतना मजबूत था कि जान नहीं सकता था। मैं इतना गहन था कि सत्य नहीं उतर सकता था। सत्य उतरता है खाली चित्त में, शून्य चित्त में। और असत्य उतारना हो, तो मैं की मौजूदगी जरूरी है।

विज्ञान की खोज को बाधा नहीं पड़ेगी। जो खोज हुई है, वह भी अज्ञात के संबंध से ही हुई है; समर्पण से हुई है। और जो खोज होगी आगे, वह भी समर्पण से ही होगी। समर्पण के द्वार के अतिरिक्त सत्य कभी किसी और द्वार से न आया है, न आ सकता है।

प्रश्नः ओशो, आपका यह स्टेटमेंट बड़ी दिक्कत में डाल देता है कि अचेतन मन भगवान से जुड़ा हुआ होता है। यह तो जुंग ने पीछे से बताया, मिथोलाजी का कलेक्टिव अनकांशस से संबंध जोड़कर। मगर फ्रायड कहता है कि वह शैतान से भी जुड़ा होता है, तो तकलीफ बढ़ जाती है।

फ्रायड का ऐसा जरूर ख्याल है कि वह जो अचेतन मन है हमारा, वह भगवान से ही नहीं, शैतान से भी जुड़ा होता है। असल में भगवान और शैतान हमारे शब्द हैं। जब किसी चीज को हम पसंद नहीं करते, तो हम कहते हैं, शैतान से जुड़ा है; और किसी चीज को जब हम पसंद करते हैं, तो हम कहते हैं, भगवान से जुड़ा है। लेकिन मैं इतना ही कह रहा हूं कि अज्ञात से जुड़ा है। और अज्ञात मेरे लिए भगवान है। और भगवान में मेरे लिए शैतान समाविष्ट है, उससे अलग नहीं है।

असल में जो हमें पसंद नहीं है, मन होता है कि वह शैतान ने किया होगा। जो गलत, असंगत नहीं है, वह भगवान ने किया होगा। ऐसा हमने सोच रखा है कि हम केंद्र पर हैं जीवन के, और जो हमारे पसंद पड़ता है, वह भगवान का किया हुआ है, भगवान हमारी सेवा कर रहा है। जो पसंद नहीं पड़ता, वह शैतान का किया हुआ है; शैतान हमसे दुश्मनी कर रहा है। यह मनुष्य का अहंकार है, जिसने शैतान और भगवान को भी अपनी सेवा में लगा रखा है।

भगवान के अतिरिक्त कुछ है ही नहीं। जिसे हम शैतान कहते हैं, वह सिर्फ हमारी अस्वीकृति है। जिसे हम बुरा कहते हैं, वह सिर्फ हमारी अस्वीकृति है। और अगर हम बुरे में भी गहरे देख पाएं, तो फौरन हम पाएंगे कि बुरे में भला छिपा होता है। दुख में भी गहरे देख पाएं, तो पाएंगे कि सुख छिपा होता है। अभिशाप में भी गहरे देख पाएं, तो पाएंगे कि वरदान छिपा होता है। असल में बुरा और भला एक ही सिक्के के दो पहलू हैं। शैतान के खिलाफ जो भगवान है, उसे मैं अज्ञात नहीं कह रहा; मैं अज्ञात उसे कह रहा हूं, जो हम सबके जीवन की भूमि है, जो अस्तित्व का आधार है। उस अस्तित्व के आधार से ही रावण भी निकलता है, उस अस्तित्व के आधार से ही राम भी निकलते हैं। उस अस्तित्व से अंधकार भी निकलता है, उस अस्तित्व से प्रकाश भी निकलता है।

हमें अंधकार में डर लगता है, तो मन होता है, अंधकार शैतान पैदा करता होगा। हमें रोशनी अच्छी लगती है, तो मन होता है कि भगवान पैदा करता होगा। लेकिन अंधकार में कुछ भी बुरा नहीं है, रोशनी में कुछ

भी भला नहीं है। और जो अस्तित्व को प्रेम करता है, वह अंधकार में भी परमात्मा को पाएगा और प्रकाश में भी परमात्मा को पाएगा।

सच तो यह है कि अंधकार को भय के कारण हम कभी--उसके सौंदर्य को--जान ही नहीं पाते; उसके रस को, उसके रहस्य को हम कभी जान ही नहीं पाते। हमारा भय मनुष्य निर्मित भय है। कंदराओं से आ रहे हैं हम, जंगली कंदराओं से होकर गुजरे हैं हम। अंधेरा बड़ा खतरनाक था। जंगली जानवर हमला कर देता; रात डराती थी। इसलिए अग्नि जब पहली दफा प्रकट हो सकी, तो हमने उसे देवता बनाया। क्योंकि रात निश्चिंत हो गई; आग जलाकर हम निर्भय हुए। अंधेरा हमारे अनुभव में भय से जुड़ गया है। रोशनी हमारे हृदय में अभय से जुड़ गई है।

लेकिन अंधेरे का अपना रहस्य है, रोशनी का अपना रहस्य है। और इस जीवन में जो भी महत्वपूर्ण घटित होता है, वह अंधेरे और रोशनी दोनों के सहयोग से घटित होता है। एक बीज हम गड़ाते हैं अंधेरे में, फूल आता है रोशनी में। बीज हम गड़ाते हैं अंधेरे में, जमीन में; जड़ें फैलती हैं अंधेरे में, जमीन में। फूल खिलते हैं आकाश में, रोशनी में। एक बीज को रोशनी में रख दें, फिर फूल कभी न आएंगे। एक फूल को अंधेरे में गड़ा दें, फिर बीज कभी पैदा न होंगे। एक बच्चा पैदा होता है मां के पेट के गहन अंधकार में, जहां रोशनी की एक किरण नहीं पहुंचती। फिर जब बड़ा होता है, तो आता है प्रकाश में। अंधेरा और प्रकाश एक ही जीवन-शक्ति के लिए आधार हैं। जीवन में विभाजन, विरोध, पोलेरिटी मनुष्य की है।

फ्रायड जो कहता है कि शैतान से जुड़ा है... । फ्रायड यहूदी-चिंतन से जुड़ा था। फ्रायड यहूदी घर में पैदा हुआ था। बचपन से ही शैतान और परमात्मा के विरोध को उसने सुन रखा था। यहूदियों ने दो हिस्से तोड़ रखे हैं--एक शैतान है, एक भगवान है। वह आदमी के ही मन के दो हिस्से हैं। तो फ्रायड को लगा कि जहां-जहां से बुरी चीजें उठती हैं अचेतन से, वे बुरी-बुरी चीजें शैतान डाल रहा होगा।

नहीं, कोई शैतान नहीं है। और अगर शैतान हमें दिखाई पड़ता है, तो कहीं न कहीं हमारी बुनियादी भूल है। धार्मिक व्यक्ति शैतान को देखने में असमर्थ है। परमात्मा ही है। और अचेतन--जहां से वैज्ञानिक सत्य को पाता है या धार्मिक सत्य को पाता है--वह परमात्मा का द्वार है। धीरे-धीरे हम उसकी गहराई में उतरेंगे, तो ख्याल में निश्चित आ सकता है।

तस्य संजनयन्हर्षं कुरुवृद्धः पितामहः।

सिंहनादं विनद्योच्चैः शंखं दध्मौ प्रतापवान्।। 12।।

ततः शंखाश्च भेर्यश्च पणवानकगोमुखाः।

सहसैवाभ्यहन्यन्त स शब्दस्तुमुलोऽभवत्।। 13।।

इस प्रकार द्रोणाचार्य से कहते हुए दुर्योधन के वचनों को सुनकर, कौरवों में वृद्ध, बड़े प्रतापी पितामह भीष्म ने उसके हृदय में हर्ष उत्पन्न करते हुए उच्च स्वर से सिंहनाद के समान गर्जकर शंख बजाया। उसके उपरांत शंख और नगाड़े तथा ढोल, मृदंग और नृसिंहादि बाजे एक साथ ही बजे। उनका वह शब्द बड़ा भयंकर हुआ।

ततः श्वेतैर्हयैर्युक्ते महति स्यन्दने स्थितौ।

माधवः पाण्डवश्चैव दिव्यौ शंखौ प्रदध्मतुः।। 14।।

पांचजन्यं हृषीकेशो देवदत्तं धनंजयः।

पौण्ड्रं दध्मौ महाशंखं भीमकर्मा वृकोदरः।। 15।।

अनन्तविजयं राजा कुन्तीपुत्रो युधिष्ठिरः।

नकुलः सहदेवश्च सुघोषमणिपुष्पकौ।। 16।।

इसके अनंतर सफेद घोड़ों से युक्त उत्तम रथ में बैठे हुए श्रीकृष्ण और अर्जुन ने भी अलौकिक शंख बजाए। उनमें श्रीकृष्ण ने पांचजन्य नामक शंख और अर्जुन ने देवदत्त नामक शंख बजाया। भयानक कर्म वाले भीमसेन ने पौण्ड्र नामक महाशंख बजाया। कुंतीपुत्र राजा युधिष्ठिर ने अनंतविजय नामक और नकुल तथा सहदेव ने सुघोष और मणिपुष्पक नाम वाले शंख बजाए।

प्रश्नः ओशो, भीष्म के गगनभेदी शंखनाद के प्रतिशब्द में कृष्ण शंखनाद करते हैं। तो क्या उनकी शंखध्वनि एक्शन के बजाय रिएक्शन, प्रत्याघात कही जा सकती है? भगवद्गीता के इस प्रथम अध्याय में कृष्ण का पांचजन्य शंख या अर्जुन का देवदत्त शंख बजाना--यह उदघोषणा के बजाय कोई और तात्पर्य रखता है?

कृष्ण का शंखनाद, भीष्म के शंखनाद की प्रतिक्रिया, रिएक्शन है? ऐसा पूछा है।

नहीं, सिर्फ रिस्पांस है, प्रतिसंवेदन है। और शंखनाद से केवल प्रत्युत्तर है--युद्ध का नहीं, लड़ने का नहीं--शंखनाद से सिर्फ स्वीकृति है चुनौती की। वह चुनौती जो भी लाए, वह चुनौती जो भी दिखाए, वह चुनौती जहां भी ले जाए, उसकी स्वीकृति है। इस स्वीकृति को थोड़ा समझना उपयोगी है।

जीवन प्रतिपल चुनौती है। और जो उसे स्वीकार नहीं करता, वह जीते जी ही मर जाता है। बहुत लोग जीते जी ही मर जाते हैं। बर्नार्ड शा कहा करता था कि लोग मरते तो हैं बहुत पहले, दफनाए बहुत बाद में जाते हैं। मरने और दफनाने में कोई चालीस साल का अक्सर फर्क हो जाता है। जिस क्षण से व्यक्ति जीवन की चुनौती का स्वीकार बंद करता है, उसी क्षण से मर जाता है। जीवन है प्रतिपल चुनौती की स्वीकृति।

लेकिन चुनौती की स्वीकृति भी दो तरह की हो सकती है। चुनौती की स्वीकृति भी क्रोधजन्य हो सकती है; और तब प्रतिक्रिया हो जाती है, रिएक्शन हो जाती है। और चुनौती की स्वीकृति भी प्रसन्नता, उत्फुल्लता से मुदितापूर्ण हो सकती है; और तब प्रतिसंवेदन हो जाती है।

ध्यान देने योग्य है कि भीष्म ने जब शंख बजाया तो वचन है कि प्रसन्नता से और वीरों को प्रसन्नचित्त करते हुए... । आह्लाद फैल गया उनके शंखनाद से। उस शंखनाद से प्रसन्नता फैल गई। वह एक स्वीकार है। जीवन जो दिखा रहा है, अगर युद्ध भी, तो युद्ध का भी स्वीकार है। जीवन जहां ले जा रहा है, अगर युद्ध में भी, तो इस युद्ध का भी स्वीकार है। निश्चित ही इसे प्रत्युत्तर मिलना चाहिए। और पीछे कृष्ण और पांडव अपने-अपने शंखनाद करते हैं।

यहां भी सोचने जैसी बात है कि पहला शंखनाद कौरवों की तरफ से होता है। युद्ध के प्रारंभ का दायित्व कौरवों का है; कृष्ण सिर्फ प्रत्युत्तर दे रहे हैं। पांडवों की तरफ से प्रतिसंवेदन है, रिस्पांस है। अगर युद्ध ही है, तो उसके उत्तर के लिए वे तैयार हैं। ऐसे युद्ध की वृत्ति नहीं है। पांडव भी पहले बजा सकते हैं। नहीं लेकिन इतना दायित्व--युद्ध में घसीटने का दायित्व--कौरव ही लेंगे।

युद्ध का यह प्रारंभ बड़ा प्रतीकात्मक है। इसमें एक बात और ध्यान देने जैसी है कि प्रत्युत्तर कृष्ण शुरू करते हैं। अगर भीष्म ने शुरू किया था, तो कृष्ण को उत्तर देने के लिए तैयार करना उचित नहीं है। उचित तो है कि जो युद्ध के लिए तत्पर योद्धा हैं... । कृष्ण तो केवल सारथी की तरह वहां मौजूद हैं; वे योद्धा भी नहीं हैं, वे युद्ध करने भी नहीं आए हैं। लड़ने की कोई बात ही नहीं है। पांडवों की तरफ से जो सेनापति है, उसे शंखनाद

करके उत्तर देना चाहिए। लेकिन नहीं, यह बहुत महत्वपूर्ण है कि शंखनाद का उत्तर कृष्ण से शुरू करवाया गया है। यह इस बात का प्रतीक है कि पांडव इस युद्ध को केवल परमात्मा की तरफ से डाले गए दायित्व से ज्यादा मानने को तैयार नहीं हैं। परमात्मा की तरफ से आई हुई पुकार के लिए वे तैयार हैं। वे केवल परमात्मा के साधन भर होकर लड़ने के लिए तैयार हैं। इसलिए यह जो प्रत्युत्तर है युद्ध की स्वीकृति का, वह कृष्ण से दिलवाया गया है।

उचित है। उचित है, परमात्मा के साथ लड़कर हारना भी उचित है; और परमात्मा के खिलाफ लड़कर जीतना भी उचित नहीं है। अब हार भी आनंद होगी। अब हार भी आनंद हो सकती है। क्योंकि यह लड़ाई अब पांडवों की अपनी नहीं है; अगर है तो परमात्मा की है। लेकिन यह रिएक्शन नहीं है, रिस्पांस है। इसमें कोई क्रोध नहीं है।

अगर भीम इसको बजाता, तो रिएक्शन हो सकता था। अगर भीम इसका उत्तर देता, तो वह क्रोध में ही दिया गया होता। अगर कृष्ण की तरफ से यह उत्तर आया है, तो यह बड़ी आनंद की स्वीकृति है, कि ठीक है। अगर जीवन वहां ले आया है, जहां युद्ध ही फलित हो, तो हम परमात्मा के हाथों में अपने को छोड़ते हैं।

काश्यश्च परमेष्वासः शिखण्डी च महारथः।
धृष्टद्युम्नो विराटश्च सात्यकिश्चापराजितः।। 17।।
द्रुपदो द्रौपदेयाश्च सर्वशः पृथिवीपते।
सौभद्रश्च महाबाहुः शंखान्दध्मुः पृथक्पृथक्।। 18।।
स घोषो धार्तराष्ट्राणां हृदयानि व्यदारयत्।
नभश्च पृथिवीं चैव तुमुलो व्यनुनादयन्।। 19।।

श्रेष्ठ धनुष वाला काशिराज और महारथी शिखंडी और धृष्टद्युम्न तथा राजा विराट और अजेय सात्यकि, राजा द्रुपद और द्रौपदी के पांचों पुत्र और बड़ी भुजा वाला सुभद्रापुत्र अभिमन्यु इन सबने, हे राजन्! अलग-अलग शंख बजाए। और उस भयानक शब्द ने आकाश और पृथ्वी को भी शब्दायमान करते हुए धृतराष्ट्र-पुत्रों के हृदय विदीर्ण कर दिए।

अथ व्यवस्थितान्दृष्ट्वा धार्तराष्ट्रान्कपिध्वजः।
प्रवृत्ते शस्त्रसंपाते धनुरुद्यम्य पांडवः।। 20।।
हृषीकेशं तदा वाक्यमिदमाह महीपते।
अर्जुन उवाच
सेनयोरुभयोर्मध्ये रथं स्थापय मेऽच्युत।। 21।।
यावदेतान्निरीक्षेऽहं योद्धुकामानवस्थितान्।
कैर्मया सह योद्धव्यमस्मिन्रणसमुद्यमे।। 22।।

हे राजन्! उसके उपरांत कपिध्वज अर्जुन ने खड़े हुए धृतराष्ट्र-पुत्रों को देखकर उस शस्त्र चलने की तैयारी के समय धनुष उठाकर हृषीकेश श्रीकृष्ण से यह वचन कहा, हे अच्युत! मेरे रथ को दोनों सेनाओं के बीच में खड़ा करिए। जब तक मैं इन स्थित हुए युद्ध की कामना वालों को अच्छी प्रकार देख लूं कि इस युद्ध रूप व्यापार में मुझे किन-किन के साथ युद्ध करना योग्य है।

अर्जुन, जिनके साथ युद्ध करना है, उन्हें देखने की कृष्ण से प्रार्थना करता है। इसमें दो-तीन बातें आज की सुबह के लिए आखिरी समझ लेनी उचित हैं, फिर हम सांझ बात करेंगे।

एक तो, अर्जुन का यह कहना कि किनके साथ मुझे युद्ध करना है, उन्हें मैं देखूं, ऐसी जगह मुझे ले चलकर खड़ा कर दें--एक बात का सूचक है कि युद्ध अर्जुन के लिए ऊपर से आया हुआ दायित्व है, भीतर से आई हुई पुकार नहीं है; ऊपर से आई हुई मजबूरी है, भीतर से आई हुई वृत्ति नहीं है। युद्ध एक विवशता है, मजबूरी है। लड़ना पड़ेगा, इसलिए किससे लड़ना है, इसे वह पूछ रहा है, उनको मैं देख लूं। कौन-कौन लड़ने को आतुर होकर आ गए हैं, कौन-कौन युद्ध के लिए तत्पर हैं, उन्हें मैं देख लूं।

जो आदमी स्वयं युद्ध के लिए तत्पर है, उसे इसकी फिक्र नहीं होती कि दूसरा युद्ध के लिए तत्पर है या नहीं। जो आदमी स्वयं युद्ध के लिए तत्पर है, वह अंधा होता है। वह दुश्मन को देखता नहीं, वह दुश्मन को प्रोजेक्ट करता है। वह दुश्मन को देखना नहीं चाहता, उसे तो जो दिखाई पड़ता है, वह दुश्मन होता है। उसे दुश्मन को देखने की जरूरत नहीं, वह दुश्मन निर्मित करता है, वह दुश्मनी आरोपित करता है। जब युद्ध भीतर होता है, तो बाहर दुश्मन पैदा हो जाता है।

जब भीतर युद्ध नहीं होता, तब जांच-पड़ताल करनी पड़ती है कि कौन लड़ने को आतुर है, कौन लड़ने को उत्सुक है! तो अर्जुन कृष्ण को कहता है कि मुझे ऐसी जगह, ऐसे परिप्रेक्ष्य के बिंदु पर खड़ा कर दें, जहां से मैं उन्हें देख लूं, जो लड़ने के लिए आतुर यहां इकट्ठे हो गए हैं।

दूसरी बात, जिससे लड़ना है, उसे ठीक से पहचान लेना युद्ध का पहला नियम है। जिससे भी लड़ना हो; उसे ठीक से पहचान लेना, युद्ध का पहला नियम है। समस्त युद्धों का, कैसे भी युद्ध हों जीवन के--भीतरी या बाहरी--शत्रु की पहचान, युद्ध का पहला नियम है। और युद्ध में केवल वे ही जीत सकते हैं, जो शत्रु को ठीक से पहचानते हैं।

इसलिए आमतौर से जो युद्ध-पिपासु है, वह नहीं जीत पाता; क्योंकि युद्ध-पिपासा के धुएं में इतना घिरा होता है कि शत्रु को पहचानना मुश्किल हो जाता है। लड़ने की आतुरता इतनी होती है कि किससे लड़ रहा है, उसे पहचानना मुश्किल हो जाता है। और जिससे हम लड़ रहे हैं, उसे न पहचानते हों, तो हार पहले से ही निश्चित है।

इसलिए युद्ध के क्षण में जितनी शांति चाहिए विजय के लिए, उतनी शांति किसी और क्षण में नहीं चाहिए। युद्ध के क्षण में जितना साक्षी का भाव चाहिए विजय के लिए, उतना किसी और क्षण में नहीं चाहिए। यह अर्जुन यह कह रहा है कि अब मैं साक्षी होकर देख लूं कि कौन-कौन लड़ने को है। उनका निरीक्षण कर लूं, उनको आब्जर्व कर लूं।

यह थोड़ा विचारणीय है। जब आप क्रोध में होते हैं, तब आब्जर्वेशन कम से कम रह जाता है। जब आप क्रोध में होते हैं, तब निरीक्षण की क्षमता बिल्कुल खो जाती है। और जब क्रोध में होते हैं, तब सर्वाधिक निरीक्षण की जरूरत है। लेकिन बड़े मजे की बात है, अगर निरीक्षण हो, तो क्रोध नहीं होता; और अगर क्रोध हो, तो निरीक्षण नहीं होता। ये दोनों एक साथ नहीं हो सकते हैं। अगर एक व्यक्ति क्रोध में निरीक्षण को उत्सुक हो जाए तो क्रोध खो जाएगा।

यह अर्जुन क्रोध में नहीं है, इसलिए निरीक्षण की बात कह पा रहा है। यह क्रोध की बात नहीं है। जैसे युद्ध बाहर-बाहर है, छू नहीं रहा है कहीं; साक्षी होकर देख लेना चाहता है, कौन-कौन लड़ने आए हैं; कौन-कौन आतुर हैं।

यह निरीक्षण की बात कीमती है। और जब भी कोई व्यक्ति किसी भी युद्ध में जाए--चाहे बाहर के शत्रुओं से और चाहे भीतर के शत्रुओं से--तो निरीक्षण पहला सूत्र है, राइट आब्जर्वेशन पहला सूत्र है। अगर भीतर के शत्रुओं से भी लड़ना हो, तो राइट आब्जर्वेशन पहला सूत्र है। ठीक से पहले देख लेना, किससे लड़ना है! क्रोध से लड़ना है तो क्रोध को देख लेना, काम से लड़ना है तो काम को देख लेना, लोभ से लड़ना है तो लोभ को देख लेना। बाहर भी लड़ने जाएं तो पहले बहुत ठीक से देख लेना कि किससे लड़ रहे हैं? वह कौन है? इसका पूरा निरीक्षण तभी संभव है, जब साक्षी होने की क्षमता हो, अन्यथा संभव नहीं है।

इसलिए गीता अब शुरू होने के करीब आ रही है। उसका रंगमंच तैयार हो गया है। लेकिन इस सूत्र को देखकर लगता है कि अगर आगे की गीता का पता भी न हो, तो जो आदमी निरीक्षण को समझता है, वह इतने सूत्र पर भी कह सकता है कि अर्जुन को लड़ना मुश्किल पड़ेगा। यह आदमी लड़ न सकेगा। इसको लड़ने में कठिनाई आने ही वाली है।

क्योंकि जो आदमी निरीक्षण को उत्सुक है, वह आदमी लड़ने में मुश्किल पाएगा। वह जब देखेगा तो लड़ न पाएगा। लड़ने के लिए आंखें बंद चाहिए। लड़ने के लिए जूझ जाना चाहिए, निरीक्षण की सुविधा नहीं होनी चाहिए। गीता न भी पता हो आगे, तो जो आदमी निरीक्षण के तत्व को समझेगा, वह इसी सूत्र पर कह सकेगा कि यह आदमी भरोसे का नहीं है। यह आदमी युद्ध में काम नहीं पड़ेगा। यह आदमी युद्ध से हट सकता है। क्योंकि जब देखेगा, तो सब इतना व्यर्थ मालूम पड़ेगा। जो भी निरीक्षण करेगा, तो सब इतना फ्युटाइल, इतना व्यर्थ मालूम पड़ेगा कि वह कहेगा कि हट जाऊं।

यह अर्जुन जो बात कह रहा है, वह बात इसके चित्त की बड़ी प्रतीक है। यह अपने चित्त को इस सूत्र में साफ किए दे रहा है। यह यह नहीं कह रहा है कि मैं युद्ध को आतुर हूं। मेरे सारथी! मुझे उस जगह ले चलो, जहां से मैं दुश्मनों का विनाश ठीक से कर सकूं। यह यह नहीं कह रहा है। कहना यही चाहिए। यह यह कह रहा है कि मुझे उस जगह ले चलो, जहां से मैं देख सकूं कि कौन-कौन लड़ने आए हैं, कितने आतुर हैं; मैं निरीक्षण कर सकूं। यह निरीक्षण बता रहा है कि यह आदमी विचार का आदमी है। और विचार का आदमी दुविधा में पड़ेगा।

या तो युद्ध वे लोग कर सकते हैं, जो विचारहीन हैं--भीम की तरह, दुर्योधन की तरह। या युद्ध वे लोग कर सकते हैं, जो निर्विचार हैं--कृष्ण की तरह। विचार है बीच में।

ये तीन बातें हैं। विचारहीनता विचार के पहले की अवस्था है। युद्ध बहुत आसान है। युद्ध के लिए कुछ करने की जरूरत नहीं है, ऐसी चित्त-दशा में आदमी युद्ध में होता ही है। वह प्रेम भी करता है, तो प्रेम उसका युद्ध ही सिद्ध होता है। वह प्रेम भी करता है, तो अंततः घृणा ही सिद्ध होती है। वह मित्रता भी बनाता है, तो सिर्फ शत्रुता की एक सीढ़ी सिद्ध होती है। क्योंकि शत्रु बनाने के लिए पहले मित्र तो बनाना जरूरी होता ही है। बिना मित्र बनाए शत्रु बनाना मुश्किल है। विचारहीन चित्त मित्रता भी बनाता है, तो शत्रुता ही निकलती है। युद्ध स्वाभाविक है।

दूसरी सीढ़ी विचार की है। विचार सदा डांवाडोल है। विचार सदा कंपित है। विचार सदा वेवरिंग है। दूसरी सीढ़ी पर अर्जुन है। वह कहता है, निरीक्षण कर लूं, देख लूं, समझ लूं, फिर युद्ध में उतरूं। कभी कोई

दुनिया में देख-समझकर युद्ध में उतरा है? देख-समझकर तो युद्ध से भागा जा सकता है। देख-समझकर युद्ध में उतरा नहीं जा सकता।

और तीसरी सीढ़ी पर कृष्ण हैं। वह निर्विचार की स्थिति है। वहां भी विचार नहीं हैं; लेकिन वह विचारहीनता नहीं है। थाटलेसनेस और नो थाट, विचारहीनता और निर्विचार एक से मालूम पड़ते हैं। लेकिन उनमें बुनियादी फर्क है। निर्विचार वह है, जो विचार की व्यर्थता को जानकर ट्रांसेंड कर गया, पार चला गया।

विचार सब चीजों की व्यर्थता बतलाता है--जीवन की भी, प्रेम की भी, परिवार की भी, धन की भी, संसार की भी, युद्ध की भी--विचार सब चीजों की व्यर्थता बतलाता है। लेकिन अगर कोई विचार करता ही चला जाए, तो अंत में विचार विचार की भी व्यर्थता बतला देता है। और तब आदमी निर्विचार हो जाता है। फिर निर्विचार में सब ठीक वैसा ही हो जाता है संभव, जैसा विचारहीन को संभव था। लेकिन क्वालिटी, गुण बिल्कुल बदल जाता है।

एक छोटा बच्चा जैसे होता है। जब कोई संतत्व को उपलब्ध होता है बुढ़ापे तक, तब फिर छोटे बच्चे जैसा हो जाता है। लेकिन छोटे बच्चे और संतत्व में ऊपरी ही समानता होती है। संत की आंखें भी छोटे बच्चे की तरह भोली हो जाती हैं। लेकिन छोटे बच्चे में अभी सब दबा पड़ा है। अभी सब निकलेगा। इसलिए छोटा बच्चा तो एक वॉल्केनो है, एक ज्वालामुखी है। अभी फूटा नहीं है, बस इतना ही है। उसकी निर्दोषता, उसकी इनोसेंस ऊपर-ऊपर है, भीतर तो सब तैयार है; बीज बन रहे हैं, फूट रहे हैं। अभी काम आएगा, क्रोध आएगा, शत्रुता आएगी--सब आएगा। अभी सबकी तैयारी चल रही है। छोटा बच्चा तो सिर्फ टाइम बम है। अभी समय लेगा और फूट पड़ेगा। लेकिन संत पार जा चुका है। वह सब जो भीतर बीज फूटने थे, फूट गए, और व्यर्थ हो गए, और गिर गए। अब कुछ भी भीतर शेष नहीं बचा; अब आंखें फिर सरल हो गई हैं, अब फिर सब निर्दोष हो गया है।

इसलिए जीसस ने कहा है--किसी ने पूछा जीसस से कि कौन तुम्हारे स्वर्ग के राज्य का अधिकारी होगा? तो जीसस ने कहा कि वे जो बच्चों की भांति हैं। जीसस ने नहीं कहा कि जो बच्चे हैं। क्योंकि बच्चे नहीं प्रवेश कर सकते। जो बच्चों की भांति हैं, अर्थात जो बच्चे नहीं हैं। एक बात तो पक्की हो गई, जो बच्चे नहीं हैं, लेकिन बच्चों की भांति हैं। बच्चे प्रवेश करें, तब तो कोई कठिनाई ही नहीं है, सभी प्रवेश कर जाएंगे। नहीं; बच्चे प्रवेश नहीं करेंगे। लेकिन जो बच्चों की भांति हैं, जो पार हो गए हैं।

इसलिए अज्ञानी और परमज्ञानी में बड़ी समानता है। अज्ञानी जैसा ही सरल हो जाता है परमज्ञानी। लेकिन अज्ञानी की सरलता के भीतर जटिलता पूरी छिपी रहती है, कभी भी प्रकट होती रहती है। परमज्ञानी की सब जटिलता खो गई होती है।

जो विचारहीन है, उसमें विचार की शक्ति पड़ी रहती है, वह विचार कर सकता है, करेगा। जो निर्विचार है, वह विचार के अतिक्रमण में हो गया; वह ध्यान में पहुंच गया, समाधि में पहुंच गया।

जो कठिनाई पूरी गीता में उपस्थित होगी, यह जो पूरा भीतर का अंतर्द्वंद्व उपस्थित होगा... अर्जुन दो तरह से युद्ध में जा सकता है। या तो वह विचारहीन हो जाए, नीचे उतर आए, वहां खड़ा हो जाए जहां दुर्योधन और भीम खड़े हैं, तो युद्ध में जा सकता है। और या फिर वह वहां पहुंच जाए जहां कृष्ण खड़े हैं, निर्विचार हो जाए, तो युद्ध में जा सकता है। अगर अर्जुन अर्जुन ही रहे, मध्य में ही रहे, विचार में ही रहे, तो वह जंगल जा सकता है, युद्ध में नहीं जा सकता है। वह पलायन करेगा, वह भागेगा।

शेष संध्या हम बात करेंगे।

दूसरा प्रवचन

अर्जुन के विषाद का मनोविश्लेषण

योत्स्यमानानवेक्षेऽहं य एतेऽत्र समागताः।
धार्तराष्ट्रस्य दुर्बुद्धेर्युद्धे प्रियचिकीर्षवः।। 23।।
संजय उवाच
एवमुक्तो हृषीकेशो गुडाकेशेन भारत।
सेनयोरुभयोर्मध्ये स्थापयित्वा रथोत्तमम्।। 24।।
भीष्मद्रोणप्रमुखतः सर्वेषां च महीक्षिताम्।
उवाच पार्थ पश्यैतान्समवेतान्कुरूनिति।। 25।।
तत्रापश्यत्स्थितान्पार्थः पितृनथ पितामहान।
आचार्यान्मातुलान्भ्रातृन्पुत्रान्पौत्रान्सखींस्तथा।। 26।।
श्वशुरान्सुहृदश्चैव सेनयोरुभयोरपि।
तान्समीक्ष्य स कौन्तेयः सर्वान्बन्धूनवस्थितान्।। 27।।
कृपया परयाविष्टो विषीदन्निदमब्रवीत्।
अर्जुन उवाच
दृष्ट्वेमं स्वजनं कृष्ण युयुत्सुं समुपस्थितम्।। 28।।
सीदन्ति मम गात्राणि मुखं च परिशुष्यति।
वेपथुश्च शरीरे मे रोमहर्षश्च जायते।। 29।।

और दुर्बुद्धि दुर्योधन का युद्ध में कल्याण चाहने वाले
जो-जो ये राजा लोग इस सेना में आए हैं,
उन युद्ध करने वालों को मैं देखूंगा।

संजय बोलाः हे धृतराष्ट्र, अर्जुन द्वारा इस प्रकार कहे जाने पर श्रीकृष्ण ने दोनों सेनाओं के बीच में ले जाकर भीष्म और द्रोणाचार्य के सामने और संपूर्ण राजाओं के सामने, उत्तम रथ को खड़ा करके ऐसे कहा कि हे पार्थ, इन इकट्ठे हुए कौरवों को देख।

उसके उपरांत पृथापुत्र अर्जुन ने उन दोनों ही सेनाओं में स्थित हुए पिता के भाइयों को, पितामहों को, आचार्यों को, मामों को, भाइयों को, पुत्रों को, पौत्रों को तथा मित्रों को, ससुरों को और सुहृदों को भी देखा।

इस प्रकार उन खड़े हुए संपूर्ण बंधुओं को देखकर वह अत्यंत करुणा से युक्त हुआ कुंतीपुत्र अर्जुन शोक करता हुआ यह बोलाः हे कृष्ण! इस युद्ध की इच्छा वाले खड़े हुए स्वजन समुदाय को देखकर मेरे अंग शिथिल हुए जाते हैं और मुख भी सूखा जाता है और मेरे शरीर में कंप तथा रोमांच होता है।

अर्जुन युद्ध से पीड़ित नहीं है, युद्ध-विरोधी भी नहीं है। हिंसा के संबंध में उसकी कोई अरुचि भी नहीं है। उसके सारे जीवन का शिक्षण, उसके सारे जीवन का संस्कार, हिंसा और युद्ध के लिए है। लेकिन, यह समझने जैसी बात है कि जितना ही हिंसक चित्त हो, उतना ही ममत्व से भरा हुआ चित्त भी होता है। हिंसा और ममत्व साथ ही साथ जीते हैं। अहिंसक चित्त ममत्व के भी बाहर हो जाता है।

असल में जिसे अहिंसक होना हो, उसे मेरे का भाव ही छोड़ देना पड़ता है। मेरे का भाव ही हिंसा है। क्योंकि जैसे ही मैं कहता हूं मेरा, वैसे ही जो मेरा नहीं है, वह पृथक होना शुरू हो जाता है। जैसे ही किसी को मैं कहता हूं मित्र, वैसे ही किसी को मैं शत्रु निर्मित करना शुरू कर देता हूं। जैसे ही मैं सीमा खींचता हूं अपनों की, वैसे ही मैं परायों की सीमा भी खींच लेता हूं। समस्त हिंसा, अपने और पराए के बीच खींची गई सीमा से पैदा होती है।

इसलिए अर्जुन शिथिल-गात हो गया। उसके अंग-अंग शिथिल हो गए। इसलिए नहीं कि वह युद्ध से विरक्त हुआ; इसलिए नहीं कि उसे होने वाली हिंसा में कुछ बुरा दिखाई पड़ा; इसलिए नहीं कि अहिंसा का कोई आकस्मिक आकर्षण उसके मन में जन्म गया; बल्कि इसलिए कि हिंसा के ही दूसरे पहलू ने उसके भीतर से, हिंसा के ही गहरे पहलू ने, हिंसा के ही बुनियादी आधार ने, उसके चित्त को पकड़ लिया--ममत्व ने उसके चित्त को पकड़ लिया।

ममत्व हिंसा ही है। इसे न समझेंगे तो फिर पूरी गीता को समझना कठिन हो जाएगा। जो इसे नहीं समझ सके, उन्हें ऐसा प्रतीत होता है कि अर्जुन अहिंसा की तरफ झुकता था, कृष्ण ने उसे हिंसा की तरफ झुकाया! जो अहिंसा की तरफ झुकता हो, उसे कृष्ण हिंसा की तरफ झुकाना नहीं चाहेंगे। जो अहिंसा की तरफ झुकता हो, उसे कृष्ण चाहें भी हिंसा की तरफ झुकाना, तो भी न झुका पाएंगे।

लेकिन अर्जुन अहिंसा की तरफ रत्तीभर नहीं झुक रहा है। अर्जुन का चित्त हिंसा के गहरे आधार पर जाकर अटक गया है। वह हिंसा का ही आधार है। उसे दिखाई पड़े अपने ही लोग--प्रियजन, संबंधी। काश! वहां प्रियजन और संबंधी न होते, तो अर्जुन भेड़-बकरियों की तरह लोगों को काट सकता था। अपने थे, इसलिए काटने में कठिनाई मालूम पड़ी। पराए होते, तो काटने में कोई कठिनाई न मालूम पड़ती।

और अहिंसा केवल उसके ही चित्त में पैदा होती है, जिसका अपना-पराया मिट गया हो। अर्जुन, यह जो संकटग्रस्त हुआ उसका चित्त, यह अहिंसा की तरफ आकर्षण से नहीं, हिंसा के ही मूल आधार पर पहुंचने के कारण है। स्वभावतः, इतने संकट के क्षण में, इतने क्राइसिस के मोमेंट में हिंसा की जो बुनियादी आधारशिला थी, वह अर्जुन के सामने प्रकट हुई। अगर पराए होते तो अर्जुन को पता भी न चलता कि वह हिंसक है; उसे पता भी न चलता कि उसने कुछ बुरा किया; उसे पता भी न चलता कि युद्ध अधार्मिक है। उसके गात शिथिल न होते, बल्कि परायों को देखकर उसके गात और तन जाते। उसके धनुष पर बाण आ जाता; उसके हाथ पर तलवार आ जाती। वह बड़ा प्रफुल्लित होता।

लेकिन वह एकदम उदास हो गया। इस उदासी में उसे अपने चित्त की हिंसा का मूल आधार दिखाई पड़ा। उसे दिखाई पड़ा, इस संकट के क्षण में उसे ममत्व दिखाई पड़ा!

यह बड़े आश्चर्य की बात है कि अक्सर हम अपने चित्त की गहराइयों को केवल संकट के क्षणों में ही देख पाते हैं। साधारण क्षणों में हम चित्त की गहराइयों को नहीं देख पाते। साधारण क्षणों में हम साधारण जीते हैं। असाधारण क्षणों में, जो हमारे गहरे से गहरे में छिपा है, वह प्रकट होना शुरू हो जाता है।

अर्जुन को दिखाई पड़ा, मेरे लोग! युद्ध की वीभत्सता ने, युद्ध की सन्निकटता ने, बस अब युद्ध शुरू होने को है, तब उसे दिखाई पड़ा, मेरे लोग!

काश! अर्जुन ने कहा होता, युद्ध व्यर्थ है, हिंसा व्यर्थ है, तो गीता की किताब निर्मित न होती। लेकिन उसने कहा, अपने ही लोग इकट्ठे हैं; उनको काटने के विचार से ही मेरे अंग शिथिल हुए जाते हैं। असल में जिसने अपने जीवन के भवन को अपनों के ऊपर बनाया है, उन्हें काटते क्षण में उसके अंग शिथिल हों, यह बिल्कुल स्वाभाविक है।

मृत्यु होती है पड़ोस में, छूती नहीं मन को! कहते हैं, बेचारा मर गया। घर में होती है, तब इतना कहकर नहीं निपट पाते। तब छूती है। क्योंकि जब घर में होती है, अपना कोई मरता है, तो हम भी मरते हैं। हमारा भी एक हिस्सा मरता है। हमारा भी इनवेस्टमेंट था उस आदमी में। हम भी उसमें कुछ लगाए थे। उसकी जिंदगी से हमें भी कुछ मिलता था। हमारे मन के भी किसी कोने को उस आदमी ने भरा था।

पत्नी मरती है, तो पत्नी ही नहीं मरती, पति भी मरता है। सच तो यह है कि पत्नी के साथ ही पति पैदा हुआ था, उसके पहले पति नहीं था। पत्नी मरती है तो पति भी मरता है। बेटा मरता है, तो मां भी मरती है; क्योंकि मां बेटे के पहले मां नहीं थी, मां बेटे के जन्म के साथ ही हुई है। जब बेटा जन्मता है, तो एक तरफ बेटा जन्मता है, दूसरी तरफ मां भी जन्मती है। और जब बेटा मरता है, तो एक तरफ बेटा मरता है, दूसरी तरफ मां भी मरती है। जिसे हमने अपना कहा है, उससे हम जुड़े हैं, हम भी मरते हैं।

अर्जुन ने जब देखा कि अपने ही सब इकट्ठे हैं, तो अर्जुन को अगर अपना ही आत्मघात, स्युसाइड दिखाई पड़ा हो तो आश्चर्य नहीं है। अर्जुन घबड़ाया नहीं दूसरों की मृत्यु से; अर्जुन घबड़ाया आत्मघात की संभावना से। उसे लगा, सब अपने मर जाएं, तो मैं बचूंगा कहां!

यह थोड़ा सोचने जैसा है। हमारा मैं, हमारे अपनों के जोड़ का नाम है। जिसे हम मैं कहते हैं, वह मेरों के जोड़ का नाम है। अगर मेरे सब मेरे विदा हो जाएं, तो मैं खो जाऊंगा। मैं बच नहीं सकता। यह मेरा मैं, कुछ मेरे पिता से, कुछ मेरी मां से, कुछ मेरे बेटे से, कुछ मेरे मित्र से--इन सबसे जुड़ा है।

आश्चर्य तो यह है कि जिन्हें हम अपने कहते हैं, उनसे ही नहीं जुड़ा है, जिन्हें हम पराए कहते हैं, उनसे भी जुड़ा है--परिधि के बाहर--लेकिन उनसे भी जुड़ा है। तो जब मेरा शत्रु मरता है, तब भी थोड़ा मैं मरता हूं। क्योंकि मैं फिर वही नहीं हो सकूंगा, जो मेरे शत्रु के होने पर मैं था। शत्रु भी मेरी जिंदगी को कुछ देता था। मेरा शत्रु था, होगा शत्रु, पर मेरा शत्रु था। उससे भी मेरे मैं का संबंध था। उसके बिना मैं फिर अधूरा और खाली हो जाऊंगा।

अर्जुन को, दूसरों का घात होगा, ऐसा दिखाई पड़ता, तो बात और थी। अर्जुन को बहुत गहरे में दिखाई पड़ा कि यह तो मैं अपनी ही आत्महत्या करने को उत्सुक हुआ हूं; यह तो मैं ही मरूंगा। मेरे मर जाएंगे, तो मेरे होने का क्या अर्थ है! जब मेरे ही न होंगे, तो मुझे सब मिल जाए तो भी व्यर्थ है।

यह भी थोड़ा सोचने जैसा है। हम अपने लिए जो कुछ इकट्ठा करते हैं, वह अपने लिए कम, अपनों के लिए ज्यादा होता है। जो मकान हम बनाते हैं, वह अपने लिए कम, अपनों के लिए ज्यादा होता है। उन अपनों के लिए भी जो साथ रहेंगे, और उन अपनों के लिए भी जो देखेंगे और प्रशंसा करेंगे, और उन पराए-अपनों के लिए भी, जो जलेंगे और ईर्ष्या से भरेंगे।

अगर इस पृथ्वी पर सबसे श्रेष्ठ भवन भी मेरे पास रह जाए और अपने न रह जाएं--मित्र भी नहीं, शत्रु भी नहीं--तो अचानक मैं पाऊंगा, वह भवन झोपड़ी से भी बदतर हो गया है। क्योंकि वह भवन एक फसाड, एक

दिखावा था। उस भवन के माध्यम से अपनों को, परायों को मैं प्रभावित कर रहा था। वह भवन तो सिर्फ प्रभावित करने की एक व्यवस्था थी। अब मैं किसे प्रभावित करूं!

आप जो कपड़े पहनते हैं, वह अपने शरीर को ढंकने को कम, दूसरे की आंखों को झपने को ज्यादा है। अकेले में सब बेमानी हो जाता है। आप जो सिंहासनों पर चढ़ते हैं, वह सिंहासनों पर बैठने के आनंद के लिए कम--क्योंकि कोई सिंहासन पर बैठकर कभी किसी आनंद को उपलब्ध नहीं हुआ है--पर अपनों और परायों में जो हम सिंहासन पर चढ़कर, जो करिश्मा, जो चमत्कार पैदा कर पाते हैं, उसके लिए ज्यादा है। सिंहासन पर बैठे आप रह जाएं और नीचे से लोग खो जाएं, अचानक आप पाएंगे, सिंहासन पर बैठे होना हास्यास्पद हो गया। उतर आएंगे; फिर शायद दुबारा नहीं चढ़ेंगे।

अर्जुन को लगा उस क्षण में कि अपने ही इकट्ठे हैं दोनों तरफ। मरेंगे अपने ही। अगर जीत भी गया, तो जीत का प्रयोजन क्या है? जीत के लिए जीत नहीं चाही जाती। जीत रस है, अपनों और परायों के बीच जो अहंकार भरेगा, उसका! साम्राज्य मिलेगा, क्या होगा अर्थ? कोई अर्थ न होगा।

यह जो अर्जुन के मन में विषाद घिर गया, इसे ठीक से समझ लेना चाहिए। यह विषाद ममत्व का है। यह विषाद हिंसक चित्त का है। और इस विषाद के कारण ही कृष्ण को इतने धक्के देने पड़े अर्जुन को। अर्जुन की जगह अगर महावीर जैसा व्यक्ति होता, तो बात उसी वक्त खत्म हो गई होती। यह बात आगे नहीं चल सकती थी। अगर महावीर जैसा व्यक्ति होता, तो शायद यह बात उठ भी नहीं सकती थी। शायद महावीर जैसा व्यक्ति होता, तो कृष्ण एक शब्द भी उस व्यक्ति से न बोले होते। बोलने का कोई अर्थ न था। बात समाप्त ही हो गई होती।

यह गीता कृष्ण ने कही कम, अर्जुन ने कहलवाई ज्यादा है। इसका असली ऑथर, लेखक कृष्ण नहीं हैं; इसका असली लेखक अर्जुन है। अर्जुन की यह चित्त-दशा आधार बनी है। और कृष्ण को साफ दिखाई पड़ रहा है कि एक हिंसक अपनी हिंसा के पूरे दर्शन को उपलब्ध हो गया है। और अब हिंसा से भागने की जो बातें कर रहा है, उनका कारण भी हिंसक चित्त है। अर्जुन की दुविधा अहिंसक की हिंसा से भागने की दुविधा नहीं है। अर्जुन की दुविधा हिंसक की हिंसा से ही भागने की दुविधा है।

इस सत्य को ठीक से समझ लेना जरूरी है। यह ममत्व हिंसा ही है, लेकिन गहरी हिंसा है, दिखाई नहीं पड़ती। जब मैं किसी को कहता हूं मेरा, तो पजेशन शुरू हो गया, मालकियत शुरू हो गई। मालकियत हिंसा का एक रूप है। पति पत्नी से कहता है, मेरी। मालकियत शुरू हो गई। पत्नी पति से कहती है, मेरे। मालकियत शुरू हो गई। और जब भी हम किसी व्यक्ति के मालिक हो जाते हैं, तभी हम उस व्यक्ति की आत्मा का हनन कर देते हैं। हमने मार डाला उसे। हमने तोड़ डाला उसे। असल में हम उस व्यक्ति के साथ व्यक्ति की तरह नहीं, वस्तु की तरह व्यवहार कर रहे हैं। अब कुर्सी मेरी जिस अर्थ में होती है, उसी अर्थ में पत्नी मेरी हो जाती है। मकान मेरा जिस अर्थ में होता है, उसी अर्थ में पति मेरा हो जाता है।

स्वभावतः, इसलिए जहां-जहां मेरे का संबंध है, वहां-वहां प्रेम फलित नहीं होता, सिर्फ कलह ही फलित होती है। इसलिए दुनिया में जब तक पति-पत्नी मेरे का दावा करेंगे, बाप-बेटे मेरे का दावा करेंगे, तब तक दुनिया में बाप-बेटे, पति-पत्नी के बीच कलह ही चल सकती है, मैत्री नहीं हो सकती। मेरे का दावा, मैत्री का विनाश है। मेरे का दावा, चीजों को उलटा ही कर देता है। सब हिंसा हो जाती है।

मैंने सुना है, एक आदमी ने शादी की है, लेकिन पत्नी बहुत पढ़ी-लिखी नहीं है। मन में बड़ी इच्छा है कि पत्नी कभी पत्र लिखे। घर से बाहर पति गया है, तो उसे समझाकर गया है। थोड़ा लिख लेती है। समझाकर गया है, क्या-क्या लिखना। सभी पति-पत्नी एक-दूसरे को समझा रहे हैं, क्या-क्या लिखना!

उसने बताया था, ऊपर लिखना, प्राणों से प्यारे--कभी ऐसा होता नहीं है--नीचे लिखना, चरणों की दासी। पत्नी का पत्र तो मिला, लेकिन कुछ भूल हो गई। उसने ऊपर लिखा, चरणों के दास। और नीचे लिखा, प्राणों की प्यासी।

जो नहीं लिखते हैं, उनकी स्थिति भी ऐसी ही है। जो बिल्कुल ठीक-ठीक लिखते हैं, उनकी स्थिति भी ऐसी ही है। जहां आग्रह है मालकियत का, वहां हम सिर्फ घृणा ही पैदा करते हैं। और जहां घृणा है, वहां हिंसा आएगी। इसलिए हमारे सब संबंध हिंसा के संबंध हो गए हैं। हमारा परिवार हिंसा का संबंध होकर रह गया है।

यह जो अर्जुन को दिखाई पड़ा, मेरे सब मिट जाएंगे तो मैं कहां! और मेरों को मिटाकर जीत का, साम्राज्य का क्या अर्थ है! इससे वह अहिंसक नहीं हो गया है, अन्यथा कृष्ण आशीर्वाद देते और कहते, विदा हो जा, बात समाप्त हो गई। लेकिन कृष्ण देख रहे हैं कि हिंसक वह पूरा है। मैं और ममत्व की बात कर रहा है, इसलिए अहिंसा झूठी है।

जो मैं की बात कर रहा हो और अहिंसा की बात कर रहा हो, तो जानना कि अहिंसा झूठी है। क्योंकि मैं के आधार पर अहिंसा का फूल खिलता ही नहीं। मेरे के आधार पर अहिंसा के जीवन का कोई विकास ही नहीं होता।

प्रश्नः ओशो, अर्जुन युद्धभूमि पर गया। उसने स्वजन, गुरुजन और मित्रों को देखा तो शोक से भर गया; विषाद हुआ उसको। उसका चित्त हिंसक था। युद्धभूमि पर दुर्योधन भी था, युधिष्ठिर भी था, द्रोणाचार्य भी थे और भी जो बहुत से थे, उनके भी स्वजन-मित्र थे। उनका भी चित्त हिंसा तथा ममत्व से भरा हुआ था, तो अर्जुन को ही सिर्फ विषाद क्यों हुआ?

निश्चय ही, दुर्योधन भी वहां था, और भी योद्धा वहां थे, उन्हें क्यों विषाद न हुआ? वे भी ममत्व से भरे लोग थे। वे भी हिंसा से भरे लोग थे। नहीं हुआ; कारण है। हिंसा भी अंधी हो सकती है, विचारहीन हो सकती है। ममत्व भी अंधा हो सकता है, विचारहीन हो सकता है। हिंसा भी आंख वाली हो सकती है, विचारपूर्ण हो सकती है। ममत्व भी आंख वाला हो सकता है और विचारपूर्ण हो सकता है।

सुबह मैंने कहा था कि अर्जुन की कठिनाई यही है कि वह विचारहीन नहीं है। विचार है। और विचार दुविधा में डालता है। विचार ने दुविधा में डाला उसे। दुर्योधन को भी दिखाई पड़ रहा है, लेकिन हिंसा इतनी अंधी है कि यह नहीं देख पाएगा दुर्योधन कि इस हिंसा के पीछे मैं उन सबको मार डालूंगा, जिनके बिना हिंसा भी व्यर्थ हो जाती है। अंधेपन में यह दिखाई नहीं पड़ेगा। अर्जुन उतना अंधा नहीं है। इसलिए अर्जुन उस युद्ध के स्थल पर विशेष है। विशेष इन अर्थों में है कि जीवन की तैयारी उसकी वही है, जो दुर्योधन की है; जीवन की तैयारी उसकी वही है, जो दुर्योधन की है, लेकिन मन की तैयारी उसकी भिन्न है। मन में उसके विचार है, संदेह है, डाउट है। मन में उसके शक है। वह पूछ सकता है, वह प्रश्न उठा सकता है। और जिज्ञासा का बुनियादी सूत्र उसके पास है।

और सबसे बड़े प्रश्न वे नहीं हैं, जो हम जगत के संबंध में उठाते हैं। सबसे बड़े प्रश्न वे नहीं हैं, जो हम पूछते हैं कि किसने जगत बनाया? सबसे बड़े प्रश्न वे नहीं हैं, जो हम पूछते हैं कि ईश्वर है या नहीं? सबसे बड़े प्रश्न वे हैं, जो हमारे मन के ही कांफ्लिक्ट, मन के ही द्वंद्व से जन्मते हैं। लेकिन अपने ही मन के द्वंद्व को देख पाने के लिए विचार चाहिए, चिंतन चाहिए, मनन चाहिए।

अर्जुन सोच पा रहा है, देख पा रहा है कि मैं जो हिंसा करने जा रहा हूं, उसमें वे ही लोग मर जाएंगे, जिनके लिए हिंसा करने का कुछ अर्थ हो सकता है। अंधा नहीं है। और यह अंधा न होना ही उसका कष्ट भी है, उसका सौभाग्य भी है।

इसे समझ लेना उचित है। अंधा नहीं है, यह उसका कष्ट है। दुर्योधन कष्ट में नहीं है। दुर्योधन के लिए युद्ध एक रस है। अर्जुन के लिए युद्ध एक संकट और कष्ट हो गया। सौभाग्य भी यही है। यदि वह इस कष्ट को पार हो जाता है, तो निर्विचार में पहुंच सकेगा। अगर वह इस कष्ट को पार हो जाता है, तो परमात्मा में समर्पण को पहुंच सकेगा। अगर वह इस कष्ट को पार हो जाता है, तो ममत्व को छोड़ने में पहुंच सकेगा। अगर इस कष्ट को पार नहीं हो पाता, तो निश्चित ही यह युद्ध उसके लिए विकट संकट होगा, जिसमें वह स्किजोफ्रेनिक हो जाएगा, जिसमें उसका व्यक्तित्व दो खंडों में टूट जाएगा। या तो भाग जाएगा, या लड़ेगा बेमन से और हार जाएगा।

जो लड़ाई बेमन से लड़ी जाए, वह हारी ही जाने वाली है। क्योंकि बेमन से लड़ने का मतलब है, आधा मन भाग रहा है, आधा मन लड़ रहा है। और जो आदमी अपने भीतर ही विपरीत दिशाओं में गति करता हो, उसकी पराजय निश्चित है। दुर्योधन जीतेगा फिर। पूरे मन से लड़ रहा है। कुएं में भी गिर रहा है, तो पूरे मन से गिर रहा है; अंधकार में भी जा रहा है, तो पूरे मन से जा रहा है।

असल में अंधकार में दो ही व्यक्ति पूरे मन से जा सकते हैं, एक तो वह, जो अंधा है। क्योंकि उसे अंधकार और प्रकाश से कोई अंतर नहीं पड़ता। एक वह, जिसके पास आत्मिक प्रकाश है। क्योंकि तब अंधकार को, उसका होना ही अंधकार को मिटा देता है।

अर्जुन या तो दुर्योधन जैसा हो जाए, नीचे गिर जाए, विचार से विचारहीनता में गिर जाए, तो युद्ध में चला जाएगा। और या कृष्ण जैसा हो जाए, विचार से निर्विचार में पहुंच जाए, इतना ज्योतिर्मय हो जाए, इतना ज्योति से भर जाए भीतरी कि देख पाए कि कौन मरता है, कौन मारा जाता है! देख पाए कि यह जो सब हो रहा है, स्वप्न से ज्यादा नहीं है। या तो इतने बड़े सत्य को देख पाए तो युद्ध में जा सकता है, या इतने बड़े असत्य को देख पाए कि हम उनको ही मारकर आनंद को उपलब्ध हो जाएंगे, जिनके लिए मारने की चेष्टा कर रहे हैं! या तो दुर्योधन के असत्य में उतर जाए, तो अर्जुन निश्चिंत हो जाएगा; या कृष्ण के सत्य में पहुंच जाए, तो अर्जुन निश्चिंत हो जाएगा।

अर्जुन एक तनाव है।

नीत्से ने कहीं कहा है कि आदमी एक सेतु है, ए ब्रिज, दो अलग-अलग पारों को जोड़ता हुआ। आदमी एक तनाव है। या तो पशु हो जाए, तो सुख को पा ले; या परमात्मा हो जाए, तो आनंद को पा ले। लेकिन जब तक आदमी है, तब तक सुख भी नहीं पा सकता; तब तक आनंद भी नहीं पा सकता; तब तक सुख और आनंद के बीच सिर्फ खिंच सकता है; एंग्जाइटी और तनाव भर हो सकता है।

इसीलिए हम दोनों काम करते हैं जीवन में। शराब पीकर पशु हो जाते हैं, थोड़ा सुख मिलता है। सेक्स में थोड़ा सुख मिलता है; पशु में वापस उतर जाते हैं। नीचे गिर जाते हैं विचार से, तो थोड़ा सुख मिलता है।

दुनिया में शराब का इतना आकर्षण किसी और कारण से नहीं है। शराब हमें वापस पशु में पहुंचा देने की सुविधा बन जाती है; नशा करके हम वहीं हो जाते हैं, जहां सभी पशु हैं। फिर हम पशु जैसे निश्चिंत हैं, क्योंकि पशु कोई चिंता नहीं करता। कोई पशु पागल नहीं होता। सिर्फ सर्कस के पशु पागल होते हैं। क्योंकि सर्कस का पशु करीब-करीब आदमी की हालत में आ जाता है। आदमी करीब-करीब सर्कस के पशु की हालत में है। कोई पशु पागल नहीं होता। और किसी पशु के लिए विक्षिप्तता, चिंता, अनिद्रा, इनसोमेनिया--ऐसी बीमारियां नहीं आतीं। कोई पशु आत्मघात नहीं करता; स्युसाइड नहीं करता। क्योंकि आत्मघात के लिए बहुत चिंता इकट्ठी हो जानी जरूरी है।

बड़े मजे की बात है कि कोई पशु बोर्डम अनुभव नहीं करता; वह कभी ऊबता नहीं है। एक भैंस है; वह रोज वही घास चर रही है, चरती रहेगी; वह कभी नहीं ऊबती। ऊबने का कोई सवाल नहीं है। ऊबने के लिए विचार चाहिए। बोर्डम के लिए, ऊब के लिए विचार चाहिए। इसलिए मनुष्यों में जो जितना ज्यादा विचारशील है, उतना ऊबेगा। मनुष्यों में जो जितना ज्यादा विचारशील है, उतना चिंता से भर जाएगा। मनुष्यों में जो जितना ज्यादा विचारशील है, वह पागल हो सकता है। मनुष्यों में जो जितना ज्यादा विचारशील है, वह विक्षिप्त हो सकता है। लेकिन यह एक ही पहलू है।

दूसरा पहलू यह है कि जो विक्षिप्त होने की स्थिति को पार कर जाए, वह विमुक्त भी हो सकता है। और जो चिंता को पार कर जाए, वह निश्चिंतता के सजग आनंद को उपलब्ध हो सकता है। और जो तनाव को पार कर जाए, वह विश्रांति के उस अनुभव को पा सकता है, जो सिर्फ परमात्मा में विश्राम से उपलब्ध होती है।

अर्जुन मनुष्य का प्रतीक है; दुर्योधन पशु का प्रतीक है; कृष्ण परमात्मा के प्रतीक हैं। वहां तीन प्रतीक हैं उस युद्ध-स्थल पर। अर्जुन डांवाडोल है। वह दुर्योधन और कृष्ण के बीच डांवाडोल है। उसे निश्चिंतता मिल सकती है, ही कैन बी ऐट ई.ज, अगर वह दुर्योधन हो जाए, अगर वह कृष्ण हो जाए। अर्जुन रहते कोई सुविधा नहीं है। अर्जुन रहते तनाव है। अर्जुन रहते मुश्किल है। उसकी मुश्किल यही है कि दुर्योधन हो नहीं सकता; कृष्ण होना समझ में नहीं आता; और जो है, वहां टिक नहीं सकता। क्योंकि वह बीच की तरंग भर है, वहां टिका नहीं जा सकता। कोई भी सेतु मकान बनाने के लिए नहीं होता।

अकबर ने फतेहपुर सीकरी बनाई, तो वहां एक पुल पर, एक ब्रिज पर उसने वाक्य लिखवाया--सेतु पार करने को है, सेतु निवास के लिए नहीं है।

ठीक ही है। जो भी आदमी सेतु पर निवास बनाएगा, वह मुश्किल में पड़ेगा। कहीं भी लौट जाएं--पशु हो जाएं कि परमात्मा हो जाएं--आदमी नियति नहीं है। आदमी होना संकट है, क्राइसिस है। आदमी अंत नहीं है। आदमी, अगर ठीक से हम समझें तो, न तो पशु है और न परमात्मा है। न तो वह पशु हो पाता है, क्योंकि पशु को पार कर चुका। और न वह परमात्मा हो पाता है, क्योंकि परमात्मा को पहुंचना है। मनुष्य सिर्फ परमात्मा और पशु के बीच डोलता हुआ अस्तित्व है।

हम चौबीस घंटे में कई बार दोनों कोनों पर पहुंच जाते हैं। क्रोध में वही आदमी पशु के निकट आ जाता है, शांति में वही आदमी परमात्मा के निकट पहुंच जाता है। हम दिन में चौबीस घंटे में बहुत बार नर्क और स्वर्ग की यात्रा कर लेते हैं--बहुत बार। क्षण में स्वर्ग में होते हैं, क्षण में नर्क में उतर जाते हैं। नर्क में पछताते हैं, फिर स्वर्ग की चेष्टा शुरू हो जाती है। स्वर्ग में पैर जमा नहीं पाते, फिर नर्क में पहुंचना शुरू हो जाता है।

और तनाव का एक नियम है कि तनाव सदा विपरीत में आकर्षण पैदा कर देता है। जैसे घड़ी का पेंडुलम होता है। वह बाईं तरफ जाता है। जब बाईं तरफ जाता है, तब हमें लगता है कि बाईं तरफ जा रहा है। लेकिन

जो घड़ी के विज्ञान को समझते हैं, वे यह भी जानते हैं कि वह बाईं तरफ जाते समय दाईं तरफ जाने की शक्ति इकट्ठी कर रहा है, मोमेंटम इकट्ठा कर रहा है। वह जितनी दूर बाईं तरफ जाएगा, उतनी ही दूर दाईं तरफ जाने की ताकत इकट्ठी कर रहा है। असल में वह बाईं तरफ इसीलिए जा रहा है कि दाईं तरफ जा सके। और दाईं तरफ जाते वक्त इसीलिए जा रहा है कि बाईं तरफ जा सके।

आदमी पूरे समय पशु और परमात्मा के बीच पेंडुलम की तरह घूम रहा है। अर्जुन आदमी का प्रतीक है। और आज के आदमी का तो और भी ज्यादा है। आज के आदमी की चेतना ठीक अर्जुन की चेतना है। इसलिए दुनिया में दोनों बातें एक साथ हैं, एक ओर मनुष्य अपनी चेतना को समाधि तक ले जाने के लिए आतुर है; और दूसरी तरफ आदमी एल एस डी से, मैस्कलीन से, मारिजुआना से, शराब से, सेक्स से पशु की तरफ ले जाने को आतुर है।

और अक्सर ऐसा होगा कि एक ही आदमी ये दोनों काम करता हुआ मालूम पड़ेगा। वही आदमी भारत की यात्रा पर आएगा, वही आदमी अमेरिका में एल एस डी लेता रहेगा। वह दोनों एक साथ कर रहा है।

मनुष्य बेहोश हो जाए, तो पशु हो सकता है। लेकिन बेहोश ज्यादा देर नहीं रहा जा सकता। बेहोशी के सुख भी होश में ही अनुभव हो पाते हैं। बेहोशी में बेहोशी का सुख भी अनुभव नहीं होता। शराब का भी मजा, जब शराब पीए होता है आदमी, तब पता नहीं चलता। पता तो तभी चलता है, जब शराब का नशा उतर जाता है। नींद में जब आप होते हैं, तब नींद का कोई मजा पता नहीं चलता। वह सुबह जागकर पता चलता है कि बड़ी आनंदपूर्ण निद्रा थी। बेहोशी के सुख के लिए होश में आना जरूरी है। और होश में कोई सुख नहीं मालूम पड़ता, इसलिए फिर बेहोशी में उतरना पड़ता है।

अर्जुन मनुष्य की चेतना है, इसलिए अदभुत है। गीता इसीलिए अदभुत है कि वह मनुष्य की बहुत आंतरिक मनःस्थिति का आधार है। मनुष्य की आंतरिक मनःस्थिति अर्जुन के साथ कृष्ण का जो संघर्ष है पूरे समय, वह जो अर्जुन के साथ कृष्ण का संवाद है या विवाद है, वह जो अर्जुन को खींच-खींचकर परमात्मा की तरफ लाने की चेष्टा है, और अर्जुन वापस शिथिल-गात होकर बैठ जाता है; वह फिर पशु में गिरना चाहता है; यह जो संघर्ष है, वह अर्जुन के लिए है, दुर्योधन के लिए नहीं। दुर्योधन निश्चिंत है। अर्जुन भी वैसा हो तो निश्चिंत हो सकता है। वैसा नहीं है।

हममें भी जो दुर्योधन की तरह हैं, वे निश्चिंत हैं; वे मकान बना रहे हैं; वे दिल्ली में, राजधानियों के सिंहासन चढ़ रहे हैं; वे धन कमा रहे हैं। हममें भी जो अर्जुन की तरह हैं, वे बेचैन और परेशान हैं। वे बेचैन हैं इसलिए कि जहां हैं, वह जगह घर बनाने योग्य नहीं मालूम पड़ती। जहां से आ गए हैं, वहां से आगे बढ़ गए हैं, पीछे लौटना संभव नहीं है। जहां पहुंचे नहीं हैं, उसका कोई पता नहीं है कि वह कहां है मार्ग; वह मंदिर कहां है! उसका कोई पता नहीं है।

धार्मिक आदमी स्वभावतः संकटग्रस्त होता है, क्राइसिस में होता है। अधार्मिक आदमी क्राइसिस में नहीं होता। इसलिए मंदिरों में बैठा आदमी ज्यादा चिंतित दिखाई पड़ेगा, बजाय कारागृहों में बैठे आदमी के। कारागृह में बैठा आदमी इतना चिंतित नहीं मालूम पड़ता है, निश्चिंत है। एक किनारे पर वह है, वह सेतु पर नहीं है। एक अर्थों में वह सौभाग्यशाली मालूम पड़ सकता है, ईर्ष्या-योग्य, कितना निश्चिंत है! लेकिन उसका सौभाग्य बड़े गहरे अभिशाप को छिपाए है। वह इसी तट पर रह जाएगा। उसमें अभी मनुष्य की किरण भी पैदा नहीं हुई।

मनुष्य के साथ ही उपद्रव शुरू होता है, मनुष्य के साथ ही संताप शुरू होता है, क्योंकि मनुष्य के साथ ही परमात्मा होने की संभावना, पोटेंशियलिटी के द्वार खुलते हैं।

वह अर्जुन पशु होना नहीं चाहता; स्थिति पशु होने की है; परमात्मा होने का उसे पता नहीं है। बहुत गहरी अनजान में आकांक्षा परमात्मा होने की ही है, इसीलिए वह पूछ रहा है; इसीलिए प्रश्न उठा रहा है; इसीलिए जिज्ञासा जगा रहा है। जिसके जीवन में भी प्रश्न हैं, जिसके जीवन में भी जिज्ञासा है, जिसके जीवन में भी असंतोष है--उसके जीवन में धर्म आ सकता है। जिसके जीवन में नहीं है चिंता, नहीं है प्रश्न, नहीं है संदेह, नहीं है जिज्ञासा, नहीं है असंतोष--उसके जीवन में धर्म के आने की कोई सुविधा नहीं है।

जो बीज टूटेगा अंकुरित होने को, चिंता में पड़ेगा। बीज बहुत मजबूत चीज है, अंकुर बहुत कमजोर होता है! बीज बड़ा निश्चिंत होता है, अंकुर बड़ी चिंता में पड़ जाता है। अंकुर निकलता है जमीन से पत्थरों को तोड़कर। अंकुर जैसी कमजोर चीज पत्थरों को तोड़कर, मिट्टी को काटकर बाहर निकलती है, अज्ञात, अनजाने जगत में, जिसका कोई परिचय नहीं, कोई पहचान नहीं। कोई बच्चा तोड़ डालेगा; कोई पशु चर जाएगा; किसी के पैर के नीचे दबेगा! क्या होगा, क्या नहीं होगा! बीज अपने में रहे, तो बहुत निश्चिंत है। न किसी बच्चे के पैर के नीचे दबेगा, न कोई अज्ञात के खतरे हैं; अपने में बंद है।

दुर्योधन बीज में बंद जैसा व्यक्ति है, निश्चिंत है। अर्जुन अंकुरित है; अंकुर चिंतित है, अंकुर बेचैन है। क्या होगा? फूल आएंगे कि नहीं? बीज होना छोड़ दिया, अब फूल आएंगे कि नहीं? फूल के लिए, बढ़ने के लिए आतुर है। वही आतुरता उसे कृष्ण से निरंतर प्रश्न पुछवाए चली जाती है। इसलिए अर्जुन के मन में चिंता है, प्रश्न हैं, दुर्योधन के मन में नहीं।

प्रश्नः ओशो, कृपया यह बताइए कि मनुष्य के सामने द्वंद्वात्मक दशा बार-बार आती रहती है, तो इस द्वंद्व भरी दशा को पार करने के लिए मूल आधार कौन-सा होना चाहिए? और द्वंद्व भरी दशा को हम विकासोन्मुख किस तरह बना सकें? और यह जो द्वंद्व दशा होती है, उसमें से हमने जो अपना संकल्प कर लिया या निश्चय कर लिया, तो उसमें मूल चीज कौन सी होती है हमारे सामने?

अर्जुन के लिए भी यही सवाल है। इस सवाल को आमतौर से आदमी जैसा हल करता है, वैसा ही अर्जुन भी करना चाहता है। द्वंद्व मनुष्य का स्वभाव है--मनुष्य का, आत्मा का नहीं, शरीर का नहीं--मनुष्य का द्वंद्व स्वभाव है। द्वंद्व को अगर जल्दबाजी से हल करने की कोशिश की, तो पशु की तरफ वापस लौट जाना रास्ता है। शीघ्रता की, तो पीछे लौट जाएंगे। वह परिचित रास्ता है; वहां वापस जाया जा सकता है। द्वंद्व से गुजरना ही तपश्चर्या है; धैर्य से द्वंद्व को झेलना ही तपश्चर्या है। और द्वंद्व को झेलकर ही व्यक्ति द्वंद्व के पार होता है। इसलिए कोई जल्दी से निश्चय कर ले, सिर्फ द्वंद्व को मिटाने के लिए, तो उसका निश्चय काम का नहीं है, वह नीचे गिर जाएगा; वह वापस गिर रहा है।

पशु बहुत निश्चयात्मक है; पशुओं में डाउट नहीं है। बड़े निश्चय में जी रहे हैं; बड़े विश्वासी हैं; बड़े आस्तिक मालूम होते हैं! पर उनकी आस्तिकता आस्तिकता नहीं है। क्योंकि जिसने नास्तिकता नहीं जानी, उसकी आस्तिकता का अर्थ कितना है? और जिसने नहीं कहने का कष्ट नहीं जाना, वह हां कहने के आनंद को उपलब्ध नहीं हो सकता है। और जिसने संदेह नहीं किया, उसकी श्रद्धा दो कौड़ी की है। लेकिन जिसने संदेह किया और जो संदेह को जीया और संदेह के पार हुआ, उसकी श्रद्धा का कुछ बल है, उसकी श्रद्धा की कोई प्रामाणिकता है।

तो एक तो रास्ता यह है कि जल्दी कोई निश्चय कर लें। और निश्चय करने के बहुत रास्ते आदमी पकड़ लेता है। किसी शास्त्र को पकड़ ले, तो निश्चय हो जाएगा। शास्त्र निश्चय की भाषा में बोल देगा कि ऐसा-ऐसा करो और विश्वास करो। जिसने शास्त्र पकड़कर निश्चय किया, उस आदमी ने अपने मनुष्य होने से इनकार कर दिया। उसे एक अवसर मिला था विकास का, उसने खो दिया। गुरु को पकड़ लो! जिसने गुरु को पकड़ लिया, उसने अवसर खो दिया। एक संकट था, जिसमें बेसहारा गुजरने के लिए परमात्मा ने उसे छोड़ा था, उसने उस संकट से बचाव कर लिया। वह संकट से बिना गुजरे रह गया। और आग में गुजरता, तो सोना निखरता। वह आग में गुजरा ही नहीं, वह गुरु की आड़ में हो गया, तो सोना निखरेगा भी नहीं।

निश्चय करने को आपसे नहीं कहता। आप निश्चय करोगे कैसे? जो आदमी द्वंद्व में है, उसका निश्चय भी द्वंद्व से भरा होगा। जब द्वंद्व में हैं, तो निश्चय करेंगे कैसे? द्वंद्व से भरा आदमी निश्चय नहीं कर सकता; करना भी नहीं चाहिए।

द्वंद्व को जीएं, द्वंद्व में तपें, द्वंद्व में मरें और खपें, द्वंद्व को भोगें, द्वंद्व की आग से भागें मत। क्योंकि जो आग दिखाई पड़ रही है, उसी में कचरा जलेगा और सोना बचेगा। द्वंद्व से गुजरें; द्वंद्व को नियति समझें। वह मनुष्य की डेस्टिनी है, वह उसका भाग्य है। उससे गुजरना ही होगा। उसे जीएं। जल्दी न करें। निश्चय जल्दी न करें।

हां, द्वंद्व से गुजरें, तो निश्चय आएगा। द्वंद्व से गुजरें, तो श्रद्धा आएगी, लानी नहीं पड़ेगी। लाई गई श्रद्धा का कोई भी मूल्य नहीं है। क्योंकि जो श्रद्धा लानी पड़ी है, उसका मतलब ही है कि अभी आने के योग्य मन न बना था; जल्दी ले आए। जो श्रद्धा बनानी पड़ी है, उसका अर्थ ही है कि पीछे द्वंद्वग्रस्त मन है। वह भीतर जिंदा रहेगा, ऊपर से पर्त श्रद्धा की हो जाएगी। वह ऊपर-ऊपर काम देगी, समय पर काम नहीं देगी।

जब कठिन समय होगा, मौत सामने खड़ी होगी। तो बहुत पक्का विश्वास कर लिया था कि आत्मा अमर है; जब गीता पढ़ते थे, तब पक्का विश्वास रहा था। जब रोज सुबह मंदिर जाते थे, तब पक्का था कि आत्मा अमर है। और जब डाक्टर पास खड़ा हो जाएगा, और उसका चेहरा उदास दिखाई पड़ेगा, और घर के लोग भागने-दौड़ने लगेंगे, और नाड़ी की गति गिरने लगेगी, तब अचानक पता चलेगा कि पता नहीं, आत्मा अमर है या नहीं!

क्योंकि लाख कहें गीताएं, उनके कहने से आत्मा अमर नहीं हो सकती। आत्मा अमर है, इसलिए वे कहती हैं, यह दूसरी बात है। लेकिन उनके कहने से आत्मा अमर नहीं हो सकती। और आप किसी को मान लें, इससे कुछ होने वाला नहीं है। हां, द्वंद्व से गुजरें, पीड़ा को झेलें, वह अवसर है; उससे बचने की कोशिश मत करें।

अर्जुन भी बचने की कोशिश कर रहा है। लेकिन कृष्ण उसे बचाने की कोशिश नहीं कर रहे; वे पूरे द्वंद्व को खींचते हैं। अन्यथा कृष्ण कहते कि बेफिक्र रहो, मैं सब जानता हूं। बेकार की बातचीत मत कर। मुझ पर श्रद्धा रख और कूद जा, ऐसा भी कह सकते थे। इतनी लंबी गीता कहने की जरूरत न थी।

इतनी लंबी गीता अर्जुन के द्वंद्व के प्रति बड़ा सम्मान है। और मजा है कि अर्जुन बार-बार वही पूछता है। और कृष्ण हैं कि यह नहीं कहते कि यह तो तू पूछ चुका! फिर वही पूछता है। फिर वही पूछता है। सारे के सारे, पूरे के पूरे प्रश्न अर्जुन के अलग-अलग नहीं हैं। सिर्फ शब्दावली अलग है। बात वह वही पूछ रहा है। उसका द्वंद्व बार-बार लौट आ रहा है। कृष्ण उससे यह नहीं कहते कि चुप, अश्रद्धा करता है! चुप, अविश्वास करता है! अर्जुन पूछता है वही-वही दोहरा-दोहराकर। उसका द्वंद्व ही बार-बार नए-नए रूप लेकर खड़ा हो जाता है।

कृष्ण उसे विश्वास दिलाने को उत्सुक नहीं हैं। कृष्ण उसे श्रद्धा तक पहुंचाने को जरूर उत्सुक हैं। और विश्वास और श्रद्धा में बड़ा फर्क है। विश्वास वह है, जो हम संदेह को हल किए बिना ऊपर से आरोपित कर लेते

हैं। श्रद्धा वह है, जो संदेह के गिर जाने से फलित होती है। श्रद्धा, संदेह की ही यात्रा से मिली मंजिल है। विश्वास, संदेह के भय से पकड़ लिए गए अंधे आधार हैं।

तो मैं कहूंगा, जीएं द्वंद्व को, तीव्रता से जीएं, इंटेंसिटी से जीएं। धीरे-धीरे जीएंगे, तो बहुत समय लगेगा। कुनकुनी आंच में डाल देंगे सोने को, तो निखरने में जन्म लग सकते हैं। तीव्रता से जीएं।

द्वंद्व मनुष्य का अनिवार्य परीक्षण है, जिससे वह परमात्मा तक पहुंचने की योग्यता का निर्णय दे पाता है। जीएं, भागें मत। एस्केप न करें, कंसोलेशंस मत खोजें, सांत्वनाएं मत बनाएं। जानें कि यही है नियति; द्वंद्व है। लड़ें, तीव्रता से उतरें इस द्वंद्व में। क्या होगा इसका परिणाम?

इसके दो परिणाम होंगे। जैसे ही कोई व्यक्ति अपने चित्त के द्वंद्व में पूरी तरह उतरने को राजी हो जाता है, वैसे ही उस व्यक्ति के भीतर एक तीसरा बिंदु भी पैदा हो जाता है, दो के अलावा तीसरी ताकत भी पैदा हो जाती है। जैसे ही कोई व्यक्ति अपने द्वंद्व को जीने के लिए राजी होता है, वैसे ही उसके भीतर दो नहीं, तीन शुरू हो जाते हैं। दि थर्ड फोर्स, वह जो निर्णय करती है कि जीएंगे द्वंद्व को, वह द्वंद्व के बाहर है; वह द्वंद्व के भीतर नहीं है।

मैंने सुना है, सेंट थेरेसा एक ईसाई फकीर औरत हुई है। उसके पास तीन पैसे थे। और एक दिन सुबह उसने गांव में कहा कि मैं एक बड़ा चर्च बनाना चाहती हूं। मेरे पास काफी पैसे आ गए हैं। लोग हैरान हुए, क्योंकि कल भी उसको लोगों ने भीख मांगते देखा था। लोगों ने पूछा कि इतने पैसे अचानक कहां से आ गए, जिससे बड़ा चर्च बनाने का ख्याल है? उसने अपना भिक्षापात्र दिखाया, उसमें तीन पैसे थे। लोगों ने कहा, पागल तो नहीं हो गई थेरेसा! वैसे हम पहले ही सोचते थे कि तेरा दिमाग कुछ गड़बड़ है!

असल में भगवान की तरफ जो लोग जाते हैं, उनका दिमाग उनको थोड़ा गड़बड़ दिखाई पड़ता ही है, जो नहीं जाते हैं।

हम पहले ही सोचते थे कि तेरा दिमाग कुछ न कुछ ढीला है। तीन पैसे से चर्च बनाएगी? थेरेसा ने कहा, मैं हूं, तीन पैसे हैं और परमात्मा भी है। थेरेसा धन तीन पैसे धन परमात्मा। उन सबने कहा, वह परमात्मा कहां है? तो थेरेसा ने कहा कि वह थर्ड फोर्स है, वह तीसरी शक्ति है; वह तुम्हें दिखाई नहीं पड़ेगी; क्योंकि अभी तुम अपने भीतर तीसरी शक्ति को नहीं खोज सके हो।

जो व्यक्ति अपने भीतर तीसरी शक्ति को खोज लेता है, वह इस सारे जगत में भी तीसरी शक्ति को तत्काल देखने में समर्थ हो जाता है। आप द्वंद्व को ही देख रहे हैं, लेकिन यह ख्याल नहीं है कि जो द्वंद्व को देख रहा है और समझ रहा है, वह द्वंद्व में नहीं हो सकता; वह द्वंद्व के बाहर ही होगा। अगर दो लड़ रहे हैं आपके भीतर, तो निश्चित ही आप उन दोनों के बाहर हैं, अन्यथा देखेंगे कैसे? अगर उन दोनों में से एक से जुड़े होते, तब तो एक से आपका तादात्म्य हो गया होता और दूसरे से आप अलग हो गए होते।

लेकिन आप कहते हैं, द्वंद्व हो रहा है, मेरे बाएं और दाएं हाथ लड़ रहे हैं। मेरे बाएं और दाएं हाथ लड़ पाते हैं, क्योंकि इन बाएं और दाएं हाथ के पीछे मैं एक तीसरी ताकत हूं। अगर मैं बायां हाथ हूं, तो दाएं हाथ से मेरा क्या आंतरिक द्वंद्व है? वह पराया हो गया। अगर मैं दायां हाथ नहीं बायां हाथ हूं, तो दायां हाथ पराया हो गया, आंतरिक द्वंद्व कहां है?

आंतरिक द्वंद्व इसीलिए है कि एक तीसरा भी है, जो देख रहा है। जो कह रहा है कि मन में बड़ा द्वंद्व है। मन कभी यह कहता है, मन कभी वह कहता है। लेकिन जो मन के द्वंद्व के संबंध में कह रहा है, यह कौन है?

द्वंद्व में उतरें और इस तीसरे को पहचानते जाएं। जैसे-जैसे द्वंद्व में उतरेंगे, यह तीसरा साक्षी, यह विटनेस दिखाई पड़ना शुरू हो जाएगा। और जिस दिन यह तीसरा दिखाई पड़ा, उसी दिन से द्वंद्व विदा होने शुरू हो जाएंगे। तीसरा नहीं दिखाई पड़ता, इसलिए द्वंद्व है। तीसरा दिखाई पड़ता है, तो जोड़ शुरू हो जाता है।

पर द्वंद्व से भागें मत। द्वंद्व की प्रक्रिया अनिवार्य है। उससे ही गुजरकर, वह जो द्वंद्व के पार है, ट्रांसेंडेंटल है, उसे पाया जाता है।

पूरी गीता उस तीसरे बिंदु पर ही खींचने की कोशिश है अर्जुन को, पूरे समय अर्जुन को खींचने की चेष्टा कृष्ण की यही है कि वह तीसरे को पहचान ले। वह तीसरे को पहचान ले, तीसरे की पहचान के लिए सारा श्रम है। वह तीसरा सबके भीतर है और सबके बाहर भी है। लेकिन जब तक भीतर न दिखाई पड़े, तब तक बाहर दिखाई नहीं पड़ सकता है। भीतर दिखाई पड़े, तो बाहर वही-वही दिखाई पड़ने लगता है।

प्रश्नः ओशो, आपने धनंजय को सिंबल आफ ह्यूमन एट्रिब्यूट, मानवीय गुणों का प्रतीक बताया है। और सार्त्र के कथन से, ही इ.ज कंडेम्ड टु बी एंग्जाइटी रिडेन। तो स्वजनों की हत्या के ख्याल से धनंजय का कंप जाना क्या मानवीय नहीं था? युद्धनिवृत्ति का उसका विचार मोहवशात भी क्या प्रकृति-संगत नहीं था? शेक्सपियर के हेमलेट की तरह अर्जुन का विषाद भी, टु किल आर नाट टु किल, मारना या न मारना प्रकार का था। तिलक ने गीता-रहस्य में अर्जुन की विषाद दशा का साम्य हेमलेट की मनःस्थिति में ढूंढ निकाला, क्या यह उचित है?

सार्त्र जो कहता है, वह अर्जुन लिए बिल्कुल ठीक ही कहता है। अर्जुन की भी संकट-अवस्था एक्झिस्टेंशियल ही थी। सार्त्र, कामू या उनामुनो या जेस्पर या हाइडेगर, पश्चिम में जो भी अस्तित्ववादी विचारक हैं, वे ठीक अर्जुन की मनःस्थिति में हैं। इसलिए सावधान रहना, पश्चिम में कृष्ण पैदा हो सकते हैं। क्योंकि जहां अर्जुन की मनःस्थिति हो, वहां कृष्ण के पैदा होने की संभावना हो जाती है। पूरा पश्चिम एक्झिस्टेंशियल क्राइसिस में है। पूरे पश्चिम के सामने मनुष्य की चिंतातुरता एकमात्र सत्य होकर खड़ी हो गई है। क्या करें और क्या न करें? ईदर ऑर, यह या वह? क्या चुनें, क्या न चुनें? कौन-सा मूल्य चुनने योग्य है, कौन-सा मूल्य चुनने योग्य नहीं है--सब संदिग्ध हो गया है।

और ध्यान रहे कि पश्चिम में भी यह जो अस्तित्ववादी चिंतन पैदा हुआ, यह दो युद्धों के बीच में पैदा हुआ है। सार्त्र या कामू या उनामुनो पिछले दो महायुद्धों की परिणति हैं। पिछले दो महायुद्धों ने पश्चिम के चित्त में भी वह स्थिति खड़ी कर दी है, जो अर्जुन के चित्त में महाभारत के सामने खड़ी हो गई थी। विगत दो युद्धों ने पश्चिम के सारे मूल्य डगमगा दिए हैं। और अब सवाल यह है कि लड़ना कि नहीं लड़ना? लड़ने से क्या होगा? और ठीक स्थिति वैसी है कि अपने सब मर जाएंगे, तो लड़ने का क्या अर्थ है! और जब युद्ध की इतनी विकट स्थिति खड़ी हो जाए, तो शांति के समय में बनाए गए सब नियम संदिग्ध हो जाएं तो आश्चर्य नहीं है। यह ठीक सवाल उठाया है।

सार्त्र ठीक अर्जुन की मनःस्थिति में है। खतरा दूसरा है। सार्त्र की मनःस्थिति से खतरा नहीं है। सार्त्र अर्जुन की मनःस्थिति में है, लेकिन समझ रहा है, कृष्ण की मनःस्थिति में है। खतरा वहां है। है अर्जुन की मनःस्थिति में। जिज्ञासा करे, ठीक है। प्रश्न पूछे, ठीक है। वह उत्तर दे रहा है। खतरा वहां है। खतरा यहां है कि सार्त्र जिज्ञासा नहीं कर रहा है। सार्त्र पूछ नहीं रहा कि क्या है ठीक। सार्त्र उत्तर दे रहा है कि कुछ भी ठीक नहीं है। सार्त्र उत्तर दे रहा है कि कुछ भी ठीक नहीं है, कोई मूल्य नहीं है। अस्तित्व अर्थहीन है, मीनिंगलेस है।

यह जो उत्तर दे रहा है कि ईश्वर नहीं है जगत में, आत्मा नहीं है जगत में, मृत्यु के बाद बचना नहीं है जगत में, सारा का सारा अस्तित्व एक अव्यवस्था है, एक अनार्की है, एक संयोग-जन्य घटना है, इसमें कोई सार नहीं है कहीं भी। यह उत्तर दे रहा है। यहां खतरा है।

अर्जुन भी उत्तर दे सकता था। लेकिन अर्जुन सिर्फ जिज्ञासा कर रहा है। अगर अर्जुन उत्तर दे, तो खतरे पैदा होंगे। लेकिन अर्जुन जिज्ञासा कर रहा है। और मैं मानता हूं कि जिसे दिखाई पड़ता हो--जैसा सार्त्र को दिखाई पड़ता है कि कोई मूल्य नहीं है, एक वैल्युलेसनेस है--जिसे दिखाई पड़ता है कि कोई अर्थ नहीं, कोई प्रयोजन नहीं। अगर सच में ही ऐसा दिखाई पड़ता है, तब तो सार्त्र को कुछ कहने का भी अर्थ नहीं है। चुप हो जाना चाहिए। ऐसी स्थिति में मौन ही सार्थक मालूम पड़ सकता है। व्यर्थ है सारी बात।

नहीं, लेकिन सार्त्र मौन नहीं है। आतुर है कहने को, समझाने को, जो कह रहा है उससे दूसरों को राजी करने को। तब डर होता है। तब डर यह होता है कि सार्त्र भी भीतर असंदिग्ध नहीं है कि जो कह रहा है वह ठीक है। शायद सार्त्र दूसरों को समझाकर दूसरों के चेहरे पर यह देखने को उत्सुक है कि कहीं उनको अगर ठीक लगती हो यह बात, तो ठीक होगी। मैं भी फिर ठीक मान लूं।

सार्त्र जिज्ञासा करे, वहां तक ठीक है। लेकिन पश्चिम में एक्झिस्टेंशियलिस्ट विचारक जिज्ञासा को उत्तर बना रहे हैं। और जब जिज्ञासा उत्तर बनती है, और जब शिष्य गुरु हो जाता है, और जब पूछना ही बताना बन जाता है, तब एक क्राइसिस आफ वैल्यूज पैदा होती है, जो कि पश्चिम में पैदा हुई है। सब अस्तव्यस्त हो गया है। सब अस्तव्यस्त हो गया है। उस अस्तव्यस्तता में कहीं कोई राह नहीं दिखाई पड़ती। नहीं दिखाई पड़ती, इसलिए नहीं कि राह नहीं है, राह तो सदा है। लेकिन अगर हम यह मान ही लें कि राह है ही नहीं, यही हमारा उत्तर बन जाए, तो फिर राह दिखाई पड़नी असंभव है।

अर्जुन यह नहीं मानता। अर्जुन बड़ी जिज्ञासा कर रहा है कि राह होगी। मैं खोजता हूं, मैं पूछता हूं, आप मुझे बताएं। वह कृष्ण को कह रहा है, आप मुझे बताएं, आप मुझे समझाएं। मैं अज्ञानी हूं, मुझे कुछ पता नहीं है। विनम्र है। अर्जुन का अज्ञान विनम्र है, सार्त्र का अज्ञान विनम्र नहीं है। सार्त्र का अज्ञान बहुत असर्टिव है। खतरा है। और जब अज्ञान असर्टिव होता है, जब अज्ञान मुखर होता है, तो जितने खतरे होते हैं, उतने खतरे और किसी बात से नहीं होते। लेकिन अक्सर ऐसा होता है कि अज्ञान मुखर होता है।

अर्जुन पूछ रहा है। वह कहता है, मुझे पता नहीं है। मैं संदेह में पड़ गया हूं। मैं डूबा जा रहा हूं संकट में, मुझे कोई मार्ग दें। लेकिन मार्ग हो सकता है, इसकी उसकी खोज जारी है।

मैं मानता हूं कि अर्जुन सार्त्र से ज्यादा साहसी है। क्योंकि इतनी गहन निराशा में भी मार्ग की खोज बड़े साहस की बात है। सार्त्र उतना साहसी नहीं है। उसके वक्तव्य बहुत साहसी मालूम पड़ते हैं, उतना साहसी नहीं है। असल में कई बार ऐसा होता है कि अंधेरी गली में आदमी निकलता है, तो सीटी बजाता हुआ निकलता है। सीटी बड़ी साहसी मालूम पड़ती है आस-पास सोए हुए लोगों को। लेकिन सीटी बजाने से साहस पता नहीं चलता, उससे सिर्फ इतना ही पता चलता है कि आदमी डर रहा है। वह सीटी साहस का सबूत नहीं होती। वह सिर्फ भय को छिपाने की चेष्टा होती है।

वह जो केआस, जो अराजकता पश्चिम के सामने दो महायुद्धों ने प्रकट कर दी है, वह जो नीचे से एक बवंडर प्रकट हुआ है और भूमि फट गई है, और एक ज्वालामुखी ने मुंह बा दिया है पश्चिम के सामने, उस ज्वालामुखी को झुठलाने की कोशिश चल रही है।

है ही नहीं जीवन में कोई अर्थ, इसलिए अनर्थ से डरने की जरूरत क्या है! है ही नहीं कोई मूल्य, इसलिए मूल्य की खोज की चिंता भी क्या करनी है! है ही नहीं कोई परमात्मा, तो प्रार्थना करने से क्या फायदा है! है ही नहीं कोई आशा, इसलिए निराशा में भी चिंतित होने की कोई जरूरत नहीं है!

निराशा में भी निश्चिंतता खोजने की चेष्टा, सिर्फ इस बात की सूचक है कि हृदय बहुत कमजोर है और साहस कम है। असल में आशा जब तीव्र निराशा में पड़ती है, तभी पता चलता है कि है या नहीं। और जब गहन अंधकार में ज्योति को खोजने की चेष्टा चलती है, तभी पता चलता है कि प्रकाश की कोई आकांक्षा, गहरा साहस, गहरी लगन और गहरे संकल्प से जुड़ी है या नहीं जुड़ी है।

पश्चिम की सार्त्रवादी चिंतना निराशा को स्वीकार कर लेने की है। निराशा है। इससे पश्चिम उबरेगा नहीं। इसलिए एक्झिस्टेंशियलिज्म और उस तरह के विचारक सिर्फ एक फैशन से ज्यादा नहीं हैं। और फैशन मरनी शुरू हो गई है, फैशन मर रही है। अब अस्तित्ववाद कोई बहुत जीवित धारणा नहीं है। बच्चे पश्चिम के उसको भी इनकार कर रहे हैं, वह भी ओल्ड फैशन हो गई है। छोड़ो यह बकवास भी!

लेकिन सार्त्र की पीढ़ी ने जो निराशा दी है, उसका दुष्परिणाम आने वाली पीढ़ी पर दिखाई पड़ रहा है। वह पीढ़ी कहती है कि ठीक है, हम सड़क पर नंगे नाचेंगे; क्योंकि तुम्हीं ने तो कहा कि कोई अर्थ नहीं है, तो फिर कपड़े पहनने में ही कौन-सा अर्थ है! तो हम फिर किसी भी तरह के काम-संबंध निर्मित करेंगे; क्योंकि तुम्हीं ने तो कहा है कि कोई अर्थ नहीं है, तो परिवार का भी क्या अर्थ है! फिर हम किसी को आदर नहीं देंगे; क्योंकि तुम्हीं ने तो कहा है कि जब ईश्वर ही नहीं है, तो आदर का क्या अर्थ है! और हम कल की चिंता न करेंगे।

आज अमेरिका और यूरोप की युनिवर्सिटीज लड़के खाली करके भाग रहे हैं। उनसे कहते हैं उनके मां-बाप कि पढ़ो, तो वे कहते हैं, कल का क्या भरोसा? तुम्हीं ने तो कहा है कि सब अनिश्चित है, तो पढ़-लिखकर भी क्या होगा? और वे लड़के पूछते हैं कि हिरोशिमा में भी लड़के पढ़ रहे थे कालेज में, फिर एटम गिर गया और सब समाप्त हो गया। हम भी पढ़ेंगे, तुम एटम तैयार कर रहे हो, किस दिन गिरा दोगे, कुछ पता नहीं है। तो हमें जी लेने दो, जो दो-चार क्षण हमें मिले हैं, हमें जी लेने दो।

तो पश्चिम में जो जीवन का एक विस्तार है टाइम में, समय में जो एक जीवन की यात्रा है, वह एकदम खंडित हो गई है। क्षण पर टिक गया है; अभी जो है, कर लो; अगले क्षण का कोई भरोसा नहीं है। और अगले क्षण के भरोसे को करोगे भी क्या? अंततः तो मृत्यु ही है; अगला क्षण मृत्यु है। टाइम जो है, वह डेथ का पर्यायवाची हो गया पश्चिम में; समय और मृत्यु एक ही अर्थ के हो गए। अभी जो है, है; और कोई मूल्य नहीं है।

अभी एक व्यक्ति ने कई हत्याएं कीं। और जब अदालत ने उससे पूछा तो उसने कहा, क्या हर्ज है! जब सभी को मर ही जाना है, तो मैंने मरने में सहायता की है। और वे तो मर ही जाते; उनको मारने से मुझे थोड़ा आनंद मिला है! उसके ले लेने में हर्ज क्या है? जब कोई मूल्य ही नहीं है, तो ठीक है।

सार्त्र की पीढ़ी पश्चिम को एक खोखलेपन से, एक हालोनेस से भर गई। क्योंकि उसके पास उत्तर नहीं थे, सिर्फ प्रश्न थे। और उसने प्रश्नों को ही उत्तर बता दिया।

अगर अर्जुन जीत जाए, तो इस मुल्क में भी हालोनेस पैदा हो जाए। अर्जुन नहीं जीता और कृष्ण जीत गए। वह एक संघर्ष था बड़ा अर्जुन और कृष्ण के बीच। अगर अर्जुन को शक सवार हो जाए, और धुन सवार हो जाए गुरु होने की, और वह अपनी जिज्ञासाओं को उत्तर बना दे, और अपने प्रश्नों को उत्तर बना दे, और अपने अज्ञान को ज्ञान मान ले, तो इस मुल्क में भी वही स्थिति पैदा हो जाती, जो पश्चिम में अस्तित्ववादी चिंतन के

कारण पैदा हुई है। स्थिति वही है, लेकिन पश्चिम के पास अभी भी कृष्ण नहीं हैं। लेकिन इस सिचुएशन में कृष्ण पश्चिम में पैदा हो सकते हैं।

और इसलिए बहुत आश्चर्य की बात नहीं है कि कृष्ण- कांशसनेस जैसे आंदोलन पश्चिम के मन को पकड़ रहे हैं। कोई आश्चर्य नहीं है कि पश्चिम की सड़कों पर लड़के और लड़कियां ढोल पीटकर और कृष्ण का भजन कर रहे हैं। यह कोई आश्चर्य नहीं है। यह आकस्मिक नहीं है। इस जगत में आकस्मिक कुछ भी नहीं होता। इस जगत में फूल भी खिलता है, तो लंबे कारण होते हैं। अगर लंदन की सड़क पर कोई हरेकृष्ण का भजन ढोल पर पीटता हुआ घूमता है, तो यह आकस्मिक नहीं है। यह पश्चिम के चित्त में कहीं कोई गहरी पीड़ा है।

अर्जुन तो मौजूद हो गया, कृष्ण कहां हैं? प्रश्न तो खड़ा हो गया, उत्तर कहां है? उत्तर की तलाश है; उत्तर की तलाश पैदा हुई है। इसलिए ठीक सवाल था यह।

लेकिन मैं अर्जुन को मनुष्य का प्रतीक कहता हूं। और अर्जुन को जो ममत्व पकड़ा, वह भी मनुष्य की मनुष्यता है। लेकिन नीत्से का एक वचन आपसे कहूं। नीत्से ने कहा है, अभागा होगा वह दिन, जिस दिन मनुष्य मनुष्य से पार होने की आकांक्षा छोड़ देगा। अभागा होगा वह दिन, जिस दिन मनुष्य की प्रत्यंचा पर मनुष्य को पार करने वाला तीर न खिंचेगा। अभागा होगा वह दिन, जिस दिन मनुष्य मनुष्य होने से तृप्त हो जाएगा। मनुष्य मंजिल नहीं है, पड़ाव है। उसे पार होना ही है। अर्जुन मंजिल नहीं है, पड़ाव है।

स्वाभाविक है आदमी के लिए, अपनों को चाहे। स्वाभाविक है आदमी के लिए, अपनों को मारने से डरे। स्वाभाविक है आदमी के लिए, ईदर-ऑर पकड़े--यह या वह, करूं या न करूं--चिंता आए। लेकिन जो मनुष्य के लिए स्वाभाविक है, वह जीवन का अंत नहीं है। और मनुष्य के लिए जो स्वाभाविक है, वह सिर्फ मनुष्य के लिए स्वाभाविक है। और उस स्वभाव में चिंता और पीड़ा और तनाव भी जुड़े हैं; अशांति, दुख और विक्षिप्तता भी जुड़ी है।

मनुष्य को अगर हम स्वाभाविक समझें, तो वह स्वाभाविकता वैसी ही है, जैसे कैंसर स्वाभाविक है, टी.बी. स्वाभाविक है। लेकिन टी.बी. के स्वभाव के साथ पीड़ा भी जुड़ी है। ऐसे ही मनुष्य को अगर हम पशु की तरफ से देखें, तो मनुष्य एक एवोल्यूशन है, एक विकास है; और अगर परमात्मा की तरफ से देखें, तो एक डिसीज है, एक बीमारी है। अगर हम पशु की तरफ से देखें, तो मनुष्य एक विकास है; और अगर परमात्मा की तरफ से देखें, तो मनुष्य एक बीमारी है, एक डिसीज है।

यह अंग्रेजी का शब्द डिसीज बहुत अच्छा है। यह दो शब्दों से बना है--डिस, ईज। उसका सिर्फ मतलब होता है बेचैनी, नाट ऐट ईज। तो आदमी एक डिसीज है, एक बेचैनी है, अगर परमात्मा की तरफ से देखें।

और अगर पशु भी हमारे संबंध में सोचते होंगे, तो वे भी नहीं सोचते होंगे कि हम विकास हैं। वे भी सोचते होंगे कि हमारे बीच से कुछ लोग गड़बड़ हो गए हैं, विक्षिप्त हो गए हैं; इनका दिमाग खराब हो गया है। सिवाय परेशानी के... क्योंकि जब कोई पशु देखता होगा कि आदमी साइकियाट्रिस्ट के दफ्तर में जाता है, आदमी मनोवैज्ञानिक के पास अपने मन की जांच के लिए जाता है; जब देखते होंगे आदमी पागलखाने खड़े करता है; और जब देखते होंगे कि यह आदमी दिन-रात चिंता में जीता है, तो पशु भी कभी सोचते होंगे। कभी न कभी उनकी जमात बैठती होगी और वे सोचते होंगे कि इन बेचारों को कितना समझाया था कि मत आदमी बनो। नहीं माने हैं, और फल भोग रहे हैं! जैसा कि पिता अक्सर बेटों के संबंध में सोचते हैं।

पशु पिता हैं, हम उसी यात्रा से आते हैं। जरूर सोचते होंगे कि कितना समझाया, लेकिन बिगड़ गई है यह जेनरेशन, यह पीढ़ी भटक गई। लेकिन उन्हें पता नहीं कि इस भटकाव से संभावनाएं खुल गई हैं। इस भटकाव से एक बड़ी यात्रा खुली है।

स्वभावतः, जो घर बैठा है, वह उतना परेशान नहीं होता। जो यात्रा पर निकला है, वह परेशान होता है। राह की धूल भी है, राह के गड्ढे भी हैं, राह की भूलें भी हैं, राह पर भटकन भी है। अनजान रास्ता है, पास कोई नक्शा नहीं। अनचार्टर्ड है, खोजना है और चलना है; चलना है और रास्ता बनाना है। लेकिन जो चलेंगे, भूलेंगे, भटकेंगे, गिरेंगे, दुखी होंगे, वे ही पहुंचते भी हैं।

अर्जुन स्वाभाविक है मनुष्य के लिए। लेकिन अर्जुन खुद पीड़ा से भरा है। वह भी मनुष्य होने की इच्छा में नहीं है। वह कहता है या तो दुर्योधन हो जाए, या तो कोई समझा दे कि जो हो रहा है, सब ठीक है। या कोई ऊपर उठा दे अर्जुन होने से। उसकी चिंता, उसका दुख, उसकी पीड़ा वही है।

गाण्डीवं स्रंसते हस्तात्त्वक्चैव परिदह्यते।
न च शक्नोम्यवस्थातुं भ्रमतीव च मे मनः।। 30।।
निमित्तानि च पश्यामि विपरीतानि केशव।
न च श्रेयोऽनुपश्यामि हत्वा स्वजनमाहवे।। 31।।
न कांक्षे विजयं कृष्ण न च राज्यं सुखानि च।
किं नो राज्येन गोविन्द किं भोगैर्जीवितेन वा।। 32।।

तथा हाथ से गांडीव धनुष गिरता है और त्वचा भी बहुत जलती है तथा मेरा मन भ्रमित-सा हो रहा है। इसलिए मैं खड़ा रहने को भी समर्थ नहीं हूं। और हे केशव! लक्षणों को भी विपरीत ही देखता हूं तथा युद्ध में अपने कुल को मारकर कल्याण भी नहीं देखता। हे कृष्ण! मैं विजय को नहीं चाहता और राज्य तथा सुखों को भी नहीं चाहता।

हे गोविंद! हमें राज्य से क्या प्रयोजन है,
अथवा भोगों से और जीवन से भी क्या प्रयोजन है।

अर्जुन के अंग शिथिल हो गए हैं। मन साथ छोड़ दिया है। धनुष छूट गया है। वह इतना कमजोर मालूम पड़ रहा है कि कहता है, रथ पर मैं बैठ भी सकूंगा या नहीं, इतनी भी सामर्थ्य नहीं है। यहां दो-तीन बातें समझनी जरूरी हैं।

एक तो यह कि शरीर केवल हमारे चित्त का प्रतिफलन है। गहरे में मन में जो घटित होता है, वह शरीर के रोएं-रोएं तक फलित हो जाता है। यह अर्जुन बलशाली इतना, अचानक ऐसा बलहीन हो गया कि रथ पर बैठना उसे कठिन मालूम पड़ रहा है! क्षणभर पहले ऐसा नहीं था। इस क्षणभर में वह बीमार नहीं हो गया। इस क्षणभर में उसके शरीर में कोई अशक्ति नहीं आ गई। इस क्षणभर में वह वृद्ध नहीं हो गया। इस क्षणभर में क्या हुआ है?

इस क्षण में एक ही घटना घटी है, उसका मन क्षीण हो गया; उसका मन दुर्बल हो गया; उसका मन स्व-विरोधी खंडों में विभाजित हो गया। जहां मन विभाजित होता है विरोधी खंडों में, तत्काल शरीर रुग्ण, दीन हो जाता है। जहां मन संयुक्त होता है एक संगीतपूर्ण स्वर में, वहां शरीर तत्काल स्वस्थ और अविभाजित हो जाता

है। उसके धनुष का गिर जाना, उसके हाथ-पैर का कंपना, उसके रोओं का खड़ा हो जाना, सूचक है। इस बात का सूचक है कि शरीर हमारे मन की छाया से ज्यादा नहीं है।

नहीं, पहले ऐसा ख्याल नहीं था। वैज्ञानिक कहते रहे हैं कि मन हमारा शरीर की छाया से ज्यादा नहीं है। जो इस भ्रांत-चिंतन को मानकर सोचते रहे, वे लोग भी यही कहते रहे हैं। बृहस्पति भी यही कहेंगे, एपिकुरस भी यही कहेगा, कार्ल मार्क्स और एंजिल्स भी यही कहेंगे, कि वह जो चेतना है, वह केवल बाई-प्राडक्ट है। वह जो भीतर मन है, वह केवल हमारे शरीर की उप-उत्पत्ति है; वह केवल शरीर की छाया है।

अभी अमेरिका में दो मनोवैज्ञानिक थे, जेम्स और लेंगे। उन्होंने एक बहुत अदभुत सिद्धांत प्रतिपादित किया था, और वर्षों तक स्वीकार किया जाता रहा। जेम्स-लेंगे थियरी उनके सिद्धांत का नाम था। बड़ी मजे की बात उन्होंने कही थी। उन दोनों ने यह सिद्ध करने की कोशिश की थी कि सदा से हम ऐसा समझते रहे हैं कि आदमी भयभीत होता है, इसलिए भागता है। उन्होंने कहा, नहीं, यह गलत है। क्योंकि अगर शरीर प्रमुख है और मन केवल उप-उत्पत्ति है, तो सच्चाई उलटी होनी चाहिए। उन्होंने कहा, मनुष्य चूंकि भागता है, इसलिए भय अनुभव करता है।

हम सोचते रहे हैं सदा से कि आदमी क्रोधित होता है, इसलिए मुट्ठियां भिंच जाती हैं; क्रोधित होता है, इसलिए दांत भिंच जाते हैं; क्रोधित होता है इसलिए आंखों में खून दौड़ जाता है; क्रोधित होता है, इसलिए श्वास तेजी से चलने लगती है और हमले की तैयारी हो जाती है।

जेम्स-लेंगे ने कहा, गलत है यह बात। क्योंकि शरीर प्रमुख है, इसलिए घटना पहले शरीर पर घटेगी, मन में केवल प्रतिफलन होगा। मन सिर्फ एक मिरर है, एक दर्पण! इससे ज्यादा नहीं। इसलिए उन्होंने कहा कि नहीं, बात उलटी है। आदमी चूंकि मुट्ठियां भींच लेता है और आदमी चूंकि दांत कस लेता है और चूंकि शरीर में खून तेजी से दौड़ता है, श्वास तेज चलती है, इसलिए क्रोध पैदा होता है।

फिर उन्होंने सिद्ध करने के लिए... और यहां तर्क का बहुत मजेदार मामला है। और तर्क कभी-कभी कैसे गलत रास्तों पर ले जाता है, वह देखने जैसा है। उन्होंने कहा, तो मैं यह कहता हूं कि एक आदमी बिना भागे हुए और बिना शरीर पर भागने का कोई प्रभाव हुए भयभीत होकर बता दे। या एक आदमी बिना आंखें लाल किए, मुट्ठियां बांधे, दांत भींचे, क्रोध करके बता दे।

मुश्किल है बात! कैसे बताइएगा क्रोध करके। तब उन दोनों ने कहा कि तब ठीक है, जब इसके बिना क्रोध नहीं हो सकता, तो क्रोध इनका ही जोड़ है। इससे ज्यादा कुछ भी नहीं है।

लेकिन पता नहीं, जेम्स-लेंगे को किसी ने क्यों नहीं कहा कि इससे उलटा होता है। एक अभिनेता क्रोध करके बता सकता है, आंखें लाल करके बता सकता है, दांत भींच सकता है, मुट्ठी भींच सकता है, फिर भी भीतर उसके कोई क्रोध नहीं होता। और एक अभिनेता प्रेम करके बता सकता है--और जितना अभिनेता बता सकता है, उतना शायद कोई भी नहीं बता सकता--भीतर उसके कोई प्रेम नहीं होता है।

यह अर्जुन, जेम्स-लेंगे सिद्धांत के बिल्कुल विपरीत काम कर रहा है; बिल्कुल उलटा काम कर रहा है। जेम्स-लेंगे इसको बिल्कुल मानने को राजी नहीं होंगे; कहेंगे, बिल्कुल उलटी बातें कर रहा है। इसे कहना चाहिए कि चूंकि मेरा धनुष गिरा जाता है, चूंकि मेरे रोएं खड़े हुए जाते हैं, चूंकि मेरा शरीर शिथिल हुआ जाता है, क्योंकि मेरे अंग निढाल हुए जाते हैं, इसलिए हे केशव! मेरे मन में बड़ी चिंता पैदा हो रही है।

लेकिन यह ऐसा नहीं कह रहा है। चिंता इसे पहले पैदा हो गई है। क्योंकि इसके शरीर के शिथिल होने और इसके रोएं खड़े होने का और कोई भी कारण नहीं है; बाहर कोई भी कारण नहीं है। एक क्षण में बाहर कुछ भी नहीं बदला है। बाहर सब वही है; लेकिन भीतर सब बदल गया है। भीतर सब बदल गया है।

तिब्बत में ल्हासा युनिवर्सिटी में विद्यार्थियों का भी शिक्षण जो होता था, उसमें भी योग का कुछ वर्ग अनिवार्य था। और एक योग का नियमित प्रयोग ल्हासा युनिवर्सिटी में चलता था। उसमें भी विद्यार्थियों को उत्तीर्ण होना जरूरी था। और वह था हीट-योग। वह है शरीर में भीतर से मन के कारण गर्मी पैदा करने की प्रक्रिया। अजीब! सिर्फ मन से! सिर्फ मन से। बाहर बर्फ पड़ रही है; और आदमी नग्न खड़ा है, और उसके शरीर से पसीना चू रहा है।

और इतने पर राजी नहीं होते थे वे। और जब पश्चिम से आए हुए डाक्टरों ने भी इसका परीक्षण किया, तो बहुत हैरान हो गए। क्योंकि जब विद्यार्थियों की परीक्षा होती थी, तो रात में खुले मैदान में, बर्फ के पास, झील के किनारे उन्हें नग्न खड़ा किया जाता। और उनके पास कपड़े, कोट, कमीज गीले करके रखे जाते, पानी में डुबाकर। और वे नग्न खड़े हैं। और उस लड़के को सर्वाधिक अंक मिलेंगे, जो रात अपने शरीर से इतनी गर्मी पैदा करे कि अनेक कपड़े सुखा दे शरीर पर पहनकर! जितने ज्यादा कपड़े रातभर में वह सुखा देगा, उतने ज्यादा अंक उसको मिलने वाले हैं!

और जब पश्चिम से आए डाक्टरों के एक दल ने यह देखा, तो वे दंग रह गए। उन्होंने कहा, जेम्स-लेंगे थियरी का क्या हुआ? क्योंकि बाहर तो बर्फ पड़ रही है और वे डाक्टर तो लबादे पर लबादे पहनकर भी भीतर कंपे जा रहे हैं। और ये नग्न खड़े लड़के क्या कर रहे हैं? क्योंकि इनके शरीर पर जो होना चाहिए, वह हो रहा है। लेकिन मन इनकार कर रहा है। और मन कहे चला जा रहा है कोई बर्फ नहीं है। और मन कहे चला जा रहा है कि धूप है, तेज गर्मी है। और मन कहे जा रहा है कि शरीर में आग तप रही है। इसलिए शरीर को पसीना छोड़ना पड़ रहा है।

यह जो अर्जुन के साथ हुआ, वह उसके मन में पैदा हुए भंवर का शरीर तक पहुंचा हुआ परिणाम है। और हमारी जिंदगी में शरीर से बहुत कम भंवर मन तक पहुंचते हैं। मन से ही अधिकतम भंवर शरीर तक पहुंचते हैं। लेकिन हम जिंदगीभर शरीर की ही फिक्र किए चले जाते हैं।

अगर कृष्ण को थोड़ी भी--जिसको तथाकथित वैज्ञानिक बुद्धि कहें--होती, तो वे अर्जुन को कहते कि मालूम होता है, तुझे फ्लू हो गया है! अगर उन्होंने मार्क्स को पढ़ा होता, तो वे कहते, मालूम होता है, तेरे शरीर में किसी हार्मोन की कोई कमी हो गई है। वे कहते, तू चल और किसी जनरल अस्पताल में भर्ती हो जा। लेकिन उन्होंने यह बिल्कुल नहीं कहा। वे शिथिल-गात होते अर्जुन को कुछ और समझाने लगे; वे उसके मन को कुछ और समझाने लगे; वे उसके मन को बदलने की कोशिश करने लगे।

जगत में दो ही प्रक्रियाएं हैं, या तो आदमी के शरीर को बदलने की प्रक्रिया और या आदमी की चेतना को बदलने की प्रक्रिया। विज्ञान आदमी के शरीर को बदलने की प्रक्रिया पर ध्यान देता है, धर्म मनुष्य की चेतना को बदलने की प्रक्रिया पर ध्यान देता है। वहीं भेद है। और इसलिए मैं कहता हूं, धर्म विज्ञान से ज्यादा गहरा विज्ञान है, धर्म विज्ञान से ज्यादा महान विज्ञान है। वह सुप्रीम साइंस है, वह परम विज्ञान है। क्योंकि वह केंद्र से शुरू करता है। और वैज्ञानिक बुद्धि निश्चित ही केंद्र से शुरू करेगी। परिधि पर की गई चोटें जरूरी नहीं कि केंद्र पर पहुंचें, लेकिन केंद्र पर की गई चोटें जरूरी रूप से परिधि पर पहुंचती हैं।

एक पत्ते को पहुंचाया गया नुकसान जरूरी नहीं है कि जड़ों तक पहुंचे। अक्सर तो नहीं पहुंचेगा। पहुंचने की कोई जरूरत नहीं है। लेकिन जड़ों को पहुंचाया गया नुकसान पत्तों तक जरूर पहुंच जाएगा; पहुंचना ही पड़ेगा; पहुंचने के अतिरिक्त और कोई मार्ग नहीं है।

इसलिए अर्जुन की इस स्थिति को देखकर, कृष्ण उसे कहां से पकड़ते हैं? अगर वे शरीर से पकड़ते, तो गीता फिजियोलाजी की एक किताब होती। वह भौतिक-शास्त्र होती। वे उसे चेतना से पकड़ते हैं, इसलिए गीता एक मनस-शास्त्र बन गई। गीता के मनस-शास्त्र बनने का प्रारंभ--अर्जुन के शरीर की घटना पर कृष्ण बिल्कुल ध्यान ही नहीं देते। वे न उसकी नाड़ी देखते हैं, न थर्मामीटर लगाते हैं। वे उसकी फिक्र ही नहीं करते कि उसके शरीर को क्या हो रहा है। वे फिक्र करते हैं कि उसकी चेतना को क्या हो रहा है। यह थोड़ा विचारणीय है।

जैसा मैंने कहा, आज भी मनुष्य जाति करीब-करीब अर्जुन की चेतना से ग्रस्त है। उसके शरीर पर भी वे परिणाम हो रहे हैं। लेकिन हम जो इलाज कर रहे हैं, वे शरीर से शुरू करने वाले हैं। इसलिए सब इलाज हो जाते हैं, और बीमार बीमार ही बना रहता है। उसकी चेतना से कोई इलाज शुरू नहीं हो पाता है।

यह अर्जुन कहता है, मेरा मन साथ छोड़े दे रहा है। मैं बिल्कुल निर्वीर्य हो गया, बलहीन हो गया।

बल क्या है? एक तो बल है जो शरीर की मांस-पेशियों, मसल्स में होता है। उसमें तो कोई भी फर्क नहीं पड़ गया है। लेकिन इस क्षण अर्जुन को एक छोटा-सा बच्चा भी धक्का दे दे, तो वह गिर जाएगा। इस क्षण अर्जुन की मसल्स कुछ भी काम नहीं करेंगी। एक छोटा-सा बच्चा उसे हरा सकता है। यह मस्कुलर ताकत कुछ अर्थ की नहीं मालूम होती है। एक और बल है, जो संकल्प से, विल से पैदा होता है। सच तो यह है कि वही बल है, जो संकल्प से पैदा होता है।

वह जो संकल्प से पैदा होने वाला बल है, वह बिल्कुल ही खो गया है। क्योंकि संकल्प कहां से आए? मन दुविधा में पड़ गया, तो संकल्प खंडित हो जाता है। मन एकाग्र हो, तो संकल्प संगठित हो जाता है। मन दुविधा में द्वंद्वग्रस्त हो जाए, कांफ्लिक्ट में पड़ जाए, तो संकल्प खो जाता है। हम सब भी निर्बल हैं, संकल्प नहीं है। वही संकल्प खो गया है। क्या करूं, क्या न करूं? करना क्या उचित होगा, क्या उचित नहीं होगा? सब आधार खो गए पैर के नीचे से। अर्जुन अधर में लटका रह गया है; वह त्रिशंकु हो गया है।

यह प्रत्येक मनुष्य की स्थिति है। और इसलिए अदभुत सत्य हैं कुरान में, और अदभुत सत्य हैं बाइबिल में, और अदभुत सत्य हैं जेन्दअवेस्ता में, और अदभुत सत्य हैं ताओ-तेह-किंग में, और दुनिया के अनेक-अनेक ग्रंथों में अदभुत सत्य हैं, लेकिन गीता फिर भी विशिष्ट है, और उसका कुल कारण इतना है कि वह धर्मशास्त्र कम, मनस-शास्त्र, साइकोलाजी ज्यादा है। उसमें कोरे स्टेटमेंट्स नहीं हैं कि ईश्वर है और आत्मा है। उसमें कोई दार्शनिक वक्तव्य नहीं हैं; कोई दार्शनिक तर्क नहीं हैं। गीता मनुष्य जाति का पहला मनोविज्ञान है; वह पहली साइकोलाजी है। इसलिए उसके मूल्य की बात ही और है।

अगर मेरा वश चले, तो कृष्ण को मनोविज्ञान का पिता मैं कहना चाहूंगा। वे पहले व्यक्ति हैं, जो दुविधाग्रस्त चित्त, माइंड इन कांफ्लिक्ट, संतापग्रस्त मन, खंड-खंड टूटे हुए संकल्प को अखंड और इंटिग्रेट करने की... कहें कि वे पहले आदमी हैं, जो साइको-एनालिसिस का, मनस-विश्लेषण का उपयोग करते हैं। सिर्फ मनस-विश्लेषण का ही नहीं, बल्कि साथ ही एक और दूसरी बात का भी, मनस-संश्लेषण का भी, साइको-सिंथीसिस का भी।

तो कृष्ण सिर्फ फ्रायड की तरह मनोविश्लेषक नहीं हैं; वे संश्लेषक भी हैं। वे मन की खोज ही नहीं करते कि क्या-क्या खंड हैं उसके! वे इसकी भी खोज करते हैं कि वह कैसे अखंड, इंडिविजुएशन को उपलब्ध हो; अर्जुन कैसे अखंड हो जाए!

और यह अर्जुन की चित्त-दशा, हम सबकी चित्त-दशा है। लेकिन, शायद संकट के इतने तीव्र क्षण में हम कभी नहीं होते। हमारा संकट भी कुनकुना, ल्यूक-वार्म होता है, इसलिए हम उसको सहते चले जाते हैं। इतना ड्रामैटिक, इतना त्वरा से भरा, इतना नाटकीय संकट हो, तो शायद हम भी अखंड होने के लिए आतुर हो जाएं।

मैंने सुना है कि एक मनोवैज्ञानिक ने एक उबलते हुए पानी की बाल्टी में एक मेंढक को डाल दिया। वह मेंढक तत्काल छलांग लगाकर बाहर हो गया। वह मेंढक अर्जुन की हालत में पड़ गया था। उबलता हुआ पानी, मेंढक कैसे एडजस्ट करे! छलांग लगाकर बाहर हो गया। फिर उसी मनोवैज्ञानिक ने उसी मेंढक को एक दूसरी बाल्टी में डाला और उसके पानी को धीरे-धीरे गरम किया, चौबीस घंटे में उबलने तक लाया वह। करता रहा धीरे-धीरे गरम। वह जो मेंढक था, हम जैसा, राजी होता गया। थोड़ा पानी गरम हुआ, मेंढक भी थोड़ा गरम हुआ। उस मेंढक ने कहा, अभी ऐसी कोई छलांग लगाने की खास बात नहीं है; चलेगा। वह एडजस्टमेंट करता चला गया, जैसा हम सब करते चले जाते हैं। चौबीस घंटे में वह एडजस्टेड हो गया। जब पानी उबला, तब एडजस्टेड रहा, क्योंकि अभी उसे कोई फर्क नहीं मालूम पड़ा। रत्ती-रत्ती बढ़ा। एक रत्ती से दूसरी रत्ती में कोई छलांग लगाने जैसी बात नहीं थी। उसने कहा कि इतने से राजी हो गए, तो इतने से और सही। वह मर गया। पानी उबलता रहा, वह उसी में उबल गया, छलांग न लगाई। मेंढक छलांग लगा सकता था। अब मेंढक को छलांग लगाने से ज्यादा स्वाभाविक और कुछ भी नहीं है, मगर वह भी न हो सका।

अर्जुन उबलते हुए पानी में एकदम पड़ गया है। इसलिए सिचुएशन ड्रामैटिक है, सिचुएशन एक्सट्रीम है। वह ठीक स्थिति पूरी उबलती हुई है। इसलिए अर्जुन एकदम धनुषबाण छोड़ दिया। हम अपनी तराजू भी नहीं छोड़ सकते इस तरह, हम अपना गज भी नहीं छोड़ सकते इस तरह, हम अपनी कलम भी नहीं छोड़ सकते इस तरह। और रथ पर ही बैठने में एकदम इतना कमजोर हो गया! क्या हुआ? संकट से, इतनी तीव्रता से राजी होना, एडजस्ट होना मुश्किल हो गया।

मैं आपसे कहना चाहूंगा कि राजी मत होते चले जाना। नहीं सबको ऐसे मौके नहीं आते कि महाभारत हो हरेक की जिंदगी में। और बड़ी कृपा है भगवान की, ऐसा हरेक आदमी को महाभारत का मौका लाना पड़े, तो कठिनाई होगी बहुत।

लेकिन जिंदगी महाभारत है, पर लंबे फैलाव पर है! त्वरा नहीं है उतनी। तीव्रता नहीं है उतनी। सघनता नहीं है उतनी। धीमे-धीमे सब होता रहता है। मौत आ जाती है और हम एडजस्ट होते चले जाते हैं; हम समायोजित हो जाते हैं। और तब जिंदगी में क्रांति नहीं हो पाती है।

अर्जुन की जिंदगी में क्रांति निश्चित है। इधर या उधर, उसे क्रांति से गुजरना ही पड़ेगा। पानी उबलता हुआ है। ऐसी जगह है, जहां उसे कुछ न कुछ करना ही होगा। या तो वह भाग जाए, जैसा कि बहुत लोग भाग जाते हैं। सरल वही होगा। शार्ट कट वही है। निकटतम यही मालूम पड़ता है, भाग जाए।

इसलिए अधिक लोग जीवन के संकट में से भागने वाला संन्यास निकाल लेते हैं। अधिक लोग जीवन के संकट में से एस्केपिस्ट रिनंसिएशन निकाल लेते हैं, एकदम जंगल भाग जाते हैं। वे कहते हैं, नहीं, अहमदाबाद नहीं, हरिद्वार जा रहे हैं। अर्जुन भी वैसी स्थिति में था। हालांकि गीता वे अपने साथ ले जाते हैं। तब बड़ी हैरानी

होती है। हरिद्वार में गीता पढ़ते हैं। अर्जुन भी पढ़ सकता था। हरिद्वार वह भी जाना चाहता था। लेकिन वह उसको एक गलत आदमी मिल गया, कृष्ण मिल गया। उसने कहा कि रुक; भाग मत!

क्योंकि भगोड़े परमात्मा तक पहुंच सकते हैं? भगोड़े परमात्मा तक नहीं पहुंच सकते। जो जीवन के सत्य से भागते हैं, वे परमात्मा तक नहीं पहुंच सकते हैं। जो जीवन का ही साक्षात्कार करने में असमर्थ हैं, वे परमात्मा का साक्षात्कार नहीं कर सकते हैं। क्योंकि जो जीवन को ही देखकर शिथिल-गात हो जाते हैं, जिनके गांडीव छूट जाते हैं हाथ से, जिनके रोएं कंपने लगते हैं और जिनके प्राण थरथराने लगते हैं--जीवन को ही देखकर--नहीं, परमात्मा के समक्ष वे खड़े नहीं हो सकेंगे।

जीवन तैयारी है, जीवन कदम-कदम तैयारी है, उस विराट सत्य के साक्षात्कार की, एनकाउंटर की। और अर्जुन तो जीवन के एक छोटे से तथ्य से ही भागा चला जा रहा है! लेकिन भागने की तैयारी उसकी पूरी हो गई है।

अब यह बड़े मजे की बात है कि वह रथ पर नहीं चढ़ पाता। वह कहता है, रथ पर चढ़ने की भी शक्ति नहीं है। लेकिन अगर उससे कहो कि भाग जाओ जंगल की तरफ, तो वह बड़ी शक्ति पाएगा; अभी भाग जाएगा। एकदम इतनी तेजी से दौड़ेगा, जितनी तेजी से कभी नहीं दौड़ा है। जो आदमी जिंदगी से लड़ने की सामर्थ्य नहीं जुटा पा रहा है, वह भागने की जुटा लेता है। सामर्थ्य की तो कमी नहीं मालूम पड़ती, शक्ति की तो कमी नहीं मालूम पड़ती, शक्ति तो है। अगर कृष्ण उसे कहें, छोड़ सब, तो वह बड़ा प्रफुल्ल हो जाएगा। लेकिन यह प्रफुल्लता ज्यादा देर टिकेगी नहीं। और अगर अर्जुन जंगल चला जाए, तो थोड़ी देर में ही उदास हो जाएगा। बैठ भी जाए वह संन्यासी के वेश में एक वृक्ष के नीचे, तो थोड़ी देर में जंगल से ही लकड़ी वगैरह बटोरकर वह तीर-कमान बना लेगा। वह आदमी वही है।

क्योंकि हम अपने से भागकर कहीं भी नहीं जा सकते हैं। हम सबसे भाग सकते हैं, अपने से नहीं भाग सकते हैं। मैं तो अपने साथ ही पहुंच जाऊंगा। तो थोड़ी देर में जब वह देखेगा कि कोई देखने वाला नहीं है, तो पशु-पक्षियों का शिकार शुरू कर देगा। अर्जुन ही तो भागेगा न! और पशु-पक्षी तो अपने नहीं हैं; वे तो स्वजन-प्रियजन नहीं हैं। उन्हें तो मारने में कोई कठिनाई आएगी नहीं। वह मजे से मारेगा।

अर्जुन संन्यासी हो नहीं सकता। क्योंकि जो संसारी होने की भी हिम्मत नहीं दिखा पा रहा है, उसके संन्यासी होने का कोई उपाय नहीं है। असल में संन्यास संसार से भागने का नाम नहीं है, संसार को पार कर जाने का नाम है।

संन्यास, संसार की जलन और आग का अतिक्रमण है। और जो उसे पूरा पार कर लेता है, वही अधिकारी हो पाता है। संन्यास संसार से विरोध नहीं, संन्यास संसार की संपूर्ण समझ और संघर्ष का फल है।

संन्यास की स्थिति में आ गया है वह। पलायनवादी हो, तब तो अभी रास्ता है उसके सामने। अगर संघर्ष में जाए, तो कठिनाई है। अब पूरी गीता उसके गात की शिथिलता को मिटाने के लिए है; उसे वापस संकल्पवान होने के लिए है; उसे वापस शक्ति, संकल्प, वापस व्यक्तित्व और आत्मवान बनाने की पूरी चेष्टा है।

और इसलिए मैं जो सारी चर्चा करूंगा, वह इसी दृष्टि से चर्चा करूंगा कि वह आपके मनस के भी काम की है। और अगर आपके भीतर अर्जुन न हो, तो आप मत आएं, वह आपके काम की बात नहीं है। वह बेमानी है। आपके भीतर दुविधा न हो, आपके भीतर संघर्ष न हो, आपके भीतर बेचैनी न हो, तो आप मत सुनें। उससे कोई संबंध नहीं है। आपके भीतर दुविधा हो, बेचैनी हो, तनाव हो, आपके भीतर निर्णय में कठिनाई हो, आपके

भीतर खंड-खंड आदमी हो और आप भी भीतर से टूट गए हों, डिसइंटिग्रेटेड हों, तो ही आने वाली बात आपके अर्थ की हो सकती है।

शेष कल सुबह!

तीसरा प्रवचन

विषाद और संताप से आत्म-क्रांति की ओर

गाण्डीवं स्रंसते हस्तात्त्वक्चैव परिदह्यते।
न च शक्नोम्यवस्थातुं भ्रमतीव च मे मनः।। 30।।
निमित्तानि च पश्यामि विपरीतानि केशव।
न च श्रेयोऽनुपश्यामि हत्वा स्वजनमाहवे।। 31।।
न कांक्षे विजयं कृष्ण न च राज्यं सुखानि च।
किं नो राज्येन गोविन्द किं भोगैर्जीवितेन वा।। 32।।

तथा हाथ से गांडीव धनुष गिरता है और त्वचा भी बहुत जलती है तथा मेरा मन भ्रमित-सा हो रहा है। इसलिए मैं खड़ा रहने को भी समर्थ नहीं हूं। और हे केशव! लक्षणों को भी विपरीत ही देखता हूं तथा युद्ध में अपने कुल को मारकर कल्याण भी नहीं देखता। हे कृष्ण! मैं विजय को नहीं चाहता और राज्य तथा सुखों को भी नहीं चाहता।

हे गोविंद! हमें राज्य से क्या प्रयोजन है,
अथवा भोगों से और जीवन से भी क्या प्रयोजन है।

अर्जुन बड़ी सशर्त बात कह रहा है; बहुत कंडीशनल, शर्त से बंधा उसका वक्तव्य है। सुख के भ्रम से वह मुक्त नहीं हुआ है। लेकिन वह कह रहा है कि अपनों को मारकर जो सुख मिलेगा, ऐसे सुख से क्या प्रयोजन? अपनों को मारकर जो राज्य मिलेगा, ऐसे राज्य से क्या प्रयोजन? अगर अपनों को बिना मारे राज्य मिल जाए, और अपनों को बिना मारे सुख मिल जाए, तो अर्जुन लेने को तैयार है। सुख मिल सकता है, इसमें उसे कोई संदेह नहीं है। कल्याण हो सकता है, इसमें उसे कोई संदेह नहीं है। अपनों को मारने में उसे संदेह है।

इस मनोदशा को समझ लेना उपयोगी है। हम सब भी ऐसे ही शर्तों में सोचते हैं। वेहेंगर ने एक किताब लिखी है, दि फिलासफी आफ ऐज इफ। जैसे सारा जीवन ही यदि पर खड़ा है। यदि ऐसा हो तो सुख मिल सकेगा, यदि ऐसा न हो तो सुख नहीं मिल सकेगा। यदि ऐसा हो तो कल्याण हो सकेगा, यदि ऐसा न हो तो कल्याण नहीं हो सकेगा। लेकिन एक बात निश्चित है कि सुख मिल सकता है, शर्त पूरी होनी चाहिए। और मजे की बात यही है कि जिसकी शर्त है, उसे सुख कभी नहीं मिल सकता है। क्यों? क्योंकि जिसे सुख का भ्रम नहीं टूटा, डिसइलूजनमेंट नहीं हुआ, जिसका सुख का मोह भंग नहीं हुआ, उसे सुख नहीं मिल सकता है।

सुख मिलता है केवल उसे, जो इस सत्य को जान लेता है कि सुख इस जगत में संभव नहीं है। बड़ा पैराडाक्सिकल, बड़ा उलटा दिखाई पड़ता है। जो सोचता है, इस जगत में सुख मिल सकता है, कुछ शर्तें भर पूरी हो जाएं, वह केवल नए-नए दुख खोजता चला जाता है। असल में हर दुख को खोजना हो तो सुख बनाकर ही खोजना पड़ता है। दुख के खोजने की तरकीब ही यही है कि उसे सुख मानकर खोजना पड़ता है। जब तक खोजते हैं तब तक सुख मालूम पड़ता है, जब मिल जाता है तब दुख मालूम पड़ता है। लेकिन मिल जाने के बाद कोई उपाय नहीं है।

अर्जुन अगर कहे कि सुख संभव कहां है? संसार में कल्याण संभव कहां है? राज्य में प्रयोजन कहां है? अगर वह ऐसा कहे तो उसका प्रश्न बेशर्त है, अनकंडीशनल है। तब उत्तर बिल्कुल और होता। लेकिन वह यह कह रहा है, अपनों को मारकर सुख कैसे मिलेगा? सुख तो मिल सकता है, अपने न मारे जाएं तो सुख लेने को वह तैयार है। कल्याण तो हो सकता है, राज्य में प्रयोजन भी हो सकता है, लेकिन अपने न मारे जाएं तो ही राज्य में प्रयोजन हो सकता है।

राज्य व्यर्थ है, सुख व्यर्थ है, महावीर या बुद्ध को जैसा ख्याल हुआ, अर्जुन को वैसा ख्याल नहीं है। अर्जुन के सारे वक्तव्य उसकी विरोधी मनोदशा की सूचना देते हैं। वह जिस चीज को कह रहा है, बेकार है, उस चीज को बेकार जान नहीं रहा है। वह जिस चीज को कह रहा है, क्या प्रयोजन? क्या फायदा? वह पूरे वक्त मन में जान रहा है कि फायदा है, प्रयोजन है, सिर्फ उसकी शर्त पूरी होनी चाहिए। उसका यदि अगर पूरा हो जाए, इफ अगर पूरी हो जाए, तो सुख मिलेगा, इसमें उसे कोई भी संदेह नहीं है।

मैंने एक मजाक सुनी है। मैंने सुना है कि बर्ट्रेंड रसेल मर रहा है। मजाक ही है। एक पादरी यह खबर सुनकर कि बर्ट्रेंड रसेल मर रहा है, भागा हुआ पहुंच गया कि हो सकता है यह जीवनभर का निष्णात नास्तिक, शायद मरते वक्त मौत से डर जाए और भगवान को स्मरण कर ले। पर उस पादरी की मरते हुए बर्ट्रेंड रसेल के पास भी जाने की सामने हिम्मत नहीं पड़ती है। वह भीड़ में, जो मित्रों की इकट्ठी हो गई थी, पीछे डरा हुआ खड़ा है कि कोई मौका अगर मिल जाए, तो वह बर्ट्रेंड रसेल को कह दे कि अभी भी माफी मांग लो।

और तभी बर्ट्रेंड रसेल ने करवट बदली और कहा, हे परमात्मा! तो उसने सोचा, यह ठीक मौका है। इसके मुंह से भी परमात्मा का नाम निकला है! तो वह पास गया और उसने कहा कि ठीक अवसर है, अभी भी क्षमा मांग लो परमात्मा से। तो बर्ट्रेंड रसेल ने आंख खोली और उसने कहा, हे परमात्मा! यदि कोई परमात्मा हो, तो बर्ट्रेंड रसेल क्षमा मांगता है; यदि कोई बर्ट्रेंड रसेल की आत्मा हो; क्षमा मांगता है, यदि कोई पाप किए गए हों; क्षमा मांगता है, यदि क्षमा संभव हो।

सारा जीवन हमारा यदि से घिरा है। बर्ट्रेंड रसेल साफ है, ईमानदार है। हम इतने साफ नहीं हैं।

अर्जुन भी साफ नहीं है, बहुत कनफ्यूज्ड है, बहुत उलझा हुआ है। चित्त की गांठ उसकी बहुत इरछी-तिरछी है। वह कह रहा है, सुख तो मिल सकता है, लेकिन यदि अपने न मरें। वह कहता है, राज्य कल्याणकारी है मिल जाए तो, यदि अपने न मरें। यह यदि ही उसकी गांठ है। और जो आदमी ऐसा कहता है, उसे--सुख, राज्य, धन, यश--उनका मोह नहीं टूट गया है; उनकी आकांक्षा नहीं टूट गई है; उनकी अभीप्सा नहीं टूट गई है। पीछे वह बहुत तैयार है, सब मिल जाए, लेकिन उसके यदि भी पूरे होने चाहिए।

इसीलिए कृष्ण को निरंतर पूरे समय उसके साथ श्रम करना पड़ रहा है। वह श्रम उसके सेल्फ-कंट्राडिक्टरी, उसके आत्म-विरोधी चिंतन के लिए करना पड़ रहा है। क्योंकि पूरे समय यह दिखाई पड़ रहा है कि वह जो कह रहा है, वही चाह रहा है। जिससे भाग रहा है, उसी को मांग रहा है। जिससे बचना चाह रहा है, उसी को आलिंगन कर रहा है।

अर्जुन की यह दशा ठीक से समझ लेनी चाहिए। ऐसा अर्जुन हम सबके भीतर है। जिसे हम एक हाथ से धकाते हैं, उसे दूसरे हाथ से खींचते रहते हैं। जिसे हम एक हाथ से खींचते हैं, उसे दूसरे से धकाते रहते हैं। एक कदम बाएं चलते हैं, तो तत्काल एक कदम दाएं चल लेते हैं। एक कदम परमात्मा की तरफ जाते हैं, तो एक कदम तत्काल संसार की तरफ उठा लेते हैं।

यह जो अर्जुन है, ऐसी बैलगाड़ी की तरह है, जिसमें दोनों तरफ बैल जुते हैं। वह दोनों तरफ खिंच रहा है। वह कह रहा है, सुख तो है, इसलिए मन भागता है। वह कह रहा है, लेकिन अपनों को मारना पड़ेगा, इसलिए मन लौटता है। यह स्व-विरोध है, स्मरण रखने योग्य है, क्योंकि अर्जुन की पूरी चित्त-दशा इसी स्व-विरोध का फैलाव है।

प्रश्नः ओशो, विषादग्रस्त अर्जुन के चित्त की दशा हमने देखी। अब विषाद होने से व्यक्ति स्वभाव से यानी आत्मभाव से दूर हो जाता है, स्वभाव से वियोग होता है। तो गीता के प्रथम अध्याय को अर्जुन-विषादयोग कहा गया है, वह कैसे? विषाद का योग से क्या संबंध है? या गीता में योग शब्द किस अर्थ में प्रयुक्त किया गया है?

विषादयोग! योग के बहुत अर्थ हैं। और योग के ऐसे भी अर्थ हैं, जो साधारणतः योग से हमारी धारणा है, उसके ठीक विपरीत हैं। यह ठीक ही सवाल है कि विषाद कैसे योग हो सकता है? आनंद योग हो सकता है; विषाद कैसे योग हो सकता है?

लेकिन विषाद इसलिए योग हो सकता है कि वह आनंद का ही शीर्षासन करता हुआ रूप है, वह आनंद ही सिर के बल खड़ा है। आप अपने पैर के बल खड़े हों, तो भी आदमी हैं, और सिर के बल खड़े हो जाएं, तो भी आदमी हैं। जिसको हम स्वभाव से विपरीत जाना कहते हैं, वह भी स्वभाव का उलटा खड़ा हो जाना है, इनवर्शन है। जिसको हम विक्षिप्तता कहते हैं, वह भी स्वभाव का विकृत हो जाना है, परवर्शन है। लेकिन है स्वभाव ही।

सोने में मिट्टी मिल जाए, तो अशुद्ध सोना ही कहना पड़ता है। अशुद्ध है, इसलिए पूछा जा सकता है कि जो अशुद्ध है, उसे सोना क्यों कह रहे हैं? लेकिन सोना ही कहना पड़ेगा। अशुद्ध होकर भी सोना है। और इसलिए भी सोना कहना पड़ेगा कि अशुद्धि जल सकती है और सोना वापस सोना हो सकता है।

विषादयोग इसलिए कह रहे हैं कि विषाद है, विषाद जल सकता है, योग बच सकता है। आनंद की यात्रा हो सकती है। कोई भी इतने विषाद को उपलब्ध नहीं हो गया कि स्वरूप को वापस लौट न सके। विषाद की गहरी से गहरी अवस्था में भी स्वरूप तक लौटने की पगडंडी शेष है। उस पगडंडी के स्मरण के लिए ही योग कह रहे हैं।

और वह जो विषाद है, वह भी इसीलिए हो रहा है। विषाद क्यों हो रहा है? एक पत्थर को विषाद नहीं होता। नहीं होता, इसलिए कि उसे आनंद भी नहीं हो सकता है। विषाद हो इसलिए रहा है, वह भी एक गहरे अर्थ में आनंद का स्मरण है। इसलिए विषाद हो रहा है। वह भी इस बात का स्मरण है, गहरे में चेतना कहीं जान रही है कि जो मैं हो सकता हूं, वह नहीं हो पा रहा हूं; जो मैं पा सकता हूं, वह मैं नहीं पा रहा हूं। जो संभव है, वह संभव नहीं हो पा रहा है, इसलिए विषाद हो रहा है।

इसलिए जितना ही प्रतिभाशाली व्यक्तित्व होगा, उतने ही गहरे विषाद में उतरेगा। सिर्फ जड़-बुद्धि विषाद को उपलब्ध नहीं होते हैं। क्योंकि जड़-बुद्धि को तुलना का उपाय भी नहीं होता; उसे यह भी ख्याल नहीं होता कि मैं क्या हो सकता हूं। जिसे यह ख्याल है कि मैं क्या हो सकता हूं, जिसे यह ख्याल है कि आनंद संभव है, उसके विषाद की कालिमा बढ़ जाएगी; उसे विषाद ज्यादा गहरा दिखाई पड़ेगा। जिसे सुबह का पता है, उसे रात के अंधकार में बहुत अंधकार दिखाई पड़ेगा। जिसे सुबह का कोई पता नहीं है, उसे रात भी सुबह हो सकती है; और रात भी उसे लग सकती है कि ठीक है।

अर्जुन की इस विषाद की स्थिति को भी योग ही कहा जा रहा है, क्योंकि यह विषाद का बोध भी स्वरूप के विपरीत, कंट्रास्ट में दिखाई पड़ता है, अन्यथा नहीं दिखाई पड़ेगा। ऐसा विषादयोग और किसी को भी उस युद्ध के स्थल पर नहीं हो रहा है। ऐसा दुर्योधन को नहीं हो रहा है।

कल रास्ते में जाता था तो एक मित्र ने पूछा कि आपने दुर्योधन की तो बात की, युधिष्ठिर के संबंध में क्या ख्याल है? क्योंकि दुर्योधन को नहीं हो रहा है, माना, आदमी भला नहीं है। पर युधिष्ठिर तो भला आदमी है, धर्मराज है, उसे क्यों नहीं हो रहा है?

तो यह भी थोड़ा विचारणीय है। आशा तो करनी चाहिए कि युधिष्ठिर को हो; लेकिन युधिष्ठिर को नहीं हो रहा है। युधिष्ठिर तथाकथित धार्मिक आदमी है, सोकाल्ड रिलीजस है। और बुरा आदमी भी तथाकथित धार्मिक आदमी से बेहतर होता है। क्योंकि बुरे आदमी को आज नहीं कल, बुरे की पीड़ा और बुरे का कांटा चुभने लगेगा। लेकिन तथाकथित धार्मिक आदमी को वह पीड़ा भी नहीं चुभती, क्योंकि वह मानकर ही चलता है कि धार्मिक है। विषाद कैसे हो? युधिष्ठिर अपने धार्मिक होने में आश्वस्त है। आश्वासन बड़ा झूठा है। लेकिन आश्वस्त है। असल में युधिष्ठिर रूढ़िग्रस्त धार्मिक आदमी की प्रतिमा है।

दो तरह के धार्मिक आदमी होते हैं। एक तो उधार धार्मिक आदमी होते हैं, बारोड, जिनका धर्म अतीत की उधारी से आता है। और एक वे धार्मिक आदमी होते हैं, जिनका धर्म उनकी आंतरिक क्रांति से आता है।

तो अर्जुन आंतरिक क्रांति के द्वार पर खड़ा हुआ धार्मिक आदमी है। धार्मिक है नहीं, लेकिन क्रांति के द्वार पर खड़ा हुआ है। उस पीड़ा से गुजर रहा है, जिससे धर्म पैदा हो सकता है। युधिष्ठिर तृप्त है; अतीत से जो धर्म मिला है, उससे राजी है। इसलिए धार्मिक भी हो सकते हैं, जुआ भी खेल सकते हैं, तब भी कोई संदेह मन में पैदा नहीं होता। धार्मिक भी हो सकते हैं, राज्य के लिए युद्ध पर भी जा सकते हैं, तब भी कोई संदेह मन में पैदा नहीं होता। धार्मिक भी हैं और तथाकथित धर्म के आस-पास सब अधर्म पूरी तरह चलता है; कोई पीड़ा उससे नहीं होती।

आमतौर से मंदिर में, मस्जिद में, गुरुद्वारा में, चर्च में जाने वाला आदमी युधिष्ठिर से तालमेल रखता है। तृप्त है। गीता रोज पढ़ता है; धार्मिक आदमी है--बात समाप्त हो गई। गीता कंठस्थ है, पक्का धार्मिक आदमी है--बात समाप्त हो गई। सब उसे मालूम है, जो मालूम करने योग्य है--बात समाप्त हो गई। ऐसा आदमी चली हुई कारतूस जैसा होता है, उसमें कुछ चलने को नहीं होता। खाली कारतूस होता है, उसमें बारूद नहीं होती। खाली कारतूस अच्छी भी मालूम पड़ती है, क्योंकि उससे बहुत खतरा भी नहीं होता।

युधिष्ठिर इन अर्थों में धर्मराज हैं। अतीत से जो धर्म मिला है, उसकी धरोहर है। अतीत से, परंपरा से, रूढ़ि से जो धर्म मिला है, वे उसके प्रतीक, प्रतिमा-पुरुष हैं। उन्हें कोई अड़चन नहीं होती! तथाकथित धार्मिक आदमी कंप्रोमाइजिंग होता है, समझौतावादी होता है। वह हर स्थिति में धर्म और अधर्म के बीच समझौते खोज लेता है।

तथाकथित धार्मिक आदमी हिपोक्रेट होता है, पाखंडी होता है। उसके दो चेहरे होते हैं। एक उसका धार्मिक चेहरा होता है, जो वह दिखाने के लिए रखता है। एक उसका असली चेहरा होता है, जो वह काम चलाने के लिए रखता है। और इन दोनों के बीच कभी कांफ्लिक्ट पैदा नहीं होती। यही हिपोक्रेसी का सूत्र है, राज है। इनके बीच कभी द्वंद्व पैदा नहीं होता, कभी उसे ऐसा नहीं लगता कि मैं दो हूं। वह बड़ा लिक्विड होता है, बड़ा तरल होता है। वह इधर से उधर बड़ी आसानी से हो जाता है। उसे कोई अड़चन नहीं आती। वह अभिनेता की तरह है। पात्र अभिनय बदल लेता है, उसे अड़चन नहीं होती। कल वह राम बना था, आज उसे रावण बना

दें, उसे कोई अड़चन नहीं आती। वह रावण की वेशभूषा पहनकर खड़ा हो जाता है; रावण की भाषा बोलने लगता है।

यह जो तथाकथित धार्मिक आदमी है, यह अधार्मिक से भी बदतर है, ऐसा मैं कहता हूं। ऐसा इसलिए कहता हूं कि अधार्मिक अपनी पीड़ा को ज्यादा दिन नहीं झेल सकेगा; आज नहीं कल कांटा चुभेगा। लेकिन जो आदमी समझौते कर लिया है, वह पीड़ा को अनंतकाल तक झेल सकता है।

इसलिए युधिष्ठिर को पीड़ा नहीं आती। युधिष्ठिर बिल्कुल राजी है। अब यह बड़े मजे की बात है, अधार्मिक आदमी बिल्कुल राजी है उस युद्ध में; धार्मिक आदमी बिल्कुल राजी है उस युद्ध में; और यह अर्जुन, जो न तो अधार्मिक होने से राजी है, न अभी तथाकथित धर्म से राजी है, यह चिंतित है।

अर्जुन बहुत आथेंटिक, प्रामाणिक मनुष्य है। उसकी प्रामाणिकता इसमें है कि चिंता है उसे। उसकी प्रामाणिकता इसमें है कि प्रश्न हैं उसके पास। उसकी प्रामाणिकता इसमें है कि जो स्थिति है, उसमें वह राजी नहीं हो पा रहा है। यही उसकी बेचैनी, यही उसकी पीड़ा उसका विकास बनती है।

विषादयोग इसलिए ही कहा है कि अर्जुन विषाद को उपलब्ध हुआ। धन्य हैं वे, जो विषाद को उपलब्ध हो जाएं। क्योंकि जो विषाद को उपलब्ध होंगे, उन्हें मार्ग खोजना पड़ता है। अभागे हैं वे, जिनको विषाद भी नहीं मिला, उनको आनंद तो कभी मिलेगा ही नहीं। धन्य हैं वे, जो विरह को उपलब्ध हो जाएं, क्योंकि विरह मिलन की आकांक्षा है। इसलिए विरह भी योग है; मिलन की आकांक्षा है। वह मिलन के लिए खोजता हुआ मार्ग है। योग तो मिलन ही है; लेकिन विरह भी योग है; क्योंकि विरह भी मिलन की पुकार और प्यास है। विषाद भी योग है। योग तो आनंद ही है। लेकिन विषाद भी योग है, क्योंकि विषाद आनंद के लिए जन्मने की प्रक्रिया है। इसलिए विषादयोग कहा है।

प्रश्नः ओशो, आपने अभी बर्ट्रेंड रसेल का नाम लिया। वेद मेहता ने टिलिक से बर्ट्रेंड रसेल की आत्मतुष्ट अनास्तिकता के पहलू प्रकट करके पूछा कि रसेल को नास्तिक होते हुए भी जीवन में एंपटीनेस, खालीपन का अनुभव नहीं हुआ! तब पाल टिलिक ने बताया कि ऐसे लोग आत्मवंचक हो सकते हैं। कितने लोग बस यूं ही हरे रंग को, ग्रीन रंग को नहीं देख पाते। क्या रसेल उनमें से एक होगा? अर्जुन इस चर्मचक्षु से विराट-रूप का भव्य-दर्शन नहीं कर सकता था। और दूसरी बात यह कि पाल टिलिक अल्बर्ट कामू की नैराश्य, डिस्पेअर पर वार्त्तिक देते हुए एक जगह कहते हैं कि डिस्पेअर इन इटसेल्फ इ.ज रिलीजस। तो गीता की दृष्टि से तो आप जो कहते हैं, उससे यह मालूम होता है कि अर्जुन का विषाद अधार्मिक था! कुछ वार्त्तिक दें।

अर्जुन का विषाद यदि विषाद में ही तृप्त हो जाए और बंद हो जाए, तो अधार्मिक है; क्लोज्ड हो जाए, तो अधार्मिक है। और अगर विषाद यात्रा बन जाए, गंगोत्री बने और विषाद से गंगा निकले और आनंद के सागर तक पहुंच जाए, तो धार्मिक है। विषाद अपने में न तो अधार्मिक है, न धार्मिक है। अगर विषाद बंद करता है व्यक्तित्व को, तो आत्मघाती हो जाएगा। और अगर विषाद व्यक्तित्व को बहाव देता है, तो आत्म-परिवर्तनकारी हो जाएगा।

पाल टिलिक जो कहते हैं कि डिस्पेअर इन इटसेल्फ इ.ज रिलीजस--वह जो विषाद है, दुख है, वह अपने आप में धार्मिक है--यह अधूरा सत्य है। पाल टिलिक पूरा सत्य नहीं बोल रहे हैं। यह अधूरा सत्य है, आधा सत्य

है। विषाद धार्मिक बन सकता है। उसकी पासिबिलिटी है, उसकी संभावना है धार्मिक बनने की, अगर विषाद बहाव बन जाए।

लेकिन अगर विषाद वर्तुल बन जाए, सर्कुलर हो जाए, अपने में ही घूमने लगे, तो सिर्फ आत्मघाती हो सकता है, धार्मिक नहीं हो सकता। यह बड़े मजे की बात है कि आत्मघाती व्यक्तित्व उस जगह पहुंच जाता है, जहां से या तो उसे आत्मा परिवर्तन करनी पड़ेगी या आत्मघात करना पड़ेगा। एक बात तय है कि पुरानी आत्मा से नहीं चलेगा। तो हम ऐसा भी कह सकते हैं कि स्युसाइड इन इटसेल्फ इ.ज रिलीजस, आत्महत्या अपने आप में धार्मिक है। लेकिन यह अधूरा सत्य होगा, वैसा ही जैसा पाल टिलिक ने कहा।

हां, आत्महत्या की स्थिति में आए व्यक्ति के सामने दो विकल्प हैं, दो आल्टरनेटिव हैं, या तो वह अपने को मार डाले, जो कि बिल्कुल अधार्मिक होगा; और या वह अपने को बदल डाले, जो कि मारने की और भी गहरी कीमिया है, तब वह धार्मिक होगा।

बुद्ध उस जगह आ जाते हैं, जहां या तो आत्महत्या करें या आत्म-रूपांतरण करें। महावीर उस जगह आ जाते हैं, या तो आत्महत्या करें या आत्म-रूपांतरण करें। अर्जुन भी उस जगह खड़ा है, जहां या तो वह मिट जाए, मर जाए, अपने को समाप्त कर ले, और या अपने को बदले और नए तलों पर चेतना को ले जाए।

पाल टिलिक का वक्तव्य अधूरा है। और पाल टिलिक के वक्तव्य के अधूरे होने का कारण है। क्रिश्चियनिटी का बुनियादी सत्य अधूरा है। ईसाइयत का बुनियादी सत्य अधूरा है। और इसलिए ईसाइयत ने डिस्पेअर को... और पाल टिलिक जो है, आधुनिक युग में ईसाइयत का बड़ा व्याख्याकार है। उसके पास पैनी दृष्टि है, लेकिन पैनी दृष्टि जरूरी नहीं है कि पूरी हो।

ईसाइयत ने जीसस की जो शकल पकड़ी है, वह डिस्पेअर की है। ईसाइयत ने जीसस की और कोई शकल नहीं पकड़ी। ईसाइयत के पास जीसस की हंसती हुई कोई तस्वीर नहीं है। ईसाइयत के पास जीसस का नाचता हुआ, प्रसन्न कोई व्यक्तित्व नहीं है। ईसाइयत के पास सत-चित-आनंद की घोषणा करने वाले जीसस की कोई धारणा नहीं है, कोई प्रतिमा नहीं है। उनके पास प्रतिमा है जीसस की--सूली पर लटके हुए, कंधे पर टिका हुआ सिर, आंखें उदास, मरने की घड़ी! और क्रास इसलिए ईसाइयत का प्रतीक बन गया--सूली। यह जो डिस्पेअर और सूली है, यह अपने आप में धार्मिक नहीं है। हो सकती है धार्मिक, नहीं भी हो सकती है।

और पाल टिलिक बर्ट्रेंड रसेल के संबंध में गलत बात कहते हैं, पूरी ही तरह गलत कहते हैं, अगर वे यह कहते हैं कि बर्ट्रेंड रसेल जैसे लोग आत्मवंचक हैं। क्योंकि बर्ट्रेंड रसेल नास्तिक है, ईश्वर पर उसकी कोई आस्था नहीं है। इसलिए अगर कोई पूछता है पाल टिलिक से कि बर्ट्रेंड रसेल को ईश्वर पर कोई आस्था नहीं है, फिर भी बर्ट्रेंड रसेल को अर्थहीनता, एंपटीनेस, खालीपन का कोई बोध नहीं होता है, जैसा सार्त्र को होता है या कामू को या किसी और को होता है। बर्ट्रेंड रसेल को क्यों नहीं होता? अगर वे नास्तिक हैं, तो उन्हें खालीपन का अनुभव होना चाहिए।

जरूरी नहीं है। क्योंकि नास्तिकता भी मेरी दृष्टि में दो तरह की होती है, अपने में बंद, और बाहर बहती हुई। जो नास्तिक अपने में बंद हो जाएगा--जैसा विषाद अपने में बंद हो जाएगा--तो वह खाली हो जाएगा। क्योंकि जो आदमी नहीं के ऊपर जिंदगी खड़ी करेगा, वह एंप्टी हो जाएगा। जो आदमी कहेगा कि नहीं मेरे जीवन का आधार है, वह खाली नहीं होगा तो और क्या होगा!

क्योंकि नहीं के बीज से कोई अंकुर नहीं निकलता। नहीं के बीज से कोई फूल नहीं खिलते। नहीं के बीज से कोई जीवन विकसित नहीं होता। जीवन में कहीं न कहीं हां अगर न हो, तो जीवन खाली हो जाएगा। लेकिन जरूरी नहीं है कि नास्तिकता नहीं पर ही खड़ी हो। नास्तिकता भी हां पर खड़ी हो सकती है।

और बर्ट्रेंड रसेल की नास्तिकता हां पर खड़ी है। ईश्वर को इनकार करता है, लेकिन प्रेम को इनकार नहीं करता। और जो आदमी प्रेम को इनकार नहीं करता, उसको नास्तिक केवल नासमझ आस्तिक ही कह सकते हैं। क्योंकि जो आदमी प्रेम को इनकार नहीं करता, वह बहुत गहरे में परमात्मा को स्वीकार कर रहा है। फार्मल नहीं है उसकी स्वीकृति। वह भगवान की मूर्ति रखकर मंदिर में घंटी नहीं बजाता। लेकिन जो बजाते हैं, वे कोई आस्तिक हैं, ऐसा मानने का कोई भी कारण नहीं है। क्योंकि घंटी बजाने से आस्तिकता का क्या लेना-देना है? प्रेम का स्वर जिसके जीवन में हो, उसके जीवन में प्रार्थना ज्यादा दूर नहीं है। प्रेम का स्वर जिसके जीवन में हो, उसके जीवन में परमात्मा ज्यादा दूर नहीं है। और प्रेम इनकार करने वाला सूत्र नहीं है, प्रेम स्वीकार करने वाला सूत्र है। प्रेम बड़ी गहरी हां है पूरे अस्तित्व के प्रति।

तो मैं बर्ट्रेंड रसेल को नास्तिक सिर्फ औपचारिक अर्थों में कहता हूं। औपचारिक अर्थों में बर्ट्रेंड रसेल नास्तिक है। जिस तरह औपचारिक अर्थों में बहुत से लोग आस्तिक हैं। लेकिन बर्ट्रेंड रसेल की नास्तिकता आस्तिकता की तरफ बहती हुई है; बहती हुई है, उसमें बहाव है; वह खुल रही है। वह फूलों में भी आनंद ले पाता है।

हमारा आस्तिक मंदिर में जाकर फूल तो चढ़ा देता है, लेकिन फूल में कोई आनंद नहीं ले पाता। फूल तोड़ते वक्त उसे ऐसा नहीं लगता कि परमात्मा को तोड़ रहा है। पत्थर की एक मूर्ति के लिए एक जिंदा फूल को तोड़कर चढ़ा देता है। यह आदमी गहरे में नास्तिक है। इसका अस्तित्व के प्रति कोई स्वीकार-भाव नहीं है। और न अस्तित्व में इसे परमात्मा की कोई प्रतीति है। इसे कोई प्रतीति नहीं है। इसकी पत्थर की मूर्ति को कोई तोड़ दे, तो यह हत्या पर उतारू हो जाता है, जिंदा मूर्तियों को तोड़ देता है। इसके मन में आस्तिकता का कोई संबंध नहीं है। इसकी आस्तिकता आत्मवंचना है।

और बर्ट्रेंड रसेल की नास्तिकता भी आत्मवंचना नहीं है। क्योंकि मुझे ऐसा दिखाई पड़ता है कि रसेल सिंसियर, ईमानदार आदमी है। और ईमानदार आदमी जल्दी आस्तिक नहीं हो सकता। सिर्फ बेईमान आदमी ही जल्दी आस्तिक हो सकते हैं। क्योंकि जिस आदमी ने ईश्वर को भी बिना खोजे हां भर दी, उससे बड़ा बेईमान आदमी मिल सकता है! जिस आदमी ने ईश्वर जैसे महत तत्व को किताब में पढ़कर स्वीकार कर लिया, उस आदमी से ज्यादा आत्मवंचक आदमी, सेल्फ डिसेप्टिव आदमी मिल सकता है!

ईश्वर बच्चों का खेल नहीं है। ईश्वर किताबों में पढ़े हुए पाठ से संबंधित नहीं है। ईश्वर का मां-बाप द्वारा सिखाए गए सिद्धांतों से क्या वास्ता है? ईश्वर तो जीवन की बड़ी प्राणवंत खोज और पीड़ा है; बड़ी एंग्विश है। बड़े विषाद से उपलब्ध होगा। बड़े श्रम से, बड़ी तपश्चर्या से, बड़े इनकार से गुजरने पर, बड़ी पीड़ा, बड़े खालीपन से गुजरने पर, बड़ी मुश्किल से, शायद जन्मों की यात्रा, जन्मों-जन्मों की यात्रा और खोज और जन्मों की भटकन और जन्मों की असफलता और विफलता, तब शायद इस सारी प्रसव-पीड़ा के बाद, वह अनुभव आता है, जो व्यक्तित्व को आस्तिकता देता है--तब।

लेकिन मैं मानता हूं कि बर्ट्रेंड रसेल वैसी यात्रा पर है। इसलिए खाली नहीं है। सार्त्र खाली है, उसकी नास्तिकता क्लोज्ड है; एनसर्किल्ड इन वनसेल्फ, अपने भीतर ही वर्तुल बनाकर घूम रही है। तो अपने भीतर तो

आदमी फिर खाली हो जाएगा। और नहीं पर, नथिंगनेस पर जिसने आधार रखे--जिंदगी में कैसे फूल खिलें! उसने मरुस्थल में जिंदगी बोने की कोशिश की है। वहां फूल नहीं खिल सकते।

नहीं से बड़ा कोई मरुस्थल नहीं है। और जमीन पर जो मरुस्थल होते हैं, वहां तो ओएसिस भी होते हैं, वहां तो कुछ मरूद्यान भी होते हैं। लेकिन नहीं के मरुस्थल में कोई ओएसिस, कोई मरूद्यान नहीं होता। वहां कोई हरियाली नहीं खिलती। हरियाली तो हां में ही खिलती है। आस्तिक ही पूरा हरा हो सकता है। आस्तिक ही पूरा भरा हो सकता है। आस्तिक ही फूलों को उपलब्ध हो सकता है, नास्तिक नहीं।

लेकिन नास्तिकता दो तरह की हो सकती है और आस्तिकता भी दो तरह की हो सकती है। नास्तिकता तब खतरनाक हो जाती है, जब अपने में बंद हो जाए। और आस्तिकता तब खतरनाक होती है, जब उधार और बारोड होती है। आस्तिकता का खतरा उधारी में है, नास्तिकता का खतरा अपने में बंद हो जाने में है। सब उधार आस्तिक हैं पृथ्वी पर! नास्तिक तक होने की ईमानदारी नहीं है, तो आस्तिक होने का बहुत विराट कदम बिल्कुल असंभव है।

मैं तो मानता हूं कि नास्तिकता पहली सीढ़ी है आस्तिक होने के लिए। शिक्षण है नास्तिकता। नहीं कहने का अभ्यास, हां कहने की तैयारी है। और जिसने कभी नहीं नहीं कहा, उसके हां में कितना बल होगा? और जिसने कभी नहीं कहने की हिम्मत नहीं जुटाई, उसकी हां में कितना प्राण, कितनी आत्मा हो सकती है?

बर्ट्रेंड रसेल, मैं मानता हूं कि नास्तिकता के उस दौर से गुजरता हुआ व्यक्ति है, जो खोज रहा है। और बिना खोजे हां नहीं भर सकता। उचित है; ठीक है; धार्मिक है। रसेल को मैं नास्तिक कहता हूं, लेकिन धार्मिक। धार्मिक नास्तिक। और तथाकथित आस्तिकों को मैं आस्तिक कहता हूं, लेकिन अधार्मिक। अधार्मिक आस्तिक। ये शब्द उलटे मालूम पड़ते हैं। लेकिन उलटे नहीं हैं।

अर्जुन का विषाद बहुत धार्मिक है; उसमें गति है। अगर वह चाहे, तो कृष्ण जैसे कीमती आदमी को पास पाकर कह सकता है कि गुरु, तुम जो कहते हो, ठीक है, हम लड़ते हैं! नहीं कहता, कृष्ण से जूझता है। कृष्ण से जूझने की हिम्मत साधारण नहीं है। कृष्ण जैसे व्यक्तित्व के पास हां करने का मन होता है। कृष्ण जैसे व्यक्तित्व को न कहने में पीड़ा होती है। कृष्ण जैसे व्यक्तित्व से प्रश्न उठाने में भी दुख होता है। लेकिन अर्जुन है कि पूछे चला जाता है, पूछे चला जाता है। वह कृष्ण के व्यक्तित्व को आड़ में रख देता है; अपने प्रश्न को छोड़ता नहीं। इसका भय नहीं लेता मन में कि क्या कहेगा कोई, अश्रद्धालु हूं, संदेह करता हूं, शक उठाता हूं, आस्थावान नहीं हूं। कृष्ण जैसा व्यक्ति मिला हो, मान लो गुरु और स्वीकार करो। तब आस्तिकता उधार हो जाती है। लेकिन नहीं, वह प्रामाणिक आस्तिकता की खोज में है।

इसलिए इतनी बड़ी गीता की लंबी यात्रा हुई। पूछता चला जाता है, पूछता चला जाता है, पूछता चला जाता है।

कृष्ण भी अदभुत हैं। अपनी महिमा का जोर डाल सकते थे। अगर गुरुडम का जरा भी मोह होता, तो जरूर डाल देते। लेकिन जो भी आस्तिक है, उसे गुरु होने की आकांक्षा नहीं होती। परमात्मा ही है, तो और व्यक्ति को गुरु होने की कोई जरूरत नहीं रह जाती। और जिसे परमात्मा पर भरोसा है, वह प्रश्नों को संदेह की दृष्टि से नहीं देखता, निंदा की दृष्टि से भी नहीं देखता। क्योंकि वह जानता है, परमात्मा है। और यह व्यक्ति पूछ रहा है, तो यात्रा कर रहा है, पहुंच जाएगा। इसे पहुंचने दें सहज ही।

गंगा बह चली है, तो सागर तक पहुंच जाएगी। अभी उसे पता नहीं कि सागर है; लेकिन बह रही है, तो बेफिक्र रहें, पहुंच जाएगी। वह कहता नहीं कि रुक जाओ और मान लो। और गंगा अगर रुक जाए और मान ले

कि सागर है, तो कभी जान नहीं पाएगी कि सागर है। रुक जाएगी, एक डबरा बन जाएगी सड़ा-गला; फिर उसी को सागर समझेगी।

ऐसा आस्तिक अर्जुन नहीं है। अगर ठीक से समझें तो अर्जुन और बर्ट्रेंड रसेल के व्यक्तित्व में कुछ मेल है। जैसा मैंने कल कहा कि सार्त्र और अर्जुन के व्यक्तित्व में कुछ मेल है। वह मेल इतना है कि जैसा सार्त्र चिंतित है, वैसा अर्जुन चिंतित है, लेकिन यहां मेल टूट जाता है इसके आगे। सार्त्र अपनी चिंता को सिद्धांत बना लेता है, अर्जुन अपनी चिंता को सिर्फ प्रश्न बनाता है। यहां उसका बर्ट्रेंड रसेल से मेल है।

बर्ट्रेंड रसेल एगनॉस्टिक है, जिंदगी के अंतिम क्षण तक पूछ रहा है। यह दूसरी बात है कि कोई कृष्ण नहीं मिला। कोई हर्जा भी नहीं है; आगे कभी मिल जाएगा। कोई हर्जा नहीं है। लेकिन पूछना वहां है। यात्रा जारी है। मैं मानता हूं कि इस पृथ्वी पर बर्ट्रेंड रसेल के आस-पास पाल टिलिक जैसे जो आस्तिक हैं, ये इनसिंसियर हैं। पाल टिलिक आत्मवंचक हो सकते हैं, रसेल नहीं है। और इस पृथ्वी पर पाल टिलिक और रसेल जैसे व्यक्ति साथ-साथ रहे हैं। मेरी अपनी समझ है कि बर्ट्रेंड रसेल आस्तिकता की तरफ ज्यादा बढ़ा है, पाल टिलिक नहीं बढ़े; थियॉलाजिस्ट हैं।

और बड़े मजे की बात है कि दुनिया में धर्म का सबसे बड़ा शत्रु अगर कोई है, तो अधर्म नहीं है, थियॉलाजी है, धर्म-शास्त्र है। धर्म की सबसे बड़ी शत्रुता शास्त्रीयता में है। तो जो लोग भी शास्त्रीयता में जीते हैं, वे कभी धार्मिक नहीं हो पाते। उसके कारण हैं, क्योंकि धर्म बुद्धि से ऊपर की बात है और शास्त्र सदा बुद्धि से नीचे की बात है। शास्त्र बुद्धि के ऊपर नहीं जाता और बुद्धि धर्म तक नहीं जाती।

पाल टिलिक सिर्फ बुद्धि से जी रहे हैं। ऐसा नहीं है कि बर्ट्रेंड रसेल बुद्धि को इनकार कर रहा है; पूरी तरह बुद्धि से जी रहा है। लेकिन बुद्धि की स्वीकृति नहीं है। बुद्धि पर भी बर्ट्रेंड रसेल को संदेह है, वह स्केप्टिक है बुद्धि के बाबत भी। यह उसे लगता है कि बुद्धि की भी सीमाएं हैं।

अर्जुन में बड़ा गहरा समन्वय है। रसेल और सार्त्र जैसे इकट्ठे हैं। उसका विषाद धार्मिक है, क्योंकि उसका विषाद श्रद्धा पर ले जाने वाला है।

येषामर्थे कांक्षितं नो राज्यं भोगाः सुखानि च।
त इमेऽवस्थिता युद्धे प्राणांस्त्यक्त्वा धनानि च।। 33।।
हमें जिनके लिए राज्य, भोग और सुखादिक इच्छित हैं,
वे ही यह सब धन और जीवन की आशा को त्यागकर
युद्ध में खड़े हैं।

पग-पग पर अर्जुन की भ्रांतियां जुड़ी हैं। कह रहा है अर्जुन कि जिन पिता, पुत्र, मित्र, प्रियजन के लिए हम राज्य-सुख चाहते हैं... । झूठ कह रहा है। कोई चाहता नहीं। सब अपने लिए चाहते हैं। और अगर पिता-पुत्र के लिए चाहते हैं, तो सिर्फ इसलिए कि वे अपने पिता हैं, अपना पुत्र है। वह जितना अपना उसमें जुड़ा है, उतना ही; इससे ज्यादा नहीं।

हां, यह बात जरूर है कि उनके बिना सुख भी बड़ा विरस हो जाएगा। क्योंकि सुख तो मिलता कम है, दूसरों को दिखाई पड़े, यह ज्यादा होता है। सुख मिलता तो न के बराबर है। बड़े से बड़ा राज्य मिल जाए, तो

भी राज्य के मिलने में उतना सुख नहीं मिलता, जितना राज्य मुझे मिल गया है, यह मैं अपने लोगों के सामने सिद्ध कर पाऊं, तो सुख मिलता है।

और आदमी की चिंतना की सीमाएं हैं। अगर एक महारानी रास्ते से निकलती हो--स्वर्ण आभूषणों से लदी, हीरे-जवाहरातों से लदी--तो गांव की मेहतरानी को कोई ईर्ष्या पैदा नहीं होती। क्योंकि महारानी रेंज के बाहर पड़ती है। मेहतरानी की चिंतना की रेंज नहीं है वह, वह सीमा नहीं है उसकी। महारानी से कोई ईर्ष्या पैदा नहीं होती, लेकिन पड़ोस की मेहतरानी अगर एक नकली कांच का टुकड़ा भी लटकाकर निकल जाए, तो प्राण में तीर चुभ जाता है। वह रेंज के भीतर है। आदमी की ईर्ष्याएं, आदमी की महत्वाकांक्षाएं निरंतर एक सीमा में बंधकर चलती हैं।

अगर आप यश पाना चाहते हैं, तो यह यश जो अपरिचित हैं, स्ट्रेंजर्स हैं, उनके सामने आपको मजा न देगा। जो अपने हैं, परिचित हैं, उनके सामने ही आपको मजा देगा। क्योंकि जो अपरिचित हैं, उनके सामने अहंकार को सिद्ध करने में कोई सुख नहीं है। जो अपने हैं, उन्हीं को हराने का मजा है। जो अपने हैं, उन्हीं को दिखाने का मजा है कि देखो, मैं क्या हो गया और तुम नहीं हो पाए!

जीसस ने कहीं कहा है कि पैगंबर या तीर्थंकर अपने ही गांव में कभी आदृत नहीं होते। यद्यपि चाहेंगे अपने ही गांव में आदृत होना; लेकिन हो नहीं सकते। अगर जीसस अपने ही गांव में गए हों, तो लोग कहेंगे, बढ़ई का लड़का है। वही न जोसफ बढ़ई का लड़का! कहां से ज्ञान पा लेगा? अभी कल तक लकड़ी काटता था, ज्ञान पा लिया? लोग हंसेंगे। इस हंसने में भी बढ़ई के लड़के को इतनी ऊंचाई पर स्वीकार करने की कठिनाई है। रेंज के भीतर है। बहुत कठिन है। कोई प्रोफेट अपने गांव में पुज जाए, बड़ी कठिन बात है। क्योंकि गांव की ईर्ष्या की सीमा के भीतर है।

विवेकानंद को जितना आदर अमेरिका में मिलता था, उतना कलकत्ता में कभी नहीं मिला। दो-चार-दस दिन कलकत्ता लौटकर स्वागत-समारोह हुआ, फिर सब समाप्त हो गया। फिर कलकत्ता में लोग कहेंगे कि अरे, वही न, कायस्थ का लड़का है, कितना ज्ञान हो जाएगा!

रामतीर्थ को अमेरिका में भारी सम्मान मिला, काशी में नहीं मिला। काशी में एक पंडित ने खड़े होकर कहा कि संस्कृत का अ ब स नहीं आता और ब्रह्मज्ञान की बातें कर रहे हो? पहले संस्कृत सीखो! और बेचारे रामतीर्थ संस्कृत सीखने गए।

रेंज है, एक सीमा, एक वर्तुल है। लेकिन शायद रामतीर्थ को भी इतना मजा न्यूयार्क में सम्मान मिलने से नहीं आ सकता था, जितना काशी में मिलता, तो आता। इसलिए रामतीर्थ भी कभी नाराज नहीं हुए, अमेरिका में जब तक थे। कभी दुखी और चिंतित नहीं हुए। काशी में दुखी और चिंतित हो गए। निरंतर ब्रह्मज्ञान की बात करते थे, काशी में इतनी हिम्मत न जुटा पाए कि कह देते कि ब्रह्मज्ञान का संस्कृत से क्या लेना-देना! भाड़ में जाए तुम्हारी संस्कृत। इतनी हिम्मत न जुटा पाए। बल्कि एक ट्यूटर लगाकर संस्कृत सीखने बैठ गए। यह पीड़ा समझते हैं?

वह जो अर्जुन कह रहा है निरंतर, सरासर झूठ कह रहा है। उसे पता नहीं है। क्योंकि झूठ भी आदमी में ऐसा खून में मिला हुआ है कि उसका पता भी मुश्किल से चलता है। असल में असली झूठ वे ही हैं, जो हमारे खून में मिल गए हैं। जिन झूठों का हमें पता चलता है, उनकी बहुत गहराई नहीं है। जिन झूठों का हमें पता नहीं चलता, जिनके लिए हम कांशस भी नहीं होते, चेतन भी नहीं होते, वे ही झूठ हमारी हड्डी-मांस-मज्जा बन गए हैं। अर्जुन वैसा ही झूठ बोल रहा है, जो हम सब बोलते हैं।

पति अपनी पत्नी से कहता है कि तेरे लिए ही सब कर रहा हूं। पत्नी अपने पति से कहती है कि तुम्हारे लिए ही सब कर रही हूं!

कोई किसी के लिए नहीं कर रहा है। हम सब अहंकार-केंद्रित होकर जीते हैं। अहंकार की सीमा-रेखा में जो-जो अपने मालूम पड़ते हैं, उनके लिए भी हम उतना ही करते हैं, जितने से हमारा अपना भरता है। वह जो अपनापन भरता है, जितना वे मेरे ईगो और मेरे अहंकार के हिस्से होते हैं, उतना ही हम उनके लिए करते हैं। वही पत्नी कल अपनी पत्नी न रह जाए, डाइवोर्स का विचार करने लगे, बस फिर सब करना बंद हो जाता है। जिस मित्र के लिए हम जान देने को तैयार थे, कल उसी की जान भी ले सकते हैं। सब भूल जाता है। क्यों भूल जाता है? जब तक वह मैं को मजबूत करता था, तब तक अपना था। और जब मैं को मजबूत नहीं करता, तब अपना नहीं रह जाता।

नहीं, अर्जुन गलत कह रहा है। उसे पता नहीं है। उसे पता हो, तब तो बात और हो जाए। उसे पता पड़ेगा धीरे-धीरे। गलत कह रहा है कि जिनके लिए हम राज्य चाहते हैं... । नहीं, उसे कहना चाहिए कि जिनके बिना राज्य चाहने में मजा न रह जाएगा... । चाहते तो अपने ही लिए हैं, लेकिन जिनकी आंखों के सामने चाहने में मजा आएगा कि मिले, जब वे ही न होंगे, तो अपरिचित, अनजान लोगों के बीच राज्य लेकर भी क्या करेंगे! अहंकार का मजा भी क्या होगा उनके बीच, जो जानते ही नहीं कि तुम कौन हो! जो जानते हैं कि तुम कौन हो, उन्हीं के बीच आकाश छूने पर पता चलेगा कि देखो!

ध्यान रहे, हम अपने दुश्मनों से ही प्रतियोगिता नहीं कर रहे हैं, अपने मित्रों से हमारी और भी गहरी प्रतियोगिता है। अपरिचितों से हमारी कोई प्रतिस्पर्धा नहीं है, परिचितों से हमारी असली प्रतिस्पर्धा है। इसलिए दो अपरिचित कभी इतने बड़े दुश्मन नहीं हो सकते, जितने दो सगे भाई हो सकते हैं। उन्हीं से हमारी प्रतिस्पर्धा है, उन्हीं के सामने सिद्ध करना है कि मैं कुछ हूं।

वह अर्जुन गलत कह रहा है। लेकिन उसे साफ नहीं है स्वयं को, वह जानकर नहीं कह रहा है। जानकर जो हम झूठ बोलते हैं, बहुत ऊपरी हैं। न-जाने जो झूठ हमसे बोले जाते हैं, वे बहुत गहरे हैं। और जन्मों-जन्मों में हमने उन्हें अपने खून के साथ आत्मसात कर लिया है, एक कर लिया है। वैसा ही एक झूठ अर्जुन बोल रहा है कि जिनके लिए राज्य चाहा जाता है, वे ही न होंगे तो राज्य का क्या करूंगा... ।

नहीं। उचित, सही तो यह है कि वह कहे, राज्य तो अपने लिए चाहा जाता है, लेकिन जिनकी आंखों को चकाचौंध करना चाहूंगा, जब वे आंखें ही न होंगी, तो अपने लिए भी चाहकर क्या करूंगा! लेकिन वह अभी यह नहीं कह सकता। इतना ही वह कह सके, तो जगह-जगह गीता का कृष्ण चुप होने को तैयार है। लेकिन वह जो भी कहता है, उससे पता चलता है कि वह बातें उलटी कह रहा है।

अगर वह एक जगह भी सीधी और सच्ची बात कह दे, एक भी असर्शन उसका आथेंटिक हो, तो गीता का कृष्ण तत्काल चुप हो जाए। कहे, बात खतम हो गई। चलो, वापस लौटा लेते हैं रथ को। लेकिन वह बात खतम नहीं होती, क्योंकि अर्जुन पूरे समय दोहरे वक्तव्य बोल रहा है। डबल, दोहरे वक्तव्य बोल रहा है। बोल कुछ और रहा है, चाह कुछ और रहा है। है कुछ और, कह कुछ और रहा है। उसकी दुविधा कहीं और गहरे में है, प्रकट कहीं और कर रहा है।

इसे हमें समझकर चलना है, तभी हम कृष्ण के उत्तरों को समझ सकेंगे। जब तक हम अर्जुन के प्रश्नों की दुविधा और अर्जुन के प्रश्नों का उलझाव न समझ लें, तब तक कृष्ण के उत्तरों की गहराई और कृष्ण के उत्तरों के सुलझाव को समझना मुश्किल है।

प्रश्नः ओशो, स्वजनों की हत्या में अर्जुन ने जो न च श्रेयोऽनुपश्यामि कहा, वहां वह प्रेयस से स्पष्टतः दूर ही रहता है। क्या केवल भौतिक उपयोग का संदर्भ है? और यदि ऐसा है, तो वह सच्चा आस्तिक कैसे बनेगा?

अर्जुन जहां है, वहां भौतिक सुख से ही संबंध हो सकता है। आस्तिक का भौतिक सुख से संबंध नहीं होता, ऐसा नहीं है। आस्तिक का भौतिक सुख से संबंध होता है, लेकिन जितना ही वह खोजता है, उतना ही पाता है कि भौतिक सुख असंभावना है। भौतिक सुख की खोज असंभव होती है, तभी आध्यात्मिक सुख की खोज शुरू होती है। तो भौतिक सुख का भी आध्यात्मिक सुख की खोज में महत्वपूर्ण कांट्रिब्यूशन है, उसका बहुत महत्वपूर्ण दान है। सबसे महत्वपूर्ण दान भौतिक सुख का यही है कि वह अनिवार्य रूप से विषाद में और फ्रस्ट्रेशन में ले जाता है।

अब यह बड़े मजे की बात है कि जिंदगी में वे ही सीढ़ियां हमें परमात्मा के मंदिर तक नहीं पहुंचातीं, जो परमात्मा के मंदिर से ही जुड़ी हैं। वे सीढ़ियां भी परमात्मा के मंदिर की सीढ़ियों तक पहुंचाती हैं, जो परमात्मा के मंदिर से नहीं जुड़ी हैं। अब यह बड़ी उलटी-सी बात मालूम पड़ेगी। स्वर्ग तक पहुंचने में वही सीढ़ी काम नहीं आती, जो स्वर्ग से जुड़ी है। उससे भी ज्यादा और उससे भी पहले, वह सीढ़ी काम आती है, जो नर्क से ज.ुडी है। असल में जब तक नर्क की तरफ की यात्रा पूरी तरह से व्यर्थ न हो जाए, तब तक स्वर्ग की तरफ की कोई यात्रा प्रारंभ नहीं होती। जब तक बहुत स्पष्ट रूप से यह साफ न हो जाए कि यह-यह नर्क का मार्ग है, तब तक यह साफ नहीं हो पाता है कि स्वर्ग का मार्ग क्या है।

भौतिक सुख, आध्यात्मिक सुख तक पहुंचाने में एक निषेधात्मक चेतावनी का, निगेटिव चेतावनी का काम करते हैं। बार-बार हम खोजते हैं भौतिक सुख को और बार-बार असफल होते हैं। बार-बार चाहते हैं और बार-बार नहीं पाते हैं। बार-बार आकांक्षा करते हैं और बार-बार वापस गिर जाते हैं।

यूनानी कथाओं में सिसिफस की कथा है। कामू ने उस पर एक किताब लिखी है, दि मिथ आफ सिसिफस। सिसिफस को सजा दी है देवताओं ने कि वह एक पत्थर को खींचकर पहाड़ के शिखर तक ले जाए। और सजा का दूसरा हिस्सा यह है कि जैसे ही वह शिखर पर पहुंचेगा--पसीने से लथपथ, हांफता, थका, पत्थर को घसीटता--वैसे ही पत्थर उसके हाथ से छूटकर वापस खड्ड में गिर जाएगा। फिर वह नीचे जाए, फिर पत्थर को खींचे और चोटी तक ले जाए। और फिर यही होगा, और फिर-फिर यही होता रहेगा। अब यह सजा है। और यह इटरनिटी तक होता रहेगा। यह अंत तक होता रहेगा। अनंत तक होता रहेगा।

अब वह सिसिफस है कि फिर जाता है खाई में, फिर उठाता है पत्थर को। जब वह पत्थर को उठाता है, तो फिर इसी आशा से कि इस बार सफल हो जाएगा। अब की बार तो पहुंचा ही देगा शिखर पर। बता ही देगा देवताओं को कि बड़ी भूल में थे। देखो, सिसिफस ने पत्थर पहुंचा ही दिया। फिर खींचता है। महीनों का अथक श्रम; किसी तरह टूटता, मरता ऊपर शिखर पर पहुंचता है। पहुंच नहीं पाता कि पत्थर हाथ से छूट जाता है और फिर खाई में गिर जाता है। फिर सिसिफस उतर आता है।

आप कहेंगे, बड़ा पागल है। खाई में क्यों नहीं बैठ जाता?

अगर इतना आपको पता चल गया, तो आपकी जिंदगी में धर्म की शुरुआत हो जाएगी। क्योंकि हम सब सिसिफस हैं। कहानी अलग-अलग होगी, पहाड़ अलग-अलग होंगे, पत्थर अलग- अलग होंगे, लेकिन सिसिफस हम सब हैं। हम वही काम बार-बार किए चले जाते हैं, बार-बार शिखर से छूटता है पत्थर और खाई में गिर जाता है। लेकिन बड़ा मजेदार है आदमी का मन, वह बार-बार अपने को समझा लेता है कि कुछ भूल-चूक हो गई इस बार मालूम होता है। अगली बार सब ठीक कर लेंगे। फिर शुरू कर देता है। और ऐसी भूल-चूक अगर

एक-दो जन्म में होती हो तो भी ठीक है। जो जानते हैं, वे कहेंगे, अनंत जन्मों में ऐसा ही, ऐसा ही, ऐसा ही होता रहा है।

भौतिक सुख की चाह आध्यात्मिक खोज का अनिवार्य हिस्सा है। क्योंकि उसकी विफलता, उसकी पूर्ण विफलता आध्यात्मिक आनंद की खोज का पहला चरण है। इसलिए जो भौतिक सुख खोज रहा है, उसको मैं अधार्मिक नहीं कहता। वह भी धर्म को ही गलत दिशा से खोज रहा है। वह भी आनंद को ही वहां खोज रहा है, जहां आनंद नहीं मिल सकता है। लेकिन इतना तो पता चले पहले कि नहीं मिल सकता है, तो किसी और दिशा में खोजे।

लाओत्से से किसी ने पूछा कि तुम कहते हो, शास्त्रों से कुछ भी नहीं मिला, लेकिन हमने सुना है कि तुमने शास्त्र पढ़े! तो लाओत्से ने कहा कि नहीं, शास्त्रों से बहुत कुछ मिला। सबसे बड़ी बात तो यह मिली शास्त्र पढ़कर कि शास्त्रों से कुछ भी नहीं मिल सकता है। यह कोई कम मिलना है! नहीं कुछ मिल सकता है, लेकिन बिना पढ़े यह पता नहीं चल सकता था। पढ़ा बहुत, खोजा बहुत, नहीं मिल सकता है, यह जाना। यह कोई कम दाम नहीं है। निगेटिव है, इसलिए हमें ख्याल में नहीं आता।

लेकिन एक बार यह ख्याल में आ जाए कि शब्द से, शास्त्र से नहीं मिल सकता है, तो शायद हम अस्तित्व में, जीवन में खोजने निकलें। सुख में नहीं मिल सकता है सुख, तो फिर शायद हम शांति में खोजने निकलें। बाहर नहीं मिल सकता है सुख, तो शायद हम भीतर खोजने निकलें। पदार्थ में नहीं मिल सकता है सुख, तो शायद हम परमात्मा में खोजने निकलें। लेकिन वह जो दूसरी खोज है, इस पहली खोज की विफलता से ही शुरू होती है।

तो अर्जुन अभी जो बात कर रहा है, वह तो भौतिक सुख की ही कर रहा है कि राज्य से क्या मिलेगा? प्रियजन नहीं रहेंगे, तो क्या मिलेगा? सुख से क्या मिलेगा? लेकिन आध्यात्मिक खोज का पहला चरण उठाया जा रहा है। इसलिए मैं उसे धार्मिक व्यक्ति ही कहूंगा। धर्म को उपलब्ध हो गया है, ऐसा नहीं; धर्म को उपलब्ध होने के लिए जो आतुर है, ऐसा।

प्रश्नः ओशो, आपने कल बताया कि भगवद्गीता मानस-शास्त्र है और आधुनिक मानस-शास्त्र के करीब आ जाता है। तो क्या आप साइक का अर्थ माइंड करके उसको सीमित करते हैं? क्योंकि साइक का जो मूल अर्थ है, वह है सोल। तो गीता को सिर्फ मानस-शास्त्र कहकर आप रुक जाएंगे कि अध्यात्म-शास्त्र भी कहेंगे? स्पष्ट करें।

मैं गीता को मनोविज्ञान ही कहूंगा। और मन से मेरा अर्थ आत्मा नहीं है। मन से मेरा मतलब मन ही, माइंड ही है। कई को दिक्कत और कठिनाई होगी। वे कहेंगे, यह तो मैं गीता को नीचे गिरा रहा हूं। अध्यात्म-शास्त्र कहना चाहिए। लेकिन आपसे कहना चाहूंगा कि अध्यात्म का कोई शास्त्र होता नहीं। ज्यादा से ज्यादा शास्त्र मन का हो सकता है। हां, मन का शास्त्र वहां तक पहुंचा दे, जहां से अध्यात्म शुरू होता है, इतना ही हो सकता है। अध्यात्म-शास्त्र होता ही नहीं; हो नहीं सकता। अध्यात्म-जीवन होता है, शास्त्र नहीं। अधिक से अधिक जो शब्द कर सकता है, वह यह है कि वह मन की आखिरी ऊंचाइयों और गहराइयों को छूने में समर्थ बना दे।

इसलिए मैं गीता को अध्यात्म-शास्त्र कहकर व्यर्थ न करूंगा। वैसा कोई शास्त्र होता नहीं। और जो-जो शास्त्र आध्यात्मिक होने का दावा करते हैं--शास्त्र तो क्या करते हैं, शास्त्र को मानने वाले दावा कर देते हैं। वे-वे अपने शास्त्रों को व्यर्थ ही, व्यर्थ ही मनुष्य की सारी उपयोगिता के बाहर कर देते हैं।

अध्यात्म है अनुभव और जो अनिर्वचनीय है, और जो अवर्णनीय है, और जो व्याख्या के पार है, और जो शब्दों के अतीत है, और शास्त्र ही जिसे चिल्ला-चिल्लाकर कहते हैं कि मन से नहीं मिलेगा, मन के आगे मिलेगा--जो मन के आगे मिलेगा, वह शब्दों में नहीं लिखा जा सकता है। इसलिए शास्त्र की आखिरी से आखिरी पहुंच मनस है, मन है। उतना पहुंचा दे तो परम शास्त्र है। और उसके पार जो छलांग लगेगी, वहां अध्यात्म शुरू होगा।

गीता को मैं मनस-शास्त्र कहता हूं, क्योंकि गीता में वहां तक पहुंचाने के सूत्र हैं उसमें, जहां से छलांग, दि जंप, जहां से छलांग लग सकती है। लेकिन अध्यात्म-शास्त्र कोई शास्त्र होता नहीं। हां, आध्यात्मिक वक्तव्य हो सकते हैं; जैसे उपनिषद हैं। उपनिषद आध्यात्मिक वक्तव्य हैं। लेकिन उनमें कोई विज्ञान नहीं है। इसलिए मनुष्य के बहुत काम के नहीं हैं। गीता बहुत काम की है।

वक्तव्य है कि ब्रह्म है; ठीक है। एक वक्तव्य है कि ब्रह्म है। ठीक है। हमें पता नहीं है। जो जानता है, वह कहता है, है। जो नहीं जानता है, वह कहता है, होगा। बेयर स्टेटमेंट है। तो उपनिषद काम में आ सकता है, जब आपको अध्यात्म का अनुभव हो जाए। तब आप उपनिषद में पढ़कर कह सकते हैं कि ठीक है, ऐसा मैंने भी जाना है। तो उपनिषद जो है, वह गवाही बन सकता है, विटनेस हो सकता है। लेकिन जब आप जान लें, तब।

और मजा यह है कि जब आप जान लें, तो उपनिषद की गवाही की कोई जरूरत नहीं होती। आप ही जानते हैं, तो आप जो कहते हैं, वही उपनिषद हो जाता है।

तो उपनिषद जो है, वह ज्यादा से ज्यादा गवाही बन सकता है सिद्ध के लिए। और सिद्ध के लिए कोई गवाही की जरूरत नहीं है। गीता साधक के लिए उपयोगी हो सकती है। सिद्ध के किसी काम की गीता नहीं है। लेकिन असली सवाल तो साधक के लिए है। और साधक का असली सवाल आध्यात्मिक नहीं है।

अर्जुन का असली सवाल आध्यात्मिक नहीं है। अर्जुन का असली सवाल मानसिक है, साइकोलाजिकल है। उसकी समस्या ही मानसिक है। इसलिए अगर कोई यह कहे कि उसकी समस्या तो मानसिक है और कृष्ण उसका आध्यात्मिक हल कर रहे हैं, तो उन दोनों के बीच फिर कोई कम्युनिकेशन नहीं हो सकता। जहां समस्या है, वहीं समाधान को होना चाहिए, तभी सार्थक होगा। अर्जुन की समस्या मानसिक है, उसकी समस्या आध्यात्मिक नहीं है। उसका उलझाव मानसिक है।

अब यह बड़े मजे की बात है, आध्यात्मिक समस्या होती ही नहीं। जहां अध्यात्म है, वहां समस्या नहीं है। और जहां तक समस्या है, वहां तक अध्यात्म नहीं है। मामला ठीक ऐसा ही है, जैसे कि मेरे घर में अंधेरा है और मैं आप से कहूं, अंधेरा है। आप कहें कि मैं दीया ले जाकर देखता हूं, कहां है! और आप दीया ले जाएं और अंधेरे को मैं न बता पाऊं। आप कहें, बताओ, कहां है? अब मैं दीया ले आया, अंधेरा कहां है? अब मैं मुश्किल में पड़ जाऊंगा, तो मैं आपसे कहूं कि कृपा कर दीया बाहर रखकर आइए। आप कहें कि दीया बाहर रख आऊंगा, तो अंधेरे को देखूंगा कैसे? क्योंकि रोशनी चाहिए देखने के लिए! तो फिर एक ही बात मैं आप से कहूंगा कि फिर अंधेरा नहीं देखा जा सकता, क्योंकि जहां रोशनी है, वहां अंधेरा नहीं है और जहां अंधेरा है, वहां रोशनी नहीं है। और इन दोनों के बीच कोई कम्युनिकेशन नहीं है।

आध्यात्मिक समस्या जैसी कोई समस्या होती ही नहीं। सब समस्याएं मानसिक हैं। अध्यात्म समस्या नहीं, समाधान है। जहां अध्यात्म है, वहां कोई समस्या नहीं है। और जहां कोई समस्या नहीं है, वहां किसी समाधान की क्या जरूरत है?

अध्यात्म स्वयं समाधान है। इसलिए अध्यात्म के द्वार का नाम हमने रखा है समाधि।

समाधि का मतलब है, यहां से समाधान शुरू होता है, यहां से अब समस्याएं नहीं होंगी। समाधि का मतलब है, यहां से अब समाधान शुरू होता है, अब समस्या नहीं; अब आगे प्रश्न नहीं होंगे; अब आगे प्रश्न का कोई उपाय नहीं है। दरवाजे का नाम समाधि रखा है। इसका मतलब यह है कि दरवाजे पर आ गए, अब इसके पार समाधान का जगत है। वहां समाधान ही समाधान होंगे, वहां अब कोई समस्या नहीं होगी। लेकिन समाधि के द्वार तक बड़ी समस्याएं होंगी। और वे सब समस्याएं मानसिक हैं।

अगर ठीक से समझें, तो मतलब है, दि माइंड इ.ज दि प्राब्लम, मन ही समस्या है। जिस दिन मन नहीं है, उस दिन कोई समस्या नहीं है। और अध्यात्म का मतलब है, वह अनुभव, जहां मन नहीं है।

इसलिए मैं जब गीता को मनस-शास्त्र कहता हूं, तो अधिकतम जो शास्त्र के संबंध में कहा जा सकता है, दि मैग्जिमम, वह मैं कह रहा हूं। उससे आगे कहा नहीं जा सकता। और जो लोग उसे आध्यात्मिक बनाएंगे, वे पिटवा देंगे, वे उसे फिंकवा देंगे। क्योंकि अध्यात्म की कोई समस्या नहीं है किसी की, सबकी समस्या मन की है।

और जब मैं कहता हूं, कृष्ण को मैं कहता हूं मनोविज्ञान का पहला उदघोषक, तो अधिकतम जो कहा जा सकता है, वह मैं कह रहा हूं। हां! मनःसंश्लेषक, आत्मा का कोई संश्लेषण नहीं होता। सारा खेल मन का है। सारा उपद्रव मन का है, मन के पार न कोई उपद्रव है, न कोई समस्या है। इसलिए मन के पार कोई शास्त्र नहीं है। सब गुरु-शिष्य मन तक हैं, मन के पार कोई गुरु-शिष्य नहीं है। मन के पार न अर्जुन है, न कृष्ण हैं। मन के पार जो है, उसका कोई नाम नहीं है। सब मन के भीतर की सारी बात है। और इसलिए गीता बहुत विशिष्ट है।

आध्यात्मिक वक्तव्य बहुत हैं, कीमती हैं। लेकिन वक्तव्य हैं, बेयर स्टेटमेंट्स हैं। एक आदमी कहता है, ऐसा है। लेकिन इससे कोई हल नहीं होता। हमारी समस्याएं किसी और तल पर हैं। हमारी मुसीबतें किसी और तल पर हैं। उस तल पर ही बात होनी चाहिए। कृष्ण ने ठीक उस तल से बात की है, जहां अर्जुन है। अगर कृष्ण अपने तल से बात करें, तो गीता अध्यात्म-शास्त्र होती। लेकिन तब अर्जुन को नहीं समझाया जा सकता था। अर्जुन कहता, माफ करें, होगा। मेरा कोई संबंध नहीं है इससे। तब उन दोनों के बीच कोई संवाद नहीं हो सकता था। तब एक आदमी आकाश में और एक आदमी पाताल में होता। अर्जुन के सिर पर से बातें निकल जातीं। कुछ पकड़ में अर्जुन को नहीं आने वाला था।

लेकिन कृष्ण, ठीक अर्जुन जहां है, वहां से उसका हाथ पकड़ते हैं। और वहीं से सारी समस्याओं को सुलझाना शुरू करते हैं। इसलिए गीता एक बहुत साइकिक, एक बहुत मनस की गतिमान व्यवस्था है। एक-एक कदम अर्जुन ऊपर उठता है, तो गीता ऊपर उठती है। अर्जुन नीचे गिरता है, तो गीता नीचे गिरती है। अर्जुन जमीन पर गिर जाता है, तो कृष्ण नीचे झुकते हैं। अर्जुन खड़ा हो जाता है, तो कृष्ण खड़े हो जाते हैं। पूरे समय अर्जुन केंद्र पर है, कृष्ण नहीं हैं केंद्र पर। उपनिषद का ऋषि केंद्र पर है; वह अपने वक्तव्य दे रहा है। वह कह रहा है, जो मैंने जाना, वह मैं कहता हूं। उसका आपसे कोई संबंध नहीं है। इसलिए मैं गीता को एक शिक्षक के द्वारा कही हुई बातें कह रहा हूं।

कृष्ण सिर्फ ब्रह्मज्ञानी की तरह बोलें, तो अर्जुन से कोई नाता नहीं रह जाएगा। वे बहुत नीचे झुककर अर्जुन के साथ खड़े होकर बोलते हैं। और धीरे-धीरे जैसे अर्जुन ऊपर उठता है, वैसे ही वे ऊपर उठते हैं। और वहां छोड़ते हैं गीता के आखिरी सूत्रों को, जहां से मनस समाप्त हो जाता है और अध्यात्म शुरू हो जाता है। उसके बाद चर्चा बंद हो जाती है। उसके बाद चर्चा का कोई मतलब नहीं है।

इसलिए मैंने बहुत जानकर, कंसीडर्ड--मेरा जो वक्तव्य है, ऐसे ही नहीं कह देता हूं, कुछ भी नहीं ऐसे कह देता हूं--बहुत जानकर कहा कि गीता एक साइकोलाजी है।

और भविष्य सिर्फ उन्हीं ग्रंथों का है, जो साइकोलाजी हैं। भविष्य उन ग्रंथों का नहीं है, जो मेटाफिजिक्स हैं। मेटाफिजिक्स मर गई; अब उसकी कोई जगह नहीं है। अब आदमी कहता है, हमारी समस्याएं हैं, इन्हें हल करिए। और जो इन्हें हल करेगा, उसकी जगह होगी। अब फ्रायड, जुंग, एडलर और फ्रोम और सलीवान, इनकी दुनिया है; अब यह कपिल, कणाद की दुनिया नहीं है। और आने वाले भविष्य में कृष्ण अगर फ्रायड और जुंग और एडलर की पंक्ति में खड़े होने का साहस दिखलाते हैं, तो ही गीता का भविष्य है; अन्यथा कोई भविष्य नहीं है।

मैंने बहुत सोचकर कहा है, बहुत जानकर कहा है। बाइबिल को मैं नहीं कह सकता कि वह मनस-शास्त्र है, नहीं कह सकता। कुछ वक्तव्य हैं जो मानसिक हैं, लेकिन बहुत गहरे में वे अध्यात्म हैं। अध्यात्म का मतलब, जो जाना है जीसस ने, वह वक्तव्य दे रहे हैं। वही तकलीफ हुई। क्योंकि जीसस आकाश की बातें कर रहे हैं। सुनने वाले जमीन की बातें समझ रहे हैं, इसलिए सूली पर लटकाए गए। सूली पर लटकाने का कारण है। और बहुत-सा कारण जीसस के ऊपर है।

जीसस कह रहे हैं, दि किंग्डम आफ गॉड, मैं तुम्हें परमात्मा के राज्य का मालिक बना दूंगा। लोग समझ रहे हैं कि वे जमीन के राज्य का मालिक बनाने वाले हैं। यहूदियों ने रिपोर्ट कर दी उनकी कि यह आदमी खतरनाक है, रिबेलियस है। यह कुछ राज्य हड़पने की कोशिश कर रहा है। और जब उनसे पूछा पायलट ने कि क्या तुम राज्य हड़पने की कोशिश कर रहे हो? उन्होंने कहा कि हम राज्य पर हमला बोल रहे हैं! मगर वह दूसरे राज्य की बात कर रहे हैं, किंग्डम आफ गॉड। वह राज्य कहीं किसी को पता नहीं है। उन्होंने कहा, यह आदमी खतरनाक है। इस आदमी को सूली पर लटकाना चाहिए।

जीसस जहां से बोल रहे हैं, वहां सुनने वाले लोग नहीं हैं। और जहां जीसस बोल रहे हैं, वहां उनको सुनने वाला एक भी आदमी नहीं है। इसलिए जीसस और उनके सुनने वाले में कोई तालमेल नहीं है।

कृष्ण अदभुत शिक्षक हैं। वे अर्जुन को प्रायमरी क्लास से लेकर ठीक युनिवर्सिटी के आखिरी दरवाजे तक पहुंचाते हैं। बहुत लंबी यात्रा है। बहुत लंबी यात्रा है और बड़ी सूक्ष्म यात्रा है। और मैं वैसे ही चाहूंगा कि हम वैसे ही यात्रा करें।

प्रश्नः ओशो, आपने बताया कि मनुष्य जन्मों-जन्मों का पुनरावर्तन करता रहता है। तो क्या पुनर्जीवन पाने के लिए वह पुनरावर्तन जरूरी नहीं है? यदि न हो, तो उसमें से अतिक्रमण कब होता है? और उसमें क्या गुरु या गं्रथ कुछ मदद नहीं कर सकते? कृपया बताइए।

जीवन का अनंत पुनरावर्तन है; उपयोगिता है उसकी; उससे प्रौढ़ता आती है। खतरा भी है उसका; उससे जड़ता भी आ सकती है। एक ही चीज से दुबारा गुजरने में दो संभावनाएं हैं। या तो दुबारा गुजरते वक्त आप उस चीज को ज्यादा जान लेंगे; और यह भी संभावना है कि दोबारा गुजरते वक्त आप उतना भी न जान पाएंगे, जितना आपने पहली बार जाना था। दोनों ही बातें हैं।

आपके घर के सामने जो वृक्ष लगा है, आप उसको शायद ही देखते हों, क्योंकि इतनी बार देखा है कि देखने की कोई जरूरत नहीं रह गई है। पति-पत्नी शायद ही एक-दूसरे को देखते हों। तीस-तीस साल साथ रहते हो गए। देख लिया था बहुत पहले, जब शादी हुई थी। फिर देखने का कोई मौका नहीं आया। असल में देखने की कोई जरूरत नहीं आई। अपरिचित स्त्री सड़क से निकलती है, तो दिखाई पड़ती है।

असल में अपरिचित दिखाई पड़ता है, परिचित के प्रति हम अंधे हो जाते हैं; ब्लाइंड स्पाट हो जाता है। उसे देखने की कोई जरूरत नहीं होती। कभी आंख बंद करके सोचें कि आपकी मां का चेहरा कैसा है, तो आप बड़ी मुश्किल में पड़ जाएंगे। फिल्म एक्ट्रेस का चेहरा याद आ सकता है; मां का चेहरा आंख बंद करके देखेंगे, तो एकदम खोने लगेगा। थोड़ी देर में रूप-रेखा गड्ड-मड्ड हो जाएगी। मां का चेहरा पकड़ में नहीं आता! इतना देखा है, इतने पास से देखा है, कि कभी गौर से नहीं देखा। निकटता अपरिचय बन जाती है। निकटता अपरिचय बन जाती है।

तो अनंत जीवन में एक से ही अनुभव से बार-बार गुजरने पर दो संभावनाएं हैं। और चुनाव आप पर है कि आप क्या करेंगे; स्वतंत्रता आपकी है।

आप यह भी कर सकते हैं कि आप बिल्कुल जड़, मेकेनिकल हो जाएं, जैसा कि हम अधिक लोग हो गए हैं। एक यंत्रवत घूमते रहें, बस वही रोज-रोज करते रहें। कल भी क्रोध किया था, परसों भी क्रोध किया था, उसके पहले भी, पिछले वर्ष भी, उसके पहले वर्ष भी। इस जन्म का ही हिसाब रखें, तो भी काफी है। अगर पचास साल जीए हैं, तो कितनी बार क्रोध किया है! और हर बार क्रोध करके कितनी बार पश्चात्ताप किया है! और हर बार पश्चात्ताप करके फिर दुबारा क्रोध किया है, फिर दुबारा पश्चात्ताप किया है! फिर धीरे-धीरे एक रूटीन, एक व्यवस्था बन गई है।

और आदमी को देखकर आप कह सकते हैं कि यह अभी क्रोध कर रहा है, थोड़ी देर बाद पश्चात्ताप करेगा। क्रोध में क्या कह रहा है, यह भी बता सकते हैं, क्या कहेगा, यह भी बता सकते हैं--अगर दो-चार दफे उसको क्रोध करते देखा है। और बाद में भी प्रिडिक्ट कर सकते हैं कि क्रोध के बाद पश्चात्ताप में ये-ये बातें यह कहेगा। कसम खाएगा कि अब क्रोध कभी नहीं करूंगा। हालांकि ये कसमें इसने पहले भी खाई हैं, इसका कोई मतलब नहीं है। यह जड़ व्यवस्था हो गई है।

लेकिन अगर कोई आदमी होशपूर्वक क्रोध किया है, तो हर बार क्रोध का अनुभव उसे क्रोध से मुक्त कराने में सहयोगी होगा। और अगर बेहोशी से क्रोध किया है, तो हर क्रोध का अनुभव उसे और भी क्रोध की जड़ मूर्च्छा में ले जाने में सहयोगी होता है।

जीवन का पुनरावर्तन दोनों संभावनाएं खोलता है। हम कैसा उपयोग करेंगे, हम पर निर्भर है। जीवन सिर्फ संभावनाएं देता है। हम उन संभावनाओं को क्या रूपांतरण देंगे, यह हम पर निर्भर है। एक आदमी चाहे तो क्रोध करके और गहरे क्रोध का अभ्यासी बन सकता है। और एक आदमी चाहे तो क्रोध करके, क्रोध की मूर्खता को देखकर, व्यर्थता को देखकर, क्रोध की अग्नि और विक्षिप्तता को देखकर, क्रोध से मुक्त हो सकता है। जो आदमी जड़ होता चला जाता है, वह अधार्मिक होता चला जाता है; वह और संसारी होता चला जाता है। जो आदमी चेतन होता चला जाता है, वह धार्मिक होता चला जाता है, उसके जीवन में एक क्रांति होती चली जाती है।

प्रत्येक पर निर्भर है कि जीवन का आप क्या करेंगे।

जीवन निर्भर नहीं है, जीवन अवसर है। उसमें क्या करेंगे, यह आप पर निर्भर है। यह निर्भरता ही आपके आत्मवान होने का प्रमाण है। यह निर्भरता ही आपके आत्मा होने का गौरव है। आपके पास आत्मा है, अर्थात चुनाव की शक्ति है कि आप चुनें कि क्या करेंगे।

और मजे की बात यह है कि आपने हजारों चक्कर लगाए हों, अगर आज भी आप निर्णय कर लें, तो सारे चक्कर इसी क्षण छोड़ सकते हैं, तोड़ सकते हैं। लेकिन मन लीस्ट रेसिस्टेंस की तरफ बहता है। घर में एक लोटा

पानी गिरा दें। फर्श से बह जाए, सूख जाए, पानी उड़ जाए; लेकिन एक सूखी रेखा फर्श पर छूट जाती है। पानी नहीं है जरा भी। कुछ भी नहीं है, सिर्फ एक सूखी रेखा। और सूखी रेखा का मतलब क्या है? कुछ भी मतलब नहीं है। वहां पानी बहा था। बस, इतनी एक रेखा छूट जाती है। फिर दुबारा पानी उस कमरे में डोल दें, सौ में से निन्यानबे मौके यह हैं कि वह उसी सूखी रेखा को पकड़कर फिर बहेगा। क्योंकि लीस्ट रेसिस्टेंस है। उस सूखी रेखा पर धूल कम है। कमरे के दूसरे हिस्सों में धूल ज्यादा है। वहां जगह जरा आसानी से बहने की है। पानी वहीं से बहेगा।

हम बहुत बार जो किए हैं, वहां-वहां सूखी रेखाएं बन गई हैं। उन सूखी रेखाओं को ही मनस-शास्त्र संस्कार कहता है। वह हमारी कंडीशनिंग है। उन सूखी रेखाओं पर फिर वही काम, फिर शक्ति का जन्म, फिर पानी का बहना, लीस्ट रेसिस्टेंस, फिर हम वहीं से बहना शुरू कर देते हैं।

लेकिन सूखी रेखा कहती नहीं कि यहां से बहो। सूखी रेखा बांधती नहीं कि यहां से नहीं बहे, तो अदालत में मुकदमा चलेगा। सूखी रेखा कहती नहीं कि कोई नियम है ऐसा कि यहीं से बहना पड़ेगा, कि परमात्मा की आज्ञा है कि यहीं से बहो। सूखी रेखा सिर्फ एक खुला अवसर है, चुनाव सदा आपका है। और पानी अगर तय करे कि नहीं बहना है सूखी रेखा से, तो नई रेखा बना ले और बह जाए। फिर नई सूखी रेखा बन जाएगी। फिर नया संस्कार बन जाएगा।

धर्म निर्णय और संकल्प है; जो होता रहा है, उससे अन्यथा होने की चेष्टा है; जो कल तक हुआ है, उसकी समझ से वैसा दुबारा न हो, इसका संकल्पपूर्वक चुनाव है। इसे ही हम साधना कहें, योग कहें, जो भी नाम देना चाहें, दे सकते हैं।

एक आखिरी सूत्र और, फिर सांझ को बात करेंगे।

आचार्याः पितरः पुत्रास्तथैव च पितामहाः।
मातुलाः श्वशुराः पौत्राः श्यालाः संबन्धिनतस्था।। 34।।
एतान्न हन्तुमिच्छामि घ्नतोऽपि मधुसूदन।
अपि त्रैलोक्यराज्यस्य हेतोः किं नु महीकृते।। 35।।

गुरुजन, ताऊ, चाचे, लड़के, और वैसे ही दादा, मामा, ससुर, पोते, साले तथा और भी संबंधी लोग हैं।

इसलिए हे मधुसूदन, मुझे मारने पर भी अथवा तीन लोक के राज्य के लिए भी मैं इन सबको मारना नहीं चाहता, फिर पृथ्वी के लिए तो कहना ही क्या है?

निहत्य धार्तराष्ट्रान्नः का प्रीतिः स्याज्जनार्दन।
पापमेवाश्रयेदस्मान्हत्वैतानाततायिनः।। 36।।

हे जनार्दन! धृतराष्ट्र के पुत्रों को मारकर भी हमें क्या प्रसन्नता होगी! इन आततायियों को मारकर तो हमें पाप ही लगेगा।

बार-बार, फिर-फिर अर्जुन जो कह रहा है, वह बहुत विचार योग्य है। दो-तीन बातें ख्याल में ले लेनी जरूरी हैं। वह कह रहा है कि ये अपने स्वजनों को मारकर अगर तीनों लोक का राज्य भी मिलता हो, तो भी मैं लेने को तैयार नहीं हूं; इसलिए इस पृथ्वी के राज्य की तो बात ही क्या! देखने में ऐसा लगेगा, बड़े त्याग की बात कह रहा है। ऐसा है नहीं।

मैं एक वृद्ध संन्यासी से मिलने गया था। उन वृद्ध संन्यासी ने मुझे एक गीत पढ़कर सुनाया। उनका लिखा हुआ गीत। उस गीत में उन्होंने कहा कि सम्राटो, तुम अपने स्वर्ण-सिंहासन पर होओगे सुख में, मैं अपनी धूल में ही मजे में हूं। मैं लात मारता हूं तुम्हारे स्वर्ण-सिंहासनों पर। तुम्हारे स्वर्ण-सिंहासनों में कुछ भी नहीं रखा है। मैं अपनी धूल में ही मजे में हूं। ऐसा ही गीत था। पूरे गीत में यही बात थी। सुनने वाले बड़े मंत्रमुग्ध हो गए। हमारे मुल्क में मंत्रमुग्ध होना इतना आसान है कि और कोई चीज आसान नहीं है। सिर हिलाने लगे।

मैं बहुत हैरान हुआ। उनका सिर हिलता देखकर संन्यासी भी बहुत प्रसन्न हुए। उन्होंने मुझसे पूछा, आप क्या कहते हैं? मैंने कहा, मुझे मुश्किल में डाल दिया है आपने। आप मुझसे पूछिए ही मत। उन्होंने कहा, नहीं, कुछ तो कहिए। मैंने कहा कि मैं सदा सोचता हूं कि अब तक किसी सम्राट ने ऐसा नहीं कहा कि संन्यासियो, अपनी धूल में रहो मजे में, हम तुम्हारी धूल को लात मारते हैं। हम अपने सिंहासन पर ही मजे में हैं।

किसी सम्राट ने अब तक ऐसा गीत नहीं लिखा। संन्यासी जरूर सैकड़ों वर्ष से ऐसे गीत लिखते रहे हैं। कारण खोजना पड़ेगा। असल में संन्यासी के मन में सुख तो सोने के सिंहासन में ही दिखाई पड़ रहा है। अपने को समझा रहा है। कंसोलेटरी है उसकी बात। वह कह रहा है, रहे आओ अपने सिंहासन पर, हम अपनी धूल में ही बहुत मजे में हैं। लेकिन तुम से कह कौन रहा है कि तुम सिंहासन पर रहो। तुम धूल में मजे में हो, तो मजे में रहो। सिंहासन वाले को ईर्ष्या करने दो तुम्हारे मजे की। लेकिन सिंहासन वाला कभी गीत नहीं लिखता है कि तुम अपने मजे में हो, तो रहे आओ।

उसको कंसोलेशन की कोई जरूरत नहीं है। वह अपने सिंहासन पर तुम्हारी धूल से कोई ईर्ष्या नहीं कर रहा है। लेकिन तुम धूल में पड़े हुए, उसके सिंहासन से जरूर ईर्ष्यारत हो। ईर्ष्या गहरी है।

अब अर्जुन अपने को समझा रहा है। मन तो उसका होता है कि राज्य मिल जाए, लेकिन वह यह कह रहा है, इन सबको मारकर अगर तीनों लोक का राज्य भी मिलता हो--हालांकि कहीं कुछ मिल नहीं रहा है; कोई देने वाला नहीं है--तीनों लोक का राज्य भी मिलता हो, तो भी बेकार है। ऐसे बड़े राज्य की बात करके, फिर वह उसका दूसरा निष्कर्ष निकालता है कि तब पृथ्वी के राज्य का तो प्रयोजन ही क्या है! ऐसा बड़ा ख्याल मन में पैदा करके कि मैं तीनों लोक का राज्य भी छोड़ सकता हूं, तो फिर पृथ्वी का राज्य तो छोड़ ही सकता हूं। लेकिन न उसको पृथ्वी का राज्य छोड़ने की इच्छा है। और अगर कहीं कृष्ण उससे कहें कि देख, तुझे तीनों लोक का राज्य दिए देते हैं, तो वह बड़ी बिगूचन में पड़ जाएगा। वह कह रहा है, अपने को समझा रहा है।

अब यह बड़े मजे की बात है कि बहुत बार जब हम अपने को समझाते होते हैं, तो हमारे ख्याल में नहीं होता है कि हम किन-किन तरकीबों से अपने को समझाते हैं। बड़ा मकान देखकर पड़ोसी का हम कहते हैं, क्या रखा है बड़े मकान में! लेकिन जब कोई आदमी कहता है, क्या रखा है बड़े मकान में! तो उस आदमी को बहुत कुछ रखा है, निश्चित ही रखा है। अन्यथा बड़ा मकान दिखता नहीं। वह अपने को समझा रहा है, वह अपने मन को सांत्वना दे रहा है कि कुछ रखा ही नहीं है, इसलिए हम पाने की कोशिश नहीं करते। अगर कुछ होता, तो हम तत्काल पा लेते। लेकिन कुछ है ही नहीं, इसलिए हम पाने की कोई कोशिश नहीं करते।

यह अर्जुन कह रहा है, तीन लोक के राज्य में भी क्या रखा है, इसलिए पृथ्वी के राज्य में तो कुछ भी नहीं रखा है। और इतने छोटे से राज्य की बात के लिए इतने प्रियजनों को मारना... !

यह प्रियजनों को मारना उसके लिए सर्वाधिक कष्टपूर्ण मालूम पड़ रहा है, न कि मारना कष्टपूर्ण मालूम पड़ रहा है। प्रियजनों को मारना कष्टपूर्ण मालूम पड़ रहा है।

स्वभावतः, सारा परिवार वहां लड़ने को खड़ा है। ऐसे युद्ध के मौके कम आते हैं। यह युद्ध भी विशेष है। और युद्ध की तीक्ष्णता यही है महाभारत की कि एक ही परिवार कटकर खड़ा है। उस कटाव में भी सब दुश्मन नहीं हैं। कहना चाहिए कि जो फर्क है--यह थोड़ा सोचने जैसा है--जो फर्क है, वह दुश्मन और मित्र का कम है; जो फर्क है, वह कम मित्र और ज्यादा मित्र का ही है। जो बंटवारा है, वह बंटवारा ऐसा नहीं है कि उस तरफ दुश्मन हैं और इस तरफ मित्र हैं। इतना भी साफ होता कि उस तरफ पराए हैं और इस तरफ अपने हैं, तो कटाव बहुत आसानी से हो जाता। अर्जुन ठीक से मार पाता।

लेकिन बंटवारा बहुत अजीब है। और वह अजीब बड़ा अर्थपूर्ण है। वह अजीब बंटवारा ऐसा है कि इस तरफ अपने थोड़े जो ज्यादा मित्र थे, वे इकट्ठे हो गए हैं; जो थोड़े कम मित्र थे, वे उस तरफ इकट्ठे हो गए हैं। मित्र वे भी हैं, प्रियजन वे भी हैं, गुरु उस तरफ हैं।

यह मैं कह रहा हूं, महत्वपूर्ण है। और ऐसी सिचुएशन इसलिए महत्वपूर्ण है कि जिंदगी में चीजें वाटर टाइट कंपार्टमेंट में बंटी हुई नहीं होती हैं। जिंदगी में चीजें काले और सफेद में बंटी हुई नहीं होतीं। जिंदगी ग्रे का फैलाव है। उसके एक कोने पर काला होता है, दूसरे कोने पर सफेद होता है, लेकिन जिंदगी के बड़े फैलाव में काला और सफेद मिश्रित होता है। यहां फलां आदमी शत्रु और फलां आदमी मित्र, ऐसा बंटाव नहीं है। फलां आदमी कम मित्र, फलां आदमी ज्यादा मित्र; फलां आदमी कम शत्रु, फलां आदमी ज्यादा शत्रु--ऐसा बंटाव है। यहां जिंदगी में एब्सोल्यूट टर्म्स नहीं हैं। यहां कोई चीज पूरी कटी हुई नहीं है। यही उलझाव है। यहां सब चीजें कम-ज्यादा में बंटी हैं।

हम कहते हैं, यह गरम है और यह ठंडा है। लेकिन ठंडे का क्या मतलब होता है, थोड़ा कम गरम। गरम का क्या मतलब होता है, थोड़ा कम ठंडा। कभी ऐसा करें कि एक हाथ को स्टोव पर जरा गरम कर लें और एक हाथ को बरफ पर रखकर जरा ठंडा कर लें और फिर दोनों हाथों को एक ही बाल्टी के पानी में डाल दें, तब आप बड़ी मुश्किल में पड़ जाएंगे। तब ठीक अर्जुन की हालत में पड़ जाएंगे। तब आपका एक हाथ कहेगा पानी ठंडा है और एक हाथ कहेगा पानी गरम है। और एक ही पानी है। दोनों तो नहीं हो सकता एक साथ--ठंडा और गरम!

जीवन में सब कुछ सापेक्ष है, रिलेटिव है। जिंदगी में कुछ भी निरपेक्ष नहीं है। यहां सब कम-ज्यादा का बंटाव है। अर्जुन की वही तकलीफ है। और जो आदमी भी जिंदगी को देखेगा ठीक से, उसकी यही तकलीफ हो जाएगी। यहां सब कम-ज्यादा का बंटाव है। कोई थोड़ा अपना ज्यादा, कोई अपना कम। कोई थोड़ा ज्यादा निकट, कोई थोड़ा जरा दूर। कोई सौ प्रतिशत, कोई नब्बे प्रतिशत, कोई अस्सी प्रतिशत अपना है। और कोई नब्बे प्रतिशत, कोई अस्सी प्रतिशत, कोई सत्तर प्रतिशत पराया है। लेकिन जो पराया है, उसमें भी अपना एक प्रतिशत का हिस्सा है। और जो अपना है, उसमें भी पराए के प्रतिशत का हिस्सा है। इसलिए जिंदगी उलझाव है। यह कट जाए ठीक शत्रु-मित्र में, अच्छे-बुरे में, तो बड़ा आसान हो जाए। इतना आसान नहीं हो पाता।

राम के भीतर भी थोड़ा रावण है और रावण के भीतर भी थोड़ा राम है। इसलिए तो रावण को भी कोई प्रेम कर पाता है, नहीं तो रावण को कोई प्रेम न कर पाए। रावण को कोई प्रेम कर पाता है। रावण में भी कहीं न कहीं राम किसी न किसी को दिखाई पड़ता है। रावण को भी कोई प्रेम करता है। राम से भी कोई शत्रुता कर पाता है, तो राम की शत्रुता में भी कहीं न कहीं रावण थोड़ा दिखाई पड़ता है। यहां बड़े से बड़े संत में भी थोड़ा पापी है, और यहां बड़े से बड़े पापी में भी थोड़ा संत है। जिंदगी सिर्फ सापेक्ष विभाजन है।

यह अर्जुन की तकलीफ है कि सब अपने ही खड़े हैं। एक ही परिवार है, बीच में से रेखा खींच दी है। उस तरफ अपने हैं, इस तरफ अपने हैं। हर हालत में अपने ही मरेंगे। यह पीड़ा पूरे जीवन की पीड़ा है। और यह

स्थिति, यह सिचुएशन पूरे जीवन की स्थिति है। इसलिए अर्जुन के लिए जो प्रश्न है, वह सिर्फ किसी एक युद्ध-स्थल पर पैदा हुआ प्रश्न नहीं है, वह जीवन के समस्त स्थलों पर पैदा हुआ प्रश्न है।

अब वह घबड़ा गया है। उधर द्रोण खड़े हैं, उन्हीं से सीखा है। अब उन्हीं पर तीर खींचना है। उन्हीं से धनुर्विद्या सीखी है। वह उनका सबसे पट्ट शिष्य है। सबसे ज्यादा जीवन में उसके लिए ही द्रोण ने किया है। एकलव्य का अंगूठा काट लाए थे इसी शिष्य के लिए। वही शिष्य आज उन्हीं की हत्या करने को तैयार हो गया है! इसी शिष्य को उन्होंने बड़ा किया है खून-पसीना देकर, सारी कला इसमें उंडेल दी है। आज इसी के खिलाफ वे धनुष-बाण खींचेंगे। बड़ा अदभुत युद्ध है। यह एक ही परिवार है, जिसमें बड़े तालमेल हैं, बड़े जोड़ हैं, बड़ी निकटताएं हैं, कटकर खड़ा हो गया है।

लेकिन अगर हम जिंदगी को देखें, बहुत गहरे से देखें, तो जिंदगी के सब युद्ध अपनों के ही युद्ध हैं, क्योंकि पृथ्वी एक परिवार से ज्यादा नहीं है। अगर हिंदुस्तान पाकिस्तान से लड़ेगा, तो एक परिवार ही लड़ेगा। कल जिन बच्चों को हमने पढ़ाया, लिखाया, बड़ा किया था, वे वहां हैं। कल जिस जमीन को हम अपना कहते थे, वह वहां है। कल जिस ताजमहल को वे अपना कहते थे और जिसके लिए मर जाते, वह यहां है। यहां सब जुड़ा है।

अगर हम कल चीन से लड़ेंगे, तो हिंदुस्तान ने चीन को सब कुछ दिया है। और हिंदुस्तान की सबसे बड़ी धरोहर, बुद्ध को, चीन ने बचाया है। और कोई बचाता नहीं। कल उनसे हम लड़ने खड़े हो जाएं।

सारी जिंदगी, सारी पृथ्वी, ठीक से देखें तो एक बड़ा परिवार है। उसमें सारे युद्ध पारिवारिक हैं। और सब युद्ध इसी स्थिति को पैदा कर देते हैं, जो अर्जुन के मन में पैदा हो गई है। उसकी दुविधा एकदम स्वाभाविक है; उसकी चिंता एकदम स्वाभाविक है। वह थरथर कांप गया है, यह बिल्कुल स्वाभाविक है।

इस दुविधा से क्या निस्तार है? या तो आंख बंद करे और युद्ध में कूद जाए; या आंख बंद करे और भाग जाए। ये दो ही उपाय दिखाई पड़ते हैं। तो आंख बंद करे और कहे, होगा कोई; जो अपनी तरफ नहीं है, अपना नहीं है। मरना है, मरे। आंख बंद करे, युद्ध में कूद जाए--सीधा है। या आंख बंद करे और भाग जाए--सीधा है।

लेकिन कृष्ण जो उपाय सुझाते हैं, वह सीधा नहीं है। वह लीस्ट रेसिस्टेंस का नहीं है। ये दोनों लीस्ट रेसिस्टेंस के हैं। ये दोनों सूखी रेखाएं हैं। इन दोनों में वह कहीं भी चला जाए, बड़ी सरल है बात। शायद अनंत जन्मों में इन दो में से कहीं न कहीं वह गया होगा। ये सहज विकल्प हैं।

लेकिन कृष्ण एक तीसरा ही विकल्प सुझाते हैं, जिस पर वह कभी नहीं गया है। वह तीसरा विकल्प ही कीमती है। और जिंदगी में जब भी आपको दो विकल्प आएं, तो निर्णय करने के पहले तीसरे के संबंध में सोच लेना। क्योंकि वह तीसरा सदा ही महत्वपूर्ण है, वे दो हमेशा वही हैं, जो आपने बार-बार चुने हैं। कभी इसको, इससे थक गए हैं तो विपरीत को, कभी विपरीत से थक गए तो इसको--उनको आप चुनते रहे हैं। दि थर्ड, वह तीसरा ही महत्वपूर्ण है, जो ख्याल में नहीं आता है। उस तीसरे को ही कृष्ण प्रस्तावित करेंगे, उस पर हम सांझ बात करेंगे।

चौथा प्रवचन

दलीलों के पीछे छिपा ममत्व और हिंसा

प्रश्नः ओशो, आज सुबह आपने बताया कि गीता अध्यात्म-शास्त्र नहीं है, मानस-शास्त्र है। मगर आपने यह भी बताया कि राम में रावण का अंश होता है और रावण में राम का होता है। वैसे ही गीता में भी क्या ऐसा नहीं हो सकता कि शास्त्र में भी अध्यात्म का कुछ अंश आ गया हो?

मैं अध्यात्म को ऐसी अनुभूति कहता हूं, जो अभिव्यक्त नहीं हो सकती। इशारे दिए जा सकते हैं, लेकिन इशारे अभिव्यक्तियां नहीं हैं। चांद को अंगुली से बताया जा सकता है, लेकिन अंगुली चांद नहीं है।

गीता को जब मैंने कहा कि मनोविज्ञान है, तो मेरा अर्थ ऐसा नहीं है, जैसे कि फ्रायड का मनोविज्ञान है। फ्रायड का मनोविज्ञान मन पर समाप्त हो जाता है; उसका कोई इशारा मन के पार नहीं है। मन ही इति है, उसके आगे और कोई अस्तित्व नहीं है। गीता ऐसा मनोविज्ञान है, जो इशारा आगे के लिए करता है। लेकिन इशारा आगे की स्थिति नहीं है।

गीता तो मनोविज्ञान ही है, लेकिन आत्मा की तरफ, अध्यात्म की तरफ, परम अस्तित्व की तरफ, उस मनोविज्ञान से इशारे गए हैं। लेकिन अध्यात्म नहीं है। मील का पत्थर है; तीर का निशान बना है; मंजिल की तरफ इशारा है। लेकिन मील का पत्थर मील का पत्थर ही है, वह मंजिल नहीं है।

कोई भी शास्त्र अध्यात्म नहीं हैं। हां, ऐसे शास्त्र हैं, जो अध्यात्म की तरफ इशारे हैं। लेकिन सब इशारे मनोवैज्ञानिक हैं। इशारे अध्यात्म नहीं हैं। अध्यात्म तो वह है जो इशारे को पाकर उपलब्ध होगा। और वैसे अध्यात्म की कोई अभिव्यक्ति संभव नहीं है; आंशिक भी संभव नहीं है। उसका प्रतिफलन भी संभव नहीं है। उसके कारण हैं। संक्षिप्त में दो-तीन कारण ख्याल में ले लेने जरूरी हैं।

एक तो जब अध्यात्म का अनुभव होता है, तो कोई विचार चित्त में नहीं होता। और जिस अनुभव में विचार मौजूद न हो, उस अनुभव को विचार प्रकट कैसे करे! विचार प्रकट कर सकता है उस अनुभव को, जिसमें वह मौजूद रहा हो, गवाह रहा हो। लेकिन जिस अनुभव में वह मौजूद ही न रहा हो, उसको विचार प्रकट नहीं कर पाता। अध्यात्म का अनुभव निर्विचार अनुभव है। विचार मौजूद नहीं होता, इसलिए विचार कोई खबर नहीं ला पाता।

इसलिए तो उपनिषद कह-कहकर थक जाते हैं, नेति-नेति। कहते हैं, यह भी नहीं, वह भी नहीं। पूछें कि क्या है? तो कहते हैं, यह भी नहीं है, वह भी नहीं है। जो भी मनुष्य कह सकता है, वह कुछ भी नहीं है। फिर क्या है वह अनुभव, जो सब कहने के बाहर शेष रह जाता है?

बुद्ध तो ग्यारह प्रश्नों को पूछने की मनाही ही कर दिए थे, कि इनको पूछना ही मत। क्योंकि इनको तुम पूछोगे तो खतरे हैं। अगर मैं उत्तर न दूं तो कठोर मालूम पड़ूंगा तुम्हारे प्रति, और अगर उत्तर दूं तो सत्य के साथ अन्याय होगा, क्योंकि इन प्रश्नों का उत्तर नहीं दिया जा सकता। इसलिए पूछना ही मत, मुझे मुश्किल में मत डालना। तो जिस गांव में बुद्ध जाते, खबर कर दी जाती कि ये ग्यारह सवाल कोई भी न पूछे। वे ग्यारह सवाल अध्यात्म के सवाल हैं।

लाओत्से पर जब लोगों ने जोर डाला कि वह अपने अनुभव लिख दे, तो उसने कहा, मुझे मुश्किल में मत डालो। क्योंकि जो मैं लिखूंगा, वह मेरा अनुभव नहीं होगा। और जो मेरा अनुभव है, जो मैं लिखना चाहता हूं, उसे लिखने का कोई उपाय नहीं है। फिर भी दबाव में, मित्रों के आग्रह में, प्रियजनों के दबाव में--नहीं माने लोग, तो उसने अपनी किताब लिखी। लेकिन किताब के पहले ही लिखा कि जो कहा जा सकता है, वह सत्य नहीं है। और सत्य वही है, जो नहीं कहा जा सकता है। इस शर्त को ध्यान में रखकर मेरी किताब पढ़ना।

दुनिया में जिनका भी आध्यात्मिक अनुभव है, उनका यह भी अनुभव है कि वह प्रकट करने जैसा नहीं है। वह प्रकट नहीं हो सकता। निरंतर फकीर उसे गूंगे का गुड़ कहते रहे हैं। ऐसा नहीं कि गूंगा नहीं जान लेता है कि गुड़ का स्वाद कैसा है, बिल्कुल जान लेता है। लेकिन गूंगा उस स्वाद को कह नहीं पाता। आप सोचते होंगे, आप कह पाते हैं, तो बड़ी गलती में हैं। आप भी गुड़ के स्वाद को अब तक कह नहीं पाए। गूंगा ही नहीं कह पाया, बोलने वाले भी नहीं कह पाए। और अगर मैं जिद्द करूं कि समझाइए कैसा होता है स्वाद, तो ज्यादा से ज्यादा गुड़ आप मेरे हाथ में दे सकते हैं कि चखिए। इसके अतिरिक्त और कोई उपाय नहीं है। लेकिन गुड़ तो हाथ में दिया जा सकता है, अध्यात्म हाथ में भी नहीं दिया जा सकता कि चखिए।

दुनिया का कोई शास्त्र आध्यात्मिक नहीं है। हां, दुनिया में ऐसे शास्त्र हैं, जिनके इशारे अध्यात्म की तरफ हैं। गीता भी उनमें से एक है। लेकिन वे इशारे मन के भीतर हैं। मन के पार दिखाने वाले हैं, लेकिन मन के भीतर हैं। और उनका विज्ञान तो मनोविज्ञान है; उनका आधार तो मनोविज्ञान है। शास्त्र की ऊंची से ऊंची ऊंचाई मनस है। शब्द की ऊंची से ऊंची संभावना मनस है। अभिव्यक्ति की आखिरी सीमा मनस है। जहां तक मन है, वहां तक प्रकट हो सकता है। जहां मन नहीं है, वहां सब अप्रकट रह जाता है।

तो जब मैंने गीता को मनोविज्ञान कहा, तो मेरा अर्थ नहीं है कि वाटसन के मनोविज्ञान जैसा मनोविज्ञान, कोई बिहेवियरिज्म, कोई व्यवहारवाद। या पावलोव का विज्ञान, कोई कंडीशंड रिफ्लेक्स। ये सारे के सारे मनोविज्ञान अपने में बंद हैं और मन के आगे किसी सत्ता को स्वीकार करने को राजी नहीं हैं। कुछ तो मन की भी सत्ता स्वीकार करने को राजी नहीं हैं। वे तो कहते हैं, मन सिर्फ शरीर का ही हिस्सा है। मन यानी मस्तिष्क। मन कहीं कुछ और नहीं है। यह हड्डी-मांस-पेशी, इन सबका ही विकसित हिस्सा है। मन भी शरीर से अलग कुछ नहीं है।

गीता ऐसा मनोविज्ञान नहीं है। गीता ऐसा मनोविज्ञान है, जो मन के पार इशारा करता है। लेकिन है मनोविज्ञान ही। अध्यात्म-शास्त्र उसे मैं नहीं कहूंगा। और इसलिए नहीं कि कोई और अध्यात्म-शास्त्र है। कहीं कोई शास्त्र अध्यात्म का नहीं है। अध्यात्म की घोषणा ही यही है कि शास्त्र में संभव नहीं है मेरा होना, शब्द में मैं नहीं समाऊंगा, कोई बुद्धि की सीमा-रेखा में नहीं मुझे बांधा जा सकता। जो सब सीमाओं का अतिक्रमण कर जाता है, और सब शब्दों को व्यर्थ कर जाता है, और सब अभिव्यक्तियों को शून्य कर जाता है--वैसी जो अनुभूति है, उसका नाम अध्यात्म है।

प्रश्नः ओशो, कहीं ऐसा मनु-वचन है कि जहां आततायी को मारने के लिए उन्होंने निर्देश दिया है, आततायिनम आयन्तं अन्यादेवऽविचारतः। शास्त्राज्ञा तो है ऐसी और अर्जुन यह भी जानता है कि दुर्योधन आदि सब आततायी हैं, और तब भी उनको मारने से उसका जी हिचकिचाता है। तो इसका कारण क्या है?

एक तो मनु जो कहते हैं, वह सिर्फ सामाजिक नीति है, सोशल इथिक्स है। मनु जो कहते हैं, वह केवल सामाजिक चिंतना है, सोशल कोड है। मनु का वचन अध्यात्म नहीं है। मनु का वचन तो मनस भी नहीं है, मनोविज्ञान भी नहीं है। मनु का वचन तो सामाजिक रीति-व्यवहार की व्यवस्था है। इसलिए मनु को जोड़ना हो अगर, तो उसे जोड़ना पड़ेगा मार्क्स से, उसे जोड़ना पड़ेगा दुर्खीम से, इस तरह के लोगों के साथ। मनु का कोई बहुत गहरा सवाल नहीं है।

मनु सामाजिक व्यवस्थापक हैं। और समाज की कोई भी व्यवस्था चरम नहीं है। समाज की सभी व्यवस्थाएं सामयिक हैं। जो व्यक्ति भी थोड़ा चिंतन करेगा, उसका चिंतन निरंतर समाज की व्यवस्था के ऊपर चला जाएगा। क्योंकि समाज की व्यवस्था अंतिम व्यक्ति को ध्यान में रखकर बनाई गई होती है।

जैसे कहा जाता है कि योग्य शिक्षक वही है, जो अपनी कक्षा में अंतिम विद्यार्थी को ध्यान में रखकर बोलता हो। निश्चित ही योग्य शिक्षक वही है, जो कक्षा में अंतिम व्यक्ति को ध्यान में रखकर बोलता हो। लेकिन तब जो कक्षा में प्रथम व्यक्ति है, उसके लिए शिक्षक तत्काल बेकार हो जाता है।

समाज की व्यवस्था में तो अंतिम व्यक्ति को ध्यान में रखा जाता है और जड़ नियम स्थापित किए जाते हैं। अर्जुन साधारण व्यक्ति नहीं है, मीडियाकर माइंड नहीं है; अर्जुन चिंतनशील है, मेधावी है; असाधारण प्रतिभाशाली है; जिंदगी उसके लिए सोच-विचार बन जाती है।

अब मनु कहते हैं कि जो आततायी है, उसे तो मार देने में कोई बुराई नहीं है। विचारशील को इतना आसान नहीं है मामला। कौन आततायी है? और आततायी हो भी, तब भी मारना उचित है या नहीं उचित है? फिर आततायी अपना है, मनु को उसका ख्याल भी नहीं है। आततायी में मानकर चला गया है कि वह दुश्मन है। यहां आततायी अपना है। और एक व्यक्ति नहीं है, लाखों व्यक्ति हैं। और उन लाखों से लाखों तरह के निकट संबंध हैं।

इसलिए अर्जुन की स्थिति बहुत भिन्न है। वह साधारण आततायी की, हमलावर की, और जिसके ऊपर हमला हुआ है, उसकी नहीं है। वही तो वह चिंतन कर रहा है, वही तो वह कह रहा है कि अगर इन सब को मारकर राज्य को भी पा लें, तो क्या यह सौदा उचित है? वह वही पूछ रहा है। इन सबको मारकर राज्य को पा लेना, क्या सौदा उचित है? क्या इतनी कीमत पर राज्य को ले लेना कुछ सार्थकता रखता है? वह यही पूछ रहा है।

यह जो अर्जुन की मनोदशा है, मनु के जो नियम हैं, उन नियमों से बहुत ऊपर चिंतन की है।

असल में नियम तो सदा जड़ होते हैं। जड़ नियम कामचलाऊ होते हैं और विशेष संकट की स्थितियों में अर्थहीन हो जाते हैं। और अर्जुन की संकट की स्थिति बहुत विशेष है। विशेषता तीन प्रकार की है। एक तो यह है कि यह तय करना बहुत मुश्किल है कि आततायी कौन है?

सदा ही मुश्किल है। हमें बहुत आसानी लगती है पीछे से तय करने में कि आततायी कौन है। अगर कौरव जीत गए होते, तो आपको पता चलता कि आततायी कौन है? क्योंकि तब कथा और ढंग से लिखी गई होती, क्योंकि तब कथाकार और होते। और कथाकार तो जो विजेता है, उसके आस-पास इकट्ठे होते हैं; हारे हुओं के आस-पास तो इकट्ठे नहीं होते।

दूसरे महायुद्ध में हिटलर हार गया, तो अब हम जानते हैं कि बुरा कौन था। लेकिन अगर हिटलर जीत जाता और चर्चिल और रूजवेल्ट और स्टैलिन हारते, तो हम बिल्कुल पक्का जानते कि बुरा कोई दूसरा था। स्थितियां गुजर जाने पर पीछे से जो हम सोच पाते हैं, वह ठीक स्थितियों के बीच में इतना तय नहीं होता है।

आमतौर से इतिहास लिखने वाला आदमी विजेताओं का इतिहास लिखता है। और आमतौर से इतिहास विजेताओं के आस-पास क्रिस्टलाइज होता है।

तो आज हम जानते हैं कि कौरव आततायी थे। लेकिन ठीक युद्ध के क्षण में, कौन आततायी है, किसने बुरा किया है, यह मामला इतना दो और दो चार जैसा साफ नहीं होता। कभी साफ नहीं होता।

चीन कहे चला जाता है कि हमला हिंदुस्तान ने उस पर किया था। हिंदुस्तान कहे चला जाता है कि चीन ने हमला उस पर किया था। कभी यह तय नहीं होगा कि किसने हमला किया था। आज तक कभी तय नहीं हो पाया कि कौन हमलावर है। हां, जो जीत जाता है, वह इतिहास लिख लेता है। हारा हुआ हमलावर तय हो जाता है। जो हार जाता है, वह इतिहास नहीं लिख पाता है।

क्या हार जाना ही हमलावर होने का सबूत है? पीछे से तय करना सदा आसान है, क्योंकि तब रेखाएं बंध गई होती हैं। लेकिन ठीक परिस्थिति के बीच इतना आसान नहीं है।

भूल-चूक सदा दोनों तरफ होती है; मात्राओं में फर्क हो सकते हैं, लेकिन इकतरफा नहीं होती। ऐसा नहीं है कि कौरव ही एकदम जिम्मेवार हैं सारे पाप के लिए, और पांडव बिल्कुल नहीं हैं। ऐसा नहीं है। मात्राओं के फर्क होते हैं। यह हो सकता है, कौरव ज्यादा जिम्मेवार हैं। लेकिन यह भी बहुत पीछे से जब पर्सपेक्टिव मिलता है, दूरी मिलती है, तब तय होता है।

ठीक युद्ध के घने क्षण में अर्जुन का मन बहुत चिंतित हो उठा है। कुछ साफ नहीं है, क्या हो रहा है, वह कहां तक ठीक हो रहा है। और फिर अगर यह भी तय हो कि आततायी वही हैं, तो भी उस तरफ सारे प्रियजन खड़े हैं। होगा, दुर्योधन आततायी होगा! लेकिन द्रोण? द्रोण आततायी नहीं हैं। दुर्योधन आततायी होगा, लेकिन भीष्म? भीष्म आततायी नहीं हैं, उनकी गोद में ये सब बच्चे बड़े हुए हैं। दुश्मन एक नहीं है, दुश्मन एक बड़ी जमात है। उस जमात में तय करना कठिन है। यही चिंता का कारण है।

मनु जो नियम बना रहे हैं, वे बहुत साधारण हैं, साधारणतया उपयोगी हैं। लेकिन इस विशेष स्थिति में मनु काम नहीं करेंगे। कर भी सकते थे, कर सकते थे एक ही हालत में कि अर्जुन इस स्थिति को झुठलाना चाहता, तो कहता, मनु का हवाला देता, कि ठीक है मनु ने कहा है, आततायी को मारो, मारते हैं। लेकिन वह कोई बहुत बड़ा विचारपूर्ण कदम न होता। और एक तो बात पक्की थी कि विचारपूर्ण इसलिए भी न होता कि यह गीता आपको उपलब्ध न होती। यह गीता उपलब्ध हो सकी है अर्जुन के मंथन से, मनन से, उसकी विचारणा से, उसकी जिज्ञासा से। चीजों को सीधा स्वीकार कर लिया होता, तो ठीक था, युद्ध होता, कोई जीतता, कोई हारता। युद्ध होता है तो कोई जीतता है, कोई हारता है। कहानी बनती है, कथा बनती है।

महाभारत उतना महत्वपूर्ण सिद्ध नहीं हुआ है, जितनी गीता महत्वपूर्ण सिद्ध हुई है। महाभारत तो हुआ और समाप्त हो गया। गीता का समाप्त होना मुश्किल है। महाभारत तो एक घटना रह गई है। और समय बीतता जाता है और भूलता चला जाता है। बल्कि सच तो यह है कि महाभारत याद ही इसलिए रह गया कि उसमें गीता भी घटी, नहीं तो महाभारत याद रहने जैसा भी नहीं था।

हजारों युद्ध हुए हैं। आदमी ने तीन हजार साल में चौदह हजार युद्ध किए हैं। लेकिन युद्ध, ठीक है, एक छोटा-सा फुटनोट बन जाता है इतिहास में। लेकिन युद्ध से भी बड़ी घटना गीता बन गई है। वह महाभारत का जो युद्ध था, उससे भी महत्वपूर्ण घटना गीता बन गई है। आज अगर महाभारत याद है, तो गीता के कारण याद है; गीता महाभारत के कारण याद नहीं है।

और इसलिए यह भी आपसे कहना चाहूंगा, इस जगत में घटनाओं का मूल्य नहीं, इस जगत में विचारणाओं का मूल्य है। इस जगत में इवेंट्स, घटनाएं घटती हैं और राख हो जाती हैं। और विचार शाश्वत यात्रा पर निकल जाते हैं। घटनाएं मर जाती हैं, उन घटनाओं के बीच अगर किसी विचार का, किसी आत्मवान विचार का जन्म हुआ, तो वह अनंत की यात्रा पर निकल जाता है।

महाभारत महत्वपूर्ण नहीं है। न भी हुआ हो तो क्या फर्क पड़ता है! लेकिन गीता न हुई हो तो बहुत फर्क पड़ता है। महाभारत एक छोटी-सी घटना हो गई। और जैसे समय आगे बढ़ता जाएगा, छोटी होती जाएगी। एक परिवार के भाइयों का, चचेरे भाइयों का झगड़ा था। हो गया, निपट गया। उनकी बात थी, समाप्त हो गई। लेकिन गीता रोज-रोज महत्वपूर्ण होती चली गई है। यह हो सकी महत्वपूर्ण इसलिए कि अर्जुन के पास मनु को मान लेने जैसी साधारण बुद्धि नहीं थी। अर्जुन के पास एक प्रतिभा थी, जो पूछती है, जो संकट में सवाल उठाती है।

आमतौर से संकट में सवाल उठाना बहुत कठिन है। घर में बैठकर गीता पढ़ना और सवाल उठाना बहुत आसान है। अर्जुन की स्थिति में सवाल उठाना बहुत जोखम से भरा काम है। वह स्थिति सवाल की नहीं है। वह स्थिति कोई ब्रह्म-जिज्ञासा की नहीं है, वह स्थिति कोई गुरु-शिष्य वृक्ष के नीचे बैठकर चिंतन-मनन करें, इसकी नहीं है। युद्ध द्वार पर खड़ा है। हुंकारें हो गई हैं, शंख बज गए हैं और इस क्षण में उस आदमी के मन में कंपन हैं। हिम्मतवर आदमी है। कंपन को उस युद्ध के बीच स्थल में प्रकट करता है और वहां भी सोच-विचार करता है। इतने संकट में जो सोच-विचार करता है, वह साधारण प्रतिभा नहीं है। मनु से काम न चलेगा, उसे कृष्ण जैसा आदमी चाहिए। मनु वहां होते तो वे कहते कि पढ़ लो मेरी मनुस्मृति, उसमें लिखा है कि आततायी को मारो, कर्तव्य स्पष्ट है।

कर्तव्य सिर्फ नासमझों को सदा स्पष्ट रहा है, समझदारों को कभी स्पष्ट नहीं रहा। समझदार सदा संदिग्ध रहे हैं। क्योंकि समझदार इतना सोचता है और अक्सर दोनों पहलुओं पर सोचता है कि मुश्किल में पड़ जाता है कि कौन सही है, कौन गलत है! गलत और सही की स्पष्टता अज्ञानियों को जितनी होती है, उतनी विचारशील लोगों को नहीं होती।

अज्ञानी के लिए सब साफ होता है, यह गलत है, वह सही है। यह हिंदू है, वह मुसलमान है। यह अपना है, वह पराया है। लेकिन जितना चिंतन आगे बढ़ता है, उतना ही संदेह खड़ा होता है। कौन अपना, कौन पराया? क्या ठीक, क्या गलत? और इस जगत में जो भी मूल्यवान पैदा हुआ है, वह इस चिंतन की पीड़ा के प्रसव को जिन्होंने सहा है, उनसे पैदा हुआ है। अर्जुन ने कष्ट सहा है उस घड़ी में, उस कष्ट के परिणाम में गीता प्रतिसंवेदित हुई है।

नहीं, मनु से काम नहीं चल सकता। उतने जड़ नियम सड़क पर ट्रैफिक के नियम जैसे हैं कि बाएं चलना चाहिए। बिल्कुल ठीक है। इसमें कोई अड़चन नहीं है। उलटा कर लें कि दाएं चलना चाहिए, तो भी कोई तकलीफ नहीं है। अमेरिका में उलटा चलते हैं, लिखा है दाएं चलना चाहिए, तो आदमी दाएं चल रहा है। बाएं चलें, दाएं चलें, तय कर लेने से काम चल जाता है।

लेकिन ये कोई जीवन के परम आधार नहीं हैं। और अगर कोई आदमी सवाल उठाए कि बाएं चलने में ऐसी कौन-सी खूबी है, दाएं क्यों न चला जाए! तो दुनिया में कोई नहीं समझा पाएगा। यह सिर्फ व्यवस्थागत है। और अगर कोई बहुत विचारशील आदमी हो और सवाल उठाए कि बाएं क्या है और दाएं क्या है, तो मुश्किल खड़ी हो जाएगी। कामचलाऊ है।

मनु की जो व्यवस्था है, अत्यंत कामचलाऊ है। कामचलाऊ व्यवस्था के ऊपर प्रश्न उठ रहे हैं अर्जुन के मन में। उसके प्रश्न परम हैं। वह यह पूछ रहा है कि मिल जाएगा राज्य इतनों को मारकर, अपनों को मारकर--क्या होगा अर्थ? क्या होगा प्रयोजन? माना कि जीत जाऊंगा, क्या होगा? माना कि वे आततायी हैं, काट डालेंगे उन्हें, बदला पूरा हो जाएगा--फिर क्या होगा? बदले का क्या अर्थ है? और न मालूम कितने निहत्थे मर जाएंगे, न मालूम कितने निर्दोष मर जाएंगे, जिनका कोई संबंध नहीं है, जो युद्ध में घसीटकर ले आए गए हैं, क्योंकि उनका कहीं कोई संबंध है--उन सबका क्या होगा?

नहीं, उसके प्रश्न ज्यादा कीमती हैं, मनु से काम नहीं चल सकता है।

तस्मान्नार्हा वयं हन्तुं धार्तराष्ट्रान्स्वबान्धवान्।

स्वजनं हि कथं हत्वा सुखिनः स्याम माधव।। 37।।

यद्यप्येते न पश्यन्ति लोभोपहतचेतसः।

कुलक्षयकृतं दोषं मित्रद्रोहे च पातकम्।। 38।।

इससे हे माधव, अपने बांधव धृतराष्ट्र के पुत्रों को मारने के लिए हम योग्य नहीं हैं, क्योंकि अपने कुटुंब को मारकर हम कैसे सुखी होंगे? यद्यपि लोभ से भ्रष्टचित्त हुए ये लोग कुल के नाशकृत दोष को और मित्रों के साथ विरोध करने में पाप को नहीं देखते हैं।

कथं न ज्ञेयमस्माभिः पापादस्मान्निवर्तितुम्।

कुलक्षयकृतं दोषं प्रपश्यद्भिर्जनार्दन।। 39।।

कुलक्षये प्रणश्यन्ति कुलधर्माः सनातनाः।

धर्मे नष्टे कृत्स्नमधर्मोऽभिभवत्युत।। 40।।

परंतु हे जनार्दन, कुल के नाश करने से होते हुए दोष को जानने वाले हम लोगों को इस पाप से हटने के लिए क्यों नहीं विचार करना चाहिए? क्योंकि कुल के नाश होने से सनातन कुलधर्म नष्ट हो जाते हैं। धर्म के नाश होने से संपूर्ण कुल को पाप भी बहुत दबा लेता है!

अर्जुन कह रहा है कि वे विचारहीन हैं, हम भी विचारहीन होकर जो करेंगे, वह कैसे शुभ होगा! माना कि वे गलत हैं, लेकिन गलत के प्रत्युत्तर में हम भी गलत करेंगे, तो क्या वह ठीक होगा! क्या एक गलत का प्रत्युत्तर दूसरे गलत से दिए जाने पर सही का निर्माण करता है! वह यह पूछ रहा है कि भूल है उनकी, तो हम भी भूल करेंगे, तो दो भूलें मिलकर ठीक हो जाती हैं कि दुगुनी हो जाती हैं! माना कि उनका चित्त भ्रमित हो गया है, माना कि उनकी बुद्धि नष्ट हुई है, तो क्या हम भी अपनी बुद्धि नष्ट कर लें! और जो मिलेगा, क्या वह इस योग्य है! क्या उसकी इतनी उपादेयता है! क्या उसका इतना मूल्य है!

ध्यान रखें, इसमें अर्जुन के मन में दोहरी बात चल रही है। एक ओर वह कह रहा है कि क्या इसका कोई मूल्य है! इसमें दो बातें हैं। हो सकता है कोई मूल्य हो और कृष्ण उसे मूल्य बता पाएं, तो वह लड़ने के लिए रेशनलाइज कर ले। हो सकता है, कृष्ण समझा पाएं कि हां मूल्य है; हो सकता है, कृष्ण समझा पाएं कि लाभ है, कल्याण है; हो सकता है, कृष्ण समझा पाएं कि बुराई को बुराई से काट दिया जाएगा, और तब जो शेष बचेगा वह शुभ होगा--तो वह लड़ने के लिए अपने को तैयार कर ले। आदमी अपने को तैयार करने के लिए बुद्धिगत कारण खोजना चाहता है।

अर्जुन के मन में दोनों बातें हैं। वह जिस तरह से प्रश्न को मौजूद कर रहा है, वह यह है कि या तो मुझे भाग जाने के लिए स्वीकृति दें, या तो मैं एस्केप कर जाऊं; और या फिर मैं युद्ध में उतरूं, तो मुझे प्रयोजन स्पष्ट करा दें। वह अपने मन को साफ कर लेना चाहता है। युद्ध में उतरे, तो यह जानकर निश्चितमना, कि जो हो रहा है, वह शुभ हो रहा है। या फिर युद्ध से भाग जाए। ये दो विकल्प उसे दिखाई पड़ रहे हैं। वह दोनों के लिए राजी दिखाई पड़ता है, दो में से कोई भी एक हो जाए।

इसे थोड़ा समझ लेने जैसा है। आदमी सदा से अपने को बुद्धिमान, विचारशील, रेशनल समझता रहा है। अरस्तू ने तो आदमी को रेशनल एनिमल ही कहा है; कहा है कि बुद्धिमान प्राणी है। लेकिन जैसे-जैसे आदमी के संबंध में समझ हमारी बढ़ी है, वैसे-वैसे पता चला है कि उसकी बुद्धिमानी सिर्फ अपनी अबुद्धिमानियों को बुद्धिमानी सिद्ध करने से ज्यादा नहीं है। आदमी का रीजन, सिर्फ उसके भीतर जो इर्रेशनल है, जो बिल्कुल अबौद्धिक है, उसको जस्टिफाई करने की कोशिश में लगा रहा है।

अगर उसे युद्ध करना है, तो पहले वह सिद्ध कर लेना चाहेगा कि युद्ध से मंगल होगा, कल्याण होगा; फिर युद्ध में उतर जाएगा। अगर उसे किसी की गर्दन काटनी है, तो वह पहले सिद्ध कर लेना चाहेगा कि जिसकी गर्दन कट रही है, उसके ही हित में यह कार्य हो रहा है; तब फिर वह गर्दन आसानी से काट सकेगा। अगर उसे आग लगानी है तो वह तय कर लेना चाहेगा कि इस आग लगाने से धर्म की रक्षा होगी, तो वह आग लगाने के लिए तैयार हो जाएगा। आदमी ने, उसके भीतर जो बिल्कुल अबौद्धिक तत्व हैं, उनको भी बुद्धिमानी से सिद्ध कर लेने की निरंतर चेष्टा की है।

अर्जुन भी वैसी ही स्थिति में है। उसके भीतर लड़ने की तैयारी तो है, अन्यथा इस युद्ध के मैदान तक आने की कोई जरूरत न थी। उसके मन के भीतर युद्ध का आग्रह तो है। राज्य वह लेना चाहता है। जो हुआ है उसके साथ, उसका बदला भी चुकाना चाहता है। इसीलिए तो युद्ध के इस आखिरी क्षण तक आ गया है। लेकिन वैसी तैयारी नहीं है, जैसी दुर्योधन की है, जैसी भीम की है। पूरा नहीं है। मन बंटा हुआ है, स्प्लिट है, टूटा हुआ है। कहीं भीतर लग भी रहा है कि गलत है, व्यर्थ है; और कहीं लग भी रहा है कि करना ही पड़ेगा, प्रतिष्ठा का, अहंकार का, कुल का, हजार बातों का सवाल है। दोनों बातें उसके भीतर चल रही हैं। दोहरा उसका मन है, डबल बाइंड है।

और ध्यान रहे, विचारशील आदमी में सदा ही दोहरा मन होता है। विचारहीन में दोहरा मन नहीं होता। निर्विचार में भी दोहरा मन नहीं होता, लेकिन विचारशील आदमी में दोहरा मन होता है। विचारशील आदमी का मतलब है, जो अपने भीतर ही निरंतर डायलाग में और डिसकशन में लगा है, जो अपने भीतर ही विवाद में लगा है। अपने को ही दो हिस्सों में करके, क्या ठीक, क्या ठीक नहीं, इसका उत्तर-प्रत्युत्तर कर रहा है। विचारशील आदमी चौबीस घंटे अपने भीतर चर्चा कर रहा है स्वयं से ही।

वह चर्चा अर्जुन के भीतर चलती रही होगी। समझा-बुझाकर वह अपने को युद्ध के मैदान पर ले आया है कि नहीं, लड़ना उचित है। लेकिन युद्ध की पूरी स्थिति का उसे पता नहीं था।

पिछले महायुद्ध में जिस आदमी ने हिरोशिमा पर एटम बम गिराया, उसे कुछ भी पता नहीं है कि क्या होगा! उसे इतना ही पता है कि एक बटन दबा देनी है और नीचे एटम गिर जाएगा। उसे यह भी पता नहीं है कि इस एटम से एक लाख आदमी मरेंगे। उसे कुछ भी पता नहीं है। उसे सिर्फ एक आर्डर है, एक आज्ञा है, जो उसे पूरी करनी है। और आज्ञा यह है कि उसे जाकर हवाई जहाज से एक बटन दबा देनी है। हिरोशिमा के ऊपर वह बटन दबाकर लौट आया।

जैसे सारी दुनिया को पता चला, ऐसे ही उसको भी पता चला कि एक लाख आदमी मर गए हैं। फिर उसकी नींद हराम हो गई। फिर वह आदमी रात-दिन लाखों मुर्दे देखने लगा। उसके प्राण थरथराने लगे, कंपने लगे। उसके हाथ-पैर में कंपन होने लगा। फिर तो अंततः उसने हमले करने शुरू कर दिए अपने पर; नाड़ी काट डाली एक दिन, सिर पर हथौड़ी मार ली। फिर तो उसे पागलखाने में रखना पड़ा। फिर तो उसने दूसरों पर भी हमले शुरू कर दिए। फिर तो उसे जंजीरों में रखना पड़ा। उसकी नींद बिल्कुल चली गई। और वह आदमी एक ही अपराध की ग्लानि से भर गया, गिल्ट एक ही उसको पकड़ गई कि मैंने लाख आदमी मारे हैं। लेकिन उसे कोई पता नहीं था।

अब जो हमारी युद्ध की व्यवस्था है, बिल्कुल इनह्यूमन है। अब उसमें पता नहीं चलता, मारने वाले को भी पता नहीं चलता कि वह लाख आदमियों की मौत का बटन दबा रहा है। लेकिन महाभारत में स्थिति और थी, सब चीजें सामने थीं। युद्ध सीधा मानवीय था, ह्यूमन था। आमने-सामने सब खड़े थे। अर्जुन देख सकता था रथ पर खड़ा होकर कि क्या होगा परिणाम! उसे दिखाई पड़ने लगा, इनमें फलां मित्र है, वह मरेगा, उसके छोटे बच्चे हैं घर पर।

ध्यान रहे, युद्ध अब जो है, वह इनह्यूमन हो गया है, अमानवीय हो गया है। इसलिए अब बड़ा खतरा है। क्योंकि लड़ने वाले को भी साफ पता नहीं चलता कि क्या होगा! जो हो रहा है, बिल्कुल अंधेरे में हो रहा है। और जो आदमी तय करते हैं उसको, उनके पास भी फिगर होते हैं, आदमी नहीं होते हैं, आंकड़े होते हैं। उनके पास होता है, एक लाख आदमी मरेंगे। एक लाख आदमी मरेंगे, यह सुनकर कुछ भी पता नहीं चलता। एक लाख आदमियों को सामने खड़ा करिए, खड़े हो जाइए मंच पर, देखिए कि ये एक लाख आदमी मरेंगे! तब इनकी एक लाख पत्नियां भी दिखाई पड़ती हैं, इनके लाखों बच्चे भी दिखाई पड़ते हैं। इनकी बूढ़ी मां भी होंगी, इनके पिता भी होंगे। इनकी न मालूम क्या-क्या जिम्मेवारियां होंगी। इन एक लाख को मारने की जिम्मेवारी अगर हिरोशिमा पर बम डालने वाले को सामने होती, तो मैं भी सोचता हूं कि वह आदमी कहता, इससे मैं मर जाना पसंद करूंगा; यह आज्ञा मैं नहीं मानता। उसके सामने भी सवाल उठता, इनको मारना है, क्या नौकरी के लिए?

अर्जुन को सवाल उठा; सामने था सब चित्र। उसे सब दिखाई पड़ने लगा, ये विधवाएं रोती-बिलखती दिखाई पड़ने लगीं। इनमें न मालूम कितने उसके प्रियजन थे, उनकी विधवाएं होंगी, उनके बच्चे तड़फेंगे, रोएंगे। यह सब लाशों से भर जाएगा मैदान। यह इतना साफ उसे दिखाई पड़ा कि अपने को समझा-बुझाकर लाया था कि लड़ना उचित है, वह सब डांवाडोल हो गया। उसके दूसरे मन ने कहना शुरू किया कि यह तू क्या करने जा रहा है! यह तो पाप होगा। इससे बड़ा पाप और क्या हो सकता है? और इसलिए कि राज्य मिल जाए, और इसलिए कि धन मिल जाए, और इसलिए कि थोड़ा सुख मिल जाए, इन सबको मारने की तेरी तैयारी है?

निश्चित ही वह विचारशील आदमी रहा होगा। उसके मन ने इनकार करना शुरू कर दिया। लेकिन इनकार में दूसरा मन भीतर बैठा हुआ है। और वह दूसरा मन भी बोल रहा है कि अगर कोई रेशनलाइजेशन मिल जाए, अगर मिल जाए कि नहीं, इसमें कोई हर्ज नहीं है; यह उचित है बिल्कुल, यह औचित्य मालूम पड़ जाए, तो वह अपने को इकट्ठा कर ले, एकजुट कर ले, युद्ध में उतर जाए।

कृष्ण से पूछते वक्त अर्जुन को भी पता नहीं है कि उत्तर क्या मिलेगा? और कृष्ण से पूछते वक्त अर्जुन को भी साफ नहीं है कि स्थिति बाद में क्या बनेगी? कृष्ण जैसे आदमी प्रिडिक्टेबल नहीं होते। कृष्ण जैसे आदमियों के उत्तर निश्चित नहीं होते, रेडीमेड नहीं होते। कृष्ण जैसे आदमी के साथ पक्का नहीं है कि वे क्या कहेंगे! लेकिन अर्जुन के साथ पक्का है कि वह दो बातें चाह रहा है। या तो यह सिद्ध हो जाए कि यह युद्ध उचित है, नीतिसम्मत

है, धार्मिक है, लाभ होगा, कल्याण होगा, श्रेयस मिलेगा, इस लोक में, परलोक में सुख मिलेगा, तो वह युद्ध में कूद जाएगा। और अगर यह सिद्ध हो जाए कि नहीं हो सकता, तो युद्ध से भाग जाए। उसके सामने दो विकल्प स्पष्ट हैं। और उन दोनों के बीच उसका मन डोल रहा है, और दोनों के बीच उसके भीतर मन का बंटाव है। लड़ना भी चाहता है! अगर उसका मन लड़ना ही न चाहता हो, तो कृष्ण से पूछने की कोई भी जरूरत नहीं है।

अभी मैं एक गांव में था। एक युवक मेरे पास आए और उन्होंने मुझ से पूछा कि मैं संन्यास लेना चाहता हूं। आपकी क्या सलाह है? मैंने कहा, जब तक मेरी सलाह की जरूरत हो, तब तक तुम संन्यास मत लेना। क्योंकि संन्यास कोई ऐसी बात नहीं है कि मेरी सलाह से लिया जा सके। जिस दिन तुम्हें ऐसा लगे कि सारी दुनिया भी कहे कि संन्यास मत लो, तब भी तुम्हें लेने जैसा लगे, तभी तुम लेना। तो ही संन्यास के फूल में आनंद की सुगंध आ सकेगी, अन्यथा नहीं आ सकेगी।

वह अर्जुन सलाह नहीं मांगता, अगर उसको साफ एक मन हो जाता कि गलत है, चला गया होता। उसने कृष्ण से कहा होता कि सम्हालो इस रथ को, ले जाओ इन घोड़ों को जहां ले जाना हो, और जो करना हो करो, मैं जाता हूं। और कृष्ण कहते कि मैं कोई सलाह देता हूं, तो वह कहता कि बिना मांगी सलाह न दुनिया में कभी मानी गई न मानी जाती है। अपनी सलाह अपने पास रखें।

नहीं, लेकिन वह सलाह मांग रहा है। सलाह मांग रहा है, वही बता रहा है कि उसका दोहरा मन है। अभी उसको भी भरोसा है कि कोई सलाह मिल जाए तो युद्ध कर ले; यह भरोसा है उसके भीतर। इसलिए कृष्ण से पूछ रहा है। अगर यह भी पक्का होता कि युद्ध करना उचित है, तब कृष्ण से कोई सलाह लेने की जरूरत न थी, युद्ध की सब तैयारी हो गई थी।

अर्जुन डांवाडोल है; अर्जुन बंटा है, इसलिए वह सारे सवाल उठा रहा है। उसके सवाल महत्वपूर्ण हैं। और जो आदमी भी थोड़ा विचार करते हैं, उन सबकी जिंदगी में ऐसे सवाल रोज ही उठते हैं--जब मन बंट जाता है, और दोहरे उत्तर एक साथ आने लगते हैं, और सब निर्णय खो जाते हैं। अर्जुन संशय की अवस्था में है; डिसीसिवनेस खो गई है।

जब भी आप किसी से सलाह मांगते हैं, तब वह सदा ही इस बात की खबर होती है कि अपने पर भरोसा खो गया है, सेल्फ कांफिडेंस खो गया है। अब अपने से कोई आशा नहीं उत्तर की। क्योंकि अपने से दो उत्तर एक-से बलपूर्वक आ रहे हैं, एक-सी एम्फेसिस लेकर आ रहे हैं। दोनों में तय करना मुश्किल है। कभी एक ठीक, कभी दूसरा ठीक मालूम पड़ता है। तभी आदमी सलाह मांगने जाता है। जब भी कोई आदमी सलाह मांगने जाता है, तब जानना चाहिए, वह भीतर से इतना बंट गया है कि अब उसके भीतर से उसे उत्तर नहीं मालूम पड़ रहा है। ऐसी उसकी दशा है। वह अपनी उसी दशा का वर्णन कर रहा है।

प्रश्नः ओशो, आपने अभी संन्यास के बारे में कुछ कहा। तो यहां जीवन जागृति केंद्र के बुक स्टॉल पर अभिनव संन्यास योजना नामक एक पुस्तिका भी बिक रही है, तो उसमें कहीं लिखा है कि आप गुरु नहीं गवाह बनते हैं, तो वह भी स्पष्ट करें। और साथ में और भी एक सवाल है। अर्जुन और कृष्ण दोनों युद्ध में खड़े हैं, युद्धारंभ में ही गीता के अठारह अध्याय सुनने में अर्जुन कैसे प्रवृत्त हो सकता है और कृष्ण कैसे गीता-प्रवचन सुनाने को व्यस्त हो सकते हैं? सारी सेनाएं भी वहां मौजूद थीं। तो क्या सब कृष्णार्जुन संवाद, प्रश्नोत्तर सुनने में ही व्यस्त थे? क्या वह टाइम साइकोलाजिकल टाइम था या कोई दूसरा था?

कृष्ण से इतनी लंबी चर्चा निश्चित ही प्रश्नवाची है। निश्चय ही प्रश्न उठता है। युद्ध के मैदान पर, जहां कि योद्धा तैयार हों लड़ने को, जूझने को, वहां ये अठारह अध्याय, यह इतनी लंबी किताब, अगर कृष्ण ने बिल्कुल उस तरह से कही हो, जैसे कि गीता-भक्त दोहराते हैं, तो भी काफी समय लग गया होगा। अगर बिना रुके और बिना अर्जुन की तरफ देखे, आंख बंद करके बोलते ही चले गए हों, तब भी काफी वक्त लग जाएगा। यह कैसे संभव हुआ होगा?

दो बातें इस संबंध में। निरंतर यह सवाल गूंजता रहा है। इसलिए कुछ लोगों ने तो यह कह दिया कि गीता महाभारत में प्रक्षिप्त है, वह बाद में डाल दी गई है, यह हो नहीं सकता। कुछ लोगों ने कहा कि वहां संक्षिप्त में बात हुई होगी, फिर उसको विस्तार से बाद में कवि ने फैला दिया है।

दोनों ही बातें मेरे लिए सही नहीं हैं। मेरे लिए तो गीता घटी है, और वैसी ही घटी है जैसी सामने है। लेकिन घटने के क्रम को थोड़ा समझना जरूरी है। यह सारी बातचीत आमने-सामने हुई हो, यह सारी बातचीत जैसे हम और आप बोल रहे हैं, ऐसी हुई हो, तो इसमें कृष्ण और अर्जुन ही भागीदार न रह जाते। इसमें बहुत लोग थे, बड़ी भीड़ थी चारों तरफ। इसमें और लोग भी भागीदार हो गए होते। इसमें और लोगों ने भी सवाल उठाए होते। इसमें और सारे लोग बिल्कुल चुप ही खड़े हैं! इस तरफ भी योद्धा हैं, उस तरफ भी योद्धा हैं। यह बात दोनों की चलती है घंटों। इसमें कोई बोला नहीं बीच में! किसी ने इतना भी न कहा कि यह बातचीत का समय नहीं है, युद्ध का समय है, शंख बज चुके हैं, अब यह चर्चा नहीं चलनी चाहिए!

नहीं, कोई नहीं बोला। मेरे देखे, यह चर्चा टेलीपैथिक है, यह चर्चा सीधी आमने-सामने नहीं हुई है। टेलीपैथी थोड़ी समझनी पड़े, तो ख्याल में आए, अन्यथा ख्याल में नहीं आ पाएगी। एक दो-तीन उदाहरण से समझाने की कोशिश करूंगा।

एक फकीर था अभी यूनान में जार्ज गुरजिएफ। तीन महीने के लिए रूस के एक बहुत बड़े गणितज्ञ आस्पेंस्की और उसके तीस और शिष्यों को लेकर वह तिफलिस के एक छोटे से गांव में जाकर बैठ गया था। इन तीस लोगों को एक बड़े बंगले में उसने कैद कर रखा था। कैद, क्योंकि बाहर निकलने की कोई आज्ञा न थी। और इन तीस लोगों को कहा था कि कोई एक भी शब्द तीन महीने बोलेगा नहीं। न केवल शब्द नहीं बोलेगा, इशारे से भी नहीं बोलेगा, आंख से भी नहीं बोलेगा, हाथ से भी नहीं बोलेगा। कहा था कि ये तीस लोग जो इस मकान में रहेंगे तीन महीने, प्रत्येक को ऐसे रहना है, जैसे वह अकेला ही हो, कोई दूसरा मौजूद ही नहीं है। दूसरे को रिकग्नाइज भी नहीं करना है--आंख से भी, इशारे से भी। दूसरा आस-पास से निकल जाए, तो देखना भी नहीं है। और गुरजिएफ ने कहा कि जिसको भी मैं पकड़ लूंगा जरा-सा इशारा करते हुए भी, दूसरे को स्वीकार करते हुए भी पकड़ लूंगा कि दूसरा निकल रहा था और तुम बचकर निकले, तो भी मैं बाहर कर दूंगा। क्योंकि तुमने दूसरे को स्वीकार कर लिया कि दूसरा यहां है, बातचीत हो गई; तुम बचकर निकले, इशारा हो गया।

पंद्रह दिन में सत्ताइस आदमी बाहर कर दिए गए।

बड़ा मुश्किल मामला था। जहां तीस आदमी मौजूद हों, एक कमरे में दस-दस, बारह-बारह लोग बैठे हों, वहां दूसरों को बिल्कुल भूल ही जाना कि वे हैं ही नहीं, अकेले जीने लगना, कठिन था। इतना कठिन नहीं जितना हम सोचते हैं, क्योंकि तीन आदमी बच ही गए, तीन भी छोटी संख्या नहीं है। इतना कठिन नहीं है, क्योंकि एक आदमी जंगल में बैठकर आंख बंद करके भीड़ में हो जाता है, तो भीड़ में बैठकर अकेला क्यों नहीं हो सकता! मन की सभी क्रियाएं रिवर्सिबल हैं। मन की सभी क्रियाएं उलटी हो सकती हैं। अगर जंगल में बैठकर

आदमी अपनी पत्नी से बातचीत कर सकता है, तो अपनी पत्नी के पास बैठकर बिल्कुल अकेला हो सकता है। इसमें कोई अड़चन नहीं है।

तीन आदमी बच गए, उनमें गणितज्ञ आस्पेंस्की भी था। वह खुद भी एक वैज्ञानिक चिंतक था। और इधर सौ वर्षों में गणित पर शायद सर्वाधिक गहरी किताब उसने लिखी है, टर्शियम आर्गानम। कहते हैं कि यूरोप में तीन बड़ी किताबें लिखी गई हैं अब तक। एक अरस्तू का आर्गानम, फिर बैकन का नोवम आर्गानम, और फिर आस्पेंस्की का टर्शियम आर्गानम। यह बड़ा वैज्ञानिक चिंतक था; यह भी उन तीन में एक बच गया था।

तीन महीने बीत गए। तीन महीने वह ऐसे वहां रहा, जैसे अकेला है। वे कमरों में जो लोग थे, वे तो भूल ही गए; बाहर जो दुनिया थी, वह भी भूल गई। और जो आदमी दूसरों को भूल जाए, वह अपने को भी भूल जाता है; स्मरण रखें। अगर अपने को याद रखना हो, तो दूसरों को याद रखना जरूरी है। क्योंकि मैं और तू एक ही डंडे के दो छोर हैं। इनमें से एक गया कि दूसरा फौरन गया। ये दोनों बचते हैं, या दोनों चले जाते हैं। कोई कहे कि मैं मैं को बचा लूं और तू को भूल जाऊं, तो असंभव है। क्योंकि मैं जो है, वह तू की ही चोट है; वह तू का ही उत्तर है। अगर तू भूल जाए तो मैं बिखर जाता है। अगर मैं भूल जाए तो तू विदा हो जाता है। वे दो एक साथ बचते हैं, अन्यथा नहीं बचते। वे एक ही सिक्के के दो पहलू हैं।

दूसरे भूल गए, यह तो ठीक था, आस्पेंस्की खुद को भी भूल गया। फिर बचा सिर्फ अस्तित्व। तीन महीने बाद, गुरजिएफ सामने बैठा है और आस्पेंस्की भी सामने बैठा है। अचानक आस्पेंस्की को सुनाई पड़ा कि किसी ने बुलाया है और कहा, आस्पेंस्की, सुनो! उसने चौंककर चारों तरफ देखा, कौन है? लेकिन कोई बोल नहीं रहा है। सामने गुरजिएफ बैठा है। उसने गुरजिएफ को गौर से देखा इन तीन महीनों में। गुरजिएफ हंसने लगा। फिर भीतर से आवाज आई, पहचान नहीं रहे हो मेरी आवाज? मैं गुरजिएफ बोल रहा हूं। सामने ओंठ बंद हैं, वह आदमी चुप बैठा है। आस्पेंस्की बहुत हैरान हुआ। उसने कहा कि मैं यह क्या अनुभव कर रहा हूं? वह पहली दफे तीन महीने में बोला।

गुरजिएफ ने कहा कि अब तुम उस जगह आ गए हो मौन की, जहां बिना शब्द के बातचीत की जा सकती है। अब मैं तुमसे सीधे बोल सकता हूं, शब्दों की अब कोई जरूरत नहीं है।

अभी रूस के एक दूसरे वैज्ञानिक फयादोव ने एक हजार मील दूर बिना किसी माध्यम के संदेश भेजने के प्रयोग में सफलता पाई है। आप भी पा सकते हैं, बहुत कठिन मामला नहीं है। कभी एक छोटा-सा प्रयोग घर में कर लें। छोटे बच्चे को चुन लें। अंधेरा कर लें कमरे में, दूसरे कोने में उसे बैठा दें, एक कोने में आप बैठ जाएं। और उस बच्चे से कह दें कि तू आंख बंद कर ले और ध्यान मेरी तरफ रख। और सुनने की कोशिश कर कि मैं कुछ बोल तो नहीं रहा हूं। और एक ही शब्द अपने भीतर बार-बार दोहराए चले जाएंः गुलाब, गुलाब, गुलाब। बोलें मत; भीतर दोहराए चले जाएं। घंटे, आधा घंटे में वह बच्चा बोलने लगेगा कि आप गुलाब बोल रहे हैं। और आप भीतर ही बोलें, आप बाहर मत बोलें।

इससे उलटा भी हो सकता है, लेकिन जरा देर लगेगी। अगर बच्चा वहां बैठकर अपने मन में एक शब्द सोचे और आप पकड़ना चाहें, तो शायद दो-तीन दिन लग जाएंगे। बच्चा जल्दी पकड़ लेगा। आदमी, जिसको हम जिंदगी कहते हैं, उसमें बिगड़ने के सिवाय और कुछ भी नहीं करता। बूढ़े बिगड़े हुए बच्चों से अतिरिक्त और कुछ भी नहीं होते। लेकिन बच्चा घंटे, आधा घंटे में पकड़ना शुरू कर देगा। एक ही शब्द दोहराएं, और अगर एक पकड़ लिया जाए तो फिर अभ्यास से पूरा वाक्य पकड़ा जा सकता है।

कृष्ण और अर्जुन के लिए ध्यान में रखना जरूरी है कि यह चर्चा, बाहर हुई चर्चा नहीं है। यह चर्चा गहरी है और यह चर्चा बिल्कुल भीतरी है। इसलिए इसमें युद्ध के आसपास खड़े लोग भी गवाह नहीं थे। और इसलिए हो सकता है यह भी कि जिन्होंने महाभारत लिखा, उन्होंने पहले गीता उसमें न जोड़ी हो। यह हो सकता है। यह हो सकता है कि इतिहासकार ने, जिसने लिखी है, उसने न जोड़ी हो, लेकिन संजय सुन पा रहा है। क्योंकि संजय, जो देख पाता है इतनी दूर, वह सुन भी पा सकता है। असल में दुनिया को संजय से पहली दफा गीता सुनने को मिली है, कृष्ण से सुनने को पहली दफा नहीं मिली। पहली दफा अर्जुन ने सुनी है, वह सुनना बहुत भीतरी है। उस सुनने का बाहरी कोई प्रमाण नहीं था।

और दूसरी बात आपसे कहना चाहूंगा कि यह टेलीपैथिक कम्युनिकेशन है। गीता एक अंतर्संवाद है, जिसमें शब्दों का ऊपर उपयोग नहीं हुआ है। महावीर के संबंध में कहा जाता है कि वे कभी नहीं बोले। और जितने उनके शब्द हैं, वे उन्होंने नहीं बोले। उनके पास लोग खड़े रहते थे, महावीर उनसे बोलते--ऊपर से नहीं, क्योंकि हजारों लोग सुनने आए होते, उनको कुछ सुनाई न पड़ता--फिर वह आदमी जोर से बोलता कि महावीर ऐसा कहते हैं।

इसलिए महावीर की वाणी को शून्य वाणी, शब्दहीन वाणी कहा गया है। उन्होंने सीधा कभी नहीं बोला। किसी से भीतर से बोला और किसी ने उसे बाहर प्रकट किया। करीब-करीब ऐसे ही जैसे इस माइक से मैं बोल रहा हूं और आप सुन रहे हैं। माइक की तरह एक आदमी का भी उपयोग हो सकता है।

कृष्ण और अर्जुन के बीच जो बात हुई थी, अगर संजय ने न सुनी होती तो खो गई होती। बहुत-सी और बातें भी बहुत बार हुई हैं और खो गई हैं। महावीर के बहुत वचन उपलब्ध नहीं हैं।

बुद्ध ने एक दिन अपने सारे भिक्षुओं को इकट्ठा किया। और हाथ में एक कमल का फूल लेकर वे वहां आए। फिर बैठ गए और उस कमल के फूल को देखने लगे और देखते रहे। लोग हैरान हो गए, थोड़ी देर में बेचैनी शुरू हो गई, कोई खांसा होगा, किसी ने करवट बदली होगी, क्योंकि बहुत देर हो गई। वे चुप क्यों बैठे हैं! बोलें, बोलें, बोलें। फिर आखिर आधा घंटा बीतने लगा, तो बेचैनी बहुत बढ़ गई। किसी ने खड़े होकर कहा, आप क्या कर रहे हैं? हम आपको सुनने आए हैं। आप बोलते नहीं! बुद्ध ने कहा, मैं बोल रहा हूं, सुनो, सुनो। लेकिन लोगों ने कहा, आप कुछ बोलते नहीं, क्या सुनें?

तभी एक भिक्षु, जिसका नाम था महाकाश्यप, वह हंसने लगा। तो बुद्ध ने उसे बुलाकर वह फूल दे दिया। और कहा कि सुनो, जो शब्द से बोला जा सकता था, वह मैं तुमसे कह चुका; और जो शब्द से नहीं बोला जा सकता था, भीतर ही बोला जा सकता था, वह मैंने महाकाश्यप से कह दिया है। अब तुम्हें पूछना हो तो महाकाश्यप से पूछ लेना।

महाकाश्यप से बुद्ध ने क्या कहा, यह अब तक बुद्ध के भिक्षु पूछते हैं एक-दूसरे से। क्योंकि वह महाकाश्यप से जब भी किसी ने पूछा, तो वह हंसने लगा और उसने कहा, जब बुद्ध न कह सके, तो मैं क्यों उपद्रव में पड़ूं! उसने कहा कि कहना होता तो बुद्ध ही तुम से कह देते। और जब वे भूल-चूक नहीं किए, तो मैं करने वाला नहीं हूं।

फिर महाकाश्यप ने किसी को फिर मौन से कहा, फिर उस आदमी ने भी किसी से नहीं कहा--और ऐसे छः आदमियों की परंपरा। और तब छठवां आदमी था बोधिधर्म, उसने पहली दफा उस बात को कहा। इस बीच कोई नौ सौ वर्ष बीत गए। बोधिधर्म ने पहली दफे वह कहा, जो बुद्ध ने महाकाश्यप से कहा था। और उसने क्यों

कहा? क्योंकि जब बोधिधर्म ने चीन में पहली दफे जाकर कहा कि अब मैं वह कहता हूं जो बुद्ध ने महाकाश्यप से कहा था, तो लोगों ने कहा, अब तक किसी ने नहीं कहा, तुम क्यों कहते हो! तो उसने कहा कि अब चुपचाप सुनने वाला कोई भी उपलब्ध नहीं है। इसलिए मजबूरी है और मैं मरने के करीब हूं। वह बात खो जाएगी जो बुद्ध ने महाकाश्यप से कही थी। अब जितनी भी गलत-सही मुझसे बन सकती है, मैं कहे देता हूं।

यह एक घटना है। इसलिए पहली बात आपसे कहूं, गीता कृष्ण और अर्जुन के बीच मौन-संवाद में घटी है। दूसरी बात आप से कहूं कि मौन-संवाद का टाइम-स्केल अलग है। इसे समझना भी जरूरी होगा। नहीं तो आप कहेंगे कि मौन-संवाद में भी तो कम से कम घंटे, डेढ़ घंटे, दो घंटे तो लगते ही। क्योंकि इससे क्या फर्क पड़ता है कि मैं आपसे ऊपर से कहूं कि भीतर से कहूं; समय तो लगेगा! तब आपको थोड़ा समय के स्केल को, समय की सारणी को समझना पड़ेगा।

आपको कभी एक दफा कुर्सी पर बैठे-बैठे झपकी लग जाती है और आप एक सपना देखते हैं। और सपने में देखते हैं कि आपकी शादी हो गई, घर बस गया, नौकरी लग गई, मकान खरीद लिया, बच्चे हो गए, बच्चे बड़े हो गए, शहनाई बज रही है, लड़के की शादी हो रही है। और तभी कोई आपको बगल से आपका आफिसर आकर उठाता है। और आप घड़ी में देखते हैं, और पाते हैं कि मुश्किल से एक मिनट बीता है झपकी लगे। तब बड़ी मुश्किल होती है कि एक मिनट में इतना लंबा उपद्रव कैसे हुआ होगा! आधी जिंदगी लग जाती है इतना उपद्रव करने में। तीस-चालीस साल लग जाते हैं, यह एक मिनट में कैसे हुआ? लेकिन बिल्कुल हुआ।

असल में ड्रीम-टाइम अलग है। उसका स्केल अलग है। स्वप्न की जो समय की धारणा है, बिल्कुल अलग है। इसलिए एक मिनट के सपने में जिंदगीभर के सपने देखे जा सकते हैं। एक मिनट में पूरी जिंदगी देखी जा सकती है।

आमतौर से लोग कहते हैं कि जब कोई नदी में डूबकर मरता है, तो आखिरी डुबकी में अपनी पूरी जिंदगी को फिर से देख लेता है। देख सकता है, इसमें कोई बहुत कठिनाई नहीं है। समय अलग है स्वप्न का, जागने का समय अलग है। लेकिन जागने में भी समय का स्केल चौबीस घंटे एक-सा नहीं रहता। उसमें पूरे वक्त बदलाहट होती रहती है, वह फ्लिकर करता है।

जैसे जब आप दुख में होते हैं तो समय लंबा हो जाता है, और जब सुख में होते हैं तो छोटा हो जाता है। कोई प्रियजन पास आकर बैठ जाता है, घंटा बीत जाता है, लगता है, अभी तो आए थे, क्षणभर हुआ है। और कोई दुश्मन आकर बैठ जाता है, और क्षणभर भी नहीं बैठता है कि ऐसा लगता है, कब जाएगा! जिंदगी बीती जा रही है। घड़ी में तो उतना ही समय चलता है, लेकिन आपके मन के समय की धारणा पूरे वक्त छोटी-बड़ी होती रहती है।

घर में कोई मर रहा हो, रातभर उसकी खाट के पास बैठें तो ऐसा लगेगा कि इटरनिटी हो गई, अनंत मालूम पड़ता है। अनंत मालूम पड़ता है। रात खतम होती नहीं मालूम पड़ती। कब होगी खतम! लेकिन वही कोई अपने प्रियजन के साथ नृत्य कर रहा है, और रात ऐसे भागने लगती है कि आज रात दुश्मन है और जल्दी कर रही है। और रात जल्दी से भाग जाती है और सुबह आ जाती है। और ऐसा लगता है, सांझ और सुबह के बीच में कोई वक्त ही नहीं था। बस, सांझ आई और सुबह आ गई। बीच का वक्त गिर जाता है।

सुख में समय छोटा मालूम होता है। छोटा हो जाता है; मालूम होता नहीं, हो ही जाता है। दुख में बड़ा हो जाता है। दिन में भी, जागते में भी समय पूरे वक्त बदल रहा है। और अगर कभी आनंद का अनुभव किया हो, तो समय समाप्त हो जाता है।

जीसस से किसी ने पूछा कि तुम्हारे प्रभु के राज्य में खास बात क्या होगी? तो जीसस ने कहा, देयर शैल बी टाइम नो लांगर-- समय नहीं होगा। खास बात यह होगी। तो उन्होंने पूछा कि यह हमारी समझ में नहीं आता कि समय नहीं होगा, तो फिर सब काम कैसे चलेगा!

आनंद के क्षण में समय नहीं होता। अगर कभी ध्यान का एक क्षण भी आपके भीतर उतरा है, कभी आनंद का एक क्षण भी आपको नचा गया है, तो उस वक्त समय नहीं होता; समय समाप्त हो गया होता है। इस संबंध में दुनिया के वे सारे लोग सहमत हैं--चाहे महावीर, चाहे बुद्ध, चाहे लाओत्से, चाहे जीसस, चाहे मोहम्मद, चाहे कोई और--वे सब राजी हैं कि वह जो क्षण है आत्म-अनुभव का, आनंद का, ब्रह्म का, वह टाइमलेस मोमेंट है; वह समयरहित क्षण है; वह कालातीत है।

तो जो टेलीपैथी का समय है, उसके स्केल अलग हैं। क्षणभर में भी यह बात हो सकती है, जिसके लिए डेढ़ घंटा लिखने में लगे। आपने क्षणभर में जो सपना देखा है, अगर लिखिएगा तो आपको डेढ़ घंटा लगेगा। आप कहेंगे, बड़ी अजीब बात है। देखा क्षणभर में और लिखने में डेढ़ घंटा लग रहा है! क्या कारण है? क्या वजह है?

तीसरी बात इसलिए और आपको ख्याल में दे दूं। वजह यह है कि जब आपके भीतर कोई घटना घटती है, तब वह साइमलटेनियस घटती है, वह युगपत घटती है। जैसे मैं आपको देख रहा हूं, तो मैं आपको इकट्ठा देख रहा हूं एक ही क्षण में। लेकिन अगर आपकी गिनती करने आऊं, तो एक-एक की गिनती करूंगा। और तब लीनियर हो जाएगा; एक रेखा में मुझे आपकी गिनती करनी पड़ेगी; उसमें घंटों लग जाएंगे। आपको जब देखा, तो मैंने सबको देखा आपको। वह एक क्षण में एक साथ हो गया। लेकिन जब गिना और कहीं आपके नाम लिखूं रजिस्टर पर, तो बहुत घंटे लग जाएंगे।

तो जब आप सपने को देखते हैं, तो युगपत घट जाता है। जब आप उसको लिखते हैं कागज पर, तब आप लंबाई में लिखते हैं, युगपत नहीं रह जाता। एक-एक घटना लिखनी पड़ती है। तब वह लंबी हो जाती है, समय ज्यादा ले लेती है।

गीता जब लिखी गई या संजय ने जब कही धृतराष्ट्र को कि ऐसी-ऐसी बात हो रही है वहां कृष्ण और अर्जुन के बीच, तब उसमें वक्त लगा होगा उतना ही, जितना वक्त अभी गीता पढ़ते वक्त आपको लगेगा--उतना ही। लेकिन कृष्ण और अर्जुन के बीच समय कितना लगा, यह तब तक आपको ख्याल में आना मुश्किल है, जब तक आपको टेलीपैथी का थोड़ा-सा अनुभव न हो।

हमारे हिसाब से समय का कोई मूल्य नहीं है वहां। इसलिए हो सकता है, किसी भी योद्धा को पता भी न चला हो कि कृष्ण और अर्जुन के बीच क्या घटा! एक क्षण में हो गया हो। रथ जाकर खड़ा हुआ हो; अर्जुन निढाल होकर बैठ गया हो और एक क्षण में यह सारी बात हो गई हो, जो हुई है।

एक छोटी-सी कहानी, फिर हम दूसरा श्लोक लें।

सुना है मैंने, नारद के जीवन में एक कहानी है। यह जगत माया है, यह जगत माया है--बड़े-बड़े ज्ञानियों से नारद ने सुना है। फिर स्वयं भगवान से जाकर उन्होंने पूछा कि मेरी समझ में नहीं आता; जो है, वह माया कैसे हो सकता है? जो है, वह है! वह माया कैसे हो सकता है? उसके इलूजरी, उसके माया होने का क्या मतलब है? धूप तपती है तेज, आकाश में सूरज है, दोपहर है। भगवान ने कहा कि मुझे बड़ी प्यास लगी है--फिर पीछे समझाऊं--थोड़ा पानी ले आ।

नारद पानी लेने गए। गांव में प्रवेश किया। दोपहर है, लोग अपने घरों में सो रहे हैं। एक दरवाजे पर दस्तक दी। एक युवती बाहर आई। नारद भूल गए भगवान को। कोई भी भूल जाए। जिसको सदा याद किया जा

सकता है, उसको याद करने की इतनी जल्दी भी क्या है! भूल गए। और जब भगवान को ही भूल गए, तो उनकी प्यास का क्या सवाल रहा! किसलिए आए थे, याद न रहा। लड़की को देखते रहे; मोहित हो गए। निवेदन किया कि मैं विवाह का प्रस्ताव लेकर आया हूं। पिता बाहर थे। उस लड़की ने कहा, पिता को आ जाने दें, तब तक आप विश्राम करें।

विश्राम किया। पिता आए। राजी हो गए। विवाह हो गया। फिर चली कहानी। बच्चे हुए, चार-छह बच्चे पैदा हो गए। काफी वक्त लगा। पिता मर भी गया, ससुर मर भी गए। बूढ़े हो गए नारद। पत्नी भी बूढ़ी हो गई, बच्चों की लाइन लग गई। बाढ़ आ गई। वर्षा के दिन हैं। गांव डूब गया। अब अपने पत्नी-बच्चों को बचाकर किसी तरह बाढ़ पार कर रहे हैं। बूढ़े हैं, शक्ति नहीं है पास। बड़ी मुश्किल में पड़ गए हैं। पत्नी को बचाते हैं, तो बच्चे बहे जाते हैं; बच्चों को बचाते हैं, तो पत्नी बही जाती है। बाढ़ है तेज और सबको बचाने में सब बह जाते हैं। नारद अकेले थके-मांदे तट पर जाकर लगते हैं। आंखें बंद हैं, आंसू बह रहे हैं। और कोई पूछता है कि उठो; बड़ी देर लगा दी; सूरज ढलने के करीब हो गया और हम प्यासे ही बैठे हैं। पानी अब तक नहीं लाए?

नारद ने आंख खोली; देखा, भगवान खड़े हैं। उन्होंने कहा, अरे, मैं तो भूल ही गया। मगर इस बीच तो बहुत कुछ हो गया। आप कहते हैं, अभी सिर्फ सूरज ढल रहा है? उन्होंने कहा, सूरज ही ढल रहा है। चारों तरफ देखा, बाढ़ का कोई पता नहीं है। पूछा, बच्चे-पत्नी? भगवान ने कहा, कैसे बच्चे, कैसी पत्नी? कोई सपना तो नहीं देखते थे? भगवान ने कहा कि तुम पूछते थे कि जो है, वह माया कैसे हो सकता है? जो है, वह माया नहीं है। लेकिन जो है, उसे समय के माध्यम से देखने से वह सब माया हो जाता है। और जो है, उसे समय के अतिरिक्त, समय का अतिक्रमण करके देखने से वह सब सत्य हो जाता है। संसार समय के माध्यम से देखा गया सत्य है। सत्य समय-शून्य माध्यम से देखा गया संसार है।

यह जो घटना घटी है, यह घटना आंतरिक है और समय की परिधि के बाहर है।

अधर्माभिभवात्कृष्ण प्रदुष्यन्ति कुलस्त्रियः।
स्त्रीषु दुष्टासु वार्ष्णेय जायते वर्णसंकरः।। 41।।
संकरो नरकायैव कुलघ्नानां कुलस्य च।
पतन्ति पितरो ह्येषां लुप्तपिण्डोदकक्रियाः।। 42।।

तथा हे कृष्ण, पाप के अधिक बढ़ जाने से कुल की स्त्रियां दूषित हो जाती हैं। और हे वार्ष्णेय, स्त्रियों के दूषित होने पर वर्णसंकर उत्पन्न होता है।

और वह वर्णसंकर कुलघातियों को और कुल को नर्क में ले जाने के लिए ही (होता) है। लोप हुई पिंड और जल की क्रिया वाले इनके पितर लोग भी गिर जाते हैं।

दोषैरेतैः कुलघ्नानां वर्णसंकरकारकैः।
उत्साद्यन्तेजातिधर्माः कुलधर्माश्च शाश्वताः।। 43।।
उत्सन्नकुलधर्माणां मनुष्याणां जनार्दन।
नरकेऽनियतं वासो भवतीत्यनुशुश्रुम।। 44।।

और इन वर्णसंकरकारक दोषों से कुलघातियों के सनातन कुलधर्म और जातिधर्म नष्ट हो जाते हैं।

हे जनार्दन, नष्ट हुए कुलधर्म वाले मनुष्यों का अनंत काल तक नर्क में वास होता है, ऐसा हमने सुना है।

अर्जुन बहुत-बहुत मार्गों से क्या-क्या बुरा हो जाएगा युद्ध में, उसकी खोजबीन कर रहा है। उसके मन में बहुत-बहुत बुराइयां दिखाई पड़ रही हैं। अभी ही नहीं, आगे भी, संतति कैसी हो जाएगी, वर्ण कैसे विकृत हो जाएंगे, सनातन धर्म कैसे नष्ट हो जाएगा, वह सब खोज रहा है। यह बहुत अजीब-सा लगेगा कि उसे इस सब की चिंता क्यों है!

लेकिन अगर हिरोशिमा के बाद बर्ट्रेंड रसेल और पश्चिम के समस्त युद्ध-विरोधी लोगों का साहित्य देखें, तो हैरान होंगे। वे भी सब यही कह रहे हैं। बच्चे विकृत हो जाएंगे, व्यवस्था नष्ट हो जाएगी, सभ्यता नष्ट हो जाएगी, धर्म खो जाएगा, संस्कृति खो जाएगी। जो-जो अर्जुन को ख्याल आ रहा है, वह-वह ख्याल हिरोशिमा के बाद सारी दुनिया के शांतिवादी लोगों को आ रहा है। शांतिवादी--शांतिवादी कह रहा हूं--शांतिवादी युद्ध से क्या-क्या बुरा हो जाएगा, उसकी तलाश में लगता है। लेकिन उसकी सारी तलाश, जैसा मैंने कहा, उसके भीतर पलायन की जो वृत्ति पैदा हो रही है, उसके समर्थन में कारण खोजने की होती है।

हम वही खोज लेते हैं, जो हम करना चाहते हैं। लेकिन दिखाई ऐसा पड़ता है कि जो होना चाहिए, वही हम कर रहे हैं। हम जो करना चाहते हैं, हम उसकी ही दलीलें खोज लेते हैं। और जिंदगी में सब की दलीलों के लिए सुविधा है। जो आदमी जो करना चाहता है, उसके लिए पक्ष की सारी दलीलें खोज लेता है।

एक आदमी ने अमेरिका में एक किताब लिखी है कि तेरह तारीख या तेरह का आंकड़ा, तेरह की संख्या खतरनाक है। बड़ी किताब लिखी है। और सब खोज लिया उसने कि तेरहवीं मंजिल पर से कौन आदमी गिरकर मरा। तो आज तो अमेरिका के कई होटलों में तेरहवीं मंजिल ही नहीं है उस किताब के प्रभाव में, क्योंकि तेरहवीं पर कोई ठहरने को राजी नहीं है। बारहवीं के बाद सीधी चौदहवीं मंजिल आ जाती है। तेरह तारीख को अस्पताल में जो लोग भर्ती होते हैं, उनमें से कितने मर जाते हैं, तेरह तारीख को कितने एक्सिडेंट होते हैं सड़क पर, तेरह तारीख को कितने लोगों को कैंसर होता है, तेरह तारीख को कितने हवाई जहाज गिरते हैं, तेरह तारीख को कितनी मोटरें टकराती हैं--तेरह तारीख को क्या-क्या उपद्रव होता है, उसने सब इकट्ठा कर लिया है। बारह को भी होता है, ग्यारह को भी होता है--उतना ही। लेकिन वह उसने छोड़ दिया है। तेरह का सब इकट्ठा कर लिया है।

कोई अगर ग्यारह तारीख के खिलाफ हो, तो वह ग्यारह तारीख के लिए यह सब इकट्ठा कर लेगा। अगर कोई तेरह तारीख के पक्ष में हो, तो तेरह तारीख को बच्चे भी पैदा होते हैं, तेरह तारीख को हवाई जहाज नहीं भी गिरते हैं, तेरह तारीख को अच्छी घटनाएं भी घटती हैं, विवाह भी होते हैं, तेरह तारीख को मित्रता भी बनती है, तेरह तारीख को विजय-उत्सव भी होते हैं, तेरह तारीख को भी सब अच्छा भी होता है। आदमी का चित्त उसे खोज लेता है, जो वह चाहता है।

अभी वह पलायन चाहता है अर्जुन, तो वह यह सब खोज रहा है। कल तक उसने यह बात नहीं कही थी कभी भी। कल तक उसे आने वाली संतति को क्या होगा, कोई मतलब न था। युद्ध के आखिरी क्षण तक उसे कभी इन सब बातों का ख्याल न आया, आज सब ख्याल आ रहा है! आज उसके मन को पलायन पकड़ रहा है, तो वह सब दलीलें खोज रहा है।

अब यह बड़े मजे की बात है कि कुल मामला इतना है कि वह अपनों को मारने से भयभीत हो रहा है। लेकिन दलीलें बहुत दूसरी खोज रहा है। वह सब दलीलें खोज रहा है। मामला कुल इतना है कि वह ममत्व से पीड़ित है, मोह से पीड़ित है, अपनों को मारने की हिम्मत नहीं जुटा पा रहा है। इतनी-सी बात है, लेकिन इसके आस-पास वह बड़ा जाल, फिलासफी खड़ी कर रहा है।

हम सब करते हैं। छोटी-सी बात जो होती है, अक्सर ऐसा होता है कि वह बात हम छोड़ ही देते हैं, जो होती है; उसके आस-पास जो जाल हम खड़ा करते हैं, वह बहुत दूसरा होता है। एक आदमी को किसी को मारना है, तो वह बहाने खोज लेता है। एक आदमी को क्रोध करना है, तो वह बहाने खोज लेता है। एक आदमी को भागना है, तो वह बहाने खोज लेता है। आदमी को जो करना है, वह पहले आता है; और बहाने खोजना पीछे आता है।

वह कृष्ण देख रहे हैं और हंस रहे हैं। समझ रहे हैं कि ये सब जो दलीलें वह दे रहा है, ये चालबाजी की दलीलें हैं; ये दलीलें वास्तविक नहीं हैं; ये सही नहीं हैं। यह उसकी अपनी दृष्टि नहीं है। क्योंकि उसने कभी आज तक किसी को मारते वक्त नहीं सोचा। कोई ऐसा पहला मौका नहीं है कि वह मार रहा है। वह निष्णात योद्धा है। मारना ही उसकी जिंदगीभर का अनुभव और कुशलता है। मारना ही उसका बल है, तलवार ही उसका हाथ है, धनुष-बाण ही उसकी आत्मा है। ऐसा आदमी नहीं है कि कोई तराजू पकड़े बैठा रहा हो और अचानक युद्ध पर लाकर खड़ा कर दिया गया हो। इसलिए उसकी बातों पर कृष्ण जरूर हंस रहे होंगे। वे जरूर देख रहे होंगे कि आदमी कितना चालाक है!

सब आदमी चालाक हैं। जो कारण होता है, उसे हम भुलाते हैं। और जो कारण नहीं होता है, उसके लिए हम दलीलें इकट्ठी करते हैं। और अक्सर ऐसा होता है कि खुद को ही दलीलें देकर हम समझा लेते हैं और मूल कारण छूट जाता है।

लेकिन कृष्ण चाहेंगे कि उसे मूल कारण ख्याल में आ जाए। क्योंकि मूल कारण अगर ख्याल में हो, तो समझ पैदा हो सकती है। और अगर मूल कारण छिपा दिया जाए और दूसरे फाल्स रीजन्स, झूठे कारण इकट्ठे कर लिए... ।

अर्जुन को क्या मतलब है कि आगे क्या होगा? धर्म की उसे कब चिंता थी कि धर्म विनष्ट हो जाएगा! कब उसने फिक्र की थी कि ब्राह्मण, कि कहीं कुल विकृत न हो जाएं? कब उसने फिक्र की थी? इन सब बातों की कोई चिंता न थी कभी। आज अचानक सब चिंताएं उसके मन पर उतर आई हैं!

यह समझने जैसा है कि ये सारी चिंताएं क्यों उतर रही हैं, क्योंकि वह भागना चाहता है। भागना चाहता है, तो ऐसा नहीं दिखाएगा कि कायर है। वजह से भागेगा। रीजनेबल होगा उसका भागना। कहेगा कि इतने कारण थे, इसलिए भागता हूं। अगर बिना कारण भागेगा, तो दुनिया हंसेगी। यहीं उसकी चालाकी है। यहीं हम सब की भी चालाकी है। हम जो भी कर रहे हैं, उसके लिए पहले कारण का एक जाल खड़ा करेंगे। जैसे मकान को बनाते हैं, तो एक स्ट्रक्चर खड़ा करते हैं, ऐसे हम एक जाल खड़ा करेंगे। उस जाल से हम दिखाएंगे कि यह ठीक है। लेकिन मूल कारण बिल्कुल और होगा।

अगर कृष्ण को यह साफ दिखाई पड़ जाए कि अर्जुन जो कह रहा है, वही कारण है, तो मैं नहीं मानता कि वे धर्म का विनाश करवाना चाहेंगे; मैं नहीं मानता कि वे चाहेंगे कि बच्चे विकृत हो जाएं; मैं नहीं सोचता कि वे चाहेंगे कि संस्कृति, सनातन-धर्म नष्ट हो जाए। नहीं वे चाहेंगे। लेकिन ये कारण नहीं हैं। ये फाल्स सब्स्टीट्यूट्स हैं, ये झूठे परिपूरक कारण हैं। इसलिए कृष्ण इनको गिराने की कोशिश करेंगे, इनको काटने की कोशिश करेंगे। वे अर्जुन को वहां लाएंगे, जहां मूल कारण है। क्योंकि मूल कारण से लड़ा जा सकता है, लेकिन झूठे कारणों से लड़ा नहीं जा सकता। और इसलिए हम मूल को छिपा लेते हैं और झूठे कारणों में जीते हैं।

यह अर्जुन की मनोदशा ठीक से पहचान लेनी जरूरी है। यह रीजन की कनिंगनेस है, यह बुद्धि की चालाकी है। सीधा नहीं कहता कि मैं भाग जाना चाहता हूं; नहीं होता मन अपनों को मारने का; यह तो

आत्मघात है; मैं जा रहा हूं। सीधा नहीं कहता। दुनिया में कोई आदमी सीधा नहीं कहता। जो आदमी सीधा कहता है, उसकी जिंदगी में क्रांति हो जाती है; जो इरछा-तिरछा कहता रहता है, उसकी जिंदगी में कभी क्रांति नहीं होती। वह जिसको कहते हैं झाड़ी के आसपास पीटना, बीटिंग अराउंड दि बुश; बस, ऐसे ही वह पीटेगा पूरे वक्त। झाड़ी बचाएगा, आसपास पिटाई करेगा। अपने को बचाएगा और हजार-हजार कारण खोजेगा। छोटी-सी बात है सीधी उसकी, हिम्मत खो रहा है, ममत्व के साथ हिम्मत जा रही है। उतनी सीधी बात नहीं कहेगा और सारी बातें इकट्ठी कर रहा है। उसके कारण सुनने और समझने जैसे हैं। हमारा चित्त भी ऐसा करता है, इसलिए समझना उपयोगी है।

प्रश्नः ओशो, अर्जुन के चित्त ने जो कुछ भी कारण बताए, उसमें है कि कुलधर्म का क्षय होने से दूषित स्त्रियों से वर्णसंकर प्रजा का जन्म होता है। जो प्रजा पिंड और तर्पण क्रिया नहीं करती है, उससे उनके पितृगण नर्क में जाते हैं। तो क्या पितृगण पिंडदान नहीं देने पर भूखे मरते हैं? यह क्या अर्जुन के चित्त की भ्रांति ही है?

नहीं! अर्जुन के कारण सब अत्यंत ऊपरी, अत्यंत व्यर्थ हैं। कोई पितृगण आपके पिंड से बंधकर नहीं जीते हैं। और अगर आपके पिंडदान से किन्हीं जा चुके पितृगणों की आगे की यात्रा बिगड़ती हो, तब तो पिंडदान बड़ी खतरनाक बात है। आत्माएं अपने ही भीतर से अपनी यात्रा पर निकलती हैं। आपने उनके पीछे क्या किया और क्या नहीं किया, इससे उनकी यात्रा का कोई भी संबंध नहीं है।

लेकिन पुरोहितों का एक जाल है जगत में। और पुरोहितों का जाल जन्म से लेकर मृत्यु तक आदमी को कसता है, मरने बाद भी कसता है। और बिना आदमी को भयभीत किए आदमी का शोषण नहीं किया जा सकता। भय ही शोषण का आधार है। तो बेटे का शोषण किया जा सकता है, मरे हुए बाप के लिए भी भय दिखाकर।

अर्जुन वह सब बातें कर रहा है। वह उसने सुनी होंगी। वह सब उसके आसपास हवा में रही होंगी। तब थीं, तब तो आश्चर्य नहीं, अभी भी हैं। पांच हजार साल पहले अर्जुन ने सुनी होंगी, कोई आश्चर्य की बात नहीं, अभी भी हैं। अर्जुन जो कह रहा है, उसने जो सुना होगा हवा में, जो पुरोहित समझाते रहे होंगे आसपास, वही कह रहा है। उसे कोई मतलब नहीं है। वह तो वे सब दलीलें इकट्ठी परेड करवा रहा है कृष्ण के सामने कि साबित हो जाए कि वह भाग रहा है, तो भागना ही धर्म है, उचित है। वह इसीलिए ये सारी दलीलें ला रहा है। लेकिन इनमें कोई भी सत्य नहीं है। और न ही कोई वर्णसंकर से कोई विकृति होती है।

उस दिन ख्याल था। अभी भी है। करपात्री और शंकराचार्य से पूछिए, तो यही ख्याल है। कुछ लोगों के ख्याल बदलते ही नहीं, सारी दुनिया में सब बदल जाए! कुछ लोग ख्याल को ऐसा पकड़ते हैं कि ख्याल के नीचे से सारी जिंदगी निकल जाती है, लेकिन मुर्दा ख्याल को पकड़े रह जाते हैं।

क्रास ब्रीडिंग--जिसको वर्णसंकर कह रहा है अर्जुन--श्रेष्ठतम ब्रीडिंग है। क्रास ब्रीडिंग से संभावना श्रेष्ठतर होने की है। बीज में आप पूरी तरह उपयोग कर रहे हैं। उस वक्त आप ख्याल में नहीं लाते कि अर्जुन के खिलाफ जा रहे हैं। जानवरों में उपयोग कर रहे हैं। आदमी में अभी उपयोग नहीं कर रहे हैं। इसलिए आज आदमी की ब्रीडिंग जानवरों से भी पिछड़ी हुई ब्रीडिंग है।

आज हम जितने अच्छे कुत्ते पैदा कर लेते हैं कुत्तों में, उतना अच्छा आदमी आदमी में पैदा नहीं कर पाते। आदमी की अभी भी संतति की व्यवस्था एकदम अवैज्ञानिक है। अर्जुन के वक्त में तो रही ही होगी, आज भी है।

आज भी आदमी से श्रेष्ठतर आदमी, मन और शरीर की दृष्टि से स्वस्थ, ज्यादा आयुष्य वाला, ज्यादा प्रतिभाशाली पैदा हो सके, इस तरफ हमारा कोई ख्याल नहीं है। बीज की हम फिक्र करते हैं। बीज अच्छे से अच्छा होता जा रहा है--फलों का, फूलों का, गेहूं का। पशुओं में हम अच्छे से अच्छे पशु पैदा करने की फिक्र करते हैं। आदमी में अभी भी फिक्र नहीं है।

लेकिन पुराने वक्त में ऐसा ख्याल था कि अगर दूसरी जाति से मिलना हुआ, तो जो बच्चा पैदा होगा वह वर्णसंकर हो जाएगा। सच तो यह है कि इस जगत में जितनी भी प्रतिभाशाली जातियां हैं, वे सब वर्णसंकर हैं। और जितनी शुद्ध जातियां हैं, वे बिल्कुल पिछड़ गई हैं। नीग्रो बिल्कुल शुद्ध हैं; अफ्रीका के जंगलों में रहने वाले आदमी बिल्कुल शुद्ध हैं; हिंदुस्तान के आदिवासी बिल्कुल शुद्ध हैं। जितनी भी विकासमान संस्कृतियां हैं, सभ्यताएं हैं, वे सभी वर्णसंकर हैं।

असल में, जैसे दो नदियां मिलकर ज्यादा समृद्ध हो जाती हैं, वैसे ही जीवन की दो विभिन्न धाराएं भी मिलकर ज्यादा समृद्ध हो जाती हैं। अगर अर्जुन ठीक है, तब तो बहन और भाई की शादी करवा देनी चाहिए, उससे बिल्कुल शुद्ध बच्चे पैदा होंगे। लेकिन बहन और भाई की शादी से शुद्ध बच्चा पैदा नहीं होता, सिर्फ रुग्ण बच्चा पैदा होता है। बहन और भाई को हम बचाते हैं। जो बुद्धिमान हैं, वे चचेरे भाई और बहन को भी बचाते हैं। जो उनसे भी ज्यादा बुद्धिमान हैं, वे अपनी जाति में शादी कभी न करेंगे। जो उनसे भी ज्यादा बुद्धिमान हैं, वे अपने देश को भी बचाएंगे। और आज नहीं कल, अगर किसी ग्रह पर, उपग्रह पर हमने कोई मनुष्य खोज लिए, तो जो बहुत बुद्धिमान हैं, वे इंटर प्लेनेटरी क्रास ब्रीडिंग की फिक्र करेंगे।

लेकिन वह अर्जुन तो सिर्फ परेड करवा रहा है। वह तो यह कह रहा है कि यह-यह उसने सुना है। ऐसी-ऐसी हानि हो जाएगी, इसलिए मुझे भागने दो। न उसे क्रास ब्रीडिंग से मतलब है, न कोई वह जानकार है। उसकी जानकारी और कुशलता इस सबकी नहीं है। हां, ये उसके सुने हुए ख्याल हैं। चारों तरफ हवा में ये बातें थीं, आज भी हैं। उस समय थीं, तो बिल्कुल स्वाभाविक लगता है। क्योंकि मनुष्य की संतति का जन्म-शास्त्र बहुत विकसित नहीं था। आज तो बहुत विकसित है।

लेकिन आज भी इतने विकसित संतति-शास्त्र के साथ, हमारा मस्तिष्क इतना विकसित नहीं है कि हम उसे सह सकें या उस संबंध में सोच सकें। क्योंकि अपनी जाति में शादी करना, बहुत दूर की अपनी बहन से ही शादी करना है। जरा फासला है; दस-पांच पीढ़ियों का फासला होगा। अपनी ही जाति में शादी करना, दस-पांच पीढ़ियों के पीछे एक ही पिता की संतति है वह। सौ पीढ़ी पीछे होगी, बहुत दूर जाएंगे तो। लेकिन एक जाति में सब बहन-भाई ही हैं। और ज्यादा पीछे जाएंगे तो एक महाजाति में भी सब बहन-भाई हैं।

जितने दूर जाएं, जितना विभिन्न बीजारोपण संयुक्त हो, उतनी विभिन्न समृद्धियां, उतने विभिन्न संस्कार, उतनी विभिन्न जातियों के द्वारा अनुभव किया गया सारा का सारा हजारों साल का इतिहास जेनेटिक अणु में इकट्ठा होकर उस व्यक्ति को मिल जाता है। जितने दूर से ये दो धाराएं आएं, उतने विलक्षण व्यक्ति के पैदा होने की संभावना है।

तो वर्णसंकर बहुत गाली थी अर्जुन के वक्त में, हिंदुस्तान में अभी भी काशी में गाली है। लेकिन अब सारे जगत के बुद्धिमान इस बात के लिए राजी हैं कि जितने दूर का वर्ण हो, जितनी संकरता हो, उतने ही श्रेष्ठतम व्यक्ति को जन्म दिया जा सकता है। लेकिन अर्जुन को इससे लेना-देना नहीं है। अर्जुन कोई इस पर वक्तव्य नहीं दे रहा है। वह तो सिर्फ दलीलें इकट्ठी कर रहा है।

प्रश्नः ओशो, नर्क या स्वर्ग जैसे कुछ स्थान विशेष हैं क्या? ऐसा लगता है कि पाप और पुण्य एवं नर्क और स्वर्ग की कल्पना व्यक्ति को भयभीत या प्रोत्साहित करने के हेतु की गई है। क्या आप सहमत हैं इससे?

नर्क और स्वर्ग भौगोलिक स्थान नहीं हैं, लेकिन मानसिक दशाएं जरूर हैं। लेकिन आदमी का चिंतन सदा ही चीजों को चित्रों में रूपांतरित करता है। आदमी बिना चित्रों के नहीं सोच पाता। आदमी को सोचने में चित्र बड़े सहयोगी हो जाते हैं।

हम सबने देखी है, अभी भी घरों में टंगी हुई है भारत माता की फोटो। वह तो कुछ बुद्धिमान हमारे मुल्क में पता नहीं क्यों नहीं हैं कि भारत माता की खोज पर नहीं निकलते! फोटो तो घरों में लटकी हुई है भारत माता की। लेकिन भारत माता कहीं खोजने से मिलने वाली नहीं है। लेकिन हजार, दो हजार साल बाद अगर कोई कहेगा कि भारत माता नहीं थी, तो लोग कहेंगे, बिल्कुल गलत कहते हैं। देखो, गांधीजी इशारा कर रहे हैं फोटो में भारत माता की तरफ। गांधीजी गलती कर सकते हैं? भारत माता जरूर रही होंगी। या तो कहीं गुहा-कंदराओं में छिप गई हैं हमारे पाप की वजह से।

आदमी जो भी समझना चाहे, उसे चित्रों में रूपांतरित करता है। असल में जितना हम पुराने में लौटेंगे, उतनी ही पिक्टोरियल लैंग्वेज बढ़ती जाती है। असल में दुनिया की पुरानी भाषाएं चित्रात्मक हैं। जैसे चीनी अभी भी चित्रों की भाषा है। अभी भी शब्द नहीं हैं, वर्ण नहीं हैं, चित्र हैं; चित्रों में ही सारा काम करना पड़ता है; इसलिए चीनी सीखना बहुत मुश्किल मामला हो जाता है। साधारण भी कोई सीखे तो दस-पंद्रह साल तो मेहनत करनी ही पड़े। क्योंकि कम से कम दस-बीस हजार चित्र तो उसे याद होने ही चाहिए। अब चीनी में अगर झगड़ा लिखना है, तो एक झाड़ बनाकर उसके नीचे दो औरतें बिठालनी पड़ती हैं, तब पता चलता है कि झगड़ा है। बिल्कुल पक्का झगड़ा तो है ही। एक झाड़ के नीचे दो औरतें! इससे बड़ा झगड़ा और क्या हो सकता है?

सारी दुनिया की, जितने हम पीछे लौटेंगे, उतनी चिंतना पिक्टोरियल होगी। अभी भी हम सपना जब देखते हैं, तो उसमें शब्द नहीं होते, चित्र होते हैं। क्योंकि सपना जो है, वह प्रिमिटिव, बहुत पुराना है, नया नहीं है। बीसवीं सदी में भी बीसवीं सदी का सपना देखना मुश्किल है। सपना तो हम देखते हैं कोई लाख साल पुराना। उसका ढंग लाख साल पुराना होता है।

इसलिए बच्चों की किताब में चित्र ज्यादा रखने पड़ते हैं और शब्द कम रखने पड़ते हैं। क्योंकि बच्चा शब्दों से नहीं समझ सकेगा, चित्रों से समझेगा। अभी ग गणेश जी का, नाहक गणेश जी को फंसाना पड़ता है। गणेश जी का कोई लेना-देना नहीं है ग से। लेकिन बच्चा गणेश जी को समझेगा, फिर ग को समझेगा। बच्चा प्रिमिटिव है।

तो जितना हम पीछे लौटेंगे, उतने सारे मानसिक तत्व हमें भौगोलिक बनाने पड़े। स्वर्ग चित्त की एक दशा है। जब सब सुखपूर्ण है, सब शांत है, सब फूल खिले हैं, सब संगीत से भरा है। लेकिन इसे कैसे कहें! इसे ऊपर रखना पड़ा। नर्क है, जहां कि सब दुख है, पीड़ा है, जलन है। नीचे रखना पड़ा। नीचे और ऊपर वेल्यूज बन गईं। ऊपर वह है, जो श्रेष्ठ है; नीचे वह है, जो बुरा है, निकृष्ट है। फिर जलन, दुख, पीड़ा, तो आग की लपटें बनानी पड़ीं। स्वर्ग, तो शीतल, शांत, एयरकंडीशनिंग की व्यवस्था करनी पड़ी। लेकिन वे सब चित्र हैं। लेकिन जिद पीछे पैदा होती है। जिद पुरोहित पैदा करवाता है। वह कहता है, नहीं, चित्र नहीं हैं। ये तो स्थान हैं। अब वह मुश्किल में पड़ेगा।

क्योंकि जब ख्रुश्चेव का आदमी पहली दफा अंतरिक्ष में पहुंचा, तो ख्रुश्चेव ने रेडियो पर कहा कि मेरे आदमी चांद का चक्कर लगा लिए हैं। कोई स्वर्ग दिखाई नहीं पड़ रहा है। अब यह पुरोहित से झगड़ा है ख्रुश्चेव का। ख्रुश्चेव से पुरोहित को हारना पड़ेगा, क्योंकि पुरोहित दावा ही गलत कर रहा है। कहीं कोई ऊपर स्वर्ग नहीं है, कहीं कोई नीचे नर्क नहीं है। हां, लेकिन सुख की अवस्था ऊपर की अवस्था है, नर्क की अवस्था दुख की अवस्था, नीचे की अवस्था है।

और यह नीचे-ऊपर को इतना भौगोलिक बनाने का कारण है। जब आप सुखी होंगे, तब आपको लगेगा जैसे आप जमीन से ऊपर उठ गए हैं। और जब आप दुखी होंगे, तो ऐसा लगेगा कि जमीन में गड़ गए हैं। वह बहुत मानसिक फीलिंग है जब आप दुखी होंगे, तो सब तरफ ऐसा लगेगा कि अंधेरा छा गया। जब सुखी होंगे, तब सब तरफ लगेगा कि आलोक छा गया। वह फीलिंग है, भाव है, अनुभव है भीतर। जब दुखी होंगे, तो ऐसा लगेगा कि जैसे जल रहे हैं, जैसे कोई भीतर से आग जल रही है। और जब आनंदित होंगे, तो भीतर फूल खिलने लगेंगे।

वे भीतरी भाव हैं। लेकिन कवि उनको कैसे बनाए! चित्रकार उनको कैसे समझाए! धर्मगुरु उन्हें कैसे लोगों के सामने उपस्थित करे! तो उसने बनाया उनका चित्र, तो ऊपर गया स्वर्ग, नीचे गया नर्क। लेकिन अब वह भाषा बेमानी हो गई। अब आदमी उस भाषा के पार चला गया; भाषा बदलनी पड़ेगी।

तो मैं कहता हूं, ज्यॉग्राफिकल नहीं, भौगोलिक नहीं, साइकोलाजिकल हैं, स्वर्ग और नर्क हैं। और ऐसा भी नहीं है कि आप मरकर स्वर्ग चले जाएंगे और नर्क चले जाएंगे। आप चौबीस घंटे में कई बार स्वर्ग और नर्क में यात्रा करते रहते हैं। ऐसा नहीं है कोई कि इकट्ठा एक दफा होलसेल, बिल्कुल फुटकर है मामला; चौबीस घंटे का काम है।

जब आप क्रोध में होते हैं तो फौरन नर्क में होते हैं। जब आप प्रेम में होते हैं तो स्वर्ग में उठ जाते हैं। पूरे वक्त आपका मन नीचे-ऊपर हो रहा है। पूरे वक्त आप सीढ़ियां उतर रहे हैं अंधेरे की और आलोक की। ऐसा कोई इकट्ठा नहीं है। लेकिन जो आदमी जिंदगीभर नर्क में ही गुजारता हो, उसकी आगे की यात्रा भी अंधेरे की तरफ ही हो रही है।

यह अर्जुन बेचारा सारी दुनिया को बचाने के लिए--आत्माएं स्वर्ग जाएं, इसके लिए; उनके बेटे पिंडदान करें, इसलिए; कोई विधवा न हो जाए, इसलिए; वर्णसंकरता न फैल जाए, विनाश न हो जाए--इतने बड़े उपद्रव के लिए... । यह आदमी सिर्फ भागना चाहता है। इतनी-सी छोटी बात की कृष्ण आज्ञा दे दें।

लेकिन इसमें भी वह सेंक्शन मांग रहा है; इसमें भी वह चाह रहा है कि कृष्ण कह दें कि अर्जुन, तू बिल्कुल ठीक कहता है। ताकि कल जिम्मेवारी उसकी अपनी न रह जाए; तब वह कल कह सके कि कृष्ण! तुमने ही मुझसे कहा था, इसलिए मैं गया था।

असल में इतनी भी हिम्मत नहीं है उसकी कि वह रिस्पांसबिलिटी अपने ऊपर ले ले, कि कह दे कि मैं जाता हूं। क्योंकि तब उसे दूसरा मन उसका कहता है कि कायरता होगी! यह तो उसके खून में नहीं है। यह भागना उसके वश की बात नहीं है। क्षत्रिय है, पीठ दिखाना उसकी हिम्मत के बाहर है। मर जाना बेहतर है, पीठ दिखाना बेहतर नहीं है। यह भी उसके भीतर बैठा है। इसलिए वह कहता है कि कृष्ण अगर साक्षी दे दें, और कह दें कि ठीक है, तू उचित कहता है अर्जुन... ।

वह तो कृष्ण की जगह अगर कोई साधारण धातु का बना हुआ कोई पंडित-पुरोहित होता, तो कह देता कि बिल्कुल ठीक कहता है अर्जुन, शास्त्र में ऐसा ही तो लिखा है; अर्जुन भाग गया होता। वह भागने का रास्ता

खोज रहा है। लेकिन उसे पता नहीं कि जिससे वह बात कर रहा है, उस आदमी को धोखा देना मुश्किल है। वह अर्जुन को पैना, गहरे देख रहा है। वह जानता है कि वह क्षत्रिय है और क्षत्रिय होना ही उसकी नियति है; वही उसकी डेस्टिनी है। वह ये सब बातें ऐसी कर रहा है, ब्राह्मणों जैसी। ब्राह्मण वह है नहीं। बातें ब्राह्मणों जैसी कर रहा है। दलीलें वह ब्राह्मणों की दे रहा है। है वह ब्राह्मण नहीं, है वह क्षत्रिय। तलवार के अतिरिक्त वह कुछ नहीं जानता। एक ही शास्त्र है उसका। असल में अर्जुन जैसा क्षत्रिय दुनिया में खोजना मुश्किल है।

मेरे एक मित्र जापान से आए, तो किसी ने उन्हें एक मूर्ति भेंट कर दी। उस मूर्ति के एक हाथ में तलवार है और तलवार की चमक है चेहरे पर। और दूसरे हाथ में एक दीया है और दीए की ज्योति की चमक है दूसरे हिस्से पर चेहरे के! जिस तरफ दीया है, उस तरफ से मूर्ति को देखें, तो लगता है कि चेहरा बुद्ध का है। और जिस तरफ तलवार है, उस तरफ से देखें, तो लगता है कि चेहरा अर्जुन का है।

वे मुझसे पूछने लगे कि यह क्या मामला है? तो मैंने कहा कि अगर बुद्ध के मुकाबले बुद्ध से ज्यादा बड़ा ब्राह्मण खोजना मुश्किल है, शुद्ध ब्राह्मण, तो अर्जुन से बड़ा क्षत्रिय भी खोजना मुश्किल है। और यह जो मूर्ति है जापान में, समुराई सैनिक की मूर्ति है। समुराई के लिए नियम है कि उसके पास बुद्ध जैसी शांति और अर्जुन जैसी क्षमता चाहिए, तभी वह सैनिक है। लड़ने की हिम्मत अर्जुन जैसी और लड़ते समय शांति बुद्ध जैसी। बड़े इंपासिबल की मांग है, बड़े असंभव की मांग है।

लेकिन अर्जुन के पास बुद्ध जैसा कुछ भी नहीं है। उसकी शांति सिर्फ बचाव है। उसकी शांति की बातें सिर्फ पलायनवादी हैं। वह शांति की बातें करके भी पछताएगा। कल अर्जुन फिर कृष्ण को पकड़ लेगा कि तुमने क्यों मुझे सहारा दिया, बदनामी हो गई! कुल की प्रतिष्ठा चली गई! वह फिर पच्चीस दलीलें ले आएगा। जैसे अभी पच्चीस दलीलें लाया है भागने के पक्ष में, कल पच्चीस दलीलें लाएगा और कृष्ण को कहेगा कि तुम ही जिम्मेवार हो, तुमने ही मुझे उलझा दिया और भगा दिया। अब सब बदनामी हो गई। अब कौन जिम्मा ले इसका?

इसलिए कृष्ण उसे इतने सस्ते में छोड़ नहीं सकते हैं। इतने सस्ते में छोड़ने की बात भी नहीं है। वह आदमी दोहरे दिमाग में है। उसे एक दिमाग पर लाना एकदम आवश्यक है। फिर वह एक दिमाग से जो भी करे, कृष्ण की उसे सहमति हो सकती है।

आज इतना ही। फिर कल सुबह।

पांचवां प्रवचन

अर्जुन का पलायन--अहंकार की ही दूसरी अति

अहो बत महत्पापं कर्तुंव्यवसिता वयम्।

यद्राज्यसुखलोभेन हन्तुं स्वजनमुद्यताः।। 45।।

अहो! शोक है कि हम लोग (बुद्धिमान होकर भी) महान पाप करने को तैयार हुए हैं, जो कि राज्य और सुख के लोभ से अपने कुल को मारने के लिए उद्यत हुए हैं।

यदि मामप्रतीकारमशस्त्रं शस्त्रपाणयः।

धार्तराष्ट्रा रणे हन्युस्तन्मे क्षेमतरं भवेत्।। 46।।

यदि मुझ शस्त्ररहित, न सामना करने वाले को, शस्त्रधारी धृतराष्ट्र के पुत्र रण में मारें, तो वह मरना भी मेरे लिए अति कल्याणकारक होगा।

संजय उवाच

एवमुक्त्वार्जुनः संख्ये रथोपस्थ उपाविशत्।

विसृज्य सशरं चापं शोकसंविग्नमानसः।। 47।।

संजय बोले कि रणभूमि में शोक से उद्विग्न मन वाला अर्जुन इस प्रकार कहकर बाण सहित धनुष को त्यागकर रथ के पिछले भाग में बैठ गया।

अथ द्वितीयोऽध्यायः

संजय उवाच

तं तथा कृपयाविष्टमश्रुपूर्णाकुलेक्षणम्।

विषीदन्तमिदं वाक्यमुवाच मधुसूदनः।। 1।।

संजय ने कहाः पूर्वोक्त प्रकार से दया से भरकर और आंसुओं से पूर्ण तथा व्याकुल नेत्रों वाले शोकयुक्त उस अर्जुन के प्रति भगवान मधुसूदन ने यह वचन कहा।

श्रीभगवानुवाच

कुतस्त्वा कश्मलमिदं विषमे समुपस्थितम्।

अनार्यजुष्टमस्वर्ग्यमकीर्तिकरमर्जुन।। 2।।

हे अर्जुन, तुमको इस विषम स्थल में यह अज्ञान किस हेतु से प्राप्त हुआ, क्योंकि यह न तो श्रेष्ठ पुरुषों से आचरण किया गया है, न स्वर्ग को देने वाला है, न कीर्ति को करने वाला है।

क्लैब्यं मा स्म गमः पार्थ नैतत्त्वय्युपपद्यते।

क्षुद्रं हृदयदौर्बल्यं त्यक्त्वोत्तिष्ठ परंतप।। 3।।

इसलिए हे अर्जुन, नपुंसकता को मत प्राप्त हो। यह तेरे लिए योग्य नहीं है। हे परंतप, तुच्छ हृदय की दुर्बलता को त्यागकर युद्ध के लिए खड़ा हो।

संजय ने अर्जुन के लिए, दया से भरा हुआ, दया के आंसू आंख में लिए, ऐसा कहा है। दया को थोड़ा समझ लेना जरूरी है। संजय ने नहीं कहा, करुणा से भरा हुआ; कहा है, दया से भरा हुआ।

साधारणतः शब्दकोश में दया और करुणा पर्यायवाची दिखाई पड़ते हैं। साधारणतः हम भी उन दोनों शब्दों का एक-सा प्रयोग करते हुए दिखाई पड़ते हैं। उससे बड़ी भ्रांति पैदा होती है। दया का अर्थ है, परिस्थितिजन्य; और करुणा का अर्थ है, मनःस्थितिजन्य। उनमें बुनियादी फर्क है।

करुणा का अर्थ है, जिसके हृदय में करुणा है। बाहर की परिस्थिति से उसका कोई संबंध नहीं है। करुणावान व्यक्ति अकेले में बैठा हो, तो भी उसके हृदय से करुणा बहती रहेगी। जैसे निर्जन में फूल खिला हो, तो भी सुगंध उड़ती रहेगी। राह पर निकलने वालों से कोई संबंध नहीं है। राह से कोई निकलता है या नहीं निकलता है, फूल की सुगंध को इससे कुछ लेना-देना नहीं है। नहीं कोई निकलता, तो निर्जन पर भी फूल की सुगंध उड़ती है। कोई निकलता है तो उसे सुगंध मिल जाती है, यह दूसरी बात है; फूल उसके लिए सुगंधित नहीं होता है।

करुणा व्यक्ति की अंतस चेतना का स्रोत है। वहां सुगंध की भांति करुणा उठती है। इसलिए बुद्ध को या महावीर को दयावान कहना गलत है, वे करुणावान हैं, महाकारुणिक हैं।

अर्जुन को संजय कहता है, दया से भरा हुआ। दया सिर्फ उनमें पैदा होती है, जिनमें करुणा नहीं होती। दया सिर्फ उनमें पैदा होती है, जिनके भीतर हृदय में करुणा नहीं होती। दया परिस्थिति के दबाव से पैदा होती है। करुणा हृदय के विकास से पैदा होती है। राह पर एक भिखारी को देखकर जो आपके भीतर पैदा होता है, वह दया है; वह करुणा नहीं है।

और तब एक बात और समझ लेनी चाहिए कि दया अहंकार को भरती है और करुणा अहंकार को विगलित करती है। करुणा सिर्फ उसमें ही पैदा होती है, जिसमें अहंकार न हो। दया भी अहंकार को ही परिपुष्ट करने का माध्यम है। अच्छा माध्यम है, सज्जनों का माध्यम है, लेकिन माध्यम अहंकार को ही पुष्ट करने का है।

जब आप किसी को दान देते हैं, तब आपके भीतर जो रस उपलब्ध होता है--देने वाले का, देने वाले की स्थिति में होने का--भिखारी को देखकर जो दया पैदा होती है; उस क्षण में अगर भीतर खोजेंगे, तो अहंकार का स्वर भी बजता होता है। करुणावान चाहेगा, पृथ्वी पर कोई भिखारी न रहे; दयावान चाहेगा, भिखारी रहे। अन्यथा दयावान को बड़ी कठिनाई होगी। दया पर खड़े हुए समाज भिखारी को नष्ट नहीं करते, पोषित करते हैं। करुणा पर कोई समाज खड़ा होगा, तो भिखारी को बरदाश्त नहीं कर सकेगा। नहीं होना चाहिए।

अर्जुन के मन में जो हुआ है, वह दया है। करुणा होती तो क्रांति हो जाती। इसे इसलिए ठीक से समझ लेना जरूरी है कि कृष्ण जो उत्तर दे रहे हैं, वह ध्यान में रखने योग्य है। तत्काल कृष्ण उससे जो कह रहे हैं, वह सिर्फ उसके अहंकार की बात कह रहे हैं। वह उससे कह रहे हैं, अनार्यों के योग्य। वह दूसरा सूत्र बताता है कि कृष्ण ने पकड़ी है बात।

अहंकार का स्वर बज रहा है उसमें। वह कह रहा है, मुझे दया आती है। ऐसा कृत्य मैं कैसे कर सकता हूं? कृत्य बुरा है, ऐसा नहीं। ऐसा कृत्य मैं कैसे कर सकता हूं? इतना बुरा मैं कहां हूं! इससे तो उचित होगा, कृष्ण से वह कहता है कि वे सब धृतराष्ट्र के पुत्र मुझे मार डालें। वह ठीक होगा, बजाय इसके कि इतने कुकृत्य को करने को मैं तत्पर होऊं।

अहंकार अपने स्वयं की बलि भी दे सकता है। अहंकार जो आखिरी कृत्य कर सकता है, वह शहीदी है; वह मार्टर भी हो सकता है। और अक्सर अहंकार शहीद होता है, लेकिन शहीद होने से और मजबूत होता है।

अर्जुन कह रहा है कि इससे तो बेहतर है कि मैं मर जाऊं। मैं, अर्जुन, ऐसी स्थिति में कुकृत्य नहीं कर सकूंगा। दया आती है मुझे, यह सब क्या करने को लोग इकट्ठे हुए हैं! आश्चर्य होता है मुझे।

उसकी बात से ऐसा लगता है कि इस युद्ध के बनने में वह बिल्कुल साथी-सहयोगी नहीं है। उसने कोआप्ट नहीं किया है। यह युद्ध जैसे आकस्मिक उसके सामने खड़ा हो गया है। उसे जैसे इसका कुछ पता ही नहीं है। यह जो परिस्थिति बनी है, इसमें वह जैसे पार्टिसिपेंट, भागीदार नहीं है। इस तरह दूर खड़े होकर बात कर रहा है, कि दया आती है मुझे। आंख में आंसू भर गए हैं उसके। नहीं, ऐसा मैं न कर सकूंगा। इससे तो बेहतर है कि मैं ही मर जाऊं, वही श्रेयस्कर है...।

इस स्वर को कृष्ण ने पकड़ा है। इसलिए मैंने कहा कि कृष्ण इस पृथ्वी पर पहले मनोवैज्ञानिक हैं। क्योंकि दूसरा सूत्र कृष्ण का सिर्फ अर्जुन के अहंकार को और बढ़ावा देने वाला सूत्र है।

दूसरे सूत्र में कहते हैं, कैसे अनार्यों जैसी तू बात करता है? आर्य का अर्थ है श्रेष्ठजन, अनार्य का अर्थ है निकृष्टजन। आर्य का अर्थ है अहंकारीजन, अनार्य का अर्थ है दीन-हीन। तू कैसी अनार्यों जैसी बात करता है!

अब सोचने जैसा है कि दया की बात अनार्यों जैसी बात है! आंख में दया से भरे हुए आंसू अनार्यों जैसी बात है! और कृष्ण कहते हैं, इस पृथ्वी पर अपयश का कारण बनेगा और परलोक में भी अकल्याणकारी है। दया!

शायद ही कभी आपको ख्याल आया हो कि संजय कहता है, दया से भरा अर्जुन, आंखों में आंसू लिए; और कृष्ण जो कहते हैं, उसमें तालमेल नहीं दिखाई पड़ता। क्योंकि दया को हमने कभी ठीक से नहीं समझा कि दया भी अहंकार का भूषण है। दया भी अहंकार का कृत्य है। वह भी ईगो-एक्ट है--अच्छे आदमी का। क्रूरता बुरे आदमी का ईगो-एक्ट है।

ध्यान रहे, अहंकार अच्छाइयों से भी अपने को भरता है, बुराइयों से भी अपने को भरता है। और अक्सर तो ऐसा होता है कि जब अच्छाइयों से अहंकार को भरने की सुविधा नहीं मिलती, तभी वह बुराइयों से अपने को भरता है।

इसलिए जिन्हें हम सज्जन कहते हैं और जिन्हें हम दुर्जन कहते हैं, उनमें बहुत मौलिक भेद नहीं होता, ओरिजनल भेद नहीं होता। सज्जन और दुर्जन, एक ही अहंकार की धुरी पर खड़े होते हैं। फर्क इतना ही होता है कि दुर्जन अपने अहंकार को भरने के लिए दूसरों को चोट पहुंचा सकता है। सज्जन अपने अहंकार को भरने के लिए स्वयं को चोट पहुंचा सकता है। चोट पहुंचाने में फर्क नहीं होता।

अर्जुन कह रहा है, इनको मैं मारूं, इससे तो बेहतर है मैं मर जाऊं। दुर्जन--अगर हम मनोविज्ञान की भाषा में बोलें तो-- सैडिस्ट होता है। और सज्जन जब अहंकार को भरता है, तो मैसोचिस्ट होता है। मैसोच एक आदमी हुआ, जो अपने को ही मारता था।

सभी स्वयं को पीड़ा देने वाले लोग जल्दी सज्जन हो सकते हैं। अगर मैं आपको भूखा मारूं, तो दुर्जन हो जाऊंगा। कानून, अदालत मुझे पकड़ेंगे। लेकिन मैं खुद ही अनशन करूं, तो कोई कानून, अदालत मुझे पकड़ेगा नहीं; आप ही मेरा जुलूस निकालेंगे।

लेकिन भूखा मारना आपको अगर बुरा है, तो मुझको भूखा मारना कैसे ठीक हो जाएगा? सिर्फ इसलिए कि यह शरीर मेरे जिम्मे पड़ गया है और वह शरीर आपके जिम्मे पड़ गया है! तो आपके शरीर को अगर कोड़े मारूं और आपको अगर नंगा खड़ा करूं और कांटों पर लिटा दूं, तो अपराध हो जाएगा। और खुद नंगा हो जाऊं

और कांटों पर लेट जाऊं, तो तपश्चर्या हो जाएगी! सिर्फ रुख बदलने से, सिर्फ तीर उस तरफ से हटकर इस तरफ आ जाए, तो धर्म हो जाएगा!

अर्जुन कह रहा है, इन्हें मारने की बजाय तो मैं मर जाऊं। वह बात वही कह रहा है; मरने-मारने की ही कह रहा है। उसमें कोई बहुत फर्क नहीं है। हां, तीर का रुख बदल रहा है।

और ध्यान रहे, दूसरे को मारने में कभी इतने अहंकार की तृप्ति नहीं होती, जितना स्वयं को मारने में होती है। क्योंकि दूसरा मरते वक्त भी मुंह पर थूककर मर सकता है। लेकिन खुद आदमी जब अपने को मारता है, तो बिल्कुल निहत्था, बिना उत्तर के मरता है। दूसरे को मारना कभी पूरा नहीं होता। दूसरा मरकर भी बच जाता है। उसकी आंखें कहती हैं कि मार डाला भला, लेकिन हार नहीं गया वह! लेकिन खुद को मारते वक्त तो कोई उपाय ही नहीं। हराने का मजा पूरा आ जाता है।

अर्जुन दया की बात करता हो और कृष्ण उससे कहते हैं कि अर्जुन, तेरे योग्य नहीं हैं ऐसी बातें, अपयश फैलेगा--तो वे सिर्फ उसके अहंकार को फुसला रहे हैं, परसुएड कर रहे हैं।

दूसरा सूत्र कृष्ण का, बताता है कि पकड़ी है उन्होंने नस। वे ठीक जगह छू रहे हैं उसे। क्योंकि उसे यह समझाना कि दया ठीक नहीं, व्यर्थ है। उसे यह भी समझाना कि दया और करुणा में फासला है, अभी व्यर्थ है। अभी तो उसकी रग अहंकार है। अभी अहंकार सैडिज्म से मैसोचिज्म की तरफ जा रहा है। अभी वह दूसरे को दुख देने की जगह, अपने को दुख देने के लिए तत्पर हो रहा है।

इस स्थिति में वे दूसरे सूत्र में उससे कहते हैं कि तू क्या कह रहा है! आर्य होकर, सभ्य, सुसंस्कृत होकर, कुलीन होकर, कैसी अकुलीनों जैसी बात कर रहा है! भागने की बात कर रहा है युद्ध से? कातरता तेरे मन को पकड़ती है? वे चोट कर रहे हैं उसके अहंकार को।

बहुत बार गीता को पढ़ने वाले लोग ऐसी बारीक और नाजुक जगहों पर बुनियादी भूल कर जाते हैं। क्या कृष्ण यह कह रहे हैं कि अहंकारी हो? नहीं, कृष्ण सिर्फ यह देख रहे हैं कि जो दया उठ रही है, वह अगर अहंकार से उठ रही है, तो अहंकार को फुलाने से तत्काल विदा हो जाएगी।

इसलिए कहते हैं, कातरपन की बातें कर रहा है! कायरता की बातें कर रहा है! सख्त से सख्त शब्दों का वे उपयोग करेंगे।

यहां अर्जुन से वे जो कह रहे हैं पूरे वक्त, उसमें क्या प्रतिक्रिया पैदा होती है, उसके लिए कह रहे हैं। मनोविश्लेषण शुरू होता है। कृष्ण अर्जुन को साइकोएनालिसिस में ले जाते हैं। लेट गया अर्जुन कोच पर अब कृष्ण की। अब वे जो भी पूछ रहे हैं, उसको जगाकर पूरा देखना चाहेंगे कि वह है कहां! कितने गहरे पानी में है!

अब आगे से कृष्ण यहां साइकोएनालिस्ट, मनोविश्लेषक हैं। और अर्जुन सिर्फ पेशेंट है, सिर्फ बीमार है। और उसे सब तरफ से उकसाकर देखना और जगाना जरूरी है। पहली चोट वे उसके अहंकार पर करते हैं।

और स्वभावतः, मनुष्य की गहरी से गहरी और पहली बीमारी अहंकार है। और जहां अहंकार है, वहां दया झूठी है। और जहां अहंकार है, वहां अहिंसा झूठी है। और जहां अहंकार है, वहां शांति झूठी है। और जहां अहंकार है, वहां कल्याण और मंगल और लोकहित की बातें झूठी हैं। क्योंकि जहां अहंकार है, वहां ये सारी की सारी चीजें सिर्फ अहंकार के आभूषण के अतिरिक्त और कुछ भी नहीं हैं।

अर्जुन उवाच

कथं भीष्ममहं संख्ये द्रोणं च मधुसूदन।

ईषुभिः प्रति योत्स्यामि पूजार्हावरिसूदन।। 4।।

तब अर्जुन बोला, हे मधुसूदन, मैं रणभूमि में भीष्म पितामह और द्रोणाचार्य के प्रति किस प्रकार बाणों को करके युद्ध करूंगा, क्योंकि हे अरिसूदन, वे दोनों ही पूजनीय हैं।

लेकिन अर्जुन नहीं पकड़ पाता। वह फिर वही दोहराता है दूसरे कोण से। वह कहता है, मैं द्रोण और भीष्म से कैसे युद्ध करूंगा, वे मेरे पूज्य हैं। बात फिर भी वह विनम्रता की बोलता है।

लेकिन अहंकार अक्सर विनम्रता की भाषा बोलता है। और अक्सर विनम्र लोगों में सबसे गहन अहंकारी पाए जाते हैं। असल में विनम्रता डिफेंसिव ईगोइज्म है, वह सुरक्षा करता हुआ अहंकार है। आक्रामक अहंकार मुश्किल में पड़ सकता है। विनम्र अहंकार पहले से ही सुरक्षित है, वह इंश्योर्ड है।

इसलिए जब कोई कहता है, मैं तो कुछ भी नहीं हूं, आपके चरणों की धूल हूं, तब जरा उसकी आंखों में देखना। तब उसकी आंखें कुछ और ही कहती हुई मालूम पड़ेंगी। उसके शब्द कुछ और कहते मालूम पड़ेंगे।

कृष्ण ने अर्जुन की रग पर हाथ रखा है, लेकिन अर्जुन नहीं समझ पा रहा है। वह दूसरे कोने से फिर बात शुरू करता है। वह कहता है, द्रोण को, जो मेरे गुरु हैं; भीष्म को, जो मेरे परम आदरणीय हैं, पूज्य हैं--उन पर मैं कैसे आक्रमण करूंगा!

यहां ध्यान में रखने जैसी बात है, यहां भीष्म और द्रोण गौण हैं। अर्जुन कह रहा है, मैं कैसे आक्रमण करूंगा? इतना बुरा मैं नहीं कि द्रोण पर और बाण खींचूं! कि भीष्म की और छाती छेदूं! नहीं, यह मुझसे न हो सकेगा। यहां वह कह तो यही रहा है कि वे पूज्य हैं, यह मैं कैसे करूंगा? लेकिन गहरे में खोजें और देखें तो पता चलेगा, वह यह कह रहा है कि यह मेरी जो इमेज है, मेरी जो प्रतिमा है, मेरी ही आंखों में जो मैं हूं, उसके लिए यह असंभव है। इससे तो बेहतर है मधुसूदन कि मैं ही मर जाऊं। इससे तो अच्छा है, प्रतिमा बचे, शरीर खो जाए; अहंकार बचे, मैं खो जाऊं। वह जो इमेज है मेरी, वह जो सेल्फ इमेज है उसकी... ।

हर आदमी की अपनी-अपनी एक प्रतिमा है। जब आप किसी पर क्रोध कर लेते हैं और बाद में पछताते हैं और क्षमा मांगते हैं, तो इस भ्रांति में मत पड़ना कि आप क्षमा मांग रहे हैं और पछता रहे हैं। असल में आप अपने सेल्फ इमेज को वापस निर्मित कर रहे हैं। आप जब किसी पर क्रोध करते हैं, तो आपने निरंतर अपने को अच्छा आदमी समझा है, वह प्रतिमा आप अपने ही हाथ से खंडित कर लेते हैं। क्रोध के बाद पता चलता है कि वह अच्छा आदमी, जो मैं अपने को अब तक समझता था, क्या मैं नहीं हूं! अहंकार कहता है, नहीं, आदमी तो मैं अच्छा ही हूं। यह क्रोध जो हो गया है, यह बीच में आ गई भूल-चूक है। इंस्पाइट आफ मी, मेरे बावजूद हो गया है। यह कोई मैंने नहीं किया है, हो गया, परिस्थितिजन्य है। पछताते हैं, क्षमा मांग लेते हैं।

अगर सच में ही क्रोध के लिए पछताए हैं, तो दुबारा क्रोध फिर जीवन में नहीं आना चाहिए। नहीं, लेकिन कल फिर क्रोध आता है।

नहीं, क्रोध से कोई अड़चन न थी। अड़चन हुई थी कोई और बात से। यह कभी सोचा ही नहीं था कि मैं और क्रोध कर सकता हूं! तो जब पछता लेते हैं, तब आपकी अच्छी प्रतिमा, आपका अहंकार फिर सिंहासन पर विराजमान हो जाता है।

वह कहता है, देखो माफी मांग ली, क्षमा मांग ली। विनम्र आदमी हूं। समय ने, परिस्थिति ने, अवसर ने, मूड नहीं था, भूखा था, दफ्तर से नाराज लौटा था, असफल था, कुछ काम में गड़बड़ हो गई थी--परिस्थितिजन्य था। मेरे भीतर से नहीं आया था क्रोध। मैंने तो क्षमा मांग ली है। जैसे ही होश आया, जैसे ही मैं

लौटा, मैंने क्षमा मांग ली है। आप अपनी प्रतिमा को फिर सजा-संवारकर, फिर गहने-आभूषण पहनाकर सिंहासन पर विराजमान कर दिए। क्रोध के पहले भी यह प्रतिमा सिंहासन पर बैठी थी, क्रोध में नीचे लुढ़क गई थी; फिर बिठा दिया। अब आप फिर पूर्ववत पुरानी जगह आ गए, कल फिर क्रोध करेंगे। पूर्ववत अपनी जगह आ गए। क्रोध के पहले भी यहीं थे, क्रोध के बाद भी यहीं आ गए। जो पश्चात्ताप है, वह इस प्रतिमा की पुनर्स्थापना है।

लेकिन ऐसा लगता है, क्षमा मांगता आदमी बड़ा विनम्र है। सब दिखावे सच नहीं हैं। सच बहुत गहरे हैं और अक्सर उलटे हैं। वह आदमी आपसे क्षमा नहीं मांग रहा है। वह आदमी अपने ही सामने निंदित हो गया है। उस निंदा को झाड़ रहा है, पोंछ रहा है, बुहार रहा है। वह फिर साफ-सुथरा, स्नान करके फिर खड़ा हो रहा है।

यह जो अर्जुन कह रहा है कि पूज्य हैं उस तरफ, उन्हें मैं कैसे मारूं? एम्फेसिस यहां उनके पूज्य होने पर नहीं है। एम्फेसिस यहां अर्जुन के मैं पर है कि मैं कैसे मारूं? नहीं-नहीं, यह अपने मैं की प्रतिमा खंडित करने से, कि लोक-लोकांतर में लोग कहें कि अपने ही गुरु पर आक्रमण किया, कि अपने ही पूज्यों को मारा, इससे तो बेहतर है मधुसूदन कि मैं ही मर जाऊं। लेकिन लोग कहें कि मर गया अर्जुन, लेकिन पूज्यों पर हाथ न उठाया। मर गया, मिट गया, लेकिन गुरु पर हाथ न उठाया।

उसके मैं को पकड़ लेने की जरूरत है। अभी उसकी पकड़ में नहीं है। किसी की पकड़ में नहीं होता है। जिसका मैं अपनी ही पकड़ में आ जाए, वह मैं के बाहर हो जाता है। हम अपने मैं को बचा-बचाकर जीते हैं। वह दूसरी-दूसरी बातें करता जाएगा। वह सब्स्टीट्यूट खोजता चला जाएगा। कभी कहेगा यह, कभी कहेगा वह। सिर्फ उस बिंदु को छोड़ता जाएगा, जो है। कृष्ण ने छूना चाहा था, वह उस बात को छोड़ गया है। अनार्य-आर्य की बात वह नहीं उठाता। कातरता की बात वह नहीं उठाता। लोक में यश, परलोक में भटकाव, उसकी बात वह नहीं उठाता; वह दूसरी बात उठाता है। जैसे उसने कृष्ण को सुना ही नहीं। उसके वचन कह रहे हैं कि बीच में जो कृष्ण ने बोला है, अर्जुन ने नहीं सुना।

सभी बातें जो बोली जाती हैं, हम सुनते नहीं। हम वही सुन लेते हैं, जो हम सुनना चाहते हैं। सभी जो दिखाई पड़ता है, वह हम देखते नहीं। हम वही देख लेते हैं, जो हम देखना चाहते हैं। सभी जो हम पढ़ते हैं, वह पढ़ा नहीं जाता; हम वही पढ़ लेते हैं, जो हम पढ़ना चाहते हैं। हमारा देखना, सुनना, पढ़ना, सब सिलेक्टिव है; उसमें चुनाव है। हम पूरे वक्त वह छांट रहे हैं, जो हम नहीं देखना चाहते।

एक नया मनोविज्ञान है, गेस्टाल्ट। यह जो अर्जुन ने उत्तर दिया वापस, यह गेस्टाल्ट का अदभुत प्रमाण है। गेस्टाल्ट मनोवैज्ञानिक कहते हैं, आकाश में बादल घिरे हों, तो हर आदमी उनमें अलग-अलग चीजें देखता है। डरा हुआ आदमी भूत-प्रेत देख लेता है, धार्मिक आदमी भगवान की प्रतिमा देख लेता है, फिल्मी दिमाग का आदमी अभिनेता-अभिनेत्रियां देख लेता है। वह एक ही बादल आकाश में है, अपना-अपना देखना हो जाता है।

प्रत्येक आदमी अपनी ही निर्मित दुनिया में जीता है। और हम अपनी दुनिया में... इसलिए इस पृथ्वी पर एक दुनिया की भ्रांति में मत रहना आप। इस दुनिया में जितने आदमी हैं, कम से कम उतनी दुनियाएं हैं। अगर साढ़े तीन अरब आदमी हैं आज पृथ्वी पर, तो पृथ्वी पर साढ़े तीन अरब दुनियाएं हैं। और एक आदमी भी पूरी जिंदगी एक दुनिया में रहता हो, ऐसा मत सोच लेना। उसकी दुनिया भी रोज बदलती चली जाती है।

पर्ल बक ने एक किताब अपनी आत्मकथा की लिखी है, तो नाम दिया है, माई सेवरल वर्ल्ड्स, मेरे अनेक संसार।

अब एक आदमी के अनेक संसार कैसे होंगे? रोज बदल रहा है। और प्रत्येक व्यक्ति अपनी दुनिया के आस पास बाड़े, दरवाजे, संतरी, पहरेदार खड़े रखता है। और वह कहता है, इन-इन को भीतर आने देना, इन-इन को बाहर से ही कह देना कि घर पर नहीं हैं। यह हम लोगों के साथ ही नहीं करते, सूचनाओं के साथ भी करते हैं।

अब अर्जुन ने बिल्कुल नहीं सुना है; कृष्ण ने जो कहा, वह बिल्कुल नहीं सुना है। वह जो उत्तर दे रहा है, वह बताता है कि वह इररेलेवेंट है, उसकी कोई संगति नहीं है।

हम भी नहीं सुनते। दो आदमी बात करते हैं, अगर आप चुपचाप साक्षी बनकर खड़े हो जाएं तो बड़े हैरान होंगे। लेकिन साक्षी बनकर खड़ा होना मुश्किल है। क्योंकि पता नहीं चलेगा और आप भी तीसरे आदमी भागीदार हो जाएंगे बातचीत में। अगर आप दो आदमियों की साक्षी बनकर बात सुनें तो बहुत हैरान होंगे कि ये एक-दूसरे से बात कर रहे हैं या अपने-अपने से बात कर रहे हैं! एक आदमी जो कह रहा है, दूसरा जो कहता है उससे उसका कोई भी संबंध नहीं है।

जुंग ने एक संस्मरण लिखा है कि दो पागल प्रोफेसर उसके पागलखाने में भर्ती हुए इलाज के लिए। ऐसे भी प्रोफेसरों के पागल होने की संभावना ज्यादा है। या यह भी हो सकता है कि पागल आदमी प्रोफेसर होने को उत्सुक रहते हैं। वे दोनों पागल हो गए हैं। साधारण पागल नहीं हैं। साधारण पागल डर जाता है, भयभीत हो जाता है। प्रोफेसर पागल हैं। पागल होकर वे और भी बुद्धिमान हो गए हैं। जब तक जागे रहते हैं, घनघोर चर्चा चलती रहती है। जुंग खिड़की से छिपकर सुनता है कि उनमें क्या बात होती है!

बातें बड़ी अदभुत होती हैं, बड़ी गहराई की होती हैं। दोनों इन्फार्म्ड हैं; उन दोनों ने बहुत पढ़ा-लिखा, सुना-समझा है। कम उनकी जानकारी नहीं है, शायद वही उनके पागलपन का कारण है। जानकारी ज्यादा हो और ज्ञान कम हो, तो भी आदमी पागल हो सकता है। और ज्ञान तो होता नहीं, जानकारी ही ज्यादा हो जाती है, फिर वह बोझ हो जाती है।

चकित है जुंग, उनकी जानकारी देखकर। वे जिन विषयों पर चर्चा करते हैं, वे बड़े गहरे और नाजुक हैं। लेकिन इससे भी चकित ज्यादा दूसरी बात पर है, और वह यह कि जो एक बोलता है, उसका दूसरे से कोई संबंध ही नहीं होता। लेकिन यह तो पागल के लिए बिल्कुल स्वाभाविक है। इससे भी ज्यादा चकित इस बात पर है कि जब एक बोलता है तो दूसरा चुप रहता है। और ऐसा लगता है कि सुन रहा है। और जैसे ही वह बंद करता है कि दूसरा जो बोलता है तो उसे सुनकर लगता है कि उसने उसे बिल्कुल नहीं सुना। क्योंकि अगर वह आकाश की बात कर रहा था, तो वह पाताल की शुरू करता है। उसमें कोई संबंध ही नहीं होता।

तब वह अंदर गया और उसने जाकर पूछा कि और सब तो मेरी समझ में आ गया; आप गहरी बातें कर रहे हैं, वह समझ में आ गया। समझ में यह नहीं आ रहा है कि जब एक बोलता है, तो दूसरा चुप क्यों हो जाता है! तो वे दोनों हंसने लगे और उन्होंने कहा कि क्या तुम हमें पागल समझते हो?

इस दुनिया में पागल भर अपने को कभी पागल नहीं समझते। और जो आदमी अपने को पागल समझता हो, समझना चाहिए, वह पागल होने के ऊपर उठने लगा।

क्या तुम हमें पागल समझते हो? उन दोनों ने कहा। नहीं, जुंग ने कहा, ऐसी भूल मैं कैसे कर सकता हूं! पागल बिल्कुल आपको नहीं समझता हूं। पर यही मैं पूछ रहा हूं कि जब एक बोलता है, तो दूसरा चुप क्यों रह जाता है! तो उन्होंने कहा, क्या तुम समझते हो कि हमें कनवर्सेशन का नियम भी मालूम नहीं, बातचीत करने की व्यवस्था भी मालूम नहीं? हमें मालूम है कि जब एक बोले तो दूसरे को चुप रहना चाहिए। जुंग ने कहा, जब तुम्हें इतना मालूम है, तो मैं यह और पूछना चाहता हूं कि जो एक बोलता है, उससे दूसरे के बोलने का कभी

कोई संबंध ही नहीं होता! दोनों फिर हंसने लगे। उन्होंने कहा, खैर, हम तो पागल समझे जाते हैं, लेकिन इस जमीन पर जहां भी लोग बोलते हैं दो, उनकी बातों में कोई संबंध होता है? जुंग घबड़ाकर वापस लौट आया। उसने अपने संस्मरण में लिखा है कि उस दिन से मैं भी सोचता हूं जब किसी से बात करता हूं--संबंध है!

थोड़ा संबंध हम बना लेते हैं। जब आपसे मैं बात कर रहा हूं, अगर हम पागल नहीं हैं--जिसकी कि संभावना बहुत कम है--तो जब आप बोल रहे हैं, तब मैं अपने भीतर बोले चला जाता हूं। जैसे ही आप चुप होते हैं, मैं बोलना शुरू करता हूं। मैं जो बोलना शुरू करता हूं, उसका संबंध मेरे भीतर जो मैं बोल रहा था, उससे होता है; आपसे नहीं होता। हां, इतना संबंध हो सकता है जैसा खूंटी और कोट का होता है, कि आपकी बात में से कोई एक बात पकड़ लूं, खूंटी बना लूं, और मेरे भीतर जो चल रहा था, उसको उस पर टांग दूं। बस, इतना ही संबंध होता है।

अर्जुन और कृष्ण की चर्चा में यह मौका बार-बार आएगा, इसलिए मैंने इसे ठीक से आपसे कह देना चाहा। अर्जुन ने बिल्कुल नहीं सुना कि कृष्ण ने क्या कहा है। नहीं कहा होता, ऐसी ही स्थिति है। वह अपने भीतर की ही सुने चला जा रहा है। वह कह रहा है, ये पूज्य, ये द्रोण, ये भीष्म... । वह यह सोच रहा होगा भीतर। इधर कृष्ण क्या बोल रहे हैं, वे जो बोल रहे हैं, वह परिधि के बाहर हो रहा है। उसके भीतर जो चल रहा है, वह यह चल रहा है। वह कृष्ण से कहता है कि मधुसूदन, ये पूज्य, ये प्रिय; इन्हें मैं मार सकता हूं? मैं अर्जुन। इसे ध्यान रखना। उसने कृष्ण की बात नहीं सुनी।

प्रश्नः ओशो, आपने बताया कि प्रोफेसर पागल होते हैं। तो आप पहले दर्शनशास्त्र के प्राध्यापक थे, अब आप आचार्य बन गए हैं। तो हमको आप उपलब्ध हुए हैं, यह हमारा सौभाग्य है। आपने अभी एक बात बताई ईगो के बारे में। तो एक प्रश्न यह उठता है कि ईगो के बिना तो प्रोजेक्शन होता ही नहीं। और साइकोलाजिस्ट जो हैं--आप तो आत्म-संश्लेषक हैं--मगर साइकोलाजिस्ट तो यह कहते हैं कि ईगो फुलफिलमेंट के बिना व्यक्तित्व का पूर्णतया विकास नहीं होता। और आप अहं-शून्यता की बात करते हैं, तो क्या ईगो को एनाइलेट करने का आप सूचन दे रहे हैं?

एक तो मैंने कहा कि प्रोफेसर के पागल होने की संभावना ज्यादा होती है। पागल हो ही जाता है, ऐसा नहीं कहा। और दूसरा यह भी नहीं कहा है कि सभी पागल प्रोफेसर होते हैं। ऐसा भी नहीं कहा है; संभावना ज्यादा होती है। असल में जहां भी तथाकथित ज्ञान का भार ज्यादा हो, बर्डन हो, वहीं चित्त विक्षिप्त हो सकता है। ज्ञान तो चित्त को मुक्त करता है, ज्ञान का भार विक्षिप्त करता है। और ज्ञान, जो मुक्त करता है, वह स्वयं से आता है। और ज्ञान, जो विक्षिप्त कर देता है, वह स्वयं से कभी नहीं आता, वह सदा पर से आता है।

दूसरी बात पूछी है कि मनोवैज्ञानिक तो अहंकार को विकसित करने की बात करते हैं। मैं तो अहंकार को शून्य करने की बात करता हूं। मनोवैज्ञानिक निश्चित ही अहंकार को विकसित करने की बात करेंगे। सभी मनोवैज्ञानिक नहीं; बुद्ध नहीं करेंगे, कृष्ण नहीं करेंगे, महावीर नहीं करेंगे। फ्रायड करेगा, एरिक्सन करेगा। करेगा, उसका कारण है। क्योंकि फ्रायड या एरिक्सन के लिए अहंकार से ऊपर कोई और सत्य नहीं है। तो जो आखिरी सत्य है, उसको विकसित किया जाना चाहिए। महावीर, बुद्ध या कृष्ण के लिए अहंकार आखिरी सत्य नहीं है, केवल बीच की सीढ़ी है। निरहंकार आखिरी सत्य है। अहंकार नहीं, ब्रह्म आखिरी सत्य है। अहंकार सिर्फ सीढ़ी है।

इसलिए बुद्ध या महावीर या कृष्ण कहेंगे, अहंकार को विकसित भी करो और विसर्जित भी करो। सीढ़ी पर चढ़ो भी और सीढ़ी को छोड़ो भी। आओ भी उस पर, जाओ भी उस पर से। उठो भी उस तक, पार भी हो जाओ। चूंकि मन के पार भी सत्ता है, इसलिए मन का जो आखिरी सत्य है--अहंकार--वह पार की सत्ता के लिए छोड़ने का पहला कदम होगा। अगर मैं अपने घर से आपके घर में आना चाहूं, तो मेरे घर की आखिरी दीवार छोड़ना ही आपके घर में प्रवेश का पहला कदम होगा। मन की आखिरी सीमा अहंकार है। अहंकार से ऊपर मन नहीं जा सकता।

चूंकि पश्चिम का मनोविज्ञान मन को आखिरी सत्य समझ रहा है, इसलिए अहंकार के विकास की बात उचित है। उचित कह रहा हूं, सत्य नहीं। सीमा के भीतर बिल्कुल ठीक है बात। लेकिन जिस दिन पश्चिम के मनस-शास्त्र को एहसास होगा, और एहसास होना शुरू हो गया है। जुंग के साथ दीवार टूटनी शुरू हो गई है। और अनुभव होने लगा है कि अहंकार के पार भी कुछ है।

लेकिन अभी भी अहंकार के पार का जो अनुभव हो रहा है पश्चिम के मनोविज्ञान को, वह अहंकार के नीचे हो रहा है--बिलो ईगो; बियांड ईगो नहीं हो रहा है। अहंकार के पार भी कुछ है--मतलब अचेतन, चेतन से भी नीचे--अति चेतन नहीं, सुपर कांशस नहीं, चेतन के भी आगे नहीं। लेकिन यह बड़ी शुभ घड़ी है। अहंकार के पार तो कम से कम कुछ है, नीचे ही सही। और अगर नीचे है तो ऊपर होने की बाधा कम हो जाती है। और अगर हम अहंकार के पार नीचे भी कुछ स्वीकार करते हैं, तो आज नहीं कल ऊपर भी स्वीकार करने की सुविधा बनती है।

मनोविज्ञान तो कहेगा, अहंकार को ठीक से इंटिग्रेटेड, क्रिस्टलाइज्ड, अहंकार को ठीक शुद्ध, साफ, संश्लिष्ट हो जाना चाहिए। यही इंडिविजुएशन है, यही व्यक्तित्व है। कृष्ण नहीं कहेंगे। कृष्ण कहेंगे, उसके आगे एक कदम और है। संश्लिष्ट, एकाग्र हुए अहंकार को किसी दिन समर्पित हो जाना चाहिए, सरेंडर्ड हो जाना चाहिए। वह आखिरी कदम है अहंकार की तरफ से। लेकिन ब्रह्म की तरफ वह पहला कदम है।

निश्चित ही बूंद अपने को खो दे सागर में, तो सागर हो सकती है। और अहंकार अपने को खो दे सागर में, तो ब्रह्म हो सकता है। लेकिन खोने के पहले होना तो चाहिए, बूंद भी होनी तो चाहिए। अगर बूंद ही न हो, भाप हो, तो सागर में खोना मुश्किल है। अगर कोई भाप की बूंद उड़ रही हो, तो उससे हम पहले कहेंगे, बूंद बन जाओ। फिर बूंद बन जाने पर कहेंगे कि जाओ, सागर में कूद जाओ। क्योंकि भाप सीधी सागर में नहीं कूद सकती, कितना ही उपाय करे, आकाश की तरफ उड़ेगी, सागर में कूद नहीं सकती। बूंद कूद सकती है।

तो पश्चिम का मनोविज्ञान बूंद बनाने तक है, कृष्ण का मनोविज्ञान सागर बनाने तक है। लेकिन पश्चिम के मनोविज्ञान से गुजरना पड़ेगा। जो अभी भाप हैं, उनको फ्रायड और जुंग के पास से गुजरना पड़ेगा, तभी वे कृष्ण के पास पहुंच सकते हैं। लेकिन बहुत से भाप के कण सीधे ही कृष्ण तक पहुंचना चाहते हैं, वे मुश्किल में पड़ जाते हैं। बीच में फ्रायड है ही, उससे बचा नहीं जा सकता। अंत वह नहीं है, लेकिन प्रारंभ वह जरूर है।

कृष्ण का मनोविज्ञान चरम मनोविज्ञान है, दि सुप्रीम। जहां से मन समाप्त होता है, वहां है वह। वह लास्ट बैरियर पर है। और फ्रायड और एडलर मन की पहली सीमा की चर्चा कर रहे हैं। यह अगर ख्याल में रहे, तो कठिनाई नहीं होगी।

मैं भी कहूंगा, अहंकार को संश्लिष्ट करें, ताकि एक दिन समर्पित कर सकें। क्योंकि समर्पित वही कर सकेगा जो संश्लिष्ट है। जिसके अपने ही अहंकार के पच्चीस खंड हैं, जो स्किजोफ्रैनिक है, जिसके भीतर एक मैं भी नहीं है, कई मैं हैं--वह समर्पण करने कैसे जाएगा? एक मैं को समर्पण करेगा, दूसरा कहेगा, रहने दो, वापस आ जाओ।

हम अभी ऐसे ही हैं। मनोविज्ञान की समस्त खोजें कहती हैं, हम पोलीसाइकिक हैं। हमारे भीतर एक मैं भी नहीं है, बहुत मैं हैं, अनेक मैं हैं। रात एक मैं कहता है कि सुबह पांच बजे उठेंगे, कसम खा लेता है। सुबह पांच बजे दूसरा मैं कहता है, सर्दी बहुत है। छोड़ो, कहां की बातों में पड़े हो! फिर कल देखेंगे। करवट लेकर सो जाता है। सुबह सात बजे तीसरा मैं कहता है कि बड़ी भूल की। शाम को तय किया था, पांच बजे सुबह बदले क्यों? बड़ा पश्चात्ताप करता है। आप एक ही आदमी पांच बजे तय किए थे, तो सुबह किस आदमी ने आपसे कहा कि सो जाओ! आपके भीतर ही कोई बोल रहा है, बाहर कोई नहीं बोल रहा है। और जब सो ही गए थे पांच बजे, तो सुबह सात बजे पश्चात्ताप क्यों कर रहे हैं? आप ही सोए थे, किसी ने कहा नहीं था। अब यह पश्चात्ताप कौन कर रहा है?

सामान्यतः हमें ख्याल आता है कि मैं एक मैं हूं, इससे बड़ा कनफ्यूजन पैदा होता है। हमारे भीतर बहुत मैं हैं। एक मैं कह देता है उठेंगे, दूसरा मैं कहता है नहीं उठते, तीसरा मैं कहता है पश्चात्ताप करेंगे। चौथा मैं सब भूल जाता है, कोई याद ही नहीं रखता इन सब बातों की। और ऐसे ही जिंदगी चलती चली जाती है।

मनोविज्ञान कहता है, पहले मैं को एक करो।

एक मैं हो तो समर्पण हो सकता है। पच्चीस स्वर हों तो समर्पण कैसे होगा! इसलिए भगवान के सामने एक मैं तो झुक जाता है चरणों में, दूसरा मैं अकड़कर खड़ा रहता है, वहीं मंदिर में। एक मैं तो चरणों में सिर रखे पड़ा रहता है, दूसरा देखता रहता है कि मंदिर में कोई देखने वाला आया कि नहीं आया। एक ही आदमी खड़ा है, पर दो मैं हैं। एक वहां चरणों में सिर रखे है, दूसरा झांककर देख रहा है कि लोग देख रहे हैं कि नहीं देख रहे हैं! अब समर्पण कर रहे हो, तो लोगों से, देखने वालों से क्या लेना-देना है! एक मैं नीचे चरणों में पड़ा है, दूसरा मैं कह रहा है, कहां के खेल में पड़े हो! सब बेकार है। कहीं कोई भगवान नहीं है। एक मैं इधर भगवान के चरण पकड़े हुए है, दूसरा मैं दुकान पर बैठा हुआ काम में लगा है।

मैं संश्लिष्ट होना चाहिए, तभी समर्पण हो सकता है। इसलिए मैं इनमें विरोध नहीं देखता। मैं इनमें विकास देखता हूं। फ्रायड अंत नहीं है, लेकिन महत्वपूर्ण है और मैं संश्लिष्ट करने में उपयोगी है। कृष्ण अंत हैं। वहां एक सीमा पर जाकर मैं को समर्पित भी कर देना है।

गुरूनहत्वा हि महानुभावान्

श्रेयो भोक्तुं भैक्ष्यमपीह लोके।

हत्वार्थकामांस्तु गुरुनिहैव

भुंजीय भोगान्रुधिरप्रदिग्धान्।। 5।।

महानुभाव गुरुजनों को न मारकर, इस लोक में भिक्षा का अन्न भी भोगना कल्याणकारक समझता हूं,

क्योंकि गुरुजनों को मारकर भी इस लोक में रुधिर से सने हुए अर्थ और कामरूप भोगों को ही तो भोगूंगा।

न चैतद्विद्मः कतरन्नो गरीयो

यद्वा जयेम यदि वा नो जयेयुः।

यानेव हत्वा न जिजीविषाम-

स्तेऽवस्थिताः प्रमुखे धार्तराष्ट्राः।। 6।।

हम लोग यह भी नहीं जानते कि हमारे लिए क्या करना श्रेष्ठ है, अथवा यह भी नहीं जानते कि हम जीतेंगे या हमको वे जीतेंगे। और जिनको मारकर जीना भी नहीं चाहते, वे ही धृतराष्ट्र के पुत्र हमारे सामने खड़े हैं।

कार्पण्यदोषोपहतस्वभावः

पृच्छामि त्वां धर्मसंमूढचेताः।

यच्छ्रेयः स्यान्निश्चितं ब्रूहि तन्मे

शिष्यस्तेऽहं शाधि मां त्वां प्रपन्नम्।। 7।।

इसलिए कायरतारूप दोष करके उपहत हुए स्वभाव वाला और धर्म के विषय में मोहितचित्त हुआ मैं आपको पूछता हूं, जो कुछ निश्चय किया हुआ कल्याणकारक साधन हो, वह मेरे लिए कहिए, क्योंकि मैं आपका शिष्य हूं, इसलिए आपके शरण हुए मेरे को शिक्षा दीजिए।

अर्जुन अपनी ही बात कहे चला जाता है। पूछता मालूम पड़ता है कृष्ण से, लेकिन वस्तुतः कृष्ण को ही धर्म क्या है, बताए चला जाता है। पूछ रहा है कि अविद्या से मेरा मन भर गया है। क्या उचित है, क्या अनुचित है, उसका मेरा बोध खो गया है। लेकिन साथ ही कहे चला जा रहा है कि अपनों को मारकर तो जो अन्न भी खाऊंगा, वह रक्त से भरा हुआ होगा। अपनों को मारकर सम्राट बन जाने से तो बेहतर है कि मैं सड़क का भिखारी हो जाऊं। निर्णय दिए चला जा रहा है। निर्णय दिए चला जा रहा है और कह रहा है, अविद्या से मेरा मन भर गया है। दोनों बातों में कोई संगति नहीं है। अविद्या से मन भर गया है, तो अर्जुन के पास कहने को कुछ भी नहीं होना चाहिए। इतना ही काफी है कि अविद्या से मेरा मन भर गया है; मुझे मार्ग बताएं। मैं नहीं जानता, क्या ठीक है, क्या गलत है। नहीं, लेकिन साथ ही वह कहता है कि यह ठीक है और यह गलत है।

चित्त हमारा कितना ही कहे कि अविद्या से भर गया, अहंकार मानने को राजी नहीं होता। अहंकार कहता है, मैं और अविद्या से भर गया! मुझे पता है कि धर्म क्या है और अधर्म क्या है।

दूसरी बात यह भी देख लेने जैसी है कि अहंकार जहां भी होता है, वहां सदा अतियों का चुनाव करता है, एक्सट्रीम इ.ज दि च्वाइस। एक अति से ठीक दूसरी अति को चुनता है। अहंकार कभी मध्य में खड़ा नहीं होता; खड़ा नहीं हो सकता; क्योंकि ठीक मध्य में अहंकार की मृत्यु है। तो वह कहता है, सम्राट होने से तो भिखारी होना बेहतर है। दो आखिरी पोलेरिटी चुनता है। वह कहता है, सम्राट होने से तो भिखारी होना बेहतर है। अर्जुन या तो सम्राट हो सकता है या भिखारी हो सकता है, बीच में कहीं नहीं हो सकता। या तो उस छोर पर नंबर एक या इस छोर पर नंबर एक; लेकिन नंबर एक ही हो सकता है।

यह थोड़ा ध्यान रखने जैसा है। बर्नार्ड शा ने कभी कहा कि अगर मुझे स्वर्ग भी मिले और नंबर दो होना पड़े, तो मैं इनकार करता हूं। मैं नर्क में ही रहना पसंद कर लूंगा, लेकिन नंबर एक होना चाहिए। नंबर एक होना चाहिए, नर्क भी पसंद कर लूंगा। नंबर दो भी अगर हो जाता हूं, तो स्वर्ग मुझे नहीं चाहिए। क्या मजा होगा उस स्वर्ग में जिसमें नंबर दो हो गए! नर्क में भी मजा हो सकता है, अगर नंबर एक... । इसलिए नंबर एक होने वाले लोग अगर सब नर्क में इकट्ठे हो जाते हों तो बहुत हैरानी नहीं है। दिल्ली से नर्क का रास्ता एकदम करीब है। दिल्ली से गए कि नर्क में गए। वहां बीच में गैप भी नहीं है। वह जो नंबर एक होने के लिए पीड़ित है, अगर उससे सम्राट होना छूटता हो तो वह तत्काल जो दूसरा विकल्प है, वह भिखारी होने का है।

यह विकल्प भी देखना जरूरी है; क्योंकि यह विकल्प सिर्फ अहंकार ही चुनता है। यह विकल्प--एक्सट्रीम, अति का विकल्प--सदा अहंकार ही चुनता है। क्योंकि अहंकार को इससे मतलब नहीं है कि सम्राट बनो कि भिखारी बनो; मतलब इससे है कि नंबर एक!

अर्जुन कह रहा है कि इससे तो बेहतर है कि मैं भिखारी ही हो जाऊं, सड़क पर भीख मांगूं। ऊपर से दिखाई पड़ता है कि बड़ी विनम्रता की बात कह रहा है। सम्राट होना छोड़कर भीख मांगने की बात कह रहा है। लेकिन भीतर से बहुत फर्क नहीं है। भीतर बात वही है। भीतर बात वही है, अति पर होने की बात अहंकार की इच्छा है। आखिरी पोल पर, ध्रुव पर खड़े होने की इच्छा अहंकार की इच्छा है। या तो इस कोने या उस कोने, मध्य उसके लिए नहीं है।

बुद्ध के मनोविज्ञान का नाम मध्यमार्ग है, दि मिडल वे। और जब बुद्ध से किसी ने पूछा कि आप अपने मार्ग को मज्झिम निकाय--बीच का मार्ग--क्यों कहते हैं? तो बुद्ध ने कहा, जो दो अतियों के बिल्कुल बीच में खड़ा हो जाए, वही केवल अहंकार से मुक्त हो सकता है, अन्यथा मुक्त नहीं हो सकता।

एक छोटी-सी घटना बुद्ध के जीवन के साथ जुड़ी है। एक गांव में बुद्ध आए हैं। सम्राट दीक्षित होने आ गया। और उस सम्राट ने कहा कि मुझे भी दीक्षा दे दें। बुद्ध के भिक्षुओं ने बुद्ध के कान में कहा, सावधानी से देना इसे आप। क्योंकि हमने जो इसके संबंध में सुना है, वह बिल्कुल विपरीत है। यह आदमी कभी रथ से नीचे नंगे पैर भी नहीं चला है। यह आदमी अपने महल में, जो भी संभव है, सारे भोग के साधनों में डूबा पड़ा है। यह अपनी सीढ़ियां भी चढ़ता है तो सीढ़ियों के किनारे रेलिंग की जगह नंगी स्त्रियों को खड़ा रखता है, उनके कंधों पर हाथ रखकर चढ़ता है। जरा इससे सावधान रहना। शराब और स्त्री के अतिरिक्त इसकी जिंदगी में कभी कुछ नहीं आया है। और यह आज अचानक भिक्षु होने और त्यागी बनने, तपश्चर्या का व्रत लेने आया है। यह आदमी बीच में धोखा न दे जाए।

बुद्ध ने कहा, जहां तक मैं आदमियों को जानता हूं, यह आदमी धोखा न देगा। यह एक अति से ऊब गया, अब दूसरी अति पर जा रहा है। एक एक्सट्रीम से ऊब गया और अब दूसरे एक्सट्रीम पर जा रहा है। पर उन्होंने कहा, हमें संदेह होता है, क्योंकि यह कल तक बिल्कुल और था। बुद्ध ने कहा, मुझे संदेह नहीं होता है। इस तरह के लोग अक्सर ही अतियों में चुनाव करते हैं। भय मत करो। उन्होंने कहा, हमें नहीं लगता है कि यह भीख मांग सकेगा, सड़क पर नंगे पैर चल सकेगा, धूप-छांव सह सकेगा, हमें नहीं दिखाई पड़ता। बुद्ध ने कहा, यह तुम से ज्यादा सह सकेगा। हंसे वे सब। उन्होंने कहा कि इस मामले में कम से कम बुद्ध निश्चित ही गलत हो जाने वाले हैं।

लेकिन नहीं, बुद्ध गलत नहीं हुए। दूसरे ही दिन से देखा गया कि भिक्षु अगर रास्ते पर चलते, तो रास्ते के नीचे चलता वह सम्राट जहां कांटे होते। और भिक्षु अगर वृक्ष की छाया में बैठते, तो वह सम्राट धूप में खड़ा रहता। और भिक्षु अगर दिन में एक बार भोजन करते, तो वह सम्राट दो दिन में एक बार भोजन करता।

छह महीने में वह सूखकर काला पड़ गया। अति सुंदर उसकी काया थी। भूख से हड्डियां उसकी बाहर निकल आईं। पैरों में घाव बन गए। बुद्ध ने अपने भिक्षुओं से पूछा कि कहो, तुम कहते थे कि यह आदमी भरोसे का नहीं, और मैंने तुमसे कहा था कि यह आदमी बहुत भरोसे का है, यह आदमी तुमसे आगे तपश्चर्या कर लेगा। पर, वे भिक्षु कहने लगे, हम हैरान हैं कि आप कैसे पहचाने!

बुद्ध ने कहा, अहंकार सदा एक अति से दूसरी अति चुन लेता है। बीच में नहीं रुक सकता। यह सम्राटों में सम्राट था, यह भिक्षुओं में भिक्षु है। यह सम्राटों में नंबर एक सम्राट था। इसने सारी सुंदर स्त्रियां राज्य की इकट्ठी

कर रखी थीं। इसने सारे हीरे-जवाहरात अपने महल के रास्तों पर जड़ रखे थे। अब यह भिक्षुओं में साधारण भिक्षु नहीं है। यह भिक्षुओं में असाधारण भिक्षु है। तुम चलते हो सीधे रास्ते पर, यह चलता है तिरछे रास्ते पर। तुम कांटे बचाकर चलते हो, यह कांटे देखकर चलता है कि कहां-कहां हैं। तुम छाया में बैठते हो, यह धूप में खड़ा होता है। यह नंबर एक रहेगा, यह कहीं भी रहे। यह नंबर एक होना नहीं छोड़ सकता; यह तुम्हें मात करके रहेगा। इसने सम्राटों को मात किया, तुम भिखारियों को कैसे मात नहीं करेगा! अहंकार अति चुनता है।

अर्जुन कह रहा है कि छोड़ दूं सब साम्राज्य, कुछ अर्थ नहीं। भिक्षा मांग लेंगे। मांग सकता है, बिल्कुल मांग सकता है। अहंकार की वहां भी तृप्ति हो सकती है। मध्य में नहीं रुक सकता। अति से अति पर जा सकता है। अति से अति पर जाने में कोई रूपांतरण, कोई ट्रांसफार्मेशन नहीं है।

फिर बुद्ध एक दिन उस सम्राट के पास गए सांझ को। रुग्ण, बीमार, वह राह के किनारे पड़ा था। बुद्ध ने उससे कहा, मैं एक बात पूछने आया हूं। मैंने सुना है कि तुम जब सम्राट थे, तो वीणा बजाने में बहुत कुशल थे। मैं तुमसे पूछने आया हूं कि वीणा के तार अगर बहुत कसे हों, तो संगीत पैदा होता है? उसने कहा, कैसे पैदा होगा! तार टूट जाते हैं। और बुद्ध ने कहा, बहुत ढीले हों तार, तब संगीत पैदा होता है? उस सम्राट ने कहा कि नहीं, बहुत ढीले हों तो टंकार ही पैदा नहीं होती संगीत कैसे पैदा होगा? बुद्ध ने कहा, अब मैं जाऊं। एक बात और तुमसे कह जाऊं कि जो वीणा के तारों का नियम है--न बहुत ढीले, न बहुत कसे; अर्थात न कसे न ढीले, बीच में कहीं; जहां न तो कहा जा सके कि तार कसे हैं, न कहा जा सके कि तार ढीले हैं--ठीक मध्य में जब तार होते हैं, तभी संगीत पैदा होता है। जीवन की वीणा का भी नियम यही है।

काश! अर्जुन बीच की बात करता, तो कृष्ण कहते, जाओ, बात समाप्त हो गई, कोई अर्थ न रहा। लेकिन वह बीच की बात नहीं कर रहा है। वह एक अति से दूसरी अति की बात कर रहा है। दूसरी अति पर अहंकार फिर अपने को भर लेता है।

प्रश्नः ओशो, यहां पर एक मुद्दे का प्रश्न आ गया है श्रोतागणों से। पूछते हैं कि कोर्ट में सब से पहले गीता पर क्यों हाथ रखवाते हैं? कोर्ट में रामायण या उपनिषद क्यों नहीं रखते? क्या गीता में एक श्रद्धा है या सिर्फ अंधश्रद्धा है?

पूछा है कि अदालत में शपथ लेते वक्त गीता पर हाथ क्यों रखवाते हैं? रामायण पर क्यों नहीं रखवा लेते? उपनिषद पर क्यों नहीं रखवा लेते? बड़ा कारण है। पता नहीं अदालत को पता है या नहीं, लेकिन कारण है; कारण बड़ा है।

राम, कितने ही बड़े हों, लेकिन इस मुल्क के चित्त में वे पूर्ण अवतार की तरह नहीं हैं; अंश है उनका अवतार। उपनिषद के ऋषि कितने ही बड़े ज्ञानी हों, लेकिन अवतार नहीं हैं। कृष्ण पूर्ण अवतार हैं। परमात्मा अगर पूरा पृथ्वी पर उतरे, तो करीब-करीब कृष्ण जैसा होगा। इसलिए कृष्ण इस मुल्क के अधिकतम मन को छू पाए हैं; बहुत कारणों से। एक तो पूर्ण अवतार का अर्थ होता है, मल्टी डायमेंशनल, बहुआयामी; जो मनुष्य के समस्त व्यक्तित्व को स्पर्श करता हो। राम वन डायमेंशनल हैं।

हर्बर्ट मारक्यूस ने एक किताब लिखी है, वन डायमेंशनल मैन, एक आयामी मनुष्य। राम वन डायमेंशनल हैं, एक आयामी हैं, एकसुरे हैं, एक ही स्वर है उनमें। स्वभावतः एक ही स्वर का आदमी सिर्फ उस एकसुरे आदमियों के लिए प्रीतिकर हो सकता है, सबके लिए प्रीतिकर नहीं हो सकता। महावीर और बुद्ध सभी एकसुरे

हैं। एक ही स्वर है उनका। इसलिए समस्त मनुष्यों के लिए महावीर और बुद्ध प्रीतिकर नहीं हो सकते। हां, मनुष्यों का एक वर्ग होगा, जो बुद्ध के लिए दीवाना हो जाए, जो महावीर के लिए पागल हो जाए। लेकिन एक वर्ग ही होगा, सभी मनुष्य नहीं हो सकते।

लेकिन कृष्ण मल्टी डायमेंशनल हैं। ऐसा आदमी जमीन पर खोजना कठिन है, जो कृष्ण में प्रेम करने योग्य तत्व न पा ले। चोर भी कृष्ण को प्रेम कर सकता है। नाचने वाला भी प्रेम कर सकता है। साधु भी प्रेम कर सकता है; असाधु भी प्रेम कर सकता है। युद्ध के क्षेत्र में लड़ने वाला भी प्रेम कर सकता है; गोपियों के साथ नृत्य करने वाला भी प्रेम कर सकता है। कृष्ण एक आर्केस्ट्रा हैं। बहुत वाद्य हैं; सब बज रहे हैं। जिसे जो वाद्य पसंद हो, वह अपने वाद्य को तो प्रेम कर ही सकता है। और इसलिए पूरे कृष्ण को प्रेम करने वाले आदमी पैदा नहीं हो सके। जिन्होंने भी प्रेम किया है, उन्होंने कृष्ण में चुनाव किया है।

सूरदास तो बालकृष्ण को प्रेम करते हैं, गोपियों से वे बहुत डरते हैं। इसलिए बालकृष्ण को प्रेम करते हैं। क्योंकि बालकृष्ण उन्हें जमते हैं कि बिल्कुल ठीक हैं। ठीक है कि बालक है; तो चलेगा। जवान कृष्ण से सूरदास को डर लगता है, क्योंकि जवान सूरदास से सूरदास को डर लगा है। तो अपना चुनाव है उनका। वह अपना चुनाव कर लेंगे।

अब अगर केशवदास को कृष्ण को प्रेम करना है, तो बालकृष्ण की वह फिक्र ही छोड़ देंगे। वह तो जवान कृष्ण को--जो कि चांद की छाया में नाच रहा है; जिसके कोई नीति-नियम नहीं हैं; जिसकी कोई मर्यादा नहीं, जो अमर्याद है, जिसको कोई बंधन नहीं पकड़ते; जो एकदम अराजक है--तो केशवदास तो उस युवा कृष्ण को चुन लेंगे; बालकृष्ण की फिक्र छोड़ देंगे।

अब तक कृष्ण को पूरा प्रेम करने वाला आदमी नहीं हुआ। क्योंकि पूरे कृष्ण को प्रेम करना तभी संभव है, जब वह आदमी भी मल्टी डायमेंशनल हो। हम आमतौर से एक आयामी होते हैं। एक हमारा ट्रैक होता है व्यक्तित्व का, एक रेल की पटरी होती है, उस पटरी पर हम चलते हैं।

मगर कृष्ण में हमें अपनी पटरी के योग्य मिल जाएगा। इसलिए कृष्ण इस मुल्क के हर तरह के आदमी के लिए प्रीतिकर हैं। बुरे से बुरे आदमी के लिए प्रीतिकर हो सकते हैं।

ध्यान रहे, अदालत में अच्छे आदमियों को तो कभी-कभी जाना पड़ता है--यानी जब बुरे आदमी उनको ले जाते हैं, तब जाना पड़ता है--अदालत आमतौर से बुरे आदमियों की जगह है। बुरा आदमी अगर राम को प्रेम करता होता, तो अदालत में आता ही नहीं। जो अदालत में आ गया है, राम की कसम खिलाना नासमझी है उसको। कृष्ण की कसम खिलाई जा सकती है। अदालत में आकर भी आदमी कृष्ण को प्रेम करता हुआ हो सकता है। बुरे आदमी के लिए भी कृष्ण खुले हैं। इन बुरे आदमियों के लिए भी उनके मकान का एक दरवाजा है, जो खुला है।

राम वगैरह के मंदिर में इकहरे दरवाजे हैं; कृष्ण के मंदिर में बहुत दरवाजे हैं। वहां शराबी भी जाए, तो उसके लिए भी एक दरवाजा है। असल में कृष्ण से बड़ी छाती का आदमी खोजना बहुत मुश्किल है। इसलिए मैं नहीं कहता कि अदालत को पता होगा--यह मुझे पता नहीं--लेकिन जाने-अनजाने, कृष्ण का रेंज व्यक्तियों को छूने का सर्वाधिक है। अधिकतम व्यक्ति उनसे स्पर्शित हो सकते हैं। ऐसा कोई भी व्यक्ति नहीं है, जिससे कृष्ण आलिंगन करने से इनकार करें; कहें कि तू हमारे लिए नहीं, हट! सबके लिए हैं। इसलिए सर्वाधिक के लिए होने से संभावना है।

और पूछा है कि क्या सिर्फ अंधविश्वास है?

नहीं, सिर्फ अंधविश्वास नहीं है। इस जगत में सत्य से भी बड़ा सत्य प्रेम है। और जिसके प्रति प्रेम है, उसके प्रति असत्य होना मुश्किल है। असल में जिसके प्रति प्रेम है, हम उसी के प्रति सत्य हो पाते हैं। जिंदगी में हम सत्य वहीं हो पाते हैं, जहां हमारा प्रेम है। और अगर प्रेमी के पास भी आप सत्य न हो पाते हों, तो समझना कि प्रेम का धोखा है।

अगर एक पति अपनी पत्नी से भी कुछ छिपाता हो और सत्य न हो पाता हो; एक पत्नी अपने पति से भी कुछ छिपाती हो और सत्य न हो पाती हो--कोई बड़ी बात नहीं, छोटी-मोटी बात भी छिपाती हो; अगर उसे क्रोध आ रहा हो और क्रोध को भी छिपाती हो--तो भी प्रेम की कमी है; तो भी प्रेम नहीं है। प्रेम अपने को पूरा नग्न उघाड़ देता है--सब तरह से, सब परतों पर।

अंधविश्वास कारण नहीं है। प्रेम की रग को पकड़ना जरूरी है, तो ही सत्य बुलवाया जा सकता है। यह भी मैं नहीं जानता कि अदालत को पता है या नहीं। क्योंकि अदालत को प्रेम का कुछ पता होगा, इसमें जरा संदेह है। लेकिन इतना तो मनस-शास्त्र कहता है कि अगर हम प्रेम की रग को पकड़ लें, तो आदमी के सत्य बोलने की सर्वाधिक संभावना है। बोलेगा कि नहीं, यह दूसरी बात है। लेकिन अधिकतम संभावना वहीं है, जहां प्रेम की रग को हम पकड़ लेते हैं। और जहां प्रेम नहीं है, वहां अधिकतम असत्य की संभावना है; क्योंकि सत्य का कोई कारण नहीं रह जाता है।

न हि प्रपश्यामि ममापनुद्याद्

यच्छोकमुच्छोषणमिन्द्रियाणाम्।

अवाप्य भूमावसपत्नमृद्धं

राज्यं सुराणामपि चाधिपत्यम्।। 8।।

क्योंकि भूमि में निष्कंटक धनधान्य संपन्न राज्य को और देवताओं के स्वामीपन को प्राप्त होकर भी मैं उस उपाय को नहीं देखता हूं जो कि मेरी इंद्रियों के सुखाने वाले शोक को दूर कर सके।

संजय उवाच

एवमुक्त्वा हृषीकेशं गुडाकेशः परंतप।

न योत्स्य इति गोविन्दमुक्त्वा तूष्णीं बभूव ह।। 9।।

तमुवाच हृषीकेशः प्रहसन्निव भारत।

सेनयोरुभयोर्मध्ये विषीदन्तमिदं वचः।। 10।।

संजय बोलेः हे राजन, निद्रा को जीतने वाला अर्जुन अंतर्यामी भगवान श्री कृष्ण के प्रति इस प्रकार कहकर फिर (श्री गोविंद को) युद्ध नहीं करूंगा, ऐसे स्पष्ट कहकर चुप हो गया।

उसके उपरांत हे भरतवंशी धृतराष्ट्र, अंतर्यामी श्री कृष्ण ने दोनों सेनाओं के बीच में उस शोकयुक्त अर्जुन को हंसते हुए से यह वचन कहा।

अर्जुन अति अनिश्चय की स्थिति में है। संजय कहता है, फिर भी ऐसा कहकर कि मैं युद्ध नहीं करूंगा, अर्जुन रथ में बैठ गया है। अति अनिश्चय की स्थिति में ऐसा निश्चयात्मक भाव कि मैं युद्ध नहीं करूंगा, सोचने जैसा है। इतना डिसीसिव वक्तव्य, इतना निर्णायक वक्तव्य कि मैं युद्ध नहीं करूंगा और इतनी अनिश्चय की स्थिति कि क्या ठीक है, क्या गलत है; इतनी अनिश्चय की स्थिति कि मन अविद्या से भरा है मेरा, मुझे प्रकाशित

करो। लेकिन मुझे प्रकाशित करो, यह कहता हुआ भी वह निर्णय तो अपना ही ले लेता है। वह कहता है, मैं युद्ध नहीं करूंगा।

इसके जरा भीतर प्रवेश करना जरूरी होगा। अक्सर जब आप बहुत निश्चय की बात बोलते हैं, तब आपके भीतर अनिश्चय गहरा होता है। एक आदमी कहता है कि मैं दृढ़ निश्चय करता हूं। जब ऐसा कोई आदमी कहे, तो समझना कि उसके भीतर अनिश्चय बहुत ज्यादा है, नहीं तो दृढ़ निश्चय की जरूरत नहीं पड़ेगी। जब एक आदमी कहे, मेरा ईश्वर पर पक्का भरोसा है, तो समझना कि भरोसा भीतर बिल्कुल नहीं है। नहीं तो पक्के भरोसे का लेबल लगाने की जरूरत नहीं पड़ेगी। जब एक आदमी बार-बार कहे कि मैं सत्य ही बोलता हूं, तब समझना कि भीतर असत्य की बहुत संभावना है। अन्यथा ऐसे बोलने की जरूरत नहीं पड़ेगी।

हम अपने भीतर जो डांवाडोलपन है, उसे निश्चयात्मक वक्तव्यों को ऊपर से थोपकर मिटाने की कोशिश में रत होते हैं। हम सभी, हम सभी जो भीतर बिल्कुल निश्चित नहीं है, उसको भी बाहर चेहरे पर निश्चित करके देख लेना चाहते हैं।

अब यह अर्जुन बड़े मजे की बात कह रहा है। वह कह रहा है, मैं युद्ध नहीं करूंगा। उसने तो आखिरी निर्णय ले लिया, उसने निष्पत्ति ले ली। उसने तो कनक्लूडिंग बात कह दी। अब कृष्ण के लिए छोड़ा क्या है? अगर युद्ध नहीं करूंगा, तो अब कृष्ण से पूछने को क्या बचा है? सलाह क्या लेनी है?

इसलिए दूसरी बात जो संजय कह रहा है, वह बड़ी मजेदार है। वह कह रहा है, कृष्ण ने हंसते हुए... ।

वह हंसी किस बात पर है? हंसने का क्या कारण है? अर्जुन हंसी योग्य है? इतनी दुख और पीड़ा में पड़ा हुआ, इतने संकट में, इतनी क्राइसिस में--और कृष्ण हंसते हैं! लेकिन अब तक नहीं हंसे थे। पहली दफे कृष्ण हंसते हैं उसके वक्तव्य को सुनकर।

उस हंसी का कारण है। कि वे देखते हैं, इतना अनिश्चित आदमी इतने निश्चय वक्तव्य दे रहा है कि युद्ध नहीं करूंगा! धोखा किसको दे रहा है? उसके धोखे पर, उसके सेल्फ डिसेप्शन पर, उसकी आत्मवंचना पर कृष्ण को हंसी आ जाती है। जो जानता है, उसे आएगी। देख रहे हैं कि नीचे तो दरारें ही दरारें हैं उसके मन में। देख रहे हैं कि नीचे तो कटा-कटा मन है उसका, टूटा-टूटा मन है। देख रहे हैं कि नीचे कुछ भी तय नहीं है और ऊपर से वह कहता है कि मैं युद्ध नहीं करूंगा। यह वह अपने को धोखा दे रहा है।

हम सब देते हैं। और जब भी हम बहुत निश्चय की भाषा बोलते हैं, तब भीतर अनिश्चय को छिपाते हैं। जब हम बहुत प्रेम की भाषा बोलते हैं, तो भीतर घृणा को छिपाते हैं। और जब हम बहुत आस्तिकता की भाषा बोलते हैं, तो भीतर नास्तिकता को छिपाते हैं। आदमी उलटा जीता है। ऊपर जो दिखाई पड़ता है, ठीक उससे उलटा भीतर होता है।

इसलिए कृष्ण की हंसी बिल्कुल मौजूं है, ठीक वक्त पर है। असामयिक नहीं है, लगेगी असामयिक। अच्छा नहीं लगता यह। बड़ी कठोर बात मालूम पड़ती है कि कृष्ण हंसें। इतने दुख, इतने संकट में पड़ा हुआ अर्जुन, उस पर हंसें! लेकिन हंसी का कारण है। देख रहे हैं उसको कि कैसा दोहरा काम अर्जुन कर रहा है। एक तरफ कुछ कह रहा है, दूसरी तरफ ठीक उलटा वक्तव्य दे रहा है।

दो-सुरे आदमी के वक्तव्य में, दोहरे आदमी के वक्तव्य में हमेशा अंतर्विरोध होता है। अंतर्विरोध बहुत साफ है। यानी वह ऐसा काम कर रहा है, कि एक हाथ से ईंट रख रहा है मकान की और दूसरे हाथ से खींच रहा है; एक हाथ से दीवार उठाता है, दूसरे हाथ से खींचता है; दिनभर मकान बनाता है, रात गिरा लेता है। यह जो

दोहरा काम वह कर रहा है, इसलिए कृष्ण हंस रहे हैं। यह हंसी उसके व्यक्तित्व के इस दोहरेपन पर, इस स्किजोफ्रेनिक, बंटे हुए पन पर हंसी के सिवाय और क्या हो सकता है!

मगर कृष्ण की हंसी में काफी इशारा है। लेकिन मैं नहीं समझता कि अर्जुन ने वह हंसी देखी होगी। और मैं नहीं समझता कि अर्जुन ने वह हंसी सुनी होगी।

आखिरी सूत्र और पढ़ लें।

श्री भगवानुवाच

अशोच्यानन्वशोचस्त्वं प्रज्ञावादांश्च भाषसे।

गतासूनगतासूंश्च नानुशोचन्ति पण्डिताः।। 11।।

श्री कृष्ण बोलेः हे अर्जुन, तू न शोक करने योग्यों के लिए शोक करता है, और पंडितों के से वचनों को कहता है, परंतु पंडितजन, जिनके प्राण चले गए हैं, उनके लिए और जिनके प्राण नहीं गए हैं, उनके लिए भी नहीं शोक करते हैं।

हंसकर जो कृष्ण ने कहा है, वह और भी कठोर है। वे अर्जुन को कहते हैं कि तुम शास्त्र की भाषा बोल रहे हो, लेकिन पंडित नहीं हो, मूढ़ हो, मूर्ख हो। क्योंकि शास्त्र की भाषा बोलते हुए भी तुम जो निष्पत्तियां निकाल रहे हो, वे तुम्हारी अपनी हैं। शास्त्र की भाषा बोल रहा है--क्या-क्या अधर्म हो जाएगा, क्या-क्या अशुभ हो जाएगा, क्या-क्या बुरा हो जाएगा--पूरी शास्त्र की भाषा अर्जुन बोल रहा है। लेकिन शास्त्र की भाषा पर अपने को थोप रहा है। जो निष्कर्ष लेना चाहता है, वह उसके भीतर लिया हुआ है। शास्त्र से केवल गवाही और समर्थन खोज रहा है।

मूर्ख और पंडित में एक ही फर्क है। मूर्ख भी शास्त्र की भाषा बोल सकता है, अक्सर बोलता है; कुशलता से बोल सकता है। क्योंकि मूर्ख होने और शास्त्र की भाषा बोलने में कोई विरोध नहीं है। लेकिन मूर्ख शास्त्र से वही अर्थ निकाल लेता है, जो निकालना चाहता है। शास्त्र से मूर्ख को कोई प्रयोजन नहीं है; प्रयोजन अपने से है। शास्त्र को भी वह अपने साथ खड़ा कर लेता है गवाही की तरह।

सिमन वेल ने कहीं एक वाक्य लिखा है; लिखा है कि कुछ लोग हैं जो सत्य को भी अपने पक्ष में खड़ा करना चाहते हैं, और कुछ लोग हैं जो सत्य के पक्ष में स्वयं खड़े होना चाहते हैं। बस, दो ही तरह के लोग हैं। कुछ लोग हैं जो धर्म को अपनी पीठ के पीछे खड़ा करना चाहते हैं, शास्त्र को अपने पीछे खड़ा करना चाहते हैं; और कुछ लोग हैं जो धर्म के साथ खड़े होने का साहस रखते हैं।

लेकिन धर्म के साथ खड़ा होना बड़ा क्रांतिकारी कदम है; क्योंकि धर्म मिटा डालेगा, आपको तो बचने नहीं देगा। लेकिन धर्म को अपने पक्ष में खड़ा कर लेना बहुत कनफर्मिस्ट, बहुत सरल, बड़ा रूढ़िग्रस्त कदम है; क्योंकि उससे आप अपने को बचाने के लिए सुविधा और सिक्योरिटी खोजते हैं।

अर्जुन पंडित की भाषा बोल रहा है, पंडित जैसी बातें बोल रहा है। लेकिन अर्जुन को ज्ञान से, प्रज्ञा से कोई लेना-देना नहीं है। अपने पक्ष में सारे शास्त्रों को खड़ा करना चाहता है।

और जो व्यक्ति शास्त्र को अपने पक्ष में खड़ा कर लेना चाहता है, स्वभावतः अपने को शास्त्र के ऊपर रख लेता है। और अपने को शास्त्र के ऊपर रख लेने से ज्यादा खतरनाक और कुछ भी नहीं हो सकता है। क्योंकि

उसने यह तो मान ही लिया कि वह ठीक है; उसमें गलती होने की तो उसे अब कोई संभावना न रही। उसने अपने ठीक होने का तो अंतिम निर्णय ले लिया। अब वह शास्त्रों में भी अपने को खोज लेता है।

ईसाई फकीर एक बात कहा करते हैं कि शैतान भी शास्त्र से हवाले दे देता है; अक्सर देता है। कोई कठिनाई नहीं है शास्त्र से हवाले दे देने में। आसान है बात। अर्जुन भी वैसे ही शास्त्र के हवाले दे रहा है।

और बड़े मजे की बात यह है कि किस आदमी के सामने शास्त्र के हवाले दे रहा है! जब शास्त्र मूर्तिमंत सामने खड़ा हो, तब शास्त्र के हवाले सिर्फ नासमझ दे सकता है। किस आदमी के सामने ज्ञान की बातें बोल रहा है! जब ज्ञान सामने खड़ा हो, तब ज्ञान की उधार बातें सिर्फ नासमझ बोल सकता है। कृष्ण का हंसना उचित है। और कृष्ण का यह कहना भी उचित है कि अर्जुन तू पंडित की भाषा बोलता है, लेकिन निपट गंवारी का काम कर रहा है। किसके सामने?

सुना है मैंने कि बोधिधर्म के पास एक आदमी गया बुद्ध की एक किताब लेकर, और बोधिधर्म से बोला कि इस किताब के संबंध में मुझे कुछ समझाओ। बोधिधर्म ने कहा कि यदि तू समझता है कि बुद्ध की किताब मैं समझा सकूंगा, तो किताब को फेंक, मुझसे ही समझ ले। और अगर तू समझता है कि बुद्ध की किताब बोधिधर्म नहीं समझा सकेगा, तो मुझे फेंक, किताब को ही समझ ले।

कृष्ण की हंसी बहुत उचित है। किनके हवाले दे रहा है? और बड़े मजे की बात है, पूरे समय कह रहा है, भगवन्! कह रहा है, भगवान! हे भगवान! हे मधुसूदन! और शास्त्र के हवाले दे रहा है।

भगवान के सामने भी कुछ नासमझ शास्त्र लेकर पहुंच जाते हैं; उनकी नासमझी का कोई अंत नहीं है। अगर कभी भगवान भी उन्हें मिल जाए, तो उसके सामने भी वे गीता के उद्धरण देंगे कि गीता में ऐसा लिखा है। तो भगवान को हंसना ही पड़ेगा कि कम से कम अब तो गीता छोड़ो। लेकिन वे नहीं छोड़ेंगे।

वह अर्जुन, जो आम पंडित की नासमझी है, वही कर रहा है। और कृष्ण सीधे और साफ कह रहे हैं। इतनी सीधी और साफ बात कम कही गई है, बहुत कम कही गई है। कृष्ण कह सकते हैं, कहने का कारण है। लेकिन अर्जुन इसे भी सुनेगा या नहीं, यह कहना मुश्किल है! अर्जुन करीब-करीब पूरी गीता में, बहुत समय तक, अंधे और बहरे का ही प्रदर्शन करता है। अन्यथा शायद गीता की जरूरत ही नहीं थी। अगर वह एक बार गौर से आंख खोलकर कृष्ण को देख लेता, तो ही बात समाप्त हो गई थी। लेकिन वह भगवान भी कहे चला जाता है और उनकी तरफ ध्यान भी नहीं दे रहा है!

जब खुद भगवान ही सारथी हैं--अगर सच में वह जानता है कि वे भगवान हैं--तो जब वे सारथी बनकर ही रथ पर बैठ गए हों और लगाम उनके ही हाथ में हो, तब वह व्यर्थ अपने सिर पर वजन क्यों ले रहा है सोचने का! अगर वे भगवान ही हैं, ऐसा वह जानता है, तो अब और पूछने की क्या गुंजाइश है? हाथ में लगाम उनके है, छोड़ दे बात! लेकिन वह कहता है भगवान, जानता अभी नहीं है।

हम भी भगवान कहे चले जाते हैं, जानते नहीं हैं। मंदिर में एक आदमी भगवान के सामने खड़े होकर कहता है कि नौकरी नहीं लग रही, नौकरी लगवा दें भगवान। अगर भगवान को जानता ही है, तो इतना तो जानना ही चाहिए कि नौकरी नहीं लग रही, इसका उन्हें पता होगा। यह कृपा करके इन्फर्मेशन मत दें। और अगर इतना भी उनको पता नहीं है, तो ऐसे भगवान के सामने हाथ जोड़कर भी कुछ होने वाला नहीं है। जो आम भक्त भगवान के सामने कर रहा है, कह रहा है, भगवान! और शक उसे इतना भी है कि अब यह लड़के को नौकरी नहीं लग रही है... !

जीसस सूली पर आखिरी क्षण में, जब हाथ में उनके खीले ठोंक दिए गए, तो उनके मुंह से एक आवाज निकल गई जोर से कि हे भगवान, यह क्या दिखला रहा है! यह क्या करवा रहा है! एक क्षण को जीसस के मुंह से निकल गया, यह क्या करवा रहा है!

मतलब क्या हुआ? शिकायत हो गई। मतलब क्या हुआ? मतलब यह हुआ कि जीसस कुछ और देखना चाहते थे और कुछ और हो रहा है। मतलब यह हुआ कि समर्पण नहीं है; मतलब यह हुआ कि भगवान के हाथों में लगाम नहीं है; मतलब यह हुआ कि इस क्षण में जीसस भगवान से ज्यादा बुद्धिमान अपने को समझ रहे हैं!

तत्काल जीसस को ख्याल आ गया। अर्जुन को बहुत मुश्किल से ख्याल आता है; जीसस को तत्काल ख्याल आ गया। जैसे ही उनके मुंह से यह आवाज निकली कि हे भगवान, यह क्या दिखला रहा है! दूसरा वाक्य उन्होंने कहा, क्षमा कर। जो तेरी मर्जी--दाई विल बी डन--तेरी ही इच्छा पूरी हो। यह मैं क्या कह दिया--क्या दिखला रहा है! शक पैदा हो गया।

मेरे हिसाब में तो इस एक वचन को बोलते वक्त जीसस मरियम के बेटे जीसस थे और दूसरे वचन को बोलते वक्त वे क्राइस्ट हो गए। इस बीच में क्रांति घटित हो गई। एक क्षण पहले तक वे सिर्फ मरियम के बेटे जीसस थे, जिसने कहा, यह क्या दिखला रहा है! शिकायत मौजूद थी। आस्तिक के मन में शिकायत नहीं हो सकती। दूसरे क्षण में ही तत्काल उनके मुंह से निकला, क्षमा कर; तेरी इच्छा पूरी हो। जो तू कर रहा है, वही ठीक है; उससे अन्यथा ठीक होने का कोई सवाल ही नहीं है।

बस, वे क्राइस्ट हो गए। दूसरे ही क्षण वे मरियम के साधारण बेटे न रहे; वे परमात्मा के पुत्र हो गए।

अर्जुन कहे तो चला जा रहा है, भगवान, भगवान! लेकिन वह संबोधन है; वैसे ही जैसे सभी संबोधन झूठे होते हैं, औपचारिक होते हैं। अभी भगवान उसे दिखाई नहीं पड़ रहा है। दिखाई तो उसे यही पड़ रहा है कि अपना सखा है कृष्ण। आ गया है साथ, सारथी का काम कर रहा है। साथ है, इसलिए पूछ लेते हैं। बाकी भगवान की जो अनुभूति है, वह अगर उसे हो जाए तो पूछने को क्या बचता है! उसे कहना चाहिए कि लगाम तुम्हारे हाथ में है, जो मर्जी। दाई विल बी डन, अपनी इच्छा पूरी करो।

इसलिए उसके भगवान का संबोधन अभी सार्थक नहीं है। क्योंकि वह संबोधनों के बाद भी निर्णय खुद ले रहा है। वह कह रहा है, मैं युद्ध नहीं करूंगा। कह रहा है, भगवान! कह रहा है, मैं युद्ध नहीं करूंगा। इस पर कृष्ण हंसें और कहें कि तू बड़ी विरोधी बातें बोल रहा है, तो उचित ही है।

शेष संध्या बात करेंगे।

छठवां प्रवचन

मृत्यु के पीछे अजन्मा, अमृत और सनातन का दर्शन

प्रश्नः ओशो, लक्ष्य के साथ क्रियाएं बनती हैं और निश्चित परिणाम की इच्छा रहती है। अगर हर समय चित्त निरहंकार या निर्विचार रहा, तो क्रियाएं कैसे होंगी? निर्विचार मन कुछ व्यक्त कैसे कर सकता है? सब निरंतर निर्विचार रहने से निष्क्रिय हो जाएं, तो समाज कैसे चल सकता है? समाज नष्ट नहीं हो जाएगा?

निरहंकार होने से कोई निष्क्रिय नहीं होता है; न ही निर्विचार होने से कोई निष्क्रिय होता है। निरहंकार होने से सिर्फ कर्ता का भाव चला जाता है। लेकिन कर्म परमात्मा को समर्पित होकर पूर्ण गति से प्रवाहित होते हैं। नदी बहती है, कोई अहंकार नहीं है। हवाएं चलती हैं, कोई अहंकार नहीं है। फूल खिलते हैं, कोई अहंकार नहीं है। ठीक ऐसे ही सहज, निरहंकारी जीवन से सब कुछ होता है, सिर्फ भीतर कर्ता का भाव संगृहीत नहीं होता है।

इसलिए सुबह जो मैंने कहा कि अर्जुन का अहंकार ही पूरे समय उसकी पीड़ा और उसका संताप बना है। इसका यह अर्थ नहीं कि वह अहंकार छोड़ दे, तो कर्म छूट जाएगा।

और जैसा मैंने कहा कि विचार मनुष्य को चिंता में डालता है; निर्विचार हो जाए चित्त, तो चिंता के बाहर हो जाता है। इसका यह अर्थ नहीं है कि निर्विचार चित्त फिर बोलेगा नहीं, करेगा नहीं, अभिव्यक्ति नहीं रहेगी।

नहीं, ऐसा नहीं है। निर्विचार चित्त बांस की पोंगरी की तरह हो जाएगा। गीत उससे बहेंगे, लेकिन अपने नहीं, परमात्मा के ही बहेंगे। विचार उससे निकलेंगे, लेकिन अपने नहीं, परमात्मा के ही निकलेंगे। समस्त के प्रति समर्पित होगा वैसा चित्त। बोलेगा वही, जो परमात्मा बुलाता है; करेगा वही, जो परमात्मा कराता है। स्वयं के बीच का जो मैं का आधार है, वह बिखर जाएगा। इसके बिखरते ही चिंता नहीं है। इसके बिखरते ही कोई संताप, कोई एंग्जाइटी नहीं है।

न त्वेवाहं जातु नासं न त्वं नेमे जनाधिपाः।

न चैव न भविष्यामः सर्वे वयमतः परम्।। 12।।

क्योंकि आत्मा नित्य है, इसलिए शोक करना अयुक्त है। वास्तव में न तो ऐसा ही है कि मैं किसी काल में नहीं था, अथवा तू नहीं था, अथवा ये राजा लोग नहीं थे और न ऐसा ही है कि इससे आगे हम सब नहीं रहेंगे।

अर्जुन ऐसी चिंता दिखाता हुआ मालूम पड़ता है कि ये सब जो आज सामने खड़े दिखाई पड़ रहे हैं, युद्ध में मर जाएंगे, नहीं हो जाएंगे। कृष्ण उसे कहते हैं, जो है, वह सदा से था; जो नहीं है, वह सदा ही नहीं है।

इस बात को थोड़ा समझ लेना उपयोगी है।

धर्म तो सदा ऐसी बात कहता रहा है, लेकिन विज्ञान ने भी ऐसी बात कहनी शुरू की है। और विज्ञान से ही शुरू करना उचित होगा। क्योंकि धर्म शिखर की बातें करता है, जिन तक सबकी पहुंच नहीं है। विज्ञान

आधार की बातें करता है, जहां हम सब खड़े हैं। विज्ञान की गहरी से गहरी खोजों में एक खोज यह है कि अस्तित्व को अनस्तित्व में नहीं ले जाया जा सकता है। जो है, उसे विनष्ट करने का कोई उपाय नहीं है। और जो नहीं है, उसका सृजन करने का भी कोई उपाय नहीं है। रेत के एक छोटे से कण को भी हमारे विज्ञान की सारी जानकारी और सारे जगत की प्रयोगशालाएं और सारे जगत के वैज्ञानिक मिलकर भी विनष्ट नहीं कर सकते हैं; रूपांतरित भर कर सकते हैं; नए रूप भर दे सकते हैं।

जिसे हम सृजन कहते हैं, क्रिएशन कहते हैं, वह भी नए रूप का निर्माण है--नए अस्तित्व का नहीं, एक्झिस्टेंस का नहीं--फार्म का। और जिसे हम विनाश कहते हैं, वह भी अस्तित्व का विनाश नहीं है, सिर्फ रूप का, आकृति का। आकृतियां बदली जा सकती हैं, लेकिन जो आकृति में छिपा है, वह अपरिवर्तित है। करीब-करीब ऐसा, जैसे कि गाड़ी का चाक चलता है, घूमता है; लेकिन एक कील है, जो खड़ी है, जिस पर चाक घूमता रहता है। जो चाक को ही जानते हैं, वे कहेंगे, सब परिवर्तन है। जो कील को भी जानते हैं, वे कहेंगे, सब परिवर्तन के मूल में, केंद्र पर ठहरा हुआ भी कुछ है, अनमूविंग भी कुछ है।

और बड़े मजे की बात यह है कि अगर चाक से कील अलग कर लें, तो चाक जरा भी घूम न पाएगा। चाक का घूमना उस पर निर्भर है, जो नहीं घूमता है। रूप बदलते हैं। रूप का बदलना उस पर निर्भर है, जो अरूप है, फार्मलेस है और नहीं बदलता है।

अर्जुन जब कह रहा है कि ये सब मर जाएंगे, तब वह फार्म की, रूप की, आकृति की बात कह रहा है। वह कह रहा है, ये सब मिट जाएंगे। उसे आकृति से ज्यादा का कोई भी पता नहीं है।

और जब कृष्ण कहते हैं कि नहीं, जिन्हें तू आज देख रहा है, वे पहले नहीं थे, ऐसा नहीं है। वे पहले भी थे। मैं भी पहले था, तू भी पहले था। और ऐसा भी नहीं है कि जो हम आज हैं, कल नहीं होंगे। कल भी हम होंगे, सदा-सदा अनादि से अनंत तक हमारा होना है। यहां कृष्ण और अर्जुन दो अलग चीजों की बात कर रहे हैं, यह समझ लेना जरूरी है।

अर्जुन रूप की बात कर रहा है, कृष्ण अरूप की बात कर रहे हैं। अर्जुन उसकी बात कर रहा है, जो दिखाई पड़ता है; कृष्ण उसकी बात कर रहे हैं, जो नहीं दिखाई पड़ता है। अर्जुन उसकी बात कर रहा है, जो आंखों और हाथों की पकड़ में आता है; कृष्ण उसकी बात कर रहे हैं, जो हाथ, आंख और कान की पकड़ के पीछे छूट जाता है। अर्जुन, जैसा हम सब सोचते हैं, वैसा सोच रहा है। कृष्ण, वैसा कह रहे हैं, जैसा हम सब जान सकें कभी तो सौभाग्य है।

जो दिखाई पड़ता है, वह सदा नहीं था। सदा तो बहुत बड़ा शब्द है। जो दिखाई पड़ता है, वह क्षणभर पहले भी नहीं था। आप मेरे चेहरे को देख रहे हैं, क्षणभर पहले यह चेहरा यही नहीं था, क्षणभर बाद यही नहीं होगा। क्षणभर में बहुत कुछ मेरे शरीर में मर गया और बहुत कुछ नया आ गया।

बुद्ध कहा करते थे--कोई उनसे मिलने आता, तो वे उससे कहा करते थे--कि तुम जब मिलने आए थे और जब तुम विदा होओगे, तो वही नहीं होओगे जो मिलने आया था।

घंटेभर में बहुत कुछ बदल जाता है। एक आदमी सत्तर साल में कोई दस बार पूरा का पूरा बदल जाता है। हर सात साल में शरीर के सब अणु-परमाणु बदल जाते हैं। प्रतिक्षण शरीर में कुछ मर रहा है और बाहर फेंका जा रहा है। प्रतिक्षण शरीर में नया जीवित हो रहा है, नया आ रहा है, भोजन से आप नया डाल रहे हैं। और प्रतिपल शरीर से बहुत कुछ बाहर फेंका जा रहा है। सात साल में पूरा शरीर बदल जाता है। लेकिन हम कहे चले जाते हैं कि मैं वही हूं। आकृति की समानता, आकृति की एकता बन जाती है।

फिल्म देखते हैं कभी आप। अगर परदे पर फिल्म को धीमे-धीमे चलाया जाए, तो आप बहुत हैरान हो जाएंगे। इतना हाथ, पैर से इतना ऊपर सिर तक उठे, इतने हाथ के उठने के लिए हजारों चित्र लेने पड़ते हैं। फिर वे चित्र एकदम से तेजी से चलाए जाते हैं। एक चित्र इतना ऊपर दूसरा और ऊपर, तीसरा और ऊपर, चौथा और ऊपर। इतनी तेजी से घूमने से हाथ उठता हुआ मालूम पड़ता है। लेकिन अगर उन्हें धीमे चलाया जाए तो आप पाएंगे कि हाथ के हजार चित्र लेने पड़े हैं।

ठीक ऐसे ही, जब हम एक व्यक्ति को देख रहे हैं, तो हम एक ही व्यक्ति को नहीं देख रहे हैं। जितनी देर हमने देखा, उस बीच हजार चित्र हमारी आंखों ने ग्रहण किए हैं। भीतर चित्र संश्लिष्ट हुए और एक आकृति हमारे मन में बनी। जब तक वह बनी है, तब तक बाहर सब बदल गया है।

विराट आकाश में तारे दिखाई पड़ते हैं। जो तारे हमें दिखाई पड़ते हैं, वे वहीं नहीं होते हैं, जहां दिखाई पड़ते हैं। वहां कभी थे। क्योंकि जो निकटतम तारा है, उससे भी हम तक आने में कोई चार साल रोशनी को लग जाते हैं। और रोशनी धीमी नहीं चलती। रोशनी चलती है एक सेकेंड में एक लाख छियासी हजार मील। एक लाख छियासी हजार मील प्रति सेकेंड से प्रकाश की किरण यात्रा करती है हम तक। चार साल लगते हैं, निकटतम तारे से हम तक पहुंचने में। जब हमारे पास किरण पहुंचती है, तो हमें तारा वहां दिखाई पड़ता है, जहां चार साल पहले था। इस बीच हो सकता है कि रहा ही न हो, बिखर गया हो। और इतना तो तय है कि उस जगह अब नहीं होगा, जहां चार साल पहले था। इस बीच में वह करोड़ों, अरबों, खरबों मील की यात्रा कर गया है।

इसलिए रात हमें जो तारे दिखाई पड़ते हैं, वे वहां नहीं हैं, जहां दिखाई पड़ते हैं। रात बड़ी झूठी है, तारे बिल्कुल झूठे हैं। कोई तारा वहां नहीं है। और दूर के तारे हैं। किसी तारे को सौ वर्ष लगते हैं, हजार वर्ष लगते हैं रोशनी पहुंचाने में; करोड़ वर्ष लगते हैं। ऐसे तारे हैं कि जब पृथ्वी बनी थी--कोई चार अरब वर्ष पहले--तब से उनकी चली रोशनी अब तक पृथ्वी पर नहीं पहुंची। इन चार अरब वर्षों में न मालूम क्या हो गया होगा!

जो हमें दिखाई पड़ता है, वह वही नहीं है, जो है। उतनी देर में भी बदल जाता है। जब आंख से मैं देखता हूं आपके चेहरे को, तो आपसे किरण मुझ तक आती है, तब तक भी समय गुजरा। आप वही नहीं होते हैं। इस बीच भीतर सब कुछ बदल गया है। आकृति--सदा की तो बात दूर--क्षणभर भी एक नहीं रहती।

हेराक्लतु ने कहा है, यू कैन नाट स्टेप ट्वाइस इन दि सेम रिवर--एक ही नदी में दोबारा नहीं उतर सकते। यह भी जरा ठीक नहीं है, बिल्कुल ठीक नहीं है। एक ही नदी में एक बार भी उतरना बहुत मुश्किल है, दोबारा उतरना तो असंभव है। एक नदी में एक बार भी उतरना मुश्किल है! क्योंकि जब पैर आपका नदी की सतह को छूता है, तब नीचे नदी भागी जा रही है। जब पैर और थोड़ा नीचे जाता है, तब ऊपर नदी भागी जा रही है। जब पैर और नीचे जाता है, तब नदी भागी जा रही है। आपका पैर नदी में एक फीट उतरता है, उस बीच नदी का सारा पानी भागा जा रहा है। जब आप ऊपर छुए थे, तब नीचे का पानी भाग गया है। जब आप नीचे पहुंचें, तब तक ऊपर का पानी नहीं है।

आकृति तो नदी की तरह भाग रही है। लेकिन आकृति हमें थिर दिखाई पड़ती है। समानता की वजह से तादात्म्य मालूम होता है। वही है जो कल देखा था, वही है जो सुबह देखा था, वही है। प्रतिपल आकृति बदली जा रही है।

यह आकृतियों का जो जगत, यह रूप का जो जगत है, अर्जुन इस रूप के जगत के प्रति चिंतित है बहुत। हम भी चिंतित हैं बहुत। जो मर ही रहा है प्रतिपल, उसके लिए वह कह रहा है कि ये मर जाएंगे तो क्या

होगा? जो मर ही रहा है, जिसे बचाने का कोई उपाय नहीं है, उसके लिए वह चिंतित है; वह असंभव के लिए चिंतित है। और जो असंभव के लिए चिंतित है, वह चिंता से कभी मुक्त नहीं हो सकता। असंभव की चिंता ही विक्षिप्तता बन जाती है।

आकृति को सदा बचाना तो दूर, क्षणभर भी बचाना मुश्किल है। एक आकृति का जगत है--रूप का, ध्वनि का, किरण का, तरंगों का--वह कंपित है पूरे समय। सब बदला जा रहा है। अभी हम यहां इतने लोग बैठे हैं, हम सब बदले जा रहे हैं, सब कंपित हैं, सब तरंगायित हैं, सब वेवरिंग हैं, सब बदल रहा है। इस बदलाहट के जगत को, जो भी सोचता हो बचाने की आकांक्षा, वह असंभव आकांक्षा कर रहा है। असंभव आकांक्षाओं के किनारे टकराकर ही मनुष्य विक्षिप्त हो जाता है।

कृष्ण अर्जुन को कह रहे हैं कि तू जो कह रहा है कि ये मर जाएंगे, तो मैं तुझे कहता हूं, ये पहले भी थे, ये बाद में भी होंगे। तू इनके मरने की चिंता छोड़ दे। क्यों?

मुझे सुकरात की घटना याद आती है। सुकरात जब मर रहा था, तो उसके एक मित्र ने, क्रेटो ने पूछा कि आप मर जाएंगे, लेकिन आप चिंतित और परेशान नहीं दिखाई पड़ते! तो सुकरात ने कहा कि मैं इसलिए चिंतित और परेशान नहीं हूं, क्योंकि मैं सोचता हूं कि यदि मरकर मर ही जाऊंगा, तब तो चिंता का कोई कारण ही नहीं है। क्योंकि जब बचूंगा ही नहीं, तो चिंता कौन करेगा! दुखी कौन होगा! पीड़ित कौन होगा! कौन जानेगा कि मैं मर गया! अगर मैं मर ही जाऊंगा, तो जानने को भी कोई नहीं बचेगा कि मैं मर गया। जानने को भी कोई नहीं बचेगा कि मैं कभी था। जानने को कोई नहीं बचेगा कि सुकरात जैसा कुछ था। इसलिए चिंता का कोई कारण नहीं है। और अगर नहीं मरा, अगर नहीं मरा मरकर भी, तब तो चिंता का कोई कारण ही नहीं है। और दो ही संभावनाएं हैं--सुकरात ने कहा--या तो मैं मर ही जाऊंगा और या फिर नहीं ही मरूंगा। और तीसरी कोई भी संभावना नहीं है। इसलिए मैं निश्चिंत हूं।

कृष्ण अर्जुन को कह रहे हैं कि जो मरने वाला है, वह तेरे बचाने से नहीं बचेगा। और जो नहीं मरने वाला है, वह तेरे मारने से नहीं मर सकता है। इसलिए तू व्यर्थ की चिंता में पड़ रहा है। इस व्यर्थ की चिंता को छोड़।

यह शायद रूप और अरूप के बीच जो जगत का फैलाव है, अगर हम रूप की तरफ से पकड़ें, तब भी चिंता व्यर्थ है; क्योंकि जो मिट ही रहा है, मिट ही रहा है, मिट ही रहा है, मिट ही जाएगा, पानी पर खींची गई लकीर है। खिंच भी नहीं पाती और मिटनी शुरू हो जाती है। हाथ उठ भी नहीं पाता और मिट गई होती है। अगर हम अरूप से सोचें, तो जो नहीं मिटेगा, नहीं मिटेगा, नहीं मिटेगा, वह कभी मिटा नहीं है। लेकिन अरूप से हमारा कोई परिचय नहीं है, अर्जुन का भी कोई परिचय नहीं है।

यह भी समझ लेना जरूरी है कि अर्जुन की चिंता एक और दूसरी सूचना भी देती है। अर्जुन कहता है, ये सब मर जाएंगे। इसका मतलब है कि अर्जुन अपने को भी रूप ही समझता है। अन्यथा ऐसा नहीं कहेगा। हम दूसरों के संबंध में जो कहते हैं, वह हमारे संबंध में ही कहा गया होता है। जब मैं किसी को मरते देखकर सोचता हूं कि मर गया, खो गया, मिट गया, तब मुझे जानना चाहिए कि मुझे अपने भीतर भी उसका पता नहीं है, जो नहीं मिटता है, नहीं मरता है, नहीं खोता है।

अर्जुन जब चिंता जाहिर कर रहा है कि ये मर जाएंगे, तो वह अपनी मृत्यु की ही चिंता जाहिर कर रहा है। वह यह जानता नहीं कि उसके भीतर भी कुछ है, जो नहीं मरता है। और जब कृष्ण कह रहे हैं कि ये नहीं मरेंगे, तब कृष्ण अपने संबंध में ही कह रहे हैं, क्योंकि वे उसे जानते हैं, जो नहीं मरता है।

हमारा बाहर का ज्ञान, हमारे भीतर के ज्ञान का ही विस्तार है। हमारा जगत का ज्ञान, हमारे स्वयं के ज्ञान का ही विस्तार है, एक्सटेंशन है। जो हम अपने संबंध में जानते हैं, उसे ही फैलाकर हम समस्त के संबंध में जान लेते हैं। और जो हम अपने संबंध में नहीं जानते, उसे हम किसी और के संबंध में कभी नहीं जान सकते। आत्म-ज्ञान ही ज्ञान है; बाकी सब ज्ञान गहरे अज्ञान पर खड़ा होता है। और अज्ञान पर खड़े ज्ञान का कोई भी भरोसा नहीं।

अब वह अर्जुन बड़े ज्ञान की बातें करता हुआ मालूम पड़ता है; वह बड़े धर्म की बातें करता हुआ मालूम पड़ता है; लेकिन उसे इतना भी पता नहीं है कि अरूप भी है कोई, निराकार भी है कोई। अस्तित्व के आधार में कुछ है, जो अमृत है--इसका उसे कोई भी पता नहीं है। और जिसे अमृत का पता नहीं है, उसके लिए जीवन में अभी ज्ञान की कोई भी किरण नहीं फूटी। जिसे मृत्यु का पता है, वह घने अंधकार और अज्ञान में खड़ा है।

कसौटी यही है, अगर ज्ञात है आपको सिर्फ मृत्यु, तो अज्ञान आधार है; और अगर ज्ञात है आपको अमृत, नहीं जो मरता, तो ज्ञान आधार है। अगर मृत्यु का भय है मन में--चाहे दूसरे की, चाहे अपनी, इससे कोई भेद नहीं पड़ता--अगर मृत्यु का भय है मन में, तो गवाही है वह भय इस बात की कि आपको अमृत का कोई भी पता नहीं है।

और अमृत ही है; और मृत्यु केवल ऊपर बनी हुई लहरों का नाम है। सागर ही है लेकिन सागर दिखाई नहीं पड़ता; दिखाई लहरें पड़ती हैं। आप कभी सागर के किनारे गए हैं, तो सागर देखा है? कहेंगे, जरूर देखा है। लेकिन सिर्फ लहरें ही देखी होंगी, सागर नहीं देखा होगा। लहरें सागर नहीं हैं; लहरें सागर में हैं जरूर, लेकिन लहरें सागर नहीं हैं। क्योंकि सागर बिना लहरों के भी हो सकता है, लेकिन लहरें बिना सागर के नहीं हो सकतीं। पर दिखाई लहरें पड़ती हैं; उन्हीं का जाल फैला है ऊपर। आंखें उन्हीं को पकड़ती हैं, कान उन्हीं को सुनते हैं।

और मजा यह है कि जिस लहर को आप देख रहे हैं, लहर का मतलब ही यह है कि आप उसे कभी न देख पाएंगे। क्योंकि लहर, देख रहे हैं, तभी बदली जा रही है। देख भी नहीं पाए कि बदल गई। लहर का मतलब ही है, जो हो रही है, नहीं हो रही है; जिसका होना और न होना एक साथ चल रहा है; जो उठ रही है और गिर रही है; जो है और नहीं है; जो एक साथ डोल रही है। इस लहर को ही हम देखते हैं।

जिसने लहरों को ही सागर समझा, वह चिंतित हो सकता है कि क्या होगा? लहरें मिट रही हैं, क्या होगा? लेकिन जो सागर को जानता है, वह कहेगा, लहरों को बनने दो, मिटने दो। लहरों में जो पानी है, जो सागर है, वह पहले भी था जब लहर नहीं थी, और बाद में भी होगा जब लहर नहीं होगी।

जीसस से एक मित्र ने पूछा है उनके कि अब्राहम--एक बहुत पुराना प्रोफेट हुआ जेरूसलम में, तो अब्राहम बहुत पहले हुआ-- आप अब्राहम के संबंध में क्या जानते हैं? तो जीसस ने कहा, जब अब्राहम हुआ, उसके पहले भी मैं था--बिफोर अब्राहम, आई वा.ज--मैं अब्राहम के पहले भी था।

निश्चित ही, उस आदमी को शक हुआ होगा। तीस साल से ज्यादा उम्र नहीं थी जीसस की। अब्राहम को मरे हजारों साल हो गए और यह आदमी कहता है, अब्राहम के पहले भी मैं था। जब अब्राहम नहीं हुआ था, तब भी मैं था।

असल में जीसस सागर की बात कर रहे हैं; उस लहर की बात नहीं कर रहे, जो मरियम से उठी। वह जो जीसस नाम की लहर है, उसकी बात नहीं कर रहे हैं। वह उस सागर की बात कर रहे हैं, जो लहरों के पहले है और लहरों के बाद है।

और जब कृष्ण कहते हैं कि पहले भी हम थे, तू भी था, मैं भी था; ये जो लोग सामने युद्ध के स्थल पर आकर खड़े हैं, ये भी थे; बाद में भी हम होंगे--तो वे सागर की बात कर रहे हैं। और अर्जुन लहर की बात कर रहा है। और अक्सर सागर और लहर की बात करने वाले लोगों में संवाद बड़ा मुश्किल है, कम्युनिकेशन बहुत मुश्किल है। क्योंकि कोई पूरब की बात कर रहा है, कोई पश्चिम की बात कर रहा है।

इसलिए गीता इतनी लंबी चलेगी। क्योंकि अर्जुन बार-बार लहरों की बातें उठाएगा, और कृष्ण बार-बार सागर की बात करेंगे, और उनके बीच कहीं भी, कहीं भी कटाव नहीं होता। कहीं वे एक-दूसरे को काटते नहीं। काट दें तो बात हल हो जाए। इसलिए लंबी चलेगी बात। वह फिर दोहरकर लहरों पर लौट आएगा। उसे लहरें ही दिखाई पड़ती हैं। और जिसे लहरें दिखाई पड़ती हैं, उसका भी कसूर क्या है! लहरें ही ऊपर होती हैं।

असल में जो देखने पर ही निर्भर है, उसे लहरें ही दिखाई पड़ेंगी। अगर सागर को देखना हो, तो खुली आंख से देखना जरा मुश्किल है। आंख बंद करके देखना पड़ता है। अगर सागर को देखना हो, तो सच तो यह है कि आंख से देखना ही नहीं पड़ता, सागर में डुबकी लगानी पड़ती है। और डुबकी लगाते वक्त आंख बंद कर लेनी होती है। लहरों से नीचे उतरना पड़ता है सागर में। लेकिन जो अभी अपने ही चित्त की लहरों से नीचे न उतरा हो, वह दूसरे के ऊपर उठी लहरों के नीचे नहीं जा सकता है। अर्जुन की सारी पीड़ा आत्म-अज्ञान है।

प्रश्नः ओशो, यह भी लहर का ही सवाल है। कृष्ण जब अर्जुन से यह कह रहे हैं कि मैं, तू और ये जनादि पहले भी थे और बाद में भी होंगे, इससे यह निष्कर्ष निकलता है, अभी आपने बताया कि आत्मा की फार्मलेस कंटेंट का ही शरीर के फार्म के बजाय महत्व है। लेकिन क्या यह संभावना भी नहीं हो सकती है कि फार्म के बगैर कंटेंट की सम्यक अभिव्यक्ति नहीं हो सकती! घटादि आकृति के बगैर मृत्तिका का क्या प्रयोजन है?

अभिव्यक्ति और अस्तित्व में फर्क है; एक्झिस्टेंस और एक्सप्रेशन में फर्क है। जो अभिव्यक्त नहीं है, वह भी हो सकता है। एक बीज है। छिपा है वृक्ष उसमें; अभिव्यक्त नहीं है, लेकिन है। है इस अर्थ में कि हो सकता है; है इस अर्थ में कि छिपा है; है इस अर्थ में कि पोटेंशियल है।

अभी आक्सफोर्ड युनिवर्सिटी की एक लेबोरेटरी में, डिलाबार प्रयोगशाला में, एक बहुत अनूठा प्रयोग चल रहा है, वैज्ञानिक प्रयोग है। और वह प्रयोग, मैं समझता हूं, इस समय चलने वाले प्रयोगों में सर्वाधिक महत्वपूर्ण है। वह प्रयोग यह है कि बहुत संवेदनशील कैमरे बीज में छिपे हुए उस वृक्ष का भी चित्र ले सकते हैं, जो बीस साल बाद पूरा का पूरा प्रकट होगा।

यह बहुत हैरानी वाली बात है। एक कली का चित्र लेते वक्त भूल से यह घटना घट गई। और विज्ञान की बहुत-सी खोजें भूल से होती हैं। क्योंकि वैज्ञानिक बहुत ट्रेडीशनल माइंड के होते हैं। वैज्ञानिक बहुत कनफर्मिस्ट होते हैं। वैज्ञानिक आमतौर से क्रांतिकारी नहीं होता। क्रांतिकारी कभी-कभी वैज्ञानिक हो जाते हैं, यह दूसरी बात है; लेकिन वैज्ञानिक आमतौर से क्रांतिकारी नहीं होता। वैज्ञानिक तो जितना विज्ञान जानता है, उसको जोर से पकड़ता है; और किसी भी नई चीज को प्रवेश नहीं करने देता। पिछले पूरे विज्ञान का इतिहास यह बताता है कि हर विज्ञान की नई खोज में बाकी वैज्ञानिकों ने जितनी बाधा डाली, उतनी और किसी ने भी नहीं डाली है। तो अक्सर नई घटना भूल से घटती है; वैज्ञानिक उसको कर नहीं रहा होता, एक्सिडेंटल होती है।

डिलाबार प्रयोगशाला में बहुत संवेदनशील कैमरों के साथ फूलों पर कुछ अध्ययन किया जा रहा था। और एक कली का फोटो लिया गया, लेकिन कली का फोटो तो नहीं आया, फोटो फूल का आया! कैमरे के सामने

कली थी और कैमरे के भीतर फूल आया। तब पहले तो यही ख्याल हुआ कि जरूर कुछ कैमरे की फिल्म में कुछ भूल हो गई है। कोई एक्सपोजर पहले हो गया। कुछ न कुछ गलती हो गई है। लेकिन फिर भी फूल के खिलने तक प्रतीक्षा करनी चाहिए।

और जब फूल खिला तो बड़ी कठिनाई हो गई। गलती कैमरे की फिल्म में नहीं हुई थी, गलती वैज्ञानिकों की समझ में थी। जब फूल खिला, तो ठीक वह वैसा था, जैसा कि चित्र बना था। तब फिर इस पर काम आगे जारी हुआ। और ऐसा समझा गया कि जो कल होने वाला है, वह भी किसी सूक्ष्म तरंगों के जगत में, इस समय भी हो रहा है, तभी कल हो पाएगा।

एक बच्चा पैदा होता है मां से। नौ महीने अंदर गर्भ में छिपा होता रहता है। किसी को पता नहीं, क्या हो रहा है। नौ महीने बाद पैदा होता है। यह नौ महीने बाद अचानक नहीं आ जाता, नौ महीने की इसने भीतर यात्रा की है। एक कली जब फूल बनती है, तो फूल बनने के पहले उसके आस-पास की विद्युत तरंगें यात्रा करती हैं फूल बनने की--गर्भ में। वह चित्र लिया जा सकता है। इसका मतलब यह हुआ कि आज नहीं कल, हम एक बच्चे के चित्र से उसके बुढ़ापे का चित्र भी ले सकेंगे। मैं मानता हूं, ले सकेंगे।

इस अर्थ में ज्योतिष बहुत वैज्ञानिक आधार लेगा। अब तक ज्योतिष वैज्ञानिक नहीं बन सका है। इस अर्थ में वैज्ञानिक बनेगा। जो कल होने वाला है, वह आज भी किसी तल पर हो रहा है--हमें चाहे दिखाई पड़े, चाहे न दिखाई पड़े।

कठिनाई कुछ ऐसी है कि मैं एक वृक्ष के नीचे बैठा हूं, आप वृक्ष के ऊपर बैठे हैं। आप कहते हैं, एक बैलगाड़ी रास्ते पर मुझे दिखाई पड़ रही है। मैं कहता हूं, मुझे दिखाई नहीं पड़ रही है। मैं कहता हूं, कोई बैलगाड़ी नहीं है, रास्ता खाली है। जहां तक रास्ता मुझे दिखाई पड़ता है, रास्ता खाली है। मेरे लिए बैलगाड़ी भविष्य में है, फ्यूचर में है। झाड़ पर आप बैठे हैं, आपके लिए प्रेजेंट में है, वर्तमान में है। आप कहते हैं कि नहीं, बैलगाड़ी है। मैं कहता हूं, होगी; है तो नहीं, भविष्य में होगी। लेकिन आप कहते हैं, वर्तमान में है; मुझे दिखाई पड़ रही है।

फिर बैलगाड़ी मुझे भी दिखाई पड़ने लगती है। भविष्य से मेरे लिए भी वर्तमान में आ जाती है। फिर रास्ते पर चली जाती है, थोड़ी देर में मुझे दिखाई पड़नी बंद हो जाती है। अतीत में चली जाती है, पास्ट में। लेकिन झाड़ पर से आप कहते हैं कि नहीं, मुझे अभी भी दिखाई पड़ रही है। मेरे लिए अभी भी वर्तमान में है।

मेरे लिए बैलगाड़ी भविष्य में थी, वर्तमान में हुई, अतीत में हो गई। आपके लिए एक ही प्रेजेंट में चल रही है, वर्तमान में चल रही है। आप जरा मुझसे ऊंचाई पर बैठे हैं और कोई खास फर्क नहीं है।

जहां से कृष्ण देख रहे हैं, वह ऊंचाई से देखना है, फ्राम दि पीक। जहां से वे कह रहे हैं कि नहीं, कल भी थे, परसों भी थे, पहले भी थे; अभी भी हैं, कल भी होंगे, परसों भी होंगे। असल में कृष्ण जहां से देख रहे हैं, वहां एवर प्रेजेंट है, वहां सब वर्तमान है। अर्जुन जहां से देख रहा है, वहां से वह कहता है, क्या पता जन्म के पहले थे या नहीं थे! मुझे पता नहीं। बस, उसकी यात्रा जन्म तक जाती है। जन्म तक भी नहीं जाती।

अगर आप ठीक से देखेंगे, तो चार वर्ष से पहले की स्मृति आपको नहीं होती है। चार वर्ष से पहले की बात अनुमान है, इनफरेंस है। लोग कहते हैं कि आप थे। चार वर्ष तक आपकी स्मृति जाती है। कोई बहुत बुद्धिमान हुआ, तीन वर्ष तक चली जाएगी। कोई और बहुत ही प्रतिभाशाली हुआ, तो दो वर्ष तक चली जाएगी। लेकिन दो वर्ष तक भी जाए, तो दो वर्ष तक आप थे? कुछ कहा नहीं जा सकता। स्मृति ही आधार है, तो दो वर्ष के पहले आप नहीं थे। लेकिन अचानक कैसे हो जाएंगे, अगर दो वर्ष तक न रहे हों।

लेकिन अगर याद आ जाए जन्म तक--दूसरे याद दिला देते हैं--पर मां के पेट में भी आप थे, उसकी कोई स्मृति नहीं है। लेकिन गहरी हिप्नोसिस में उसकी स्मृति भी आ जाती है। गहरे सम्मोहन में व्यक्ति को बेहोश किया जाए, तो वह बता देता है कि वह तीन महीने का जब मां के पेट में था, तो मां गिर पड़ी थी। बच्चे को भी तो चोट लगती है, जब मां गिरती है तो। गर्भ की भी स्मृति आ जाती है। गर्भ के पार की भी स्मृति आ सकती है। पिछले जन्म की भी स्मृति आ सकती है। लेकिन वह हमारे लिए पास्ट होगा। उसकी स्मृति जगानी पड़ेगी। अतीत होगा।

कृष्ण के लिए सब शाश्वत वर्तमान है, दि इटरनल नाउ, अब ही है सब। वे जिस जगह से खड़े होकर देख रहे हैं, वे कहते हैं कि नहीं अर्जुन, पहले भी सब थे, बाद में भी सब होंगे। मैं भी था, तुम भी थे।

यहां भी डर है कि भूल हो जाएगी। यहां भी डर यह है कि अर्जुन समझेगा कि मैं अर्जुन नाम का व्यक्ति पहले भी था। कृष्ण यह नहीं कह रहे हैं। अर्जुन नाम का व्यक्ति कभी नहीं था पहले; हो नहीं सकता। अर्जुन नाम का व्यक्ति तो सिर्फ एक वस्त्र है। उस वस्त्र के पीछे जो छिपी है चेतना निराकार, वह थी। और अर्जुन नाम का व्यक्ति आगे भी नहीं होगा। वह तो वस्त्र है, वह तो मौत के साथ खो जाएगा। हां, जिस पर टंगा है वस्त्र, वह आगे भी होगा।

कृष्ण जो कह रहे हैं, अगर अर्जुन बहुत भी समझेगा, तो भी भूल होने वाली है। वह भूल यह होगी कि वह ज्यादा से ज्यादा यही समझेगा, तो मैं अर्जुन तुम कृष्ण, हम पहले भी थे। ये जो लोग खड़े हैं, ये पहले भी थे। वह फिर भी वही पूछेगा, ये आकृतियां पहले भी यही थीं?

आकृतियां कभी ये न थीं। लेकिन आकृति अभिव्यक्ति है। अनाकृति, निराकार अस्तित्व--अभिव्यक्ति नहीं है। लेकिन अस्तित्व अनभिव्यक्त भी हो सकता है, अनमैनिफेस्ट भी हो सकता है। जो प्रकट है वही नहीं है, जो अप्रकट है वह भी यही है। प्रकट हमें है ही क्या! बहुत थोड़ा-सा हमें प्रकट है।

अगर हम वैज्ञानिक से पूछें, तो आज वैज्ञानिक कहने लगा है कि हमारे सामने प्रकट बहुत थोड़ा-सा है। यहां हम बैठे हैं। आज से दो सौ साल पहले रेडियो तो नहीं था। आज रेडियो है। यहां हम रेडियो रखे हैं और उसे लगाते हैं और लंदन की आवाज सुनाई पड़नी शुरू हो जाती है। जब आप रेडियो पर बटन घुमाते हैं, तब लंदन से आवाज शुरू हो जाती है? नहीं, लंदन की आवाज तो गुजर ही रही थी पूरे वक्त। सिर्फ आपके पास रेडियो नहीं था, जो पकड़े। जब नहीं सुन रहे थे, तब भी गुजर रही थी; मैनिफेस्ट नहीं थी, प्रकट नहीं थी; अप्रकट गुजर रही थी। कान उसे नहीं पकड़ पाते थे, बस इतना ही। और भी हजारों आवाजें गुजर रही हैं।

वैज्ञानिक कहते हैं कि हमारी आवाज सुनने का एक रेंज है। इतनी तरंगों तक हम सुनते हैं। इतनी तरंगों के नीचे भी नहीं सुनते, इसके ऊपर भी नहीं सुनते। हमारी सुनने की क्षमता की एक सीमा है; उसके पार बहुत कुछ गुजर रहा है, जो हमें सुनाई नहीं पड़ता है। वह है। उसके नीचे भी बहुत कुछ गुजर रहा है, जो हमें सुनाई नहीं पड़ता। वह भी है। जो हमें दिखाई नहीं पड़ता, वह भी है। अस्तित्व उतना ही प्रकट होता है, जितनी हमारे पास इंद्रियां हैं।

समझ लें एक अंधा आदमी है, उसके लिए प्रकाश का कोई अस्तित्व नहीं है। क्योंकि अंधे आदमी के लिए प्रकाश प्रकट होने में असमर्थ है। क्योंकि अंधे आदमी के पास कोई माध्यम नहीं है। जरा सोचें कि कहीं किसी न किसी ग्रह-उपग्रह पर जरूर ऐसे प्राणी होंगे, जिनके पास पांच से ज्यादा इंद्रियां होंगी। तब हमको पहली दफे पता चलेगा कि और भी चीजें हैं जगत में, जिनका हमें कोई भी पता नहीं है। क्योंकि पांच इंद्रियां कोई सीमा नहीं आ गई।

वैज्ञानिक कहते हैं कि कम से कम पचास हजार प्लेनेट्स पर जीवन है, कम से कम पचास हजार प्लेनेट्स पर। कोई चार अरब ग्रहों-उपग्रहों का पता है, उनमें कम से कम पचास हजार पर जीवन के होने की संभावना है। इन पर अलग-अलग तरह का जीवन विकसित हुआ होगा--कहीं सात इंद्रियों वाले, कहीं पंद्रह इंद्रियों वाले, कहीं बीस इंद्रियों वाले व्यक्ति होंगे। तो वे वे चीजें जान रहे होंगे, जिनका हम सपना भी नहीं देख सकते। क्योंकि सपना भी हम वही देख सकते हैं, जो हम जानते हैं। सपने में भी हम वह नहीं देख सकते हैं, जो हम जानते नहीं हैं। हम कल्पना भी नहीं कर सकते, हमारे कालिदास और हमारे भवभूति और हमारे रवींद्रनाथ कविता भी नहीं लिख सकते, कल्पना भी नहीं कर सकते उसकी, जो हमारी इंद्रियों के बाहर है। लेकिन वह है। चूंकि हमें नहीं दिखाई पड़ता है, इसलिए नहीं है, ऐसा कहने का कोई भी कारण नहीं है।

और फिर अभिव्यक्ति बहुत ऊपरी घटना है। अस्तित्व बहुत भीतरी घटना है। अस्तित्व घटना नहीं है, कहना चाहिए, अस्तित्व होना है, बीइंग है। और अभिव्यक्ति हैपनिंग है, घटना है। मैं यहां बैठा हूं। मैं एक गीत गाऊं। जब तक मैंने गीत नहीं गाया था, तब तक गीत मेरे भीतर कहां था? कहीं था। कोई फिजियोलाजिस्ट मेरे शरीर को काट-पीटकर गीत पकड़ पाता? कोई वैज्ञानिक, कोई मनोवैज्ञानिक, कोई मस्तिष्क का सर्जन मेरे मस्तिष्क को काटकर गीत की कड़ी पकड़ पाता? कहीं भी खोजने से मेरे भीतर गीत नहीं मिलता। लेकिन जो गीत मैं गा रहा हूं, अगर वह मेरे भीतर नहीं था, तो उसके आने का उपाय क्या है!

वह अनमैनिफेस्ट था, वह कहीं बीज था, वह कहीं छिपा था। वह कहीं सूक्ष्मतम तरंगों में था, वह कहीं अस्तित्व में तो था, अभिव्यक्त नहीं था। फिर वह प्रकट हुआ है। फिर वह प्रकट हुआ है। प्रकट होने से वह हो गया है, ऐसा नहीं, प्रकट होने के पहले भी था। और ऐसा भी नहीं कि वह पूरा प्रकट हो गया हो, क्योंकि प्रकट होने में मेरी सीमाएं भी बाधा डालती हैं।

रवींद्रनाथ मरते दम तक कहते रहे कि जो मैं गाना चाहता था, वह गा नहीं पाया हूं। लेकिन जिसको तुम गा ही नहीं पाए, तुम्हें कैसे पता चला कि तुम उसे गाना चाहते थे! जरूर कहीं भीतर कुछ एहसास हो रहा है; कहीं कोई फीलिंग कि कुछ गाना था। जैसा कई बार आपको लगता है कि किसी का नाम जबान पर रखा है और याद नहीं आता। अब बड़े पागलपन की बात कहते हैं आप कि जबान पर रखा है और याद नहीं आता। अगर जबान पर रखा है, तो अब और याद आने की जरूरत क्या है, निकालिए जबान से! लेकिन आप कहते हैं, नहीं, रखा तो जबान पर है, लेकिन याद नहीं आता।

क्या मतलब हुआ इसका? इसका मतलब हुआ कि कहीं कोई एक सरकता एहसास है कि मालूम है, लेकिन फिर भी मैनिफेस्ट नहीं हो पा रहा है, फिर भी अभिव्यक्त नहीं हो पा रहा है, मन पकड़ नहीं पा रहा है। कहीं एहसास है। और अगर आप मर जाएं या आपको काट डाला जाए और हम आपके भीतर सब खोज-बीन करें कि जो बिल्कुल जबान पर रखा था, वह कहां है! तो जबान मिल जाएगी, जबान पर रखा हुआ कुछ भी नहीं मिलेगा। मस्तिष्क मिल जाएगा, तंतु मिल जाएंगे, हजारों-हजारों सेल की व्यवस्था मिल जाएगी, काट-पीट हो जाएगी, वह कहीं मिलेगा नहीं। कहीं अनभिव्यक्त, अनमैनिफेस्ट, कहीं छिपा, कहीं अंतराल में, अस्तित्व में दबा वह खो जाता है।

जो कृष्ण कह रहे हैं, वह यह कह रहे हैं कि जो प्रकट हुआ है, वही तू नहीं है। वह जो अप्रकट रह गया है, वही तू है। और जो अप्रकट है, वह बहुत बड़ा है; और जो प्रकट हुआ है, वह एक छोर भर है अर्जुन! ऐसे छोर बहुत बार प्रकट हुए हैं, ऐसे छोर बहुत बार प्रकट होते रहेंगे, होते रहेंगे। लेकिन वह जो अप्रकट है, वह अनंत;

वह जो अप्रकट है, अनादि; वह जो अप्रकट है, असीम; वह कभी चुकता नहीं। सारी अभिव्यक्तियों के बाद भी वह अनचुका, पीछे शेष रह जाता है।

निश्चित ही, अभिव्यक्त न होगा तो हम इंद्रियों से उसे न पहचान पाएंगे। हम इंद्रियों से उसे न पहचान पाएंगे, क्योंकि इंद्रियां सिर्फ अभिव्यक्ति को पकड़ती हैं। लेकिन हम इंद्रियां ही नहीं हैं। और अगर हम इंद्रियों के भीतर उतरने की कला सीख जाएं, तो जो अभिव्यक्त नहीं है, वह भी पकड़ा जाता है, वह भी पहचाना जाता है, वह भी देखा जाता है, वह भी सुना जाता है, वह भी हृदय के किसी गहन तल पर स्पर्शित होता है।

अभिव्यक्ति अस्तित्व की अनिवार्यता नहीं है, अभिव्यक्ति अस्तित्व का खेल है; आकृति अस्तित्व की अनिवार्यता नहीं है, आकृति अस्तित्व का खेल है। इसलिए कृष्ण जगत को, जीवन को एक लीला से ज्यादा नहीं कहते हैं। और लीला का मतलब है कि मंच पर कोई आया है, राम बनकर आया है; बस वह एक आकृति है। कोई रावण बनकर आया है, वह एक आकृति है। वे धनुष-बाण लेकर लड़ने खड़े हुए हैं, वह एक आकृति है। परदे के पीछे अभी थोड़ी देर बाद वे गपशप करेंगे, सीता को भूल जाएंगे। झगड़ा बंद हो जाएगा, चाय पीएंगे ग्रीन-रूम में बैठकर।

वह जो कृष्ण कह रहे हैं, वह ग्रीन-रूम की बात कह रहे हैं। अर्जुन जो बात कह रहा है, वह मंच की बात कह रहा है। पर जो मंच पर प्रकट हुआ है, वह सिर्फ रूप है, वह सिर्फ अभिनय है, वह एक आकृति है। और आकृति के बिना अस्तित्व हो सकता है, लेकिन अस्तित्व के बिना आकृति नहीं हो सकती है। जैसा मैंने कहा, लहर नहीं हो सकती सागर के बिना, सागर बिना लहर के हो सकता है।

जब राम और रावण पर्दे के पीछे जाकर गपशप करके चाय पीने लगेंगे, तब राम और रावण की जो आकृतियां बनी थीं, वे कहां हैं? वे नहीं हैं। वे लहरें थीं, वे सिर्फ आकार थे, जो पीछे प्राण न हो, तो नहीं हो जाते हैं। रूप बदलता है, फार्म बदलता है, आकृतियां बदलती हैं, अभिनय बदलता है, अभिनेता नहीं; वह जो पीछे खड़ा है, वह नहीं। कृष्ण उसकी ही बात कर रहे हैं।

देहिनोऽस्मिन्यथा देहे कौमारं यौवनं जरा।

तथा देहान्तरप्राप्तिर्धीरस्तत्र मुह्यति।। 13।।

किंतु जैसे जीवात्मा की इस देह में कुमार, युवा और वृद्ध अवस्था होती है, वैसे ही अन्य शरीर की प्राप्ति होती है। उस विषय में धीर पुरुष मोहित नहीं होता है।

कृष्ण कह रहे हैं कि जैसे इस एक शरीर में भी सब बदलाहट है--बचपन है, जवानी है, बुढ़ापा है, जन्म है, मृत्यु है--जैसे इस एक शरीर में भी कुछ थिर नहीं है, जैसे इस एक शरीर में भी सब अथिर, सब बदला जा रहा है, बच्चे जवान हुए जा रहे हैं, जवान बूढ़े हुए जा रहे हैं, बूढ़े मृत्यु में उतरे जा रहे हैं... ।

एक बड़े मजे की बात है, भाषा में पता नहीं चलता, क्योंकि शब्दों में गति नहीं होती। शब्द तो ठहरे हुए, थिर होते हैं, स्टैटिक होते हैं। चूंकि भाषा में शब्द ठहरे हुए होते हैं, जीवन के साथ भाषा बड़ा अनाचार करती है। जीवन में कुछ भी ठहरा हुआ नहीं होता। न ठहरे हुए जीवन पर जब हम ठहरे हुए शब्दों को जड़ देते हैं, तो बड़ी गलती हो जाती है।

हम बोलते हैं, यह बच्चा है। गलत बात बोलते हैं। बच्चा है की स्थिति में कभी नहीं होता, बच्चा पूरे वक्त होने की स्थिति में होता है--हो रहा है। कहना चाहिए, बच्चा हो रहा है। हम कहते हैं, बूढ़ा है। गलत बात कहते

हैं। है की स्थिति में कोई बूढ़ा नहीं होता। बूढ़ा हो रहा है। प्रत्येक चीज हो रही है। है की स्थिति में कोई भी चीज नहीं है। इ.ज की हालत में कोई भी चीज नहीं है, प्रत्येक चीज बिकमिंग में है। हम कहते हैं, नदी है। कैसी गलत बात कहते हैं! नदी और है हो सकती है? नदी का मतलब ही है कि जो बह रही है, हो रही है।

सब शब्द थिर हैं और जीवन में कहीं भी कुछ थिर नहीं है। इसलिए जीवन के साथ बड़ी भूल हो जाती है। और इन शब्दों को दिन-रात बोलते-बोलते हम भूल जाते हैं। जब हम किसी आदमी को जवान कहते हैं, तो जवान का मतलब क्या होता है जीवन में? भाषाकोश में नहीं, शब्दकोश में नहीं। शब्दकोश में तो जवान का मतलब जवान होता है। जिंदगी में क्या होता है? जिंदगी में जवान का मतलब सिर्फ बूढ़े होने की तैयारी होता है और कुछ नहीं। शब्दकोश में नहीं कहीं लिखा है ऐसा। शब्दकोश में बूढ़े का मतलब बूढ़ा होता है। जिंदगी में बूढ़े का मतलब मरने की तैयारी होता है। और तैयारी भी ऐसी नहीं कि जो हो गई, हो रही है, होती ही जा रही है।

कृष्ण कह रहे हैं, इस जीवन में भी अर्जुन, चीजें ठहरी हुई नहीं हैं। इस जीवन में भी जिन आकृतियों को तू देख रहा है, कल वे बच्चा थीं, जवान हुईं, बूढ़ी हो गईं।

बड़े मजे की बात है। अगर मां के पेट में जब पहली दफे बीजारोपण होता है, उस सेल, उस कोष्ठ का चित्र ले लिया जाए और आपको बताया जाए कि आप यही थे पचास साल पहले, तो आप मानने को राजी न होंगे कि क्या मजाक करते हैं, मैं और यह! एक छोटा-सा सेल जो नंगी आंख से दिखाई भी नहीं पड़ता, जिसको खुर्दबीन से देखना पड़ता है; जिसमें न कोई आंख है, न कोई कान है, न कोई हड्डी है; जिसमें कुछ भी नहीं है; जिसका पता नहीं कि वह स्त्री होगी कि पुरुष होगा; जिसका पता नहीं, एक छोटा-सा बिंदु, यह काला धब्बा--यह मैं! मजाक कर रहे हैं। यह मैं कैसे हो सकता हूं! लेकिन यह आपकी पहली तस्वीर है। इसे अपने एल्बम में लगाकर रखना चाहिए। और अगर यह आप नहीं हैं, तो जो तस्वीर आपकी आज है, वह भी आप नहीं हो सकते हैं। क्योंकि कल वह भी बदल जाएगी।

अगर हम एक आदमी की, पहले दिन पैदा हुआ था तब की तस्वीर, और जिस दिन मरता है उस दिन की तस्वीर को आस-पास रखें, क्या इन दोनों के बीच कोई भी तालमेल दिखाई पड़ेगा? कोई भी संबंध हम जोड़ पाएंगे? क्या हम कभी कल्पना भी कर पाएंगे कि यह वही बच्चा है, जो पैदा हुआ था, वही यह बूढ़ा मर रहा है! नहीं कोई संगति दिखाई पड़ेगी, बड़ी असंगत बात दिखाई पड़ेगी कि कहां यह कहां वह, इसका कोई संबंध दिखाई नहीं पड़ता है। लेकिन इतने असंगत प्रवाह की भी हम कभी चिंता, कभी विचार नहीं करते हैं।

कृष्ण यही विचार उठाना चाह रहे हैं अर्जुन में। वे यह कह रहे हैं कि जिन आकृतियों को तू कह रहा है कि ये मिट जाएंगी, इसका मुझे डर है; ये आकृतियां मिट ही रही हैं। ये चौबीस घंटे मिटती ही रही हैं। ये सदा मिटने के क्रम में ही लगी हैं।

आदमी पूरी जिंदगी सिवाय मरने के और कुछ करता ही नहीं है। उसकी सारी जिंदगी मरने का ही एक लंबा क्रम है। जन्म में जो शुरू होता है, मृत्यु में वह पूरा होता है। जन्म की प्रक्रिया एक कदम है, मृत्यु की प्रक्रिया दूसरा कदम है।

और ऐसा भी नहीं है कि अचानक मौत एक दिन आ जाती है। मौत जन्म के दिन से रोज-रोज आती ही रहती है; तभी तो पहुंच पाती है। उसको सत्तर साल लग जाते हैं आप तक आने में। या ऐसा समझिए कि आपको सत्तर साल लग जाते हैं उस तक पहुंचने में। लेकिन यात्रा पहले दिन ही शुरू हो जाती है।

यह सब बदल रहा है, लेकिन फिर भी यह ख्याल नहीं आता कि इतनी बदलाहट के बीच मुझे यह ख्याल क्यों बना रहता है कि मैं वही हूं, जो बच्चे में था; मैं वही हूं, जो जवान में था; मैं वही हूं, जो बूढ़े में है। यह

आइडेंटिटी, यह तादात्म्य, इतनी बदलाहट के बीच यह सातत्य, यह स्मृति, यह रिमेंबरिंग कहां बनी रहती है, किसे बनी रहती है, क्यों बनी रहती है? एक स्वर तो जरूर भीतर होना चाहिए जो अनबदला है, अन्यथा कौन याद करेगा?

मैं कहता हूं कि दस साल का था, तो ऐसी घटना घटी। मेरे भीतर जो दस साल में था, वह जरूर किसी तल पर आज भी होना चाहिए। अन्यथा दस साल में जो घटना घटी, उसे मैं कैसे याद कर सकता हूं! मैं तो नहीं था, जो मैं आज हूं, यह तो मैं नहीं था। जो भी आज दिखाई पड़ता है, यह दस साल में मैं नहीं था। किसे याद है? यह स्मृति का सूत्र कहां है? कोई जरूर मेरे गहरे में कोई कील होनी चाहिए, जिस पर सब बदल गया है। रास्ते बदल गए हैं, अनेक-अनेक रास्तों पर वह रथ घूम चुका है, लेकिन कोई एक कील जरूर होनी चाहिए, जिसने चक्के की हर स्थिति देखी है। चक्का खुद याद नहीं रख सकता है, बदल रहा है पूरे समय। कोई अनबदला तत्व चाहिए।

तो कृष्ण कह रहे हैं कि बचपन था, जवानी थी, बुढ़ापा था। इस सब बदलाहट के बीच कोई थिर, कोई नहीं बदलने वाला, कोई अपरिवर्तित, कोई अनमूविंग तथ्य, उसकी स्मृति जगाने की है। तब फिर हम ऐसा न कह सकेंगे कि मैं बच्चा था; फिर हम ऐसा न कह सकेंगे कि मैं जवान था; फिर हम ऐसा न कह सकेंगे कि मैं बूढ़ा हूं।

नहीं, तब हमारी बात और होगी। तब हम कहेंगे कि मैं कभी बचपन में था, मैं कभी जवानी में था, मैं कभी बुढ़ापे में था। मैं कभी जन्मा, मैं कभी मरने में था। लेकिन यह जो मैं है, यह इन सारी स्थितियों से ऐसे ही टूट जाएगा, जैसे कोई यात्री स्टेशनों से गुजरता है। तो अहमदाबाद के स्टेशन पर नहीं कहता कि मैं अहमदाबाद हूं। वह कहता है कि मैं अहमदाबाद के स्टेशन पर हूं। बंबई पहुंचकर वह यह नहीं कहता कि मैं बंबई हो गया हूं। वह कहता है, मैं बंबई के स्टेशन पर हूं। क्योंकि अगर वह बंबई हो जाए, तो फिर अहमदाबाद कभी नहीं हो सकेगा। अहमदाबाद हो जाए, तो फिर बंबई कभी नहीं हो सकेगा।

आप अगर बच्चे थे, तो जवान कैसे हो सकते हैं? और अगर आप जवान थे, तो बूढ़े कैसे हो सकते हैं? निश्चित ही कोई आपके भीतर होना चाहिए जो बच्चा नहीं था। इसलिए बचपन भी आया और गया; जवानी भी आई और गई; बुढ़ापा भी आया और जाएगा। जन्म भी आया, मृत्यु भी आई; और कोई है, जो इस सब के भीतर खड़ा है और सब आ रहा है और जा रहा है स्टेशंस की तरह।

अगर यह फासला दिखाई पड़ जाए कि जिन्हें हम अपना होना मान लेते हैं, वे केवल स्थितियां हैं। हमारा होना वहां से गुजरा है, लेकिन हम वही नहीं हैं--उसके स्मरण के लिए कृष्ण कह रहे हैं।

प्रश्नः ओशो, यह शरीर छोड़कर आत्मा अन्य शरीर में प्रवेश करता है। मरण और जन्म के बीच के समय में आत्मा का क्या केवल अस्तित्व रहता है या अभिव्यक्ति भी? उस अवस्था में आत्मा का स्वरूप कैसा होता है?

एक शरीर को छोड़ने के बाद दूसरे शरीर में प्रवेश के बीच जो अंतराल है, उस अंतराल में कोई अभिव्यक्ति भी होती है कि सिर्फ अस्तित्व होता है! अभिव्यक्ति भी होती है। लेकिन वह अभिव्यक्ति, जैसी अभिव्यक्ति से हम परिचित रहे हैं शरीर के भीतर, वैसी नहीं होती। उस अभिव्यक्ति का माध्यम पूरा बदल जाता है। वह अभिव्यक्ति सूक्ष्म शरीर की अभिव्यक्ति होती है। उसे भी देखा जा सकता है--विशेष ट्यूनिंग में। जैसे रेडियो सुना जा सकता है--विशेष ट्यूनिंग में। उसे भी स्पर्श किया जा सकता है--विशेष व्यवस्था से।

लेकिन साधारण शरीर, जिसे हम जानते हैं वैसा शरीर, तो हम दफना आते हैं, वह नहीं रह जाता। लेकिन वही अकेला शरीर नहीं है हमारे भीतर। उसके भीतर और शरीर और शरीर भी हैं। उसके भीतर शरीरों का एक जाल है। साधारण मृत्यु में सिर्फ पहला शरीर गिरता है। उसके पीछे छिपा दूसरा शरीर हमारे साथ ही यात्रा करता है। सूक्ष्म शरीर कहें, कोई भी नाम दे दें, एस्ट्रल बाडी कहें, कोई भी नाम दे दें--वह हमारे साथ यात्रा करता है। उस शरीर में ही हमारी सारी स्मृतियां, सारे अनुभव, सारे कर्म, सारे संस्कार संगृहीत होते हैं। वह हमारे साथ यात्रा करता है।

उस शरीर को देखा जा सकता है। बहुत कठिन नहीं है उसे देखना। बहुत कठिन नहीं है, बहुत ही सरल है। और जैसे-जैसे दुनिया आगे बढ़ी है सभ्यता में, थोड़ा कठिन हो गया है, अन्यथा इतना कठिन नहीं था। कुछ चीजें खो गई हैं, हमें दिखाई पड़नी मुश्किल हो गई हैं। सिर्फ हम आदी नहीं रहे उनको देखने के। उस दिशा से हमारे मन हट गए हैं। उस दिशा में हमने खोज-बीन बंद कर दी है। अन्यथा वह सूक्ष्म शरीर बहुत सरलता से देखा जा सकता था। अभी भी देखा जा सकता है। और अभी तो वैज्ञानिक आधारों पर भी देखने की बड़ी सफल चेष्टाएं की गई हैं। उस सूक्ष्म शरीर के सैकड़ों-हजारों चित्र भी लिए गए हैं। समस्त वैज्ञानिक उपकरणों से जांच भी की गई है।

यहां हम इतने लोग बैठे हैं। हम इतने ही लोग नहीं बैठे हैं। अगर किसी दिन हम वैसा कैमरा बहुत ठीक से विकसित कर पाए--जो कि हो ही जाएगा, क्योंकि चित्र तो सूक्ष्म शरीरों के लिए ही जाने लगे हैं--और यहां का चित्र किसी दिन उस कैमरे से लिया जाए जो सूक्ष्म शरीरों को भी पकड़ता हो, तो लोग इतने ही नहीं दिखाई पड़ेंगे, जितने बैठे हैं। और भी बहुत से लोग दिखाई पड़ेंगे, जो हमें दिखाई नहीं पड़ रहे हैं।

महावीर की सभाओं के लिए कहा जाता है कि उनमें बड़ी भीड़ होती थी। लेकिन उस भीड़ में बहुत तरह के व्यक्ति सम्मिलित होते थे। उसमें वे तो सम्मिलित होते थे, जो गांवों से सुनने आए थे; वे भी सम्मिलित होते थे, जो आकाश से सुनने आए थे।

सदा, सब जगह वे चेतनाएं भी मौजूद हैं। कभी वे चेतनाएं अपनी तरफ से भी कोशिश करती हैं कि आपको दिखाई पड़ जाएं। कभी वे चेतनाएं आप कोशिश करें तो भी दिखाई पड़ सकती हैं। लेकिन उनसे उनके दिखाई पड़ने का संबंध विशेष है, सामान्य नहीं है।

एक शरीर से दूसरे शरीर की यात्रा के बीच में शरीर तो होता है, क्योंकि सूक्ष्म शरीर अगर न हो तो नया शरीर ग्रहण नहीं किया जा सकता। सूक्ष्म शरीर को अगर विज्ञान की भाषा में कहें, तो वह बिल्ट-इन-प्रोग्रैम है; नए शरीर को ग्रहण करने की योजना है, ब्लूप्रिंट है। नहीं तो नए शरीर को ग्रहण करना मुश्किल हो जाएगा। आपने अब तक इस जिंदगी तक जो भी संग्रह किया है--संस्कार, अनुभव, ज्ञान, कर्म--जो भी आपने इकट्ठा किया है, जो भी आप हैं, वह सब उसमें है।

कभी आपने देखा, रात जब आप सोते हैं, तो रात सोते समय जो आपका आखिरी विचार होता है, वह सुबह उठते वक्त आपका पहला विचार होता है। नहीं देखा हो तो थोड़ा ख्याल करना। रात सोते वक्त नींद के उतरने के आखिरी क्षण में, इधर नींद उतर रही है, उस वक्त आपका जो विचार होगा, वह सुबह जब नींद टूट रही, तब आपका पहला विचार होगा। रात का आखिरी विचार, सुबह का पहला विचार होगा। वह रातभर कहां था? आप तो सो गए थे। अब तक उसे खो जाना चाहिए था। वह आपके सूक्ष्म शरीर में प्रतीक्षा करता रहा--आप फिर उठें, वह फिर आपको पकड़े।

जैसे ही यह शरीर छूटता है, आप एक बिल्ट-इन-प्रोग्रैम-- जिंदगीभर की आकांक्षाओं, वासनाओं, कामनाओं का सब संगृहीत ब्लूप्रिंट, एक नक्शा--अपने सूक्ष्म शरीर में लेकर यात्रा पर निकल जाते हैं। वह नक्शा प्रतीक्षा करेगा, जब तक आप नए शरीर को ग्रहण करें। जैसे ही शरीर ग्रहण होगा, फिर जो-जो संभावना शरीर में उपलब्ध होने लगेगी, जिस-जिस चीज का अवसर बनने लगेगा, वह सूक्ष्म शरीर उन-उन चीजों को प्रकट करना शुरू कर देगा।

लेकिन एक बार ऐसी मृत्यु भी होती है, जब सूक्ष्म शरीर भी आपके साथ नहीं होता। वैसी मृत्यु को ही मुक्ति, वैसी मृत्यु को ही मोक्ष... । उसके बाद सिर्फ अस्तित्व होता है, फिर कोई अभिव्यक्त शरीर नहीं होता। लेकिन साधारण मृत्यु में आपके साथ एक शरीर होता है। असाधारण मृत्यु है वह, महामृत्यु है, समाधिस्थ की होती है। जो इस जन्म में समाधि को उपलब्ध होगा, उसका मतलब होता है कि उसने जीते जी अपने सूक्ष्म शरीर को विसर्जित कर दिया। समाधि का मतलब ही यही है कि उसने जीते जी सूक्ष्म शरीर को विसर्जित कर दिया, बिल्ट-इन-प्रोग्रैम तोड़ डाला। अब आगे की यात्रा के लिए उसके पास कोई योजना न रही। अब न कोई पंचवर्षीय योजना है उसके पास, न कोई पांच जीवन की। अब उसके पास कोई योजना नहीं है। अब वह योजना-मुक्त हो गया। अब इस शरीर के गिरते ही उसके पास सिर्फ अस्तित्व रह जाएगा, अभिव्यक्ति नहीं।

अभिव्यक्ति बंधन है, क्योंकि अभिव्यक्ति पूरे की अभिव्यक्ति नहीं है। इसलिए थोड़ा-सा प्रकट होता है और जो अप्रकट रहता है, वह बेचैन होता है। हमारे प्राणों में जो स्वतंत्रता की छटपटाहट है, हमारे प्राणों में जो मुक्ति की आकांक्षा है, वह इस कारण से है कि बड़ा थोड़ा-सा प्रकट हो रहा है। जैसे एक आदमी के सारे शरीर में जंजीरें बांध दीं और सिर्फ एक अंगुली खुली छोड़ दी। वह अपनी अंगुली हिला रहा है। तकलीफ में पड़ा हुआ है। वह कहता है, मुझे स्वतंत्रता चाहिए। क्योंकि मेरा पूरा शरीर जकड़ा हुआ है।

ऐसे ही हमारा पूरा अस्तित्व जकड़ा हुआ है। एक छोटे-से द्वार से जरा-सी अभिव्यक्ति है, वह अभिव्यक्ति बंधन मालूम पड़ती है। वही हमारी पीड़ा है। छटपटा रहे हैं। लेकिन इस छटपटाहट के हम दो तरह के प्रयोग कर सकते हैं। या तो वह जो छोटा-सा द्वार है हमारा शरीर, उसी के माध्यम से हम अपने को मुक्त करने की कोशिश में लगे रहें, तो हम उसको बड़ा करेंगे।

एक आदमी बड़ा मकान बनाता है। उसका मतलब सिर्फ यह है कि वह अपने शरीर को बड़ा बना रहा है। कोई और मतलब नहीं है। एक आदमी बड़ा मकान बनाता है और बड़े मकान में जरा लगता है कि थोड़ा मुक्त हुआ। स्पेस बढ़ी, जगह बड़ी हुई। छोटी कोठरी में ज्यादा बंद मालूम होता था, बड़े मकान में जरा खुला मालूम पड़ता है। लेकिन थोड़े दिन में वह भी छोटा मालूम पड़ने लगता है। फिर एक बड़ा महल बनाता है, थोड़े दिन में वह भी छोटा मालूम पड़ने लगता है।

असल में आदमी के पास इतना बड़ा अस्तित्व है कि पूरा आकाश भी छोटा है। इसलिए वह कितने ही बड़े मकान बनाता जाए, सब छोटे पड़ जाएंगे। उसको इतनी स्पेस चाहिए, जितनी परमात्मा को मिली है। बस, इससे कम में काम नहीं चल सकता। वहां भी भीतर परमात्मा ही है। वह पूरी जगह चाहता है, वह असीम चाहता है, जहां कहीं कोई सीमा न आती हो। जहां भी सीमा आएगी, वहीं बंधन मालूम होगा। और शरीर बहुत तरह की सीमाएं बना लेता है। देखने की सीमा, सुनने की सीमा, सोचने की सीमा, सब चीज की सीमा है।

और असीम है अस्तित्व और सीमित है अभिव्यक्ति, इसलिए अभिव्यक्ति से मुक्त होना ही संसार से मुक्त होना है। वह जिसको हम पुरानी भाषा में कहें, आवागमन से मुक्त होना, वह अभिव्यक्ति से मुक्त होना है। वह शुद्ध अस्तित्व की तलाश है, प्योर एक्झिस्टेंस की तलाश है। वह उस अस्तित्व की तलाश है, जहां अभिव्यक्ति

नहीं होगी, बस होना ही होगा--जस्ट बीइंग--सिर्फ होना ही रह जाएगा। और कोई सीमा न होगी। सिर्फ होने में सीमा नहीं है।

तो जिस दिन कोई समाधि को पाकर, सब बिल्ट-इन-प्रोग्रैम तोड़कर, अभिव्यक्ति की सारी आकांक्षाएं छोड़कर, अभिव्यक्ति की सारी वासनाओं को छोड़कर मरता है, उस दिन उसके पास फिर कोई शरीर नहीं होता, फिर हम उसका फोटोग्राफ नहीं ले सकते।

तो अभी पश्चिम में साइकिक रिसर्च सोसाइटीज ने जो फोटोग्राफ्स लिए हैं, उन फोटोग्राफ्स में महावीर का फोटोग्राफ नहीं हो सकता, उस फोटोग्राफ में बुद्ध को नहीं पकड़ा जा सकता, उस फोटोग्राफ में कृष्ण को नहीं पकड़ा जा सकता। उस फोटोग्राफ में उनको ही पकड़ा जा सकता है, जो अभी बिल्ट-इन-प्रोग्रैम लेकर चले हैं। जिनके पास एक योजना है, एक ब्लूप्रिंट है शरीर का, उनको पकड़ा जा सकता है। महावीर का फोटोग्राफ नहीं पकड़ा जा सकता है, कोई उपाय नहीं है। अस्तित्व का कोई भी चित्र नहीं लिया जा सकता। अस्तित्ववान का चित्र लिया जा सकता है, अस्तित्व का कोई चित्र नहीं लिया जा सकता है। अस्तित्व का कैसे चित्र होगा? क्योंकि अस्तित्व की कोई सीमा नहीं है। चित्र उसी का हो सकता है, जिसकी सीमा हो।

तो साधारण मृत्यु में तो--पूछा है आपने--शरीर रहेगा, सूक्ष्म हो जाएगा। असाधारण मृत्यु में, योगिक मृत्यु में, महामृत्यु में, निर्वाण में नहीं कोई शरीर रह जाता, सिर्फ अस्तित्व ही रह जाता है। नहीं कोई लहर रह जाती, बस सागर ही रह जाता है।

प्रश्नः ओशो, वासनामय सूक्ष्म शरीर की शांति के लिए क्या पुत्र-पत्नी कुछ कर सकते हैं? क्योंकि गीता में पिंडदान का उल्लेख आता है।

वासना, प्रत्येक व्यक्ति की अपनी है, दूसरा उसमें कुछ भी नहीं कर सकता। वासना मेरी है, मेरी पत्नी कुछ नहीं कर सकती। हां, लेकिन मेरी वासना के लिए करने के बहाने से अपनी वासना के लिए कुछ कर सकती है। पर वह बहुत दूसरी बात है।

पति मर गया है। पत्नी अपने पति को वासनामुक्त करने की कोशिश करती है--प्रार्थना करती है, हवन करती है, पिंडदान करती है, कुछ भी करती है, कोई आयोजन करती है--इससे उसके पति की वासना में कोई अंतर नहीं पड़ सकता है, लेकिन उसकी स्वयं की वासना में अंतर पड़ सकता है। और योजना का सीक्रेट यही है।

योजना पति की वासना-मुक्ति के लिए नहीं है। क्योंकि पति की वासना-मुक्ति अगर आप करवा दें, तब तो पति को वासना भी पकड़ा सकते हैं आप। तब तो इस दुनिया में मुक्ति मुश्किल हो जाएगी। महावीर मर जाएं और महावीर की पत्नी वासना पकड़ाए, तो महावीर क्या करेंगे! क्योंकि जिसे हम मुक्त कर सकते हैं, उसे हम बांध भी सकते हैं। तब तो मुक्ति भी बंधन बन जाएगी; तब तो मुक्ति भी असंभव है।

नहीं, लेकिन राज दूसरा है, सीक्रेट दूसरा है। वह सीक्रेट साधारणतः खोला नहीं गया है। राज यह है कि पति मर गया है; पति के लिए तो पत्नी कुछ भी नहीं कर सकती। जिंदा में ही कुछ नहीं कर सकती, मरने के बाद करना तो बहुत मुश्किल है। दूसरे का अपना होना है, जिसमें हमारा कोई प्रवेश नहीं है--न पति का, न पत्नी का, न मां का, न पिता का। लेकिन पति के बहाने वह जो करेगी--अगर वह पति को वासना-मुक्त करने की आकांक्षा से प्रार्थना करे, तो यह प्रार्थना, यह आकांक्षा, यह वासना-मुक्ति की कामना, उसकी अपनी वासना को तिरोहित करेगी।

यह बड़े मजे की बात है कि दूसरे की वासना जगाने में हम अपनी ही वासना जगाते हैं। और दूसरे की वासना मिटाने में हम अपनी ही वासना मिटाते हैं। असल में दूसरे के साथ जो हम करते हैं, गहरे में अपने ही साथ करते हैं। सच तो यह है कि दूसरे के साथ सिर्फ किए जाने का दिखावा हो सकता है, सब करना अंततः अपने ही साथ है। उपयोगी है, लेकिन कृपा करके ऐसा मत सोचें कि वह जो दूसरा यात्रा पर निकल गया है, उसके लिए उपयोगी है। आपके लिए उपयोगी है। आपके लिए सार्थक है।

लेकिन शायद ऐसा अगर कहा गया होता जैसा मैं कह रहा हूं, तो शायद पत्नी प्रार्थना भी न करे। सोचेगी, ठीक है। लेकिन मरे हुए पति के लिए इतना करने की आकांक्षा उसके मन में होती है कि शायद उनको सुगम मार्ग मिल जाए, आनंद की राह मिल जाए, स्वर्ग का द्वार मिल जाए।

होने का बुनियादी कारण है। क्योंकि जिंदा रहते तो हम एक-दूसरे को सिर्फ नर्क के द्वार तक पहुंचाते हैं, एक-दूसरे को दुख में धक्के देते हैं। इसलिए मरने के बाद पछतावा, रिपेंटेंस शुरू होता है। मरने के बाद पति पत्नी को जितना प्रेम करता हुआ दिखाई पड़ने लगता है, ऐसा जिंदगी में कभी नहीं किया था। रिपेंटेंस शुरू होता है। जीते के साथ जो किया था, उससे बिल्कुल उलटा करना शुरू होता है।

बाप के साथ बेटा जिंदा में जो कर रहा था, वह मरने के बाद कुछ और करने लगता है। जिंदा में कभी आदर न दिया था, मरने के बाद तस्वीर, फोटो लगाता है, फूल चढ़ाता है! जिंदा में कभी पैर न दबाए थे, मरने के बाद राख को समेटकर गंगा ले जाता है। जिंदा बाप ने कहा होता कि गंगा ले चलो, तो भूलकर न ले गया होता। मरे बाप को गंगा ले जाता है!

यह बहुत गहरे में हमारा जो जगत है, इसमें हम जिंदा लोगों के साथ इतना दुर्व्यवहार कर रहे हैं कि सिर्फ मरों के साथ क्षमायाचना कर सकते हैं, और कुछ नहीं। इसलिए पति के लिए पत्नी कर सकती है, पति पत्नी के लिए कर सकता है, बेटा बाप के लिए कर सकता है, बेटा मां के लिए कर सकता है। अपने लिए शायद नहीं भी करेगा।

इसलिए एक बहुत मनोवैज्ञानिक सत्य को, एक बहुत गलत कारण देकर पकड़ाने की कोशिश की गई है। वह सत्य केवल इतना है कि हम अपनी वासना को, दूसरे की वासना-शांति के लिए किए गए प्रयास से--अपनी वासना को--शांत करने में सक्षम होते हैं। और यह छोटी बात नहीं है। मगर यह जानकर ही की जानी चाहिए अब। और अब यह जानकर ही होगी; क्योंकि युग बदलता है, प्रौढ़ता बदलती है मस्तिष्क की।

घर में यदि मिठाई रखी है, तो हम बच्चों से कह देते हैं कि भूत है कमरे में, मत जाना। कोई भूत नहीं होता, मिठाई होती है। लेकिन मिठाई बच्चा ज्यादा न खा ले। और बच्चे को अभी समझाने का कोई उपाय नहीं होता कि मिठाई ज्यादा खा लोगे तो नुकसान हो जाएगा। तो भूत खड़ा करना पड़ता है। काम हो जाता है--भूत की वजह से बच्चा नहीं जाता। लेकिन बच्चा फिर जवान हो जाता है। अब इसको कहिए, भूत है, तो वह कहता है, रहने दो, कोई फिक्र नहीं। बल्कि भूत की वजह से और आकर्षण पैदा होता है, वह और चला जाता है। वैसे शायद न भी जाता। अब तो उचित है कि इसे पूरी बात ही समझा दी जाए।

आदमियत ने जो-जो धारणाएं मनुष्यता के बचपन में निर्मित की थीं, वे सभी की सभी अब अस्तव्यस्त हो गई हैं। अब उचित है कि सीधी और साफ बात कह दी जाए। आज से पांच हजार साल पहले जब गीता कही गई होगी या और भी पहले, तो जो धारणाएं मनुष्य के विकास की बहुत प्राथमिक अवस्थाओं में कही गई थीं, वे अब सब हंसने योग्य हो गई हैं। अगर उन्हें बचाना हो तो उनके राज खोल देने जरूरी हैं, उन्हें सीधा-साफ कह

देना जरूरी है कि वे इसलिए हैं। भूत नहीं है, मिठाई है। और मिठाई खाने के नुकसान क्या हैं, वे साफ कह देने उचित हैं।

मनुष्य प्रौढ़ हुआ है। और इसलिए मनुष्य सारी दुनिया में अधार्मिक दिखाई पड़ रहा है। यह मनुष्य की प्रौढ़ता है, अधार्मिकता नहीं है। असल में प्रौढ़, एडल्ट आदमी के लिए, एडल्ट ह्युमैनिटी के लिए, प्रौढ़ हो गई मनुष्यता के लिए, बचपन में दिए गए मनुष्यता को जो सिद्धांत थे, अब उनकी आत्मा को फिर से नए शरीर देने की जरूरत है।

मात्रास्पर्शास्तु कौन्तेय शीतोष्णसुखदुःखदाः।

आगमापायिनोऽनित्यास्तांस्तितिक्षस्व भारत।। 14।।

हे कुंतीपुत्र, सर्दी-गर्मी और सुख-दुख को देने वाले इंद्रिय और विषयों के संयोग तो क्षणभंगुर और अनित्य हैं। इसलिए, हे भरतवंशी अर्जुन, उनको तू सहन कर।

जो भी जन्मता है, मरता है। जो भी उत्पन्न होता है, वह विनष्ट होता है। जो भी निर्मित होगा, वह बिखरेगा, समाप्त होगा। कृष्ण कह रहे हैं, इसे स्मरण रख भारत, इसे स्मरण रख कि जो भी बना है, वह मिटेगा। और जो भी बना है, वह मिटेगा; जो जन्मा है, वह मरेगा--इसका अगर स्मरण हो, इसकी अगर याददाश्त हो, इसका अगर होश, अवेयरनेस हो, तो उसके मिटने के लिए दुख का कोई कारण नहीं रह जाता। और जिसके मिटने में दुख का कारण नहीं रह जाता, उसके होने में सुख का कोई कारण नहीं रह जाता।

हमारे सुख-दुख हमारी इस भ्रांति से जन्मते हैं कि जो भी मिला है वह रहेगा। प्रियजन आकर मिलता है, तो सुख मिलता है। लेकिन जो आकर मिला है, वह जाएगा। जहां मिलन है, वहां विरह है। जो मिलन में विरह को देख ले, उसके मिलन का सुख विलीन हो जाता है, उसके विरह का दुख भी विलीन हो जाता है। जो जन्म में मृत्यु को देख ले, उसकी जन्म की खुशी विदा हो जाती है, उसका मृत्यु का दुख विदा हो जाता है। और जहां सुख और दुख विदा हो जाते हैं, वहां जो शेष रह जाता है, उसका नाम ही आनंद है। आनंद सुख नहीं है। आनंद सुख की बड़ी राशि का नाम नहीं है। आनंद सुख के स्थिर होने का नाम नहीं है। आनंद मात्र दुख का अभाव नहीं है। आनंद मात्र दुख से बच जाना नहीं है। आनंद सुख और दुख दोनों से ही उठ जाना है, दोनों से ही बच जाना है।

असल में सुख और दुख एक ही सिक्के के दो पहलू हैं। जो मिलन में सिर्फ मिलन को देखता और विरह को नहीं देखता, वह क्षणभर के सुख को उपलब्ध होता है। फिर जो विरह में सिर्फ विरह को देखता है, मिलन को नहीं देखता, वह क्षणभर के दुख को उपलब्ध होता है। और जब कि मिलन और विरह एक ही प्रक्रिया के दो हिस्से हैं; एक ही मैग्नेट के दो पोल हैं; एक ही चीज के दो छोर हैं।

इसलिए जो सुखी हो रहा है, उसे जानना चाहिए, वह दुख की ओर अग्रसर हो रहा है। जो दुखी हो रहा है, उसे जानना चाहिए, वह सुख की ओर अग्रसर हो रहा है। सुख और दुख एक ही अस्तित्व के दो छोर हैं। और जो भी चीज निर्मित है, जो भी चीज बनी है, वह बिखरेगी; बनने में ही उसका बिखरना छिपा है; निर्मित होने में ही उसका विनाश छिपा है। जो व्यक्ति इस सत्य को पूरा का पूरा देख लेता है, पूरा... ! हम आधे सत्य देखते हैं और दुखी होते हैं।

यह बड़े मजे की बात है, असत्य दुख नहीं देता, आधे सत्य दुख देते हैं। असत्य जैसी कोई चीज है भी नहीं, क्योंकि असत्य का मतलब ही होता है जो नहीं है। सिर्फ आधे सत्य ही असत्य हैं। वे भी हैं इसीलिए कि वे भी सत्य के आधे हिस्से हैं। पूरा सत्य आनंद में ले जाता, आधा सत्य सुख-दुख में डांवाडोल करवाता है।

इस जगत में असत्य से मुक्त नहीं होना है, सिर्फ आधे सत्यों से मुक्त होना है। ऐसा समझिए कि आधा सत्य, हाफ ट्रुथ ही असत्य है। और कोई असत्य है नहीं। असत्य को भी खड़ा होना पड़े तो सत्य के ही आधार पर खड़ा होना पड़ता है, वह अकेला खड़ा नहीं हो सकता; उसके पास अपने कोई पैर नहीं हैं।

कृष्ण कह रहे हैं अर्जुन से, तू पूरे सत्य को देख। तू आधे सत्य को देखकर विचलित, पीड़ित, परेशान हो रहा है।

जो भी विचलित, पीड़ित, परेशान हो रहा है, वह किसी न किसी आधे सत्य से परेशान होगा। जहां भी दुख है, जहां भी सुख है, वहां आधा सत्य होगा। और आधा सत्य पूरे समय पूरा सत्य बनने की कोशिश कर रहा है।

तो जब आप सुखी हो रहे हैं, तभी आपके पैर के नीचे से जमीन खिसक गई है और दुख आ गया है। जब आप दुखी हो रहे हैं, तभी जरा गौर से देखें, आस-पास कहीं दुख के पीछे सुख छाया की तरह आ रहा है। इधर सुबह होती है, उधर सांझ होती है। इधर दिन निकलता है, उधर रात होती है। इधर रात है, उधर दिन तैयार हो रहा है। जीवन पूरे समय, अपने से विपरीत में यात्रा है। जीवन पूरे समय, अपने से विपरीत में यात्रा है। एक छोर से दूसरे छोर पर लहरें जा रही हैं। कृष्ण कहते हैं, भारत! पूरा सत्य देख। पूरा तुझे दिखाई पड़े, तो तू अनुद्विग्न हो सकता है।

यं हि न व्यथयन्त्येते पुरुषं पुरुषर्षभ।

समदुःखसुखं धीरं सोऽमृतत्वाय कल्पते।। 15।।

क्योंकि, हे पुरुषश्रेष्ठ, दुख-सुख को समान समझने वाले जिस धीर पुरुष को ये इंद्रियों के विषय व्याकुल नहीं कर सकते, वह मोक्ष के लिए योग्य होता है।

विरोधी ध्रुवों में बंटा हुआ जो हमारा अस्तित्व है, इन दोनों के बीच, इन दोनों की आकृतियों के भेद को देखकर, इनके भीतर की अस्तित्व की एकता को जो अनुभव कर लेता है, ऐसा व्यक्ति ही ज्ञानी है। जिसे जन्म में मृत्यु की यात्रा दिखाई पड़ जाती है, जिसे सुख में दुख की छाया दिखाई पड़ जाती है, मिलन में विरह आ जाता है जिसके पास, जो प्रतिपल विपरीत को मौजूद देखने में समर्थ हो जाता है, वैसा व्यक्ति ही ज्ञानी है। देखने में समर्थ हो जाता है--ख्याल रखना जरूरी है। ऐसा मानने में समर्थ हो जाता है, वह ज्ञानी नहीं हो जाता है। मान लिया ऐसा, तो काम नहीं चलता है।

माने हुए सत्य अस्तित्व के जरा-से धक्के में गिर जाते हैं और बिखर जाते हैं। जाने हुए सत्य ही जीवन में नहीं बिखरते हैं। जो ऐसा जान लेता है, ऐसा देख लेता है, या कहें कि ऐसा अनुभव कर लेता है और बड़े मजे की बात है कि अनुभव करने कहीं दूर जाने की जरूरत नहीं है। जिंदगी रोज मौका देती है, प्रतिपल मौका देती है। ऐसा कोई सुख जाना है आपने, जो दुख न बन गया हो? ऐसा कोई सुख जाना है जीवन में, जो दुख न बन गया हो? ऐसी कोई सफलता जानी है, जो विफलता न बन गई हो? ऐसा कोई यश जाना है, जो अपयश न बन गया हो?

लाओत्से कहा करता था कि मुझे जीवन में कभी कोई हरा नहीं पाया। वह मर रहा है, आखिरी क्षण है। तो शिष्यों ने पूछा, वह राज हमें भी बता दो, क्योंकि चाहते तो हम भी हैं कि जीतें और कोई हमें हरा न पाए। जरूर बता दें जाने के पहले वह राज, वह सीक्रेट। लाओत्से हंसने लगा। उसने कहा, तुम गलत आदमी हो। तुम्हें बताना बेकार है। तुमने मेरी पूरी बात भी न सुनी और बीच में ही पूछ लिया। मैं इतना ही कह पाया था कि मुझे जिंदगी में कोई हरा नहीं पाया। तुम इतनी जल्दी ही पूछ लिए। पूरी बात तो सुन लो! आगे मैं कहने वाला था कि मुझे जिंदगी में कोई हरा नहीं पाया, क्योंकि मैंने जिंदगी में किसी को जीतना नहीं चाहा। क्योंकि मुझे दिखाई पड़ गया कि जीता कि हारने की तैयारी की। इसलिए मुझे कोई हरा नहीं पाया, क्योंकि मैं कभी जीता ही नहीं। उपाय ही न रहा मुझे हराने का। मुझे हराने वाला आदमी ही नहीं था पृथ्वी पर। कोई हरा ही नहीं सकता था, क्योंकि मैं पहले से ही हारा हुआ था। मैंने जीतने की कोई चेष्टा ही नहीं की। लेकिन तुम कहते हो कि हम भी जीतना चाहते हैं और हम भी चाहते हैं कि कोई हमें हरा न पाए, तब तो तुम हारोगे। क्योंकि जीत और हार एक ही सिक्के के दो पहलू हैं।

कृष्ण कह रहे हैं, वह यह कह रहे हैं कि ऐसा जो देख लेता है... ! और देखने का ध्यान रखें; यह देखना एक्झिस्टेंशियल अनुभव है; यह अस्तित्वगत अनुभव है। हम रोज जानते हैं, लेकिन पता नहीं कैसे चूक जाते हैं देखने से! कैसे अपने को बचा लेते हैं देखने से! शायद कोई बड़ी ही चालाकी हम अपने साथ करते हैं। अन्यथा ऐसा जीवंत सत्य दिखाई न पड़े, यही आश्चर्य है।

रोज अनुभव में आता है। सब चीजें अपने से विपरीत में बदल जाती हैं। ज्यादा गहरी मित्रता करें और शत्रुता जन्मनी शुरू हो जाती है। लेकिन तरकीब क्या है हमारी इससे बच जाने की? तरकीब हमारी यह है कि जब मित्र शत्रु बनने लगता है, तो हम ऐसा नहीं समझते हैं कि मित्रता शत्रुता बन रही है, हम समझते हैं कि मित्र शत्रु बन रहा है। बस वहीं भूल हो जाती है। जब एक मित्र शत्रु बनने लगता है, तो हम समझते हैं कि मित्र शत्रु बन रहा है; दूसरा कोई मित्र होता तो नहीं बनता, यह आदमी दगाबाज था। तीसरा कोई मित्र होता तो नहीं बनता, यह आदमी दगाबाज था। वह दूसरा मित्र, आप भी उसके शत्रु बन रहे हैं अब, वह भी यही सोचता है कि यह आदमी गलत आदमी चुन लिया। ठीक आदमी होता तो कभी ऐसा नहीं होने वाला था। मित्र जब शत्रु बनता है, तब हम सत्य से वंचित रह जाते हैं। सत्य यह है कि मित्रता शत्रुता बन जाती है। लेकिन हम मित्र पर थोपकर, फिर दूसरे मित्र की तलाश में निकल जाते हैं।

एक आदमी ने अमेरिका में आठ बार शादियां कीं। मगर होशियार आदमी रहा होगा। पहली शादी, सालभर बाद तलाक किया। देखा कि पत्नी गलत है। कोई अनहोनी बात नहीं देखी; सभी पति देखते हैं, सभी पत्नियां देखती हैं। देखा कि पत्नी गलत है, चुनाव गलत हो गया। तलाक कर दिया। फिर दूसरी पत्नी चुनी। छः महीने बाद पता चला कि फिर गलत हो गया! आठ बार जिंदगी में शादी की। लेकिन मैंने कहा कि आदमी होशियार होगा, क्योंकि आठ बार की भूल से भी जो ठीक सत्य पर पहुंच जाए, वह भी असाधारण आदमी है। आठ हजार बार करके भी नहीं पहुंचते, क्योंकि हमारा तर्क तो वही रहता है हर बार।

आठ बार के बाद उसने शादी नहीं की। और उसके मित्रों ने पूछा कि तुमने शादी क्यों न की? तो उसने कहा कि आठ बार में एक अजीब अनुभव हुआ कि हर बार जिस स्त्री को मैं ठीक समझकर लाया, वह पीछे गलत साबित हुई। तो पहली दफा मैंने सोचा कि वह स्त्री गलत थी। दूसरी दफे सोचा कि वह स्त्री गलत थी। लेकिन तीसरी दफे शक पैदा होने लगा। चौथी दफा तो बात बहुत साफ दिखाई पड़ने लगी। फिर भी मैंने कहा, एक-दो प्रयोग और कर लेने चाहिए। आठवीं बार बात स्पष्ट हो गई कि यह सवाल स्त्री के गलत और सही होने का नहीं

है। जिससे भी सुख चाहा, उससे दुख मिलेगा। जिससे भी सुख चाहा, उससे दुख मिलेगा। क्योंकि सब सुख दुख में बदल जाते हैं। जिससे भी मित्रता चाही, उससे शत्रुता मिलेगी। क्योंकि सभी मित्रताएं शत्रुताओं की शुरुआत हैं।

ट्रिक कहां है मन की? धोखा कहां है? तरकीब?

तरकीब है, अनुभूति के सत्य को, स्थिति के सत्य को, हम व्यक्तियों पर थोप देते हैं। फिर नया व्यक्ति खोजने निकल जाते हैं। साइकिल नहीं है घर में, साइकिल खरीद ली। फिर पाते हैं, सोचा था कि बहुत सुख मिलेगा, नहीं मिला। लेकिन तब तक यह ख्याल भी नहीं आता कि जिस साइकिल के लिए रात-रातभर सपने देखे थे कि मिल जाए तो बहुत सुख मिलेगा, अब बिल्कुल नहीं मिल रहा है। लेकिन वह बात ही भूल जाते हैं। तब तक हम कार मिल जाए तो उसके सुख में लग जाते हैं। फिर कार भी मिल जाती है। फिर भूल जाते हैं कि जितना सुख सोचा था, उतना मिला? वह कभी मिलता नहीं।

मिलता है दुख, खोजा जाता है सुख। मिलती है घृणा, खोजा जाता है प्रेम। मिलता है अंधकार, यात्रा की जाती है सदा प्रकाश की। लेकिन इन दोनों को हम कभी जोड़कर नहीं देख पाते, गणित को हम कभी पूरा नहीं कर पाते। उसका एक कारण और भी ख्याल में ले लेना जरूरी है। क्योंकि दोनों के बीच में टाइम-गैप होता है, इसलिए हम नहीं जोड़ पाते हैं।

अफ्रीका में जब पहली दफा पश्चिम के लोग पहुंचे, तो बड़े हैरान हुए। क्योंकि अफ्रीकनों में यह ख्याल ही नहीं था कि बच्चों का संभोग से कोई संबंध है। उनको पता ही नहीं था इस बात का कि बच्चे का जन्म संभोग से किसी भी तरह जुड़ा हुआ है। टाइम-गैप बड़ा है। एक तो सभी संभोग से बच्चे पैदा नहीं होते। दूसरे नौ महीने का फर्क पड़ता है। अफ्रीका में ख्याल ही नहीं था कबीलों में कि बच्चे का कोई संबंध संभोग से है। संभोग से कुछ लेना-देना ही नहीं है। कॉ.ज और एफेक्ट में इतना फासला जो है--कारण नौ महीने पहले, कार्य नौ महीने बाद--तो जोड़ नहीं हो पाता।

सुख को जब हम पकड़ते हैं, जब तक वह दुख बनता है, तब तक बीच में टाइम गिरता है समय गिरता है। तो हम जोड़ नहीं पाते कि ये दोनों बिंदु जुड़े हैं। यह वही सुख है जो अब दुख बन गया। नहीं, वह हम नहीं जोड़ पाते। मित्र को शत्रु बनने में समय लगेगा न! आखिर कुछ भी बनने में समय लगता है। तो जब मित्र बना था तब, और जब शत्रु बना तब, वर्षों बीच में गुजर जाते हैं। जोड़ नहीं पाते कि मित्र बनने में और शत्रु तक पहुंचने में इतना वक्त लगा। नहीं, मित्र बनने की घटना अलग है और शत्रु बनने की घटना अलग है। तब तय नहीं कर पाते; तब व्यक्ति पर ही थोप देते हैं कि गलती व्यक्ति के साथ हो गई है।

कृष्ण अर्जुन से कह रहे हैं कि तू आर-पार देख, पूरा देख। और जो इस पूरे को देख लेता है, वह ज्ञानी हो जाता है। और ज्ञानी को फिर ठंडा और गरम, सुख और दुख पीड़ा नहीं देते। लेकिन इसका यह मतलब मत समझ लेना कि ज्ञानी को ठंडे और गरम का पता नहीं चलता है।

ऐसी भ्रांति हुई है, इसलिए मैं कहता हूं। ऐसी भ्रांति हुई है। तब तो वह ज्ञानी न हुआ, जड़ हो गया। अगर सेंसिटिविटी मर जाए, तो उसको पता ही न चले। तो कई जड़-बुद्धि ज्ञानी होने के भ्रम में पड़ जाते हैं, क्योंकि उनको ठंडी और गरमी का पता नहीं चलता। थोड़े अभ्यास से पता नहीं चलेगा। इसमें कोई कठिनाई तो नहीं है।

ध्यान रहे, ज्ञानी को ठंडे और गरम से, सुख और दुख से पीड़ा नहीं होती। सुख और दुख में चुनाव नहीं रह जाता, च्वाइस नहीं रह जाती, च्वाइसलेसनेस हो जाती है। इसका यह मतलब नहीं है कि दिखाई नहीं पड़ता। इसका यह मतलब नहीं है कि ज्ञानी को सुई चुभाएं तो पता नहीं चलेगा। इसका यह मतलब नहीं है कि ज्ञानी के गले में फूल डालें तो सुगंध न आएगी और दुर्गंध फेंकें तो दुर्गंध न आएगी।

नहीं, सुगंध और दुर्गंध दोनों आएंगी, शायद आपसे ज्यादा आएंगी। उसकी संवेदनशीलता आपसे ज्यादा होगी। उसकी सेंसिटिविटी ज्यादा होगी। क्योंकि वह अस्तित्व के प्रति ज्यादा सजग होगा; क्षण के प्रति ज्यादा जागा होगा। उसकी अनुभूति आपसे तीव्र होगी। लेकिन वह यह जानता है कि सुगंध और दुर्गंध, गंध के ही दो छोर हैं।

कभी, जहां सुगंध बनती है, उस फैक्टरी के पास से गुजरें तो पता चल जाएगा। असल में दुर्गंध को ही सुगंध बनाया जाता है। खाद डाल देते हैं और फूल में सुगंध आ जाती है। सुगंध और दुर्गंध, गंध के ही दो छोर हैं। गंध अगर प्रीतिकर लगती है, तो सुगंध मालूम होती है; गंध अप्रीतिकर लगती है, तो दुर्गंध मालूम पड़ती है।

ऐसा नहीं है कि ज्ञानी को पता नहीं चलता कि क्या सौंदर्य है और क्या कुरूप है। बहुत पता चलता है। लेकिन यह भी पता चलता है कि सौंदर्य और कुरूप आकृतियों के दो छोर हैं, एक ही लहर के दो छोर हैं। इसलिए पीड़ित नहीं होता, डांवाडोल नहीं होता, अस्थिर नहीं होता। संतुलन नहीं खोता।

लेकिन इससे बड़ी भ्रांति हुई है। और वह भ्रांति यह हुई है कि जिस आदमी को ठंडी-गरमी का पता न चले, वह ज्ञानी हो गया! यह बहुत आसान है। वह काम बहुत कठिन है, जो मैं कह रहा हूं! ठंडी-गरमी का पता न चले, इसके लिए तो थोड़ा-सा ठंडी-गरमी का अभ्यास करने की जरूरत है। ठंडी-गरमी का पता नहीं चलेगा, चमड़ी जड़ हो जाएगी, उसका बोध कम हो जाएगा। जरा नाक में, नासापुटों में जो थोड़े से गंध के तंतु हैं, अगर दुर्गंध के पास बैठे रहें, वे अभ्यासी हो जाएंगे।

तो परमहंस भी हो जाते हैं लोग, दुर्गंध के पास बैठकर। नासमझ उनके चरण भी छूते हैं कि बड़ा परमहंस है, दुर्गंध का पता नहीं चल रहा है! किस भंगी को पता चलता है? नासापुट नष्ट हो जाते हैं। लेकिन इससे भंगी परमहंस नहीं हो जाता।

खलील जिब्रान ने एक छोटी-सी कहानी लिखी है, वह मैं कहूं, फिर आज की बात पूरी करूं। फिर हम सुबह बात करेंगे।

जिब्रान ने लिखा है कि गांव से, देहात से, एक औरत शहर आई मछलियां बेचने। मछलियां बेच दीं। लौटती थी सांझ, तो उसकी सहेली थी शहर में। गांव की ही लड़की थी। उसने उसे ठहरा लिया कि आज रात रुक जा। वह एक माली की पत्नी थी, मालिन थी; बगिया थी सुंदर उसके पास, फूल ही फूल थे। मेहमान घर में आया है, गरीब मालिन, उसके पास कुछ और तो न था। उसने बड़े फूल--मोगरे के, गुलाब के, जुही के, चमेली के--उसके चारों तरफ लाकर रख दिए।

रात उसे नींद न आए। वह करवट बदले, और बदले, और नींद न आए। मालिन ने उससे पूछा कि नींद नहीं आती? कोई तकलीफ है? उसने कहा, तकलीफ है। ये फूल हटाओ--एक। और मेरी टोकरी, जिसमें मैं मछलियां लाई थी, वह टोकरी मुझे दे दो, उसमें थोड़ा पानी छिड़क दो।

अपरिचित मकान हो तो मुश्किल हो जाती है। अपरिचित गंध! मछलियां आदत का हिस्सा थीं, लेकिन इससे कुछ कोई परमहंस नहीं हो जाता।

ठंडी और गरमी का पता न चले तो कोई ज्ञानी नहीं हो जाता। सुख-दुख का पता न चले तो कोई ज्ञानी नहीं हो जाता।

सुख-दुख का पूरी तरह पता चले और फिर भी सुख-दुख संतुलन न तोड़ें सुख-दुख का पूरी तरह पता चले, लेकिन सुख में भी दुख की छाया दिखे, दुख में भी सुख की छाया दिखे। सुख-दुख आर-पार, ट्रांसपैरेंट दिखाई पड़ने लगें, तो व्यक्ति ज्ञान को उपलब्ध होता है।

शेष कल।

सातवां प्रवचन

भागना नहीं--जागना है

नासतो विद्यते भावो नाभावो विद्यते सतः।

उभयोरपि दृष्टोऽन्तस्त्वनयोस्तत्त्वदर्शिभिः।। 16।।

और हे अर्जुन, असत (वस्तु) का तो अस्तित्व नहीं है और सत का अभाव नहीं है। इस प्रकार, इन दोनों को हम तत्व-ज्ञानी पुरुषों द्वारा देखा गया है।

क्या है सत्य, क्या है असत्य, उसके भेद को पहचान लेना ही ज्ञान है, प्रज्ञा है। किसे कहें है और किसे कहें नहीं है, इन दोनों की भेद-रेखा को खींच लेना ही जीवन की सबसे बड़ी उपलब्धि है। क्या है स्वप्न और क्या है यथार्थ, इसके अंतर को समझ लेना ही मुक्ति का मार्ग है। कृष्ण ने इस वचन में कहा है, जो है, और सदा है, और जिसके न होने का कोई उपाय नहीं है, जिसके न होने की कोई संभावना ही नहीं है, वही सत है, वही रियल है। जो है, लेकिन कभी नहीं था और कभी फिर नहीं हो सकता है, जिसके न हो जाने की संभावना है, वही असत है, वही अनरियल है।

यहां बहुत समझ लेने जैसी बात है। साधारणतः असत, अनरियल हम उसे कहते हैं, जो नहीं है। लेकिन जो नहीं है, उसे तो असत कहने का भी कोई अर्थ नहीं है। जो नहीं है, उसे तो कुछ भी कहने का कोई अर्थ नहीं है। जो नहीं है, उसे इतना भी कहना कि वह नहीं है, गलत है, क्योंकि हम है शब्द का प्रयोग कर रहे हैं। जब हम कहते हैं नहीं है, तब भी हम है शब्द का प्रयोग कर रहे हैं। जो नहीं है, उसके लिए नहीं है, कहना भी गलत है। जो नहीं है, वह नहीं ही है, उसकी कोई बात ही अर्थहीन है।

इसलिए असत का अर्थ नान-एक्झिस्टेंट नहीं होता है। असत का अर्थ होता है, जो नहीं है, फिर भी है; जो नहीं है, फिर भी होने का भ्रम देता है; जो नहीं है, फिर भी प्रतीत होता है कि है। रात स्वप्न देखा है, यह नहीं कह सकते कि वह नहीं है। नहीं था, तो देखा कैसे? नहीं था, तो स्वप्न भी हो सके, यह संभव नहीं है। देखा है, जीया है, गुजरे हैं, लेकिन सुबह उठकर कहते हैं कि स्वप्न था।

यह सुबह उठकर जिसे स्वप्न कहते हैं, उसे बिल्कुल नहीं, नान-एक्झिस्टेंट नहीं कहा जा सकता। था तो जरूर। देखा है, गुजरे हैं। और ऐसा भी नहीं था कि जिसका परिणाम न हुआ हो। जब रात स्वप्न में भयभीत हुए हैं, तो कंप गए हैं। असली शरीर कंप गया है, प्राण कंप गए हैं, रोएं खड़े हो गए हैं। नींद भी टूट गई है स्वप्न से, तो भी छाती धड़कती रही है। जागकर देख लिया है कि स्वप्न था, लेकिन छाती धड़की जा रही है, हाथ-पैर कंपे जा रहे हैं।

यदि वह स्वप्न बिल्कुल ही नहीं होता, तो उसका कोई भी परिणाम नहीं हो सकता था। था, लेकिन उस अर्थ में नहीं था, जिस अर्थ में जागकर जो दिखाई पड़ता है, वह है। उसे किस कोटि में रखें--न होने की, होने की? उसे किस जगह रखें? था जरूर और फिर भी नहीं है!

असत की जो कोटि है, असत की जो केटेगरी है, अनरियल की जो कोटि है, वह अनस्तित्व की कोटि नहीं है। अनरियल, असत की कोटि अस्तित्व और अनस्तित्व के बीच की कोटि है। ऐसा सत, जो सत मालूम पड़ता है, लेकिन नहीं है।

लेकिन हम यह कैसे जानेंगे? क्योंकि स्वप्न में तो पता नहीं पड़ता कि जो हम देख रहे हैं, वह नहीं है। स्वप्न में तो मालूम होता है, जो देख रहे हैं, वह बिल्कुल है। और ऐसा नहीं है कि पहली दफे स्वप्न देखने में ऐसा मालूम पड़ता हो। जीवनभर स्वप्न देखकर भी और रोज सुबह जागकर भी, जानकर कि नहीं था, आज रात फिर जब स्वप्न आएगा, तब स्वप्न में पूरी तरह लगेगा कि है। लगता है पूरी तरह कि है; भासता है पूरी तरह कि है; फिर भी सुबह जागकर पाते हैं कि नहीं है।

यह जो एपिअरेंस है, भासना है, यह जो दिखाई पड़ना है, यह जो होने जैसा धोखा है, इसका नाम असत है। संसार को जब असत कहा है, तो उसका यह अर्थ नहीं है कि संसार नहीं है। उसका इतना ही अर्थ है कि चेतना की ऐसी अवस्था भी है, जब हम जागने से भी जागते हैं। अभी हम स्वप्न से जागकर देखते हैं, तो पाते हैं, स्वप्न नहीं है। लेकिन जब हम जागने से भी जागकर देखते हैं, तो पाते हैं कि जिसे जागने में जाना था, वह भी नहीं है। जागने से भी जाग जाने का नाम समाधि है। जिसे अभी हम जागना कह रहे हैं, जब इससे भी जागते हैं, तब पता चलता है कि जो देखा था, वह भी नहीं है।

कृष्ण कह रहे हैं, जिसके आगे-पीछे न होना हो और बीच में होना हो, वह असत है। जो एक समय था कि नहीं था और एक समय आता है कि नहीं हो जाता है, उसके बीच की जो घटना है, बीच की जो हैपनिंग है, दो न होने के बीच जो होना है, उसका नाम असत है; उसका नाम अनरियल है।

लेकिन जिसका न होना है ही नहीं, जिसके पीछे भी होना है, बीच में भी होना है, आगे भी होना है, जो तीनों तलों पर है ही; सोएं तो भी है, जागें तो भी है, जागकर भी जागें तो भी है; निद्रा में भी है, जागरण में भी है, समाधि में भी है; जो चेतना की हर स्थिति में ही है, उसका नाम सत है। और ऐसा जो सत है, वह सदा है, सनातन है, अनादि है, अनंत है।

जो ऐसे सत को पहचान लेते हैं, वे बीच में आने वाले असत के भंवर को, असत की लहरों को देखकर न सुखी होते हैं, न दुखी होते हैं। क्योंकि वे जानते हैं, जो क्षणभर पहले नहीं था, वह क्षणभर बाद नहीं हो जाएगा। दोनों ओर न होने की खाई है, बीच में होने का शिखर है। तो स्वप्न है। तो असत है। दोनों ओर होने का ही विस्तार है अंतहीन, तो जो है, वह सत है।

कसौटी, कृष्ण कीमती कसौटी हाथ में देते हैं, उससे सत की परख हो सकती है। सुख अभी है, अभी क्षणभर पहले नहीं था, और अभी क्षणभर बाद फिर नहीं हो जाता है। दुख अभी है, क्षणभर पहले नहीं था, क्षणभर बाद नहीं हो जाता है। जीवन अभी है, कल नहीं था, कल फिर नहीं हो जाता है। जो-जो चीजें बीच में होती हैं और दोनों छोरों पर नहीं होती हैं, वे बीच में केवल होने का धोखा ही दे पाती हैं। क्योंकि जो दोनों ओर नहीं है, वह बीच में भी नहीं हो सकता है। सिर्फ भासता है, दिखाई पड़ता है, एपीअर होता है।

जीवन की प्रत्येक चीज को इस कसौटी पर कसा जा सकता है। अर्जुन से कृष्ण यही कह रहे हैं कि तू कसकर देख। जो अतीत में नहीं था, जो भविष्य में नहीं होगा, उसके अभी होने के व्यामोह में मत पड़। वह अभी भी वस्तुतः नहीं है; वह अभी भी सिर्फ दिखाई पड़ रहा है; वह सिर्फ होने का धोखा दे रहा है। और तू धोखे से जाग भी न पाएगा कि वह नहीं हो जाएगा। तू उस पर ध्यान दे, जो पहले भी था, जो अभी भी है और आगे भी

होगा। हो सकता है, वह तुझे दिखाई भी न पड़ रहा हो, लेकिन वही है। तू उसकी ही तलाश कर, तू उसकी ही खोज कर।

जीवन में सत्य की खोज, असत्य की परख से शुरू होती है। टु नो दि फाल्स एज दि फाल्स, मिथ्या को जानना मिथ्या की भांति, असत को पहचान लेना असत की भांति, सत्य की खोज का आधार है। सत्य को खोजने का और कोई आधार भी नहीं है हमारे पास। हम कैसे खोजें कि सत क्या है? सत्य क्या है? हम ऐसे ही शुरू कर सकते हैं कि असत्य क्या है।

कई बार बड़ी उलझन पैदा होती है। क्योंकि कहा जा सकता है कि जब तक हमें सत्य पता न हो, तब तक हम कैसे जानेंगे कि असत्य क्या है! जब तक हमें सत्य पता न हो, तब तक हम कैसे जानेंगे कि असत्य क्या है? सत्य पता हो, तो ही असत्य को जान सकेंगे। और सत्य हमें पता नहीं है।

लेकिन इससे उलटी बात भी कही जा सकती है। और सोफिस्ट उलटी दलील भी देते रहे हैं। वे कहते हैं कि जब तक हमें यही पता नहीं है कि असत्य क्या है, तो हम कैसे समझ लेंगे कि सत्य क्या है! यह चक्रीय तर्क वैसा ही है, जैसे अंडे और मुर्गी का है। कौन पहले है? अंडा पहले है या मुर्गी पहले है? कहें कि मुर्गी पहले है तो मुश्किल में पड़ जाते हैं, क्योंकि मुर्गी बिना अंडे के नहीं हो सकेगी। कहें कि अंडा पहले है तो उतनी ही कठिनाई खड़ी हो जाती है, क्योंकि अंडा बिना मुर्गी के रखे रखा नहीं जा सकेगा। लेकिन कहीं से प्रारंभ करना पड़ेगा, अन्यथा उस दुष्चक्र में, उस विशियस सर्किल में कहीं कोई प्रारंभ नहीं है।

अगर ठीक से पहचानें, तो मुर्गी और अंडे दो नहीं हैं। इसीलिए दुष्चक्र पैदा होता है। अंडा, हो रही मुर्गी है; मुर्गी, बन रहा अंडा है। वे दो नहीं हैं; वे एक ही प्रोसेस, एक ही हिस्से के, एक ही लहर के दो भाग हैं। और इसीलिए दुष्चक्र पैदा होता है कि कौन पहले! उनमें कोई भी पहले नहीं है। एक ही साथ हैं, साइमलटेनियस हैं, युगपत हैं। अंडा मुर्गी है, मुर्गी अंडा है।

यह सत और असत का भी करीब-करीब सवाल ऐसा है। वह जिसको हम असत कहते हैं, उसका आधार भी सत है। क्योंकि वह असत भी सत होकर ही भासता है; वह भी दिखाई पड़ता है। एक रस्सी पड़ी है और अंधेरे में सांप दिखाई पड़ती है। सांप का दिखाई पड़ना बिल्कुल ही असत है। पास जाते हैं और पाते हैं कि सांप नहीं है, लेकिन पाते हैं कि रस्सी है। वह रस्सी सांप जैसी भास सकी, पर रस्सी थी भीतर। रस्सी का होना सत है। वह सांप एक क्षण को दिखाई पड़ा, फिर नहीं दिखाई पड़ा, वह असत था। पर वह भी, उसके आधार में भी सत था, सब्सटैंस में, कहीं गहरे में सत था। उस सत के ही आभास से, उस सत के ही प्रतिफलन से वह असत भी भास सका है।

लहर के पीछे भी सागर है, मर्त्य के पीछे भी अमृत है, शरीर के पीछे भी आत्मा है, पदार्थ के पीछे भी परमात्मा है। अगर पदार्थ भी भासता है, तो परमात्मा के ही प्रतिफलन से, रिफ्लेक्शन से भासता है, अन्यथा भास नहीं सकता।

आप एक नदी के किनारे खड़े हैं और नीचे आपका प्रतिबिंब बनता है। निश्चित ही वह प्रतिबिंब आप नहीं हैं; लेकिन वह प्रतिबिंब आपके बिना भी नहीं है। निश्चित ही वह प्रतिबिंब सत नहीं है, पानी पर बनी केवल छवि है। लेकिन फिर भी वह प्रतिबिंब जहां से आ रहा है, वहां सत है।

असत, सत की ही झलक है क्षणभर को मिली। क्षणभर को सत ने जो आकृति ली, अगर हमने उस आकृति को जोर से पकड़ लिया, तो हम असत को पकड़ लेते हैं। और अगर हमने उस आकृति में से उसको पहचान लिया जो निराकार, निर्गुण, उस क्षणभर आकृति में झलका था, तो हम सत को पकड़ लेते हैं।

लेकिन जहां हम खड़े हैं, वहां आकृतियों का जगत है। जहां हम खड़े हैं, वहां प्रतिफलन ही दिखाई पड़ते हैं। हमारी आंखें इस तरह झुकी हैं कि नदी के तट पर कौन खड़ा है, वह दिखाई नहीं पड़ता; नदी के जल में जो प्रतिबिंब बन रहा है, वही दिखाई पड़ता है। हमें उससे ही शुरू करना पड़ेगा; हमें असत से ही शुरू करना पड़ेगा। हम स्वप्न में हैं, तो स्वप्न से ही शुरू करना पड़ेगा। अगर हम स्वप्न को ठीक से पहचानते जाएं, तो स्वप्न तिरोहित होता चला जाएगा।

यह बड़े मजे की बात है, कभी प्रयोग करने जैसा अदभुत है। रोज रात को सोते समय स्मरण रखकर सोएं, सोते-सोते एक ही स्मरण रखे रहें कि जब स्वप्न आए तब मुझे होश बना रहे कि यह स्वप्न है। बहुत कठिन पड़ेगा, लेकिन संभव हो जाता है। नींद लगती जाए, लगती जाए, और आप स्मरण करते जाएं, करते जाएं कि जैसे ही स्वप्न आए, मैं जान पाऊं कि यह स्वप्न है। थोड़े ही दिन में यह संभव हो जाता है, नींद में भी यह स्मृति प्रवेश कर जाती है। अचेतन में उतर जाती है। और जैसे ही स्वप्न आता है, वैसे ही पता चलता है, यह स्वप्न है।

लेकिन एक बहुत मजे की घटना है। जैसे ही पता चलता है, यह स्वप्न है, स्वप्न तत्काल टूट जाता है--तत्काल, इधर पता चला कि यह स्वप्न है कि उधर स्वप्न टूटा और बिखरा। स्वप्न को स्वप्न की भांति पहचान लेना, उसकी हत्या कर देनी है। वह तभी तक जी सकता है, जब तक सत्य प्रतीत हो। उसके जीने का आधार उसके सत्य होने की प्रतीति में है।

इस प्रयोग को जरूर करना ही चाहिए।

इस प्रयोग के बाद कृष्ण का यह सूत्र बहुत साफ समझ में आ जाएगा कि वे इतना जोर देकर क्यों कह रहे हैं कि अर्जुन, असत और सत के बीच की भेद-रेखा को जो पहचान लेता है, वह ज्ञान को उपलब्ध हो जाता है। स्वप्न से ही शुरू करें रात के, फिर बाद में दिन के स्वप्न को भी जागकर देखें और वहां भी स्मरण रखें कि जो है--दो नहीं के बीच में--वह स्वप्न है। और तब अचानक आप पाएंगे कि आपके भीतर कोई रूपांतरित होता चला जा रहा है। और जहां कल मन पकड़ लेने का होता था, आज वहां मुट्ठी नहीं बंधती। कल जहां मन रोक लेने का होता था किसी स्थिति को, आज वहां हंसकर गुजर जाने का मन होता है। क्योंकि जो दोनों तरफ नहीं है, उसे पकड़ना, हवा को मुट्ठी में बांधने जैसा है। जितने जोर से पकड़ो, उतने ही बाहर हाथ के हो जाती है। मत पकड़ो तो बनी रहती है; पकड़ो तो खो जाती है।

जैसे ही यह दिखाई पड़ गया कि दो नहीं के बीच में जो है, है मालूम पड़ता है, वह स्वप्न है, वैसे ही आपकी जिंदगी से असत की पकड़ गिरनी शुरू हो जाएगी; स्वप्न बिखरना शुरू हो जाएगा। तब जो शेष रह जाता है, दि रिमेनिंग, वह सत्य है। जिसको आप पूरी तरह जागकर भी नहीं मिटा पाते, जिसको आप पूरी तरह स्मरण करके भी नहीं मिटा पाते, जो आपके बावजूद शेष रह जाता है, वही सत्य है। वह शाश्वत है; उसका कोई आदि नहीं है, कोई अंत नहीं है। कहना चाहिए, वह टाइमलेस है।

यह भी थोड़ा समझ लेने जैसा है।

असत हमेशा टाइम में होगा, समय में होगा। क्योंकि जो कल नहीं था, आज है, और कल नहीं हो जाएगा, उसके समय के तीन विभाजन हुए--अतीत, वर्तमान और भविष्य। लेकिन जो कल भी था, आज भी है, कल भी होगा, उसके तीन विभाजन नहीं हो सकते। उसका कौन-सा अतीत है? उसका कौन-सा वर्तमान है? उसका

कौन-सा भविष्य है? वह सिर्फ है। इसलिए सत्य के साथ टाइम सेंस नहीं है, समय की कोई धारणा नहीं है। सत कालातीत है, समय के बाहर है। असत समय के भीतर है।

जैसे मैंने कहा, आप नदी के तट पर खड़े हैं और आपका प्रतिफलन, रिफ्लेक्शन नदी में बन रहा है। आप नदी के बाहर हो सकते हैं, लेकिन रिफ्लेक्शन सदा नदी के भीतर ही बन सकता है। पानी का माध्यम जरूरी है। कोई भी माध्यम जो दर्पण का काम कर सके, कोई भी माध्यम जो प्रतिफलन कर सके, वह जरूरी है। आपके होने के लिए, कोई प्रतिफलन करने वाले माध्यम की जरूरत नहीं है। लेकिन आपका चित्र बन सके, उसके लिए प्रतिफलन के माध्यम की जरूरत है।

टाइम, समय प्रतिफलन का माध्यम है। किनारे पर सत खड़ा होता है, समय में असत पैदा होता है। समय की धारा में, समय के दर्पण पर, टाइम मिरर पर जो प्रतिफलन बनता है, वह असत है। और समय में कोई भी चीज थिर नहीं हो सकती। जैसे पानी में कोई भी चीज थिर नहीं हो सकती, क्योंकि पानी अथिर है। इसलिए कितना ही थिर प्रतिबिंब हो, फिर भी कंपता रहेगा। पानी कंपन है।

ये जो कंपते हुए प्रतिबिंब हैं समय के दर्पण पर बने हुए, कल थे, अभी हैं, कल नहीं होंगे। कल भी बड़ी बात है; बीते क्षण में थे, नहीं थे, अगले क्षण में नहीं हो जाएंगे। ऐसा जो क्षण-क्षण बदल रहा है, जो क्षणिक है, वह असत है। जो क्षण के पार है, जो सदा है, वही सत है। इसकी भेद-रेखा को जो पहचान लेता, कृष्ण कहते हैं, वह ज्ञान को उपलब्ध हो जाता है।

अविनाशि तु तद्विद्धि येन सर्वमिदं ततम्।

विनाशमव्ययस्यास्य न कश्चित्कर्तुमर्हति।। 17।।

इस न्याय के अनुसार नाशरहित तो उसको जानो कि जिससे यह संपूर्ण जगत व्याप्त है, क्योंकि इस अविनाशी का विनाश करने को कोई भी समर्थ नहीं है।

जिसने इस सारे जगत को व्याप्त किया है, वह सूक्ष्मतम अविनाशी है। लेकिन जिससे यह सारा जगत व्याप्त हुआ है, वह वस्तु स्थूल है और विनाशवान है। इसे ऐसा समझें, एक कमरा है, खाली है, कुछ भी सामान नहीं है। वह जो कमरे का खालीपन है, वह पूरा का पूरा व्याप्त किए है कमरे को। उचित तो यही होगा कि जब कमरा नहीं था, तब भी वह खालीपन था। पीछे हमने दीवारें उठाकर उस खालीपन को चारों तरफ से बंद किया है। कमरा नहीं था, तब भी वह खालीपन था। कमरा नहीं होगा, तब भी वह खालीपन होगा। कमरा है, तब भी वह खालीपन है। कमरा बना है, मिटेगा; कभी नहीं था, कभी नहीं हो जाएगा; पर वह जो खालीपन है, वह जो स्पेस है, वह जो अवकाश है, वह जो आकाश है--वह था, है, रहेगा।

उसके लिए था, है, इस तरह के शब्द उचित नहीं हैं। क्योंकि जो कभी भी नहीं नहीं हुआ, उसके लिए है कहना ठीक नहीं है। है सिर्फ उसी चीज के लिए कहना ठीक है, जो नहीं है भी हो सकती है। वृक्ष है, कहना ठीक है; आदमी है, कहना ठीक है; परमात्मा है, कहना ठीक नहीं है। परमात्मा के साथ यह कहना कि परमात्मा है, पुनरुक्ति है, रिपिटीशन है। परमात्मा का अर्थ ही है कि जो है। उसको दोहराने की कोई जरूरत नहीं है कि परमात्मा है। इसका मतलब यह हुआ कि जो है, वह है। कोई और मतलब नहीं हुआ। जो नहीं नहीं हो सकता, उसके लिए है कहना बिल्कुल बेमानी है।

इसीलिए बुद्ध जैसे परम आस्तिक ने, परमात्मा है, ऐसा शब्द कभी प्रयोग नहीं किया। नासमझ समझे कि नास्तिक है यह आदमी। लेकिन बुद्ध को लगा कि यह तो बड़ी ही भूल भरी बात कहनी है कि परमात्मा है। क्योंकि है सिर्फ उसी के लिए कहना चाहिए, जो नहीं है भी हो जाता है। आदमी है, ठीक है बात। उस पर है हम लगा सकते हैं। है उस पर आई हुई घटना है, कल खो जाएगी। लेकिन परमात्मा है, यह कहना ठीक नहीं है। गॉड इ.ज, कहना ठीक नहीं है। क्योंकि गॉड का तो मतलब ही इ.जनेस है। जो है ही, उसके लिए है कहना, बड़ा कमजोर शब्द उपयोग करना है; गलत शब्द उपयोग करना है; पुनरुक्ति है।

खाली जगह है ही। कमरा नहीं था, तब भी थी। फिर कमरे में हम फर्नीचर ले आए, फिर कमरे में हमने तस्वीरें लगा दीं, फिर कमरे में हम आकर बैठ गए। कमरा पूरा सज गया, भर गया। अब इस कमरे में दो चीजें हैं। एक तो वह खालीपन, जो सदा से था; और एक यह भरापन, जो सदा से नहीं था। लेकिन बड़े मजे की बात है कि कमरे का खालीपन हमें कभी दिखाई नहीं पड़ता; कमरे का भरापन दिखाई पड़ता है। कमरे में वही दिखाई पड़ता है, जो भरा हुआ है। वह नहीं दिखाई पड़ता, जो खाली है। किसी भी कमरे में आप प्रवेश करेंगे, तो वही दिखाई पड़ता है, जो वहां है। वह नहीं दिखाई पड़ता, जो वहां सदा था। वह नहीं दिखाई पड़ता। वह अदृश्य भी है। अगर खालीपन का भी पता चलता है, तो कहना चाहिए कि भरेपन के रिफरेंस में पता चलता है।

यह कुर्सी रखी है, तो इसके आस-पास खाली जगह मालूम पड़ती है। इस कुर्सी के आस-पास खाली जगह मालूम पड़ती है। खाली जगह के बीच में यह कुर्सी मालूम नहीं पड़ती। असलियत यही है कि खालीपन के बीच में यह कुर्सी रखी है। कुर्सी हटाई जा सकती है, खालीपन हटाया नहीं जा सकता; भरा जा सकता है, हटाया नहीं जा सकता।

आप एक कमरे से कुर्सी बाहर निकाल ले सकते हैं, क्योंकि कुर्सी कमरे के अस्तित्व का हिस्सा नहीं है। लेकिन कमरे से खालीपन नहीं निकाल सकते। ज्यादा से ज्यादा कमरे में सामान भरकर खालीपन को दबा सकते हैं। अगर कमरे में से सब चीजें निकाल ली जाएं, तो आप कहेंगे, यहां तो कुछ भी नहीं है। और अगर कमरे से सब चीजें निकाल ली गई हों, तो आपको सिर्फ कमरे की दीवारें दिखाई पड़ेंगी। अगर दीवारें भी निकाल ली जाएं, तो आप कहेंगे, यहां कमरा ही नहीं है।

लेकिन दीवारें कमरा नहीं हैं। दीवारों के बीच में जो खाली जगह है, वही कमरा है। अंग्रेजी का शब्द रूम बहुत अच्छा है। रूम का मतलब होता है, खाली जगह। रूम का मतलब ही होता है, खाली जगह। पर वह खाली जगह दिखाई भी नहीं पड़ती, ख्याल में भी नहीं आती, क्योंकि खाली जगह का हमें स्मरण ही नहीं है। असल में खाली जगह इतनी सदा से है कि उसे हमें देखने की जरूरत ही नहीं पड़ी है।

ठीक ऐसे ही, यह जो विराट आकाश है, यह जो स्पेस है अनंत, यह जो खाली जगह है, यह जो एंपटीनेस है फैली हुई अनंत तक, जिसका कोई ओर-छोर नहीं है, जो कहीं शुरू नहीं होती और कहीं समाप्त नहीं होती।

आप ध्यान रखें, खाली चीज कभी भी शुरू और समाप्त नहीं हो सकती, सिर्फ भरी चीज शुरू और समाप्त हो सकती है। खालीपन की कोई बिगनिंग और कोई एंड नहीं हो सकता। कमरे के खालीपन की कौन-सी शुरुआत है और कौन-सा अंत है? हां, दीवार का होता है, सामान का होता है, कमरे का नहीं होता। स्पेस की कोई सीमाएं नहीं हैं, आकाश का अर्थ ही है कि जिसकी कोई सीमा नहीं है। यह जो असीम फैला हुआ है, यह सत है। और इस असीम के बीच में बहुत कुछ उठता है, बनता है, निर्मित होता है, बिखरता है, वह असत है।

वृक्ष बने, खालीपन थोड़ी देर के लिए हरा हुआ। फूल खिले, खालीपन थोड़ी देर के लिए सुगंध से भरा। फिर फूल गिर गए, फिर वृक्ष गिर गया; खालीपन फिर अपनी जगह है। और जब वृक्ष उठा था और फूल खिले थे, तब भी खालीपन में कोई अंतर नहीं पड़ा था; वह वैसा ही था।

चीजें बनती हैं और मिटती हैं। जो बनता है और मिटता है, वह स्थूल है, वह दिखाई पड़ता है। जो नहीं बनता, नहीं मिटता, वह सूक्ष्म है, वह अदृश्य है। सूक्ष्म कहना भी ठीक नहीं है। लेकिन मजबूरी में कृष्ण ने सूक्ष्म का प्रयोग किया है। उचित नहीं है, लेकिन मजबूरी है। कोई और उपाय नहीं है। असल में जब हम कहते हैं सूक्ष्म, तो हमारा मतलब यह होता है, स्थूल का ही कोई हिस्सा। जब हम कहते हैं छोटा, तो मतलब होता है कि बड़े का ही कोई हिस्सा। जब हम कहते हैं बहुत सूक्ष्म, तो हमारा मतलब होता है कि बहुत कम स्थूल। बाकी मनुष्य की भाषा में सूक्ष्म भी स्थूल से ही जुड़ा है। हम कितना ही कहें सूक्ष्मातिसूक्ष्म, तो भी स्थूल से ही जुड़ा है। आदमी की भाषा द्वंद्व से बनी है। उसमें पेयर्स हैं, उसमें दो-दो चीजों के जोड़े हैं।

लेकिन कृष्ण जिसे सूक्ष्म कह रहे हैं, वह स्थूल का कोई हिस्सा नहीं है। कृष्ण सूक्ष्म कह रहे हैं उसे, जो स्थूल नहीं है। मजबूरी है। लेकिन उसके लिए हमारे पास कोई शब्द नहीं है। इसलिए निकटतम गलत शब्द जो हो सकता है, वह सूक्ष्म है। यानी कम से कम गलत शब्द जो हो सकता है, वह सूक्ष्म है। उसके लिए कोई शब्द नहीं है। कुछ भी हम कहें।

हमने जितने शब्द बनाए हैं, वे बड़े मजेदार हैं। हम उलटे से उलटा शब्द भी प्रयोग करें, तो भी कोई अंतर नहीं पड़ता। वह उलटे से उलटा भी हमारे पुराने शब्द से ही जुड़ा होता है। अगर हम कहें कि वह असीम है, तो भी हमें सीमा से ही वह शब्द बनाना पड़ता है।

अब यह बड़े मजे की बात है कि सीमा में असीम का कोई भाव नहीं होता। लेकिन असीम में सीमा का भाव होता है। हम कितनी ही कल्पना करें असीम की, हम ज्यादा से ज्यादा बहुत बड़ी सीमा की कल्पना करते हैं। हम कितना ही सोचें, तो हमारा मतलब यही होता है कि सीमा और आगे हटा दो, और आगे हटा दो, और आगे हटा दो। लेकिन सीमा होगी ही नहीं, यह हमारा विचार नहीं सोच पाता। वह इनकंसिवेबल है। उसकी कोई चिंतना नहीं हो सकती असीम की।

जब हम कहते हैं, कमरे में खालीपन है, तो उसका मतलब हमारे मन में यह होता है कि कमरे में खालीपन भरा है। तो हम एंपटीनेस को भी वस्तु की तरह उपयोग करते हैं, खालीपन भरा है। जैसे खालीपन कोई चीज है। जब कि खालीपन का मतलब न भरा होना है, जहां कुछ भी नहीं है। लेकिन अगर हम कुछ भी नहीं का भी प्रयोग करें, तो हम कुछ भी नहीं का भी वस्तु की तरह प्रयोग करते हैं। अंग्रेजी में शब्द है नथिंग, वह बना है नो-थिंग से। नथिंग भी कहना हो--नहीं कुछ--तो भी थिंग, वस्तु उसमें लानी पड़ती है। बिना वस्तु के हम सोच ही नहीं सकते; बिना स्थूल के हम सोच ही नहीं सकते।

इसलिए कृष्ण के इस सूक्ष्म शब्द को आदमी की मजबूरी समझें। इसका मतलब स्थूल का कोई अंश नहीं है, कोई बहुत सूक्ष्म स्थूल नहीं है। सूक्ष्म का अर्थ है, जो स्थूल नहीं ही है। और स्थूल क्या है? जो दिखाई पड़ता है, वह स्थूल है। जो स्पर्श में आता है, वह स्थूल है। जो सुनाई पड़ता है, वह स्थूल है। असल में जो इंद्रियों की पकड़ में आता है, वह स्थूल है।

ऐसा भी नहीं है कि आप कल बड़ी दूरबीन बना लें, खुर्दबीन बना लें और उसकी पकड़ में आ जाए तो वह सूक्ष्म हो जाएगा। नहीं, जो भी पकड़ में आ जाए, वह स्थूल है। क्योंकि दूरबीन कुछ नहीं करती, सिर्फ आपकी आंख की इंद्रिय की शक्ति को बड़ा करती है। आपकी आंख ही जैसे और बड़ी आंख हो जाती है। बड़े से बड़े यंत्र

भी हम विकसित कर लें, तब भी जो पकड़ में आएगा, वह स्थूल ही होगा। क्योंकि सब यंत्र हमारी इंद्रियों के एक्सटेंशन हैं; वे हमारी इंद्रियों के लिए और जोड़े गए हिस्से हैं।

एक आदमी आंख से चश्मा लगाकर देख रहा है। तो जो उसे आंख से नहीं दिखाई पड़ता था, वह अब दिखाई पड़ रहा है। लेकिन वह कोई सूक्ष्म चीज नहीं देख रहा है। वैज्ञानिक बड़ी दूर की चीजें देख रहे हैं; बड़े दूर का, लेकिन वह भी स्थूल है। जो भी दिखाई पड़ेगा, जो भी सुनाई पड़ेगा, जो भी स्पर्श में आ जाएगा, इंद्रियों की सीमा के भीतर जो भी आ जाएगा, वह स्थूल है। सूक्ष्म का मतलब है, जो मनुष्य की इंद्रियों की सीमा में नहीं आता है, नहीं आ सकता है, नहीं लाया जा सकता है। असल में विचार भी जिसे नहीं पकड़ सकता, वही सूक्ष्म है।

अब वैज्ञानिक कहते हैं... कल तक वह परमाणु सूक्ष्मतम था। अब परमाणु भी टूट गया, अब इलेक्ट्रान है, न्यूट्रान है, प्रोटान है। अब वैज्ञानिक कहते हैं कि वे सर्वाधिक सूक्ष्म हैं। क्योंकि अब वे दिखाई पड़ने के बाहर ही हो गए। अब अनुमान का ही मामला है। लेकिन जो अनुमान में भी आता है, वह भी सूक्ष्म नहीं है। क्योंकि अनुमान भी मनुष्य के विचार का हिस्सा है।

इसलिए वैज्ञानिक जिसे इलेक्ट्रान कह रहे हैं, वह भी कृष्ण का सूक्ष्म नहीं है। इलेक्ट्रान के भी पार, ठीक होगा कहना, आलवेज दि बियांड, जहां तक आप पहुंच जाएंगे, उसके जो पार। वहां भी पहुंच जाएंगे, तो उसके जो पार, दि ट्रांसेंडेंटल; वह जो सदा अतिक्रमण कर जाता है, वही सूक्ष्म है। पार होना ही जिसका गुण है। आप जहां तक पकड़ पाते हैं, जो उसके पार सदा शेष रह जाता है; सदा ही शेष रह जाता है और रह जाएगा।

ठीक से समझ लेना उचित होगा। हमारे पास दो शब्द हैं-- अज्ञात, अननोन; अज्ञेय, अननोएबल। साधारणतः जब हम सूक्ष्म को समझने जाते हैं, तो ऐसा लगता है, जो अज्ञात है, अननोन है। नहीं, कृष्ण उसे सूक्ष्म नहीं कह रहे हैं। क्योंकि जो अननोन है, वह नोन बन सकता है; जो अज्ञात है, वह कल ज्ञात हो जाएगा। वह सूक्ष्म नहीं है। जिसके ज्ञात होने की अनंत में भी कभी संभावना है, वह सूक्ष्म नहीं है।

स्थूल ही ज्ञात हो सकता है। आज न हो, कल हो जाए। कल न हो, कभी हो जाए। लेकिन जो भी ज्ञात हो सकता है, वह स्थूल है। जो ज्ञात हो ही नहीं सकता, जो सदा ही ज्ञान के बाहर छूट जाता है, जो सदा ही जानने की पकड़ के बाहर रह जाता है, अननोएबल, अज्ञेय है। नहीं, जाना ही नहीं जा सकता जो, वही सूक्ष्म है। इसलिए सूक्ष्म का मतलब ऐसा नहीं है कि हमारे पास अच्छे उपकरण होंगे तो हम उसे जान लेंगे।

लोग पूछते हैं कि क्या विज्ञान कभी परमात्मा को जान पाएगा? जिसे भी विज्ञान जान लेगा, वह परमात्मा नहीं होगा। क्योंकि परमात्मा से अर्थ ही है कि जो जानने की पकड़ में नहीं आता। किसी दिन विज्ञान की प्रयोगशाला अगर परमात्मा को पकड़ लेगी, तो वह पदार्थ हो जाएगा। असल में जहां तक परमात्मा पकड़ में आता है, उसी का नाम पदार्थ है। और जहां परमात्मा पकड़ में नहीं आता, वहीं परमात्मा है।

सूक्ष्म का कृष्ण का अर्थ ठीक से ख्याल में ले लेना जरूरी है। क्योंकि जो सूक्ष्म है, वही सत है। जो पकड़ में आता है, वह असत होगा। वह आज होगा, कल नहीं होगा। जो पकड़ में नहीं आता, वही सत है।

एक कमरे में हम जाएं, वहां फूल रखा है। फूल सुबह ठीक है, सांझ मुरझा जाएगा। उसी फूल के नीचे शंकर जी की पिंडी रखी है, पत्थर रखा है। वह सुबह भी था, सांझ भी होगा। लेकिन सौ वर्ष, दो सौ वर्ष, तीन सौ वर्ष, हजार वर्ष--बिखर जाएगा। फूल एक दिन में बिखर गया। पत्थर था, हजारों वर्ष में बिखरा। इससे अंतर नहीं पड़ता। कमरे में सिर्फ एक चीज है जो नहीं बिखरेगी, वह कमरे का कमरापन है, रूमीनेस है। वह जो

खालीपन है, वह भर नहीं बिखरेगा। वही सूक्ष्म है, वही सत है। बाकी कमरे में जो भी है, वह सब बिखर जाएगा।

मैंने एक ताओइस्ट चित्रकार की कहानी पढ़ी है। मैंने पढ़ा है कि एक ताओ गुरु ने अपने शिष्यों को कहा कि तुम एक चित्र बना लाओ। उन्होंने पूछा कि कोई थीम, कोई विषय दे दें। तो उसने कहा, तुम एक चित्र बना लाओ कि गाय घास चर रही है। वे चित्र बनाकर ले आए। सभी अच्छे-अच्छे चित्र बनाकर ले आए थे। लेकिन एक साधु जो चित्र बनाकर लाया था, उसमें जरा चौंकने वाली बात थी। क्योंकि वह कोरा कागज ही ले आया था।

गुरु ने पूछा कि क्या बना नहीं पाए? उसने कहा कि नहीं, चित्र बना है, देखें। फिर गुरु ने उसके कागज की तरफ देखा, और शिष्यों ने भी कागज की तरफ देखा; फिर सबने उसकी तरफ देखा और पूछा कि गाय कहां है! तो उसने कहा, गाय घास चरकर जा चुकी है। उन्होंने पूछा कि घास कहां है? तो उसने कहा कि घास गाय चर गई। तो उन्होंने पूछा, इसमें फिर क्या बचा? तो उसने कहा, जो गाय के पहले भी था और घास के पहले भी था, और गाय के बाद भी बचता है और घास के बाद भी बचता है, वही मैं बना लाया हूं। लेकिन वे सब कहने लगे, यह कोरा कागज है! पर उसने कहा कि यही बचता है--यह कोरापन।

कृष्ण इस कोरेपन को सूक्ष्म कह रहे हैं। जो सब लहरों के उठ जाने, गिर जाने पर बच जाता है। और जो सदा बच जाता है, वही सत है।

प्रश्नः ओशो, नथिंगनेस वर्सेस एवरीथिंगनेस में आप कभी आपके प्रवचन में भागना और जागना जो प्रयोग करते हैं, तो मैं उससे भागूं या जागूं, इससे उसको क्या मतलब है? इसमें क्या एफर्ट का तत्व नहीं आता? और टोटल एक्सेप्टिबिलिटी में ईविल का क्या स्थान होता है?

शून्य, नथिंगनेस और सब कुछ, एवरीथिंगनेस, एक ही चीज को कहने के दो ढंग हैं दो ओर से--नकार से या विधेय से, निगेटिव से या पाजिटिव से। जब हम कहते हैं शून्य, तो यह हमारा चुनाव है नकार का। जब हम कहते हैं पूर्ण, तो यह हमारा चुनाव है विधेय का। लेकिन मजे की बात है कि सिर्फ शून्य ही पूर्ण होता है और पूर्ण ही शून्य होता है। सिर्फ शून्य ही पूर्ण होता है, क्योंकि शून्य के अपूर्ण होने का कोई उपाय नहीं है। आप अधूरा शून्य नहीं खींच सकते। आप शून्य के दो हिस्से नहीं कर सकते। आप शून्य में से कितना ही निकाल लें, तो भी शून्य में कुछ कम नहीं होता। आप शून्य में कितना ही जोड़ दें, तो शून्य में कुछ बढ़ता नहीं।

शून्य का मतलब ही यह है कि उससे बाहर-भीतर कुछ नहीं निकाला जा सकता। पूर्ण का भी मतलब यही है। पूर्ण का मतलब ही यह है कि जिसमें जोड़ने को कुछ नहीं बचा। क्योंकि पूर्ण के बाहर कुछ नहीं बच सकता। दि टोटल, अब उसके बाहर कुछ बचा नहीं, जिसको जोड़ें। जिसमें से कुछ निकालें तो कोई जगह नहीं बची, क्योंकि टोटल के बाहर कोई जगह नहीं बच जाएगी, जिसमें निकाल लें। शून्य से कुछ निकालें, तो पीछे शून्य ही बचता है। शून्य में कुछ जोड़ें, तो उतना ही शून्य रहता है। पूर्ण से कुछ निकालने का उपाय नहीं, पूर्ण में कुछ जोड़ने का उपाय नहीं। क्योंकि पूर्ण में अगर कुछ जोड़ा जा सके, तो इसका मतलब है कि वह अपूर्ण था पहले, अब उसमें कुछ जोड़ा जा सकता है।

शून्य और पूर्ण एक ही सत्य के दो नाम हैं। हमारे पास दो रास्ते हैं, जहां से हम नाम दे सकते हैं। या तो हम नकार का उपयोग करें, या विधेय का उपयोग करें। सब कुछ और कुछ भी नहीं, एक ही बात को कहने के दो

ढंग हैं। यह हमारा चुनाव है कि हम कैसे इसे कहें। अगर यह ख्याल में आ जाए, तो इस जगत में उठे बहुत बड़े विवाद की बुनियादी आधारशिला गिर जाती है।

बुद्ध और शंकर के बीच कोई विवाद नहीं है। सिर्फ नकार और विधेय के शब्दों के प्रयोग का फासला और भिन्नता है। बुद्ध नकारात्मक शब्दों का प्रयोग करते हैं। वे कहते हैं, नहीं है, शून्य है, निर्वाण है। निर्वाण का मतलब, दीए का बुझ जाना। जैसे दीया बुझ जाता है; बस, ऐसे ही सब कुछ नहीं हो जाता है।

शंकर कहते हैं, सब है, ब्रह्म है, मोक्ष है, ज्ञान है। सब विधेय शब्दों का प्रयोग करते हैं। और बड़े मजे की बात यह है कि ये दोनों इशारे बिल्कुल एक चीज की तरफ हैं। शंकर और बुद्ध से करीब दूसरे आदमी खोजना मुश्किल है। लेकिन शंकर और बुद्ध के करीब ही इस मुल्क का सबसे बड़ा विवाद खड़ा हुआ। हां और न के बीच कितना फासला मालूम पड़ता है! इससे ज्यादा उलटे शब्द नहीं हो सकते। लेकिन पूर्ण हां और पूर्ण न के बीच कोई फासला नहीं है। लेकिन वह हमें अनुभव हो जाए दो में से किसी एक का भी, तो ही दिखाई पड़ सकता है।

पूछा है कि मैं कहता हूं, भागें मत, जागें--समग्र के प्रति जागें। क्योंकि भागने का मतलब ही यह है कि हमने समग्र में कुछ चुनाव कर लिया कि इसे छोड़ेंगे, उसे पकड़ेंगे, तभी भागा जा सकता है। भागने का मतलब है कि कुछ हम छोड़ेंगे और कुछ हम पकड़ेंगे। अगर पूरे को छोड़ें, तो भागकर कहां जाएंगे? अगर पूरे को स्वीकार करें, तो भागकर कहां जाएंगे? अगर त्याग पूर्ण हो, तो भागना नहीं हो सकता। भागेंगे कहां? जहां भाग रहे हैं, पूर्ण में वह भी त्यागा जा चुका है। मक्का भागेंगे? मदीना भागेंगे? काशी भागेंगे? हरिद्वार भागेंगे? अगर त्याग पूर्ण है, तो भागना असंभव है। अगर भोग भी पूर्ण है, तो भागना असंभव है। भागने की कोई जरूरत नहीं है।

सब अधूरे का खेल है, सब आधे का खेल है। तो जो हाफ-हार्टेड, जो आधे हृदय से भोग रहे हैं, उनको पकड़ने का उपाय है। जो आधे हृदय से त्याग रहे हैं, उनको छोड़ने का उपाय है। लेकिन जो पूरे हृदय से जी रहे हैं, उनको न भागने को कुछ है, न त्यागने को कुछ है। उनको तो सिर्फ जानने को ही कुछ है--जागने को ही।

प्रश्न भागने का नहीं है, प्रश्न जागने का है। प्रश्न देखने का है, दर्शन का है। प्रश्न गहरे में झांकने का है। प्रश्न यह नहीं है कि पदार्थ से भाग जाओ, क्योंकि कहीं भी भागोगे तो पदार्थ है। प्रश्न यह है कि पदार्थ में गहरे झांको, ताकि परमात्मा दिखाई पड़े; तब भागने की कोई जरूरत न रह जाएगी।

आकृतियों से जो भागेगा, वह जाएगा कहां? दूसरी आकृतियों के पास पहुंच जाएगा। स्थानों से भागेगा, दूसरे स्थानों में पहुंच जाएगा। मकानों से भागेगा, दूसरे मकानों में पहुंच जाएगा। लोगों से भागेगा, दूसरे लोगों में पहुंच जाएगा। भागकर जाएंगे कहां? जहां भी भागेंगे वहां संसार है। संसार से नहीं भागा जा सकता। हर जगह पहुंचकर पता चलेगा, संसार है। फिर वहां से भी भागो, फिर वहां से भी भागो--भागते रहो।

अगर हम चांद-तारों की रोशनी की गति भी पा जाएं, तो भी संसार के बाहर न भाग सकेंगे। अभी तक कोई चांद-तारा नहीं भाग सका, अभी तक कोई रोशनी की किरण नहीं भाग सकी संसार के बाहर। अनंत-अनंत यात्रा है रोशनी की किरणों की। लेकिन होगी संसार के भीतर ही, भाग नहीं सकतीं। असल में जहां तक भाग सकते हैं, वहां तक तो संसार होगा ही। नहीं तो भागेंगे कैसे? रास्ता कहां पाएंगे?

जाग सकते हैं। ज्ञानी जागता है, अज्ञानी भागता है। हां, अज्ञानी के भागने के दो ढंग हैं। कभी वह स्त्री की तरफ भागता है, कभी स्त्री की तरफ से भागता है। कभी धन की तरफ भागता है, कभी धन छोड़ने के लिए भागता है। कभी मुंह करके भागता है संसार की तरफ, कभी पीठ करके भागता है। न मुंह करके कभी संसार को उपलब्ध कर पाता है, न पीठ करके कभी संसार को छोड़ पाता है।

जो न पाया जा सकता है और न छोड़ा जा सकता है, उसका नाम संसार है। सपने न पाए जा सकते हैं, न छोड़े जा सकते हैं। असत न पाया जा सकता है, न छोड़ा जा सकता है। असत के प्रति केवल जागा जा सकता है, वन कैन बी ओनली अवेयर। सपने के प्रति सिर्फ जागा जा सकता है। जो आदमी सपना छोड़कर भाग रहा है, वह काफी गहरे सपने में अभी है। क्योंकि जिसको सपना छोड़कर भागना पड़ रहा है, उसे इतना तो पक्का है कि सपना सपना नहीं है। भागने योग्य तो मालूम ही हो रहा है। इतना सच तो दिखाई पड़ता ही है।

कृष्ण को समझेंगे तो दिखाई पड़ेगा। कृष्ण अर्जुन को भागने से ही बचाने की चेष्टा में संलग्न हैं। यह पूरी गीता भागने वालों के खिलाफ है। यह पूरी गीता इस बात के खिलाफ है कि जो भागने वाले हैं, वे वही पागलपन को उलटी दिशा में कर रहे हैं, जो पकड़ने वाले करते हैं। लेकिन सिर्फ पागलपन उलटा हो जाए, शीर्षासन करने लगे, तो इससे पागलपन नहीं रह जाता, ऐसा नहीं है। कोई पागल शीर्षासन करके खड़ा हो जाए, तो पागलपन मिट जाता है, ऐसा नहीं है।

भोगी त्यागी हो जाते हैं, संसारी संन्यासी हो जाते हैं, उलटे हो जाते हैं, तो कोई अंतर नहीं पड़ता। हां, दिशा उलटी दिखाई पड़ने लगती है, आदमी वही होता है। ढंग उलटे हो जाते हैं, आदमी वही होता है।

कृष्ण गीता में एक बहुत ही अनूठी बात कह रहे हैं। और वे यह कह रहे हैं कि संसारी और संन्यासी विपरीत नहीं हैं। एक-दूसरे से उलटे नहीं हैं। संसार से भागकर कोई संन्यासी नहीं होता, संसार में जागकर कोई संन्यासी होता है। और जागना हो, तो यहीं जाग जाओ। कहीं भी भागो, इससे कोई अंतर नहीं पड़ता। जागने के लिए कोई खास जगह नहीं है, कहीं भी जागा जा सकता है। सपने मिटाने के लिए खास सपने देखने की जरूरत नहीं है, किसी भी सपने में जागा जा सकता है।

एक आदमी सपना देख रहा है चोर का, एक आदमी सपना देख रहा है साधु का। क्या साधु वाले सपने से जागना आसान है, बजाय चोर वाले सपने के? दोनों सपने हैं। जागना एक-सा ही है। कोई अंतर नहीं पड़ता। साधु होने के सपने से जागने में भी यही करना पड़ेगा कि जानना पड़ेगा, यह सपना है। और चोर के सपने से भी जागने के लिए यही करना पड़ेगा कि जानना पड़ेगा कि यह सपना है। सपने को सपने की भांति जानना ही जागना है। और सपने को सत्य की तरह जो मान लेता है, उसके समाने दो विकल्प हैं। या तो सपने में डूबे, भोगे; या सपने से भागे और त्यागे।

गीता, भोग और त्याग दोनों की अतियों को सपने के बीच मानेगी। जागना! और जागने के लिए ही वे कह रहे हैं कि तू पहचान अर्जुन, क्या सत है, क्या असत है! यह तू पहचान, तो यह पहचान, यह रिकग्नीशन ही तेरा जागरण बन जाने वाला है।

प्रश्नः ओशो, आप यह तो कहेंगे न कि जागना भी भागने का शीर्षासन है? इतना तो एफर्ट करना पड़ेगा!

नहीं, जागना भागने से जरा भी संबंधित नहीं है। जागना भागने से संबंधित ही नहीं है। क्योंकि जागने में भागने का कोई भी तत्व नहीं है, विपरीत तत्व भी नहीं है; दूसरी तरफ भागना भी नहीं है। जागने का मतलब ही है कि जो है, उसे हम देखने को तत्पर होते हैं।

धन है, इसके साथ भागने के दो काम हो सकते हैं। एक काम हो सकता है कि इसे छाती से लगाकर पकड़कर बैठ जाएं; इसमें से एक पैसा न भाग जाए, इसका ध्यान रखें। दूसरा हो सकता है कि इससे ऐसे भागें कि लौटकर न देखें।

मुझे कोई कह रहा था कि विनोबा के सामने पैसा करो, तो दूसरी तरफ मुंह कर लेते हैं। पैसे से इतना डर! तो पैसे में काफी ताकत मालूम पड़ती है। रामकृष्ण के पास अगर कोई पैसा रख दे, तो ऐसी छलांग लगाकर उचकते हैं कि सांप-बिच्छू आ गया। पैसे में सांप-बिच्छू? तो सपना टूटा नहीं। सपने ने दूसरी शकल ली। पहले पैसा स्वर्ग मालूम पड़ता था, अब नर्क मालूम पड़ने लगा। लेकिन पैसा कुछ है--यह जारी है।

पैसा कुछ भी नहीं है। है तो लहर है--न भागने योग्य, न पकड़ने योग्य। जागना बहुत और बात है। उसमें पैसे से आंख बंद करने की जरूरत नहीं है, पैसे को छाती से पकड़ लेने की जरूरत नहीं है। पैसा वहां है, आप यहां हैं। पैसे ने कभी आपको नहीं पकड़ा, न पैसा कभी आपसे भागा। आपकी पैसे ने इतनी फिक्र नहीं की, जितनी फिक्र आप पैसे की कर रहे हैं। पैसा कहीं ज्यादा ज्ञानी मालूम पड़ता है। आप चले जाओ तो रोता नहीं है, आप आ जाओ तो प्रसन्न नहीं होता। कहता नहीं, कि आइए, स्वागत है, बड़ा अच्छा हुआ।

जागने का अर्थ यह है, जहां हैं--कहीं न कहीं हैं, किसी न किसी सपने में हैं; कोई आश्रम के सपने में होगा, कोई दूकान के सपने में होगा--जहां हैं, किसी न किसी सपने में हैं, वहां जागें। इस सपने को पहचानें कि यह सत्य है? इस बात की जिज्ञासा, इस बात की खोज कि जो मैं देख रहा हूं, वह क्या है?

नहीं, मैं यह नहीं कह रहा हूं कि आप कहने लगें, यह सपना है। अगर आपको कहना पड़े कि यह सपना है, तो जागना नहीं होगा, तब एफर्ट होगा। अगर आपको कोशिश करनी पड़े कि यह सब सपना है, आपको अगर कोशिश करके अपने को समझाना पड़े कि यह सब सपना है, तब तो समझ लेना कि अभी आपको सपने का पता नहीं चला। सपने का पता अगर चल जाए, तो यह कहने की कोई जरूरत नहीं रह जाती कि सब सपना है। सब सपना है, यह तो वही आदमी दोहराता है अपने मन में, जिसे अभी सपने का कोई भी पता नहीं है।

एक सूफी फकीर को मेरे पास लाए थे। वह मित्र जो लाए थे, कहने लगे कि उन फकीर को सब जगह परमात्मा ही परमात्मा दिखाई पड़ता है। मैंने उनसे पूछा कि जगह भी दिखाई पड़ती है? परमात्मा भी दिखाई पड़ता है? दोनों दिखाई पड़ते हैं? उन्होंने कहा, हां, उन्हें कण-कण में परमात्मा दिखाई पड़ता है। तो मैंने कहा, कण भी दिखाई पड़ता है, कण में परमात्मा भी दिखाई पड़ता है? ऐसा? उन्होंने कहा, आप कैसी बातें पूछते हैं? मैंने कहा, अगर परमात्मा ही दिखाई पड़ता है, तो अब कण दिखाई नहीं पड़ना चाहिए। और कण दिखाई पड़ता है, तो परमात्मा आरोपित होगा, इंपोज्ड होगा। कोशिश की गई होगी।

इसलिए जो आदमी कहता है कि कण-कण में परमात्मा दिखाई पड़ता है, उसे दो चीजें दिखाई पड़ रही हैं, कण भी दिखाई पड़ रहा है, परमात्मा भी दिखाई पड़ रहा है। ये दोनों चीजें एक साथ दिखाई नहीं पड़ सकतीं। इनमें से एक ही चीज एक बार दिखाई पड़ सकती है। अगर परमात्मा दिखाई पड़ता है, तो कण दिखाई नहीं पड़ता। क्योंकि परमात्मा के अतिरिक्त कण की कोई जगह नहीं रह जाती, जहां उसे देखें। और अगर कण दिखाई पड़ता है, तो परमात्मा दिखाई नहीं पड़ता। क्योंकि जब तक कण दिखाई पड़ रहा है, तब तक परमात्मा दिखाई पड़ना मुश्किल है।

तो मैंने उनसे कहा, कोशिश की होगी, समझाया होगा अपने को, लिखा है किताबों में कि कण-कण में परमात्मा है। नहीं, उन्होंने कहा कि मुझे वर्षों से दिखाई पड़ता है। तो मैंने कहा, और वर्षों के पहले कोशिश की होगी। मैंने कहा, आप रुकें। मेरे पास रुक जाएं और दो-चार दिन अब देखने की कोशिश न करें।

दूसरे दिन सुबह उन्होंने मुझसे कहा कि आपने मुझे भारी नुकसान पहुंचाया। मेरी तीस साल की साधना खराब कर दी। क्योंकि मैंने रात से कोशिश नहीं की, तो मुझे वृक्ष फिर वृक्ष दिखाई पड़ने लगे। अब मुझे परमात्मा दिखाई नहीं पड़ता!

तो मैंने कहा, जिसको तीस साल देखकर भी, दो-चार घंटे देखने की कोशिश न की जाए और खो जाता हो, तो आप वृक्षों के ऊपर अपना एक सपना आरोपित कर रहे हैं। उसका परमात्मा से कोई लेना-देना नहीं है। कह रहे हैं कि वृक्ष में परमात्मा है। समझाए जाएं, तो दिखाई पड़ने लगेगा।

लेकिन यह वह परमात्मा नहीं है, जिसकी कृष्ण बात कर रहे हैं। आपको परमात्मा थोपना नहीं है जगत पर, आपको तो जगत के प्रति ही जाग जाना है। जागते से जगत खो जाता है और परमात्मा शेष रह जाता है।

आपको सपने को समझाना नहीं है अपने को कि यह झूठ है, यह झूठ है। नहीं, सपने को देख लेना है ठीक से, क्या है? और जैसे ही सपने को देख लिया जाता है कि क्या है, तो आप अचानक पाते हैं कि सपना टूट गया और नहीं है। फिर जो शेष रह जाता है, वही सत्य है।

प्रयास तो हमें असत्य के लिए करने पड़ते हैं, सत्य के लिए नहीं करने पड़ते हैं। एफर्ट तो असत्य के लिए करना पड़ता है, सत्य के लिए नहीं करना पड़ता। क्योंकि जो सत्य मनुष्य के प्रयास से मिलता होगा, वह सत्य नहीं हो सकता। जो सत्य मनुष्य के प्रयास के बिना ही मौजूद है, वही सत्य है।

सत्य आपको निर्मित नहीं करना है, वह आपका कंस्ट्रक्शन नहीं है कि आप उसका निर्माण करेंगे। सत्य तो है ही। कृपा करके असत्य भर निर्माण न करें; जो है, वह दिखाई पड़ जाएगा।

मैं एक वृक्ष की शाखा को अपने हाथ से खींच लेता हूं। फिर मैं राह चलते आपसे पूछता हूं कि इस वृक्ष की शाखा को मैंने इसकी जगह से नीचे खींच लिया है, अब मैं इसे इसकी जगह वापस पहुंचाना चाहता हूं, तो क्या करूं? तो आप क्या कहेंगे मुझसे कि कुछ करिए! आप कहेंगे, कृपा करके खींचिए भर मत; छोड़ दीजिए। शाखा अपनी जगह पहुंच जाएगी; शाखा अपनी जगह थी ही; आपकी कृपा से ही अपनी जगह से हट गई है।

परमात्मा में पहुंचने के लिए मनुष्य को किसी एफर्ट और प्रयास की जरूरत नहीं है। परमात्मा को खोने के लिए उसने जो प्रयास किया है, कृपा करके उतना प्रयास भर वह न करे, अपनी जगह पहुंच जाएगा।

स्वप्न हमारे निर्माण हैं। सत्य हमारा निर्माण नहीं है।

इसलिए बुद्ध को जब ज्ञान हुआ और लोगों ने बुद्ध से पूछा कि तुम्हें क्या मिला? तो बुद्ध ने कहा, मुझे कुछ मिला नहीं, सिर्फ मैंने कुछ खोया है। तब तो वे बहुत हैरान हुए। उन्होंने कहा, हम तो सोचते थे कि आपको कुछ मिला है! बुद्ध ने कहा, मिला कुछ भी नहीं। जो था ही, उसे मैंने जाना है। हां, खोया जरूर कुछ। जो-जो मैंने बनाया था, वह मुझे सब खो देना पड़ा। अज्ञान मैंने खोया और ज्ञान मैंने पाया नहीं, क्योंकि ज्ञान था ही। जिस अज्ञान को मैं जोर से पकड़े था, उसकी वजह से दिखाई नहीं पड़ रहा था। खोया जरूर, पाया कुछ भी नहीं। पाया वही, जो पाया ही हुआ था, जो सदा से मिला ही हुआ था।

ठीक से समझें तो सिर्फ जागकर देखने की जरूरत है। आंख खोलकर, प्रज्ञा को पूरी तरह जगाकर, चेतना को पूरे होश से अप्रमाद में लाकर देखने भर की जरूरत है कि क्या है! और जैसे ही हम देखते हैं कि क्या है, उसमें जो नहीं है, वह गिर जाता है; जो है, वह शेष रह जाता है।

अन्तवन्त इमे देहा नित्यस्योक्ताः शरीरिणः।

अनाशिनोऽप्रमेयस्य तस्माद्युध्यस्व भारत।। 18।।

और, इस नाशरहित, अप्रमेय, नित्यस्वरूप जीवात्मा के ये शरीर नाशवान कहे गए हैं। इसलिए, हे भरतवंशी अर्जुन,

तू युद्ध कर।

अर्जुन को युद्ध बड़ा सत्य मालूम पड़ रहा है; देह बहुत सत्य मालूम पड़ रही है; मृत्यु बहुत सत्य मालूम पड़ रही है; उसकी अड़चन स्वाभाविक है। उसकी अड़चन हमारी सबकी अड़चन है। जो हमें सत्य मालूम पड़ता है, वही उसे सत्य मालूम पड़ रहा है। कृष्ण उसे बड़ी दूसरी दुनिया की बातें कह रहे हैं। वे कह रहे हैं कि यह देह, ये शरीरधारी लोग, यह दिखाई पड़ने वाला सारा जाल--यह स्वप्न है। तू इसकी फिक्र मत कर और लड़।

कृष्ण का लड़ने के लिए यह आह्वान तथाकथित धार्मिक लोगों को, सो काल्ड रिलीजस लोगों को, सदा ही कष्ट का कारण रहा है; समझ के बाहर रहा है। क्योंकि एक तरफ समझाने वाले लोग हैं, जो कहते हैं, चींटी पर पैर पड़ जाए तो बचाना, अहिंसा है। पानी छानकर पीना। दूसरी तरफ यह कृष्ण है, जो कह रहा है कि लड़, क्योंकि यहां न कोई मरता, न कोई मारा जाता। यह सब देह स्वप्न है।

अर्जुन साधारणतः ठीक कहता मालूम पड़ता है। गांधी ने चाहा होता कि अर्जुन की बात कृष्ण मान लेते, अहिंसावादियों ने चाहा होता कि कृष्ण की बात न चलती, अर्जुन की चल जाती। लेकिन कृष्ण बड़ी अजीब बात कह रहे हैं। वे कह रहे हैं, जो स्वप्न है, उसके लिए तू दुखी हो रहा है! जो नहीं है, उसके लिए तू पीड़ित और परेशान हो रहा है! साधारण नीति के बहुत पार चली गई बात।

इसलिए जब पहली बार गीता के अनुवाद पश्चिम में पहुंचे, तो पश्चिम के नीतिविदों की छातियां कंप गईं। भरोसा न हुआ कि कृष्ण और ऐसी बात कहेंगे। जिन्होंने सिर्फ पुरानी बाइबिल के टेन कमांडमेंट्स पढ़े थे धर्म के नाम पर--जिन्होंने पढ़ा था चोरी मत कर, जिन्होंने पढ़ा था असत मत बोल, जिन्होंने पढ़ा था किसी को दुख मत पहुंचा--उनके प्राण अगर कंप गए हों... । बड़ा शॉकिंग था कि कृष्ण कहते हैं कि यह सब स्वप्न है; तू लड़!

तो पश्चिम के नीतिविदों को लगा कि गीता जैसी किताब नैतिक नहीं है। या तो अनैतिक है या अतिनैतिक है। या तो इम्मारल है या एमारल है। कम से कम मारल तो नहीं है। यह क्या बात है?

और ऐसा पश्चिम में ही लगा हो, ऐसा नहीं, जैन विचारकों ने कृष्ण को नर्क में डाल दिया। जैन चिंतन को अनुभव हुआ कि यह आदमी क्या कह रहा है! मारने की खुली छूट! अगर अर्जुन का वश चलता तो महाभारत शायद न होता। कृष्ण ने ही करवा दिया। तो अहिंसा की धारा इस मुल्क में भी थी। उसने कृष्ण को नर्क में डालने की जरूरत महसूस की। इस आदमी को नर्क में डाल ही देना चाहिए।

यह बड़ा मुद्दा है और बड़े विचार का है। इसमें ध्यान रखना जरूरी है कि नीति धर्म नहीं है, नीति बहुत कामचलाऊ व्यवस्था है। नीति बिल्कुल सामाजिक घटना है। नीति स्वप्न के बीच व्यवस्था है। स्वप्न में भी रास्तों पर चलना हो तो नियम बनाने पड़ेंगे। स्वप्न में भी जीना हो तो व्यवस्थापन, डिसिप्लिन, शिष्ट-अनुशासन बनाना पड़ेगा। नीति धर्म नहीं है, नीति बिल्कुल सामाजिक व्यवस्था है। इसलिए नीति रोज बदल सकती है; समाज बदलेगा और नीति बदलेगी। कल जो ठीक था, वह आज गलत हो जाएगा। आज जो ठीक है, वह कल गलत हो जाएगा। नीति भी असत का हिस्सा है।

इसका यह मतलब नहीं है कि धर्म अनीति है। जब नीति तक असत का हिस्सा है, तो अनीति तो असत का हिस्सा होगी ही। धर्म नीति और अनीति को पार करता है। असल में धर्म संसार को पार करता है। तो इसलिए कृष्ण की बात जिस तल से कही जा रही है, उस तल से बहुत मुश्किल से समझी जा सकी है।

जैनों ने नर्क में डाल दिया, वह एक उपाय था, उनसे छुटकारा पाने का। गांधी ने पूरी गीता को मेटाफर मान लिया। मान लिया कि यह हुई नहीं है घटना कभी, क्योंकि कृष्ण कहां युद्ध करवा सकते हैं! यह किसी असली युद्ध की बात नहीं है, यह तो शुभ-अशुभ के बीच जो युद्ध चलता है, उसकी प्रतीक-कथा है, सिम्बालिक है। यह दूसरी तरकीब थी--ज्यादा बली। लेकिन मतलब वही छुटकारा पाने का है। मतलब यह कि यह घटना कभी... ।

कृष्ण युद्ध कैसे करवा सकते हैं! कृष्ण कैसे कह सकते हैं कि युद्ध करो! नहीं, कृष्ण तो यह कह ही नहीं सकते। इसलिए अब एक दूसरा उपाय है--होशियारी से कृष्ण से बच जाने का--और वह यह है कि कहो कि मेटाफर है, सिंबल है, एक कहानी है, प्रतीक-कथा है। यह घटना कभी घटी नहीं, ऐसा कोई युद्ध कहीं हुआ नहीं कि जिसमें युद्ध करवाया गया हो। ये सब तो प्रतीक- पुरुष हैं--यह अर्जुन और यह दुर्योधन और ये सब--ये व्यक्ति नहीं हैं, ये ऐतिहासिक तथ्य नहीं हैं। यह तो सिर्फ एक पैरेबल है, एक प्रतीक-कथा है, जिसमें शुभ और अशुभ की लड़ाई हो रही है। और अशुभ के खिलाफ लड़ने के लिए कृष्ण कह रहे हैं।

अब यह कृष्ण को एकदम विकृत करना है। कृष्ण अशुभ के खिलाफ लड़ने को नहीं कह रहे हैं। अगर कृष्ण को ठीक समझें, तो वे कह रहे हैं कि शुभ और अशुभ एक ही स्वप्न के हिस्से हैं, हिंसा और अहिंसा एक ही स्वप्न के हिस्से हैं। कृष्ण यह नहीं कह रहे हैं कि हिंसा ठीक है, कृष्ण इतना ही कह रहे हैं कि हिंसा और अहिंसा अच्छे और बुरे आदमी के स्वप्न हैं। स्वप्न ही हैं। और पूरे स्वप्न को स्वप्न की भांति जो जानता है, वह सत्य को उपलब्ध होता है। नीति का अतिक्रमण करती है यह बात। अनैतिक नहीं है। अनीति का भी अतिक्रमण करती है यह बात।

इन अर्थों में कृष्ण का संदेश बहुत कठिन हो जाता है समझना। चुनाव आसान पड़ता है--यह बुरा है, यह ठीक है। लेकिन ठीक और बुरा दोनों ही स्वप्न हैं, यहां हमारे पैर डगमगा जाते हैं। लेकिन जो यहां पैर को थिर रख सके, वही गीता में आगे प्रवेश कर सकेगा।

इसलिए इस बात को बिल्कुल ठीक से समझ लेना कि कृष्ण न हिंसक हैं, न अहिंसक हैं। क्योंकि हिंसक की मान्यता है कि मैं दूसरे को मार डालता हूं। और अहिंसक की मान्यता है कि मैं दूसरे को बचा रहा हूं। और कृष्ण कहते हैं कि जो न मारा जा सकता, वह बचाया भी नहीं जा सकता है। न तुम बचा सकते हो, न तुम मार सकते हो। जो है, वह है। और जो नहीं है, वह नहीं है। तुम दोनों एक-दूसरे से विपरीत स्वप्न देख रहे हो।

एक आदमी किसी की छाती में छुरा भोंक देता है, तो सोचता है, मिटा डाला इसे। और दूसरा आदमी उसकी छाती से छुरा निकाल कर मलहम-पट्टी करता है, और सोचता है, बचा लिया इसे। इन दोनों ने सपने देखे विपरीत--एक बुरे आदमी का सपना, एक अच्छे आदमी का सपना। और हम चाहेंगे कि अगर सपना ही देखना है, तो अधिक लोग अच्छे आदमी का सपना देखें।

लेकिन कृष्ण यह कह रहे हैं कि दोनों सपने हैं। और एक और तल है देखने का, जहां बचाने वाला और मारने वाला एक-सी ही भूल कर रहा है। वह भूल यही है कि जो है, उसे या तो मिटाया जा सकता है, या बचाया जा सकता है। कृष्ण कह रहे हैं, जो नहीं है, वह नहीं है; जो है, वह है। वे यह नहीं कह रहे हैं कि बुरे आदमी का सपना देखें, वे यह कह रहे हैं कि दोनों ही सपने हैं। और अगर देखना ही है, तो पूरे सपने को देखें, ताकि जाग जाएं। अगर देखना ही है, तो बुरे-अच्छे आदमी के सपनों में चुनाव न करें, पूरे सपने को ही देखें और जाग जाएं।

यह जागरण की, अवेयरनेस की जो प्रक्रिया कृष्ण अर्जुन को कह रहे हैं, वह अर्जुन की कैसे समझ में आएगी, बड़ी कठिनाई है। क्योंकि अर्जुन बड़ी नीतिवादी बातें कर रहा है। और वह नैतिक सपना देखने को बड़ा

उत्सुक है। वह अनैतिक सपने से ऊबा हुआ मालूम पड़ता है। अब वह नैतिक सपना देखने को उत्सुक है। और कृष्ण कहते हैं, सपने में ही चुनाव कर रहा है। पूरे सपने के प्रति ही जाग जाना है।

एक सूत्र और पढ़ लें, फिर रात हम बात करेंगे।

य एनं वेत्ति हन्तारं यश्चैनं मन्यते हतम्।

उभौ तौ न विजानीतो नायं हन्ति न हन्यते।। 19।।

और, जो इस आत्मा को मारने वाला समझता है, तथा जो इसको मरा मानता है, वे दोनों ही नहीं जानते हैं। क्योंकि, यह आत्मा न मारता है और न मारा जाता है।

जो है, वह न मरता है और न मारा जाता है। और जो है हमारे भीतर, उसका नाम आत्मा है। और जो है हमारे बाहर, उसका नाम परमात्मा है। जो मारा जाता है और जो मार सकता है, या जो अनुभव करता है कि मारा गया--हमारे भीतर उसका नाम शरीर है, हमारे बाहर उसका नाम जगत है। जो अमृत है, जो इम्मार्टल है, वही चेतना है। और जो मर्त्य है, वही जड़ है। साथ ही, जो मर्त्य है, वही लहर है, असत है; और जो अमृत है, वही सागर है, सत है।

अर्जुन के मन में यही चिंता, दुविधा और पीड़ा है कि मैं कैसे मारने में संलग्न हो जाऊं! इससे तो बेहतर है, मैं ही मर जाऊं। ये दोनों बातें एक साथ ही होंगी। जो दूसरे को सोच सकता है मरने की भाषा में, वह अपने को भी मरने की भाषा में सोच सकता है। जो सोच सकता है कि मृत्यु संभव है, वह स्वभावतः दुखी हो जाएगा। लेकिन कृष्ण कह रहे हैं कि मृत्यु एक मात्र असंभावना है--दि ओनली इंपासिबिलिटी। मृत्यु हो ही नहीं सकती। मृत्यु की असंभावना है।

लेकिन जिंदगी जहां हम जीते हैं, वहां तो मृत्यु से ज्यादा निश्चित और कोई संभावना नहीं है। वहां सब चीजें असंभव हो सकती हैं, मृत्यु भर सुनिश्चित रूप से संभव है। एक बात तय है, वह है मृत्यु। और सब बातें तय नहीं हैं। और सब बदलाहट हो सकती है। कोई दुखी होगा, कोई सुखी होगा। कोई स्वस्थ होगा, कोई बीमार होगा। कोई सफल होगा, कोई असफल होगा। कोई दीन होगा, कोई सम्राट होगा। और सब होगा, और सब विकल्प खुले हैं, एक विकल्प बंद है। वह मृत्यु का विकल्प है, वह होगा ही। सम्राट भी वहां पहुंचेगा, भिखारी भी वहां पहुंचेगा; सफल भी, असफल भी; स्वस्थ भी, बीमार भी--सब वहां पहुंच जाएंगे। एक बात, जिस जीवन में हम खड़े हैं, वहां तय है, वह मृत्यु है।

और कृष्ण बिल्कुल उलटी बात कह रहे हैं, वे यह कह रहे हैं कि एक बात भर सुनिश्चित है कि मृत्यु असंभावना है। न कभी कोई मरा और न कभी कोई मर सकता है। मृत्यु अकेला भ्रम है। शायद इस मृत्यु के आस-पास ही हमारे जीवन के सारे कोण निर्मित होते हैं। जो देखता है कि मृत्यु सत्य है, उसके जीवन में शरीर से ज्यादा का अनुभव नहीं है।

यह बड़े मजे की बात है कि आपको मृत्यु का कोई भी अनुभव नहीं है। आपने दूसरों को मरते देखा है, अपने को मरते कभी नहीं देखा है।

समझें कि एक व्यक्ति को हम विकसित करें, जिसने मृत्यु न देखी हो, किसी को मरते न देखा हो। कल्पना कर लें, एक व्यक्ति को हम इस तरह बड़ा करते हैं, जिसने मृत्यु नहीं देखी। क्या यह आदमी कभी भी सोच पाएगा कि मैं मर जाऊंगा? क्या इसके मन में कभी भी यह कल्पना भी उठ सकती है कि मैं मर जाऊंगा?

असंभव है। मृत्यु इनफरेंस है, अनुमान है, दूसरे को मरते देखकर। और मजा यह है कि जब दूसरा मरता है तो आप मृत्यु नहीं देख रहे, क्योंकि मृत्यु की घटना आपके लिए सिर्फ इतनी है कि वह कल तक बोलता था, अब नहीं बोलता; कल तक चलता था, अब नहीं चलता। आप चलते हुए को, न चलते की अवस्था में गया हुआ देख रहे हैं। बोलते हुए को, न बोलते की अवस्था में देख रहे हैं। धड़कते हृदय को, न धड़कते हृदय की अवस्था में देख रहे हैं। लेकिन क्या इतने से काफी है कि आप कहें, जो भीतर था, वह मर गया? क्या इतना पर्याप्त है? क्या इतना काफी है? मृत्यु की निष्पत्ति लेने को क्या यह काफी हो गया? यह काफी नहीं है।

दक्षिण में एक योगी थे कुछ वर्षों पहले, ब्रह्मयोगी। उन्होंने आक्सफोर्ड युनिवर्सिटी में, और कलकत्ता और रंगून युनिवर्सिटी में--तीन जगह मरने का प्रयोग करके दिखाया। वह बहुत कीमती प्रयोग था। वह दस मिनट के लिए मर जाते थे।

जब आक्सफोर्ड युनिवर्सिटी में उनका प्रयोग हुआ तो डाक्टर्स मौजूद थे। और उन्होंने कहा कि इस दस मिनट में आप मेरी जांच-पड़ताल करके लिख दें सर्टिफिकेट कि यह आदमी मर गया कि जिंदा है। फिर उनकी श्वास खो गई। फिर उनकी नाड़ी बंद हो गई। फिर हृदय ने धड़कना बंद कर दिया। फिर खून की चाल सब शांत हो गई। और दस डाक्टरों ने--आक्सफोर्ड युनिवर्सिटी के मेडिकल कालेज के--सर्टिफिकेट लिखा कि यह आदमी मर गया है। और मरने के सारे सिम्प्टम्स इस आदमी ने पूरे कर दिए हैं। और दस आदमियों ने दस्तखत किए।

और वे ब्रह्मयोगी दस मिनट के बाद वापस जिंदा हो गए। श्वास फिर चलने लगी, हृदय फिर धड़कने लगा, खून फिर बहने लगा, नाड़ी फिर वापस लौट आई। और उन्होंने कहा, फिर सर्टिफिकेट लिखें कि इस आदमी के बाबत क्या ख्याल है! उन डाक्टरों ने कहा, हम बड़ी मुश्किल में पड़ गए। आप हम पर कोई अदालत में मुकदमा तो न चलाएंगे? क्योंकि मेडिकल साइंस जो कह सकती थी, हमने कह दिया। तो ब्रह्मयोगी ने कहा, मुझे यह भी लिखकर दें कि अब तक जितने लोगों को आपने मरने के सर्टिफिकेट दिए हैं, वे संदिग्ध हो गए हैं।

असल में जिसे हम मृत्यु कह रहे हैं, वह जीवन का शरीर से सरक जाना है। जैसे कोई दीया अपनी किरणों को सिकोड़ ले वापस, ऐसे जीवन का फैलाव वापस सिकुड़ जाता है, बीज में वापस लौट जाता है। फिर नई यात्रा पर निकल जाता है। लेकिन बाहर से इस सिकुड़ने को हम मृत्यु समझ लेते हैं।

बटन दबा दी हमने, बिजली का बल्ब जलता था, किरणें समाप्त हो गईं। बल्ब से अंधकार झरने लगा। क्या बिजली मर गई? सिर्फ अभिव्यक्ति खो गई। सिर्फ मैनिफेस्टेशन बंद हो गया। फिर बटन दबाते हैं, फिर किरणें बिजली की वापस बहने लगीं। क्या बिजली पुनरुज्जीवित हो गई? क्योंकि जो मरी नहीं थी, उसको पुनरुज्जीवित कहने का कोई अर्थ नहीं है। बिजली पूरे समय वहीं थी, सिर्फ अभिव्यक्ति खो गई थी।

जिसे हम मृत्यु कहते हैं, वह प्रकट का फिर पुनः अप्रकट हो जाना है। जिसे हम जन्म कहते हैं, वह अप्रकट का पुनः प्रकट हो जाना है।

कृष्ण कहते हैं, न ही शरीर को मारने से आत्मा मरती है, न ही शरीर को बचाने से आत्मा बचती है। आत्मा न मरती है, न बचती है। असल में जो मरने और बचने के पार है, वही आत्मा है, वही अस्तित्व है।

शेष सांझ हम बात करेंगे।

आठवां प्रवचन

मरणधर्मा शरीर और अमृत, अरूप आत्मा

प्रश्नः ओशो,

य एनं वेत्ति हन्तारं यश्चैनं मन्यते हतम्।

उभौ तौ न विजानीतो नायं हन्ति न हन्यते।।

इस श्लोक के बारे में सुबह जो चर्चा हुई, उसमें आत्मा यदि हननकर्ता नहीं या हनन्य भी नहीं है, तो जनरल डायर या नाजियों के कनसनट्रेशन कैंप की घटनाएं कैसे जस्टिफाई हो सकती हैं! टोटल एक्सेप्टिबिलिटी में इनकी क्या उपादेयता है?

न कोई मरता है और न कोई मारता है; जो है, उसके विनाश की कोई संभावना नहीं है। तब क्या इसका यह अर्थ लिया जाए कि हिंसा करने में कोई भी बुराई नहीं है? क्या इसका यह अर्थ लिया जाए कि जनरल डायर ने या आउश्वित्ज में जर्मनी में या हिरोशिमा में जो महान हिंसा हुई, वह निंदा योग्य नहीं है? स्वीकार योग्य है?

नहीं, कृष्ण का ऐसा अर्थ नहीं है। इसे समझ लेना उपयोगी है। हिंसा नहीं होती, इसका यह अर्थ नहीं है कि हिंसा करने की आकांक्षा बुरी नहीं है। हिंसा तो होती ही नहीं, लेकिन हिंसा की आकांक्षा होती है, हिंसा का अभिप्राय होता है, हिंसा की मनोदशा होती है।

जो हिंसा करने के लिए इच्छा रख रहा है, जो दूसरे को मारने में रस ले रहा है, जो दूसरे को मारकर प्रसन्न हो रहा है, जो दूसरे को मारकर समझ रहा है कि मैंने मारा--कोई नहीं मरेगा पीछे--लेकिन इस आदमी की यह समझ कि मैंने मारा, इस आदमी का यह रस कि मारने में मजा मिला, इस आदमी की यह मनोकांक्षा कि मारना संभव है, इस सबका पाप है।

पाप हिंसा होने में नहीं है, पाप हिंसा करने में है। होना तो असंभव है, करना संभव है। जब एक व्यक्ति हिंसा कर रहा है, तो दो चीजें हैं वहां। हिंसा की घटना तो, कृष्ण कहते हैं, असंभव है, लेकिन हिंसा की मनोभावना बिल्कुल संभव है।

ठीक इससे उलटा भी सोच लें कि फिर क्या महावीर की अहिंसा और बुद्ध की अहिंसा का कोई अर्थ नहीं? अगर हिरोशिमा और आउश्वित्ज के कनसनट्रेशन कैंप्स में होने वाली हिंसा का कोई अर्थ नहीं है, तो बुद्ध और महावीर की अहिंसा का भी कोई अर्थ नहीं रह जाता। अगर आप समझते हों कि अहिंसा का अर्थ तभी है, जब हम किसी मरते और मिटते को बचा पाएं, तो कोई अर्थ नहीं है।

नहीं, महावीर और बुद्ध की अहिंसा का अर्थ और है। यह बचाने की आकांक्षा, यह न मारने की आकांक्षा! यह मारने में रस न लेने की स्थिति, यह बचाने में रस लेने का मनोभाव! जब महावीर एक चींटी को बचाकर निकलते हैं, तो ऐसा नहीं है कि महावीर के बचाने से चींटी बच जाती है। चींटी में जो बचने वाला है, बचा ही रहेगा; और जो नहीं बचने वाला है, वह महावीर के बचाने से नहीं बचता है। लेकिन महावीर का यह भाव

बचाकर निकलने का बड़ा कीमती है। इस भाव से चींटी को कोई लाभ-हानि नहीं होती, लेकिन महावीर को जरूर होती है।

बहुत गहरे में प्रश्न भाव का है, घटना का नहीं है। बहुत गहरे में प्रश्न भावना का है, वह व्यक्ति क्या सोच रहा है। क्योंकि व्यक्ति जीता है अपने विचारों में घिरा हुआ। घटनाएं घटती हैं यथार्थ में, व्यक्ति जीता है विचार में, भाव में।

हिंसा बुरी है; कृष्ण के यह कहने के बाद भी बुरी है कि हिंसा नहीं होती। और कृष्ण का कहना जरा भी गलत नहीं है। असल में कृष्ण अस्तित्व से कह रहे हैं; अस्तित्व के बीच खोज रहे हैं।

हिटलर जब लोगों को मार रहा है, तो कृष्ण की मनोदशा में नहीं है। हिटलर को लोगों को मारने में रस और आनंद है--मिटाने में, विनाश करने में। विनाश होता है या नहीं होता है, यह बिल्कुल दूसरी बात है। लेकिन हिटलर को विनाश में रस है। यह रस हिंसा है।

अगर ठीक से समझें, तो विनाश का रस हिंसा है, मारने की इच्छा हिंसा है। मरना होता है या नहीं होता है, यह बिल्कुल दूसरी बात है। और यह जो रस हिटलर का है, यह एक डिसीज्ड, रुग्ण चित्त का रस है।

समझ लेना जरूरी है कि जब भी विनाश में रस मालूम पड़े, तो ऐसा आदमी भीतर विक्षिप्त है। जितना ही भीतर आदमी शांत और आनंदित होगा, उतना ही विनाश में रस असंभव है। जितना ही भीतर आनंदित होगा, उतना सृजन में रस होगा, उतना क्रिएटिविटी में रस होगा।

महावीर की अहिंसा एक क्रिएटिव फीलिंग है, जगत के प्रति एक सृजनात्मक भाव है। हिटलर की हिंसा जगत के प्रति एक विनाशात्मक भाव है, एक डिस्ट्रक्टिव भाव है। यह भाव महत्वपूर्ण है। और जहां हम जी रहे हैं, वहां अस्तित्व में क्या होता है, यह मूल्यवान नहीं है।

मैं एक छोटी-सी घटना से समझाने की कोशिश करूं।

कबीर के घर बहुत भक्त आते हैं। गीत, भजन... । और जब जाने लगते हैं, तो कबीर कहते हैं, भोजन करते जाएं। फिर कबीर का बेटा और पत्नी परेशान हो गए। बेटे ने एक दिन कहा कि अब बरदाश्त के बाहर है। हम कब तक कर्ज लेते जाएं! यह हम कहां से लोगों को खिलाएं! अब आप कहना बंद करें।

कबीर ने कहा कि मुझे याद ही नहीं रहती; जब घर कोई मेहमान आता है, तो मुझे ख्याल ही नहीं रहता कि घर में कुछ नहीं है। और घर कोई आया हो तो कैसे ख्याल रखा जाए कि घर में कुछ नहीं है! तो मैं कहे ही जाता हूं कि भोजन करते जाएं। फिर तो बेटे ने कहा, तो क्या हम चोरी करने लगें? व्यंग्य में कहा, क्रोध में कहा कि क्या हम चोरी करने लगें! कबीर ने कहा कि अरे, तुझे यह पहले ख्याल क्यों न आया! वह बेटा तो हैरान हुआ, क्योंकि उसे आशा न थी कि कबीर और ऐसा कहेंगे। तो उसने कहा, तो फिर आज मैं चोरी करने जाऊं? वह बेटा भी साधारण नहीं था; कबीर का ही बेटा था। मैं आज चोरी करने जाऊं? कबीर ने कहा, बिल्कुल। तो बेटे ने और परीक्षा लेने के लिए कहा, आप भी चलिएगा? कबीर ने कहा, चला चलूंगा।

रात हो गई, बेटे ने कहा, चलें। बेटा भी आखिरी तर्क की सीमा तक देखना चाहता था कि बात क्या है, क्या कबीर चोरी करने को राजी हैं? कबीर--और चोरी करने को राजी! बेटे की समझ के बिल्कुल बाहर है। अर्जुन की समझ के भी बाहर है कि कृष्ण हिंसा करने को राजी हैं।

ले गया कबीर का बेटा कमाल कबीर को। फिर जाकर दीवार तोड़ी। दीवार तोड़कर बीच-बीच में देखता भी रहा। कबीर उससे कहते हैं, इतना घबड़ाता क्यों है? इतना कंपता क्यों है? उसने दीवार भी तोड़ ली। फिर उसने कहा, मैं भीतर जाऊं? कबीर ने कहा कि जरूर जा। वह भीतर भी गया। वह एक गेहूं का बोरा घसीटकर

भी लाया। उसने सोचा, अब रोकेंगे, अब रोकेंगे। अब तो बहुत हो गया, हद्द हो गई। कबीर ने बोरा भी बाहर निकलवा लिया। फिर बेटे से कहा, भीतर जाकर, घर में लोग सोए होंगे, उनको कह आओ कि तुम्हारे घर चोरी हो गई है, हम एक बोरा ले जा रहे हैं। तो उस बेटे ने कहा, यह किस प्रकार की चोरी है? चोरी कहीं बताई जाती है? तो कबीर ने कहा कि जो चोरी बताई नहीं जा सकती, वह फिर पाप हो गई। खबर करो! तो बेटे ने कहा कि मैं इतनी देर से परेशान ही था कि यह किस तरह आप चोरी करवा रहे हैं! कबीर ने कहा, मुझे याद ही न रहा, क्योंकि जब से यह दिखाई पड़ने लगा कि सभी एक हैं, तब से कुछ अपना न रहा, कुछ पराया न रहा। वह दूसरे का है, तब चोरी पाप है। लेकिन वह याद ही न रहा, तूने ठीक याद दिला दिया। लेकिन तूने पहले याद क्यों न दिलाया!

कबीर कह रहे हैं, वह दूसरे का है, तब तक तो चोरी पाप है। लेकिन अगर दूसरे की कोई चीज नहीं रह गई, अगर सभी एक का ही है; और उस तरफ जो श्वास चलती है, वह भी मेरी है; और इस तरफ जो श्वास चलती है, वह भी मेरी है--तो इस तल पर चोरी के पाप होने का कोई अर्थ नहीं रह जाता। लेकिन यह अस्तित्व के तल की बात हुई। यह ब्रह्मज्ञान में प्रविष्ट व्यक्ति की बात हुई।

तो कबीर ने कहा, अगर न जगा सकता हो तो वापस लौटा दे। क्योंकि अपने को ही अगर हम खबर करने में डरते हैं, तो चीज फिर अपनी नहीं है। तो फिर वापस लौटा दे। किससे बचकर ले जाना है?

अब यह बहुत दो तलों की बात हो गई, यह दो एक्झिस्टेंस की बात हो गई। इसे ठीक से ख्याल में ले लें। एक तो अस्तित्व का जगत है, जहां सभी कुछ परमात्मा का है, वहां चोरी नहीं हो सकती। कबीर उसी जगत में जी रहे हैं। एक मनोभावों का जगत है, जहां दूसरा दूसरा है, मैं मैं हूं; मेरी चीज मेरी है, दूसरे की चीज दूसरे की है। वहां चोरी होती है, हो रही है, हो सकती है।

जब तक दूसरे की चीज दूसरे की है, तब तक चोरी पाप है। चोरी घटित होती नहीं, सिर्फ चीजें यहां से वहां रखी जाती हैं। चोरी की क्या घटना घट सकती है इस जमीन पर! कल न मैं रहूंगा, न आप रहेंगे। मेरी चीजें भी मेरी नहीं रह जाएंगी, आपकी चीजें भी आपकी नहीं रह जाएंगी। चीजें यहां पड़ी हैं--इस घर में या उस घर में, क्या फर्क पड़ेगा!

अस्तित्व के तल पर चोरी नहीं घटती, भाव के तल पर चोरी घटती है। अगर हिटलर यह कह सके कि मरने में हिंसा होती ही नहीं, तो हिटलर को फिर अपने आस-पास संतरी खड़े करने की जरूरत नहीं। फिर वह आउश्वित्ज में मारे लोगों को, तो हमें कोई एतराज न होगा। लेकिन खुद को बचाने के लिए जो तत्पर है, दूसरे को मारने को जो आतुर है, वह जानता है, मानता है कि हिंसा होती है। खुद को जो बचा रहा है।

अगर कृष्ण अर्जुन से यह कहें कि ये कोई मरने वाले नहीं हैं, बेफिक्री से मार, लेकिन तू मरने वाला है, जरा अपने को सम्हालना, बचाना। तब फिर बेईमानी हो जाएगी। लेकिन कृष्ण उससे कहते हैं कि न कोई मरता है, न कोई मारा जाता है। अगर ये भी तुझे मार डालें, तो भी कुछ मरता नहीं। अगर तू भी इन्हें मार डाले, तो भी कुछ मरता नहीं। वे बहुत अस्तित्व की गहरी बात कह रहे हैं। इतना स्मरण रखना जरूरी है।

हिरोशिमा में हिंसा हुई, क्योंकि जिन्होंने बम पटका, वे मारने के लिए पटके थे। हिटलर ने हिंसा की, क्योंकि वह मानकर चल रहा है कि दूसरे को मार रहे हैं। मरता है, नहीं मरता है, यह बहुत दूसरी बात है। इससे हिटलर का कोई लेना-देना नहीं है। जब तक मैं अपने को बचाने को उत्सुक हूं, तब तक मैं दूसरे को मारने को सिद्धांत नहीं बना सकता। जब तक मैं कहता हूं, यह मेरी चीज है, कोई चोरी न कर ले जाए, तब तक मैं दूसरे के

घर चोरी करने जाऊं, तो वह चोरी कबीर की चोरी नहीं हो सकती। कबीर की चोरी चोरी ही नहीं है। कृष्ण की हिंसा हिंसा ही नहीं है।

इसलिए सवाल उचित है। कृष्ण की गीता और कृष्ण का संदेश समझकर कोई अगर ऐसा समझ ले कि दूसरे को मारना मारना ही नहीं है, बिल्कुल झूठ है, समझे; लेकिन खुद का मारा जाना भी मारा जाना नहीं है, इस शर्त को ध्यान में रखकर; तब कोई हर्ज नहीं है। लेकिन अपने को बचाए और दूसरे को मारे--और मजा यह है कि हम अपने को बचाने के लिए ही दूसरे को मारते हैं--तब फिर कृष्ण को भूल ही जाएं तो अच्छा है।

खतरा हुआ है। इस मुल्क ने जीवन के इतने गहरे सत्यों को पहचाना था, उसकी वजह से यह मुल्क बुरी तरह पतित हुआ है। असल में बहुत गहरे सत्य बेईमान आदमियों के हाथों में पड़ जाएं, तो असत्यों से बदतर सिद्ध होते हैं। इस मुल्क ने इतने गहरे सत्यों को पहचाना था कि उन सत्यों को जब तक हम पूरा न जान लें, तब तक उनका आधा उपयोग नहीं कर सकते।

इस मुल्क ने भलीभांति जाना था कि व्यवहार तो माया है, वह तो सपना है। तो फिर ठीक है, बेईमानी में कौन-सी बुराई है! अगर यह मुल्क पांच हजार साल की निरंतर चिंतना के बाद आज पृथ्वी पर सर्वाधिक बेईमान है, तो उसका कारण है। अगर हम इतनी अच्छी बातें करने के बाद भी जीवन में एकदम विपरीत सिद्ध होते हैं, तो उसका कारण है। उसका कारण यही है कि जिस तल पर बातें हैं, उस तल पर हम नहीं उठते, बल्कि जिस तल पर हम हैं, उसी तल पर उन बातों को ले आते हैं।

कृष्ण के तल पर अर्जुन उतरे, उठे, तब तो ठीक। और अगर अर्जुन कृष्ण को अपने तल पर खींच लाए, तो खतरा होने वाला है। और अक्सर ऐसा होता है कि कृष्ण के तल तक उठना तो मुश्किल हो जाता है, कृष्ण को ही खींचकर हम अपने तल पर ले आते हैं। तब हम ऐट ई.ज, सुविधा में हो जाते हैं। तब हम कह पाते हैं, सब माया है; सब माया है; बेईमानी कर पाते हैं, कह पाते हैं, माया है। अब बड़े मजे की बात है कि जिस आदमी को माया दिखाई पड़ रही है, वह आदमी बेईमानी करने में इतना रसलिप्त हो सकता है?

एक मित्र आए। कहने लगे, जब से ध्यान करने लगा हूं, तो मन सरल हो गया है। एक आदमी धोखा देकर मेरा झोला ले गया। ऐसे तो सब माया है--उन्होंने कहा--ऐसे तो सब माया है, लेकिन वह धोखा दे गया, झोला ले गया। अब आगे ध्यान करूं कि न करूं? ऐसे तो सब माया है--इसे वे बार-बार कहते हैं। मैंने कहा, ऐसे तो सब माया है, तो इतना झोले से क्यों परेशान हो रहे हैं? और ऐसे सब माया है, तो वह आदमी क्या धोखा दे गया? और ऐसे सब माया है, तो किसका झोला कौन ले गया है?

नहीं, उन्होंने कहा, ऐसे तो सब माया है, लेकिन पूछने मैं यह आया हूं कि अगर ऐसा ध्यान में सरल होता जाऊं, और हर कोई धोखा देने लगे!

अब ये दो तलों की बातें हैं। उनके ख्याल में नहीं पड़तीं, कि वह ऐसे तो सब माया है, कृष्ण से सुन लिया, और वह जो झोला चोरी चला गया, वहां हम खड़े हैं। और यह जो बात है, यह किसी शिखर से कही गई है। हम जहां खड़े हैं, वहां यह बात बिल्कुल नहीं है।

इस देश के पतन में, इस देश के चारित्रिक ह्नास में, इस देश के जीवन में एकदम अंधकार भर जाने में और गंदगी भर जाने में, हमारे ऊंचे से ऊंचे सिद्धांतों की हमने जो व्याख्या की है, वह कारण है।

यह सवाल ठीक है।

कृष्ण आपसे नहीं कह रहे हैं कि बेफिक्री से हिंसा करो। कृष्ण यह कह रहे हैं कि अगर यह तुम्हारी समझ में आ जाए कि कोई मरता नहीं, कोई मारा नहीं जाता; तब, तब जो होता है, होने दो। लेकिन दोहरा है यह

तीर। डबल ऐरोड है। यह ऐसा नहीं है कि दूसरा मरता है तो मारो, क्योंकि कोई नहीं मरता। और जब खुद मरने लगो तो चिल्लाओ कि कहीं मुझे मार मत डालना। ऐसा ही हो गया है।

हम इस देश में सर्वाधिक मानते हैं कि आत्मा अमर है और सबसे ज्यादा मरने से डरते हैं जमीन पर। हमसे ज्यादा कोई भी मरने से नहीं डरता। जिनको हम नास्तिक कहते हैं, जिनको हम कहते हैं--ईश्वर को नहीं मानते, आत्मा को नहीं मानते, वे भी नहीं डरते हैं मरने से। वे भी कहते हैं कि ठीक है, मौका आ जाए, जिंदगी दांव पर लगा दें। लेकिन हम एक हजार साल तक गुलाम रह सके; क्योंकि जिंदगी दांव पर लगाने की हमारी हिम्मत ही नहीं रही। हां, घर में बैठकर हम बात करते हैं कि आत्मा अमर है। अगर आत्मा अमर है, तो इस मुल्क को एक सेकेंड के लिए गुलाम नहीं किया जा सकता था।

लेकिन आत्मा जरूर अमर है; लेकिन हम बेईमान हैं। आत्मा अमर है, वह हम कृष्ण से सुन लेते हैं; और हम मरने वाले हैं, यह हम भलीभांति जानते हैं। अपने को बचाए चले जाते हैं। बल्कि आत्मा अमर है, इसका पाठ रोज इसीलिए करते हैं, कि भरोसा आ जाए कि मरेंगे नहीं। कम से कम मैं तो नहीं मरूंगा, इसका भरोसा दिला रहे हैं, इससे अपने को समझा रहे हैं। इस दो तल पर--जहां कृष्ण खड़े हैं वहां, और जहां हम खड़े हैं वहां--वहां के फासले को ठीक से समझ लेना।

और कृष्ण की बात तभी पूरी सार्थक होगी, जब आप कृष्ण के तल पर उठें। और कृपा करके कृष्ण को अपने तल पर मत लाना। हालांकि वह आसान है, क्योंकि कृष्ण कुछ भी नहीं कर सकते। आप गीता को जिस तल पर ले जाना चाहें, वहीं ले जाएं। जहां कटघरे में रहते हों, गोडाउन में रहते हों, नर्क में रहते हों, वहीं ले जाएं गीता को, तो वहीं चली जाएगी। कृष्ण कुछ भी नहीं कर सकते।

कृपा करके जीवन के जो परम सत्य हैं, उन्हें जीवन की अंधेरी गुहाओं में मत ले जाना। वे जीवन के परम सत्य शिखरों पर जाने गए हैं। आप भी शिखरों पर चढ़ना, तभी उन परम सत्यों को समझ पाएंगे। वे परम सत्य सिर्फ पुकार हैं, आपके लिए चुनौतियां हैं कि आओ इस ऊंचाई पर, जहां प्रकाश ही प्रकाश है, जहां आत्मा ही आत्मा है, जहां अमृत ही अमृत है।

लेकिन जिन अंधेरी गलियों में हम जीते हैं, जहां अंधेरा ही अंधेरा है, जहां प्रकाश की कोई किरण नहीं पहुंचती मालूम पड़ती। वहां यह सुनकर कि प्रकाश ही प्रकाश है, अंधकार है ही नहीं, अपने हाथ के दीए को मत बुझा देना--कि जब प्रकाश ही प्रकाश है, तब इस दीए की क्या जरूरत है, फूंक दो। उस दीए को बुझाने से गली और अंधेरी हो जाएगी। जहां आदमी जी रहा है, वहां हिंसा और अहिंसा का भेद है। अंधेरा है वहां। जहां आदमी जी रहा है, वहां चोरी और अचोरी में भेद है। अंधेरा है वहां। वहां कृष्ण की बात सुनकर अपने इस भेद के छोटे-से दीए को मत फूंक देना। नहीं तो सिर्फ अंधेरा घना हो जाएगा, और कुछ भी नहीं होगा।

हां, कृष्ण की बात सुनकर सिर्फ समझना इतना, एक शिखर है चेतना का, जहां अंधेरा है ही नहीं, जहां दीया जलाना पागलपन है। पर उस शिखर की यात्रा करनी होती है। उस शिखर की यात्रा पर हम धीरे-धीरे बढ़ेंगे। कि वह शिखर कैसे, कैसे हम उस जगह पहुंच जाएं, जहां जीवन अमृत है, और जहां अहिंसा और हिंसा बचकानी बातें हैं, चाइल्डिश बातें हैं। लेकिन वहां नहीं जहां हम हैं, वहां बड़ी सार्थक हैं, वहां बड़ी महत्वपूर्ण हैं।

न जायते म्रियते वा कदाचिन्
नायं भूत्वा भविता वा न भूयः।
अजो नित्यः शाश्वतोऽयं पुराणो

न हन्यते हन्यमाने शरीरे।। 20।।

यह आत्मा किसी काल में भी न जन्मता है और न मरता है, अथवा न यह आत्मा, हो करके फिर होने वाला है, क्योंकि यह अजन्मा, नित्य, शाश्वत और पुरातन है। शरीर के नाश होने पर भी यह नष्ट नहीं होता है।

जहां हम हैं, जो हम हैं, वहां सभी कुछ जात है, जन्मता है। जिससे भी हम परिचित हैं, वहां अजात, अजन्मा, कुछ भी नहीं है। जो भी हमने देखा है, जो भी हमने पहचाना है, वह सब जन्मा है, सब मरता है। लेकिन जन्म और मरण की इस प्रक्रिया को भी संभव होने के लिए इसके पीछे कोई, इस सब मरने और जन्मने कीशृंखला के पीछे--जैसे माला के गुरियों को कोई धागा पिरोता है; दिखाई नहीं पड़ता, गुरिए दिखाई पड़ते हैं--इस जन्म और मरण के गुरियों की लंबी माला को पिरोने वाला कोई अजात धागा भी चाहिए। अन्यथा गुरिए बिखर जाते हैं। टिक भी नहीं सकते, साथ खड़े भी नहीं हो सकते, उनमें कोई जोड़ भी नहीं हो सकता। दिखती है माला ऊपर से गुरियों की, होती नहीं है गुरियों की। गुरिए टिके होते हैं एक धागे पर, जो सब गुरियों के बीच से दौड़ता है।

जन्म है, मृत्यु है, आना है, जाना है, परिवर्तन है, इस सबके पीछे अजात सूत्र--अनबॉर्न, अनडाइंग; अजात, अमृत; न जो जन्मता, न जो मरता--ऐसा एक सूत्र चाहिए ही। वही अस्तित्व है, वही आत्मा है, वही परमात्मा है। सारे रूपांतरण के पीछे, सारे रूपों के पीछे, अरूप भी चाहिए। वह अरूप न हो, तो रूप टिक न सकेंगे।

फिल्म देखते हैं सिनेमागृह में बैठकर। प्रतिपल दौड़ते रहते हैं फिल्म के चित्र। चित्रों में कुछ होता नहीं बहुत। सिर्फ किरणों का जाल होता है। छाया-प्रकाश का जोड़ होता है। लेकिन पीछे एक परदा चाहिए। वह परदा बिल्कुल दिखाई नहीं पड़ता, जब तक फिल्म दौड़ती रहती है। उसे दिखाई पड़ना भी नहीं चाहिए। अगर वह दिखाई पड़े, तो फिल्म दिखाई न पड़ सके। जब तक फिल्म चलती रहती है, रूप आते और जाते रहते हैं, तब तक पीछे थिर खड़ा परदा दिखाई नहीं पड़ता।

लेकिन उस परदे को हटा दें, तो ये रूप कहीं भी प्रकट नहीं हो सकते, ये आकृतियां कहीं भी प्रकट नहीं हो सकतीं। इन आकृतियों की दौड़ती हुई परिवर्तन की इस लीला में पीछे कोई थिर परदा चाहिए, जो उन्हें सम्हाले। एक चित्र आएगा, तब भी परदा वही होगा। दूसरा चित्र आएगा, तब भी परदा वही होगा। तीसरा चित्र आएगा, तब भी परदा वही होगा। चित्र बदलते जाएंगे, परदा वही होगा। तभी इन चित्रों में एक संगति, तभी इन चित्रों में एकशृंखला, तभी इन चित्रों में एक संबंध दिखाई पड़ेगा। वह संबंध, पीछे जो थिर परदा है, उससे ही पैदा हो रहा है।

सारा जीवन चित्रों का फैलाव है। ये चित्र टिक नहीं सकते। जन्म भी एक चित्र है, मृत्यु भी एक चित्र है--जवानी भी, बुढ़ापा भी, सुख भी, दुख भी, सौंदर्य भी, कुरूपता भी, सफलता-असफलता भी--वह सब चित्रों की धारा है। उन चित्रों की धारा को सम्हालने के लिए कोई चाहिए, जो दिखाई नहीं पड़ेगा। उसको दिखाई पड़ने का उपाय नहीं है। जब तक चित्रों को आप देख रहे हैं, तब तक वह दिखाई नहीं पड़ेगा।

वह परदे की तरह जो पीछे खड़ा है, वही अस्तित्व है। उसे कृष्ण कहते हैं, वह अजात, अजन्मा; कभी जन्मता नहीं, कभी मरता नहीं। लेकिन भूलकर भी आप ऐसा मत समझ लेना कि यह आपके संबंध में कहा जा रहा है। आप तो जन्मते हैं और मरते हैं। और जिस आप के संबंध में यह कहा जा रहा है, उस आप का, आपको कोई भी पता नहीं है। जिस आप को आप जानते हैं, वह तो जन्मता है; उसकी तो जन्म-तारीख है; उसकी तो

मृत्यु की तिथि भी होगी। कब्र पर पत्थर लगेगा, तो उसमें जन्म और मृत्यु दोनों की तारीखें लग जाएंगी। लोग, जब आप जन्मे थे, तो बैंडबाजा बजाए थे, खुशी किए थे। जब मरेंगे, तो रोएंगे, दुखी होंगे। आप जितना अपने को जानते हैं, वह सिर्फ चित्रों का समूह है।

इसे थोड़ा वैज्ञानिक ढंग से भी समझना उपयोगी है कि क्या सच में ही जिसे आप जानते हैं, वह चित्रों का समूह है?

अब तो हम ब्रेनवाश कर सकते हैं। अब तो वैज्ञानिक रास्ते उपलब्ध हैं, जिनसे हम आपके चित्त की सारी स्मृति को पोंछ डाल सकते हैं। एक आदमी है पचास साल का, उसे पता है कि चार लड़कों का पिता है, पत्नी है, मकान है, यह उसका नाम है, यह उसकी वंशावली है। इस-इस पद पर रहा है, यह-यह काम किया है। सब पचास साल की कथा है। उसका ब्रेनवाश किया जा सकता है। उसके मस्तिष्क को हम साफ कर डाल सकते हैं। फिर भी वह होगा। लेकिन फिर वह यह भी न बता सकेगा कि मेरा नाम क्या है। और यह भी न बता सकेगा कि मेरे कितने लड़के हैं।

मेरे एक मित्र हैं डाक्टर। ट्रेन से गिर पड़े। चोट खाने से स्मृति चली गई। बचपन से मेरे साथी हैं, साथ मेरे पढ़े हैं। देखने उन्हें मैं उनके गांव गया। जाकर सामने बैठ गया; उन्होंने मुझे देखा और जैसे नहीं देखा। मैंने उनसे पूछा, पहचाना नहीं? उन्होंने कहा कि कौन हैं आप? उनके पिता ने कहा कि सारी स्मृति चली गई है; जब से ट्रेन से गिरे हैं, चोट लग गई, सारी स्मृति चली गई; कोई स्मरण नहीं है।

इस आदमी के पास इसका कोई अतीत नहीं है। चित्र खो गए। कल तक यह कहता था, मैं यह हूं, मेरा यह नाम है। अब वे सब चित्र खो गए। वह फिल्म वाश हो गई। वह सब धुल गया। अब यह खाली है--कोरा कागज। अब इस कोरे कागज पर फिर से लिखा जाएगा। अब उसकी नई स्मृति बननी शुरू हुई।

अभी जब दुबारा मैं मिलने गया, तो उसने कहा कि आपको पता ही होगा कि तीन साल पहले मैं गिर पड़ा, चोट लग गई। अब इस तीन साल की स्मृति फिर से निर्मित होनी शुरू हुई। लेकिन तीन साल के पहले वह कौन था, वह बात समाप्त हो गई। हां, उसे याद दिलाते हैं कि तुम डाक्टर थे, तो वह कहता है, आप लोग कहते हैं कि मैं डाक्टर था, लेकिन मुझे कुछ पता नहीं। मेरा इतिहास तो बस वहीं से समाप्त हो जाता है, जहां से वह घटना घट गई, जहां वह दुर्घटना घट गई।

आज चीन में तो कम्युनिस्ट ब्रेनवाश को एक पोलिटिकल, एक राजनैतिक उपाय बना लिए हैं। रूस में तो वह चल ही रहा है। अब आने वाली दुनिया में किसी राजनैतिक विरोधी को मारने की जरूरत नहीं होगी। क्योंकि इससे बड़ी हत्या और क्या हो सकती है कि उसके ब्रेन को वाश कर दो। विरोधी को पकड़ो और उसके मस्तिष्क को साफ कर दो। विद्युत के धक्कों से, और दूसरे केमिकल्स से, और दूसरी मानसिक प्रक्रियाओं से उसकी स्मृति को पोंछ डालो। फिर क्या बात है? समाप्त हो गई। अगर मार्क्स के दिमाग को साफ कर दो, तो कैपिटल साफ हो जाएगी। उसके दिमाग में जो है, वह मिट जाएगा। फिर उस आदमी की कोई आइडेंटिटी, उसका कोई तादात्म्य पीछे से नहीं रह जाएगा।

तो हम जिसे कहते हैं मैं, जो कभी पैदा हुआ, जो किसी का बेटा है, किसी का पिता है, किसी का पति है, यह सिर्फ चित्रों का संग्रह है, एलबम है; इससे ज्यादा नहीं है। अपना-अपना एलबम सम्हाले बैठे हैं। उसी को लौट-लौटकर देख लेते हैं; दूसरों को भी दिखा देते हैं, कोई घर में आता है, कि यह एलबम है। बाकी यह आप नहीं हैं।

अगर इस एलबम को आप समझते हों कि कृष्ण कह रहे हैं अजात, तो इस गलती में मत पड़ना। यह अजात नहीं है। यह तो जन्मा है। यह तो जात है। यह मरेगा भी। जो जन्मा है, वह मरेगा भी। जन्म एक छोर है, मृत्यु दूसरा अनिवार्य छोर है। आप तो मरेंगे ही।

इस बात को ठीक से समझ लें, तो शायद उस आप को खोजा जा सके, जो कि नहीं मरेगा। लेकिन हम इसी मैं को पकड़े रह जाते हैं, जो जन्मा है। यह मैं--यह मैं--मैं नहीं हूं। यह सिर्फ मेरे उस गहरे मैं पर इकट्ठे हो गए चित्र हैं, जिनसे मैं गुजरा हूं।

इसलिए जापान में झेन फकीर के पास जब कोई साधक जाता है और उससे पूछता है कि मैं क्या साधना करूं? तो वह कहता है कि तू यह साधना कर, अपना ओरिजनल फेस, जो जन्म के पहले तेरा चेहरा था, उसको खोजकर आ।

जन्म के पहले कहीं कोई चेहरा होता है! अब कोई आपसे कहने लगे, मरने के बाद जो आपकी शकल होगी, उसको खोजकर लाइए। कोई आपसे कहे कि जन्म के पहले जो आपकी शकल थी, वह खोजकर लाइए।

वे झेन फकीर ठीक कहते हैं। वे वही कहते हैं, जो कृष्ण कह रहे हैं। वे यह कहते हैं, उसका पता लगाओ, जो तुममें कभी जन्मा नहीं था। अगर ऐसे किसी सूत्र को तुम खोज सकते हो, जो जन्म के पहले भी था, तो विश्वास रखो फिर कि वह मृत्यु के बाद भी होगा। जो जन्म के पहले था, उसे मृत्यु नहीं पोंछ सकेगी। जो जन्म के पहले था, वह मृत्यु के बाद भी होगा। और जो जन्म के बाद ही हुआ है, वह मृत्यु के पहले तक ही साथी हो सकता है, उसके आगे साथी नहीं हो सकता है।

कृष्ण जब कह रहे हैं कि कोई है अजन्मा, नहीं जन्मता, नहीं मरता, जिसे शस्त्रों से छेदा नहीं जा सकता...
।

आपको, मुझे छेदा जा सकता है। इसलिए ध्यान रखना, जिसे छेदा जा सकता है, कृष्ण उसके संबंध में बात नहीं कर रहे हैं। वे कहते हैं कि जिसे छेदा नहीं जा सकता शस्त्रों से, आग में जलाया नहीं जा सकता, पानी में डुबाया नहीं जा सकता।

हमें तो छेदा जा सकता है; कोई कठिनाई नहीं है छेदे जाने में। आग में जलाए जाने में कोई कठिनाई नहीं है। पानी में डुबाए जाने में कोई कठिनाई नहीं है।

तो जो पानी में डुबाया जा सकता, आग में जलाया जा सकता, शस्त्रों से छेदा जा सकता, उसकी यह चर्चा नहीं है। जिसके ऊपर सर्जन कुछ कर सकता है, उसकी यह चर्चा नहीं है। जिसके लिए डाक्टर कुछ कर सकता है, उसकी यह चर्चा नहीं है। डाक्टर जिससे उलझा है, वह मर्त्य है। और सर्जन जिस पर काम कर रहा है, वह मरणधर्मा है। विज्ञान की प्रयोगशाला में जिस पर खोज-बीन हो रही है, वह मरणधर्मा है। इससे उसका कोई लेना-देना नहीं है।

इसलिए अगर वैज्ञानिक सोचता हो कि अपनी प्रयोगशाला की टेबल पर किसी दिन वह कृष्ण के अजात को, अजन्मे को, अमृत को पकड़ लेगा, तो भूल में पड़ा है। वह कभी पकड़ नहीं पाएगा। उसके सब सूक्ष्मतम औजार उसको ही पकड़ पाएंगे, जो छेदा जा सकता है। लेकिन जो नहीं छेदा जा सकता, अगर वह दिखाई पड़ जाए... वह दिखाई पड़ सकता है। वह दिखाई पड़ सकता है।

सिकंदर हिंदुस्तान आया। जब हिंदुस्तान से वापस लौटता था, तो हिंदुस्तान की सीमा को छोड़ते वक्त उसके मित्रों ने याद दिलाया कि जब हम यूनान से चले थे, तो यूनान के दार्शनिकों ने कहा था कि हिंदुस्तान से एक संन्यासी को लेते आना।

अब संन्यासी जो है, वह सच यह है कि जगत को हिंदुस्तान की देन है, अकेली देन है। पर काफी है। सारे जगत की सारी देनें भी इकट्ठी कर ली जाएं, तो एक संन्यासी भी हमने जगत को दिया, तो हमने बैलेंस पूरा कर दिया है। और शायद जिस दिन दुनिया की सब देनें बेकार सिद्ध हो जाएंगी, उस दिन हमारा दिया संन्यास ही सारी दुनिया के लिए अर्थ का हो सकता है।

तो याद दिलाई मित्रों ने सिकंदर को कि एक संन्यासी को तो ले चलें। बहुत चीजें लूट ली हैं। धन लूट लिया, लेकिन धन वहां भी है। बहुमूल्य चीजें, हीरे-जवाहरात ले जा रहे हैं, लेकिन वे वहां भी हैं। एक संन्यासी को भी ले चलें, जो वहां नहीं है। सिकंदर ने सोचा कि जैसे और चीजें ले जाई जा सकती हैं, वैसे ही संन्यासी को ले जाने में क्या तकलीफ है! उसने कहा कि जाओ, पकड़ लाओ, कहीं कोई संन्यासी हो।

गांव में लोग गए, गांव में पूछा कि कोई संन्यासी है? लोगों ने कहा, संन्यासी तो है, लेकिन प्रयोजन क्या है? तुम्हारे ढंग संन्यासी के पास पहुंचने जैसे नहीं मालूम पड़ते! नंगी तलवारें हाथ में लिए हो, पागल मालूम पड़ते हो; क्या बात है? तो उन्होंने कहा कि पागल नहीं, हम सिकंदर के सिपाही हैं। और किसी संन्यासी को पकड़कर हम यूनान ले जाना चाहते हैं।

तो उन लोगों ने कहा कि जो संन्यासी तुम्हारी पकड़ में आ जाए, समझना कि संन्यासी नहीं है। जाओ, हालांकि गांव में एक संन्यासी है, हम तुम्हें उसका पता दिए देते हैं। नदी के किनारे तीस वर्षों से एक आदमी नग्न रहता है। जैसा हमने सुना है, जैसा हमने उसे देखा है, जैसा इन तीस वर्षों में हमने उसे जाना है, हम कह सकते हैं कि वह संन्यासी है। लेकिन तुम उसे पकड़ न पाओगे। पर, उन्होंने कहा, दिक्कत क्या है? तलवारें हमारे पास, जंजीरें हमारे पास! उन्होंने कहा, तुम जाओ, उसी से निपटो।

वे गए। उस संन्यासी से उन्होंने कहा कि महान सिकंदर की आज्ञा है कि हमारे साथ चलो। हम तुम्हें सम्मान देंगे, सत्कार देंगे, शाही व्यवस्था देंगे। यूनान तुम्हें ले जाना है। कोई पीड़ा नहीं, कोई दुख नहीं, कोई रास्ते में तकलीफ नहीं होने देंगे। वह संन्यासी हंसने लगा। उसने कहा कि अगर सत्कार ही मुझे चाहिए होता, अगर स्वागत ही मुझे चाहिए होता, अगर सुख ही मुझे चाहिए होता, तो मैं संन्यासी कैसे होता? छोड़ो! सपने की बातें मत करो। मतलब की बात कहो।

तो उन्होंने कहा कि मतलब की बात यह है कि अगर नहीं जाओगे, तो हम जबरदस्ती पकड़कर ले जाएंगे। तो उस संन्यासी ने कहा कि जिसे तुम पकड़कर ले जाओगे, वह संन्यासी नहीं है। संन्यासी परम स्वतंत्र है; उसे कोई पकड़कर नहीं ले जा सकता। उन्होंने कहा, हम मार डालेंगे। तो उस संन्यासी ने कहा, वह तुम कर सकते हो। लेकिन मैं तुमसे कहता हूं कि तुम मारोगे, लेकिन भ्रम में रहोगे, क्योंकि तुम जिसे मारोगे, वह मैं नहीं हूं। तुम अपने सिकंदर को ही लिवा लाओ। शायद उसकी कुछ समझ में आ जाए।

वे सिपाही सिकंदर को बुलाने आए। सिकंदर से उन्होंने कहा कि अजीब आदमी है। वह कहता है, मार डालो, तो भी जिसे तुम मारोगे, वह मैं नहीं हूं। कौन है फिर वह, सिकंदर ने कहा, हमने तो ऐसा कोई आदमी नहीं देखा, जो मारने के बाद बचता हो। बचेगा कैसे? अब सिकंदर अनुभव से कहता था, हजारों लोग मारे थे उसने। उसने कहा, मैंने कभी किसी आदमी को मरने के बाद बचते नहीं देखा!

गया, नंगी तलवार उसके हाथ में है। संन्यासी से उसने कहा कि चलना पड़ेगा। अन्यथा यह तलवार गरदन और शरीर को अलग कर देगी। वह संन्यासी खिलखिलाकर हंसने लगा। और उसने कहा कि जिस गरदन और शरीर के अलग करने की तुम बात कर रहे हो, उसे मैं बहुत पहले, अलग है, ऐसा जान चुका हूं। इसलिए

अब तुम और ज्यादा अलग न कर सकोगे। इतनी अलग जान चुका हूं कि तुम्हारी तलवार के लिए बीच में से गुजर जाने के लिए काफी फासला है, जगह है। काफी अलग जान चुका हूं, अब तुम और अलग न कर सकोगे।

सिकंदर को क्या समझ में आतीं ये बातें! उसने तलवार उठा ली। उसने कहा, मैं अभी काट दूंगा। देखो, सिद्धांतों की बातों में मत पड़ो। फिलासफी से मुझे बहुत लेना-देना नहीं है। मैं आदमी व्यावहारिक हूं, प्रैक्टिकल हूं। ये ऊंची बातें छोड़ो। एक झटका और गरदन अलग हो जाएगी। सिकंदर से उस संन्यासी ने कहा, तुम मारो तलवार। जिस तरह तुम देखोगे कि गरदन नीचे गिर गई, उसी तरह हम भी देखेंगे कि गरदन नीचे गिर गई।

अब यह जो आदमी है, यह कह रहा है वही, जो कृष्ण कह रहे हैं--छेदने से छिदता नहीं, काटने से कटता नहीं। इसलिए जब तक आप छेदने से छिद जाते हों और काटने से कट जाते हों, तब तक जानना, अभी अपने होने का पता नहीं चला। जब छेदने से शरीर छिद जाता हो और भीतर अनछिदा कुछ रह जाता हो; जब काटने से शरीर कट जाता हो और भीतर अनकटा कुछ शेष रह जाता हो; जब बीमार होने से शरीर बीमार हो जाता हो और भीतर बीमारी के बाहर कोई रह जाता हो; जब दुख आता हो तो शरीर दुख से भर जाता हो और भीतर दुख के पार कोई खड़ा देखता रह जाता हो--तब जानना कि कृष्ण जिस आप की बात कर रहे हैं, उस आप का अब तक आपको भी पता नहीं था।

अर्जुन वही बात कर रहा है, जो सिकंदर कर रहा है। टाइप भी उनका एक ही है। उनके टाइप में भी बहुत फर्क नहीं है--शरीर ही। लेकिन हम सबका भी टाइप वही है।

निरंतर खोजते रहना! कांटा तो चुभता है रोज पैर में, तब जरा देखना कि अनचुभा भी भीतर कोई रह गया? बीमारी तो आती है रोज, जरा भीतर देखना, बीमारी के बाहर कोई बचा? दुख आता है रोज; रोना, हंसना, सब आता है रोज। देखना, देखना, खोजना उसे, जो इनके बाहर बच जाता है।

धीरे-धीरे खोजने से वह दिखाई पड़ने लगता है। और जब एक बार दिखाई पड़ता है, तो पता चलता है कि जिसे हमने अब तक समझा था कि मैं हूं, वह सिर्फ छाया थी, सिर्फ शैडो थी। छाया को ही समझा था कि मैं हूं और उसका हमें कोई पता ही नहीं था, जिसकी छाया बन रही है। छाया के साथ ही एक होकर जीए थे। वह छाया हमारी स्मृतियों का जोड़ है, हमारे जन्म से लेकर मृत्यु तक बने हुए चित्रों का एलबम है।

वेदाविनाशिनं नित्यं य एनमजमव्ययम्।
कथं स पुरुषः पार्थ कं घातयति हन्तिकम्।। 21।।

हे पृथापुत्र अर्जुन, जो पुरुष इस आत्मा को नाशरहित, नित्य, अजन्मा और अव्यय जानता है, वह पुरुष कैसे किसको मरवाता है और कैसे किसको मारता है।

जानता है! कृष्ण कहते हैं, जो ऐसा जानता है--हू नोज लाइक दिस। नहीं कहते हैं कि जो ऐसा मानता है--हू बिलीव्स लाइक दिस। कह सकते थे कि जो पुरुष ऐसा मानता है कि न जन्म है, न मृत्यु है। तब तो हम सबको भी बहुत आसानी हो जाए। मानने से ज्यादा सरल कुछ भी नहीं है, क्योंकि मानने के लिए कुछ भी नहीं करना पड़ता। जानने से ज्यादा कठिन कुछ भी नहीं है, क्योंकि जानने के लिए तो पूरी आत्म-क्रांति से गुजर जाना पड़ता है।

कृष्ण कहते हैं, जो पुरुष ऐसा जानता है। इस जानने शब्द को ठीक से पहचान लेना जरूरी है। क्योंकि सारा धर्म जानने शब्द को छोड़कर मानने शब्द के इर्द-गिर्द घूम रहा है। सारा धर्म, सारी पृथ्वी पर बहुत-बहुत

नामों से जो धर्म प्रचलित है, वह सब मानने के आस-पास घूम रहा है। वह सारा धर्म कह रहा है, मानो ऐसा, मानोगे तो हो जाएगा। लेकिन कृष्ण कहते हैं, जो जानता है।

अब जानने का क्या मतलब? जानना भी दो तरह से हो सकता है। शास्त्र से कोई पढ़ ले, तो भी जान लेता है। अनुभव से कोई जाने, तो भी जान लेता है। क्या ये दोनों जानना एक ही अर्थ रखते हैं? शास्त्र से जानना तो बड़ा सरल है। लिखा है, पढ़ा और जाना। उसके लिए सिर्फ शिक्षित होना काफी है, पठित होना काफी है। उसके लिए धार्मिक होने की कोई जरूरत नहीं है। शास्त्र से पढ़कर जो जानना है, वह जानना नहीं है, जानने का धोखा है। वह सिर्फ इन्फर्मेशन है, सूचना है।

लेकिन सूचना से धोखे हो जाते हैं। पढ़ लेते हैं, अजर है, अमर है; नहीं जन्मता, नहीं मरता; पढ़ लेते हैं, दोहरा लेते हैं। बार-बार दोहरा लेने से भूल जाते हैं कि जानते नहीं हैं, सिर्फ दोहराते हैं। बहुत बार-बार दोहराने से, बहुत बार-बार दोहराने से बात ही भूल जाती है कि जो हम कह रहे हैं, वह अपना जानना नहीं है।

एक आदमी शास्त्र में पढ़ ले तैरने की कला; जान ले पूरा शास्त्र। चाहे तो तैरने पर बोल सके, बोले; लिख सके तो लिखे। चाहे तो कोई युनिवर्सिटी से पीएचड़ी. ले ले। डाक्टर हो जाए तैरने के संबंध में। लेकिन फिर भी उस आदमी को भूलकर नदी में धक्का मत देना। क्योंकि उसकी पीएचड़ी. तैरा न सकेगी। उसकी पीएचड़ी. और जल्दी डुबा देगी, क्योंकि काफी वजनी होती है, पत्थर का काम करेगी।

तैरने के संबंध में जानना, तैरना जानना नहीं है। सत्य के संबंध में जानना, सत्य जानना नहीं है। टु नो अबाउट, संबंध में जानना, इ.ज इक्कीवेलेंट, बिल्कुल बराबर है न जानने के। सत्य के संबंध में जानना, सत्य को न जानने के बराबर है। लेकिन एकदम बराबर कहना ठीक नहीं है, थोड़ा खतरा है। सत्य को न जानना, ऐसा जानना, सत्य की तरफ जाने में राह बन जाती है। लेकिन सत्य को बिना जानते हुए जान लेना कि जानते हैं, सत्य की तरफ जाने में बाधा बन जाती है। नहीं, इक्कीवेलेंट भी नहीं है।

कृष्ण के इस शब्द को बहुत ठीक से समझ लेना चाहिए। क्योंकि इस एक शब्द के आस-पास ही आथेंटिक रिलीजन, वास्तविक धर्म का जन्म होता है--जानने। मानने के आस-पास नान-आथेंटिक, अप्रामाणिक धर्म का जन्म होता है। जानने से जो उपलब्ध होता है, उसका नाम श्रद्धा है। और मानने से जो उपलब्ध होता है, उसका नाम विश्वास है, बिलीफ है। और जो लोग विश्वासी हैं, वे धार्मिक नहीं हैं; वे बिना जाने मान रहे हैं।

यह शब्द बहुत छोटा नहीं है, बड़े से बड़ा शब्द है। लेकिन भ्रांति इसके साथ निरंतर होती रहती है। हमारे पास एक शब्द है, वेद; वेद का अर्थ है, जानना। लेकिन हम तो वेद से मतलब लेते हैं, संहिता, वह जो किताब है। हमने कहा है, वेद अपौरुषेय है, जानना अपौरुषेय है। लेकिन हम मतलब लेते हैं कि वह जो किताब है हमारे पास, वेद नाम की, वह परमात्मा की लिखी हुई है।

वेद किताब नहीं है, वेद जीवन है। लेकिन जानने को मानना बना लेना बड़ा आसान है, ज्ञान को किताब बना लेना बड़ा आसान है, जानने को शास्त्र पर निर्भर कर देना बहुत आसान है। क्योंकि तब बहुत कुछ करना नहीं पड़ता, जानने की जगह केवल स्मृति की जरूरत होती है। बस, याद कर लेना काफी होता है। तो बहुत लोग गीता याद कर रहे हैं!

मैं एक गांव में गया था अभी, तो वहां उन्होंने एक गीता-मंदिर बनाया है। मैंने पूछा, एक छोटी-सी गीता के लिए इतना बड़ा मंदिर? तो उन्होंने कहा कि नहीं, जगह कम पड़ रही है। मैंने कहा, क्या कर रहे हैं यहां आप? उन्होंने कहा कि अब तक हम यहां एक लाख गीता लिखवाकर हाथ से रखवा चुके हैं। अब जगह कम पड़ रही है। हिंदुस्तान भर में हजारों लोग गीता लिख-लिखकर भेज रहे हैं। मैंने कहा, लेकिन यह क्या हो रहा है?

इससे क्या होगा? उन्होंने कहा कि कोई आदमी दस दफे लिख चुका, कोई पचास दफे लिख चुका, कोई सौ दफे लिख चुका--लिखने से ज्ञान होगा।

तो मैंने उनसे कहा, छापेखाने तो परम ज्ञानी हो गए होंगे। कंपोजिटरों के तो हमको चरण पकड़ लेना चाहिए, कंपोजिटर जहां मिल जाएं; क्योंकि कितनी गीताएं छाप चुके वे! अब महात्माओं की तलाश प्रेस में करनी चाहिए, मुद्रणशाला में करनी चाहिए, अब और कहीं नहीं करनी चाहिए।

यह पागलपन क्यों पैदा होता है? होने का कारण है। ऐसा लगता है, शास्त्र से जानना हो जाएगा। शास्त्र से सूचना मिल सकती है, इन्फर्मेशन मिल सकती है, इशारे मिल सकते हैं, ज्ञान नहीं मिल सकता। ज्ञान तो जीवन के अनुभव से ही मिलेगा। और जब तक जीवन के अनुभव से यह पता न चल जाए कि हमारे भीतर कोई अजन्मा है, तब तक रुकना मत, तब तक कृष्ण कितना ही कहें, मान मत लेना। कृष्ण के कहने से इतना ही जानना कि जब इतने जोर से यह आदमी कह रहा है, तो खोजें, तो लगाएं पता। जब इतने आश्वासन से यह आदमी भरा है, इतने सहज आश्वासन से कह रहा है; जाना है इसने, जीया है कुछ, देखा है कुछ। हम भी देखें, हम भी जानें, हम भी जीएं। काश! शास्त्र इशारा बन जाए और हम यात्रा पर निकल जाएं। लेकिन शास्त्र मंदिर बन जाता है और हम विश्राम को उपलब्ध हो जाते हैं।

इस जानने शब्द को स्मरण रखना, क्योंकि पीछे कृष्ण उस पर बार-बार, गहरे से गहरा जोर देते हैं।

वासांसि जीर्णानि यथा विहाय
नवानि गृह्णाति नरोऽपराणि।
तथा शरीराणि विहाय जीर्णा-
न्यन्यानि संयाति नवानि देही।। 22।।

और यदि तू कहे कि मैं तो शरीरों के वियोग का शोक करता हूं, तो यह भी उचित नहीं है; क्योंकि जैसे मनुष्य पुराने वस्त्रों को त्यागकर, दूसरे नए वस्त्रों को ग्रहण करता है, वैसे ही जीवात्मा पुराने शरीर को त्यागकर दूसरे नए शरीरों को प्राप्त होता है।

वस्त्रों की भांति, जीर्ण हो गए वस्त्रों की भांति शरीर को छोड़ती है आत्मा, नए शरीरों को ग्रहण करती है। लेकिन वस्त्रों की भांति! हमने कभी अपने शरीर को वस्त्र की भांति अनुभव किया? ऐसा जिसे हमने ओढ़ा हो? ऐसा जिसे हमने पहना हो? ऐसा जो हमारे बाहर हो? ऐसा जिसके हम भीतर हों? कभी हमने वस्त्र की तरह शरीर को अनुभव किया?

नहीं, हमने तो अपने को शरीर की तरह ही अनुभव किया है। जब भूख लगती है, तो ऐसा नहीं लगता कि भूख लगी है--ऐसा मुझे पता चल रहा है। ऐसा लगता है, मुझे भूख लगी। जब सिर में दर्द होता है, तो ऐसा नहीं लगता है कि सिर में दर्द हो रहा है--ऐसा मुझे पता चल रहा है।

नहीं, ऐसा लगता है, मेरे सिर में दर्द हो रहा है, मुझे दर्द हो रहा है। तादात्म्य, आइडेंटिटी गहरी है। ऐसा नहीं लगता कि मैं और शरीर ऐसा कुछ दो हैं। ऐसा लगता है, शरीर ही मैं हूं।

कभी आंख बंद करके यह देखा, शरीर की उम्र पचास वर्ष हुई, मेरी कितनी उम्र है? कभी आंख बंद करके दो क्षण सोचा, शरीर की उम्र पचास साल हुई, मेरी कितनी उम्र है? कभी आंख बंद करके चिंतन किया कि

शरीर का तो ऐसा चेहरा है, मेरा कैसा चेहरा है? कभी सिर में दर्द हो रहा हो तो आंख बंद करके खोज-बीन की कि यह दर्द मुझे हो रहा है या मुझसे कहीं दूर हो रहा है?

पिछले महायुद्ध में एक बहुत अदभुत घटना घटी। फ्रांस में एक अस्पताल में एक आदमी भरती हुआ--युद्ध में बहुत आहत, चोट खाकर। उसका पूरा का पूरा पैर जख्मी हो गया। अंगूठे में उसे भयंकर पीड़ा है। चीखता है, चिल्लाता है, बेहोश हो जाता है। होश आता है, फिर चीखता और चिल्लाता है। रात उसे डाक्टरों ने बेहोश करके घुटने से नीचे का पूरा पैर काट डाला। क्योंकि उसके पूरे शरीर के विषाक्त हो जाने का डर था।

चौबीस घंटे बाद वह होश में आया। होश में आते ही उसने चीख मारी। उसने कहा, मेरे अंगूठे में बहुत दर्द हो रहा है! अंगूठा अब था ही नहीं। पास खड़ी नर्स हंसी और उसने कहा, जरा सोचकर कहिए। सच, अंगूठे में दर्द हो रहा है? उसने कहा, क्या मजाक कर रहा हूं? अंगूठे में मुझे बहुत भयंकर दर्द हो रहा है। कंबल पड़ा है उसके पैर पर, उसे दिखाई तो पड़ता नहीं।

उस नर्स ने कहा, और जरा सोचिए, थोड़ा भीतर खोज-बीन करिए। उसने कहा, खोज-बीन की बात क्या है, दर्द इतना साफ है। नर्स ने कंबल उठाया और कहा, देखिए अंगूठा कहां है? अंगूठा तो नहीं था। आधा पैर ही नहीं था। पर उस आदमी ने कहा कि देख तो रहा हूं कि अंगूठा नहीं है, आधा पैर भी कट गया है, लेकिन दर्द फिर भी मुझे अंगूठे में हो रहा है।

तब तो एक मुश्किल की बात हो गई। चिकित्सक बुलाए गए। चिकित्सकों के सामने भी पहली दफा ऐसा सवाल आया था। जो अंगूठा नहीं है, उसमें दर्द कैसे हो सकता है? लेकिन फिर जांच-पड़ताल की, तो पता चला कि हो सकता है। जो अंगूठा नहीं है, उसमें भी दर्द हो सकता है। यह बड़ी मेटाफिजिकल बात हो गई, यह तो बड़ा अध्यात्म हो गया। डाक्टरों ने पूरी जांच-पड़ताल की, तो लिखा कि वह आदमी ठीक कह रहा है, दर्द उसे अंगूठे में हो रहा है।

तब तो उस आदमी ने भी कहा कि क्या मजाक कर रहे हैं! पहले उन्होंने उससे कहा था, क्या मजाक कर रहे हो? फिर उस आदमी ने कहा कि कैसी मजाक कर रहे हैं! मैं जरूर किसी भ्रम में पड़ गया होऊंगा। लेकिन आप भी कहते हैं कि दर्द हो सकता है उस अंगूठे में, जो नहीं है! तो डाक्टरों ने कहा, हो सकता है। क्योंकि दर्द अंगूठे में होता है, पता कहीं और चलता है। अंगूठे और पता चलने की जगह में बहुत फासला है। जहां पता चलता है, वह चेतना है। जहां दर्द होता है, वह अंगूठा है। दर्द से चेतना तक संदेश लाने के लिए जिन स्नायुओं का काम रहता है, भूल से वे स्नायु अभी तक खबर दे रहे हैं कि दर्द हो रहा है।

जब अंगूठे में दर्द होता है, तो उससे जुड़े हुए स्नायुओं के तंतु कंपने शुरू हो जाते हैं। कंपन से ही वे खबर पहुंचाते हैं। जैसे टिक-टिक, टिक-टिक से टेलिग्राफ में खबर पहुंचाई जाती है, ऐसा ही कंपित होकर वे स्नायु खबर पहुंचाते हैं। कई हेड आफिसेज से गुजरती है वह खबर आपके मस्तिष्क तक आने में। फिर मस्तिष्क चेतना तक खबर पहुंचाता है। इसमें कई ट्रांसफार्मेशन होते हैं। कई कोड लैंग्वेज बदलती हैं। कई बार कोड बदलता है, क्योंकि इन सबकी भाषा अलग-अलग है।

तो कुछ ऐसा हुआ कि अंगूठा तो कट गया, लेकिन जो संदेशवाहक नाड़ियां खबर ले जा रही थीं, वे कंपती ही रहीं। वे कंपती रहीं, तो संदेश पहुंचता रहा। संदेश पहुंचता रहा और मस्तिष्क कहता रहा कि अंगूठे में दर्द हो रहा है।

क्या ऐसा हो सकता है कि हम एक आदमी के पूरे शरीर को अलग कर लें और सिर्फ मस्तिष्क को निकाल लें? अब तो हो जाता है। पूरे शरीर को अलग किया जा सकता है। मस्तिष्क को बचाया जा सकता है, अकेले

मस्तिष्क को। अगर एक आदमी को हम बेहोश करें और उसके पूरे शरीर को अलग करके उसके मस्तिष्क को प्रयोगशाला में रख लें और अगर मस्तिष्क से हम पूछ सकें कि तुम्हारा शरीर के बाबत क्या ख्याल है? तो वह कहेगा कि सब ठीक है। कहीं कोई दर्द नहीं हो रहा है। शरीर है ही नहीं। वह कहेगा, सब ठीक है।

शरीर का जो बोध है, वह कृष्ण कहते हैं, वस्त्र की भांति है। लेकिन वस्त्र ऐसा, जिससे हम इतने चिपट गए हैं कि वह वस्त्र नहीं रहा, हमारी चमड़ी हो गया। इतने जोर से चिपट गए हैं, इतना तादात्म्य है जन्मों-जन्मों का, कि शरीर ही मैं हूं, ऐसी ही हमारी पकड़ हो गई है। जब तक यह शरीर और मेरे बीच डिस्टेंस, फासला पैदा नहीं होता, तब तक कृष्ण का यह सूत्र समझ में नहीं आएगा कि जीर्ण वस्त्रों की भांति... ।

यह, थोड़े-से प्रयोग करें, तो ख्याल में आने लगेगा। बहुत ज्यादा प्रयोग नहीं, बहुत थोड़े-से प्रयोग। सत्य तो यही है, जो कहा जा रहा है। असत्य वह है, जो हम माने हुए हैं। लेकिन माने हुए असत्य वास्तविक सत्यों को छिपा देते हैं। माना हुआ है हमने, वह हमारी मान्यता है। और बचपन से हम सिखाते हैं और मान्यताएं घर करती चली जाती हैं।

हमने माना हुआ है कि मैं शरीर हूं। शरीर सुंदर होता है, तो हम मानते हैं, मैं सुंदर हूं। शरीर स्वस्थ होता है, तो हम मानते हैं, मैं स्वस्थ हूं। शरीर को कुछ होता है, तो हम मैं के साथ एक करके मानते हैं। फिर यह प्रतीति गहरी होती चली जाती है, यह स्मृति सघन हो जाती है। फिर शरीर वस्त्र नहीं रह जाता, हम ही वस्त्र हो जाते हैं।

एक मेरे मित्र हैं। वृद्ध हैं, सीढ़ियों से पैर फिसल पड़ा उनका। पैर में बहुत चोट पहुंची। कोई पचहत्तर साल के वृद्ध हैं। गया उनके गांव तो लोगों ने कहा, तो मैं उन्हें देखने गया। बहुत कराहते थे और डाक्टरों ने तीन महीने के लिए उनको बिस्तर पर सीधा बांध रखा था। और कहा कि तीन महीने हिलना-डुलना नहीं। सक्रिय आदमी हैं, पचहत्तर साल की उम्र में भी बिना भागे-दौड़े उन्हें चैन नहीं। तीन महीने तो उनको ऐसा अनंत काल मालूम होने लगा।

मैं मिलने गया, तो कोई छह-सात दिन हुए थे। रोने लगे। हिम्मतवर आदमी हैं। कभी आंख उनकी आंसुओं से भरेगी, मैंने सोचा नहीं था। एकदम असहाय हो गए और कहा कि इससे तो बेहतर है, मैं मर जाता। ये तीन महीने इस तरह बंधे हुए! यह तो बिल्कुल नर्क हो गया। यह मैं न गुजार सकूंगा। मुझसे बोले, मेरे लिए प्रार्थना करिए कि भगवान मुझे उठा ही ले। अब जरूरत भी क्या है। अब काफी जी भी लिया। अब ये तीन महीने इस खाट पर बंधे-बंधे ज्यादा कठिन हो जाएंगे। तकलीफ भी बहुत है, पीड़ा भी बहुत है।

मैंने उनसे कहा, छोटा-सा प्रयोग करें। आंख बंद कर लें और पहला तो यह काम करें कि तकलीफ कहां है, एक्जेक्ट पिन प्वाइंट करें कि तकलीफ कहां है। वे बोले, पूरे पैर में तकलीफ है। मैंने कहा कि थोड़ा आंख बंद करके खोज-बीन करें, सच में पूरे पैर में तकलीफ है?

क्योंकि आदमी को एग्जाजरेट करने की, बढ़ाने की आदत है। न तो इतनी तकलीफ होती है, न इतना सुख होता है। हम सब बढ़ाकर देखते हैं। आदमी के पास मैग्नीफाइंग माइंड है। उसके पास--जैसे कि कांच होता है न, चीजों को बड़ा करके बता देता है--ऐसी खोपड़ी है। हर चीज को बड़ा करके देखता है। कोई फूलमाला पहनाता है, तो वह समझता है कि भगवान हो गए। कोई जरा हंस देता है, तो वह समझता है कि गए, सब इज्जत पानी में मिल गई। मैग्नीफाइंग ग्लास का काम उसका दिमाग करता है।

मैंने कहा, जरा खोजें। मैं नहीं मानता कि पूरे पैर में दर्द हो सकता है। क्योंकि पूरे पैर में होता, तो पूरे शरीर में दिखाई पड़ता। जरा खोजें।

आंख बंद करके उन्होंने खोजना शुरू किया। पंद्रह मिनट बाद मुझसे कहा कि हैरानी की बात है। दर्द जितनी जगह फैला हुआ दिखाई पड़ता था, इतनी जगह है नहीं। बस, घुटने के ठीक पास मालूम पड़ता है। मैंने कहा, कितनी जगह घेरता होगा? उन्होंने कहा कि जैसे कोई एक बड़ी गेंद के बराबर जगह। मैंने कहा, और थोड़ा खोजें। और थोड़ा खोजें। उन्होंने फिर आंख बंद कर ली। और अब तो आश्वस्त थे, क्योंकि दर्द इतना सिकुड़ा कि सोचा भी नहीं था कि मन ने इतना फैलाया होगा। और खोजा। पंद्रह मिनट मैं बैठा रहा। वे खोजते चले गए।

फिर उन्होंने आंख नहीं खोली। चालीस मिनट, पैंतालीस मिनट--और उनका चेहरा मैं देख रहा हूं; और उनका चेहरा बदलता जा रहा है। कोई सत्तर मिनट बाद उन्होंने आंख खोली और कहा, आश्चर्य है कि वह तो ऐसा रह गया, जैसे कोई सुई चुभाता हो इतनी जगह में। फिर मैंने कहा, फिर क्या हुआ? आपको जवाब देना था; मुझे जल्दी जाना है; मैं सत्तर मिनट से बैठा हुआ हूं; आप आंख नहीं खोले। उन्होंने कहा कि जब वह इतना सिकुड़ गया कि ऐसा लगने लगा कि बस, एक जरा-सा बिंदु जहां पिन चुभाई जा रही हो, वहीं दर्द है, तो मैं उसे और गौर से देखने लगा। मैंने सोचा, जो इतना सिकुड़ सकता है, वह खो भी सकता है। और ऐसे क्षण आने लगे कि कभी मुझे लगे कि नहीं है। और कभी लगे कि है, कभी लगे कि खो गया। और एक क्षण लगे कि सब ठीक है, और एक क्षण लगे कि वापस आ गया।

फिर मैंने कहा कि फिर भी मुझे खबर कर देनी थी, तो मैं जाता। उन्होंने कहा, लेकिन एक और नई घटना घटी, जिसके लिए मैं सोच ही नहीं रहा था। वह घटना यह घटी कि जब मैंने इतने गौर से दर्द को देखा, तो मुझे लगा कि दर्द कहीं बहुत दूर है और मैं कहीं बहुत दूर हूं। दोनों के बीच बड़ा फासला है। तो मैंने कहा, अब ये तीन महीने इसका ही ध्यान करते रहें। जब भी दर्द हो, फौरन आंख बंद करें और ध्यान में लग जाएं।

तीन महीने बाद वे मुझे मिले तो उन्होंने पैर पकड़ लिए। फिर रोए, लेकिन अब आंसू आनंद के थे। और उन्होंने कहा, भगवान की कृपा है कि मरने के पहले तीन महीने खाट पर लगा दिया, अन्यथा मैं कभी आंख बंद करके बैठने वाला आदमी नहीं हूं। लेकिन इतना आनंद मुझे मिला है कि मैं जीवन में सिर्फ इसी घटना के लिए अनुगृहीत हूं परमात्मा का।

मैंने कहा, क्या हुआ आपको? उन्होंने कहा, यह दर्द को मिटाते-मिटाते मुझे पता चला कि दर्द तो जैसे दीवार पर हो रहा है घर की और मैं तो घर का मालिक हूं, बहुत अलग!

शरीर को भीतर से जानना पड़े, फ्राम दि इंटीरियर। हम अपने शरीर को बाहर से जानते हैं। जैसे कोई आदमी अपने घर को बाहर से जानता हो। हमने कभी शरीर को भीतर से फील नहीं किया है; बाहर से ही जानते हैं। यह हाथ हम देखते हैं, तो यह हम बाहर से ही देखते हैं। वैसे ही जैसे आप मेरे हाथ को देख रहे हैं बाहर से, ऐसे ही मैं भी अपने हाथ को बाहर से जानता हूं। हम सिर्फ फ्राम दि विदाउट, बाहर से ही परिचित हैं अपने शरीर से। हम अपने शरीर को भी भीतर से नहीं जानते। फर्क है दोनों बातों में। घर के बाहर से खड़े होकर देखें तो बाहर की दीवार दिखाई पड़ती है, घर के भीतर से खड़े होकर देखें तो घर का इंटीरियर, भीतर की दीवार दिखाई पड़ती है।

इस शरीर को जब तक बाहर से देखेंगे, तब तक जीर्ण वस्त्रों की तरह, वस्त्रों की तरह यह शरीर दिखाई नहीं पड़ सकता है। इसे भीतर से देखें, इसे आंख बंद करके भीतर से एहसास करें कि शरीर भीतर से कैसा है? इनर लाइनिंग कैसी है? कोट के भीतर की सिलाई कैसी है? बाहर से तो ठीक है, भीतर से कैसी है? इसकी भीतर की रेखाओं को पकड़ने की कोशिश करें। और जैसे-जैसे साफ होने लगेगा, वैसे-वैसे लगेगा कि जैसे एक

दीया जल रहा है और उसके चारों तरफ एक कांच है। अब तक कांच से ही हमने देखा था, तो कांच ही मालूम पड़ता था कि ज्योति है। जब भीतर से देखा तो पता चला कि ज्योति अलग है, कांच तो केवल बाहरी आवरण है।

और एक बार एक क्षण को भी यह एहसास हो जाए कि ज्योति अलग है और शरीर बाहरी आवरण है, तो फिर सब मृत्यु वस्त्रों का बदलना है, फिर सब जन्म नए वस्त्रों का ग्रहण है, फिर सब मृत्यु पुराने वस्त्रों का छोड़ना है। तब जीर्ण वस्त्रों की तरह यह शरीर छोड़ा जाता है, नए वस्त्रों की तरह लिया जाता है। और आत्मा अपनी अनंत यात्रा पर अनंत वस्त्रों को ग्रहण करती और छोड़ती है। तब जन्म और मृत्यु, जन्म और मृत्यु नहीं हैं, केवल वस्त्रों का परिवर्तन है। तब सुख और दुख का कारण नहीं है।

लेकिन यह जो कृष्ण कहते हैं, यह गीता से समझ में न आएगा; यह अपने भीतर समझना पड़ेगा। धर्म के लिए प्रत्येक व्यक्ति को स्वयं ही प्रयोगशाला बन जाना पड़ता है। यह कृष्ण जो कह रहे हैं, इसको पढ़कर मत समझना कि आप समझ लेंगे। मैं जो समझा रहा हूं, उसे समझकर समझ लेंगे, इस भ्रांति में मत पड़ जाना। इससे तो ज्यादा से ज्यादा चुनौती मिल सकती है। लौटकर घर प्रयोग करने लग जाना। लौटकर भी क्यों, यहां से चलते वक्त ही रास्ते पर जरा देखना कि यह जो चल रहा है शरीर, इसके भीतर कोई अचल भी है? और चलते-चलते भी भीतर अचल का अनुभव होना शुरू हो जाएगा। यह जो श्वास चल रही है, यही मैं हूं या श्वासों को भी देखने वाला पीछे कोई है? तब श्वास भी दिखाई पड़ने लगेगी कि यह रही। और जिसको दिखाई पड़ रही है, वह श्वास नहीं हो सकता, क्योंकि श्वास को श्वास दिखाई नहीं पड़ सकती।

तब विचारों को जरा भीतर देखने लगना, कि ये जो विचार चल रहे हैं मस्तिष्क में, यही मैं हूं? तब पता चलेगा कि जिसको विचार दिखाई पड़ रहे हैं, वह विचार कैसे हो सकता है! कोई एक विचार दूसरे विचार को देखने में समर्थ नहीं है। किसी एक विचार ने दूसरे विचार को कभी देखा नहीं है। जो देख रहा है साक्षी, वह अलग है। और जब शरीर, विचार, श्वास, चलना, खाना, भूख-प्यास, सुख-दुख अलग मालूम पड़ने लगें, तब पता चलेगा कि कृष्ण जो कह रहे हैं कि जीर्ण वस्त्रों की तरह यह शरीर छोड़ा जाता है, नए वस्त्रों की तरह लिया जाता है, उसका क्या अर्थ है। और अगर यह दिखाई पड़ जाए, तो फिर कैसा दुख, कैसा सुख? मरने में फिर मृत्यु नहीं, जन्म में फिर जन्म नहीं। जो था वह है, सिर्फ वस्त्र बदले जा रहे हैं।

प्रश्नः ओशो, आत्मा व्यापक है, पूर्ण है, तो पूर्ण से पूर्ण कहां जाता है? आत्मा एक शरीर से छूटकर दूसरे कौन शरीर में जाता है? कहां से शरीर में आता भी है? आत्मा का उदर-प्रवेश हो, उससे पहले गर्भ जीता भी कैसे है?

आत्मा न तो आता है, न जाता है। आने-जाने की सारी बात शरीर की है। मोटे हिसाब से दो शरीर समझ लें। एक शरीर तो जो हमें दिखाई पड़ रहा है। यह शरीर माता-पिता से मिलता है, जन्मता है। और इसके पास अपनी सीमा है, अपनी सामर्थ्य है; उतने दिन चलता है और समाप्त हो जाता है। यंत्र है। माता-पिता से सिर्फ यंत्र मिलता है। गर्भ में माता-पिता सिर्फ यंत्र की सिचुएशन, स्थिति पैदा करते हैं। यह शरीर जो हमें दिखाई पड़ रहा है, यह जन्म के साथ शुरू होता है और मृत्यु के साथ समाप्त होता है। यह आता और जाता है।

एक और शरीर है जो आत्मा के लिए और भीतर का वस्त्र है, कहें कि अंडरवियर है। यह ऊपर का वस्त्र है यह शरीर, वह जरा भीतरी वस्त्र है। वह शरीर पिछले जन्म से साथ आता है। वह सूक्ष्म शरीर है। सूक्ष्म है,

इसका अर्थ इतना ही कि यह शरीर बहुत पौदगलिक, मैटीरियल है, वह शरीर इलेक्ट्रानिक है। वह शरीर विद्युत-कणों से निर्मित है। वह जो विद्युत-कणों से निर्मित दूसरा शरीर है, वह आपके साथ पिछले जन्म से आता है। वही यात्रा करता है। वह भी यात्रा करता है।

वह शरीर, दूसरा सूक्ष्म शरीर स्थूल शरीर में प्रवेश कर जाता है, गर्भ में प्रवेश कर जाता है। उसका प्रवेश होना वैसा ही आटोमैटिक, स्वचालित है, जैसे पानी पहाड़ से उतरता है, नदियों से बहता है और सागर में चला जाता है। जैसे पानी का नीचे की तरफ बहना प्राकृतिक है, ऐसा ही सूक्ष्म शरीर का अपने योग्य अनुकूल शरीर में प्रवाहित होना एकदम प्राकृतिक घटना है।

इसलिए साधारण आदमी मरता है तो तत्काल जन्म मिल जाता है, क्योंकि चौबीस घंटे पृथ्वी पर लाखों गर्भ उपलब्ध हैं। असाधारण आदमी मरता है तो समय लगता है, जल्दी गर्भ नहीं मिलता। चाहे बुरा आदमी मरे असाधारण, चाहे अच्छा आदमी मरे असाधारण, दोनों के लिए बहुत प्रतीक्षा का समय है। दोनों के लिए तत्काल गर्भ उपलब्ध नहीं होता। रेडीमेड गर्भ सिर्फ बिल्कुल मध्यवर्गीय लोगों को मिलते हैं। उनके लिए रोज गर्भ उपलब्ध हैं। इधर मरे नहीं कि उधर गर्भ ने पुकारा नहीं। इधर मरे नहीं कि गर्भ के गड्ढे में बहे नहीं। इसमें देर नहीं लगती।

लेकिन बहुत बुरा आदमी, जैसे हिटलर जैसा आदमी, तो मुश्किल हो जाती है। हिटलर के लिए मां-बाप की प्रतीक्षा में काफी समय लग जाता है। गांधी जैसे आदमी को भी काफी समय लग जाता है। इनके लिए जल्दी गर्भ उपलब्ध नहीं हो सकता। हमारे हिसाब से कभी सैकड़ों वर्ष भी लग जाते हैं। उनके हिसाब से नहीं कह रहा हूं। उनके लिए टाइम-स्केल अलग है। हमारे हिसाब से कभी सैकड़ों वर्ष लग जाते हैं। जैसे ही योग्य गर्भ उपलब्ध हुआ कि वैसे ही योग्य सूक्ष्म शरीर उसमें प्रवेश कर जाता है। सारी यात्रा इन्हीं शरीरों की है। अब आत्मा किस भांति संबंधित होता है इस सब में?

असल में हमारे पास अब तक जो भी प्रतीक हैं, आदमी के पास, वे आने-जाने के हैं। घर में कोई आया और गया। तो आदमी तो प्रतीकों का उपयोग करेगा। प्रतीक कभी भी ठीक-ठीक नहीं होते। आने-जाने की बात बहुत ठीक नहीं है आत्मा के संबंध में। अब आत्मा को हम कैसा प्रतीक, किस प्रतीक से कहें! कृष्ण के वक्त में तो प्रतीक और भी नहीं हैं। प्रतीक तो बहुत क्रूड हैं। उनसे हमें काम चलाना पड़ता है। जैसे उदाहरण के लिए, एक-दो उदाहरण लेने से ख्याल में आ जाए।

एक आदमी किसी समुद्र में एक छोटे-से द्वीप पर रहता है। वहां कोई फूल नहीं होते। पत्थर ही पत्थर हैं। रेत ही रेत है। वह आदमी यात्रा पर निकलता है और किसी महाद्वीप पर बहुत-से फूल देखकर लौटता है। उसके द्वीप के लोग उससे पूछते हैं कि क्या नई चीज देखी? वह कहता है, फूल। वे लोग कहते हैं, फूल यानी क्या? व्हाट डू यू मीन? तो उस द्वीप पर फूल नहीं होते, अब वह क्या करे! वह नदी के किनारे से चमकदार पत्थर उठा लाता है, रंगीन पत्थर उठा लाता है। वह कहता है, ऐसे होते हैं।

निश्चित ही, उस द्वीप का कोई आदमी इस पर सवाल नहीं उठाएगा। क्योंकि सवाल का कोई कारण नहीं है। लेकिन उस आदमी की--जो फूल देखकर आया है--बड़ी मुसीबत है। कोई प्रतीक उपलब्ध नहीं है, जिससे वह कहे।

हम जिस जगत में जीते हैं, वहां आना-जाना प्रतीक है। तो जन्म को हम कहते हैं आना, मृत्यु को हम कहते हैं जाना। लेकिन सच में ही आत्मा न आती है, न जाती है। तो इसके लिए एक प्रतीक मेरे ख्याल में आता है, वह शायद और करीब है, वह आपके समझ में आ जाए।

अभी पश्चिम में उनका ख्याल है कि पेट्रोल से ज्यादा दिन तक कार नहीं चलाई जा सकेगी। क्योंकि पेट्रोल ने इतना नुकसान कर दिया है। इकोलाजी का एक नया आंदोलन सारे योरोप और अमेरिका में चलता है। इतनी गंदी कर दी है हवा पेट्रोल ने कि आदमी के जीने योग्य नहीं रह गई है। तो अब पेट्रोल से कार नहीं चलाई जा सकती, तो बिजली से ही चलाई जाएगी। या तो बैटरी से चलाई जाए, तो थोड़ी महंगी होगी। या बिजली से चलाई जाए। लेकिन बिजली से चलाने के लिए--कैसे चलाई जाए? बिजली कार को कैसे मिलती रहे?

तो रूसी वैज्ञानिकों का एक सुझाव कीमती मालूम पड़ता है। उनका कहना है, इस सदी के पूरे होते-होते हम सारे रास्तों के नीचे बिजली के तार बिछा देंगे। सारे रास्तों के नीचे बिजली के तार बिछा देंगे। जो भी कार ऊपर से चलेगी रास्ते के, नीचे से उसे बिजली चलने के लिए उपलब्ध होती रहेगी।

जैसे ट्राम चलती है आपकी। ऊपर तार होता है, उससे बिजली मिलती रहती है। ट्राम चलती है, बिजली नहीं चलती। बिजली ऊपर से मिलती रहती है, नीचे से ट्राम दौड़ती रहती है। जितनी आगे बढ़ती है, उधर से बिजली मिल जाती है। जैसे ट्राम चलती है और बिजली नहीं चलती, लेकिन ऊपर से प्रतिपल मिलती रहती है। और जब बिजली न मिले, तो ट्राम तत्काल रुक जाए। बिजली के द्वारा चलती है, लेकिन बिजली नहीं चलती, ट्राम चलती है।

ठीक वैसे ही रूस का वैज्ञानिक कहता है, नीचे हम सड़कों के तार बिछा देंगे, कार ऊपर से दौड़ती रहेगी। बस, उसके दौड़ने से वह बिजली लेती रहेगी। कार का मीटर तय करता रहेगा, कितनी बिजली आपने ली। वह आप जमा करते रहेंगे। लेकिन बिजली नहीं चलेगी, चलेगी कार।

ठीक ऐसे ही, आत्मा व्यापक तत्व है; वह है ही सब जगह। सिर्फ हमारा सूक्ष्म शरीर बदलता रहता है, दौड़ता रहता है। और जहां भी जाता है, आत्मा से उसे जीवन मिलता रहता है।

जिस दिन सूक्ष्म शरीर बिखर जाता है, ट्राम टूट गई, बिजली अपनी जगह रह जाती है; ट्राम टूट जाती है, सूक्ष्म शरीर खो जाता है। तो जब सूक्ष्म शरीर खोता है, तो आत्मा परमात्मा से मिल जाती है, ऐसा नहीं। आत्मा परमात्मा से सदा मिली ही हुई थी, सूक्ष्म शरीर की दीवार के कारण अलग मालूम पड़ती थी, अब अलग नहीं मालूम पड़ती है।

आने-जाने की जो धारणा है--आवागमन की--वह बड़ी क्रूड सिमली है। वह बहुत ही दूर की है, लेकिन कोई उपाय नहीं है। जो मैं कह रहा हूं, मैं यह कह रहा हूं कि आत्मा तो चारों तरफ मौजूद है, हमारे भीतर भी, बाहर भी।

अब यहां बिजली के बल्ब जल रहे हैं। एक सौ कैंडिल का बल्ब जल रहा है, एक पचास कैंडिल का जल रहा है, एक बीस कैंडिल का जल रहा है, एक बिल्कुल जुगनू की तरह पांच कैंडिल का जल रहा है। इन सबके भीतर एक सी बिजली दौड़ रही है। और प्रत्येक अपनी कैंडिल के आधार पर उतनी बिजली ले रहा है। यह माइक है, इसमें तो कोई बल्ब भी नहीं लगा हुआ है; यह माइक अपनी उपयोगिता के लिए बिजली ले रहा है। रेडियो अपनी उपयोगिता की बिजली ले रहा है, पंखा अपनी उपयोगिता की बिजली ले रहा है। बिजली में कोई फर्क नहीं है--पंखे के यंत्र में फर्क है, माइक के यंत्र में फर्क है, बल्ब के यंत्र में फर्क है।

परमात्मा चारों तरफ मौजूद है। सब तरफ वही है। हमारे पास एक सूक्ष्म यंत्र है, सूक्ष्म शरीर। उसके अनुसार हम उससे ताकत और जीवन ले रहे हैं। इसलिए अगर हमारे पास पांच कैंडिल का सूक्ष्म शरीर है, तो हम पांच कैंडिल की ताकत ले रहे हैं; पचास कैंडिल का है, तो पचास कैंडिल की ले रहे हैं। महावीर के पास

हजार कैंडिल का है, तो हजार कैंडिल का ले रहे हैं। हम गरीब हैं बहुत, एक ही कैंडिल का सूक्ष्म शरीर है, तो एक ही कैंडिल की ले रहे हैं।

परमात्मा की कंजूसी नहीं है इसमें। हम जितना बड़ा पात्र लेकर आ गए हैं, उतना ही उपलब्ध हो रहा है। हम चाहें हम हजार कैंडिल के हो जाएं, तो ठीक महावीर से जैसी प्रतिभा प्रकट होती है, हमसे प्रकट हो जाए। और एक सीमा आती है कि महावीर कहते हैं, हजार से भी काम नहीं चलेगा, हम तो अनंत कैंडिल चाहते हैं! तो फिर कहते हैं कि बल्ब तोड़ दो, तो फिर अनंत कैंडिल के हो जाओ। क्योंकि बल्ब जब तक रहेगा, तो सीमा रहेगी ही कैंडिल की, हजार हो, दो हजार हो, लाख हो, दस लाख हो। लेकिन अगर अनंत प्रकाश चाहिए, तो बल्ब तोड़ दो। तो फिर महावीर कहते हैं, हम बल्ब तोड़ देते हैं, हम मुक्त हो जाते हैं।

मुक्त होने का कुल मतलब इतना है कि अब ले चुके यंत्रों से बहुत, लेकिन देखा कि हर यंत्र सीमा बन जाता है। और जहां सीमा है वहां दुख है। इसलिए तोड़ देते हैं यंत्र को, अब हम पूरे के साथ एक ही हुए जाते हैं।

यह भाषा की गलती है कि एक ही हुए जाते हैं, एक थे ही। यंत्र बीच में था, इसलिए कम मिलता था। यंत्र टूट गया, तो पूरा है।

आत्मा आती-जाती नहीं, सूक्ष्म शरीर आता है, जाता है। स्थूल शरीर आता है, जाता है। स्थूल शरीर मिलता है माता-पिता से, सूक्ष्म शरीर मिलता है पिछले जन्म से। और आत्मा सदा से है।

सूक्ष्म शरीर न हो, तो स्थूल शरीर ग्रहण नहीं किया जा सकता। सूक्ष्म शरीर टूट जाए, तो स्थूल शरीर ग्रहण करना असंभव है। इसलिए सूक्ष्म शरीर के टूटते ही दो घटनाएं घटती हैं। एक तरफ सूक्ष्म शरीर गिरा कि स्थूल शरीर की यात्रा बंद हो जाती है। और दूसरी तरफ परमात्मा से जो हमारी सीमा थी, वह मिट जाती है। सूक्ष्म शरीर का गिर जाना ही साधना है। बीच का सेतु, जो ब्रिज है बीच में हमें जोड़ने वाला--शरीर से इस तरफ और उस तरफ परमात्मा से--वह गिर जाता है। उसको गिरा देना ही समस्त साधना है।

वह सूक्ष्म शरीर जिन चीजों से बना है, उन्हें समझ लेना जरूरी है। वह हमारी इच्छाओं से, वासनाओं से, कामनाओं से, आकांक्षाओं से, अपेक्षाओं से, हमारे किए कर्मों से, हमारे न किए कर्मों से लेकिन चाहे गए कर्मों से, हमारे विचारों से, हमारे कामों से, हम जो भी रहे हैं--सोचा है, विचारा है, किया है, अनुभव किया है, भावना की है--उस सबका, उस सबके इलेक्ट्रानिक प्रभावों से, उस सबके वैद्युतिक प्रभावों से निर्मित हमारा सूक्ष्म शरीर है।

उस सूक्ष्म शरीर का विसर्जन ही दो परिणाम लाता है। इधर गर्भ की यात्रा बंद हो जाती है। जब ज्ञान हुआ तब बुद्ध ने कहा कि घोषणा करता हूं कि मेरे मन, तू, जिसने अब तक मेरे लिए बहुत शरीरों के घर बनाए, अब तू विश्राम को उपलब्ध हो सकता है। अब तुझे मेरे लिए कोई और घर बनाने की जरूरत नहीं। धन्यवाद देता हूं और तुझे छुट्टी देता हूं। अब तेरे लिए कोई काम नहीं बचा, क्योंकि मेरी कोई कामना नहीं बची। अब तक मेरे लिए अनेक-अनेक घर बनाने वाले मन, अब तुझे आगे घर बनाने की कोई जरूरत नहीं है।

मरते वक्त जब बुद्ध से लोगों ने पूछा कि अब, जब कि आपकी आत्मा परम में लीन हो जाएगी, तो आप कहां होंगे? तो बुद्ध ने कहा कि अगर मैं कहीं होऊंगा तो परम में लीन कैसे हो सकूंगा! क्योंकि जो समव्हेयर है, जो कहीं है, वह एवरीव्हेयर नहीं हो सकता, वह सब कहीं नहीं हो सकता। जो कहीं है, वह सब कहीं नहीं हो सकता। तो बुद्ध ने कहा, यह पूछो ही मत। अब मैं कहीं नहीं होऊंगा, क्योंकि सब कहीं होऊंगा। मगर फिर-फिर पूछते हैं भक्त, कि कुछ तो बताएं, अब आप कहां होंगे?

बूंद से पूछ रहे हैं कि सागर में गिरकर तू कहां होगी? बूंद कहती है, सागर ही हो जाऊंगी। लेकिन और बूंदें पूछना चाहेंगी कि वह तो ठीक है, लेकिन फिर भी कहां होगी? कभी मिलने आएं! तो बूंद, जो सागर हो रही है, वह कहती है, तुम सागर में ही आ जाना, तो मिलन हो जाएगा। लेकिन बूंद से मिलन नहीं होगा, सागर से ही मिलन होगा।

जिसे बुद्ध से मिलना हो, कृष्ण से मिलना हो, महावीर से मिलना हो, जीसस से, मोहम्मद से मिलना हो, तो अब बूंद से मिलना नहीं हो सकता। कितना ही मूर्ति बनाकर रखे रहें; अब बूंद से मिलना नहीं हो सकता। बूंद गई सागर में, इसीलिए तो मूर्ति बनाई। यही तो मजा है, पैराडाक्स है। मूर्ति इसीलिए बनाई कि बूंद सागर में गई। बनाने योग्य हो गई मूर्ति अब इसकी।

लेकिन अब मूर्ति में कुछ मतलब नहीं है। अब तो मिलना हो तो सागर में ही जाना पड़े।

माता-पिता से मिलता है बूंद का आकार, बाह्य। स्वयं के पिछले जन्मों से मिलती है बूंद की भीतरी व्यवस्था। और परमात्मा से मिलती है जीवन-ऊर्जा, वह है हमारी आत्मा। लेकिन जब तक इस बूंद की दोहरी परत को हम ठीक से न पहचान लें, तब तक उसको हम नहीं पहचान सकते, जो दोनों के बाहर है।

आज इतना ही। फिर कल सुबह बात करेंगे।

नौवां प्रवचन

आत्म-विद्या के गूढ़ आयामों का उदघाटन

नैनं छिन्दन्ति शस्त्राणि नैनं दहति पावकः।

न चैनं क्लेदयन्त्यापो न शोषयति मारुतः।। 23।।

हे अर्जुन, इस आत्मा को शस्त्रादि नहीं काट सकते हैं और इसको आग नहीं जला सकती है तथा इसको जल नहीं गीला कर सकता है और वायु नहीं सुखा सकता है।

अच्छेद्योऽयमदाह्योऽयमक्लेद्योऽशोष्य एव च।

नित्यः सर्वगतः स्थाणुरचलोऽयं सनातनः।। 24।।

क्योंकि यह आत्मा अच्छेद्य है, यह आत्मा अदाह्य, अक्लेद्य और अशोष्य है तथा यह आत्मा निःसंदेह नित्य, सर्वव्यापक, अचल, स्थिर रहने वाला और सनातन है।

अव्यक्तोऽयमचिन्त्योऽयमविकार्योऽयमुच्यते।

तस्मादेवं विदित्वैनं नानुशोचितुमर्हसि।। 25।।

और यह आत्मा अव्यक्त अर्थात इंद्रियों का अविषय और यह आत्मा अचिंत्य अर्थात मन का अविषय और यह आत्मा विकाररहित अर्थात न बदलने वाला कहा जाता है। इससे हे अर्जुन, इस आत्मा को ऐसा जानकर तू शोक करने के योग्य नहीं है अर्थात तुझे शोक करना उचित नहीं है।

प्रश्नः ओशो, जो आत्मा अपनी तरफ से किसी भी दिशा में प्रवृत्त नहीं होता, वह वस्त्रों की भांति जीर्ण देह को त्यागने की और नवीन देह को धारण करने की चेष्टा की तकलीफ क्यों उठाता है? इसमें कुछ इंट्रिंजिक कंट्राडिक्शन नहीं फलित होता है?

आत्मा, न जन्म लेता है, न मरता है; न उसका प्रारंभ है, न उसका अंत है--जब हम ऐसा कहते हैं, तो थोड़ी-सी भूल हो जाती है। इसे दूसरे ढंग से कहना ज्यादा सत्य के करीब होगाः जिसका जन्म नहीं होता, जिसकी मृत्यु नहीं होती, जिसका कोई प्रारंभ नहीं है, जिसका कोई अंत नहीं है, ऐसे अस्तित्व को ही हम आत्मा कहते हैं।

निश्चित ही, अस्तित्व प्रारंभ और अंत से मुक्त होना चाहिए। जो है, दैट व्हिच इ.ज, उसका कोई प्रारंभ नहीं हो सकता। प्रारंभ का अर्थ यह होगा कि वह शून्य से उतरे, ना-कुछ से उतरे। और प्रारंभ होने के लिए भी प्रारंभ के पहले कुछ तैयारी चाहिए पड़ेगी। प्रारंभ आकस्मिक नहीं हो सकता। सब प्रारंभ पूर्व की तैयारी से, पूर्व के कारण से बंधे होते हैं, कॉजेलिटि से बंधे होते हैं।

एक बच्चे का जन्म होता है; हो सकता है, क्योंकि मां-बाप के दो शरीर उसके जन्म की तैयारी करते हैं। सब प्रारंभ अपने से भी पहले किसी चीज को, प्रिसपोज्ड, अपने से भी पहले किसी चीज को स्वीकार करते हैं। इसलिए कोई प्रारंभ मौलिक रूप से प्रारंभ नहीं होता। किसी चीज का प्रारंभ हो सकता है, लेकिन शुद्ध प्रारंभ

नहीं होता। ठीक वैसे ही, किसी चीज का अंत हो सकता है, लेकिन अस्तित्व का अंत नहीं होता। क्योंकि कोई भी चीज समाप्त हो, तो उसके भीतर जो होना था, जो अस्तित्व था, वह शेष रह जाता है।

तो जब हम कहते हैं, आत्मा का कोई जन्म नहीं, कोई मृत्यु नहीं, तो समझ लेना चाहिए। दूसरी तरफ से समझ लेना उचित है कि जिसका कोई जन्म नहीं, जिसकी कोई मृत्यु नहीं, उसी का नाम हम आत्मा कह रहे हैं। आत्मा का अर्थ है--अस्तित्व, बीइंग।

लेकिन हमारी भ्रांति वहां से शुरू होती है, आत्मा को हम समझ लेते हैं मैं। मेरा तो प्रारंभ है और मेरा अंत भी है। लेकिन जिसमें मैं जन्मता हूं और जिसमें मैं समाप्त हो जाता हूं, उस अस्तित्व का कोई अंत नहीं है।

आकाश में बादल बनते हैं और बिखर जाते हैं। जिस आकाश में उनका बनना और बिखरना होता है, उस आकाश का कोई प्रारंभ और कोई अंत नहीं है। आत्मा को आकाश समझें--इनर स्पेस, भीतरी आकाश। और आकाश में भीतर और बाहर का भेद नहीं किया जा सकता। बाहर के आकाश को परमात्मा कहते हैं, भीतर के आकाश को आत्मा। इस आत्मा को व्यक्ति न समझें, इंडिविजुअल न समझें। व्यक्ति का तो प्रारंभ होगा, और व्यक्ति का अंत होगा। इस आंतरिक आकाश को अव्यक्ति समझें। इस आंतरिक आकाश को सीमित न समझें। सीमा का तो प्रारंभ होगा और अंत होगा।

इसलिए कृष्ण कह रहे हैं कि न उसे आग जला सकती है।

आग उसे क्यों नहीं जला सकती? पानी उसे क्यों नहीं डुबा सकता? अगर आत्मा कोई भी वस्तु है, तो आग जरूर जला सकती है। यह आग न जला सके, हम कोई और आग खोज लेंगे। कोई एटामिक भट्ठी बना लेंगे, वह जला सकेगी। अगर आत्मा कोई वस्तु है, तो पानी क्यों नहीं डुबा सकता? थोड़ा पानी न डुबा सकेगा, तो बड़े पैसिफिक महासागर में डुबा देंगे।

जब वे यह कह रहे हैं कि आत्मा को न जलाया जा सकता है, न डुबाया जा सकता है पानी में, न नष्ट किया जा सकता है, तो वे यह कह रहे हैं कि आत्मा कोई वस्तु नहीं है; थिंगनेस, वस्तु उसमें नहीं है। आत्मा सिर्फ अस्तित्व का नाम है। एक्झिस्टेंट वस्तु नहीं, एक्झिस्टेंस इटसेल्फ। वस्तुओं का अस्तित्व होता है, आत्मा स्वयं अस्तित्व है। इसलिए आग न जला सकेगी, क्योंकि आग भी अस्तित्व है। पानी न डुबा सकेगा, क्योंकि पानी भी अस्तित्व है।

इसे ऐसा समझें कि आग भी आत्मा का एक रूप है, पानी भी आत्मा का एक रूप है, तलवार भी आत्मा का एक रूप है, इसलिए आत्मा से आत्मा को जलाया न जा सकेगा। आग उसको जला सकती है, जो उससे भिन्न है। आत्मा किसी से भी भिन्न नहीं। आत्मा अस्तित्व से अभिन्न है, अस्तित्व ही है।

अगर हम आत्मा शब्द को अलग कर दें और अस्तित्व शब्द को विचार करें, तो कठिनाई बहुत कम हो जाएगी। क्योंकि आत्मा से हमें लगता है, मैं। हम आत्मा और ईगो को, अहंकार को पर्यायवाची मानकर चलते हैं। इससे बहुत जटिलता पैदा हो जाती है। आत्मा अस्तित्व का नाम है। उस अस्तित्व में उठी हुई एक लहर का नाम मैं है। वह लहर उठेगी, गिरेगी; बनेगी, बिखरेगी; उस मैं को जलाया भी जा सकता है, डुबाया भी जा सकता है। ऐसी आग खोजी जा सकती है, जो मैं को जलाए। ऐसा पानी खोजा जा सकता है, जो मैं को डुबाए। ऐसी तलवार खोजी जा सकती है, जो मैं को काटे। इसलिए मैं को छोड़ दें। आत्मा से मैं का कोई भी लेना-देना नहीं है, दूर का भी कोई वास्ता नहीं है।

मैं को छोड़कर जो पीछे आपके शेष रह जाता है, वह आत्मा है। लेकिन मैं को छोड़कर हमने अपने भीतर कभी कुछ नहीं देखा है। जब भी कुछ देखा है, मैं मौजूद हूं। जब भी कुछ सोचा है, मैं मौजूद हूं। मैं हर जगह मौजूद हूं भीतर। इतने घने रूप से हम मैं के आस-पास जीते हैं कि मैं के पीछे जो खड़ा है सागर, वह हमें कभी दिखाई नहीं पड़ता।

और हम कृष्ण की बात सुनकर प्रफुल्लित भी होते हैं। जब सुनाई पड़ता है कि आत्मा को जलाया नहीं जा सकता, तो हमारी रीढ़ सीधी हो जाती है। हम सोचते हैं, मुझे जलाया नहीं जा सकता। जब हम सुनते हैं, आत्मा मरेगी नहीं, तो हम भीतर आश्वस्त हो जाते हैं कि मैं मरूंगा नहीं। इसीलिए तो बूढ़ा होने लगता है आदमी, तो गीता ज्यादा पढ़ने लगता है। मृत्यु पास आने लगती है, तो कृष्ण की बात समझने का मन होने लगता है। मृत्यु कंपाने लगती है मन को, तो मन समझना चाहता है, मानना चाहता है कि कोई तो मेरे भीतर हो, जो मरेगा नहीं, ताकि मैं मृत्यु को झुठला सकूं।

इसलिए मंदिर में, मस्जिद में, गुरुद्वारे में जवान दिखाई नहीं पड़ते। क्योंकि अभी मौत जरा दूर मालूम पड़ती है। अभी इतना भय नहीं, अभी पैर कंपते नहीं। वृद्ध दिखाई पड़ने लगते हैं। सारी दुनिया में धर्म के आस-पास बूढ़े आदमियों के इकट्ठे होने का एक ही कारण है कि जब मैं मरने के करीब पहुंचता है, तो मैं जानना चाहता है कि कोई आश्वासन, कोई सहारा, कोई भरोसा, कोई प्रामिस--कि नहीं, मौत को भी झुठला सकेंगे, बच जाएंगे मौत के पार भी। कोई कह दे कि मरोगे नहीं--कोई अथारिटी, कोई प्रमाण-वचन, कोई शास्त्र!

इसीलिए आस्तिक, जो वृद्धावस्था में आस्तिक होने लगता है, उसके आस्तिक होने का मौलिक कारण सत्य की तलाश नहीं होती, मौलिक कारण भय से बचाव होता है, फियर से बचाव होता है। और इसलिए दुनिया में जो तथाकथित आस्तिकता है, वह भगवान के आस-पास निर्मित नहीं, भय के आस-पास निर्मित है। और अगर भगवान भी है उस आस्तिकता का, तो वह भय का ही रूप है; उससे भिन्न नहीं है। वह भय के प्रति ही सुरक्षा है, सिक्योरिटी है।

तो जब कृष्ण यह कह रहे हैं, तो एक बात बहुत स्पष्ट समझ लेना कि यह आप नहीं जलाए जा सकेंगे, इस भ्रांति में मत पड़ना। इसमें तो बहुत कठिनाई नहीं है। घर जाकर जरा आग में हाथ डालकर देख लेना, तो कृष्ण एकदम गलत मालूम पड़ेंगे। एकदम ही गलत बात मालूम पड़ेगी। गीता पढ़कर आग में हाथ डालकर देख लेना कि आप जल सकते हैं कि नहीं! गीता पढ़कर पानी में डुबकी लगाकर देख लेना, तो पता चल जाएगा कि डूब सकते हैं या नहीं!

लेकिन कृष्ण गलत नहीं हैं। जो डूबता है पानी में, कृष्ण उसकी बात नहीं कर रहे हैं। जो जल जाता है आग में, कृष्ण उसकी बात नहीं कर रहे हैं। लेकिन क्या आपको अपने भीतर किसी एक भी ऐसे तत्व का पता है, जो आग में नहीं जलता? पानी में नहीं डूबता? अगर पता नहीं है, तो कृष्ण को मानने की जल्दी मत करना। खोजना, मिल जाएगा वह सूत्र, जिसकी वे बात कर रहे हैं।

सवाल पूछा है। पूछा है कि आत्मा न भी करती हो यात्रा, सूक्ष्म शरीर, लिंग शरीर अगर यात्रा करता है, तो भी आत्मा का सहयोग तो है ही। आत्मा कोआप्ट तो करती ही है। अगर इनकार कर दे सहयोग करने से, तब तो यात्रा नहीं हो सकेगी!

इसे भी दो तलों पर समझ लेना जरूरी है। सहयोग भी इस जगत में दो प्रकार के हैं। एक, वैज्ञानिक जिसको कैटेलिटिक कोआपरेशन कहता है, कैटेलिटिक एजेंट जिसको वैज्ञानिक कहता है, उस बात को समझ

लेना उचित है। एक सहयोग है, जिसमें हम पार्टिसिपेंट होते हैं। एक सहयोग है, जिसमें हमें भागीदार होना पड़ता है। एक और सहयोग है, जिसमें मौजूदगी काफी है, जस्ट प्रेजेंस।

सुबह सूरज निकला। आपकी बगिया का फूल खिल गया। सूरज को पता भी नहीं है कि उसने इस फूल को खिलाया। सूरज इस फूल को खिलाने के लिए निकला भी नहीं है। यह फूल न होता तो सूरज के निकलने में कोई बाधा भी नहीं पड़ती। यह न होता तो सूरज यह न कहता कि फूल तो है नहीं, मैं किसलिए निकलूं! यह खिल गया है, इसके लिए सिर्फ सूरज की मौजूदगी, प्रेजेंस काफी बनी है। सूरज की मौजूदगी के बिना यह खिल भी न सकता, यह बात पक्की है। लेकिन सूरज की मौजूदगी इसको खिलाने के लिए नहीं है, यह बात भी इतनी ही पक्की है। सूरज की मौजूदगी में यह खिल गया है।

लेकिन यह भी बहुत ठीक नहीं है। क्योंकि सूरज की किरणें कुछ करती हैं। चाहे सूरज को पता हो, चाहे न पता हो। सूरज की किरणें उसकी कलियों को खोलती हैं। सूरज की किरणें उस पर चोट भी करती हैं। चोट कितनी ही बारीक और सूक्ष्म हो, लेकिन चोट होती है।

सूरज की किरणों का भी वजन है। सूरज की किरणें भी प्रवेश करती हैं। कोई एक वर्ग मील पर जितनी सूरज की किरणें पड़ती हैं, उसका कोई एक छटांक वजन होता है। बहुत कम है। एक वर्ग मील पर जितनी किरणें पड़ती हैं, अगर हम इकट्ठी कर सकें, तो कहीं एक छटांक वजन होगा। एक तो इकट्ठा करना मुश्किल है। अनुमान है वैज्ञानिकों का, इतना वजन होगा। इतना भी सही, तो भी सूरज फूल की पखुड़ियों पर कुछ करता है। तो वह भी कैटेलिटिक एजेंट नहीं है, इनडायरेक्ट पार्टिसिपेंट है, परोक्ष रूप से भाग लेता है।

लेकिन कैटेलिटिक एजेंट वैज्ञानिक बहुत दूसरी चीज को कहते हैं। जैसे कि हाइड्रोजन और आक्सीजन मिलकर पानी बनता है। तो आप हाइड्रोजन और आक्सीजन एक कमरे में बंद कर दें, तो भी पानी नहीं बनेगा। सब तरह से सब मौजूद है, लेकिन पानी नहीं बनेगा।

लेकिन उस कमरे में बिजली की एक धारा दौड़ा दें। तो बस, तत्काल हाइड्रोजन और आक्सीजन के अणु मिलकर पानी बनाना शुरू कर देंगे। सब तरह से खोज-बीन की गई, बिजली की धारा कुछ भी नहीं करती। न वह हाइड्रोजन को छूती है, न आक्सीजन को छूती है। न स्पर्श करती है, न उनके साथ कुछ करती। बस उसकी मौजूदगी, सिर्फ उसका होना। उसकी मौजूदगी के बिना नहीं हो पाता। कहना चाहिए, उसकी मौजूदगी ही कुछ करती है; बिजली कुछ नहीं करती।

कृष्ण कह रहे हैं इस सूत्र में, आत्मा निष्क्रिय है, अक्रिय है, नान-एक्टिव है।

आत्मा अक्रिय है, निष्क्रिय है, कर्म नहीं करती, तो फिर यह सारी की सारी यात्रा, यह जन्म और मरण, यह शरीर और शरीर का छूटना, और नए वस्त्रों का ग्रहण और जीर्ण वस्त्रों का त्याग, यह कौन करता है? आत्मा की मौजूदगी के बिना यह नहीं हो सकता है, इतना पक्का है। लेकिन आत्मा की मौजूदगी सक्रिय तत्व की तरह काम नहीं करती, निष्क्रिय उपस्थिति की तरह काम करती है।

जैसे समझें कि बच्चों की क्लास लगी है। शिक्षक नहीं है। चिल्ला रहे हैं, शोरगुल कर रहे हैं, नाच रहे हैं। फिर शिक्षक कमरे में आया। सन्नाटा छा गया, चुप्पी हो गई। अपनी जगह बैठ गए हैं, किताबें पढ़ने लगे हैं। अभी शिक्षक ने एक शब्द नहीं बोला। अभी शिक्षक ने कुछ किया नहीं। अभी उसने यह भी नहीं कहा कि चुप हो जाओ। अभी उसने यह भी नहीं कहा कि गलत कर रहे हो। अभी उसने कुछ किया ही नहीं। अभी वह सिर्फ प्रवेश हुआ है। पर उसकी मौजूदगी, और कुछ हो गया है। शिक्षक कैटेलिटिक एजेंट है इस क्षण में। अभी कुछ कर नहीं रहा है।

ये सारे उदाहरण बिल्कुल ठीक नहीं हैं, सिर्फ आपको ख्याल आ सके, इसलिए कह रहा हूं। आत्मा की मौजूदगी--लेकिन पूछा जा सकता है, मौजूद होने का भी उसका निर्णय तो है ही; डिसीजन तो है ही! शिक्षक कमरे में आया है, नहीं आता। आने का निर्णय तो लिया ही है। यह भी कोई कम काम तो नहीं है। आया है। आत्मा कम से कम निर्णय तो ले ही रही है जीवन में होने का। अन्यथा जीवन के प्रारंभ का कोई अर्थ नहीं है। कैसे जीवन प्रारंभ होगा! तो आत्मा क्यों निर्णय ले रही है जीवन के प्रारंभ का? मौजूद होने की भी क्या जरूरत है? क्या परपज है?

तो यहां थोड़े और गहरे उतरना पड़ेगा। एक बात तो यह समझ लेनी जरूरी है कि स्वतंत्रता सदा दोहरी होती है। स्वतंत्रता कभी इकहरी नहीं होती। स्वतंत्रता सदा दोहरी होती है। स्वतंत्रता का मतलब ही यह होता है कि आदमी या जिसके लिए स्वतंत्रता है, वह विपरीत भी कर सकता है।

समझ लें, एक गांव में हम डुंडी पीट दें और कहें कि प्रत्येक आदमी अच्छा काम करने के लिए स्वतंत्र है, लेकिन बुरा काम नहीं कर सकता। तो उस गांव में अच्छा काम करने की स्वतंत्रता भी नहीं रह जाएगी। अच्छा काम करने की स्वतंत्रता में इम्प्लाइड है, छिपी है, बुरा काम करने की स्वतंत्रता। और जो आदमी बुरा काम कर ही नहीं सकता, उसने अच्छा काम किया है, ऐसा कहने का कोई अर्थ नहीं रह जाता।

स्वतंत्रता दोहरी है, समस्त तलों पर। आत्मा स्वतंत्र है, अस्तित्व स्वतंत्र है। उस पर कोई परतंत्रता नहीं है। उसके अतिरिक्त कोई है ही नहीं, जो उसे परतंत्र कर सके। अस्तित्व फ्रीडम है, अस्तित्व स्वातंष्य है। और स्वातंष्य में हमेशा दोहरे विकल्प हैं। आत्मा चाहे तो दोनों यात्राएं कर सकती है--संसार में, शरीर में, बंधन में; बंधन के बाहर, संसार के बाहर, शरीर के बाहर। ये दोनों संभावनाएं हैं। और संसार का अनुभव, संसार के बाहर उठने के अनुभव की अनिवार्य आधारशिला है। विश्रांति का अनुभव, तनाव के अनुभव के बिना असंभव है। मुक्ति का अनुभव, अमुक्त हुए बिना असंभव है।

मैं एक छोटी-सी कहानी निरंतर कहता रहता हूं। मैं कहता रहता हूं कि एक अमीर आदमी, एक करोड़पति, जीवन के अंत में सारा धन पाकर चिंतित हो उठा। चिंतित हो उठा कि आनंद अब तक मिला नहीं! सोचा था जीवनभर धन, धन, धन। सोचा था, धन साधन बनेगा, आनंद साध्य होगा। साधन पूरा हो गया, आनंद की कोई खबर नहीं। साधन इकट्ठे हो गए, आनंद की वीणा पर कोई स्वर नहीं बजता। साधन इकट्ठा हो गया, भवन तैयार है, लेकिन आनंद का मेहमान आता हुआ दिखाई नहीं पड़ता, उसकी कोई पदचाप सुनाई नहीं पड़ती है। चिंतित हो जाना स्वाभाविक है।

गरीब आदमी कभी चिंतित नहीं हो पाता, यही उसका दुर्भाग्य है। अगर वह चिंतित भी होता है, तो साधन के लिए होता है कि कैसे धन मिले, कैसे मकान मिले! अमीर आदमी की जिंदगी में पहली दफा साध्य की चिंता शुरू होती है; क्योंकि साधन पूरा होता है। अब वह देखता है, साधन सब इकट्ठे हो गए, जिसके लिए इकट्ठे किए थे, वह कहां है!

इसलिए जब तक किसी आदमी की जिंदगी में साध्य का ख्याल न उठे, तब तक वह गरीब है। चाहे उसके पास कितना ही धन इकट्ठा हो गया हो, इससे कोई फर्क नहीं पड़ता। उसके अमीर होने की खबर उसी दिन मिलती है, जिस दिन वह यह सोचने को तैयार हो जाता है--सब है जिससे आनंद मिलना चाहिए ऐसा सोचा था, लेकिन वह आनंद कहां है? साधन पूरे हो गए, लेकिन वह साध्य कहां है? भवन बन गया, लेकिन अतिथि कहां है? उसी दिन आदमी अमीर होता है। वही उसका सौभाग्य है। लेकिन बहुत कम अमीर आदमी अमीर होते हैं।

वह अमीर आदमी अमीर था; चिंता पकड़ गई उसे। उसने अपने घर के लोगों को कहा कि बहुत दिन प्रतीक्षा कर ली, अब मैं खोज में जाता हूं। अब तक सोचता था कि इंतजाम कर लूंगा, तो आनंद का अतिथि आ जाएगा। इंतजाम पूरा है, अतिथि का कोई पता चलता नहीं। अब मैं उसकी खोज पर निकलता हूं। बहुत-से हीरे-जवाहरात अपने साथ लेकर वह गया। गांव-गांव पूछता था लोगों से कि आनंद कहां मिलेगा? लोगों ने कहा, हम खुद ही तलाश में हैं। इस गांव तक हम उसी की तलाश में पहुंचे हैं। रास्तों पर लोगों से पूछता था, आनंद कहां मिलेगा? वे यात्री कहते कि हम भी सहयात्री हैं, फेलो ट्रेवलर्स हैं; हम भी खोज में निकले हैं। तुम्हें पता चल जाए, तो हमें भी खबर कर देना।

जिससे पूछा उसी ने कहा कि तुम्हें खबर मिल जाए, तो हमें भी बता देना। हमें कुछ पता नहीं, हम भी खोज में हैं। थक गया, परेशान हो गया, मौत करीब दिखाई पड़ने लगी। आनंद की कोई खबर नहीं।

फिर एक गांव से गुजर रहा था, तो किसी से उसने पूछा। झाड़ के नीचे एक आदमी बैठा हुआ था। देखकर ऐसा लगा कि शायद यह आदमी कोई जवाब दे सके। क्योंकि अंधकार घिर रहा था सांझ का, लेकिन उस आदमी के आस-पास कुछ अलौकिक प्रकाश मालूम पड़ता था। रात उतरने को थी, लेकिन उसके चेहरे पर चमक थी सुबह की। पकड़ लिए उसके पैर, धन की थैली पटक दी। और कहा कि ये हैं अरबों-खरबों रुपए के हीरे-जवाहरात--आनंद चाहिए!

उस फकीर ने आंखें ऊपर उठाईं और उसने कहा कि सच में चाहिए? बिल्कुल तुम्हें आज तक कभी आनंद नहीं मिला? उसने कहा, कभी नहीं मिला। उसने कहा, कभी कोई थोड़ी-बहुत धुन बजी हो! कोई धुन नहीं बजी। उसने कहा, कभी थोड़ा-बहुत स्वाद आया हो! उस आदमी ने कहा, बातों में समय खराब मत करो; तुम पहले आदमी हो, जिसने एकदम से यह नहीं कहा कि मैं भी खोज रहा हूं। मुझे बताओ! उस फकीर ने पूछा, कोई परिचय ही नहीं है? उसने कहा, कोई परिचय नहीं है।

इतना कहना था कि वह फकीर उस झोले को, जिसमें हीरे-जवाहरात थे, लेकर भाग खड़ा हुआ। उस अमीर ने तो सोचा भी नहीं था। वह उसके पीछे भागा और चिल्लाया, मैं लुट गया। तुम आदमी कैसे हो! गांव परिचित था फकीर का, अमीर का तो परिचित नहीं था। गली-कूचे वह चक्कर देने लगा। सारा गांव जुट गया। गांव भी पीछे भागने लगा। अमीर चिल्ला रहा है, छाती पीट रहा है, आंख से आंसू बहे जा रहे हैं। और वह कह रहा है, मैं लुट गया; मैं मर गया; मेरी जिंदगीभर की कमाई है। उसी के सहारे मैं आनंद को खोज रहा हूं; अब क्या होगा! मेरे दुख का कोई अंत नहीं है। मुझे बचाओ किसी तरह इस आदमी से; मेरा धन वापस दिलवाओ। वह गांवभर में चक्कर लगाकर भागता हुआ फकीर वापस उसी झाड़ के नीचे आ गया, जहां अमीर का घोड़ा खड़ा था। झोला जहां से उठाया था वहीं पटककर, जहां बैठा था वहीं झाड़ के पास फिर बैठ गया।

पीछे से भागता हुआ अमीर आया और सारा गांव। अमीर ने झोला उठाकर छाती से लगा लिया और भगवान की तरफ हाथ उठाकर कहा, हे भगवान, तेरा परम धन्यवाद! फकीर ने पूछा, कुछ आनंद मिला? उस अमीर ने कहा, कुछ? बहुत-बहुत मिला। ऐसा आनंद जीवन में कभी भी नहीं था। उस फकीर ने कहा, आनंद के पहले दुखी होना जरूरी है; पाने के पहले खोना जरूरी है; होने के पहले न होना जरूरी है; मुक्ति के पहले बंधन जरूरी है; ज्ञान के पहले अज्ञान जरूरी है; प्रकाश के पहले अंधकार जरूरी है।

इसलिए आत्मा एक यात्रा पर निकलती है, वह धन खोने की यात्रा है। असल में जिसे हम खोते नहीं, उसे हम कभी पाने का अनुभव नहीं कर सकते। और इसलिए जब जिन्होंने पाया है, जैसे कृष्ण, जैसे बुद्ध... जब बुद्ध को मिला ज्ञान, लोगों ने पूछा, क्या मिला? तो बुद्ध ने कहा, मिला कुछ भी नहीं। जो मिला ही हुआ था, उसको

जाना भर। लेकिन बीच में खोना जरूरी था। स्वास्थ्य का अनुभव करने के लिए भी बीमार होना अनिवार्य प्रक्रिया है। ऐसा जीवन का तथ्य है। ऐसी फैक्टिसिटी है।

तो जब आप पूछते हैं, क्या जरूरत है आत्मा को संसार में जाने की? तो मैं कहता हूं, मुक्ति के अनुभव के लिए। और आत्मा संसार में आने के पहले भी मुक्त है, लेकिन उस मुक्ति का कोई बोध नहीं हो सकता; उस मुक्ति की कोई प्रतीति नहीं हो सकती; उस मुक्ति का कोई एहसास नहीं हो सकता। खोए बिना एहसास असंभव है।

इसलिए संसार एक परीक्षण है। संसार एक एक्सपेरिमेंट है, स्वयं को खोने का। संसार इससे ज्यादा कुछ भी नहीं है। यह आत्मा का अपना ही चुनाव है कि वह खोए और पाए। परमात्मा संसार में अपने को खोकर पा रहा है; खोता रहेगा, पाता रहेगा; अंधेरे में उतरेगा और प्रकाश में आकर जागेगा कि प्रकाश है।

इसलिए कृष्ण से अगर हम पूछेंगे, तो वे कहेंगे, लीला है--अपने से ही अपने को छिपाने की, अपने से ही अपने को खोजने की, अपने से ही अपने को पाने की--लीला है, बहुत गंभीर मामला नहीं है। बहुत सीरियस होने की जरूरत नहीं है। इसलिए कृष्ण से ज्यादा नान-सीरियस, गैर-गंभीर आदमी खोजना मुश्किल है। और जो गंभीर हैं, वे खबर देते हैं कि उन्हें जीवन के पूरे राज का अभी पता नहीं चला है। जीवन का पूरा राज यही है कि जिसे हम तलाश रहे हैं, उसे हमने खोया है। जिसे हम खोज रहे हैं, उसे हमने छिपाया है। जिसकी तरफ हम जा रहे हैं, उसकी तरफ से हम खुद आए हैं।

पर ऐसा है। और आप पूछें, क्यों है? तो उस क्यों का कोई उत्तर नहीं है। एक क्यों तो जरूर जिंदगी में होगा, जिसका कोई उत्तर नहीं होगा। वह क्यों हम कहां जाकर पकड़ते हैं, यह दूसरी बात है। लेकिन अल्टिमेट व्हाई, आखिरी क्यों का कोई उत्तर नहीं हो सकता है। नहीं हो सकता, इसीलिए फिलासफी, दर्शनशास्त्र फिजूल के चक्कर में घूम जाता है। वह क्यों की तलाश करता है।

इसको थोड़ा समझ लेना उचित है।

दर्शनशास्त्र क्यों की तलाश करता है--ऐसा क्यों है? एक कारण मिल जाता है; फिर वह पूछता है, यह कारण क्यों है? फिर दूसरा कारण मिल जाता है; फिर वह पूछता है, यह कारण क्यों है? फिर इनफिनिट रिग्रेस हो जाता है। फिर अंतहीन है यह सिलसिला। और हर उत्तर नए प्रश्न को जन्म दे जाता है। हम कोई भी कारण खोज लें, फिर भी क्यों तो पूछा ही जा सकता है। ऐसा कोई कारण हो सकता है क्या, जिसके संबंध में सार्थक रूप से क्यों न पूछा जा सके? नहीं हो सकता। इसलिए दर्शनशास्त्र एक बिल्कुल ही अंधी गली है।

विज्ञान नहीं पूछता--क्यों? विज्ञान पूछता है--क्या, व्हाट? इसलिए विज्ञान अंधी गली नहीं है। धर्म भी नहीं पूछता--क्यों? धर्म भी पूछता है--व्हाट, क्या? इसे समझ लेना आप।

विज्ञान और धर्म बहुत निकट हैं। विज्ञान की भी दुश्मनी अगर है, तो फिलासफी से है। और धर्म की भी अगर दुश्मनी है, तो फिलासफी से है। आमतौर से ऐसा ख्याल नहीं है। लोग समझते हैं कि धर्म तो खुद ही एक फिलासफी है।

धर्म बिल्कुल भी फिलासफी नहीं है। धर्म एक विज्ञान है। धर्म यह पूछता है, क्या? क्यों नहीं। क्योंकि धर्म जानता है कि अस्तित्व से क्या का उत्तर मिल सकता है। क्यों का कोई उत्तर नहीं मिल सकता। विज्ञान भी पूछता है, क्या? विज्ञान पूछता है, पानी क्या है? हाइड्रोजन और आक्सीजन। आप पूछें कि क्यों हाइड्रोजन और आक्सीजन मिलते हैं? वैज्ञानिक कहेगा, दार्शनिक से पूछो। हमारी लेबोरेटरी में हम क्या खोजते हैं। हम बता सकते हैं कि हाइड्रोजन और आक्सीजन से मिलकर पानी बनता है। क्या, हम बताते हैं। कैसे, हम बताते हैं। क्यों, कृपा करके हमसे मत पूछो। या तो पागलों से या फिलासफर से, इनसे क्यों पूछो।

वैज्ञानिक कहता है कि हम कितना ही खोजें, हम इतना ही जान सकते हैं कि क्या! और जब हमें क्या पता चल जाए, तो हम जान सकते हैं, कैसे! पानी हाइड्रोजन और आक्सीजन से मिलकर बना है, हमने जान लिया--व्हाट। अब हम खोज कर सकते हैं कि कैसे मिला है। इसलिए विज्ञान क्या की खोज करता है और कैसे को प्रयोगशाला में ढूंढ लेता है।

धर्म भी अस्तित्व के क्या की खोज करता है और योग में कैसे की प्रक्रिया को खोज लेता है। इसलिए धर्म का जो आनुषांगिक अंग है, वह योग है। और विज्ञान का जो आनुषांगिक अंग है, वह प्रयोग है। लेकिन धर्म का कोई संबंध नहीं है क्यों से। क्योंकि एक बात सुनिश्चित है कि हम अस्तित्व के क्यों को न पूछ पाएंगे। अस्तित्व है, और यहीं बात समाप्त हो जाती है।

तो कृष्ण कह रहे हैं कि ऐसा है कि वह जो आत्मा है, वह मरणधर्मा नहीं है। पूछें, क्यों? तो क्यों का कोई सवाल ही नहीं है। ऐसा है, थिंग्स आर सच। वह जो आत्मा है, वह आत्मा जल नहीं सकती, जन्म नहीं लेती, मरती नहीं। क्यों? कृष्ण कहेंगे, ऐसा है। अगर तुम पूछो कि कैसे हम जानें उस आत्मा को, तो रास्ता बताया जा सकता है--जो नहीं मरती, जो नहीं जन्मती। लेकिन अगर पूछें कि क्यों नहीं मरती? तो कृष्ण कहते हैं, कोई उपाय नहीं है। यहां जाकर सब निरुपाय हो जाता है। यहां जाकर आदमी एकदम हेल्पलेस हो जाता है। यहां जाकर बुद्धि एकदम थक जाती और गिर जाती है।

लेकिन बुद्धि क्यों ही पूछती है। उसका रस क्यों में है। क्योंकि अगर आप क्यों पूछें, तो बुद्धि कभी न गिरेगी और कभी न थकेगी, कभी न मरेगी। वह पूछती चली जाएगी, पूछती चली जाएगी, पूछती चली जाएगी।

बचपन में मैंने एक कहानी सुनी है, आपने भी सुनी होगी। एक ब.ूढी औरत, नानी है। बच्चे उसे घर में घेर लेते हैं और कहानी पूछते हैं। वह थक गई है, उसकी सब कहानियां चुक गई हैं। लेकिन बच्चे हैं कि रोज पूछे ही चले जाते हैं। वे फिर-फिर कहते हैं रोज रात, कहानी! और वह ब.ूढी थक गई है, उसकी सब कहानियां चुक गई हैं। अब वह क्या करे और क्या न करे! और बच्चे हैं कि पीछे पड़े हैं।

तो फिर उसने एक कहानी ईजाद की। ठीक वैसी ही जैसी परमात्मा की कहानी है। उसने कहानी ईजाद की। उसने कहा, एक वृक्ष पर अनंत पक्षी बैठे हैं। बच्चे खुश हुए, क्योंकि अनंत पक्षी हैं, कथा अनंत चल सकेगी। उसने कहा, एक शिकारी है, जिसके पास अनंत बाण हैं। उसने एक तीर छोड़ा। तीर के लगते ही वृक्ष पर, एक पक्षी उड़ा। बच्चों ने पूछा, फिर? उस बूढ़ी ने कहा, उस शिकारी ने दूसरा तीर छोड़ा, फिर एक पक्षी उड़ा। बच्चों ने पूछा, फिर! उस बूढ़ी ने कहा, फिर शिकारी ने एक तीर छोड़ा। फिर एक पक्षी उड़ा--फुर्र। बच्चों ने पूछा, फिर! फिर यह कहानी चलने लगी, बस ऐसे ही चलने लगी। फिर बच्चे थक गए और उन्होंने कहा, कुछ और नहीं होगा? उस बूढ़ी स्त्री ने कहा कि अब मैं थक गई हूं, अब और कहानी नहीं। अब यह एक कहानी काफी रहेगी। अब तुम रोज पूछना। फिर उसने एक तीर छोड़ा--अनंत हैं तीर, अनंत हैं पक्षी।

यह जो हमारे क्यों का जगत है, वह ठीक बच्चों जैसा है, जो पूछ रहे हैं, क्यों? क्यों का सवाल चाइल्डिश है, यद्यपि बहुत बुद्धिमान लोग पूछते हुए मालूम पड़ते हैं। असल में बुद्धिमानों से ज्यादा बाल-बुद्धि के लोग खोजने मुश्किल हैं। क्यों का सवाल एकदम बचकाना है। लेकिन बड़ा कीमती मालूम पड़ता है। क्योंकि दुनिया में जिनको हम बुद्धिमान कहते हैं, वे यही पूछते रहे हैं। चाहे वे यूनान के दार्शनिक हों, चाहे भारत के हों और चाहे चीन के हों, वे यह क्यों ही पूछते रहे हैं। और फिर क्यों के उत्तर खोजते रहे हैं। किसी उत्तर ने किसी को तृप्ति

नहीं दी। किसी उत्तर से हल नहीं हुआ। क्योंकि हर उत्तर के बाद पूछने वाले ने पूछा, क्यों? फिर एक तीर, फिर पक्षी उड़ जाता है। और फिर इससे कोई अंतर नहीं पड़ता है।

इसलिए मैंने निरंतर पीछे आपसे कहा कि यह किताब मेटाफिजिकल नहीं है। यह कृष्ण का संदेश जो अर्जुन को है, यह कोई दार्शनिक, कोई तत्व-ज्ञान का नहीं, यह मनस-विज्ञान का है। इसलिए वे कह रहे हैं, ऐसा है। और एक आत्मा जब यात्रा करती है, तो कैसे यात्रा करती है, वह मैंने आपसे कहा। यात्रा का क्या--इतना ही ज्ञात है, इतना ही ज्ञात हो सका है, इतना ही ज्ञात हो सकता है, इससे शेष अज्ञात ही रहेगा।

वह यह कि स्वतंत्रता के पूर्ण अनुभव के पहले परतंत्रता का अनुभव जरूरी है। मुक्ति के पूरे आकाश में उड़ने के पहले किसी कारागृह, किसी पिंजरे के भीतर थोड़ी देर टिकना उपयोगी है। उसकी यूटिलिटी है। इसलिए आत्मा यात्रा करती है। और जब तक आत्मा बहुत गहरी नहीं उतर जाती पाप, अंधकार, बुराई, कारागृह में, तब तक लौटती भी नहीं।

कल कोई दोपहर मुझसे पूछता था कि वाल्मीकि जैसे पापी उपलब्ध हो जाते हैं ज्ञान को! तो मैंने कहा, वही हो पाते हैं। जो मीडियाकर हैं, जो बीच में होते हैं, उनका अनुभव ही अभी पाप का इतना नहीं कि पुण्य की यात्रा शुरू हो सके। इसलिए वे बीच में ही रहते हैं। लेकिन वाल्मीकि के लिए तो आगे जाने का रास्ता ही खतम हो जाता है; कल-डि-सैक आ जाता है; वहां सब रास्ता ही खतम हो जाता है। अब और वाल्मीकि क्या पाप करें? आखिरी आ गई यात्रा। अब दूसरी यात्रा शुरू होती।

इसलिए अक्सर गहरा पापी गहरा संत हो जाता है। साधारण पापी साधारण सज्जन ही होकर जीता है। जितने गहरे अंधकार की यात्रा होगी, उतनी अंधकार से मुक्त होने की आकांक्षा का भी जन्म होता है; उतनी ही तीव्रता से यात्रा भी होती है दूसरी दिशा में भी।

इसलिए आत्मा निष्क्रिय होते हुए भी कामना तो करती है यात्रा की। निष्क्रिय कामना भी हो सकती है। आप कुछ न करें, सिर्फ कामना करें। लेकिन आत्मा के तल पर कामना ही एक्ट बन जाती है, दि वेरी डिजायर बिकम्स दि एक्ट। वहां सिर्फ कामना करना ही कृत्य हो जाता है। वहां कोई और कृत्य करने की जरूरत नहीं होती।

इसलिए शास्त्र कहते हैं कि परमात्मा ने कामना की, तो जगत निर्मित हुआ। बाइबिल कहती है कि परमात्मा ने कहा, लेट देअर बी लाइट, एंड देअर वा.ज लाइट। कहा कि प्रकाश हो, और प्रकाश हो गया। यहां प्रकाश हो और प्रकाश के हो जाने के बीच कोई भी कृत्य नहीं है; सिर्फ कामना है। आत्मा की कामना कि अंधेरे को जाने, कि यात्रा शुरू हो गई। आत्मा की कामना कि मुक्त हों, कि यात्रा शुरू हो गई। आत्मा की कामना कि जानें परम सत्य को, कि यात्रा शुरू हो गई।

और आपको अगर कृत्य करने पड़ते हैं, तो वे इसलिए करने पड़ते हैं कि कामना पूरी नहीं है। असल में कृत्य सिर्फ कामना की कमी को पूरा करते हैं, फिर भी पूरा नहीं कर पाते। अगर कामना पूरी है, तो कृत्य तत्काल हो जाता है। अगर आप इसी क्षण पूरे भाव से कामना कर पाएं कि परमात्मा को जानूं, तो एक सेकेंड भी नहीं गिरेगा और परमात्मा जान लिया जाएगा।

अगर बाधा पड़ती है, तो कृत्य की कमी से नहीं; बाधा पड़ती है, भीतर मन ही पूरा नहीं कहता। वह यह कहता है, जरा और सोच लूं; इतनी जल्दी भी क्या है जानने की! एक मन कहता है, जानें। आधा मन कहता है, छोड़ो। क्या रखा है! परमात्मा है भी, नहीं है--कुछ पता नहीं है। कामना ही पूरी नहीं है।

इसलिए कृष्ण जब कहते हैं, आत्मा निष्क्रिय है, तो इस बात को ठीक से समझ लेना कि आत्मा के लिए कृत्य करने की अनिवार्यता ही नहीं है। आत्मा के लिए कामना करना ही पर्याप्त कृत्य है। अगर यह ख्याल में आ जाए, तो ही यह बात ख्याल में आ पाएगी कि कृष्ण अर्जुन को समझाए चले जा रहे हैं, इस आशा में कि अगर समझ भी पूरी हो जाए, तो बात पूरी हो जाती है; कुछ और करने को बचता नहीं है। कुछ ऐसा नहीं है कि समझ पूरी हो जाए, तो फिर शीर्षासन करना पड़े, आसन करना पड़े, व्यायाम करना पड़े, फिर मंदिर में घंटी बजानी पड़े, फिर पूजा करनी पड़े, फिर प्रार्थना करनी पड़े। अगर अंडरस्टैंडिंग पूरी हो जाए, तो कुछ करने को बचता नहीं। वह पूरी नहीं होती है, इसलिए सब उपद्रव करना पड़ता है। सारा रिचुअल सब्स्टीट्यूट है। जो भी क्रियाकांड है, वह समझ की कमी को पूरा करवा रहा है और कुछ नहीं। उससे पूरी होती भी नहीं, सिर्फ वहम पैदा होता है कि पूरी हो रही है। अगर समझ पूरी हो जाए, तो तत्काल घटना घट जाती है।

एडिंग्टन ने अपने आत्म-संस्मरणों में लिखा है कि जब मैंने जगत की खोज शुरू की थी, तो मैं कुछ और सोचता था। मैं सोचता था, जगत वस्तुओं का एक संग्रह है। अब जब कि मैं जगत की खोज, जितनी मुझसे हो सकती थी, करके विदा की बेला में आ गया हूं, तो मैं कहना चाहता हूं, दि वर्ल्ड इ.ज लेस लाइक ए थिंग एंड मोर लाइक ए थाट। अब यह नोबल प्राइज विनर वैज्ञानिक कहे, तो थोड़ा सोचने जैसा है। वह कहता है कि जगत वस्तु के जैसा कम और विचार के जैसा ज्यादा है।

अगर जगत विचार के जैसा ज्यादा है, तो कृत्य मूल्यहीन है, संकल्प मूल्यवान है। कृत्य संकल्प की कमी है। इसलिए हमें लगता है कि कुछ करें भी, तब पूरा हो पाएगा।

संकल्प ही काफी है। आत्मा बिल्कुल निष्क्रिय है। और उसका संकल्प ही एकमात्र सक्रियता है। संकल्प है कि हम जगत में जाएं, तो हम आ गए। जिस दिन संकल्प होगा कि उठ जाएं वापस, उसी दिन हम वापस लौट जाते हैं। लेकिन जगत का अनुभव, लौटने के संकल्प के लिए जरूरी है।

प्रश्नः भगवान श्री, बहुत सारे श्रोताओं की जिज्ञासा मंडराती है इस प्रश्न के बारे में। क्या एस्ट्रल बाडी और प्रेतात्मा एक ही चीज हैं? क्या ऐसी प्रेतात्मा दूसरे स्थूल शरीर में प्रवेश करके परेशान कर सकती है? उसका क्या उपाय है? बहुत सारे श्रोताजनों ने यह पूछा है।

जैसा मैंने कहा, साधारण व्यक्ति, सामान्यजन, जो न बहुत बुरा है, न बहुत अच्छा है... । चार तरह के लोग हैं। साधारणजन, जो अच्छाई और बुराई के मिश्रण हैं। असाधारणजन, जो या तो शुद्ध बुराई हैं अधिकतम या शुद्ध अच्छाई हैं अधिकतम। तीसरे वे लोग, जो न बुराई हैं, न अच्छाई हैं--दोनों नहीं हैं। इनके लिए क्या नाम दें, कहना कठिन है। चौथे वे लोग, जो बुराई और अच्छाई में बिल्कुल समतुल हैं, बैलेंस्ड हैं। ये तीसरे और चौथे लोग ऐसे हैं, जिनकी जन्म की यात्रा बंद हो जाएगी। उनकी हम पीछे बात करेंगे। पहले और दूसरे लोग ऐसे हैं, जिनकी जन्म की यात्रा जारी रहेगी।

जो पहली तरह के लोग हैं--मिश्रण; अच्छे भी, बुरे भी, दोनों ही एक साथ; कभी बुरे, कभी अच्छे; अच्छे में भी बुरे, बुरे में भी अच्छे; सबका जोड़ हैं; निर्णायक नहीं, इनडिसीसिव; इधर से उधर डोलते रहते हैं--इनके लिए साधारणतया मरने के बाद तत्काल गर्भ मिल जाता है। क्योंकि इनके लिए बहुत गर्भ उपलब्ध हैं। सारी पृथ्वी इन्हीं के लिए मैन्युफैक्चर कर रही है। इनके लिए फैक्टरी जगह-जगह है। इनकी मांग बहुत असाधारण

नहीं है। ये जो चाहते हैं, वह बहुत साधारण व्यक्तित्व है, जो कहीं भी मिल सकता है। ऐसे आदमी प्रेत नहीं होते। ऐसे आदमी तत्काल नया शरीर ले लेते हैं।

लेकिन बहुत अच्छे लोग और बहुत बुरे लोग, दोनों ही बहुत समय तक अटक जाते हैं। उनके लिए उनके योग्य गर्भ मिलना मुश्किल हो जाता है। जैसा मैंने कहा कि हिटलर के लिए या चंगेज के लिए या स्टैलिन के लिए या गांधी के लिए या अलबर्ट शवित्जर के लिए, इस तरह के लोगों के लिए जन्म एक मृत्यु के बाद काफी समय ले लेता है--जब तक योग्य गर्भ उपलब्ध न हो। तो बुरी आत्माएं और अच्छी आत्माएं, एक्सट्रीमिस्ट; जिन्होंने बुरे होने का ठेका ही ले रखा था जीवन में, ऐसी आत्माएं; जिन्होंने भले होने का ठेका ले रखा था, ऐसी आत्माएं--इनको रुक जाना पड़ता है।

जो इनमें बुरी आत्माएं हैं, उनको ही हम भूत-प्रेत कहते हैं। और इनमें जो अच्छी आत्माएं हैं, उनको ही हम देवता कहते रहे हैं। ये काफी समय तक रुक जाती हैं, कई बार तो बहुत समय तक रुक जाती हैं। हमारी पृथ्वी पर हजारों साल बीत जाते हैं, तब तक रुक जाती हैं।

पूछा है कि क्या ये दूसरे के शरीर में प्रवेश कर सकती हैं?

कर सकती हैं। प्रत्येक व्यक्ति के शरीर में जितनी संकल्पवान आत्मा हो, उतनी ही रिक्त जगह नहीं होती। जितनी विल पावर की आत्मा हो, उतनी ही उसके शरीर में रिक्त जगह नहीं होती, जिसमें कोई दूसरी आत्मा प्रवेश कर सके। जितनी संकल्पहीन आत्मा हो, उतनी ही रिक्त जगह होती है।

इसे थोड़ा समझना जरूरी है। जब आप संकल्प से भरते हैं, तब आप फैलते हैं। संकल्प एक्सपैंडिंग चीज है। और जब आपका संकल्प निर्बल होता है, तब आप सिकुड़ते हैं। जब आप हीन-भाव से भरते हैं, तो सिकुड़ जाते हैं। यह बिल्कुल सिकुड़ने और फैलने की घटना घटती है भीतर।

तो जब आप कमजोर होते हैं, भयभीत होते हैं, डरे हुए होते हैं, आत्मग्लानि से भरे होते हैं, आत्म-अविश्वास से भरे होते हैं, स्वयं के प्रति अश्रद्धा से भरे होते हैं, स्वयं के प्रति निराशा से भरे होते हैं, तब आपके भीतर का जो सूक्ष्म शरीर है, वह सिकुड़ जाता है। और आपके इस शरीर में इतनी जगह होती है फिर कि कोई भी आत्मा प्रवेश कर सकती है। आप दरवाजा दे सकते हैं।

आमतौर से भली आत्माएं प्रवेश नहीं करती हैं। नहीं करने का कारण है। क्योंकि भली आत्मा जिंदगीभर ऐंद्रिक सुखों से मुक्त होने की चेष्टा में लगी रहती है। एक अर्थ में, भली आत्मा शरीर से ही मुक्त होने की चेष्टा में लगी रहती है। लेकिन बुरी आत्मा के जीवन के सारे अनुभव शरीर के सुख के अनुभव होते हैं। और बुरी आत्मा, शरीर से बाहर होने पर जब उसे नया जन्म नहीं मिलता, तो उसकी तड़फन भारी हो जाती है; उसकी पीड़ा भारी हो जाती है। उसको अपना शरीर तो मिल नहीं रहा है, गर्भ उपलब्ध नहीं है, लेकिन वह किसी के शरीर पर सवार होकर इंद्रिय के सुखों को चखने की चेष्टा करती है। तो अगर कहीं भी कमजोर संकल्प का आदमी हो... ।

इसीलिए पुरुषों की बजाय स्त्रियों में प्रेतात्माओं का प्रवेश मात्रा में ज्यादा होता है। क्योंकि स्त्रियों को हम अब तक संकल्पवान नहीं बना पाए हैं। जिम्मा पुरुष का है, क्योंकि पुरुष ने स्त्रियों का संकल्प तोड़ने की निरंतर कोशिश की है। क्योंकि जिसे भी गुलाम बनाना हो, उसे संकल्पवान नहीं बनाया जा सकता। जिसे गुलाम बनाना हो, उसके संकल्प को हीन करना पड़ता है, इसलिए स्त्री के संकल्प को हीन करने की निरंतर चेष्टा की गई है हजारों साल में। जो आध्यात्मिक संस्कृतियां हैं, उन्होंने भी भयंकर चेष्टा की है कि स्त्री के संकल्प को हीन करें, उसे डराएं, उसे भयभीत करें। क्योंकि पुरुष की प्रतिष्ठा उसके भय पर ही निर्भर करेगी।

तो स्त्री में जल्दी प्रवेश... । और मात्रा बहुत ज्यादा है। दस प्रतिशत पुरुष ही प्रेतात्माओं से पीड़ित होते हैं, नब्बे प्रतिशत स्त्रियां पीड़ित होती हैं। संकल्प नहीं है; जगह खाली है; प्रवेश आसान है।

संकल्प जितना मजबूत हो, स्वयं पर श्रद्धा जितनी गहरी हो, तो हमारी आत्मा हमारे शरीर को पूरी तरह घेरे रहती है। अगर संकल्प और बड़ा हो जाए, तो हमारा सूक्ष्म शरीर हमारे इस शरीर के बाहर भी घेराव बनाता है--बाहर भी। इसलिए कभी किन्हीं व्यक्तियों के पास जाकर, जिनका संकल्प बहुत बड़ा है, आप तत्काल अपने संकल्प में परिवर्तन पाएंगे। क्योंकि उनका संकल्प उनके शरीर के बाहर भी वर्तुल बनाता है। उस वर्तुल के भीतर अगर आप गए, तो आपका संकल्प परिवर्तित होता हुआ मालूम पड़ेगा। बहुत बुरे आदमी के पास भी।

अगर एक वेश्या के पास जाते हैं, तो भी फर्क पड़ेगा। एक संत के पास जाते हैं, तो भी फर्क पड़ेगा। क्योंकि उसके संकल्प का वर्तुल, उसके सूक्ष्म शरीर का वर्तुल, उसके स्थूल शरीर के भी बाहर फैला होता है। यह फैलाव बहुत बड़ा भी हो सकता है। इस फैलाव के भीतर आप अचानक पाएंगे कि आपके भीतर कुछ होने लगा, जो आपका नहीं मालूम पड़ता। आप कुछ और तरह के आदमी थे, लेकिन कुछ और हो रहा है भीतर।

तो हमारा संकल्प इतना छोटा भी हो सकता है कि इस शरीर के भीतर भी सिकुड़ जाए, इतना बड़ा भी हो सकता है कि इस शरीर के बाहर भी फैल जाए। वह इतना बड़ा भी हो सकता है कि पूरे ब्रह्मांड को घेर ले। जिन लोगों ने कहा, अहं ब्रह्मास्मि, वह संकल्प के उस क्षण में उन्हें अनुभव हुआ है, जब सारा संकल्प सारे ब्रह्मांड को घेर लेता है। तब चांद-तारे बाहर नहीं, भीतर चलते हुए मालूम पड़ते हैं। तब सारा अस्तित्व अपने ही भीतर समाया हुआ मालूम पड़ता है। संकल्प इतना भी सिकुड़ जाता है कि आदमी को यह भी पक्का पता नहीं चलता कि मैं जिंदा हूं कि मर गया। इतना भी सिकुड़ जाता है।

इस संकल्प के अति सिकुड़े होने की हालत में ही नास्तिकता का गहरा हमला होता है। संकल्प के फैलाव की स्थिति में ही आस्तिकता का गहरा हमला होता है। संकल्प जितना फैलता है, उतना ही आदमी आस्तिक अनुभव करता है अपने को। क्योंकि अस्तित्व इतना बड़ा हो जाता है कि नास्तिक होने का कोई कारण नहीं रह जाता। संकल्प जब बहुत सिकुड़ जाता है, तो नास्तिक अनुभव करता है। अपने ही पैर डांवाडोल हों, अपना ही अस्तित्व न होने जैसा हो, उस क्षण आस्तिकता नहीं उभर सकती; उस वक्त जीवन के प्रति नहीं का भाव, न का भाव पैदा होता है। नास्तिकता और आस्तिकता मनोवैज्ञानिक सत्य हैं--मनोवैज्ञानिक।

सिमन वेल ने लिखा है कि तीस साल की उम्र तक मेरे सिर में भारी दर्द था। चौबीस घंटे होता था। तो मैं कभी सोच ही नहीं पाई कि परमात्मा हो सकता है। जिसके सिर में चौबीस घंटे दर्द है, उसको बहुत मुश्किल है मानना कि परमात्मा हो सकता है।

अब यह बड़े मजे की बात है कि सिरदर्द जैसी छोटी चीज भी परमात्मा को दरवाजे के बाहर कर सकती है। वह ईश्वर के न होने की बात करती रही। उसे कभी ख्याल भी न आया कि ईश्वर के न होने का बहुत गहरा कारण मेडिकल है। उसे ख्याल भी नहीं आया कि ईश्वर के न होने का कारण सिरदर्द है। तर्क और दलीलें और नहीं। जिसके सिर में दर्द है, उसके मन से नहीं का भाव उठता है। उसके मन से हां का भाव नहीं उठता। हां के भाव के लिए भीतर बड़ी प्रफुल्लता चाहिए, तब हां का भाव उठता है।

फिर सिरदर्द ठीक हो गया। तब उसे एहसास हुआ कि उसके भीतर से इनकार का भाव कम हो गया है। तब उसे एहसास हुआ कि वह न मालूम किस अनजाने क्षण में नास्तिक से आस्तिक होने लगी।

संकल्प अगर क्षीण है, तो प्रेतात्माएं प्रवेश कर सकती हैं; बुरी प्रेतात्माएं, जिन्हें हम भूत कहें, प्रवेश कर सकती हैं, क्योंकि वे आतुर हैं। पूरे समय आतुर हैं कि अपना शरीर नहीं है, तो आपके शरीर से ही थोड़ा-सा रस

ले लें। और शरीर के रस शरीर के बिना नहीं लिए जा सकते हैं, यह तकलीफ है। शरीर के रस शरीर से ही लिए जा सकते हैं।

अगर एक कामुक आत्मा है, सेक्सुअल आत्मा है और उसके पास अपना शरीर नहीं है, तो सेक्सुअलिटी तो पूरी होती है, शरीर नहीं होता, इंद्रियां नहीं होतीं। अब उसकी पीड़ा आप समझ सकते हैं। उसकी पीड़ा बड़ी मुश्किल की हो गई। चित्त कामुक है, और उपाय बिल्कुल नहीं है, शरीर नहीं है पास में। वह किसी के भी शरीर में प्रवेश करके कामवासना को तृप्त करने की चेष्टा कर सकती है।

शुभ आत्माएं आमतौर से प्रवेश नहीं करतीं, जब तक कि आमंत्रित न की जाएं। अनइनवाइटेड उनका प्रवेश नहीं होता। क्योंकि उनके लिए शरीर की कोई आकांक्षा नहीं है। लेकिन इनविटेशन पर, आमंत्रण पर, उनका प्रवेश हो सकता है। आमंत्रण का मतलब इतना ही हुआ कि अगर कोई ऐसी घड़ी हो, जहां उनका उपयोग किया जा सके, जहां वे सहयोगी हों और सेवा दे सकें, तो वे तत्काल उपलब्ध हो जाती हैं। बुरी आत्मा हमेशा अनइनवाइटेड प्रवेश करती है, घर के पीछे के दरवाजे से; भली आत्मा आमंत्रित होकर प्रवेश कर सकती है।

लेकिन भली आत्माओं का प्रवेश निरंतर कम होता चला गया है, क्योंकि आमंत्रण की विधि खो गई है। और बुरी आत्माओं का प्रवेश बढ़ता चला गया है। क्यों? क्योंकि संकल्प दीन-हीन और नकारात्मक, निगेटिव हो गया है। इसलिए आज पृथ्वी पर देवता की बात करना झूठ है; भूत की बात करना झूठ नहीं है। प्रेत अभी भी अस्तित्ववान हैं; देवता कल्पना हो गए हैं।

लेकिन देवताओं को बुलाने की, निमंत्रण की विधियां थीं। सारा वेद उन्हीं विधियों से भरा हुआ है। उसके अपने सीक्रेट मैथड्स हैं कि उन्हें कैसे बुलाया जाए, उनसे कैसे तारतम्य, उनसे कैसे कम्युनिकेशन, उनसे कैसे संबंध स्थापित किया जाए, उनसे चेतना कैसे जुड़े। और निश्चित ही, बहुत कुछ है जो उनके द्वारा ही जाना गया है। और इसीलिए उसके लिए आदमी के पास कोई प्रमाण नहीं है।

अब यह जानकर आपको हैरानी होगी कि सात सौ साल पुराना एक पृथ्वी का नक्शा बेरूत में मिला है। सात सौ साल पुराना, पृथ्वी का नक्शा, बेरूत में मिला है। वह नक्शा ऐसा है, जो बिना हवाई जहाज के नहीं बनाया जा सकता। जिसके लिए हवाई जहाज की ऊंचाई पर उड़कर पृथ्वी देखी जाए, तो ही बनाया जा सकता है। लेकिन सात सौ साल पहले हवाई जहाज ही नहीं था। इसलिए बड़ी मुश्किल में वैज्ञानिक पड़ गए हैं उस नक्शे को पाकर। बहुत कोशिश की गई कि सिद्ध हो जाए कि वह नक्शा सात सौ साल पुराना नहीं है, लेकिन सिद्ध करना मुश्किल हुआ है। वह कागज सात सौ साल पुराना है। वह स्याही सात सौ साल पुरानी है। वह भाषा सात सौ साल पुरानी है। जिन दीमकों ने उस कागज को खा लिया है, वे छेद भी पांच सौ साल पुराने हैं। लेकिन वह नक्शा बिना हवाई जहाज के नहीं बन सकता।

तो एक तो रास्ता यह है कि सात सौ साल पहले हवाई जहाज रहा हो, जो कि ठीक नहीं है। सात हजार साल पहले रहा हो, इसकी संभावना है; सात सौ साल पहले रहा हो, इसकी संभावना नहीं है। क्योंकि सात सौ साल बहुत लंबा फासला नहीं है। सात सौ साल पहले हवाई जहाज रहा हो और बाइसिकल न रही हो, यह नहीं हो सकता। क्योंकि हवाई जहाज एकदम से आसमान से नहीं बनते। उनकी यात्रा है--बाइसिकल है, कार है, रेल है, तब हवाई जहाज बन पाता है। ऐसा एकदम से टपक नहीं जाता आसमान से। तो एक तो रास्ता यह है कि हवाई जहाज रहा हो, जो कि सात सौ साल पहले नहीं था।

दूसरा रास्ता यह है कि अंतरिक्ष के यात्री आए हों--जैसा कि एक रूसी वैज्ञानिक ने सिद्ध करने की कोशिश की है--कि किसी दूसरे प्लेनेट से कोई यात्री आए हों और उन्होंने यह नक्शा दिया हो। लेकिन दूसरे

प्लेनेट से यात्री सात सौ साल पहले आए हों, यह भी संभव नहीं है। सात हजार साल पहले आए हों, यह संभव है। क्योंकि सात सौ साल बहुत लंबी बात नहीं है। इतिहास के घेरे की बात है। हमारे पास कम से कम दो हजार साल का तो सुनिश्चित इतिहास है। उसके पहले का इतिहास नहीं है। इसलिए इतनी बड़ी घटना सात सौ साल पहले घटी हो कि अंतरिक्ष से यात्री आए हों और उसका एक भी उल्लेख न हो, जब कि सात सौ साल पहले की किताबें पूरी तरह उपलब्ध हैं, संभव नहीं है।

मैं तीसरा सुझाव देता हूं, जो अब तक नहीं दिया गया। और वह सुझाव मेरा यह है कि यह जो नक्शे की खबर है, यह किसी आत्मा के द्वारा दी गई खबर है, जो किसी व्यक्ति में इनवाइटेड हुई। जो किसी व्यक्ति के द्वारा बोली।

पृथ्वी गोल है, यह तो पश्चिम में अभी पता चला। ज्यादा समय नहीं हुआ, अभी कोई तीन सौ साल। लेकिन हमारे पास भूगोल शब्द हजारों साल पुराना है। तब भूगोल जिन्होंने शब्द गढ़ा होगा, उनको पृथ्वी गोल नहीं है, ऐसा पता रहा हो, नहीं कहा जा सकता। नहीं तो भूगोल शब्द कैसे गढ़ेंगे! लेकिन आदमी के पास--जमीन गोल है--इसको जानने के साधन बहुत मुश्किल मालूम पड़ते हैं। सिवाय इसके कि यह संदेश कहीं से उपलब्ध हुआ हो।

आदमी के ज्ञान में बहुत-सी बातें हैं, जिनकी कि प्रयोगशालाएं नहीं थीं, जिनका कि कोई उपाय नहीं था। जैसे कि लुकमान के संबंध में कथा है। और अब तो वैज्ञानिक को भी संदेह होने लगा है कि कथा ठीक होनी चाहिए।

लुकमान के संबंध में कथा है कि उसने पौधों से जाकर पूछा कि बता दो, तुम किस बीमारी में काम आ सकते हो? पौधे बताते हुए मालूम नहीं पड़ते। लेकिन दूसरी बात भी मुश्किल मालूम पड़ती है कि लाखों पौधों के संबंध में लुकमान ने जो खबर दी है, वह इतनी सही है, कि या तो लुकमान की उम्र लाखों साल रही हो और लुकमान के पास आज से भी ज्यादा विकसित फार्मेसी की प्रयोगशालाएं रही हों, तब वह जांच कर पाए कि कौन-सा पौधा किस बीमारी में काम आता है। लेकिन लुकमान की उम्र लाखों साल नहीं है। और लुकमान के पास कोई प्रयोगशाला की खबर नहीं है। लुकमान तो अपना झोला लिए जंगलों में घूम रहा है और पौधों से पूछ रहा है। पौधे बता सकेंगे?

मेरी अपनी समझ और है। पौधे तो नहीं बता सकते, लेकिन शुभ आत्माएं पौधों के संबंध में खबर दे सकती हैं। बीच में मीडिएटर कोई आत्मा काम कर रही है, जो पौधों की बाबत खबर दे सकती है कि यह पौधा इस काम में आ जाएगा।

अब यह बड़े मजे की बात है, जैसे कि हमारे मुल्क में आयुर्वेद की सारी खोज बहुत गहरे में प्रयोगात्मक नहीं है, बहुत गहरे में देवताओं के द्वारा दी गई सूचनाओं पर निर्भर है। इसलिए आयुर्वेद की कोई दवा आज भी प्रयोगशाला में सिद्ध होती है कि ठीक है। लेकिन हमारे पास कभी कोई बड़ी प्रयोगशाला नहीं थी, जिसमें हमने उसको सिद्ध किया हो।

जैसे सर्पगंधा है। अब आज हमको पता चला कि वह सच में ही, सुश्रुत से लेकर अब तक सर्पगंधा के लिए जो ख्याल था, वह ठीक साबित हुआ। लेकिन अब पश्चिम में सर्पेटीना--सर्पगंधा का रूप है वह--अब वह भारी उपयोग की चीज हो गई है। पागलों के इलाज के लिए अनिवार्य चीज हो गई है। लेकिन यह सर्पगंधा का पता कैसे चला होगा? क्योंकि आज तो पश्चिम के पास प्रयोगशाला है, जिसमें सर्पगंधा की केमिकल एनालिसिस हो सकती है। लेकिन हमारे पास ऐसी कोई प्रयोगशाला थी, इसकी खबर नहीं मिलती। यह सर्पगंधा की खबर,

आमंत्रित आत्माओं से मिली हुई खबर है। और बहुत देर नहीं है कि हमें आमंत्रित आत्माओं के उपयोग फिर खोजने पड़ेंगे।

इसलिए आज जब आप वेद को पढ़ें, तो कपोल-कल्पना हो जाती है, झूठ मालूम पड़ता है कि क्या बातचीत कर रहे हैं ये--इंद्र आओ, वरुण आओ, फलां आओ, ढिकां आओ। और इस तरह बात कर रहे हैं कि जैसे सच में आ रहे हों। और फिर इंद्र को भेंट भी कर रहे हैं, इंद्र से प्रार्थना भी कर रहे हैं। और इतने बड़े वेद में कहीं भी एक जगह कोई ऐसी बात नहीं मालूम पड़ती कि कोई एक भी आदमी शक कर रहा हो कि क्या पागलपन की बात कर रहे हो! किससे बात कर रहे हो! देवता, वेद के समय में बिल्कुल जमीन पर चलते हुए मालूम पड़ते हैं।

निमंत्रण की विधि थी। सब हवन, यज्ञ बहुत गहरे में निमंत्रण की विधियां हैं, इनविटेशंस हैं, इनवोकेशंस हैं। उसकी बात तो कहीं आगे होगी, तो बात कर लेंगे।

लेकिन यह जो आपने पूछा, तो सूक्ष्म शरीर ही स्थूल शरीर से मुक्त रहकर प्रेत और देव दिखाई पड़ता है।

अथ चैनं नित्यजातं नित्यं वा मन्यसे मृतम्।

तथापि त्वं महाबाहो नैवं शोचितुमर्हसि।। 26।।

और यदि तू इसको सदा जन्मने और सदा मरने वाला माने, तो भी हे अर्जुन, इस प्रकार शोक करना योग्य नहीं है।

कृष्ण का यह वचन बहुत अदभुत है। यह कृष्ण अपनी तरफ से नहीं बोलते, यह अर्जुन की मजबूरी देखकर कहते हैं। कृष्ण कहते हैं, लेकिन तुम कैसे समझ पाओगे कि आत्मा अमर है? तुम कैसे जान पाओगे इस क्षण में कि आत्मा अमर है? छोड़ो, तुम यही मान लो, जैसा कि तुम्हें मानना सुगम होगा कि आत्मा मर जाती है, सब समाप्त हो जाता है। लेकिन महाबाहो! कृष्ण कहते हैं अर्जुन से, अगर ऐसा ही तुम मानते हो, तब भी मृत्यु के लिए सोच करना व्यर्थ हो जाता है। जो मिट ही जाता है, उसको मिटाने में इतनी चिंता क्या है? जो मिट ही जाएगा--तुम नहीं मिटाओगे तो भी मिट जाएगा--उसको मिटाने में इतने परेशान क्यों हो? और जो मिट ही जाता है, उसमें हिंसा कैसी?

एक यंत्र को तोड़ते वक्त तो हम नहीं कहते कि हिंसा हो गई। एक घड़ी को फोड़ दें पत्थर पर पटककर, तब तो नहीं कहते कि हिंसा हो गई, तब तो हम नहीं कहते कि बड़ा पाप हो गया! क्यों? क्योंकि कुछ भी तो नहीं था घड़ी में, जो न मिटने वाला हो।

तो कृष्ण कहते हैं, जो मिट ही जाने वाले यंत्र की भांति हैं, जिनमें कोई अजर, अमर तत्व ही नहीं है, तो मिटा दो इन यंत्रों को, हर्ज क्या है? फिर चिंतित क्यों होते हो? और कल तुम भी मिट जाओगे, तो किस पर लगेगा पाप? कौन होगा भागीदार पाप का? कौन भोगेगा? कौन किसी यात्रा पर तुम जा रहे हो, जहां कि इनको मारने का जिम्मा और रिस्पांसिबिलिटी तुम्हारी होने को है? तुम भी नहीं बचोगे। ये भी मर जाएंगे, तुम भी मर जाओगे; डस्ट अनटु डस्ट, धूल धूल में गिर जाएगी। तो चिंता क्या करते हो?

लेकिन ध्यान रहे, यह कृष्ण अपनी तरफ से नहीं बोलते। कृष्ण इतनी बात कहकर अर्जुन की आंखों में देखते होंगे, कुछ परिणाम नहीं होता है। परिणाम आसान भी नहीं है। आपकी आंखों में देखूं, तो जानता हूं कि नहीं होता है।

आत्मा अमर है, सुनने से नहीं होता है कुछ। देखा होगा कृष्ण ने कि वह अर्जुन वैसा ही निढाल बैठा है। ये बातें उसके सिर पर से गुजर जाती हैं। सुनता है कि आत्मा अमर है, लेकिन उसकी चिंता में कोई अंतर नहीं पड़ता। तो कृष्ण यह वचन मजबूरी में अर्जुन की तरफ से बोलते हैं। वे कहते हैं, छोड़ो, मुझे छोड़ो। मैं जो कहता हूं, उसे जाने दो। फिर ऐसा ही मान लो, तुम जो कहते हो, वही ठीक है। लेकिन ध्यान रहे, वे कहते हैं, ऐसा ही मान लो, लेट अस सपोज। कहते हैं, ऐसा ही स्वीकार कर लेते हैं। तुम जो कहते हो, वही मान लेते हैं कि आत्मा मर जाती है, तो फिर तुम चिंता कैसे कर रहे हो? फिर चिंता का कोई भी कारण नहीं। फिर धूल धूल में गिर जाएगी। मिट्टी मिट्टी में मिल जाएगी। पानी पानी में खो जाएगा। आग आग में लीन हो जाएगी। आकाश आकाश में तिरोहित हो जाएगा। फिर चिंता कैसी?

यह अर्जुन के ही तर्क से, अर्जुन की ही ओर से कृष्ण कोशिश करते हैं। यह कृष्ण का वक्तव्य बताता है कि अर्जुन को देखकर कैसी निराशा उन्हें न हुई होगी। यह वक्तव्य बहुत मजबूरी में दिया हुआ वक्तव्य है। यह वक्तव्य खबर देता है कि अर्जुन बैठा सुनता रहा होगा। फिर भी उसकी आंखों में वही प्रश्न रहे होंगे, वही चिंता रही होगी, वही उदासी रही होगी। सुन लिया होगा उसने और कुछ भी नहीं सुना होगा।

इस वक्त जीसस का मुझे स्मरण आता है। जीसस ने कहा है, कान हैं तुम्हारे पास, लेकिन तुम सुनते कहां! आंख है तुम्हारे पास, लेकिन तुम देखते कहां!

कृष्ण को ऐसा ही लगा होगा। नहीं सुन रहा है, नहीं सुन रहा है, नहीं समझ रहा है। बात भी सुनने और समझने से आने वाली कहां है! कसूर भी उसका क्या है! बात अस्तित्वगत है, बात अनुभूतिगत है। मात्र सुनने से कैसे समझ में आ जाएगी?

नहीं, अभी कृष्ण को और मेहनत लेनी पड़ेगी। और-और आयामों से दरवाजे उसके खटखटाने पड़ेंगे। अभी तक वे जो कह रहे थे, पर्वत के शिखर से कह रहे थे। अब वे अंधेरी गली का तर्क ही अंधेरी गली के लिए उपयोग कर रहे हैं।

जातस्य हि धु्रवो मृत्युर्ध्रुवं जन्म मृतस्य च।
तस्मादपरिहार्येऽर्थे न त्वं शोचितुमर्हसि।। 27।।
अव्यक्तादीनि भूतानि व्यक्तमध्यानि भारत।
अव्यक्तनिधनान्येव तत्र का परिदेवना।। 28।।

क्योंकि ऐसा होने से तो जन्मने वाले की निश्चित मृत्यु और मरने वाले का निश्चित जन्म होना सिद्ध हुआ। इससे भी तू इस बिना उपाय वाले विषय में शोक करने को योग्य नहीं है। (और यह भीष्मादिकों के शरीर मायामय होने से अनित्य हैं, इससे शरीरों के लिए शोक करना उचित नहीं है, क्योंकि) हे अर्जुन, संपूर्ण प्राणी जन्म से पहले बिना शरीर वाले और मरने के बाद भी बिना शरीर वाले ही हैं।

केवल बीच में ही शरीर वाले (प्रतीत होते) हैं।

फिर उस विषय में क्या चिंता है?

ख्याल आपको आया होगा कि कृष्ण जब अपनी तरफ से बोल रहे थे, तब उन्होंने अर्जुन को मूर्ख भी कहा। जब वे अपनी सतह से बोल रहे थे, तब अर्जुन को मूढ़ कहने में भी उन्हें कठिनाई न हुई। लेकिन जब वे अर्जुन की तरफ से बोल रहे हैं, तब उसे महाबाहो, भारत... तब उसे बड़ी प्रतिष्ठा दे रहे हैं, बड़े औपचारिक शब्दों का

उपयोग कर रहे हैं। जब अपनी तरफ से बोल रहे थे, तब उसे निपट मूढ़ कहा, कि तू निपट गंवार है, तू बिल्कुल मूढ़ है, तू बिल्कुल मंद-बुद्धि है। लेकिन अब उसी मंद-बुद्धि अर्जुन को वे कहते हैं, हे महाबाहो!

अब उसकी ही जगह उतरकर बात कर रहे हैं। अब ठीक उसके कंधे पर हाथ रखकर बात कर रहे हैं। अब ठीक मित्र जैसे बात कर रहे हैं। क्योंकि इतनी बात से लगा है कि जिस शिखर की उन्होंने बात कही, वह उसकी पकड़ में शायद नहीं आती। बहुत बार ऐसा हुआ है।

मोहम्मद ने कहा है कि मैं वैसा कुआं नहीं हूं कि अगर तुम मेरे पास पानी पीने न आओ, तो मैं तुम्हारे पास न आऊं। अगर तुम मोहम्मद के पास न आओगे, तो मोहम्मद तुम्हारे पास आएगा। और अगर प्यासा कुएं के पास न आएगा, तो कुआं ही प्यासे के पास जाएगा।

कृष्ण अर्जुन के पास वापस आकर खड़े हो गए हैं। ठीक वहीं खड़े थे, भौतिक शरीर तो वहीं खड़ा था पूरे समय, लेकिन पहले वे बोल रहे थे बहुत ऊंचाई से। वहां से, जहां आलोकित शिखर है। तब वे अर्जुन को कह सके, तू नासमझ है। अब वे अर्जुन को कह रहे हैं कि तेरी समझ ठीक है। तू अपनी ही समझ का उपयोग कर। अब मैं तेरी समझ से ही कहता हूं।

लेकिन अब वे जो कह रहे हैं, वह सिर्फ तर्क और दलील की बात है। क्योंकि जो अनुभव को न पकड़ पाए, फिर उसके लिए तर्क और दलील के अतिरिक्त पकड़ने को कुछ भी नहीं रह जाता; कोई उपाय नहीं रह जाता। जो तर्क और दलील को ही पकड़ पाए, तो फिर तर्क और दलील की ही बात कहनी पड़ती है। लेकिन उस बात में प्राण नहीं है, वह बल नहीं है। वह बल हो नहीं सकता। क्योंकि कृष्ण जानते हैं कि वे जो कह रहे हैं, अब सिर्फ तर्क है, अब सिर्फ दलील है। अब वे यह कह रहे हैं कि तुझे ही ठीक मान लेते हैं। लेकिन यह जो शरीर बना है, जिन भौतिक तत्वों से, जिस माया से, खो जाएगा उसमें। विद्वान पुरुष इसके लिए चिंता नहीं किया करते।

विद्वान और ज्ञानी के फर्क को भी ठीक से समझ लेना चाहिए। क्योंकि पहले कृष्ण पूरे समय कह रहे हैं कि जो ऐसा जान लेता है, वह ज्ञान को उपलब्ध हो जाता है। लेकिन अब वे कह रहे हैं--ज्ञानी नहीं--अब वे कह रहे हैं, विद्वान पुरुष चिंता को उपलब्ध नहीं होते। विद्वान का वह तल नहीं है, जो ज्ञानी का है। विद्वान तर्क के तल पर जीता है, युक्ति के तल पर जीता है। ज्ञानी अनुभूति के तल पर जीता है। ज्ञानी जानता है, विद्वान सोचता है।

लेकिन यही सही, कृष्ण कहते हैं, नहीं ज्ञानी होने की तैयारी तेरी, तो विद्वान ही हो जा। सोच मत कर, चिंता मत कर। क्योंकि सीधी-सी बात है कि जब सब खो ही जाता है, इतना तो तू सोच ही सकता है, यह तो विचार में ही आ जाता है कि सब खो जाता है, सब मिट जाता है, तो फिर चिंता मत कर, मिट जाने दे। तू बचाएगा कैसे? तू बचा कैसे सकेगा? तो जो अपरिहार्य है--दैट व्हिच इ.ज इनएविटेबल--जो अपरिहार्य है, जो होगा ही, होकर ही रहेगा, उसमें तू ज्यादा से ज्यादा निमित्त है, अपने को निमित्त समझ ले। विद्वान हो जा, चिंता से मुक्त हो।

लेकिन इसे समझ लेना। कृष्ण ने जब अर्जुन को मूढ़ भी कहा, तब भी इतना अपमान न था, जितना अब विद्वान होने के लिए कहकर हो गया है। मूढ़ कहा, तब तक भरोसा था उस पर अभी। अभी आशा थी कि उसे खींचा जा सकता है शिखर पर। उसे देखकर वह आशा छूटती है। अब वे उसे प्रलोभन दे रहे हैं विद्वान होने का। वे कह रहे हैं कि कम से कम, बुद्धिमान तो तू है ही। और बुद्धिमान पुरुष को चिंता का कोई कारण नहीं, क्योंकि बुद्धिमान पुरुष ऐसा मानकर चलता है कि सब चीजें बनी हैं, मिट जाती हैं। कुछ बचता ही नहीं है पीछे, बात समाप्त हो जाती है।

रास्ते में मैं आ रहा था, तो मेरे जो सारथी थे यहां लाने वाले, वे कहने लगे कि कृष्ण बड़ा अपमान करते हैं अर्जुन का! कभी मूर्ख कहते हैं, कभी नपुंसक कह देते हैं उसको; यह बात ठीक नहीं है।

अब वे बड़ा सम्मान कर रहे हैं। वे कह रहे हैं, हे महाबाहो, हे भारत, विद्वान पुरुष शोक से मुक्त हो जाते हैं। तू भी विद्वान है। लेकिन मैं आपसे कहता हूं, अपमान अब हो रहा है। जब उसे मूढ़ कहा था, तो बड़ी आशा से कहा था कि शायद यह चिनगारी, शायद यह चोट... वह ठीक शॉक ट्रीटमेंट था। वह बेकार चला गया। वह ठीक शॉक ट्रीटमेंट था, बड़ा धक्का था। अर्जुन को काफी क्रोध चढ़ा देते हैं वे। लेकिन उसको क्रोध भी नहीं चढ़ा। उसे सुनाई ही नहीं पड़ा कि वे क्या कह रहे हैं। वह अपनी ही रटे चला जाता है। तब वे अब, अब यह बिल्कुल निराश हालत में कृष्ण कह रहे हैं।

ऐसे बहुत उतार-चढ़ाव गीता में चलेंगे। कभी आशा बनती है कृष्ण को, तो ऊंची बात कहते हैं। कभी निराशा आ जाती है, तो फिर नीचे उतर आते हैं। इसलिए कृष्ण भी इसमें जो बहुत-सी बातें कहते हैं, वे एक ही तल पर कही गई नहीं हैं। कृष्ण भी चेतना के बहुत से सोपानों पर बात करते हैं। कहीं से भी--लेकिन अथक चेष्टा करते हैं कि अर्जुन कहीं से भी--कहीं से भी उस यात्रा पर निकल जाए, जो अमृत और प्रकाश को उसके अनुभव में ला दे।

आश्चर्यवत्पश्यति कश्चिदेन-
माश्चर्यवद्वदति तथैव चान्यः।
आश्चर्यवच्चैनमन्यःशृणोति
श्रुत्वाप्येनं वेद न चैव कश्चित्।। 29।।
और हे अर्जुन, यह आत्मतत्व बड़ा गहन है, इसलिए कोई
(महापुरुष) ही इस आत्मा को आश्चर्य की तरह देखता है और वैसे ही दूसरा कोई महापुरुष ही आश्चर्य की तरह इसके तत्व को कहता है और दूसरा कोई ही इस आत्मा को आश्चर्य की तरह सुनता है और कोई सुनकर भी इस आत्मा को नहीं जानता।

.बडी अदभुत बात है। एक तो कृष्ण कहते हैं, इस आत्मा की दिशा में किसी भी मार्ग से गति करने वाला एक आश्चर्य है--एक मिरेकल, एक चमत्कार। किसी भी दिशा से उन्मुख होने वाला आत्मा की तरफ--एक चमत्कार है। क्योंकि करोड़ों-करोड़ों में कभी कोई एक उस ऊंचाई की तरफ आंख उठाता है। अन्यथा हमारी आंखें तो जमीन में गड़ी रह जाती हैं, आकाश की तरफ कभी उठती ही नहीं। नीचाइयों में उलझी रह जाती हैं, ऊंचाइयों की तरफ हमारी आंख की कभी उड़ान नहीं होती। कभी हम पंख नहीं फैलाते आकाश की तरफ। कभी करोड़ों-करोड़ों में कोई एक आदमी... ।

इस जगत में सबसे बड़ा आश्चर्य शायद यही है कि कभी कोई आदमी स्वयं को जानने के लिए आतुर और पिपासु होता है। होना नहीं चाहिए ऐसा; लेकिन है ऐसा। मैं कौन हूं? यह कोई पूछता ही नहीं। होना तो यह चाहिए कि यह बुनियादी प्रश्न होना चाहिए प्रत्येक के लिए। क्योंकि जिसने अभी यह भी नहीं पूछा कि मैं कौन हूं, उसके और किसी बात के पूछने का क्या अर्थ है! और जिसने अभी यह भी नहीं जाना कि मैं कौन हूं, वह और जानने निकल पड़ा है? जिसका खुद का घर अंधेरे से भरा है, जिसने वहां भी दीया नहीं जलाया, उससे ज्यादा आश्चर्‌य का आदमी नहीं होना चाहिए।

लेकिन कृष्ण बड़ा व्यंग्य करते हैं, वे बड़ी मजाक करते हैं; बहुत आयरानिकल स्टेटमेंट है। वे यह कहते हैं कि अर्जुन, बड़े आश्चर्य की बात है कि कभी करोड़ों-करोड़ों में कोई एक आदमी आत्मा के संबंध में खोज पर, जानने पर निकलता है। लेकिन पीछे और एक मजेदार बात कहते हैं।

वे कहते हैं, लेकिन वह आत्मा सोचने-समझने, मनन से नहीं उपलब्ध होता है; विचार से नहीं उपलब्ध होता है। एक तो यही आश्चर्य है कि मुश्किल से कभी कोई उसके संबंध में विचार करता है। लेकिन विचार करने वाला भी उसे पा नहीं लेता है। पाता तो उसे वही है, जो विचार करते-करते विचार का भी अतिक्रमण कर जाता है। जो विचार करते-करते वहां पहुंच जाता है, जहां विचार कह देता है कि बस, अब आगे मेरी गति नहीं है।

एक तो करोड़ों में कभी कोई विचार शुरू करता है। और फिर उन करोड़ों में, जो विचार करते हैं, कभी कोई एक विचार की सीमा के आगे जाता है। और विचार की सीमा के आगे जाए बिना, उसका कोई अनुभव नहीं है। क्योंकि आत्मा का होना विचार के पूर्व है। आत्मा विचार के पीछे और पार है। विचार आत्मा के ऊपर उठी हुई लहरें हैं, तरंगें हैं। विचार आत्मा की सतह पर दौड़ते हुए हवा के झोंके हैं। विचार से आत्मा को नहीं जाना जा सकता। आत्मा से विचारों को जाना जा सकता है। क्योंकि विचार ऊपर हैं, आत्मा पीछे है। विचार को आत्मा से जाना सकता है, विचार से आत्मा को नहीं जाना जा सकता। मैं अपने हाथ से इस रूमाल को पकड़ सकता हूं। लेकिन इस रूमाल से अपने हाथ को नहीं पकड़ सकता। हाथ पीछे है। विचार बहुत ऊपर है।

एक जगत है हमारे बाहर, वस्तुओं का; वह बाहर है। फिर एक जगत है हमारे भीतर, विचारों का; लेकिन वह भी बाहर है। हम उसके भी पीछे हैं। हमारे बिना वह नहीं हो सकता। हम उसके बिना भी हो सकते हैं। रात जब बहुत गहरी नींद में सो गए होते हैं--सुषुप्ति में--तब कोई विचार नहीं रह जाता, लेकिन आप होते हैं। सुबह कहते हैं, स्वप्न भी नहीं था, विचार भी नहीं था, बड़ी गहरी थी नींद। लेकिन आप तो थे। विचार के बिना आप हो सकते हैं, लेकिन कभी आपका विचार आपके बिना नहीं हो सकता। वह जो पीछे है, वह विचार को जान सकता है, लेकिन विचार उसे नहीं जान सकते।

लेकिन हम विचार से ही जानने की कोशिश करते हैं। पहले तो हम जानने की कोशिश ही नहीं करते। वस्तुओं को जानने की कोशिश करते हैं। वस्तुओं से किसी तरह करोड़ों में एक का छुटकारा होता है, तो विचारों में उलझ जाता है। क्योंकि वस्तुओं के बाद विचारों का जगत है। विचार से भी किसी का छुटकारा हो, तो स्वयं को जान पाता है।

तो कृष्ण कहते हैं, चिंतन से, मनन से, अध्ययन से, प्रवचन से उसे नहीं जाना जा सकता। एक और मजे की बात उन्होंने इसमें कही है कि आश्चर्य है कि कोई आत्मा के संबंध में समझाए, उपदेश दे।

पहली तो बात इसलिए आश्चर्य है कि कोई आत्मा के संबंध में उपदेश दे, क्योंकि आत्मा किसी की भी आवश्यकता नहीं है; उपदेश सुनेगा कौन? नो वन्स नेसेसिटी। बाजार में वही चीज बिक सकती है, जो किसी की जरूरत हो। आत्मा किसी की भी जरूरत नहीं है। इसलिए जो आत्मा के संबंध में उपदेश देने की हिम्मत करता है, बिल्कुल पागल आदमी है। कोई जिस चीज को लेने को तैयार नहीं, उसको बेचने निकल पड़े!

वह कृष्ण को खुद भी समझ में आ रहा होगा कि अर्जुन की जो मांग नहीं, जो उसकी डिमांड नहीं, वे उसकी सप्लाई कर रहे हैं। वह बेचारा कुछ और मांग रहा है। वह मांग रहा है एस्केप, वह मांग रहा है पलायन, वह मांग रहा है कंसोलेशन, वह मांग रहा है सांत्वना। वह कह रहा है, मुझे किसी तरह बचाओ, निकालो इस

चक्कर से। वह आत्मा वगैरह की बात ही नहीं कर रहा है। वह किसी की जरूरत नहीं है। इसलिए आश्चर्य है कि कभी कोई आदमी आत्मा को बेचने निकल जाता है!

पर कुछ लोग सनकी होते हैं, आत्मा को भी समझाने लगते हैं। एक तो यह आश्चर्य है कि कोई समझने को जिसे तैयार नहीं है... ।

अभी मैंने पढ़ा, एक ईसाई बिशप का मैं जीवन पढ़ रहा था। कीमती आदमी था। सारे योरोप के ईसाई पादरियों का एक सम्मेलन था। तो उस बिशप ने उस पादरियों के सम्मेलन में यह कहा, उनसे पूछा कि मैं तुमसे यह पूछना चाहता हूं कि चर्चों में जब तुम बोलते हो, तो लोग सिर्फ ऊबे हुए मालूम पड़ते हैं; बोर्ड मालूम पड़ते हैं। अधिक तो सोए मालूम पड़ते हैं। कोई रस लेता नहीं मालूम पड़ता। और लोग बार-बार घड़ी देखते मालूम पड़ते हैं। कारण क्या है? उत्तर वे बिशप नहीं दे सके, जो इकट्ठे थे। तब जिसने पूछा था, उस फकीर ने खुद ही कहा कि मैं समझता हूं कि कारण यह है कि तुम उन प्रश्नों के उत्तर दे रहे हो, जो कोई पूछता ही नहीं है, जो किसी के प्रश्न ही नहीं हैं।

पहला तो आश्चर्य कि कोई आत्मा को समझाने निकलने की हिम्मत करे, करेजियस है मामला कि कोई आत्मा की दुकान खोले, कोई ग्राहक मिलने की उम्मीद नहीं होनी चाहिए। और दूसरा इस कारण भी आश्चर्य है कि आत्मा ऐसा तत्व है, जो समझाया नहीं जा सकता। कोई उपाय जिसे समझाने का नहीं है।

इसलिए कृष्ण या कबीर या बुद्ध या मोहम्मद या नानक, इनकी तकलीफ, इनकी उलझन बड़ी गहरी है। कुछ इन्होंने जाना है, जो ये चाहेंगे कि सबको जना दें। जो ये चाहेंगे कि जो इन्हें मिला है, वह सबको मिल जाए। जो आनंद की वर्षा और जो अमृत का सागर इनमें उतर आया है, सब में उतर आए। लेकिन समझाने की बड़ी मुश्किल है। शब्द बेकार हैं। जिसे विचार से जाना नहीं, उसे विचार से कहेंगे कैसे! और जिसे शब्द छोड़कर जाना, उसे शब्द से प्रकट कैसे करेंगे! तो आश्चर्य इसलिए भी है कि वह कहा नहीं जा सकता, फिर भी कहना ही पड़ेगा, फिर भी कहना ही पड़ा है।

इसलिए एक और एब्सर्ड, बिल्कुल असंगत सी घटना दुनिया में घटी कि बुद्ध कहते हैं, कहा नहीं जा सकता; और जितना बुद्ध बोलते हैं, उतना कोई आदमी नहीं बोलता। और कृष्ण कहते हैं, समझाया नहीं जा सकता; और समझाए चले जा रहे हैं। और महावीर कहते हैं, वाणी के बाहर है, शब्द के बाहर है; लेकिन यह भी तो वाणी से और शब्द से ही कहना पड़ता है।

विट्गिंस्टीन ने अपने टेक्टेटस में एक वाक्य लिखा है, दैट व्हिच कैन नाट बी सेड, मस्ट नाट बी सेड--जो नहीं कहा जा सकता, वह नहीं ही कहना चाहिए। लेकिन विट्गिंस्टीन की बात अगर कृष्ण, बुद्ध और महावीर मान लें, तो यह दुनिया बहुत गरीब होती, यह बहुत दीन और दरिद्र होती।

तो मैं तो कहना चाहूंगा, दैट व्हिच कैन नाट बी सेड, मस्ट बी सेड--जो नहीं कहा जा सकता, उसे भी कहना ही चाहिए। नहीं कहा जा सकेगा, यह पक्का है। लेकिन नहीं कह सकने की तकलीफ में भी कुछ संवेदित हो जाएगा, कुछ कम्युनिकेट हो जाएगा। नहीं कहा जा सकता, इस मुसीबत में भी कोई चीज शब्दों के बाहर और शब्दों के पार और पंक्तियों के बीच में निवेदित हो जाएगी। उसी की चेष्टा चल रही है।

संगीत वही नहीं है, जो स्वरों में होता है; संगीत वह भी है, जो दो स्वरों के बीच के मौन में होता है। वही नहीं कहा जाता, जो शब्दों में कहा जाता है; वह भी कहा जाता है, जो दो शब्दों के बीच के साइलेंस में, शून्य में होता है। वही नहीं सुना जाता, जो शब्द से सुना जाता है; वह भी सुना जा सकता है, जो शब्द के बाहर, इर्द-गिर्द, आस-पास छूट जाता है।

तो कृष्ण कह रहे हैं, मिरेकल है, चमत्कार है।

शेष सांझ बात करेंगे।

दसवां प्रवचन

जीवन की परम धन्यता--स्वधर्म की पूर्णता में

प्रश्नः ओशो, अट्ठाइसवें श्लोक पर सुबह बात हुई--

अव्यक्तादीनि भूतानि व्यक्तमध्यानि भारत।

अव्यक्तनिधनान्येव तत्र का परिवेदना।।

इसमें कहा गया है कि आदि में अप्रकट, अंत में अप्रकट और मध्य में प्रकट है जो, तो यह जो मैनिफेस्टेड है, प्रकट है, इसमें ही द्वैतता का अनुभव होता है। और जो अप्रकट है, उसमें अद्वैत का दर्शन किया जाता है। तो यह जो मध्य में मैनिफेस्टेड है, उसमें जो द्वैतता है, डुअलिज्म है, उसका परिहार करने के लिए आप कोई विशेष प्रक्रिया का सूचन देंगे?

अव्यक्त है प्रारंभ में, अव्यक्त है अंत में; मध्य में व्यक्त का जगत है।

जिब्रान ने कहीं कहा है, एक रात, अंधेरी अमावस की रात में, एक छोटे-से झोपड़े में बैठा था, मिट्टी का एक दीया जलाकर। टिमटिमाती थोड़ी-सी रोशनी थी। द्वार के बाहर भी अंधकार था। भवन के पीछे के द्वार के बाहर भी अंधकार था। सब ओर अंधकार था। केवल उस छोटे-से झोपड़े में उस दीए की थोड़ी-सी रोशनी थी। और एक रात का पक्षी फड़फड़ाता हुआ झोपड़े के द्वार से प्रविष्ट हुआ, उसने दो या तीन चक्कर झोपड़े के भीतर टिमटिमाती रोशनी में लगाए, और पीछे के द्वार से बाहर हो गया। जिब्रान ने उस रात अपनी डायरी में लिखा कि उस पक्षी को अंधेरे से प्रकाश में दो क्षण के लिए आते देखकर, फिर प्रकाश में दो क्षण फड़फड़ाते देखकर और फिर गहन अंधकार में खो जाते देखकर मुझे लगा कि जीवन भी ऐसा ही है।

अव्यक्त है प्रारंभ में, अव्यक्त है बाद में; दो क्षण की व्यक्त की फड़फड़ाहट है। दो क्षण के लिए वह जो मैनिफेस्टेड है, वह जो प्रकट है, उसमें फूल खिलते हैं, पत्ते आते हैं, जीवन हंसता है, रोता है और फिर खो जाता है। अव्यक्त में अद्वैत है--पहले भी, अंत में भी, दोनों ओर। मध्य में द्वैत है; द्वैत ही नहीं है, अनेकत्व है। दो ही नहीं हैं, अनेक हैं। सब चीजें पृथक-पृथक मालूम होती हैं।

तो पूछ रहे हैं कि उस अपृथक को, उस अभिन्न को, उस एक को, उस अद्वय को, उस मूल को और आदि को, मध्य के इन व्यक्त क्षणों में जानने का क्या कोई प्रयोग है?

निश्चित ही है।

एक वृक्ष के नीचे खड़े हैं। पत्ते हवाओं में हिल रहे हैं। सूरज की रोशनी में पत्ते चमक रहे हैं। एक-एक पत्ता अलग-अलग मालूम होता है। और अगर पत्ते सचेतन हो जाएं, अगर एक-एक पत्ता होश से भर जाए, तो सोच भी न पाएगा कि साथ का जो पड़ोसी पत्ता है, वह और मैं कहीं एक हैं, कहीं नीचे शाखा पर जुड़े हैं। पड़ोस में हिलते हुए पत्ते को देखकर जागा हुआ, होश में आ गया पत्ता सोचेगा, कोई पराया है।

सोचना ठीक भी है; तर्कयुक्त भी है। क्योंकि पड़ोस में कोई पत्ता बूढ़ा हो रहा है और यह पत्ता तो अभी जवान है। अगर ये दोनों एक होते, तो दोनों एक साथ बूढ़े हो गए होते। पड़ोस में कोई पत्ता गिरने के करीब है, पीला होकर सूखकर गिर रहा है। गिर गया है कोई, जमीन पर सूखा पड़ा है, हवाओं में उड़ रहा है। अगर वह

इस पत्ते से एक होता, तो वह वृक्ष पर और जिससे एक है, वह पृथ्वी पर कैसे हो सकता था! वह हरा है, कोई सूख गया है। वह जवान है, कोई ब.ूढा हो गया है। कोई अभी बच्चा है, किसी की अभी कोंपल फूटती है। उस पत्ते का सोचना ठीक ही है कि वह अलग है।

लेकिन काश! यह पत्ता बाहर से न देखे। अभी बाहर से देख रहा है, देख रहा है दूसरे पत्ते को। काश! यह पत्ता अपने भीतर देख सके और भीतर उतरे, तो क्या बहुत दूर वह रस-धार है, जहां से ये दोनों पत्ते जुड़े हैं! वह भी जो बूढ़ा, वह भी जो जवान; वह भी जो आ रहा है, वह भी जो जा रहा है; क्या वह रस-धार बहुत दूर है? यह पत्ता अपने भीतर उतरे, स्वयं में उतरे, तो उस शाखा को जरूर ही देख पाएगा, जान पाएगा, जहां से सब पत्ते निकले हैं।

लेकिन फिर वह शाखा भी समझ सकती है कि दूसरी शाखा से अन्य है, भिन्न है। वह शाखा भी भीतर उतरे, तो उस वृक्ष को खोज लेने में बहुत कठिनाई नहीं है, जहां सभी शाखाएं जुड़ी हैं। लेकिन वह वृक्ष भी सोच सकता है कि पड़ोस में खड़ा हुआ वृक्ष और है, अन्य है। लेकिन वह वृक्ष भी नीचे उतरे, तो क्या उस पृथ्वी को खोजना बहुत कठिन होगा, जिस पर कि दोनों वृक्ष जुड़े हैं और एक ही रस-धार से जीवन को पाते हैं! पृथ्वी भी सोचती होगी कि दूसरे ग्रह-मंडल, तारे, चांद, सूरज अलग हैं। काश! पृथ्वी भी अपने भीतर उतर सके, तो जैसे पत्ते ने उतरकर जाना, वैसे पृथ्वी भी जानती है कि सारा ब्रह्मांड भीतर एक से जुड़ा है!

दो ही रास्ते हैं देखने के। एक रास्ता है जो तू से शुरू होता है, और एक रास्ता है जो मैं से शुरू होता है। जो रास्ता तू से शुरू होता है, वह अनेक के दर्शन में ले जाता है। जो रास्ता मैं से शुरू होता है, वह एक के दर्शन में ले जाता है। जो तू से शुरू होता है, वह अनमैनिफेस्टेड में नहीं ले जाएगा, वह अव्यक्त में नहीं ले जाएगा, वह व्यक्त में ही ले जाएगा। क्योंकि दूसरे के तू को हम बाहर से ही छू सकते हैं, उसकी आंतरिक गहराइयों में उतरने का कोई उपाय नहीं; हम उसके बाहर ही घूम सकते हैं। भीतर तो हम सिर्फ स्वयं के ही उतर सकते हैं।

इसलिए प्रत्येक के भीतर वह सीढ़ी है, जहां से वह उतर सकता है वहां, जहां अब भी अव्यक्त है। सब व्यक्त नहीं हो गया है। सब कभी व्यक्त हो भी नहीं सकता। अनंत है अव्यक्त। क्योंकि जो अद्वैत है, वह अनंत भी होगा; और जो व्यक्त है, वह सीमित भी होगा। व्यक्त की सीमा है, अव्यक्त की कोई सीमा नहीं है। जो अव्यक्त है, वह अनंत है, वह अभी भी है। उस बड़े सागर पर बस एक लहर प्रकट हुई है। उस लहर ने सीमा बना ली है। वह सागर असीम है।

लेकिन अगर लहर दूसरी लहर को देखे, तो सागर तक कभी न पहुंच पाएगी। दूसरी लहर से सागर तक पहुंचने का कोई भी उपाय नहीं है। क्योंकि दूसरी लहर के भीतर ही पहुंचने का कोई उपाय नहीं है। हम सिर्फ अपने ही भीतर उतर सकते हैं। और अपने ही भीतर उतरकर सबके भीतर उतर सकते हैं। स्वयं में उतरना पहली सीढ़ी है, स्वयं में उतरते ही सर्व में उतरना हो जाता है।

और यह बड़े मजे की बात है कि जो दूसरे में उतरता है, उसको ही लगता है कि मैं हूं। और जो मैं में उतरता है, उसे लगता है, मैं नहीं हूं, सर्व है। मैं की सीढ़ी पर उतरते ही पता चलता है कि मैं भी खो गया, सर्व ही रह गया।

लेकिन हम जीवन में सदा दूसरे से शुरू करते हैं, दि अदर। बस वह दूसरे से ही हम सब सोचते हैं। अपने को छोड़कर ही हम चलते हैं, उसको बाद दिए जाते हैं। जन्मों-जन्मों तक एक चीज को हम छोड़ते चले जाते हैं, निग्लेक्ट किए जाते हैं, एक चीज के प्रति हमारी उपेक्षा गहन है--स्वयं को हम सदा ही छोड़कर चलते हैं। सब जोड़ लेते हैं, सब हिसाब में ले लेते हैं। बस वह एक, जो अपना होना है, उसे हिसाब के बाहर रख देते हैं।

वेई वू ने एक किताब लिखी है, दि टेंथ मैन, दसवां आदमी। और बहुत पुरानी भारतीय कथा से वह किताब शुरू की है। उस कहानी से हम सब परिचित हैं, कि दस आदमियों ने नदी पार की। वर्षा थी, बाढ़ थी। नदी पार उतरकर सहज ही उन्होंने सोचा कि कोई बह न गया हो! तो उन्होंने गिनती की। निश्चित ही, गिनती उन्होंने वैसी ही की जैसी हम करते हैं। लेकिन बड़ी मुश्किल हो गई। थे तो दस, लेकिन गिनती में नौ ही निकले। एक ने की, दूसरे ने की, तीसरे ने की, फिर तो कन्फर्म हो गया कि नौ ही बचे हैं, एक खो गया।

जैसे सभी की जिंदगी का ढंग एक ही था--हम सभी का है--प्रत्येक ने स्वयं को छोड़कर गिना। गिनती नौ हुई। अब वह जो एक खो गया, उसके लिए बैठकर वे रोने लगे। यह भी पक्का पता नहीं चलता था कि वह कौन खो गया! ऐसे शक भी होता है कि कोई नहीं खोया। लेकिन शक ही है, क्योंकि गणित कहता है कि खो गया। अब गणित इतना प्रामाणिक मालूम होता है कि अब शक को अलग ही हटा देना उचित है। रो लेना भी उचित है, क्योंकि जो खो गया मित्र, उसके लिए अब और तो कुछ कर नहीं सकते। वे वहां बैठकर एक वृक्ष के नीचे रोते हैं।

वहां से एक फकीर गुजरा है। उसने पूछा कि क्या हुआ? क्यों रोते हो? उन्होंने कहा, एक साथी खो गया है। दस चले थे उस पार से, अब गिनते हैं तो नौ ही हैं! वे फिर छाती पीटकर रोने लगे। उस फकीर ने नजर डाली और देखा कि वे दस ही हैं। पर समझा वह फकीर। संसारी आदमी की बुद्धि और संसारी आदमी के गणित को भलीभांति जानता था। जानता था कि संसारी की भूल ही एक है। वही भूल दिखता है, हो गई है।

उसने कहा, जरा फिर से गिनो। लेकिन एक काम करो, मैं एक-एक आदमी के गाल पर चांटा मारता हूं। जिसको मैं चांटा मारूं, वह बोले, एक! दूसरे को मारूं, दो! तीसरे को मारूं, तीन! मैं चांटा मारता चलता हूं। चांटा इसलिए, ताकि तुम याद रख सको कि तुम छूट नहीं गए हो।

बड़ी हैरानी हुई, गिनती दस तक पहुंच गई। वे बड़े चकित हुए और उन्होंने कहा, क्या चमत्कार किया? यह गिनती दस तक कैसे पहुंची? हमने बहुत गिना, लेकिन नौ पर ही पहुंचती थी!

तो उस फकीर ने कहा, दुनिया में गिनने के दो ढंग हैं। दुनिया में दो तरह के गणित हैं। एक गणित जो तू से शुरू होता है और एक गणित जो मैं से शुरू होता है। जो गणित तू से शुरू होता है, वह गणित कभी भी अव्यक्त में नहीं ले जाएगा। नहीं ले जाएगा इसलिए कि तू के भीतर प्रवेश का द्वार ही नहीं है। जो गणित मैं से शुरू होता है, वह अव्यक्त में ले जाता है।

इसलिए धर्म की परम अनुभूति परमात्मा है। और धर्म का प्राथमिक चरण आत्मा है। आत्मा से शुरू करना पड़ता है, परमात्मा पर पूर्णता होती है। स्वयं से चलना पड़ता है, सर्व में निष्पत्ति होती है।

तो अपने भीतर से गिनती शुरू करें। अभी भी आपके भीतर अव्यक्त मौजूद है। झांकते ही नहीं वहां, यह दूसरी बात है। आपके भीतर अव्यक्त मौजूद है।

इसे थोड़ा समझ लेना उचित होगा कि अव्यक्त आपके भीतर कैसे है! आपके ठीक पैरों के नीचे है। जिस जमीन पर आप खड़े हैं, वहीं! वहीं थोड़े ही दो कदम नीचे। चले नहीं कि अव्यक्त मौजूद है। कौन चला रहा है आपकी श्वास को? आप? तो जरा बंद करके देखें, तो पता चलेगा, आप नहीं चला रहे हैं। जरा रोकें, तो पता चल जाएगा, आप नहीं चला रहे हैं। श्वास धक्के देगी और चलेगी, तब आपको पता चलेगा, आपके नीचे से भी कोई और गहरे में इसे चला रहा है। खून चल रहा है चौबीस घंटे, आप नहीं चला रहे हैं। आपने कभी चलाया नहीं, चलाना पड़ता तो बहुत मुश्किल में पड़ जाते। वह काम ही इतना होता कि और कोई काम न बचता। और मिनट दो मिनट भी चूक जाते, भूल जाते, तो समाप्ति हो जाती। वह श्वास आदमी पर अगर होती चलाने की, तो

दुनिया में आदमी बचता नहीं, कभी का समाप्त हो गया होता। एक क्षण चूके कि गए। नहीं, आप सोए रहें, बेहोश पड़े रहें, शराब पीए पड़े रहें, वह श्वास चलती रहेगी, वह खून दौड़ता रहेगा।

खाना तो आप खा लेते हैं, पचाता कौन है? आप? अभी तक बड़ी से बड़ी वैज्ञानिक प्रयोगशाला रोटी को खून में बदलने में समर्थ नहीं हो पाई है। और वैज्ञानिक कहते हैं कि आदमी का छोटा-सा पेट जो करता है, अगर किसी दिन हम समर्थ हुए, तो कम से कम सैकड़ों मील जगह घेरे, इतनी बड़ी फैक्टरी और लाखों लोग काम करें, इतना इंतजाम, एक आदमी के पेट में जो रहा है, उसके लिए करना पड़ेगा। लेकिन फिर भी पक्का नहीं है कि यह हो सकेगा। कौन चला रहा है? आप?

निश्चित ही, एक बात पक्की है कि आप नहीं चला रहे हैं। तो आपके भीतर अव्यक्त, आपके भीतर छिपी हुई कोई ताकत, आपके मैं की सीमा के पार... !

आप सोते हैं रोज। लेकिन इस भ्रांति में मत पड़ना कि आप सोते हैं, क्योंकि सोना कोई एक्ट नहीं है, कोई क्रिया नहीं है। भाषा में है। भाषा से कोई लेना-देना नहीं है। सोना बिल्कुल ही क्रिया नहीं है। क्योंकि जिसको नींद नहीं आती है, उसको भलीभांति पता है कि कितनी ही करवट बदलता है, कितने ही उपाय करता है, नहीं आती, नहीं आती, नहीं आती। सच तो यह है कि जितने उपाय करता है, उतनी ही नहीं आती। और अगर कभी आती है तो उसके उपाय की वजह से नहीं आती, उपाय कर-कर के थक गया होता है, तब आती है। नींद ला नहीं सकते आप कि ले आएं। कहां से आती है? आपके भीतर अव्यक्त से आती है। मनोवैज्ञानिक से पूछें, तो उसे थोड़ी-सी समझ मिली है उस अव्यक्त की, उसे वह अनकांशस कह रहा है। वह कह रहा है, अचेतन से आती है।

पैर पर चोट लग गई है। तत्काल, तत्काल मवाद से भर जाता है घाव। आपने कुछ किया? आपने कुछ भी नहीं किया। लेकिन पता नहीं, पूरे शरीर से वे जीवाणु दौड़कर उस घाव के पास पहुंच जाते हैं। जिसको आप मवाद कहते हैं, वह मवाद नहीं है; वह उन जीवाणुओं की पर्त है, जो तत्काल उसे चारों तरफ से घेर लेते हैं, बाहर के जगत से सुरक्षा देने के लिए। चमड़ी तो टूट गई है, दूसरी पर्त चाहिए। वह पर्त उसे घेर लेती है। और भीतर अव्यक्त तत्काल, जो घाव बन गया है, उसे ठीक करने में लग जाता है।

साधारण चिकित्सक सोचता है कि हम ठीक कर देते हैं बीमारी को। लेकिन जो असाधारण चिकित्सक हैं जगत में, जो जरा गहरे उतरे हैं मनुष्य की बीमारी में, वे कहते हैं कि नहीं, ज्यादा से ज्यादा हम थोड़ा-सा सहयोग पहुंचाते हैं; इतना भी कहना अतिशयोक्ति है। शायद इतना ही कहना उचित है कि हम थोड़ी-सी बाधाएं अलग करते हैं; बाकी हीलिंग फोर्स भीतर से आती है।

और अब तो मनोवैज्ञानिक निरंतर इतने गहरे उतर रहे हैं, वे कहते हैं कि अगर एक आदमी के भीतर जीने की इच्छा चली गई है, तो घाव भरना मुश्किल हो जाता है। अगर एक आदमी के भीतर से जीवन की इच्छा चली गई है, तो बीमारी को चिकित्सा ठीक नहीं कर पाती। क्योंकि अव्यक्त ने, जीने की जो शक्ति थी, वह देनी बंद कर दी, वापस ले ली। बूढ़े आदमी के शरीर में कोई बुनियादी फर्क नहीं हो गए होते हैं। लेकिन अव्यक्त सिकुड़ने लगता है। वह शक्ति वापस लौटने लगती है। उतार शुरू हो गया।

अगर हम अपने भीतर थोड़ा-सा झांकें, तो हमें पता चलेगा कि हम जहां जी रहे हैं, वह शायद किसी एक बहुत बड़ी ऊर्जा का ऊपरी शिखर है। बस, उस शिखर से ही हम परिचित हैं, उसके पीछे हम बिल्कुल परिचित नहीं हैं। उसके पीछे अव्यक्त अभी भी मौजूद है। सभी व्यक्त घटनाओं के पीछे अव्यक्त मौजूद है। सभी दृश्य घटनाओं के पीछे अदृश्य मौजूद है। सभी चेतन घटनाओं के पीछे अचेतन मौजूद है। सभी दिखाई पड़ने वाले जगत और रूप के पीछे अरूप मौजूद है। जरा रूप की परत में गहरे उतरें।

कैसे उतरें? क्या करें?

दूसरे को भूलें। बहुत कठिन है। आंख बंद करें, तो भी दूसरा ही याद आता है। आंख बंद करें, तो भी दूसरा ही दिखाई पड़ता है। आंख बंद करें, तो भी दूसरे से ही मिलना होता रहता है। दूसरे से आब्सेस्ड हैं, दूसरे से रुग्ण हैं। दूसरा है कि पीछा छोड़ता ही नहीं; बस, चित्त में घूमता ही चला जाता है। यह जो दूसरे की भीतर भीड़ है, इसे विदा करें।

विदा करने का उपाय है, इस भीड़ के प्रति साक्षी का भाव करें। भीतर आंख बंद करके, वे जो दूसरों के प्रतिबिंब हैं, उनके साक्षी भर रह जाएं। देखते रहें, कुछ कहें मत। न पक्ष लें, न विपक्ष लें। न प्रेम करें, न घृणा करें। न किसी चित्र को कहें कि आओ; न किसी चित्र को कहें कि जाओ। बस बैठे रह जाएं और देखते रहें, देखते रहें, देखते रहें। धीरे-धीरे चित्र विदा होने लगते हैं। क्योंकि जिन मेहमानों को आतिथेय देखता ही रहे, वे मेहमान ज्यादा देर नहीं टिक सकते। मित्रता दिखाए तो भी टिक सकते हैं, शत्रुता दिखाए तो भी आ सकते हैं। कुछ भी न दिखाए... ।

तो बुद्ध ने एक सूत्र दिया है, उपेक्षा, इंडिफरेंस। बस, रह जाए, कुछ भी न दिखाए; न पक्ष, न विपक्ष। तो धीरे-धीरे दूसरे के चित्र बिखर जाते हैं। विचार खो जाते हैं।

और जिस क्षण भी दूसरे के चित्र नहीं होते, उसी क्षण स्वयं के होने का बोध पहली दफा उतरता है। जिस क्षण दूसरा आपके भीतर मौजूद नहीं है, उसी क्षण अचानक आपको अपनी प्रेजेंस का, अपने होने का अनुभव होता है; कहीं से कोई झरना फूट पड़ता है जैसे। जैसे पत्थर रखा था दूसरे का झरने के ऊपर, वह हट गया और झरने की धारा फूट पड़ी। आप पहली दफा अपनी प्रेजेंस को, अपने होने को, अपने अस्तित्व को अनुभव करते हैं और अव्यक्त में यात्रा शुरू हो जाती है। उसके आगे आपको कुछ नहीं करना है।

जैसे एक आदमी छत से कूद जाए। कूद जाए, तब तो ठीक है। कूदने के पहले पूछे कि मैं छत से कूद तो जाऊंगा, लेकिन फिर जमीन तक आने के लिए क्या करूंगा? तो हम कहेंगे, तुम कुछ करना ही मत, बाकी काम जमीन कर लेगी। तुम छत से कूद भर जाना, बाकी काम जमीन पर छोड़ देना। वह बड़ी कुशल है। उसका ग्रेविटेशन है, उसकी अपनी कशिश है, अपना गुरुत्वाकर्षण है, वह तुम्हें खींच लेगी। तुम सिर्फ एक कदम छत से उठा लेना।

बस, दूसरे से एक कदम उठा लेना आप, बाकी अव्यक्त खींच लेगा। उसका अपना ग्रेविटेशन है; उससे बड़ा कोई ग्रेविटेशन नहीं है; उससे बड़ी कोई कशिश नहीं है। वह खींच लेगा। लेकिन हम दूसरे को पकड़े हैं। वह दूसरे को पकड़े होने की वजह से, दूसरे के साथ हम इतने जोर से चिपके हुए हैं कि वह द्वार ही नहीं खुल पाता, जहां से अव्यक्त हमें पुकार ले और खींच ले और बुला ले और अपने में डुबा ले।

और एक बार अव्यक्त में डूबकर लौटे, तो फिर दूसरे में भी वही दिखाई पड़ेगा, जो स्वयं में दिखाई पड़ा है। क्योंकि दूसरे को हम वहीं तक जानते हैं, जितना हम स्वयं को जानते हैं। जिस दिन आपको अपने भीतर अव्यक्त दिखाई पड़ जाएगा, वह इटरनल एबिस, वह अंतहीन खाई अव्यक्त की अपने भीतर मुंह खोलकर दिखाई पड़ जाएगी, उस दिन प्रत्येक आंख में और प्रत्येक चेहरे में वही अव्यक्त दिखाई पड़ना शुरू हो जाएगा। फिर पत्ते में और फूल में और आकाश में, सब तरफ उस अव्यक्त की मौजूदगी अनुभव होने लगती है।

लेकिन यात्रा का पहला कदम स्वयं के भीतर है। उपेक्षा या साक्षी या कोई भी नाम दें, अवेयरनेस, कुछ भी नाम दें--दूसरे के जो चित्र भीतर हैं, दूसरे के जो प्रतिबिंब भीतर हैं, उनके प्रति होश से भर जाएं और कुछ

मत करें, वे गिर जाते हैं। कुछ किया कि वे पकड़ जाते हैं। कुछ मत करें और अचानक आप पाएंगे कि घटना घट गई और आप अव्यक्त में उतर गए।

कृष्ण उसी अव्यक्त की बात कर रहे हैं। वह पहले भी था, बाद में भी है, अभी भी है। सिर्फ व्यक्त से ढंका है। जरा व्यक्त की परत के नीचे जाएं और वह प्रकट हो जाता है।

प्रश्नः ओशो, हम अगर जीने की इच्छा छोड़ दें, तो क्या अव्यक्त का सिकुड़ना शुरू होता है? या अव्यक्त का सिकुड़ना शुरू होता है, इसके प्रभाव से हम जीने की इच्छा खो बैठते हैं? प्रश्न यह है कि आरंभ कहां से होता है? क्या पारस्परिक असर नहीं होता?

जीवन की इच्छा हम छोड़ दें तो अव्यक्त सिकुड़ना शुरू हो जाता है, या अव्यक्त सिकुड़ना शुरू हो जाता है, इसलिए हम जीवन की इच्छा छोड़ देते हैं--ये अगर दो घटनाएं होतीं, तो मैं कोई उत्तर दे पाता। ये दो घटनाएं नहीं हैं; यह साइमलटेनियस, युगपत घटना है। अव्यक्त का सिकुड़ना और हमारा जीने की इच्छा छोड़ देना, एक ही घटना है। हमारा जीने की इच्छा छोड़ देना और अव्यक्त का सिकुड़ना भी एक ही घटना है। क्योंकि हम अव्यक्त से पृथक नहीं हैं, हम उससे अन्य नहीं हैं, हम उससे दूसरे नहीं हैं। यह एक ही चीज है।

हां, हमें सबसे पहले जो पता चलता है, उसमें फर्क हो सकता है। अस्तित्व में दोनों एक चीज हैं; पता चलने में फर्क हो सकता है। एक आदमी को पहले पता चल सकता है कि मेरी जीवन की इच्छा मरती जाती है। एक आदमी को पता चल सकता है कि मेरी तो इच्छा कोई मरी नहीं, लेकिन भीतर कुछ सिकुड़ना शुरू हो गया है। यह आदमियों पर निर्भर करेगा कि उनकी कहां से शुरुआत होगी।

अगर कोई आदमी निरंतर अहंकार में ही जीया है, तो उसकी प्रतीति और होगी। और कोई आदमी निरंतर निरहंकार में जीया है, तो उसकी प्रतीति और होगी। वह प्रतीति अहंकार के अस्तित्व पर निर्भर करेगी, घटना के अस्तित्व पर नहीं। घटना तो एक ही है। घटना एक ही है। वे घटनाएं दो नहीं हैं। लेकिन हम तो अहंकार में ही जीते हैं। इसलिए साधारणतः जब जीवन सिकुड़ना शुरू होता है, अस्तित्व जब डूबना शुरू होता है, तो हमें ऐसा ही लगता है... ।

बूढ़े आदमी कहते हुए सुने जाते हैं कि अब जीने की कोई इच्छा न रही। अब जीना नहीं चाहते। अब तो मौत ही आ जाए तो अच्छा है। लेकिन अभी भी वे यह कह रहे हैं कि अब जीने की कोई इच्छा न रही, जैसे कि अपनी इच्छा से अब तक जीते थे। लेकिन सब चीजों को अपने से बांधकर देखा है, तो इसको भी अपने से ही बांधकर वे देखेंगे।

हमारी स्थिति करीब-करीब ऐसी ही है। मैंने सुना है कि जगन्नाथ की रथ-यात्रा चल रही है। हजारों लोग रथ को नमस्कार कर रहे हैं। एक कुत्ता भी रथ के आगे हो लिया। उस कुत्ते की अकड़ देखते ही बनती है। ठीक कारण है। सभी उसको नमस्कार कर रहे हैं! जो भी सामने आता है, एकदम चरणों में गिर जाता है। सामने जो भी आ जाता है, चरणों में गिर जाता है। उस कुत्ते की अकड़ बढ़ती चली जा रही है। फिर पीछे लौटकर देखता है, तो पता चलता है कि सामने ही नहीं स्वागत हो रहा है, पीछे भी रथ चल रहा है। स्वभावतः, जिस कुत्ते का इतना स्वागत हो रहा हो, उसके पीछे रथ चलना ही चाहिए। यह रथ कुत्ते के पीछे चल रहा है! ये लोग कुत्ते को नमस्कार कर रहे हैं!

हमारा अहंकार करीब-करीब जीवन की घटनाओं और पीछे अव्यक्त के चलने वाले रथ के बीच में, कुत्ते की हालत में होता है। सब नमस्कार इस मैं को होते हैं; सब पीछे से घटने वाली घटनाएं इस मैं को होती हैं। लेकिन कौन इस कुत्ते को समझाए? कैसे समझाए?

इस पर निर्भर करेगा कि आपने पूरे जीवन को कैसे लिया है। जब आपको भूख लगी है, तब आपने सोचा है कि मैं भूख लगा रहा हूं या अव्यक्त से भूख आ रही है! जब आप बच्चे से जवान हो गए हैं, तो आपने समझा कि मैं जवान हो गया हूं या अव्यक्त से जवानी आ रही है!

यह इंटरप्रिटेशन की बात है, यह व्याख्या की बात है। घटना तो वही है, जो हो रही है, वही हो रही है। लेकिन कुत्ता अपनी व्याख्या करने को तो स्वतंत्र है। रथ चल रहा है, नमस्कार रथ को की जा रही है, लेकिन कुत्ते को व्याख्या करने से तो नहीं रोक सकते कि नमस्कार मुझे हो रही है, रथ मेरे लिए चल रहा है!

आदमी जो व्याख्या कर रहा है, उसी से सभी कुछ अहंकार- केंद्रित हो जाता है। अन्यथा अहंकार को छोड़ें, तो फिर दो बातें नहीं रह जातीं, एक ही बात रह जाती है, क्योंकि हम भी अव्यक्त के ही हिस्से हैं। हम अगर अलग होते, तब उपाय भी था; हम भी अव्यक्त के ही हिस्से हैं। हम भी जो कर रहे हैं, वह भी अव्यक्त ही कर रहा है। हम भी जो सोच रहे हैं, वह भी अव्यक्त ही सोच रहा है। हम भी जो हो रहे हैं, वह भी अव्यक्त ही हो रहा है।

जिस दिन हमें ऐसा दिखाई पड़ेगा, उस दिन यह सवाल नहीं बनेगा। लेकिन अभी बनेगा, क्योंकि हमें लगता है, कुछ हम कर रहे हैं। कुछ हम कर रहे हैं, वह मनुष्य की व्याख्या है। उसी व्याख्या में अर्जुन उलझा है, इसलिए पीड़ित और परेशान है। वह यह कह रहा है कि मैं मारूं! इन सबको मैं काट डालूं! नहीं, ये सब मेरे हैं, मैं यह न करूंगा। इससे तो बेहतर है कि मैं भाग जाऊं। लेकिन भागना भी वही करेगा, मारना भी वही करेगा। वह कर्ता को नहीं छोड़ पाएगा, वह मैं की व्याख्या नहीं छोड़ पा रहा है।

कृष्ण अगर कुछ भी कह रहे हैं, तो इतना ही कह रहे हैं कि तू जो व्याख्या कर रहा है मैं के केंद्र से, वह केंद्र ही झूठा है, वह केंद्र कहीं है ही नहीं। उस केंद्र के ऊपर तू जो सब समर्पित कर रहा है, वहीं तेरी भूल हुई जा रही है।

लेकिन हमें सब चीजें दो में टूटी हुई दिखाई पड़ती हैं। यह श्वास मेरे भीतर आती है, फिर दूसरी श्वास बाहर जाती है। ये दो श्वासें नहीं हैं, एक श्वास है। कोई पूछ सकता है कि मैं श्वास को बाहर निकालता हूं, इसलिए मुझे श्वास भीतर लेनी पड़ती है? या चूंकि मैं श्वास भीतर लेता हूं, इसलिए मुझे श्वास बाहर निकालनी पड़ती है? तो हम कहेंगे, भीतर आना और बाहर जाना एक ही श्वास के डोलने का फर्क है। एक ही श्वास है; वही भीतर आती है, वही बाहर जाती है।

असल में बाहर और भीतर भी दो चीजें नहीं हैं अव्यक्त में। बाहर और भीतर भी अव्यक्त में--बाहर और भीतर भी अव्यक्त में--एक ही चीज के दो छोर हैं। लेकिन जहां हम जी रहे हैं, मैनिफेस्टेड जगत में, व्यक्त में, जहां सब अनेक हो गया है, वहां सब भिन्न है, वहां सब अलग है। फिर उस अलग से हमारे सब सवाल उठते हैं।

बुद्ध के पास एक व्यक्ति आया है। और बहुत सवाल पूछता है। तो बुद्ध ने कहा, ऐसा कर, तू सवालों के उत्तर ही चाहता है? उसने कहा, उत्तर ही चाहता हूं। बुद्ध ने कहा, और कितने लोगों से तूने पूछा है? उसने कहा, मैं बहुत लोगों से पूछकर थक चुका हूं, अब आपके पास आया हूं। बुद्ध ने कहा, इतने लोगों से पूछकर तुझे उत्तर नहीं मिला, तो तुझे यह ख्याल नहीं आता कि पूछने से उत्तर मिलेगा ही नहीं! उसने कहा कि नहीं, यह ख्याल नहीं आया। मुझे तो इतना ही ख्याल आता है कि अब और किसी से पूछें, अब और किसी से पूछें, अब और

किसी से पूछें। बुद्ध ने कहा, तो कब तक तू पूछता रहेगा? मैं भी तुझे उत्तर दे दूं उसी तरह, जैसे दूसरों ने तुझे दिए थे? या कि तुझे सच ही उत्तर चाहिए। उसने कहा, मुझे सच ही उत्तर चाहिए।

तो बुद्ध ने कहा, फिर तू रुक जा; फिर तू सालभर पूछ ही मत। उसने कहा, बिना पूछे उत्तर कैसे मिलेगा? बुद्ध ने कहा, तू प्रश्न छोड़। सालभर बाद पूछना। सालभर पूछ ही मत, सालभर सोच ही मत, सालभर बात ही मत कर, सालभर मौन ही हो जा। उसने कहा, लेकिन इससे क्या होगा? यह, बुद्ध ने कहा, सालभर बाद ठीक इसी दिन पूछ लेना। जब बुद्ध ने उससे यह कहा कि ठीक इसी दिन पूछ लेना, तो एक भिक्षु वृक्ष के नीचे बैठा था, खिलखिलाकर हंसने लगा।

उस आदमी ने उस भिक्षु से पूछा, हंसते हैं आप, क्या बात है? हंसने की क्या बात है? उस भिक्षु ने कहा, पूछना हो तो अभी पूछ लेना, क्योंकि इसी धोखे में हम भी पड़े। हम साल बिता चुके हैं। जब सालभर बाद खुद ही जान लेते हैं, तो पूछने को बचता नहीं है। पूछना हो तो अभी पूछ लेना, नहीं तो फिर पूछ ही न पाओगे। ये बुद्ध बड़े धोखेबाज हैं। मैं भी इसी धोखे में पड़ा और पीछे मुझे पता चला कि और लोग भी इस धोखे में पड़े हैं। बुद्ध ने कहा, मैं अपने वचन पर अडिग रहूंगा। अगर सालभर बाद तू पूछेगा, तो मैं उत्तर दूंगा।

साल बीत गया। फिर वही दिन आ गया। और बुद्ध ने उस आदमी को कहा कि मित्र, अब खड़े हो जाओ और प्रश्न पूछ लो! वह हंसने लगा और उसने कहा कि जाने दें, बेकार की बात-चीत में कोई सार नहीं है। पर बुद्ध ने कहा, वायदा था मेरा, तो मैं तुम्हें याद दिलाए देता हूं। पीछे मत कहना कि मैंने धोखा दिया।

उसने कहा कि नहीं, आप उस दिन उत्तर देते तो ही धोखा होता। क्योंकि जब मैं चुप हुआ, तब मैंने देखा कि सारे प्रश्न विचार से निर्मित थे, क्योंकि विचार ने अस्तित्व को खंड-खंड में तोड़ा हुआ था। और अस्तित्व था अखंड। अब जब मैं भीतर निर्विचार हुआ, तो मैंने पाया कि सारे प्रश्न झूठे थे; क्योंकि अस्तित्व को तोड़कर खड़े किए गए थे।

उस अव्यक्त में, उस अखंड में सब प्रश्न गिर जाते हैं, लेकिन व्यक्त में सब प्रश्न उठते हैं। तो या तो हम प्रश्न पूछते रहें, तो जिंदगी दर्शनशास्त्र बन जाती है। और या हम भीतर उतरें, तो जिंदगी धर्म बन जाती है। और अधर्म धर्म के खिलाफ उतना नहीं है, जितनी फिलासफी है, जितना दर्शन है धर्म के खिलाफ। क्योंकि वह विचार, और विचार, और विचार में ले जाता है। और हर विचार चीजों को तोड़ता चला जाता है। आखिर में सब चीजें टूट जाती हैं; प्रश्न ही प्रश्न रह जाते हैं; कोई उत्तर नहीं बचता।

भीतर उतरें, वहां एक ही है, वहां दो नहीं हैं। और जहां दो नहीं हैं, वहां प्रश्न नहीं हो सकता। प्रश्न के लिए कम से कम दो का होना जरूरी है कम से कम। पूछा जा सके, इसलिए कम से कम दो का होना जरूरी है।

वह जो पहले था अव्यक्त, वह जो बाद में रह जाएगा अव्यक्त, वह अभी भी है। उसमें उतरना, उसमें डूबना ही मार्ग है।

देही नित्यमध्योऽहं देहे सर्वस्य भारत।
तस्मात्सर्वाणि भूतानि न त्वं शोचितुमर्हसि।। 30।।
स्वधर्मपि चावेक्ष्य न विकम्पितुमर्हसि।
धर्म्याद्धि युद्धाच्छ्रेयोऽन्यत्क्षत्रियस्य न विद्यते।। 31।।

हे अर्जुन, यह आत्मा सब के शरीर में सदा ही अवध्य है, इसलिए संपूर्ण भूत प्राणियों के लिए तू शोक करने को योग्य नहीं है।

और अपने धर्म को देखकर भी तू भय करने को योग्य नहीं है, क्योंकि धर्मयुक्त युद्ध से बढ़कर दूसरा कोई कल्याणकारक कर्तव्य क्षत्रिय के लिए नहीं है।

कृष्ण अर्जुन को कहते हैं कि और सब बातें छोड़ भी दो, तो भी क्षत्रिय हो, और क्षत्रिय के लिए युद्ध से भागना श्रेयस्कर नहीं है।

इसे थोड़ा समझ लेना जरूरी है, कई कारणों से।

एक तो विगत पांच सौ वर्षों में, सभी मनुष्य समान हैं, इसकी बात इतनी प्रचारित की गई है कि कृष्ण की यह बात बहुत अजीब लगेगी, बहुत अजीब लगेगी, कि तुम क्षत्रिय हो। समाजवाद के जन्म के पहले, सारी पृथ्वी पर, उन सारे लोगों ने, जिन्होंने सोचा है और जीवन को जाना है, बिल्कुल ही दूसरी उनकी धारणा थी। वह धारणा यह थी कि कोई भी व्यक्ति समान नहीं है। एक।

और दूसरी धारणा उस असमानता से ही बंधी हुई थी और वह यह थी कि व्यक्तियों के टाइप हैं, व्यक्तियों के विभिन्न प्रकार हैं। बहुत मोटे में, इस देश के मनीषियों ने चार प्रकार बांटे हुए थे। वे चार वर्ण थे। वर्ण की धारणा भी बुरी तरह, बुरी तरह निंदित हुई। इसलिए नहीं कि वर्ण की धारणा के पीछे कोई मनोवैज्ञानिक सत्य नहीं है, बल्कि इसलिए कि वर्ण की धारणा मानने वाले लोग अत्यंत नासमझ सिद्ध हुए। वर्ण की धारणा को प्रतिपादित जो आज लोग कर रहे हैं, अत्यंत प्रतिक्रियावादी और अवैज्ञानिक वर्ग के हैं। संग-साथ से सिद्धांत तक मुसीबत में पड़ जाते हैं!

इसलिए आज बड़ी मुश्किल पड़ती है यह बात कि कृष्ण का यह कहना कि तू क्षत्रिय है। जिस दिन यह बात कही गई थी, उस दिन यह मनोवैज्ञानिक सत्य बहुत स्पष्ट था। अभी जैसे-जैसे पश्चिम में मनोविज्ञान की समझ बढ़ती है, वैसे-वैसे यह सत्य पुनः स्थापित होता जाता है। कार्ल गुस्ताव जुंग ने फिर आदमी को चार टाइप में बांटा है। और आज अगर पश्चिम में किसी आदमी की भी मनुष्य के मनस में गहरी से गहरी पैठ है, तो वह जुंग की है। उसने फिर चार हिस्सों में बांट दिया है।

नहीं, आदमी एक ही टाइप के नहीं हैं। पश्चिम में जो मनोविज्ञान का जन्मदाता है फ्रायड, उसने तो मनोवैज्ञानिक आधार पर समाजवाद की खिलाफत की है। उसने कहा कि मैं कोई अर्थशास्त्री नहीं हूं, लेकिन जितना ही मैं मनुष्य के मन को जानता हूं, उतना ही मैं कहता हूं कि मनुष्य असमान है। इनइक्वालिटी इ.ज दि फैक्ट, और इक्वालिटी सिर्फ एक झूठी कहानी है, पुराणकथा है। समानता है नहीं; हो नहीं सकती; क्योंकि व्यक्ति-व्यक्ति बुनियाद में बहुत भिन्न हैं।

इन भिन्नताओं की अगर हम बहुत मोटी रूप-रेखा बांधें, तो इस मुल्क ने कृष्ण के समय तक बहुत मनोवैज्ञानिक सत्य को विकसित कर लिया था और हमने चार वर्ण बांटे थे। चार वर्णों में राज है। और जहां भी कभी मनुष्यों को बांटा गया है, वह चार से कम में नहीं बांटा गया है और चार से ज्यादा में भी नहीं बांटा गया; जिन्होंने भी बांटा है--इस मुल्क में ही नहीं, इस मुल्क के बाहर भी। कुछ कारण दिखाई पड़ता है। कुछ प्राकृतिक तथ्य मालूम होता है पीछे।

ब्राह्मण से अर्थ है ऐसा व्यक्ति, जिसके प्राणों का सारा समर्पण बौद्धिक है, इंटेलेक्चुअल है। जिसके प्राणों की सारी ऊर्जा बुद्धि में रूपांतरित होती है। जिसके जीवन की सारी खोज ज्ञान की खोज है। उसे प्रेम न मिले, चलेगा; उसे धन न मिले, चलेगा; उसे पद न मिले, चलेगा; लेकिन सत्य क्या है, इसके लिए वह सब समर्पित कर सकता है। पद, धन, सुख, सब खो सकता है। बस, एक लालसा, उसके प्राणों की ऊर्जा एक ही लालसा के इर्द-

गिर्द जीती है, उसके भीतर एक ही दीया जल रहा है और वह दीया यह है कि ज्ञान कैसे मिले? इसको ब्राह्मण...
।

आज पश्चिम में जो वैज्ञानिक हैं, वे ब्राह्मण हैं। आइंस्टीन को ब्राह्मण कहना चाहिए, लुई पाश्चर को ब्राह्मण कहना चाहिए। आज पश्चिम में तीन सौ वर्षों में जिन लोगों ने विज्ञान के सत्य की खोज में अपनी आहुति दी है, उनको ब्राह्मण कहना चाहिए।

दूसरा वर्ग है क्षत्रिय का। उसके लिए ज्ञान नहीं है उसकी आकांक्षा का स्रोत, उसकी आकांक्षा का स्रोत शक्ति है, पावर है। व्यक्ति हैं पृथ्वी पर, जिनका सारा जीवन शक्ति की ही खोज है। जैसे नीत्से, उसने किताब लिखी है, विल टु पावर। किताब लिखी है उसने कि जो असली नमक हैं आदमी के बीच--नीत्से कहता है--वे सभी शक्ति को पाने में आतुर हैं, शक्ति के उपासक हैं, वे सब शक्ति की खोज कर रहे हैं। इसलिए नीत्से ने कहा कि मैंने श्रेष्ठतम संगीत सुने हैं, लेकिन जब सड़क पर चलते हुए सैनिकों के पैरों की आवाज और उनकी चमकती हुई संगीनें रोशनी में मुझे दिखाई पड़ती हैं, इतना सुंदर संगीत मैंने कोई नहीं सुना।

ब्राह्मण को यह आदमी पागल मालूम पड़ेगा, संगीन की चमकती हुई धार में कहीं कोई संगीत होता है? कि सिपाहियों के एक साथ पड़ते हुए कदमों की चाप में कोई संगीत होता है? संगीत तो होता है कंटेंप्लेशन में, चिंतना में, आकाश के नीचे वृक्ष के पास बैठकर तारों के संबंध में सोचने में। संगीत तो होता है संगीत में, काव्य में। संगीत तो होता है खोज में सत्य की। यह पागल है नीत्से!

लेकिन नीत्से किसी एक वर्ग के लिए ठीक-ठीक बात कह रहा है। किसी के लिए तारों में कोई अर्थ नहीं होता। किसी के लिए एक ही अर्थ होता है, एक ही संकल्प होता है कि शक्ति और ऊर्जा के ऊपरी शिखर पर वह कैसे उठ जाए! उसे हमने कहा था क्षत्रिय।

कृष्ण पहचानते हैं अर्जुन को भलीभांति। वह टाइप क्षत्रिय का है। अभी बातें वह ब्राह्मण जैसी कर रहा है। इसमें कनफ्यूज्ड हो जाएगा। इसमें उपद्रव में पड़ जाएगा। उसके व्यक्तित्व का पूरा का पूरा बनाव, स्ट्रक्चर, उसके मनस की एनाटामी, उसके मनस का सारा ढांचा क्षत्रिय का है। तलवार ही उसकी आत्मा है; वही उसकी रौनक है, वही उसका संगीत है। अगर परमात्मा की झलक उसे कहीं से भी मिलनी है, तो वह तलवार की चमक से मिलनी है। उसके लिए कोई और रास्ता नहीं है।

तो उससे वे कह रहे हैं, तू क्षत्रिय है; अगर और सब बातें भी छोड़, तो तुझसे कहता हूं कि तू क्षत्रिय है। और तुझसे मैं कहता हूं कि क्षत्रिय से यहां-वहां होकर तू सिर्फ दीन-हीन हो जाएगा, यहां-वहां होकर तू सिर्फ ग्लानि को उपलब्ध होगा, यहां-वहां होकर तू सिर्फ अपने प्रति अपराधी हो जाएगा।

और ध्यान रहे, अपने प्रति अपराध जगत में बड़े से बड़ा अपराध है। क्योंकि जो अपने प्रति अपराधी हो जाता है, वह फिर सबके प्रति अपराधी हो जाता है। सिर्फ वे ही लोग दूसरे के साथ अपराध नहीं करते, जो अपने साथ अपराध नहीं करते। और कृष्ण की भाषा में समझें, तो अपने साथ सबसे बड़ा अपराध यही है कि जो उस व्यक्ति का मौलिक स्वर है जीवन का, वह उससे च्युत हो जाए, उससे हट जाए।

तीसरा एक वर्ग और है, जिसको तलवार में सिर्फ भय के अतिरिक्त और कुछ भी नहीं दिखाई पड़ेगा; संगीत तो कभी नहीं, सिर्फ भय दिखाई पड़ेगा। जिसे ज्ञान की खोज नासमझी मालूम पड़ेगी कि सिरफिरों का काम है। तो तीसरा वर्ग है, जिसके लिए धन महिमा है। जिसके लिए धन ही सब कुछ है। धन के आस-पास ही जिसके जीवन की सारी व्यवस्था निर्मित होती है। अगर वैसे आदमी को मोक्ष की भी बात करनी हो, तो उसके लिए मोक्ष भी धन के रूप में ही दिखाई पड़ सकता है। अगर वह भगवान का भी चिंतन करेगा, तो भगवान को

लक्ष्मीनारायण बनाए बिना नहीं रह सकता। इसमें उसका कोई कसूर नहीं है। सिर्फ फैक्ट, सिर्फ तथ्य की बात कर रहा हूं मैं। ऐसा है। और ऐसा आदमी अगर छिपाए अपने को, तो व्यर्थ ही कठिनाई में पड़ेगा। अगर वह दबाए अपने को, तो कठिनाई में पड़ेगा। उसके लिए जीवन की जो परम अनुभूति का द्वार है, वह शायद धन की खोज से ही खुलने वाला है। इसलिए और कहीं से खुलने वाला नहीं है।

अब एक राकफेलर या एक मार्गन या एक टाटा, ये कोई छोटे लोग नहीं हैं। कोई कारण नहीं है इनके छोटे होने का। ये अपने वर्ग में वैसे ही श्रेष्ठ हैं, जैसे कोई याज्ञवल्क्य, जैसे कोई पतंजलि, जैसे कोई अर्जुन अपने वर्गों में होंगे। इसमें कोई तुलना नहीं है, कोई कंपेरिजन नहीं है।

वर्ण की जो धारणा है, वह तुलनात्मक नहीं है, वह सिर्फ तथ्यात्मक है। जिस दिन वर्ण की धारणा तुलनात्मक हुई कि कौन ऊपर, कौन नीचे, उस दिन वर्ण की वैज्ञानिकता चली गई और वर्ण एक सामाजिक अनाचार बन गया। जिस दिन वर्ण में तुलना पैदा हुई--कि क्षत्रिय ऊपर, कि ब्राह्मण ऊपर, कि वैश्य ऊपर, कि शूद्र ऊपर, कि कौन नीचे, कि कौन पीछे--जिस दिन वर्ण का शोषण किया गया, वर्ण के वैज्ञानिक सिद्धांत को जिस दिन सामाजिक शोषण की आधारशिला में रखा गया, उस दिन से वर्ण की धारणा अनाचार हो गई।

सभी सिद्धांतों का अनाचार हो सकता है, किसी भी सिद्धांत का शोषण हो सकता है। वर्ण की धारणा का भी शोषण हुआ। और अब इस मुल्क में जो वर्ण की धारणा के समर्थक हैं, वे उस वर्ण की वैज्ञानिकता के समर्थक नहीं हैं। उस वर्ण के आधार पर जो शोषण खड़ा है, उसके समर्थक हैं। उनकी वजह से वे तो डूबेंगे ही, वर्ण का एक बहुत वैज्ञानिक सिद्धांत भी डूब सकता है।

एक चौथा वर्ग भी है, जिसे धन से भी प्रयोजन नहीं है, शक्ति से भी अर्थ नहीं है, ज्ञान की भी कोई बात नहीं है, लेकिन जिसका जीवन कहीं बहुत गहरे में सेवा और सर्विस के आस-पास घूमता है। जो अगर अपने को कहीं समर्पित कर पाए और किसी की सेवा कर पाए, तो फुलफिलमेंट को, आप्तता को उपलब्ध हो सकता है।

ये जो चार वर्ग हैं, इनमें कोई नीचे-ऊपर नहीं है। ऐसे चार मोटे विभाजन हैं। और कृष्ण की पूरी साइकोलाजी, कृष्ण का पूरा का पूरा मनोविज्ञान इस बात पर खड़ा है कि प्रत्येक व्यक्ति को परमात्मा तक पहुंचने का जो मार्ग है, वह उसके स्वधर्म से गुजरता है। स्वधर्म का मतलब हिंदू नहीं, स्वधर्म का मतलब मुसलमान नहीं, स्वधर्म का मतलब जैन नहीं; स्वधर्म का मतलब, उस व्यक्ति का जो वर्ण है। और वर्ण का जन्म से कोई संबंध नहीं है।

लेकिन संबंध निर्मित हो गया। हो जाने के पीछे बहुत कारण हैं, वह मैं बात करूंगा। हो जाने के पीछे कारण थे, वैज्ञानिक ही कारण थे। संबंध था नहीं जन्म के साथ वर्ण का, इसलिए फ्लुइडिटी थी, और कोई विश्वामित्र यहां से वहां हो भी जाता था। संभावना थी कि एक वर्ण से दूसरे वर्ण में यात्रा हो जाए। लेकिन जैसे ही यह सिद्धांत ख्याल में आ गया और इस सिद्धांत की परम प्रामाणिकता सिद्ध हो गई कि प्रत्येक व्यक्ति अपने वर्ण से ही, अपने स्वधर्म से ही सत्य को उपलब्ध हो सकता है, तो एक बहुत जरूरी बात पैदा हो गई और वह यह कि यह पता कैसे चले कि कौन व्यक्ति किस वर्ण का है! अगर जन्म से तय न हो, तो शायद ऐसा भी हो सकता है कि एक आदमी जीवनभर कोशिश करे और पता ही न लगा पाए कि वह किस वर्ण का है। उसका क्या है झुकाव, वह क्या होने को पैदा हुआ है--पता ही कैसे चले? तो फिर सुगम यह हो सकता है कि अगर जन्म से कुछ निश्चय किया जा सके।

लेकिन जन्म से निश्चय किया कैसे जा सके? कोई आदमी किसी के घर में पैदा हो गया, इससे तय हो जाएगा? कोई आदमी किसी के घर में पैदा हो गया, ब्राह्मण के घर में, तो ब्राह्मण हो जाएगा?

जरूरी नहीं है। लेकिन बहुत संभावना है। प्रोबेबिलिटी ज्यादा है। और उस प्रोबेबिलिटी को बढ़ाने के लिए, सर्टेन करने के लिए बहुत से प्रयोग किए गए। बड़े से बड़ा प्रयोग यह था कि ब्राह्मण को एक सुनिश्चित जीवन व्यवस्था दी गई, एक डिसिप्लिन दी गई। यह डिसिप्लिन इसलिए दी गई कि इस आदमी को या इस स्त्री को जो नई आत्मा अपने गर्भ की तरह चुनेगी, तो उस आत्मा को बहुत स्पष्ट हो जाना चाहिए कि वह उसके टाइप से मेल खाता है कि नहीं खाता है।

इसलिए मैंने परसों आपसे कहा कि वर्णसंकर होने के डर से नहीं, क्योंकि वर्णसंकर से तो बहुत ही विकसित व्यक्तित्व पैदा हो सकते हैं, लेकिन दो जातियों में शादी न हो, उसका कारण बहुत दूसरा था। उसका कुल कारण इतना था कि हम प्रत्येक वर्ण को एक स्पष्ट फार्म, एक रूप दे देना चाहते थे। और प्रत्येक वर्ण को इतना स्पष्ट ढांचा दे देना चाहते थे कि आत्माएं, जो चुनाव करती हैं अपने नए जन्म के लिए, उनके लिए एकदम सुगम व्यवस्था हो जाए। फिर भी भूल-चूक हो जाती थी। इतने बड़े समाज में बहुत वैज्ञानिक प्रयोग भी भूल-चूक ले आता है। तो कभी किसी... ।

अब एक पिता और एक मां, जिनके दोनों के जीवन की खोज ज्ञान रही है, निश्चित ही ये जिस गर्भ को निर्मित करेंगे, वह गर्भ किसी ज्ञान की खोजी आत्मा के लिए सुगमतम होगा। इसलिए बहुत संभावना है कि ब्राह्मण के घर में ब्राह्मण का टाइप पैदा हो। संभावना है, निश्चय नहीं है। भूल-चूक हो सकती है। इसलिए भूल-चूक के लिए तरलता थी, थोड़ी यात्रा हो सकती थी।

इन चार हिस्सों में जो स्ट्रैटिफिकेशन किया गया समाज का, चार हिस्सों में तोड़ दिया गया, ये चार हिस्से नीचे-ऊपर की धारणा से बहुत बाद में भरे। पहले तो एक बहुत वैज्ञानिक, एक बहुत मनोवैज्ञानिक प्रयोग था, जो इनके बीच किया गया। ताकि आदमी पहचान सके कि उसके जीवन का मौलिक, उसके जीवन का मौलिक पैशन, उसके जीवन की मौलिक वासना क्या है। क्योंकि वह उसी वासना से यात्रा करके निर्वासना तक पहुंच सकता है।

कृष्ण अर्जुन को कह रहे हैं कि तू क्षत्रिय है। और सब बातें छोड़ दे, तो भी मैं तुझे कहता हूं कि तेरे लिए यही उचित है, तू लड़ने से मत भाग। तू लड़। तू लड़ ही सकता है। तेरा सारा व्यक्तित्व ही योद्धा का व्यक्तित्व है। तू हाथ में किताब लेकर नहीं बैठ सकता। हाथ में किताब रहेगी, लेकिन तेरे प्राणों तक किताब नहीं पहुंच सकती। तू सेवा करने की फिक्र में पड़ जाए कि सेवक हो जाऊं, लोगों के पैर दबाऊं, तो तेरे हाथ पैर दबाते रहेंगे, तेरी आत्मा वहां नहीं होगी। तू धन कमाने में लग जा, तो तू रुपये इकट्ठा करता रहेगा, लेकिन वे रुपये तेरे लिए निर्मूल्य होंगे; उनका मूल्य नहीं होगा।

मूल्य रुपये में नहीं होता, मूल्य व्यक्ति के वर्ण में होता है। उससे रुपये में आता है। मूल्य रुपए में नहीं होता, मूल्य व्यक्ति के वर्ण में होता है। अगर वैश्य के हाथ में रुपया आ जाए तो उसमें मूल्य होता है, क्षत्रिय के हाथ में रुपये का इतना ही मूल्य हो सकता है कि वह तलवार खरीद ले, इससे ज्यादा मूल्य नहीं होता। इंट्रिंजिक वैल्यू नहीं होती रुपये की क्षत्रिय के हाथ में; हां, एक्सटर्नल वैल्यू हो सकती है कि एक तलवार खरीद ले।

एक ब्राह्मण के हाथ में रुपये का कोई मतलब नहीं होता, कोई मतलब ही नहीं होता; ठीकरा होता है। इसलिए ब्राह्मण रुपये को ठीकरा कहते रहेंगे। वैश्य की समझ में कभी नहीं आता कि बात क्या है! यह हो नहीं सकता। उसे तो दिखाई पड़ेगा कि इस जगत में कुछ चल नहीं सकता, पैसा ही सब कुछ चला रहा है।

इसलिए अब तक दुनिया में जो भी व्यवस्थाएं बनी हैं, वे भी गहरे में वर्ण की ही व्यवस्थाओं के रूपांतरण हैं। अब तक पृथ्वी पर कोई भी व्यवस्था ब्राह्मण की नहीं बन सकी। संभावना है आगे। आज जो पश्चिम में बहुत

बुद्धिमान लोग मेरिटोक्रेसी की बात कर रहे हैं, गुणतंत्र की, तो कभी ऐसा वक्त आ सकता है कि जगत में ब्राह्मण की व्यवस्था हो। शायद वैज्ञानिक इतने प्रभावशाली हो जाएंगे आने वाले पचास सालों में कि राजनीतिज्ञों को अपने आप जगह खाली कर देनी पड़े। अभी भी बहुत प्रभावशाली हो गए हैं। अभी भी एक वैज्ञानिक के ऊपर निर्भर करता है बड़े से बड़ा युद्ध, कि कौन जीतेगा।

अगर आइंस्टीन जर्मनी में होता, तो जीत का हिसाब और होता। आइंस्टीन अमेरिका में था, तो हिसाब और हो गया। हिटलर को अगर कोई भी भूल-चूक पछताती होगी अभी भी नर्क में, तो एक ही भूल-चूक पछताती होगी कि इस यहूदी को भाग जाने दिया, वही गलती हो गई। यह एक आदमी पर इतना बड़ा निर्णय होगा... ।

ज्ञान निर्णायक होता जा रहा है! क्षत्रिय दुनिया पर हुकूमत कर चुके। वैश्य आज अमेरिका में हुकूमत कर रहे हैं। शूद्र आज रूस और चीन में हुकूमत कर रहे हैं। शूद्र यानी प्रोलिटेरिएट, शूद्र यानी वह जिसने अब तक सेवा की थी, लेकिन बहुत सेवा कर चुका, अब वह कहता है, हटो! अब हम मालकियत भी करना चाहते हैं।

लेकिन ब्राह्मण के हाथ में भी कभी आ सकती है व्यवस्था। संभावना बढ़ती जाती है। क्योंकि क्षत्रियों के हाथ में जब तक व्यवस्था रही, सिवाय तलवार चलने के कुछ भी नहीं हुआ। अमेरिका के हाथ में, जब से वैश्यों के हाथ में धन की सत्ता आई है, तब से सारी दुनिया में सिवाय धन के और कोई चीज विचारणीय नहीं रही। और जब से प्रोलिटेरिएट, सेवक, श्रमिक के हाथ में व्यवस्था आई है, तब से वह दुनिया में एरिस्टोक्रेसी ने जो भी श्रेष्ठ पैदा किया था, उसे नष्ट करने में लगा है।

चीन में जिसे वे सांस्कृतिक क्रांति कह रहे हैं, वह सांस्कृतिक क्रांति नहीं, सांस्कृतिक हत्या है। जो भी संस्कृति ने पैदा किया है चीन की, उस सबको नष्ट करने में लगे हैं। बुद्ध की मूर्तियां तोड़ी जा रही हैं, मंदिर गिराए जा रहे हैं! विहार, मस्जिदें, गुरुद्वारे गिराए जा रहे हैं। कीमती चित्र, बहुमूल्य पेंटिंग्स, वे सब बुर्जुआ हो गई हैं, उन सबमें आग लगाई जा रही है।

यह जो कृष्ण उसको कह रहे हैं अर्जुन को, वह एक बहुत बड़ी मनोवैज्ञानिक बात कह रहे हैं। वे यह कह रहे हैं कि तू अन्यथा हो नहीं सकता। और इसको भी थोड़ा समझ लेना जरूरी है कि क्यों नहीं हो सकता। अगर अर्जुन चाहे, तो क्यों ब्राह्मण नहीं हो सकता? अगर बुद्ध क्षत्रिय घर में पैदा होकर ब्राह्मण हो सकते हैं, और बुद्ध जैसा ब्राह्मण नहीं हुआ। अगर महावीर क्षत्रिय घर में पैदा होकर ब्राह्मण हो सकते हैं, और महावीर जैसा ब्राह्मण नहीं हुआ। जैनों के तो चौबीस तीर्थंकर ही क्षत्रिय हैं, लेकिन क्षत्रिय का कोई काम नहीं किया; शुद्धतम ब्राह्मण की यात्रा पर निकले। तो क्यों कृष्ण जोर देते हैं कि अर्जुन, तू क्षत्रिय ही हो सकता है। जब बुद्ध हो सकते हैं, महावीर हो सकते हैं, पार्श्व हो सकते हैं, नेमिनाथ हो सकते हैं--नेमिनाथ तो कृष्ण के चचेरे भाई ही थे--वे जब हो सकते हैं, तो इस अर्जुन का क्या कसूर है कि नहीं हो सकता! तो थोड़ी-सी बातें समझ लेनी जरूरी हैं।

आज मनोविज्ञान कहता है कि तीन साल की उम्र तक आदमी जितना सीखता है, वह पचास प्रतिशत है पूरे जीवन के ज्ञान का, फिफ्टी परसेंट। बाकी शेष जीवन में वह पचास प्रतिशत और सीखेगा। पचास प्रतिशत तीन साल में सीख लेता है; शेष पचास प्रतिशत आने वाले जीवन में सीखेगा। और वह जो पचास प्रतिशत उसने तीन वर्ष की उम्र तक सीखा है, उसे बदलना करीब-करीब असंभव है। बाद में जो पचास प्रतिशत सीखेगा, उसे बदलना कभी भी संभव है। तीन वर्ष तक मानना चाहिए, समझना चाहिए कि व्यक्ति का मन करीब-करीब प्रौढ़ हो जाता है भीतर।

अगर बुद्ध और महावीर क्षत्रिय घरों में पैदा होकर भी ब्राह्मण की यात्रा पर निकल जाते हैं, तो उनके लक्षण बहुत बचपन से साफ हैं। बुद्ध को एक प्रतियोगिता में खड़ा किया गया कि हरिण को निशाना लगाएं, तो वे इनकार कर देते हैं। इस अर्जुन ने कभी ऐसा नहीं किया। यह अब तक निशाना ही लगाता रहा है; इसकी सारी यात्रा अब तक की क्षत्रिय की ही यात्रा है। आज अचानक, आकस्मिक, एक क्षण में यह कहने लगा कि नहीं। तो इसके पास जो व्यक्तित्व का ढांचा है, वह पूरा का पूरा ढांचा ऐसा नहीं है कि बदला जा सके। उसकी सारी तैयारी, सारा शिक्षण, सारी कंडीशनिंग बहुत व्यवस्था से क्षत्रिय के लिए हुई है। आज अचानक वह भाग नहीं सकता।

कृष्ण उससे कहते हैं कि तू जो छोड़ने की बात कर रहा है, वह उपाय नहीं है कोई; कठिन है। तू क्षत्रिय है, यह जान। और अब शेष यात्रा तेरी क्षत्रिय की तरह गौरव के ढंग से पूरी हो सकती है, या तू अगौरव को उपलब्ध हो सकता है और कुछ भी नहीं। तो वे कहते हैं कि या तो तू यश को उपलब्ध हो सकता है क्षत्रिय की यात्रा से, या सिर्फ अपयश में गिर सकता है।

यदृच्छया चोपपन्नं स्वर्गद्वारमपावृतम्।
सुखिनः क्षत्रियाः पार्थ लभन्ते युद्धमीदृशम्।। 32।।

हे पार्थ, अपने आप प्राप्त हुए और खुले हुए स्वर्ग के द्वाररूप इस प्रकार के युद्ध को भाग्यवान क्षत्रिय लोग ही पाते हैं।

इस दूसरे सूत्र में भी वे क्षत्रिय की धन्यता की स्मृति दिला रहे हैं। क्षत्रिय की क्या धन्यता है। क्षत्रिय के लिए क्या ब्लिसफुल है। क्षत्रिय के लिए क्या फुलफिलमेंट है। वह कैसे फुलफिल्ड हो सकता है। वह कैसे आप्तकाम हो सकता है, कैसे भर सकता है पूरा।

युद्ध ही उसके लिए अवसर है। वहीं वह कसौटी पर है। वहीं चुनौती है, वहीं संघर्ष है, वहां मौका है जांच का; उसके क्षत्रिय होने की अग्निपरीक्षा है। कृष्ण कह रहे हैं कि जैसे स्वर्ग और नर्क के द्वार पर कोई खड़ा हो और चुनाव हाथ में हो। युद्ध में उतरता है तू, चुनौती स्वीकार करता है, तो स्वर्ग का यश तेरा है। भागता है, पलायन करता है, पीठ दिखाता है, तो नर्क का अपयश तेरा है। यहां स्वर्ग और नर्क किसी भौगोलिक स्थान के लिए सूचक नहीं हैं। क्षत्रिय का स्वर्ग ही यही है... ।

मैंने सुना है कि अकबर के दरबार में दो राजपूत गए। युवा, जवान, अभी मूंछ की रेखाएं आनी शुरू हुई हैं। दोनों अकबर के सामने गए और उन्होंने कहा कि हम दो बहादुर हैं और सेवा में उपस्थित हैं; कोई काम! तो अकबर ने कहा, बहादुर हो, इसका प्रमाण क्या है? उन दोनों ने एक-दूसरे की तरफ देखा, हंसे। तलवारें बाहर निकल गईं। अकबर ने कहा, यह क्या करते हो? लेकिन जब तक वह कहे, तब तक तलवारें चमक गईं, कौंध गईं। एक क्षण में तो खून के फव्वारे बह रहे थे; एक-दूसरे की छाती में तलवारें घुस गई थीं। खून के फव्वारों से चेहरे भर गए थे। और वे दोनों हंस रहे थे और उन्होंने कहा, प्रमाण मिला? क्योंकि क्षत्रिय सिर्फ एक ही प्रमाण दे सकता है कि मौत मुस्कुराहट से ली जा सकती है। तो हम सर्टिफिकेट लिखवाकर कहां से लाएं? सर्टिफिकेट कोई और हो भी नहीं सकता बहादुरी का।

अकबर तो घबड़ा गया, उसने अपनी आत्मकथा में लिखवाया है कि इतना मैं कभी नहीं घबड़ाया था। मानसिंह को उसने बुलाया और कहा कि क्या, यह मामला क्या है? मैंने तो ऐसे ही पूछा था! तो मानसिंह ने

कहा, क्षत्रिय से दोबारा ऐसे ही मत पूछना। क्योंकि जिंदगी हम हाथ पर लेकर चलते हैं। क्षत्रिय का मतलब यह है कि मौत एक क्षण के लिए भी विचारणीय नहीं है। लेकिन अकबर ने लिखवाया है कि हैरानी तो मुझे यह थी कि मरते वक्त वे बड़े प्रसन्न थे; उनके चेहरों पर मुस्कुराहट थी। तो मानसिंह से उसने पूछा कि यह मुस्कुराहट, मरने के बाद भी! तो मानसिंह ने कहा, क्षत्रिय जो हो सकता था, हो गया। फूल खिल गया। तृप्त! कोई यह नहीं कह सका कि क्षत्रिय नहीं! बात खतम हो गई।

वह जो कृष्ण अर्जुन से कहते हैं कि स्वर्ग और नर्क, जिसके सामने दोनों के द्वार खुले हों, ऐसा क्षत्रिय के लिए युद्ध का क्षण है। वहीं है कसौटी उसकी, वहीं है परीक्षा उसकी। जिसकी तू प्रतीक्षा करता था, जिसके लिए तू तैयार हुआ आज तक, जिसकी तूने अभीप्सा और प्रार्थना की, जो तूने चाहा, वह आज पूरा होने को है। और ऐन वक्त पर तू भाग जाने की बात करता है! अपने हाथ से नर्क में गिरने की बात करता है!

क्षत्रिय के व्यक्तित्व को उसकी पहचान कहां है? उस मौके में, उस अवसर में, जहां वह जिंदगी को दांव पर ऐसे लगाता है, जैसे जिंदगी कुछ भी नहीं है। इसके लिए ही उसकी सारी तैयारी है। इसकी ही उसकी प्यास भी है। यह मौका चूकता है वह, तो सदा के लिए तलवार से धार उतर जाएगी; फिर तलवार जंग खाएगी, फिर आंसू ही रह जाएंगे।

अवसर है प्रत्येक चीज का। ज्ञानी का भी अवसर है, धन के यात्री का भी अवसर है, सेवा के खोजी का भी अवसर है। अवसर जो चूक जाता है, वह पछताता है। और जब व्यक्तित्व को उभरने का आखिरी अवसर हो, जैसा अर्जुन के सामने है, शायद ऐसा अवसर दोबारा नहीं होगा, तो कृष्ण कहते हैं, उचित ही है कि तू स्वर्ग और नर्क के द्वार पर खड़ा है। चुनाव तेरे हाथ में है। स्मरण कर कि तू कौन है! स्मरण कर कि तूने अब तक क्या चाहा है! स्मरण कर कि यह पूरी जिंदगी, सुबह से सांझ, सांझ से सुबह, तूने किस चीज की तैयारी की है! अब वह तलवार की चमक का मौका आया है और तू जंग देने की इच्छा रखता है?

अथ चेत्त्वमिमं धर्म्यं संग्रामं न करिष्यसि।
ततः स्वधर्मं कीर्तिं च हित्वा पापमवाप्स्यसि।। 33।।
अकीर्तिं चापि भूतानि कथयिष्यन्ति तेऽव्ययाम्।
संभावितस्य चाकीर्तिर्मरणादतिरिच्यते।। 34।।

और यदि तू इस धर्मयुक्त संग्राम को नहीं करेगा, तो स्वधर्म को और कीर्ति को खोकर पाप को प्राप्त होगा।

और सब लोग तेरी बहुत काल तक रहने वाली अपकीर्ति को भी कथन करेंगे और वह अपकीर्ति माननीय पुरुष के लिए मरण से भी अधिक बुरी होती है।

अभय क्षत्रिय की आत्मा है, फियरलेसनेस। कैसा भी भय न पकड़े उसके मन को, कैसे भी भय के झंझावात उसे कंपाएं न। कैसा भी भय हो, मृत्यु का ही सही, तो भी उसके भीतर हलन-चलन न हो। एक छोटी-सी कहानी आपसे कहूं, उससे ख्याल आ सकेगा।

सुना है मैंने कि चीन में एक बहुत बड़ा धनुर्धर हुआ। उसने जाकर सम्राट को कहा कि अब मुझे जीतने वाला कोई भी नहीं है। तो मैं घोषणा करना चाहता हूं राज्य में कि कोई प्रतियोगिता करता हो, तो मैं तैयार हूं। और अगर कोई प्रतियोगी न निकले--या कोई प्रतियोगी निकले, तो मैं स्पर्धा के लिए आ गया हूं। और मैं यह चाहता हूं कि अगर कोई प्रतियोगी न निकले या प्रतियोगी हार जाए, तो मुझे पूरे देश का श्रेष्ठतम धनुर्धर

स्वीकार किया जाए। सम्राट ने कहा, इसके पहले कि तुम मुझसे कुछ बात करो, मेरा जो पहरेदार है, उससे मिल लो। पहरेदार ने कहा कि धनुर्धर तुम बड़े हो, लेकिन एक व्यक्ति को मैं जानता हूं, कुछ दिन उसके पास रह आओ। कहीं ऐसा न हो कि नाहक अपयश मिले।

उस व्यक्ति की खोज करता हुआ वह धनुर्धर जंगल पहुंचा। जब उस व्यक्ति के पास उसने देखा और रहा, तो पता चला कि वह तो कुछ भी नहीं जानता था।

तीन वर्ष उसके पास सीखा। सब सीख गया। तब उसके मन में हुआ कि अब तो मैं सब सीख गया, लेकिन फिर भी अब मैं किस मुंह से राजा के पास जाऊं, क्योंकि मेरा गुरु तो कम से कम मुझसे ज्यादा जानता ही है। नहीं ज्यादा, तो मेरे बराबर जानता ही है। तो अच्छा यह हो कि मैं गुरु की हत्या करके चला जाऊं।

अक्सर गुरुओं की हत्या शिष्य ही करते हैं--अक्सर। यह बिल्कुल स्वाभाविक नियम से चलता है।

तो गुरु सुबह-सुबह लकड़ियां बीनने गया है जंगल में; वह एक वृक्ष की ओट में खड़ा हो गया। धनुर्धर है, दूर से उसने तीर मारा, गुरु लकड़ियां लिए चला आ रहा है। लेकिन अचानक सब उलटा हो गया। वह तीर पहुंचा, उस गुरु ने देखा, एक लकड़ी सिर के बंडल से निकालकर उस तीर को मारी। वह तीर उलटा लौटा और जाकर उस युवक की छाती में छिद गया।

गुरु ने आकर तीर निकाला और कहा कि इतना भर मैंने बचा रखा था। शिष्यों से गुरु को थोड़ा-सा बचा रखना पड़ता है। लेकिन तुम नाहक... । मुझसे कह देते। मैं गांव आऊंगा नहीं। और शिष्य से प्रतियोगिता करने आऊंगा? पागल हुए हो? तुम जाओ, घोषणा करो, तुम मुझे मरा हुआ समझो। तुम्हारे निमित्त अब किसी को सिखाऊंगा भी नहीं। और मेरे आने की कोई बात ही नहीं; तुमसे प्रतियोगिता करूंगा! जाओ, लेकिन जाने के पहले ध्यान रखना कि मेरा गुरु अभी जिंदा है। और मैं कुछ भी नहीं जानता। उसके पास दस-पांच साल रहकर जो थोड़े-बहुत कंकड़-पत्थर बीन लिए थे, वही। इसलिए उसके दर्शन एक बार कर लो।

बड़ा घबड़ाया वह आदमी। महत्वाकांक्षी के लिए धैर्य बिल्कुल नहीं होता। तीन साल इसके साथ खराब हुए। लेकिन अब बिना उस आदमी को देखे जा भी नहीं सकता। तो गया पहाड़ों में खोजता हुआ, और ऊंचे शिखर पर। उसके गुरु ने कहा था कि मेरा बूढ़ा गुरु है, कमर उसकी झुक गई है, तुम पहचान लोगे। जब वह उसके पास पहुंचा, तो उसने जाकर देखा कि एक अत्यंत वृद्ध आदमी, सौ के ऊपर पार हो गया होगा, कमर झुक गई है, बिल्कुल गोल हो गया है। सोचा कि यह आदमी!

उसने कहा कि क्या आप ही वे धनुर्धर हैं, जिनके पास मुझे भेजा गया है? तो उस बूढ़े ने आंखें उठाईं, उसकी पलकों के बाल भी बहुत बड़े हो गए थे, बामुश्किल आंखें खोलकर उसने देखा और कहा, हां, ठीक है। कैसे आए हो? क्या चाहते हो? उसने कहा, मैं भी एक धनुर्धर हूं।

तो वह बूढ़ा हंसने लगा। उसने कहा, अभी धनुष-बाण साथ लिए हो! कैसे धनुर्धर हो? क्योंकि जब कोई कला में पूर्ण हो जाता है, तो यह व्यर्थ का बोझ नहीं ढोता है। जब वीणा बजाने में वीणावादक पूर्ण हो जाता है, तो वीणा तोड़ देता है, क्योंकि फिर वीणा पूर्ण संगीत के मार्ग पर बाधा बन जाती है। और जब धनुर्धर पूरा हो जाता है, तो धनुष-बाण किसलिए? ये तो सिर्फ अभ्यास के लिए थे।

बहुत घबड़ाया वह धनुर्धर। उसने कहा, सिर्फ अभ्यास ही! तो आगे और कौन-सी धनुर्विद्या है? तो उस बूढ़े ने कहा, आओ मेरे साथ। वह बूढ़ा उसे लेकर पहाड़ के कगार पर चला गया, जहां नीचे हजारों फीट का गड्ढ है।

वह बूढ़ा आगे बढ़ने लगा, वह धनुर्धर पीछे खड़ा रह गया। वह बूढ़ा आगे बढ़ा, उसके पैरों की अंगुलियां पत्थर के बाहर झांकने लगीं। उसकी झुकी हुई गरदन खाई में झांकने लगी। उसने कहा कि बेटे, और पास आओ; इतने दूर क्यों रुक गए हो! उसने कहा, लेकिन वहां तो मुझे बहुत डर लगता है। आप वहां खड़े ही कैसे हैं? मेरी आंखें भरोसा नहीं करतीं, क्योंकि वहां तो जरा श्वास भी चूक जाए... !

तो उस बूढ़े ने कहा, जब अभी मन इतना कंपता है, तो निशाना तुम्हारा अचूक नहीं हो सकता। और जहां भय है, वहां क्षत्रिय कभी पैदा नहीं होता है। उस बूढ़े ने कहा, जहां भय है, वहां क्षत्रिय कभी पैदा नहीं होता है। वहां धनुर्धर के जन्म की संभावना नहीं है। भयभीत किस चीज से हो? और अगर भय है, तो मन में कंपन होंगे ही, कितने ही सूक्ष्म हों, कितने ही सूक्ष्म हों, मन में कंपन होंगे ही।

तो कृष्ण अर्जुन को कह रहे हैं, तू और भयभीत? तो कल जो तेरा सम्मान करते थे, कल जिनके बीच तेरे यश की चर्चा थी, कल जो तेरा गुणगान गाते थे, कल तक जो तेरी तरफ देखते थे कि तू एक जीवंत प्रतीक है क्षत्रिय का, वे सब हंसेंगे। अपयश की चर्चा हो जाएगी, कीर्ति को धब्बा लगेगा। तू यह क्या कर रहा है? तेरा निज-धर्म है जो, तेरी तैयारी है जिसके लिए, जिसके विपरीत होकर तू जी भी न सकेगा; कीर्ति के शिखर से गिरते ही, तू श्वास भी न ले सकेगा।

और ठीक कहते हैं कृष्ण। अर्जुन जी नहीं सकता। क्षत्रिय मर सकता है गौरव से, लेकिन पलायन करके गौरव से जी नहीं सकता। वह क्षत्रिय होने की संभावना में ही नहीं है। तो कृष्ण कहते हैं, जो तेरी संभावना है, उससे विपरीत जाकर तू पछताएगा, उससे विपरीत जाकर तू सब खो देगा।

इस संबंध में दो-तीन बातें अंत में आपसे कहूं, जो ख्याल ले लेने जैसी हैं; उनसे बड़ी भ्रांति होती है, अगर वे ख्याल में न रहें। लग सकता है कि कृष्ण क्या युद्धखोर हैं, वार-मांगर हैं! लग सकता है कि युद्ध की ऐसी उत्तेजना! युद्ध के लिए ऐसा प्रोत्साहन! तो भूल हो जाएगी, अगर आपने ऐसा सोचा।

कृष्ण सिर्फ एक मनस-शास्त्री हैं। अर्जुन की पोटेंशियलिटी को समझते हैं; अर्जुन क्या हो सकता है, यह समझते हैं; और अर्जुन क्या होकर तृप्त हो सकता है, यह समझते हैं। और अर्जुन क्या होने से चूक जाए, तो सदा के लिए दुख और विषाद को उपलब्ध हो जाएगा और अपने ही हाथ नर्क में, आत्मघाती हो जाएगा, यह भी समझते हैं।

अब आज सारी दुनिया में मनस-शास्त्र के सामने जो गहरे से गहरा सवाल है, वह यही है कि हम प्रत्येक बच्चे को उसकी संभावना, उसकी पोटेंशियलिटी बता सकें, वह क्या हो सकता है। सब अस्तव्यस्त है।

रवींद्रनाथ के पिता रवींद्रनाथ को कवि नहीं बनाना चाहते हैं। कोई भी पिता नहीं बनाना चाहेगा। मैंने तो सुना है कि महाकवि निराला के घर एक रात एक छोटी-सी बैठक चलती थी। सुमित्रानंदन पंत थे, महादेवी थीं, मैथिलीशरण गुप्त थे, और कुछ लोग थे। मैथिलीशरण गुप्त बहुत दिन बाद आए थे। तो जैसी उनकी आदत थी, निराला के भोजन बनाने वाले महाराज को भी पूछा कि ठीक तो हो? सब ठीक तो है? उसने कहा, और तो सब ठीक है महाराज, लेकिन मेरा लड़का, किसी तरह उसे ठीक करें, बर्बाद हुआ जा रहा है। तो मैथिलीशरण ने पूछा, क्या हुआ तुम्हारे लड़के को? क्या गुंडा-बदमाश हो गया? चोर-लफंगा हो गया? उसने कहा कि नहीं-नहीं, मेरा लड़का कवि हो गया है।

इन सब कवियों पर क्या गुजरी होगी, पता नहीं।

रवींद्रनाथ के पिता भी नहीं चाहते थे कि कवि हो जाए लड़का। सब चेष्टा की, पढ़ाया, लिखाया, पूरा परिवार बड़ा ही धुआंधार पीछे लगा था--इंजीनियर बन जाए, डाक्टर बन जाए, प्रोफेसर बन जाए--कुछ भी बन जाए, काम का बन जाए।

रवींद्रनाथ के घर में एक किताब रखी है, जोड़ासांको भवन में। बड़ा परिवार था, बहुत बच्चे थे, सौ लोग थे घर में। हर बच्चे के जन्मदिन पर उस किताब में उस बच्चे के संबंध में घर के सब बड़े-बूढ़े भविष्यवाणियां लिखते थे। उस किताब में रवींद्रनाथ के सारे भाई-बहन--काफी थे, दर्जनभर--सबके संबंध में बहुत अच्छी बातें लिखी हैं। रवींद्रनाथ के संबंध में किसी ने अच्छी बात नहीं लिखी है। रवींद्रनाथ की मां ने खुद लिखा है कि रवि से हमें कोई आशा नहीं है। सब लड़के बड़े होनहार हैं; कोई प्रथम आता है, कोई गोल्ड मेडल लाता है, कोई युनिवर्सिटी में चमकता है। यह लड़का बिल्कुल गैर-चमक का है।

लेकिन आज आप नाम भी नहीं बता सकते कि रवींद्रनाथ के उन सब चमकदार भाइयों के नाम क्या हैं! वे अचानक कहीं खो गए।

मनोविज्ञान इस समय बहुत व्यस्त है कि यह जो जगत इतना दुखी मालूम पड़ रहा है, इसका बहुत बुनियादी कारण जो है, वह डिसप्लेसमेंट है। हर आदमी जो हो सकता है, वह नहीं हो पा रहा है। वह कहीं और लगा दिया गया है। एक चमार है, वह प्रधानमंत्री हो गया है। जिसे प्रधानमंत्री होना चाहिए, वह कहीं जूते बेच रहा है। सब अस्तव्यस्त है। किसी को भी पता भी तो नहीं है कि वह क्या हो सकता है! धक्के हैं, बिल्कुल एक्सिडेंटल है जैसे सब, सांयोगिक है जैसे सब। बाप को एक सनक सवार है कि लड़के को इंजीनियर होना चाहिए, तो इंजीनियर होना चाहिए। अब बाप की सनक से लड़के का क्या लेना-देना! होना था तो बाप को हो जाना चाहिए था। लेकिन बाप को सनक सवार है, बेटे को इंजीनियर होना चाहिए। फिर बाप भी क्या कर सकता है, उसे कुछ भी तो पता नहीं है।

इसलिए आज सारी दुनिया में मनोवैज्ञानिक इस बात के लिए आतुर हैं कि प्रत्येक बच्चे की पोटेंशियलिटी की खोज ही मनुष्यता के लिए मार्ग बन सकती है।

वह जो कृष्ण कह रहे हैं, वह युद्ध की बात नहीं कह रहे हैं, भूलकर भी मत समझ लेना यह। इससे बड़ी भ्रांति पैदा होती है। कृष्ण जब यह कह रहे हैं, तो यह बात स्पेसिफिकली, विशेष रूप से अर्जुन के टाइप के लिए निवेदित है। यह बात, अर्जुन की जो संभावना है, उस संभावना के लिए उत्प्रेरित है। यह बात हर किसी के लिए नहीं है। यह हर कोई के लिए नहीं है।

लेकिन इतने बड़े मनोविज्ञान की समझ खो गई। महावीर ने अहिंसा की बात कही। वह कुछ लोगों के लिए सार्थक है, अगर पूरे मुल्क को पकड़ ले तो खतरा है। कृष्ण ने हिंसा की बात कही। वह अर्जुन के लिए सार्थक है, और कुछ लोगों के लिए बिल्कुल सार्थक है, पूरे मुल्क को पकड़ ले तो खतरा है।

लेकिन भूल निरंतर हो जाती है। वह निरंतर भूल यह हो जाती है कि हम प्रत्येक सत्य को जनरलाइज कर देते हैं; उसको सामान्य नियम बना देते हैं। कोई सत्य व्यक्त जगत में सामान्य नियम नहीं है। अव्यक्त जगत की बात छोड़ें, व्यक्त जगत में, मैनिफेस्टेड जगत में सभी सत्य सशर्त हैं, उनके पीछे शर्त है।

ध्यान रखेंगे पूरे समय कि अर्जुन से कही जा रही है यह बात, एक पोटेंशियल क्षत्रिय से, जिसके जीवन में कोई और स्वर नहीं रहा है, न हो सकता है। उसकी आत्मा जो हो सकती है, कृष्ण उसके पीछे बिल्कुल लाठी लेकर पड़ गए हैं, कि तू वही हो जा, जो तू हो सकता है। वह भाग रहा है। वह बचाव कर रहा है, वह डर रहा है, वह भयभीत हो रहा है, वह पच्चीस तर्क खोज रहा है।

कृष्ण युद्धखोर नहीं हैं। कृष्ण अर्जुन से कह रहे हैं यह। और आप भूलकर भी यह मत समझ लेना कि सबके लिए, अर्जुन से कहा गया सत्य, सत्य है। ऐसा भूलकर मत समझ लेना।

हां, एक ही बात सत्य है उसमें, जो जनरलाइज की जा सकती है; और वह यह है कि प्रत्येक की संभावना ही उसका सत्य है। इससे अगर कोई भी बात निकालनी हो, तो इतनी ही निकलती है कि प्रत्येक की उसकी निज-संभावना ही उसके लिए सत्य है।

गीता की इस किताब को अगर महावीर पढ़ें, तो भी पढ़कर महावीर महावीर ही होंगे, अर्जुन नहीं हो जाएंगे। क्योंकि वे राज समझ जाएंगे कि मेरी पोटेंशियलिटी क्या है, वही मेरी यात्रा है। इस किताब को बुद्ध पढ़ें, तो दिक्कत नहीं आएगी जरा भी। वे कहेंगे, बिल्कुल ठीक, मैं अपनी यात्रा पर जाता हूं, जो मैं हो सकता हूं।

प्रत्येक को जाना है अपनी यात्रा पर, जो वह हो सकता है। और प्रत्येक को खोज लेना है व्यक्त जगत में कि मेरे होने की क्या संभावना है। गीता का संदेश इतना ही है, युद्धखोरी का नहीं है। लेकिन भ्रांति हुई है गीता को पढ़कर। युद्धखोर को लगता है कि बिल्कुल ठीक, होना चाहिए युद्ध। गैर-युद्धखोर को लगता है, बिल्कुल गलत है, युद्ध करवाने की बात कर रहे हैं!

कृष्ण का युद्ध से लेना-देना ही नहीं है। जब मैं ऐसा कहूंगा, तो आपको जरा मुश्किल होगी, लेकिन मैं फिर पुनः-पुनः कहता हूं, कृष्ण को युद्ध से लेना-देना नहीं है। कृष्ण एक मनोवैज्ञानिक सत्य कह रहे हैं। वे कह रहे हैं अर्जुन से, यह तेरा नक्शा है, यह तेरा बिल्ट-इन-प्रोसेस है। तू यह हो सकता है। इससे अन्यथा होने की चेष्टा में सिवाय अपयश, असफलता, आत्मघात के और कुछ भी नहीं है।

शेष कल सुबह बात करेंगे।

ग्यारहवां प्रवचन

अर्जुन का जीवन शिखर--युद्ध के ही माध्यम से

भयाद्रणादुपरतं मंस्यन्ते त्वां महारथाः।

येषां च त्वं बहुमतो भूत्वा यास्यसि लाघवम्।। 35।।

और जिनके लिए तू बहुत माननीय होकर भी अब तुच्छता को प्राप्त होगा, वे महारथी लोग तुझे भय के कारण युद्ध से उपराम हुआ मानेंगे।

अवाच्यवादांश्च बहून्वदिष्यन्ति तवाहिताः।

निन्दन्तस्तव सामर्थ्यं ततो दुःखतरं नु किम्।। 36।।

हतो वा प्राप्स्यसि स्वर्गं जित्वा वा भोक्ष्यसे महीम्।

तस्मादुत्तिष्ठ कौन्तेय युद्धाय कृतनिश्चयः।। 37।।

तेरे बैरी तेरे सामर्थ्य की निंदा करते हुए बहुत से न कहने योग्य वचनों को कहेंगे। फिर उससे अधिक दुख क्या होगा? इसलिए युद्ध करना तेरे लिए सब प्रकार से अच्छा है। क्योंकि या तो मरकर तू स्वर्ग को प्राप्त होगा, अथवा जीतकर पृथ्वी को भोगेगा। इससे हे अर्जुन, युद्ध के लिए निश्चय वाला होकर खड़ा हो।

कृष्ण की बात यदि यूनान के मनस्वी प्लेटो ने पढ़ी होती, तो सौ प्रतिशत स्वीकृति देता। प्लेटो से किसी ने पूछा, स्वर्ग क्या है? सुख क्या है? तो प्लेटो ने जो सुख की परिभाषा की है, वह समझने जैसी है। प्लेटो ने कहा, अंतस की निजता का बाहर के आचरण से जहां संगीतपूर्ण तालमेल है, वहीं सुख है; जहां अंतस की निजता का बाहर के आचरण से तालमेल है, अविरोध है, वहीं आनंद है। और प्लेटो ने कहा, व्यक्ति जो हो सकता है, जो उसके बीज में छिपा है, जिस दिन वही हो जाता है, उसी दिन स्वर्ग है।

कृष्ण अर्जुन से कह रहे हैं, क्षत्रिय होकर ही तेरा स्वर्ग है। उससे विचलित होकर तेरा कोई सुख नहीं है। तेरी जो निजता है, तेरी जो इंडिविजुअलिटी है, जो तेरे भीतर का गुणधर्म है, जो तू भीतर से बीज लिए बैठा है, जो तू हो सकता है, वही होकर ही--अन्यथा नहीं--तू स्वर्ग को उपलब्ध होगा, तू सुख को उपलब्ध होगा, तू आनंद को अनुभव कर सकता है।

जीवन का आशीर्वाद, जीवन की प्रफुल्लता स्वयं के भीतर जो भी छिपा है, उसके पूरी तरह प्रकट हो जाने में है। जीवन का बड़े से बड़ा दुख, जीवन का बड़े से बड़ा नर्क एक ही है कि व्यक्ति वह न हो पाए, जो होने के लिए पैदा हुआ है; व्यक्ति वह न हो पाए, जो हो सकता था और अन्य मार्गों पर भटक जाए। स्वधर्म से भटक जाने के अतिरिक्त और कोई नर्क नहीं है। और स्वधर्म को उपलब्ध हो जाने के अतिरिक्त और कोई स्वर्ग नहीं है।

कृष्ण अर्जुन को कह रहे हैं कि इस दिखाई पड़ने वाले लोक में जिसे लोग सुख कहते हैं, वह तो तुझे मिलेगा ही; लेकिन न दिखाई पड़ने वाले लोक में... !

इसे भी थोड़ा समझ लेना जरूरी है कि परलोक से हमने जो अर्थ ले रखा है, वह सदा मृत्यु के बाद जो लोक है, उसका ले रखा है। हमने जो व्याख्या कर रखी है अपने मन में इस लोक की और उस लोक की, वह

टेंपोरल है, टाइम में है। हमने सोच रखा है कि यह लोक खतम होता है, जहां हमारा जीवन समाप्त होता है, और परलोक शुरू होता है। ऐसा नहीं है।

यह लोक और परलोक साथ ही मौजूद हैं। टेंपोरल नहीं है, समय में उनका विभाजन नहीं है। बाहर जो हमें मिलता है, वह इहलोक है; भीतर जो हमें मिलता है, वह परलोक है। परलोक का केवल मतलब इतना ही है कि इस लोक के जो पार है, इस लोक के जो बियांड है--वह अभी भी है, इस वक्त भी है। जिसको जीसस ने किंगडम आफ गॉड कहा है, प्रभु का राज्य कहा है, उसे ही इस देश ने परलोक कहा है। परलोक का संबंध आपके जीवन के समाप्त होने से नहीं है; परलोक का संबंध आपके दृश्य से अदृश्य में प्रवेश से है। वह आप अभी भी कर सकते हैं, और वह आप मृत्यु के बाद भी चाहें तो नहीं कर सकते हैं। चाहें तो मृत्यु के बाद भी इहलोक में ही घूमते रहें--इसी लोक में। और चाहें तो जीते-जी परलोक में प्रवेश कर जाएं।

वह आंतरिक--जहां समय और क्षेत्र मिट जाते हैं, जहां टाइम और स्पेस खो जाते हैं, जहां दृश्य खो जाते हैं और अदृश्य शुरू होता है--वह जो आंतरिकता का, वह जो भीतर का लोक है, वहां भी कृष्ण कहते हैं, स्वर्ग। लेकिन स्वर्ग से आप किसी परियों के देश की बात मत समझ लेना। स्वर्ग सिर्फ इनर हार्मनी का नाम है, जहां सब स्वर जीवन के संगीतपूर्ण हैं। और नर्क सिर्फ इनर, आंतरिक विसंगीत का नाम है, जहां सब स्वर एक-दूसरे के विरोध में खड़े हैं।

सार्त्र ने नर्क की परिभाषा में एक वचन कहा है। उसने कहा है कि मनुष्य के मन में नर्क उसी क्षण उत्पन्न हो जाता है, जिस क्षण उसके चित्त में दो बातें खड़ी हो जाती हैं। टु बी, व्हाट वन इ.ज नाट; एंड नाट टु बी, व्हाट वन इ.ज--वह होने की इच्छा, जो कि मैं नहीं हूं; और वह नहीं होने की इच्छा, जो कि मैं हूं--इन दोनों के बीच में ही नर्क उपस्थित हो जाता है। सार्त्र भी कृष्ण से राजी होगा।

अर्जुन ऐसे ही नर्क में खड़ा हो गया है। जो है, वह न होने की इच्छा पैदा हुई है उसे; जो नहीं है, वह होने की इच्छा पैदा हुई है। वह एक ऐसे असंभव तनाव में खड़ा हो गया है, जिसमें प्रवेश तो बहुत आसान, लेकिन लौटना बहुत मुश्किल है।

जिंदगी में किसी भी चीज से लौटना बहुत मुश्किल है। जाना बहुत आसान है, लौटना सदा मुश्किल है। और स्वयं के धर्म से जाना बहुत आसान है, क्योंकि स्वधर्म से विपरीत जाना सदा उतार है। वहां हमें कुछ भी नहीं करना पड़ता, सिर्फ हम अपने को छोड़ दें, तो हम उतर जाते हैं। स्वधर्म को पाना चढ़ाव है। उतर जाना बहुत आसान है, चढ़ना बहुत कठिन हो जाता है।

पश्चिम का इस समय का एक बहुत कीमती मनोवैज्ञानिक अभी-अभी गुजरा है। उसका नाम था अब्राहम मैसलो। अब्राहम मैसलो के पूरे जीवन की खोज एक छोटे-से शब्द में समा जाती है। और वह शब्द है, पीक एक्सपीरिएंस। वह शब्द है, शिखर का अनुभव। अब्राहम मैसलो का कहना है कि व्यक्ति के जीवन में स्वर्ग का क्षण वही है, जो उसके व्यक्तित्व के शिखर का क्षण है। जिस क्षण कोई व्यक्ति जो हो सकता है, उसके होने के शिखर पर पहुंच जाता है, जिसके आगे कोई उपाय नहीं बचता, जिसके आगे कोई मार्ग नहीं बचता, जिसके आगे कोई ऊंचाई नहीं बचती, जब भी कोई व्यक्ति अपने भीतर के पीक को छू लेता है, तभी समाधि, एक्सटैसी अनुभव करता है।

निश्चित ही, जो पीक एक्सपीरिएंस अर्जुन के लिए होगा, वही पीक एक्सपीरिएंस बुद्ध के लिए नहीं हो सकता। जो पीक एक्सपीरिएंस, शिखर की अनुभूति बुद्ध की है, वही अनुभूति जीसस के लिए नहीं हो सकती।

लेकिन एक बात ध्यान रख लें, जब हम कहते हैं कि वही अनुभूति नहीं हो सकती, तो हमारा प्रयोजन व्यक्ति से है। अर्जुन और मार्ग से उस अनुभूति पर पहुंचेगा; वह क्षत्रिय है, वह क्षत्रिय के मार्ग से पहुंचेगा। हो सकता है, जब दो तलवारें खिंच जाएंगी, और जीवन और मृत्यु साथ-साथ खड़े हो जाएंगे, श्वास ठहर जाएगी और पलभर के लिए सब रुक जाएगा जगत, और पलभर के लिए निर्णय न रह जाएगा कि जीवन में अब एक पल और है--उस तलवार की धार पर, उस चुनौती के क्षण में अर्जुन अपनी पीक पर होगा, वह अपने क्षत्रिय होने के आखिरी शिखर पर होगा। जहां जीवन और मृत्यु विकल्प होंगे, जहां क्षण में सब तय होता होगा--उस डिसीसिव मोमेंट में वह अपने पूरे शिखर पर पहुंच जाएगा।

यह जो शिखर की अनुभूति है, बुद्ध को किसी और मार्ग से मिलेगी, महावीर को किसी और मार्ग से मिलेगी, मोहम्मद को किसी और मार्ग से मिलेगी। मार्ग भिन्न होंगे, लेकिन प्रत्येक व्यक्ति जब अपने शिखर पर पहुंचता है, तो शिखर की जो भीतरी अनुभूति है, वह एक होगी।

इसलिए कृष्ण अर्जुन को कह रहे हैं, एक अवसर मिला है और अवसर बार-बार नहीं मिलते। खोए अवसरों के लिए कभी-कभी जन्मों प्रतीक्षा करनी पड़ती है।

मार्गन से किसी ने एक दिन पूछा--वह अमेरिका का बड़ा करोड़पति था, अरबपति था--उससे पूछा कि आपको जिंदगी में इतनी सफलता कैसे मिली? तो मार्गन ने कहा, मैंने कभी कोई अवसर नहीं खोया। जब भी अवसर आया, मैंने छलांग लगाई और उसे पकड़ा। अपने को खोने को मैं राजी रहा, लेकिन अवसर को खोने को राजी नहीं रहा।

उस आदमी ने पूछा, तो हम कैसे पहचानेंगे कि अवसर आ गया! और जब तक हम पहचानेंगे, तब तक कहीं ऐसा न हो कि अवसर निकल जाए! कहीं ऐसा न हो कि हम पहचानें और छलांग लगाएं, तब तक अवसर जा चुका हो! क्योंकि क्षण तो, क्षण नहीं रुकता। आया नहीं कि गया नहीं। पहचानते-पहचानते चला जाता है। तो आप कैसे पहचानते थे और छलांग लगाते थे?

मार्गन ने जो उत्तर दिया, वह बहुत हैरानी का है। मार्गन ने कहा कि मैं कभी रुका ही नहीं; मैं छलांग लगाता ही रहा। अवसर आ गया तो छलांग काम कर गई, अवसर नहीं आया तो भी मैं छलांग लगाता रहा। क्योंकि इतना मौका नहीं था कि मैं प्रतीक्षा करूं, अवसर को पहचानूं, फिर छलांग लगाऊं। मैं छलांग लगाता ही रहा। अवसर का घोड़ा नीचे आ गया, तो हम सवार थे; लेकिन हमारी छलांग जारी थी, जब घोड़ा नहीं था, तब भी।

कृष्ण के लिए जो बड़ी से बड़ी चिंता अर्जुन की तरफ से दिखाई पड़ती है, वह यही दिखाई पड़ती है, एक विराट अवसर... । अर्जुन को महाभारत जैसा अवसर न मिले, तो अर्जुन का फूल खिल नहीं सकता। कोई छोटी-मोटी लड़ाई में नहीं खिल सकता उसका फूल। जहां जीत सुनिश्चित हो, वहां अर्जुन का फूल नहीं खिल सकता। जहां जीत पक्की हो, वहां अर्जुन का फूल नहीं खिल सकता। जहां जीत निश्चिंत हो, वहां अर्जुन का फूल नहीं खिल सकता। जहां जीत चिंता हो, जहां जीत अनिर्णीत हो, जहां हार की उतनी ही संभावना हो, जितनी जीत की है, तो ही उस चुनौती के दबाव में, उस चुनौती की पीड़ा में, उस चुनौती के प्रसव में अर्जुन का फूल खिल सकता है और अर्जुन अपने शिखर को छू सकता है।

इसलिए कृष्ण इतना आग्रह कर रहे हैं कि सब खो देगा! स्वर्ग का क्षण तुझे उपलब्ध हुआ है, उसे तू खो देगा--इस जगत में भी, उस जगत में भी। उस जगत का मतलब, मृत्यु के बाद नहीं--बाहर के जगत में भी, भीतर के भी जगत में।

और ध्यान रहे, बाहर के जगत में तभी स्वर्ग मिलता है, जब भीतर के जगत में स्वर्ग मिलता है। यह असंभव है कि भीतर के जगत में नर्क हो और बाहर के जगत में स्वर्ग मिल जाए। हां, यह संभव है कि बाहर के जगत में नर्क हो, तो भी भीतर के जगत में स्वर्ग मिल जाए। और यह बड़े मजे की बात है कि अगर भीतर के जगत में स्वर्ग मिल जाए, तो बाहर का नर्क भी नर्क नहीं मालूम पड़ता है। और बाहर के जगत में स्वर्ग मिल जाए और भीतर के जगत में नर्क हो, तो बाहर का स्वर्ग भी स्वर्ग नहीं मालूम पड़ता है।

हम जीते हैं भीतर से, हमारे जीने के सारे गहरे आधार भीतर हैं। इसलिए जो भीतर है, वही बाहर फैल जाता है। भीतर सदा ही बाहर को जीत लेता है, ओवरपावर कर लेता है। इसलिए जब आपको बाहर नर्क दिखाई पड़े, तो बहुत खोज करना। पाएंगे कि भीतर नर्क है, बाहर सिर्फ रिफ्लेक्शन है, बाहर सिर्फ प्रतिफलन है। और जब बाहर स्वर्ग दिखाई पड़े, तब भी भीतर देखना। तो पाएंगे, भीतर स्वर्ग है, बाहर सिर्फ प्रतिफलन है।

इसलिए जो बुद्धिमान हैं, वे बाहर के नर्क को स्वर्ग बनाने में जीवन नष्ट नहीं कर देते। वे भीतर के नर्क को स्वर्ग बनाने का श्रम करते हैं। और एक बार भीतर का नर्क स्वर्ग बन जाए, तो बाहर कोई नर्क होता ही नहीं।

मैंने सुना है कि बक, इंग्लैंड का एक बहुत बड़ा विचारक था। वह ऐसे नास्तिक था, लेकिन चर्च जाता था। मित्रों ने कई बार उससे कहा भी कि तुम चर्च किसलिए जाते हो? क्योंकि तुम नास्तिक हो!

ठीक ऐसी ही बात कभी डेविड ह्यूम से भी किसी ने पूछी थी। डेविड ह्यूम भी एक नास्तिक था, बड़े से बड़ा इस जगत में जो हुआ, कीमती से कीमती। वह भी लेकिन रविवार को चर्च जरूर जाता था। तो ह्यूम ने जो उत्तर दिया, वही बक ने भी उत्तर दिया था।

बक ने कहा कि चर्च में जो कहा जाता है, उसमें मेरा कोई विश्वास नहीं। लेकिन वह जो आदमी कहता है, उसकी आंखों में मैं झांकता हूं, तो मुझे लगता है कि वह आदमी किसी भीतरी विश्वास से कह रहा है। और सप्ताह में एक दिन ऐसे आदमी की आंख में झांक लेना उचित है, जिसे भीतरी कोई स्वर्ग का अनुभव हो रहा है। वह जो कहता है, उसमें मुझे कोई भरोसा नहीं है कि वह आदमी जो कह रहा है, वह ठीक हो सकता है। उसके सिद्धांतों को मैं तर्कयुक्त नहीं मानता। लेकिन फिर भी सप्ताह में मैं एक ऐसे आदमी की आंख में झांक लेना चाहता हूं, जो भीतर आश्वस्त है। उसकी सुगंध!

यह बक ने एक दिन, चर्च में जो फकीर बोलता था, उससे पूछा कि मैं तुमसे पूछना चाहता हूं। उस दिन उसने बाइबिल के एक वचन की व्याख्या करते हुए कहा कि भले लोग, जो परमात्मा में विश्वास करते हैं, वे स्वर्ग को उपलब्ध होते हैं। बक ने उससे पूछा कि आप कहते हैं, भले लोग, जो परमात्मा में विश्वास करते हैं, वे स्वर्ग को उपलब्ध होते हैं। तो मैं पूछना चाहता हूं कि बुरे लोग, जो परमात्मा में विश्वास करते हैं, वे स्वर्ग को उपलब्ध होते हैं या नहीं? और यह भी पूछना चाहता हूं कि भले लोग, जो परमात्मा में विश्वास नहीं करते हैं, वे स्वर्ग को उपलब्ध होते हैं या नहीं?

वह फकीर साधारण फकीर नहीं था, ईमानदार आदमी था। उसने कहा, उत्तर देना मुश्किल है, जब तक कि मैं परमात्मा से न पूछ लूं। क्योंकि इसका मुझे कुछ भी पता नहीं। रुको, सात दिन मैं प्रार्थना करूं, फिर उत्तर दे सकता हूं। क्योंकि तुमने मुझे मुश्किल में डाल दिया। अगर मैं यह कहूं कि भले लोग, जो परमात्मा में विश्वास नहीं करते, नर्क जाते हैं, तो भलाई बेमानी हो जाती है, मीनिंगलेस हो जाती है। और अगर मैं यह कहूं कि भले लोग, जो परमात्मा में विश्वास नहीं करते हैं, वे भी स्वर्ग को उपलब्ध हो जाते हैं, तो परमात्मा बेमानी हो जाता है। उसमें विश्वास का कोई अर्थ नहीं रहता। तो रुको।

लेकिन वह फकीर सात दिन सो नहीं सका। सब तरह की प्रार्थनाएं कीं, लेकिन कोई उत्तर न मिला।

सातवां दिन आ गया। सुबह ही आठ बजे बक मौजूद हो जाएगा और पूछेगा कि बोलो! तो वह पांच बजे ही चर्च में चला गया, हाथ जोड़कर बैठकर प्रार्थना करता रहा। प्रार्थना करते-करते उसे नींद लग गई। उसने एक स्वप्न देखा। वही जो सात दिन से उसके प्राणों में चल रहा था, वही स्वप्न बन गया।

उसने स्वप्न देखा कि वह ट्रेन में बैठा हुआ है, तेजी से ट्रेन जा रही है। उसने लोगों से पूछा, यह ट्रेन कहां जा रही है? उन्होंने कहा, यह स्वर्ग जा रही है। उसने कहा, अच्छा हुआ; मैं देख ही लूं। सुकरात कहां है? आदमी अच्छा था, लेकिन ईश्वर में भरोसा नहीं था। वे सारे लोग कहां हैं? बुद्ध कहां हैं? आदमी अच्छे से अच्छा था, लेकिन ईश्वर की कभी बात नहीं की। महावीर कहां हैं? आदमी अच्छे से अच्छा था, लेकिन परमात्मा की जब भी किसी ने बात की, तो कह दिया कि नहीं है। ये कहां हैं?

स्वर्ग पहुंच गई ट्रेन। बड़ी निराशा हुई लेकिन स्वर्ग को देखकर। ऐसी आशा न थी। सब उजड़ा-उजड़ा मालूम पड़ता था। सब रूखा-रूखा मालूम पड़ता था। रौनक न थी। पूछा, यही स्वर्ग है न? लोगों ने कहा, यही स्वर्ग है। पूछा कि महावीर कहां? बुद्ध कहां? सुकरात कहां? बहुत खोज-बीन की, पता चला कि नहीं हैं। बहुत घबड़ाया फकीर। स्टेशन भागा हुआ आया और कहा कि नर्क की गाड़ी?

नर्क की गाड़ी में बैठा और नर्क पहुंचा। लेकिन बड़ी मुश्किल में पड़ा। देखा कि बड़ी रौनक है। जैसी स्वर्ग में होने की आशा थी, ऐसी रौनक है। जैसी नर्क में उदासी होनी चाहिए थी, वैसी स्वर्ग में थी। बड़ी चिंता हुई उसे कि कुछ भूल-चूक तो नहीं हो रही है! स्टेशन पर उतरा, तो बड़ी ही रौनक है; रास्तों से निकला, तो बड़ा काम चल रहा है, बड़ा आनंद है; कहीं गीत है, कहीं कुछ है, कहीं कुछ है।

उसने पूछा कि सुकरात, महावीर, बुद्ध यहां हैं? उन्होंने कहा, यहां हैं। उसने कहा, लेकिन यह नर्क है! सुकरात नर्क में? तो जिस आदमी से उसने पूछा था, उसने कहा कि चलो, मैं तुम्हें सुकरात से मिला देता हूं। एक खेत में सुकरात गड्ढा खोद रहा था। उसने सुकरात से पूछा कि तुम सुकरात और यहां नर्क में? अच्छे आदमी और नर्क में? तो सुकरात हंसने लगा और उसने कहा, तुम अभी भी गलत व्याख्याएं किए जा रहे हो। तुम कहते हो कि अच्छा आदमी स्वर्ग में जाता है। हम कहते हैं, अच्छा आदमी जहां जाता है, वहां स्वर्ग आता है। तुम गलत ही बात--व्याख्या--अभी तक तुम अपनी बाइबिल से गलत व्याख्या किए जा रहे हो। हम कहते हैं, अच्छा आदमी जहां जाता है, वहां स्वर्ग आता है; बुरा आदमी जहां जाता है, वहां नर्क आता है।

अच्छे आदमी स्वर्ग में नहीं जाते। स्वर्ग कोई रेडीमेड जगह नहीं है कि वहां कोई चला गया। स्वर्ग अच्छे आदमी का निर्माण है। वह उसके भीतर जब अच्छा निर्मित हो जाता है, तो बाहर अच्छा फैल जाता है। वह अच्छे आदमी की छाया है; वह अच्छे आदमी की सुगंध है; वह अच्छे आदमी के प्राणों की वीणा से उठा संगीत है। नर्क कोई स्थान नहीं है; वह बुरे आदमी के जीवन से उठे विसंगीत का फैल जाना है; वह बुरे आदमी के भीतर से उठी दुर्गंधों का छा जाना है; वह बुरे आदमी के भीतर जो विक्षिप्तता है, उसका बाहर तक उतर आना है।

कृष्ण जब अर्जुन से कहते हैं कि स्वर्ग का क्षण है, उसे तू खो रहा है। तो एक ही बात ध्यान में रखनी है कि तेरे आंतरिक व्यक्तित्व के लिए जो शिखर अनुभव हो सकता है, उसका क्षण है, और तू उसे खो रहा है।

प्रश्नः भगवान श्री, आपने बताया कि साधन में, मार्ग में भिन्न रहने पर भी बुद्ध, महावीर, रमण की भीतरी अनुभूति में भेद नहीं होता है। किंतु अभिव्यक्ति देखते हैं, तो एक-दूसरे से भिन्न और कभी-कभी विरुद्ध दिशा की मालूम होती है। जैसे कि शंकर का बुद्ध से विरोध है। यह कैसे?

अनुभूति में तो कभी भेद नहीं होता, लेकिन अभिव्यक्ति में बहुत भेद होता है। और जो लोग अभिव्यक्ति को देखकर ही सोचते हैं, उन्हें विरोध भी दिखाई पड़ सकता है। साधारण नहीं, असाधारण दुश्मनी और शत्रुता दिखाई पड़ सकती है। क्योंकि अभिव्यक्ति अनुभूति से नहीं आती, अभिव्यक्ति व्यक्ति से आती है। इस फर्क को समझ लेना जरूरी है।

मैं एक बगीचे में जाऊं। फूल खिले हैं; पक्षी गीत गा रहे हैं; एक रुपया पड़ा है। अगर मैं रुपए का मोही हूं, तो मुझे फूल दिखाई नहीं पड़ेंगे। मुझे पक्षियों के गीत सुनाई पड़ते हुए भी सुनाई नहीं पड़ेंगे। सब खो जाएगा, रुपया ही दिखाई पड़ेगा, इम्फेटिकली मुझे रुपया ही दिखाई पड़ेगा। रुपया मेरी जेब में आ जाए, तो शायद पक्षी का गीत भी सुनाई पड़े।

लेकिन एक कवि प्रवेश कर गया है। उसे रुपया दिखाई ही नहीं पड़ेगा। जहां पक्षी गीत गा रहे हैं, वहां रुपया दिखाई पड़ जाए, तो वह आदमी कवि नहीं है। उसका सारा व्यक्तित्व पक्षी के गीतों की तरफ बह जाएगा। चित्रकार है, उसका सारा व्यक्तित्व रंगों के लिए बह जाएगा।

फिर वे एक ही बगीचे से होकर लौटें और गांव में आकर अगर हम उनसे पूछें कि क्या देखा? तो बगीचा एक था, जहां वे गए थे, लेकिन अभिव्यक्ति भिन्न होगी। अभिव्यक्ति में चुनाव होगा। जो जिसने देखा होगा या जो जिसको पकड़ा होगा या जो जिसको प्रकट कर सकता होगा, वह वैसे ही प्रकट करेगा।

मीरा भी उस जगत में गई है उस अनुभूति के, लेकिन लौटकर नाचने लगी। महावीर की नाचने की कल्पना भी नहीं कर सकते। सोच भी नहीं सकते, कि महावीर और नाचें। उनके व्यक्तित्व में नाचने की कोई जगह ही नहीं है। महावीर भी उस जगत से लौटे हैं, पर वे नाचते नहीं। उस जगत की जो खबर वे लाए हैं, वह खबर अपने ही ढंग से प्रकट करेंगे। उनकी खबर उनकी अहिंसा से प्रकट होनी शुरू होती है। उनके शील से, उनके चरित्र से, उनके उठने-बैठने से--छोटी-छोटी चीज से प्रकट होती है कि वे अद्वैत को जानकर लौटे हैं।

रात महावीर एक ही करवट सोते हैं, करवट नहीं बदलते। कोई पूछता है महावीर से कि आप रातभर एक ही करवट क्यों सोते हैं? तो वे कहते हैं कि कहीं करवट बदलूं और कोई कीड़ा-मकोड़ा दबकर दुख पाए। इसलिए एक ही करवट, दि लीस्ट जो पासिबल है, बिल्कुल कम से कम जो संभव है, वह यह। एक करवट तो सोना ही पड़ेगा, तो एक करवट ही सोए रहते हैं। रातभर पैर भी नहीं हिलाते कि रात के अंधेरे में कोई दब जाए, कोई दुख पाए।

अब इस व्यक्ति की अद्वैत की जो अनुभूति है, वह अहिंसा से प्रकट हो रही है। यह यही कह रहा है कि एक ही है। क्योंकि जब तक कीड़ा-मकोड़ा मैं ही नहीं हूं, तब तक उसके लिए इतनी चिंता पैदा नहीं होती। लेकिन यह महावीर का अपना ढंग है, यह उनके व्यक्तित्व से आ रहा है।

मीरा नाच रही है। उसने जो जाना है, वह उसके भीतर नाच की तरह अभिव्यक्त हो रहा है। वह नाच ही सकती है। वह जो खुशी, वह जो आनंद उसके भीतर भर गया है, अब कोई शब्द उसे प्रकट नहीं कर सकते। वह तो उसके घुंघरुओं से प्रकट होगा। वह उसी अद्वैत को, पद-घुंघरू-बांध खबर लाएगी।

अब अगर हम महावीर और मीरा को आमने-सामने करें, तो हम कहेंगे, इनकी अनुभूतियां अलग होनी चाहिए। कहां बजता हुआ घूंघर, कहां रात भी करवट न लेता हुआ आदमी! कहां नाचती हुई मीरा के न मालूम कितने पैर पृथ्वी पर पड़े और कहां महावीर कि एक-एक पैर को सम्हालकर रखते हैं, फूंककर रखते हैं। वर्षा आ जाती है तो चलते नहीं, जमीन गीली हो तो पैर नहीं उठाते, कि कहीं कोई कीड़ा न दब जाए। और कहां नाचते

हुए पैर मीरा के! बड़ा विपरीत है। महावीर कहेंगे, बहुत हिंसा हुई जा रही है। मीरा कहेगी, नाच ही नहीं रहे, तो कहां जाना उसको! क्योंकि उसे जानकर जो नहीं नाचा, तो जाना ही कहां!

फिर शंकर जैसा व्यक्ति है, वह भी जानकर आता है वहां से। तो वह कहता है कि एक ब्रह्म ही सत्य है, बाकी सब माया है। बुद्ध जैसा व्यक्ति है, जो कहता है, कोई ब्रह्म-व्रह्म नहीं है; कुछ नहीं है, शून्य है सब। बड़ी उलटी बातें कहते हैं, तो विवाद दिखाई पड़ता है, बड़ा विरोध दिखाई पड़ता है।

शंकर और बुद्ध से ज्यादा विरोधी आदमी खोजना मुश्किल है। क्योंकि एक कहता है, पाजिटिव है सब, विधायक है सब; और एक कहता है, निगेटिव है सब, नकारात्मक है सब। लेकिन वह भी व्यक्तित्व की एंफेसिस है, वह भी व्यक्तित्व का ही प्रभाव है। जो जानकर वे लौटे हैं, वह करीब-करीब ऐसा है जैसे कि कोई गिलास आधा भरा रखा हो और दो आदमी उसे देखकर आए हों। और एक आदमी आकर कहे कि गिलास आधा खाली है, और एक आदमी कहे कि झूठ, गिलास आधा भरा है। एक खाली पर जोर दे और एक भरे पर जोर दे। और विवाद निश्चित हो जाने वाला है, क्योंकि भरा और खाली बड़े विपरीत शब्द हैं। बिल्कुल हो जाने वाला है।

बर्नार्ड शा के संबंध में मैंने सुना है कि वह अमेरिका गया बहुत-बहुत निमंत्रणों के बाद। तब वह कहता रहा कि अमेरिका बड़ा नासमझ, ईडियाटिक मुल्क है; मैं जाता ही नहीं, ऐसे मूढ़ों के बीच जाकर मैं क्या करूंगा। इधर वह गाली देता रहा, उधर अमेरिका में आकर्षण बढ़ता गया। जो गाली देता है, उसके प्रति आकर्षण तो बढ़ ही जाता है। बहुत निमंत्रण थे, तो बर्नार्ड शा गया। जिस जगह उसे उतारा गया, वहां इतना भीड़-भड़क्का हो गया और इतना खतरा था कि कोई झगड़ा न हो जाए, तो उसे चोरी से पहले ही दूसरी जगह उतारकर ले जाया गया।

और पहली ही सभा में वह बोला, तो उसने उपद्रव शुरू किया। वह पहली ही सभा में बोला, तो उसने कहा कि जहां तक मैं देख पा रहा हूं, यहां मौजूद कम से कम पचास प्रतिशत आदमी बिल्कुल महामूर्ख हैं--सभा में उसने कहा--यहां मैं देख रहा हूं, तो कम से कम फिफ्टी परसेंट आदमी बिल्कुल महामूढ़ हैं। जो अध्यक्ष था, वह घबड़ा गया और लोग चिल्लाने लगे कि शर्म! शर्म! वापस लो अपने शब्द! अध्यक्ष ने कहा कि आप शुरू से ही उपद्रव की बात कह दिए। किसी तरह लोगों को समझाइए!

तो बर्नार्ड शा ने कहा कि नहीं! नहीं! मैं क्या कहना चाह रहा था और मुझसे बड़ी गलती हो गई। मैं कह रहा था कि जहां तक दिखाई पड़ता है, यहां उपस्थित पचास प्रतिशत लोग बहुत बुद्धिमान मालूम पड़ते हैं। और लोगों ने तालियां बजाईं कि यह बात ठीक कही गई है। और बर्नार्ड शा ने झुककर अध्यक्ष से कहा कि कन्फर्म हो गया कि पचास परसेंट यहां बिल्कुल गधे हैं।

लेकिन इन दो वक्तव्यों में बड़ा फर्क मालूम पड़ता है। बात वही है। शंकर और बुद्ध के बीच भी ऐसा ही मामला है।

बुद्ध को नकारात्मक शब्द प्रिय है। उसके कारण हैं उनके व्यक्तित्व में, साइकोलाजिकल कारण हैं। बुद्ध आ रहे हैं समृद्ध घर से, जहां सब पाजिटिव था। महल था, राज्य था, धन था, स्त्रियां थीं--सब था। इतना ज्यादा था सब कि बुद्ध के लिए पाजिटिव शब्द में कोई रस नहीं रह गया। इतना सब भरा था कि अब बुद्ध के लिए रस खाली होने में है।

शंकर एक गरीब ब्राह्मण के लड़के हैं, जहां कुछ भी नहीं है। एक भिखारी घर से आ रहे हैं, जहां कुछ भी नहीं था। जहां झोपड़ा था, जिसमें कुछ भी नहीं था। शंकर का रस नहीं में नहीं हो सकता, नहीं तो बहुत देखी। शंकर का रस है में है, पाजिटिव में है।

तो शंकर के लिए ब्रह्म जब प्रकट होगा, तो वह होगा--सब है। और बुद्ध के लिए जब ब्रह्म प्रकट होगा, तो ऐसा होगा--सब खाली है। यह साइकोलाजिकल टाइप का फर्क है। इसमें अनुभूति का जरा भी फर्क नहीं है।

शंकर और बुद्ध तो बहुत दूर हैं। बुद्ध के वक्त ही महावीर हैं। एक ही साथ, एक ही इलाके में हैं। और कभी-कभी तो ऐसा हुआ कि एक ही गांव में दोनों थे। तो बिल्कुल कंटेंप्रेरी हैं। टाइप में भी बहुत फर्क नहीं होना चाहिए, क्योंकि महावीर भी शाही घर से आते हैं, बुद्ध भी शाही घर से आते हैं। दोनों साथ-साथ हैं। एक बार तो ऐसा हुआ कि एक गांव में आधी धर्मशाला में महावीर ठहरे थे, आधी में बुद्ध ठहरे थे। फिर भी बातचीत नहीं हो सकी; फिर भी मिलना नहीं हुआ।

और बातें बड़ी विपरीत हैं। क्योंकि महावीर कहते हैं, आत्मा को जान लेना ही ज्ञान है। और बुद्ध कहते हैं, जो आत्मा को मानता है, उससे बड़ा अज्ञानी नहीं है। अब और क्या विरोध हो सकता है! तलवारें सीधी खिंची हैं। महावीर कहते हैं, आत्मा को जान लेना ही ज्ञान है। और बुद्ध कहते हैं, आत्मा? आत्मा को मानने वाले से बड़ा कोई अज्ञानी नहीं है।

और फिर भी मैं आपसे कहता हूं कि दोनों एक ही बात कहते हैं। फिर भी मैं आपसे कहता हूं कि वक्तव्य विरोधी हैं, अनुभूति विरोधी जरा भी नहीं है। फिर क्यों ऐसे वक्तव्य हैं?

शब्दों के अर्थ उस परम अनुभूति में बहुत निजी और प्राइवेट हो जाते हैं। एक तो हमारी कामन मार्केट की, बाजार की भाषा है, जहां सब शब्द कामन हैं। अगर हम कहते हैं मकान, तो वही मतलब होता है, जो आपका है। वैसे गहरे में फर्क होता है। लेकिन ऊपर से काम चलने लायक बराबर होता है। जब मैं कहता हूं मकान, तो मुझे मेरा मकान ख्याल में होता है और आपको अपना मकान ख्याल में होता है। अगर हम दोनों मकान की तस्वीर खींचें, तो फर्क पड़ जाएगा।

जब मैं कहता हूं कुत्ता, तो मेरा अपना अनुभव है कुत्तों का, वही होता है उस शब्द में। आपका अपना अनुभव है, वही होता है। हो सकता है, कुत्तों से मैंने जो जाना हो, वह प्रीतिपूर्ण हो; और आपने सिवाय कुत्तों से बचपन से डर के अलावा कुछ भी न जाना हो। जब भी गली से निकले हों, तभी कुत्ता भौंका हो। तो जब कुत्ता शब्द हम बोलते हैं, तो शब्द बिल्कुल सामान्य होता है; लेकिन अगर भीतर हम खोजने जाएं, तो आपका कुत्ता और होगा, मेरा कुत्ता और होगा। लेकिन कामचलाऊ दुनिया है शब्दों की, वहां चल जाता है। वहां चल जाता है।

जैसे-जैसे गहरी अनुभूति में उतरते हैं--जो कि बाजार में नहीं है, जो कि एकांत में है--वहां मुश्किल बढ़नी शुरू हो जाती है। जब महावीर कहते हैं आत्मा, तो उनका अपना निजी अर्थ है। यह बिल्कुल प्राइवेट लैंग्वेज है। महावीर का मतलब होता है आत्मा से, जहां अहंकार नहीं है। अहंकार को छोड़कर जो भीतर शेष रह जाता है, वही आत्मा है। और तब वे कहते हैं कि आत्मा को जान लेना ज्ञान है। और आत्मा को जान लेने का मार्ग अहंकार का विसर्जन है। अगर हम अहंकार को शून्य कर दें स्वयं से, तो जो बचता है, महावीर के लिए आत्मा है।

बुद्ध आत्मा से अहंकार का ही मतलब लेते हैं। वे कहते हैं, जहां तक मैं का स्वर है, और आत्मा का मतलब है मैं, वहां तक अहंकार है। तो बुद्ध जहां-जहां आत्मा कहते हैं, वहां-वहां उनका मतलब होता है अहंकार।

बुद्ध ने जिस शब्द का उपयोग किया है आत्मा के लिए, वह है अत्ता। अत्ता बहुत बढ़िया शब्द है। आत्मा में भी वह बात नहीं है, जो अत्ता में है पाली के। अत्ता का मतलब ही होता है, दि एनफोर्स्ड ईगो। अत्ता शब्द के स्वर में और दबाव में भी वह बात है--मैं।

बुद्ध कहते हैं, जहां-जहां अत्ता है, जहां-जहां मैं है, वहां-वहां अज्ञान है। और जो आदमी अत्ता को मानता है, आत्मा को मानता है, वह अज्ञानी है। लेकिन बुद्ध भी कहते हैं कि जो अत्ता को छोड़ देता है, तब जो शेष रह जाता है, वही ज्ञान है।

इसीलिए बुद्ध को लोग कहते हैं अनात्मवादी, और महावीर को कहते हैं आत्मवादी। और वे दोनों एक ही बात कह रहे हैं, वहां वाद का कोई उपाय नहीं है। वाद शब्दों तक है। वाद अभिव्यक्ति तक है। वाद एक्सप्रेशन है, एक्सपीरिएंस नहीं।

लेकिन बड़ी कठिनाई है। बड़ी कठिनाई है, हमारे पास तो शब्द आते हैं। और शब्द भी पंडितों के द्वारा आते हैं। शब्द भी शास्त्रीयता के मार्ग से गुजरकर आते हैं। शब्द ही रह जाते हैं। और अक्सर ऐसा नहीं हो पाता कि हम अनुभूति से खोजने जाएं कि महावीर कहते हैं कि अहंकार छोड़ दो, तो जो बचता है, आत्मा है--हम अहंकार छोड़कर देखें। बुद्ध कहते हैं कि आत्मा के भाव को ही छोड़ दो, तब जो शेष रह जाता है, वही समाधि है--वह भी करके देखें। तब आपको पता चलेगा, बड़ा पागलपन हुआ। ये तो दोनों एक ही जगह पहुंचा देते हैं! लेकिन इतनी किसी को सुविधा नहीं है।

हम शब्दकोश से सुनते हैं, दर्शनशास्त्र में पढ़ते हैं। बौद्ध पंडित हैं, जैन पंडित हैं, हिंदू पंडित हैं, उनके पास शब्दों के सिवाय कुछ भी नहीं है। वे उन शब्दों की व्याख्याएं करते चले जाते हैं। फिर प्रत्येक निजी शब्द के पास--निजी कह रहा हूं, क्योंकि इतना एकांत अनुभव है महावीर और बुद्ध और शंकर का कि मामला प्राइवेट ही है, वह बहुत पब्लिक नहीं है--उस निजी शब्द के आस-पास फिर व्याख्याओं का जाल बुनता चला जाता है। फिर जाल इतना बड़ा हो जाता है कि महावीर के आस-पास जो जाल खड़ा हुआ वह, बुद्ध के आस-पास जो जाल खड़ा हुआ वह, शंकर के आस-पास जो जाल खड़ा हुआ वह, वे इतने दुश्मन हो जाते हैं हजार दो हजार साल की यात्रा में कि वह जो बीच में मूल शब्द था और शब्द के भी मूल में जो अनुभूति थी, वह कहीं की कहीं खो जाती है, उसका फिर कोई भी पता नहीं रहता।

इसलिए अड़चन है। अन्यथा अनुभूति कभी भी भिन्न नहीं है। अभिव्यक्ति भिन्न हो सकती है, होती है, एक होने की संभावना भी नहीं है। जिस दिन मनुष्य यह जान पाएगा, उस दिन धर्मों के बीच विवाद नहीं है। और जितना जल्दी जान ले, उतना शुभ है। क्योंकि धर्मों के बीच सारा विवाद भाषा का विवाद है, सत्य का विवाद नहीं है। और जो लोग भाषा के लिए विवाद कर रहे हैं, कम से कम धार्मिक तो नहीं हैं, शब्द-शास्त्री होंगे, लिंग्विस्ट्स होंगे। मगर वे शब्द-शास्त्री अपने को धार्मिक समझ लेते हैं, तब बड़ी कठिनाई हो जाती है।

सुखदुःखे समे कृत्वा लाभालाभौ जयाजयौ।

ततो युद्धाय युज्यस्व नैवं पापमवाप्स्यसि।। 38।।

यदि तुझे स्वर्ग तथा राज्य की इच्छा न हो, तो भी सुख-दुख, लाभ-हानि और जय-पराजय को समान समझकर, उसके उपरांत युद्ध के लिए तैयार हो। इस प्रकार युद्ध को करने से तू पाप को नहीं प्राप्त होगा।

सुख और दुख को समान समझकर, लाभ और हानि को समान समझकर, जय और पराजय को समान समझकर, युद्ध में प्रवृत्त होने पर पाप नहीं लगेगा। कृष्ण का यह वक्तव्य बहुत केटेगोरिकल है, बहुत निर्णायक है। पाप और पुण्य को थोड़ा समझना पड़े।

साधारणतः हम समझते हैं कि पाप एक कृत्य है और पुण्य भी एक कृत्य है। लेकिन यहां कृष्ण कह रहे हैं कि पाप और पुण्य कृत्य नहीं हैं, भाव हैं। अगर पाप और पुण्य कृत्य हैं, एक्ट हैं, तो इससे क्या फर्क पड़ता है कि मैं लाभ-हानि को बराबर समझूं या न समझूं? अगर मैं आपकी हत्या कर दूं, लाभ-हानि बराबर समझूं या न समझूं, आपकी हत्या के कृत्य में कौन-सा फर्क पड़ जाएगा? अगर मैं एक घर में चोरी करूं लाभ-हानि को बराबर समझकर, तो यह पाप नहीं होगा; और लाभ-हानि को बराबर न समझूं, तो यह पाप होगा? तब इसका मतलब यह हुआ कि पाप और पुण्य का कृत्य से, एक्ट से कोई संबंध नहीं है, बल्कि व्यक्ति के भाव से संबंध है। यह तो बहुत विचारने की बात है।

हम सब तो पाप और पुण्य को कृत्य से बांधकर चलते हैं। हम कहते हैं, बहुत बुरा काम किया। हम कहते हैं, बहुत अच्छा काम किया। कृष्ण तो इस पूरी की पूरी व्यवस्था को तोड़े डालते हैं। वे कहते हैं, काम अच्छे और बुरे होते ही नहीं, करने वाला अच्छा और बुरा होता है। नाट दि एक्ट, बट दि एक्टर, कृत्य नहीं कर्ता! जो होता है वह नहीं, जिससे होता है वह!

लेकिन मनुष्य की सारी नीति कृत्य पर निर्भर है। कहती है, यह काम बुरा है और यह काम अच्छा है। अच्छे काम करो और बुरे काम मत करो। कौन-सा काम बुरा है? कौन-सा काम अच्छा है? क्योंकि कोई भी काम एटामिक नहीं है, आणविक नहीं है; काम एकशृंखला है। समझें उदाहरण से।

आप रास्ते से गुजर रहे हैं, एक आदमी आत्महत्या कर रहा है। आप उसे बचाएं या न बचाएं? स्वभावतः, आप कहेंगे कि आत्महत्या करने वाले को बचाना चाहिए, कृत्य अच्छा है। लेकिन आप उसे बचा लेते हैं और कल वह पंद्रह आदमियों की हत्या कर देता है। आप नहीं बचाते, तो पंद्रह आदमी बचते थे। आपने बचाया, तो पंद्रह आदमी मरे। कृत्य आपका अच्छा था या बुरा?

कृत्य एक सीरीज है अंतहीन। आप समाप्त हो जाएंगे, आपका कृत्य समाप्त नहीं होगा, वह चलता रहेगा। आप मर जाएंगे, और आपने जो किया था, वह चलता रहेगा।

आपने एक बेटा पैदा किया। यह बेटा पैदा करना अच्छा है या बुरा? यह बेटा कल हिटलर बन सकता है। यह एक करोड़ आदमियों को मार डाल सकता है। लेकिन यह बेटा कल हिटलर बनकर एक करोड़ आदमियों को मार डाले, तो भी कृत्य अच्छा है या बुरा? क्योंकि वे एक करोड़ आदमी क्या करते अगर बचते, इस पर सब निर्भर होगा। लेकिन यहशृंखला तो अनंत होगी।

कृत्य इंडिविजुअल नहीं है। कृत्य के पास कोई आणविक इंतजाम नहीं है; वह तो बड़ीशृंखला की एक कड़ी है। बस, एक कड़ी है और आगेशृंखला अंतहीन है। आप चले जाएंगे और कृत्य जारी रहेगा। जैसे कि हमने पत्थर फेंका एक झील में, पत्थर डूब गया। लेकिन पत्थर का झील से जो संघात हुआ था, वह जो लहर उठी थी--पत्थर तो डूबकर झील में बैठ गया--लेकिन वह जो संघात हुआ था, जो लहर उठ गई थी, वह उठ गई। अब वह लहर चल पड़ी। अब वह लहर और लहरों को, और लहरों को, और लहरों को, उठाती रहेगी। पत्थर कभी का शांत होकर बैठ गया और लहर अनंत चलती रहेगी, अनंत तटों को छूती रहेगी। करीब-करीब कृत्य ऐसा ही है।

आप करते हैं, आप तो बाहर हो जाते हैं करके, कृत्य चल पड़ता है। इसलिए कौन-सा कृत्य ठीक है, जब तक हम पूरे विश्व का अंत न पा लें, तब तक तय नहीं हो सकता। जब तक कि सब सृष्टि समाहित न हो जाए, तब तक तय करना मुश्किल है कि महात्मा ने जो किया था, वह अच्छा था, कि असाधु ने जो किया था, वह अच्छा था!

मैं अभी पश्चिम के एक विचारक का एक हैरानी से भरा हुआ वक्तव्य पढ़ रहा था। उसने यह पूछा है कि अगर एक आदमी दूसरे महायुद्ध के पहले हिटलर को गोली मार दे, तो यह कृत्य अच्छा है या बुरा? बात तो ठीक पूछता है। अगर एक आदमी दूसरे महायुद्ध के पहले हिटलर को गोली मार दे, तो यह कृत्य शुभ है या अशुभ? क्योंकि यह आदमी करोड़ों आदमियों को मरने से बचा रहा है, बड़ी बर्बादी को रोक रहा है। लेकिन इस आदमी को सजा होती और सारी दुनिया में इसके कृत्य का विरोध होता कि इसने गलत काम किया है।

तो जो लोग कृत्य से सोचते हैं--और हम सभी लोग सोचते हैं, दुनिया के समस्त नीतिशास्त्र कृत्य पर जोर देते हैं कि यह ठीक है और यह गलत है।

कृष्ण इससे उलटी बात कह रहे हैं। वे कह रहे हैं कि यह सवाल नहीं है कि तुमने जो किया है, वह ठीक है या गलत। गहरे में सवाल दूसरा है, और वह सवाल यह है कि तुम कौन हो? तुम क्या हो? तुम्हारी मनोदशा क्या है? इस पर सब निर्भर है।

मेरे देखे भी, कृत्य पर आधारित जो नीति है, बहुत बचकानी है, चाइल्डिश है। लेकिन हम सभी ऐसा सोचते हैं। हम सभी ऐसा सोचते हैं।

कृष्ण कह रहे हैं, व्यक्ति की भावदशा क्या है? और वे एक सूत्र दे रहे हैं कि अगर लाभ और हानि बराबर है, अगर सुख और दुख समान हैं, अगर जय और पराजय में कोई अंतर नहीं, तो तू जो भी करेगा, उसमें कोई पाप नहीं है। क्या करेगा, इसकी वे कोई शर्त ही नहीं रखते। कहते हैं, फिर तू जो भी करेगा, उसमें कोई पाप नहीं है।

विचारणीय है, और गहरी है बात। क्योंकि कृष्ण यह कह रहे हैं कि दूसरे को चोट पहुंचाने की बात तभी तक होती है, जब तक लाभ और हानि में अंतर होता है। जिसे लाभ और हानि में अंतर ही नहीं है... शर्त बड़ी मुश्किल है। क्योंकि लाभ-हानि में अंतर न हो, यह बड़ी गहरी से गहरी उपलब्धि है।

ऐसा व्यक्ति, जिसे लाभ और हानि में अंतर नहीं है, क्या ऐसा कोई भी कृत्य कर सकता है, जिसे हम पाप कहते हैं! जिसे जय और पराजय समान हो गई हों, जिसे असफलता और सफलता खेल हो गए हों, जो दोनों को एक-सा स्वागत, स्वीकार देता हो, जिसकी दोनों के प्रति समान उपेक्षा या समान स्वीकृति हो, क्या ऐसा व्यक्ति गलत कर सकता है?

कृष्ण का जोर व्यक्ति पर है, कृत्य पर नहीं। और व्यक्ति के पीछे जो शर्त है, वह बहुत बड़ी है। वह शर्त यह है कि उसे द्वंद्व समान दिखाई पड़ने लगे, उसे प्रकाश और अंधेरा समान दिखाई पड़ने लगे। यह तो बड़ी ही गहरी समाधि की अवस्था में संभव है।

इसलिए ऊपर से तो वक्तव्य ऐसा दिखता है कि कृष्ण अर्जुन को बड़ी स्वच्छंद छूट दे रहे हैं; क्योंकि अब वह कुछ भी कर सकता है। ऊपर से ऐसा लगता है, इससे तो स्वच्छंदता फलित होगी, अब तुम कुछ भी कर सकते हो। लेकिन कृष्ण अर्जुन को गहरे से गहरे रूपांतरण और ट्रांसफार्मेशन में ले जा रहे हैं, स्वच्छंदता में नहीं।

असल में जिस व्यक्ति को जय और पराजय समान हैं, वह कभी भी स्वच्छंद नहीं हो सकता है। उपाय नहीं है, जरूरत नहीं है, प्रयोजन नहीं है। लाभ के लिए ही आदमी पाप में प्रवृत्त होता है; हानि से बचने के लिए ही आदमी पाप में प्रवृत्त होता है।

एक आदमी असत्य बोलता है। दुनिया में कोई भी आदमी असत्य के लिए असत्य नहीं बोलता है, लाभ के लिए असत्य बोलता है। अगर दुनिया में सत्य बोलने से लाभ होने लगे, तो असत्य बोलने वाला मिलेगा ही नहीं। तब बड़ी मुश्किल से खोजना पड़ेगा। कोई त्यागी, महात्यागी असत्य बोले, बात अलग। कोई बड़ा संकल्पवान

तय ही कर ले कि असत्य बोलूंगा, तो बात अलग। लेकिन अगर सत्य के साथ लाभ होता हो, तो असत्य बोलने वाला नहीं मिलेगा। तब तो इसका मतलब यह हुआ कि असत्य कोई नहीं बोलता, लाभ ही असत्य का मार्ग लेता है। हानि से बचना ही असत्य का मार्ग लेता है। आदमी चोरी के लिए चोरी नहीं करता, लाभ के लिए चोरी करता है। कोई दुनिया में चोरी के लिए चोरी नहीं करता।

आज तक दुनिया में किसी ने भी कोई पाप लाभ के अतिरिक्त और किसी कारण से नहीं किया; या हानि से बचने के लिए किया, दोनों एक ही बात है। पाप भी--और मजे की बात है, पुण्य भी--पुण्य भी आदमी लाभ के लिए करता है या हानि से बचने के लिए करता है।

प्लेटो ने एक छोटी-सी कहानी लिखी है। और कहानी है एक नैतिक प्रश्न उठाने के लिए। कहानी है कि एक आदमी को यदि कोई ऐसी तरकीब मिल जाए, कोई ऐसा ताबीज मिल जाए, कि वह इनविजिबल हो सके, अदृश्य हो सके--जब चाहे तब अदृश्य हो सके--तो प्लेटो पूछता है कि क्या ऐसा आदमी नैतिक हो सकेगा? वह आपकी दुकान पर आए और हीरे-जवाहरात उठा ले; और अदृश्य है, पुलिस उसे पकड़ न पाए, समाज उसे अनैतिक कह न पाए। वह किसी के घर में रात घुस जाए; दिखाई न पड़े, अदृश्य हो सके। तो प्लेटो ने यह पूछा है कि क्या ऐसा नैतिक आदमी खोजना संभव है, जिसके हाथ में अदृश्य होने का ताबीज हो और जो नैतिक रह जाए? बड़ा कठिन मालूम पड़ता है ऐसा आदमी खोजना।

आप भी अगर सोचें कि आपको ताबीज मिल गया, एक पांच मिनट के लिए सोचें कि हाथ में ताबीज है, अब क्या करिएगा! आपका मन फौरन रास्ते बताएगा कि यह-यह करो--पड़ोस वाले की पत्नी को ले भागो, फलां आदमी की कार ले भागो, फलां की दुकान में घुस जाओ--फौरन आपका मन आपको सब रास्ते बता देगा। अभी मिला नहीं ताबीज आपको, लेकिन ताबीज मिल जाए, इसका ख्याल भी आपको फौरन बता देगा कि आप क्या-क्या कर सकते हो--जो कि आप नहीं कर पा रहे हो, क्योंकि अनैतिक होने में हानि मालूम पड़ रही है। और कोई कारण नहीं है। इस जगत में जो हमें नैतिक और अनैतिक लोग दिखाई पड़ते हैं, उनके नैतिक और अनैतिक होने का निर्णायक सूत्र लाभ और हानि है।

कृष्ण नीति को बड़े दूसरे तल पर ले जा रहे हैं, बिल्कुल अलग डायमेंशन में। वे यह कह रहे हैं, यह सवाल ही नहीं है। इसीलिए तो जो शक्तिशाली होता है, वह नीति-अनीति की फिक्र नहीं करता। इसलिए अगर चाणक्य से पूछें या मैक्यावेली से पूछें, तो वे कहेंगे, नीति का कोई मतलब नहीं होता, नीति सिर्फ कमजोरों का बचाव है। शक्तिशाली तो कोई नीति की फिक्र नहीं करता, क्योंकि उसे अनीति से कोई हानि नहीं हो सकती। सिर्फ कमजोर नीति की फिक्र करता है, क्योंकि अनीति से हानि हो सकती है। मैक्यावेली तो सुझाव देता है कि अगर तुम्हारे पास शक्ति है, तो शक्ति का मतलब ही यह है कि तुम अनैतिक होने के लिए स्वतंत्र हो। अगर कमजोर हो, तो उसका मतलब इतना ही है कि तुम्हें नैतिक होने की मजबूरी है।

नीति और अनीति के गहरे में लाभ-हानि पकड़ में आती हैं।

दुनिया रोज अनैतिक होती जा रही है, ऐसा हमें लगता है। कुल कारण इतना है कि दुनिया में इतने लोग शक्तिशाली कभी नहीं थे, जितने आज हैं। कुल कारण इतना है। दुनिया अनैतिक होती हुई दिखाई पड़ती है, क्योंकि दुनिया में इतना धन इतने अधिक लोगों के पास कभी भी नहीं था। जिनके पास था, वे सदा अनैतिक थे। दुनिया अनैतिक होती मालूम पड़ती है, क्योंकि अतीत की दुनिया में राजाओं-महाराजाओं के हाथ में ताकत थी। नई दुनिया लोकतंत्र है, वहां एक-एक व्यक्ति के पास शक्ति वितरित कर दी गई है। अब प्रत्येक व्यक्ति शक्ति के मामले में ज्यादा समर्थ है, जितना कभी भी नहीं था। दुनिया अनैतिक होती मालूम पड़ती है, क्योंकि इतने

अधिक लोग शिक्षित कभी नहीं थे और शिक्षा एक शक्ति है। जो लोग शिक्षित थे, उनके नैतिक होने का कभी भरोसा नहीं था।

जितनी शिक्षा बढ़ेगी, उतनी अनीति बढ़ जाएगी; जितनी समृद्धि बढ़ेगी, उतनी अनीति बढ़ जाएगी; जितनी शक्ति बढ़ेगी, उतनी अनीति बढ़ जाएगी। मजा यह है कि नीति और अनीति के बहुत गहरे में लाभ-हानि ही बैठी है।

इसलिए कृष्ण का यह वचन बड़े गहरे इंप्लिकेशंस का है। वे अर्जुन से कहते हैं कि जब तक तुझे लाभ और हानि में भेद है, तब तक तू जो भी करेगा, वह पाप है। और जिस दिन तुझे लाभ-हानि में कोई भेद नहीं है, उस दिन तू निश्चिंत हो। फिर तू जो भी करेगा, वह पाप नहीं है।

इसलिए सवाल नहीं है यह कि हम चुनें कि क्या करणीय है और क्या करणीय नहीं है। असली सवाल और गहरे में है और वह यह है कि क्या मेरे चित्त में लाभ और हानि का प्रभाव पड़ता है? अगर पड़ता है, तो मैं मंदिर भी बनाऊं तो पाप होगा, उसके बहुत गहरे में लाभ-हानि ही होगी। अगर मैं पुण्य भी करूं, तो सिर्फ दिखाई पड़ेगा, पुण्य हो रहा है; पीछे पाप ही होगा। और सब पुण्य करने के लिए पहले पाप करना जरूरी होता है। मंदिर भी बनाना हो, तो भी मंदिर बनाने के लायक तो धन इकट्ठा करना ही होता है।

सब पुण्यों के लिए पाप करना जरूरी होता है, क्योंकि कोई पुण्य बिना लाभ के नहीं हो सकते। दान के पहले भी चोरी करनी पड़ती है। असल में जितना बड़ा चोर, उतना बड़ा दानी हो सकता है। असल में बड़ा दानी सिर्फ अतीत का चोर है। आज का चोर कल का दानी हो सकता है। क्योंकि चोरी करके भी करिएगा क्या? एक सीमा आ जाती है सेच्युरेशन की, जहां चोरी से फिर कोई लाभ नहीं मिलता। फिर उसके बाद दान करने से लाभ मिलना शुरू होता है।

कृष्ण का वक्तव्य बहुत अदभुत है। वे यह कहते हैं कि तू लाभ और हानि का जब तक भेद कर पा रहा है, तब तक तू कितने ही पुण्य की बातें कर, लेकिन तू जो भी करेगा वह पाप है। और अगर तू यह समझ ले कि लाभ-हानि में कोई फर्क नहीं, जय-पराजय में कोई फर्क नहीं, जीवन-मृत्यु में कोई फर्क नहीं, तो फिर तू जो भी करे, वह पुण्य है।

यह पुण्य और पाप का बहुत ही नया आयाम है। कृत्य से नहीं, व्यक्ति के अंतस्तल में हुई क्रांति से संबंधित है।

प्रश्नः भगवान श्री, कुछ मनोवैज्ञानिक कहते हैं कि जैसे भूख, निद्रा, काम आदि स्वाभाविक वृत्तियां हैं, वैसे ही क्रोध करना भी मानव की स्वाभाविक वृत्ति है। यदि ऐसा है, तो जगत में युद्ध भी स्वाभाविक ही है। जब तक जगत, तब तक युद्ध। क्या युद्ध कभी अटक भी सकती है?

स्वाभाविक किसी बात को कह देना, उसके होने की अनिवार्यता को सिद्ध कर देना नहीं है। जो भी हमें स्वाभाविक मालूम पड़ता है, वह सभी एक तल पर स्वाभाविक है, लेकिन तल के परिवर्तन के साथ बदल जाता है। जैसा मनुष्य है, वैसे मनुष्य के लिए क्रोध बिल्कुल स्वाभाविक है। लेकिन मनुष्य बुद्ध जैसा मनुष्य भी हो जाता है, और तब क्रोध बिल्कुल अस्वाभाविक हो जाता है। स्वाभाविक और अस्वाभाविक व्यक्ति की चेतना के प्रत्येक तल पर बदलते जाते हैं।

एक आदमी शराब पीकर रास्ते पर चल रहा है, तो नाली में गिर जाना बिल्कुल स्वाभाविक है। लेकिन एक आदमी बिना शराब पीए सड़क पर चल रहा है, उसका नाली में गिर जाना बिल्कुल अस्वाभाविक है। लेकिन शराब पीए आदमी में और गैर शराब पीए आदमी में आदमियत का कोई भी फर्क नहीं है। फर्क है चेतना का। आदमियत का कोई भी फर्क नहीं है। शराब पीया आदमी भी वैसा ही आदमी है, जैसा नहीं शराब पीया हुआ आदमी आदमी है।

अंतर कहां है? अंतर चेतना का है। शराब पीए हुए आदमी के पास उतनी चेतना नहीं है, जो नाली में गिरने से बचा सके। गैर शराब पीए आदमी के पास उतनी चेतना है, जो नाली में गिरने से बचाती है। अगर हम क्रोध में गिर जाते हैं, तो वह भी हमारी मूर्च्छा के कारण। और बुद्ध अगर क्रोध में नहीं गिरते, तो वह भी उनकी अमूर्च्छा के कारण। वह भी फर्क चेतना का ही है। उस फर्क में भी वही फर्क काम कर रहा है, जो शराबी के साथ कर रहा है। हां, फर्क भीतरी है, इसलिए एकदम से दिखाई नहीं पड़ता।

जब आप क्रोध में होते हैं, तब आपके एड्रिनल ग्लैंड्स आपके भीतर शराब छोड़ देते हैं। जब आप क्रोध में होते हैं, तो आपके शरीर में... बहुत से मादक रस इकट्ठे हैं आपके शरीर में। अगर वे ग्लैंड्स काट दी जाएं, फिर आप क्रोध करके बताएं तो समझा जाए!

पावलव ने बहुत प्रयोग किए हैं रूस में कुत्तों की उन ग्लैंड्स को काटकर, जिनकी वजह से कुत्ते भौंकते हैं और भौंकते ही रहते हैं और लड़ते ही रहते हैं। बड़ा जानदार कुत्ता है, तीर है बिल्कुल, जरा-सी बात और जूझ जाएगा। उसकी भी ग्लैंड काट देने के बाद, उसको कितना ही उकसाओ, वह कुछ भी नहीं करता। फिर वह बैठा रह जाएगा।

खतरा भी है इस प्रयोग में। क्योंकि आज नहीं कल, कोई हुकूमत आदमियों के ग्लैंड्स भी काटेगी। जिस हुकूमत को भी विद्रोह और क्रांति से बचना है, आज नहीं कल, बायोलाजिस्ट की सहायता वह लेगी। कोई कठिनाई नहीं है। रूस जैसे मुल्क में, जहां हर बच्चे को नर्सरी में पैदा होना है, वहां पैदा होने के साथ ही ग्लैंड्स समाप्त की जा सकती हैं। या उन ग्लैंड्स के एंटीडोट्स का इंजेक्शन दिया जा सकता है।

तब आपको पता चलेगा कि स्वाभाविक बिल्कुल नहीं है। स्वाभाविक इसलिए है कि शरीर के साथ अनंत यात्रा में जरूरी रहा है। और शरीर के साथ बहुत-सी चीजें जो कल जरूरी थीं, अब जरूरी नहीं रह गई हैं, लेकिन खिंच रही हैं।

जिस स्थिति में मनुष्य है, अगर हम उसको परम स्थिति मान लें, तब तो बिल्कुल स्वाभाविक है। लेकिन वह परम स्थिति नहीं है; उसमें बदलाहट हो सकती है। उसमें बदलाहट दो तरह से हो सकती है।

शरीर के द्वारा भी बदलाहट हो सकती है। लेकिन शरीर के द्वारा जो बदलाहट होगी, वह मनुष्य की आत्मा का विकास नहीं, पतन बनेगी। क्योंकि जो आदमी क्रोध कर नहीं सकेगा, इसलिए नहीं करता है, वह आदमी इंपोटेंट हो जाएगा। उस आदमी का कोई गौरव नहीं होगा। उसके व्यक्तित्व में चमक नहीं आएगी। उसकी आंखों में शान नहीं आएगी। अक्रोध की शांति भी नहीं आएगी, क्योंकि क्रोध कर ही नहीं सकता। जो आदमी बुरा हो ही नहीं सकता, उसके भले होने का कोई भी अर्थ नहीं होता। वह सिर्फ असमर्थ होता है, दीन होता है।

लेकिन जो आदमी क्रोध कर सकता है और नहीं करता है, उसकी चेतना रूपांतरित हो जाती है। क्रोध कर सकता है और नहीं करता है, तो वह जो क्रोध की शक्ति है, वह अक्रोध की शक्ति बननी शुरू हो जाती है। तब

उसके व्यक्तित्व में रूपांतरण, ट्रांसफार्मेशन के नए द्वार खुलते हैं। तब वह सामान्य मनुष्य से ऊपर उठना शुरू होता है। सुपरमैन उसके भीतर पैदा होना शुरू होता है, वह अतिमानव होना शुरू हो जाता है।

मनुष्य के लिए क्या स्वाभाविक है, यह इस पर निर्भर करता है कि उसकी चेतना का तल क्या है। प्रत्येक तल पर स्वभाव भिन्न-भिन्न होगा। एक बच्चे के लिए जो स्वाभाविक है, जवान के लिए स्वाभाविक नहीं रह जाता। और एक जवान के लिए जो स्वाभाविक है, बूढ़े के लिए स्वाभाविक नहीं रह जाता। बीमार आदमी के लिए जो स्वाभाविक है, वह स्वस्थ के लिए स्वाभाविक नहीं रह जाता।

तो स्वभाव कोई फिक्स्ड एनटाइटी नहीं है। स्वभाव कोई ऐसी बात नहीं है कि कोई थिर चीज है। यही खूबी है मनुष्य की। एक पत्थर का स्वभाव थिर है, पत्थर का स्वभाव बिल्कुल थिर है। पानी का स्वभाव बिल्कुल थिर है। इसलिए हम विज्ञान की किताब में लिख सकते हैं कि पानी का यह स्वभाव है, अग्नि का यह स्वभाव है।

मनुष्य की खूबी ही यही है कि उसका स्वभाव उस पर ही निर्भर है। और वह अपने स्वभाव को हजार आयाम दे सकता है और विकास कर सकता है। हां, एक स्वभाव जन्म के साथ सबको मिलता है। कुछ लोग उसी पर रुक जाते हैं, उसी को स्वभाव का अंत मान लेते हैं, तब दूसरी बात है।

कभी आपने शायद ख्याल न किया हो; अगर एक हीरे को रख दें और पास में कोयले के टुकड़े को रख दें, तो आपको कभी ख्याल न आएगा कि हीरा कोयला ही है। हीरे और कोयले में बुनियादी तत्व के आधार पर कोई भी भेद नहीं है। असल में कोयला ही हजारों-लाखों वर्ष जमीन में दबा रहकर हीरा बन जाता है। लेकिन हीरे और कोयले का स्वभाव एक है? जरा भी एक नहीं है। कहां कोयला, कहां हीरा! लेकिन बनता है हीरा कोयले से ही; वह कोयले की ही आखिरी यात्रा है।

तो जहां मनुष्य अपने को पाता है, कोयले जैसा है। और जहां बुद्ध जैसे, महावीर जैसे, कृष्ण जैसे व्यक्ति अपने को पहुंचाते हैं, हीरे जैसे हैं। फर्क स्वभाव का नहीं है, फर्क विकास का है।

प्राथमिक स्वभाव हम सबको एक जैसा मिला है--क्रोध है, काम है, लोभ है। लेकिन यह अंत नहीं है, प्रारंभ है। और इस प्रारंभ को ही अगर हम अंत समझ लें, तो यात्रा बंद हो जाती है। और हुई है बंद।

जैसा कि आपने पूछा है, मनोवैज्ञानिक कहते हैं, यह तो स्वभाव है। लेकिन यह कहकर वे कुछ इस तरह की बात दुनिया में पैदा करवाते हैं कि जैसे यह अंत है। इसलिए पश्चिम में मनोविज्ञान के कुछ परिणाम हुए हैं। हिंदुस्तान में मनोविज्ञान ने एक लाभ लिया और मनुष्य को विकास दिया। और पश्चिम के सौ डेढ़ सौ वर्ष के मनोविज्ञान ने मनुष्य को पतन दिया, विकास नहीं दिया। क्योंकि मनोवैज्ञानिक ने कहा, यह तो स्वभाव है। आदमी क्रोध तो करेगा ही, क्रोध तो स्वभाव है। आदमी कामुक तो होगा ही, कामुकता तो स्वभाव है।

इसका परिणाम क्या हुआ? इसका परिणाम यह हुआ कि जो प्रारंभ बिंदु था, वह अंतिम मंजिल बन गया। और तब प्रत्येक आदमी ने कहा, क्रोध तो मैं करूंगा ही, यह मेरा स्वभाव है। आदमी क्रोध करेगा ही। निश्चित ही, इसके फल हुए हैं। वे फल पश्चिम में दिखाई पड़ रहे हैं। वे फल ये हुए कि आज कोई भी व्यक्ति अपने को किसी भी कृत्य के लिए जिम्मेवार, रिस्पांसिबल नहीं मानता। क्योंकि वह कहता है, यह स्वभाव है।

एक आदमी गालियां बक रहा है सड़क पर, तो आप उससे यह नहीं कह सकते कि तुम यह क्या कर रहे हो? वह कहता है, यह स्वभाव है। एक आदमी चोरी कर रहा है, आप उससे यह नहीं कह सकते कि तुम गलत कर रहे हो। वह कहता है, मैं क्या कर सकता हूं, यह स्वभाव है। पश्चिम के मनोविज्ञान ने अगर बड़े से बड़ा खतरा लाया है, तो आदमी को रिस्पांसिबिलिटी से मुक्त कर दिया। दायित्व कुछ उसका है नहीं। वह कहता है, यह स्वभाव है। और जो भी हो रहा है... ।

तो पश्चिम में मार्क्स और फ्रायड, इन दो के तालमेल से एक अदभुत स्थिति पैदा हो गई है। मार्क्स ने कह दिया कि जो भी हो रहा है, उसके लिए जिम्मेवार समाज है। और फ्रायड ने कह दिया कि जो भी हो रहा है, उसके लिए जिम्मेवार प्रकृति है। आदमी बाहर हो गया। अगर एक आदमी चोरी कर रहा है, तो जिम्मेवार समाज है। अगर एक आदमी हत्या कर रहा है, तो जिम्मेवार समाज है। ऐसा मार्क्स ने कह दिया, व्यक्ति के ऊपर कोई जिम्मेवारी नहीं है, सोशल रिस्पांसिबिलिटी है। इसलिए अगर व्यक्ति को बदलना है, तो समाज को बदलो। और जब तक समाज नहीं बदलता, तब तक व्यक्ति जैसा है वैसा रहेगा। इसकी हम उसे लाइसेंस देते हैं।

व्यक्ति बड़ा प्रफुल्लित हुआ। हजारों साल की जो चिंता थी, उसके दिमाग से गिर गई। ये कृष्ण ने, महावीर ने, बुद्ध ने आदमी को बड़ी भारी चिंता, बड़ी एंग्जाइटी दे दी थी--दे दी थी कि तुम जिम्मेवार हो। चिंता गिर गई। व्यक्ति बड़ा निश्चिंत हुआ। लेकिन उस निश्चिंतता में व्यक्ति सिर्फ वही रह गया, जो कोयला था। उससे बाहर की यात्रा बंद हो गई। निश्चित ही, कोयले को हीरा बनना हो, तो चिंता से गुजरना पड़ेगा। लाखों साल की लंबी यात्रा है!

फिर फ्रायड ने लोगों को कह दिया कि समाज भी बदल डालो, तो भी कुछ होने वाला नहीं है। क्योंकि रूस में क्रोध कम हो गया? कि रूस में अहंकार कम हो गया? कि रूस का नागरिक किसी भी तरह से आदमियत के तल पर बदल गया है? कुछ भी नहीं बदला। फ्रायड ने कहा, समाज वगैरह के बदलने का सवाल नहीं है। जिम्मेवार स्वभाव है, नेचर है। जब तक नेचर को न बदल डालो, तब तक कुछ भी नहीं हो सकता।

पर नेचर को कैसे बदलोगे? स्वभाव को कैसे बदलोगे? इसलिए आदमी जैसा है वैसा रहेगा। निश्चिंत मन से उसे जैसा है वैसा रहना चाहिए! यह बदलाहट, यह क्रांति, यह भीतरी रूपांतरण, यह धर्म, यह योग, यह समाधि, ये सब बकवास हैं। फ्रायड ने कहा, आदमी जैसा है वैसा ही रहेगा। नाहक की चिंता में आदमी को डालकर परेशान किया हुआ है। वह जैसा है, है।

फ्रायड के इस कहने का परिणाम पश्चिम में एक्सप्लोसिव हुआ। आज हिप्पी हैं, बीटनिक हैं, प्रवोस हैं, और दूसरे तरह के सारे लोग हैं, वे यही कह रहे हैं कि यह स्वभाव है। और फ्रायड ने गारंटी दी है कि यह स्वभाव है, और आदमी वही रहेगा जो है। आदमी एक पशु है। थोड़ी-सी बुद्धि है उसके पास, इसलिए बुद्धि से अपने को परेशानी में डाल लेता है। बुद्धि को भी छोड़ दे, तो कोई परेशानी नहीं है।

आदमी को फ्रायड ने--अगर फ्रायड को समझें, तो वह यह कहता है, तुम्हारी बुद्धि ही तुम्हारी परेशानी है। उसी की वजह से तुम झंझट में पड़ जाते हो। जो है, वह है। यह बुद्धि उस पर सोच-विचार करके कहने लगती है, ऐसा नहीं होना चाहिए, वैसा नहीं होना चाहिए। इससे तुम चिंता पैदा करते हो, पागल हुए जाते हो। छोड़ो यह चिंता! जो हो, उसके लिए राजी हो जाओ।

ठीक है, निश्चिंतता आ जाएगी, लेकिन कोयले की निश्चिंतता होगी। पशु निश्चिंत है। अगर फ्रायड को मानकर पूरा का पूरा चला जाए, तो आदमी पशु की तरफ गिरता जाएगा--गिरा है। फ्रायड जो कहता है, वह सच है, लेकिन अधूरा सच है। और अधूरे सच झूठ से भी खतरनाक होते हैं।

यह सच है कि आदमी में क्रोध है, और यह स्वभाव है। और यह भी सच है कि आदमी में क्रोध से विकसित होने की संभावना है, वह भी उसका स्वभाव है। यह सच है कि क्रोध है। और यह भी सच है कि क्रोध से मुक्त होने की आकांक्षा है, वह भी स्वभाव है। ऐसा आदमी खोजना मुश्किल है, जिसमें क्रोध है और क्रोध से मुक्त होने की आकांक्षा नहीं है। तो क्रोध स्वभाव है, और क्रोध से मुक्त होने की आकांक्षा? वह स्वभाव नहीं है? ऐसा

आदमी खोजना मुश्किल है, जो अपने को अतिक्रमण नहीं करना चाहता, जो अपने से ऊपर नहीं जाना चाहता। जो है, वह स्वभाव है। जो होना चाहता है, वह भी स्वभाव है।

और निश्चित ही, जो होना चाहता है, उसके लिए, जो है उसको रूपांतरित करना पड़ता है। उसकी विधियां हैं। उस विधि का नाम ही धर्म है। अगर मनुष्य जैसा है, वैसा ही है, तब धर्म की कोई अर्थवत्ता नहीं है, मीनिंगलेस है।

इसलिए अगर पश्चिम में धर्म का सारा मूल्य खो गया, तो उसके खोने का बहुत गहरा कारण यही है कि पश्चिम के मनोविज्ञान ने आदमी को कहा कि यह तो स्वभाव है। ऐसा होगा ही।

एक मित्र मेरे पास आए, यही अभी परसों। उन्होंने कहा कि मैं बहुत परेशान था, नींद मुझे नहीं आती थी। नींद खो गई थी, इससे चिंतित था। मनोवैज्ञानिक के पास गया, तो मनोवैज्ञानिक ने कहा कि यह तो बिल्कुल ठीक है। मनोवैज्ञानिक ने पूछा कि सेक्स के बाबत तुम्हारी क्या स्थिति है? तो मनोवैज्ञानिक ने उनसे कहा कि तुम हस्तमैथुन, मस्टरबेशन शुरू कर दो। उन्होंने कहा कि कैसी बात कहते हैं? तो उन्होंने कहा, यह तो स्वभाव है। यह तो आदमी को करना ही पड़ता है! जब मनोवैज्ञानिक कहता हो, वे राजी हो गए।

फिर दो साल में उस हालत में पहुंच गए कि उसी मनोवैज्ञानिक ने कहा कि अब तुम्हें इलेक्ट्रिक शॉक की जरूरत है। अब तुम बिजली के शॉक्स लो। अब जब मनोवैज्ञानिक कह रहा है। और हम तो अथारिटी के ऐसे दीवाने हैं, ऐसे पागल हैं। और जो चीज जब अथारिटी बन जाए! कभी मंदिर का पुरोहित अथारिटी था, तो वह जो कह दे, वह सत्य था। अब वह पौरोहित्य जो है मंदिर का, वह मनोवैज्ञानिक के हाथ में आया जा रहा है। अब वह जो कह दे, वह सत्य है। तो बिजली के शॉक ले लिए। सब तरह से व्यक्तित्व अस्तव्यस्त हो गया।

स्वभाव की आड़ में आदमी की पशुता को बचाने की चेष्टा खतरनाक है। शायद मनुष्य के ऊपर इससे बड़े खतरे के बादल कभी भी नहीं आए थे, जितने बड़े खतरे के बादल इस बात से आए हैं कि जो भी है, वह है। यह तो होगा ही, यह तो बिल्कुल स्वाभाविक है।

मैं आपसे कहना चाहता हूं कि मैं भी कहता हूं कि बिल्कुल स्वाभाविक है। मनोविज्ञान से मेरी गहरी सहमतियां हैं, लेकिन असहमतियां भी हैं। मैं मानता हूं, मनोविज्ञान जहां तक जाता है, बहुत ठीक है। लेकिन उसके आगे भी यात्रा-पथ है। जहां तक जाता है, बिल्कुल ठीक। लेकिन जहां से इनकार करता है, वहां बिल्कुल गलत है। फ्रायड जहां तक जाते हैं, बिल्कुल ठीक, वहां तक कृष्ण और बुद्ध भी इनकार नहीं करते। लेकिन कृष्ण और बुद्ध कहते हैं, यह अंत नहीं है, यह बिल्कुल प्रारंभ है। और इस प्रारंभ का ऐसा उपयोग करना है कि अंत भी फलित हो सके।

जड़ स्वभाव है, लेकिन फूल तक भी पहुंचना है। अन्यथा जड़ें बड़ी कुरूप होती हैं; गंदी होती हैं; अंधेरे में दबी होती हैं; नीचे अंधेरे रास्तों में, जमीन में फैली होती हैं। स्वाभाविक हैं, बिल्कुल जरूरी हैं, लेकिन जड़ें फूल नहीं हैं। और अगर जड़ों पर कोई वृक्ष रुक जाए और कोई फ्रायड वृक्ष को समझा दे कि पागल, यही तेरा स्वभाव है। और वृक्ष रुक जाए और कहे, क्या करेंगे अब आकाश में उठकर, जड़ें ही अपना स्वभाव है, तो फिर फूल नहीं आएंगे।

और मजा यह है कि जड़ें इसीलिए हैं कि फूल आएं। और फूल और जड़ में कितना विरोध है! कहां फूल--आकाश में खिले हुए, सूर्य की रोशनी में नाचते हुए! और कहां जड़ें--अंधेरे में दबी हुई! विरोध है बड़ा, सामंजस्य भी है बड़ा, क्योंकि फूल बिना जड़ों के नहीं हो सकते।

यह भी आखिरी बात मैं आपसे कहना चाहता हूं कि फूल बिना जड़ों के नहीं हो सकते; हालांकि जड़ें बिना फूल के हो सकती हैं। यह जीवन का एक बहुत बड़ा दुर्भाग्य है कि यहां जो निम्न है, वह श्रेष्ठ के बिना हो सकता है; लेकिन यहां जो श्रेष्ठ है, वह निम्न के बिना नहीं होता। एक मंदिर पर स्वर्ण के शिखर रखने हों, तो नींव भरनी ही पड़ती है। नींव के बिना स्वर्ण-शिखर नहीं होते; लेकिन स्वर्ण-शिखर के बिना नींव हो सकती है--नींव भरें और छोड़ दें।

जो निम्न है, वह श्रेष्ठ के बिना भी हो सकता है। लेकिन जो श्रेष्ठ है, वह निम्न के बिना नहीं हो सकता। इसलिए अगर निम्न को हमने स्वभाव समझा, नियति समझी, डेस्टिनी समझी, तो जड़ें ही रह जाती हैं हाथ में।

नहीं, जड़ें हैं ही इसलिए कि फूल तक पहुंचें। मनुष्य का जो स्वभाव आज दिखाई पड़ता है, वह है ही इसलिए कि वह परमात्मा तक पहुंचे। क्रोध है इसलिए कि क्रोध की जड़ किसी दिन अक्रोध का फूल बने। काम है इसलिए, सेक्स है इसलिए कि सेक्स की ऊर्जा और काम की ऊर्जा किसी दिन ब्रह्मचर्य का फूल बने। और जब तक नहीं बन जाती, तब तक मनुष्य को बेचैन होना ही चाहिए; जब तक नहीं बन जाती, तब तक मनुष्य को चिंतित होना ही चाहिए; जब तक नहीं बन जाती, तब तक मनुष्य को संताप में, पीड़ा में, संघर्ष में होना ही चाहिए। जल्दी ली गई शांति खतरनाक है, क्योंकि वह प्रारंभ को ही अंत बना सकती है। शांति जरूर मिलती है, लेकिन अंत आ जाए, मंजिल आ जाए, तब तक यात्रा जारी रखनी जरूरी है।

दो तरह की शांतियां हैं। एक तो हम जहां हैं, वहीं बैठ जाएं, तो यात्रा का कष्ट बंद हो जाता है। एक और शांति भी है--जिस दिन यात्रा पूरी होती है और मंजिल आती है। हम बैठ जाएं और इसी को मंजिल मान लें, तो भी शांति मिलती है। और मंजिल आ जाए और हम बैठें, तब भी शांति मिलती है।

लेकिन दोनों शांतियों में बड़ा फर्क है। एक पशु की शांति है, एक परमात्मा की शांति है।

बारहवां प्रवचन

निष्काम कर्म और अखंड मन की कीमिया

एषा तेऽभिहिता सांख्ये बुद्धिर्योगे त्विमांशृणु।

बुद्ध्या युक्तो यया पार्थ कर्मबन्धं प्रहास्यसि।। 39।।

हे पार्थ, यह सब तेरे लिए सांख्य (ज्ञानयोग) के विषय में कहा गया और इसी को अब (निष्काम कर्म) योग के विषय में सुन कि जिस बुद्धि से युक्त हुआ तू, कर्मों के बंधन को अच्छी तरह से नाश करेगा।

अनंत हैं सत्य तक पहुंचने के मार्ग। अनंत हैं प्रभु के मंदिर के द्वार। होंगे ही अनंत, क्योंकि अनंत तक पहुंचने के लिए अनंत ही मार्ग हो सकते हैं। जो भी एकांत को पकड़ लेते हैं--जो भी सोचते हैं, एक ही द्वार है, एक ही मार्ग है--वे भी पहुंच जाते हैं। लेकिन जो भी पहुंच जाते हैं, वे कभी नहीं कह पाते कि एक ही मार्ग है, एक ही द्वार है। एक का आग्रह सिर्फ उनका ही है, जो नहीं पहुंचे हैं; जो पहुंच गए हैं, वे अनाग्रही हैं।

कृष्ण अर्जुन से कह रहे हैं, अब तक जो मैंने तुझसे कहा, वह सांख्य की दृष्टि थी।

सांख्य की दृष्टि गहरी से गहरी ज्ञान की दृष्टि है। सांख्य का जो मार्ग है, वह परम ज्ञान का मार्ग है। इसे थोड़ा समझ लें, तो फिर आगे दूसरे मार्ग समझना आसान हो जाएगा।

पर कृष्ण ने क्यों सांख्य की ही पहले बात कर ली! सांख्य की इसलिए पहले बात कर ली कि अगर सांख्य काम में आ जाए, तो फिर और कोई आवश्यकता नहीं है। सांख्य काम में न आ सके, तो ही फिर कोई और आवश्यकता है।

जापान में झेन साधना की एक पद्धति है। आज पश्चिम में झेन का बहुत प्रभाव है। आज का जो भी विचारशील वर्ग है जगत का, पूरे जगत की इंटेलिजेंसिया, वह झेन में उत्सुक है। और झेन सांख्य का ही एक रूप है।

सांख्य का कहना यही है कि जानना ही काफी है, करना कुछ भी नहीं है; नालेज इ.ज इनफ, जानना पर्याप्त है। इस जगत की जो पीड़ा है और बंधन है, वह न जानने से ज्यादा नहीं है। अज्ञान के अतिरिक्त और कोई वास्तविक बंधन नहीं है। कोई जंजीर नहीं है, जिसे तोड़नी है। न ही कोई कारागृह है, जिसे मिटाना है। न ही कोई जगह है, जिससे मुक्त होना है। सिर्फ जानना है। जानना है कि मैं कौन हूं? जानना है कि जो चारों तरफ फैला है, वह क्या है? सिर्फ अंडरस्टैंडिंग, सिर्फ जानना।

जो लोग कृष्णमूर्ति से परिचित हैं, उन्हें यह स्मरण में ले लेना उपयोगी होगा कि कृष्णमूर्ति का सारा विचार सांख्य है। लेकिन सांख्य को समझना कठिन है।

जैसे एक आदमी दुख में पड़ा है, हम उससे कहें कि केवल जान लेना है कि दुख क्या है और तू बाहर हो जाएगा। वह आदमी कहेगा, जानता तो मैं भलीभांति हूं कि दुख है। जानने से कुछ नहीं होता; मुझे इलाज चाहिए, औषधि चाहिए। कुछ करो कि मेरा दुख चला जाए।

एक आदमी, जो वस्तुतः चिंतित और परेशान है, विक्षिप्त है, पागल है, उससे हम कहें कि सिर्फ जानना काफी है और तू पागलपन के बाहर आ जाएगा। वह आदमी कहेगा, जानता तो मैं काफी हूं; जानने को अब और क्या बचा है! लेकिन जानने से पागलपन नहीं मिटता। कुछ और करो! जानने के अलावा भी कुछ और जरूरी है।

कृष्ण ने अर्जुन को सबसे पहले सांख्य की दृष्टि कही, क्योंकि यदि सांख्य काम में आ जाए तो किसी और बात के कहने की कोई जरूरत नहीं है। न काम में आए, तो फिर किसी और बात के कहने की जरूरत पड़ सकती है।

सुकरात का बहुत ही कीमती वचन है, जिसमें उसने कहा है, नालेज इ.ज वर्च्यू, ज्ञान ही सदगुण है। वह कहता था, जान लेना ही ठीक हो जाना है। उससे लोग पूछते थे कि हम भलीभांति जानते हैं कि चोरी बुरी है, लेकिन चोरी छूटती नहीं! तो सुकरात कहता, तुम जानते ही नहीं कि चोरी क्या है। अगर तुम जान लो कि चोरी क्या है, तो छोड़ने के लिए कुछ भी न करना होगा।

हम जानते हैं, क्रोध बुरा है; हम जानते हैं, भय बुरा है; हम जानते हैं, काम बुरा है, वासना बुरी है, लोभ बुरा है, मद-मत्सर सब बुरा है; सब जानते हैं। सांख्य या सुकरात या कृष्णमूर्ति, वे सब कहेंगेः नहीं, जानते नहीं हो। सुना है कि क्रोध बुरा है, जाना नहीं है। किसी और ने कहा है कि क्रोध बुरा है, स्वयं जाना नहीं है। और जानना कभी भी उधार और बारोड नहीं होता। जानना सदा स्वयं का होता है। फर्क है दोनों बातों में।

एक बच्चे ने सुना है कि आग में हाथ डालने से हाथ जल जाता है, और एक बच्चे ने आग में हाथ डालकर देखा है कि हाथ जल जाता है। इन दोनों बातों में जमीन-आसमान का फर्क है। दोनों के वाक्य एक से हैं। जिसने सिर्फ सुना है, वह भी कहता है, मैं जानता हूं कि आग में हाथ डालने से हाथ जल जाता है। और जिसने आग में हाथ डालकर जाना है, वह भी कहता है, मैं जानता हूं कि आग में हाथ डालने से हाथ जल जाता है।

इन दोनों के वचन एक-से हैं, लेकिन इन दोनों की मनःस्थिति एक-सी नहीं है। और जिसने सिर्फ सुना है, वह कभी हाथ डाल सकता है। और जिसने जाना है, वह कभी हाथ नहीं डाल सकता है। और जिसने सिर्फ सुना है, वह कभी हाथ डालकर कहेगा कि जानता तो मैं था कि हाथ डालने से हाथ जल जाता है, फिर मैंने हाथ क्यों डाला? वह जानने में भूल कर रहा है। दूसरे से मिला हुआ जानना, जानना नहीं हो सकता।

जिस जानने की सांख्य बात करता है, जिस नोइंग की सांख्य बात करता है, वह वह जानना है, जो उधार नहीं है। इस जानने से क्या हो जाएगा? एक छोटी-सी कहानी से बात समझाने की कोशिश करूं।

दूसरे महायुद्ध में ऐसा हुआ कि एक आदमी युद्ध-स्थल पर आहत हो गया। जब होश में आया बेहोशी से, तो पता चला कि उसे सब स्मरण भूल गया है; वह अपना सब अतीत भूल चुका है। उसे यह भी पता नहीं है कि उसका नाम क्या है! कठिनाई न आती, क्योंकि सेना में नाम की कोई जरूरत नहीं होती। लेकिन उसका नंबर भी खो गया युद्ध के स्थल पर।

सेना में तो आदमी नंबर से जाना जाता है, सेना में नाम से नहीं जाना जाता। सुविधा है नंबर से जानने में। और जब पता चलता है कि ग्यारह नंबर आज मर गया, तो कोई तकलीफ नहीं होती। क्योंकि नंबर के न बाप होते, न मां होती, न बेटा होता। नंबर का कोई भी नहीं होता। नंबर मर जाता है, मर जाता है। तख्ती पर सूचना लग जाती है कि इतने नंबर गिर गए। किसी को कहीं कोई पीड़ा नहीं होती। नंबर रिप्लेस हो जाते हैं। दूसरा नंबर ग्यारह नंबर उसकी जगह आ जाता है। किसी आदमी को रिप्लेस करना मुश्किल है, लेकिन नंबर को रख देना नंबर की जगह कोई कठिन नहीं है। यह मिलिटरी तो नंबर से चलती है। दफ्तर में नाम होते हैं, रजिस्टर में।

लेकिन उसका नंबर भी खो गया है। उसे नाम याद नहीं रहा। अब वह कौन है? अब क्या करें? उसे कहां भेजें? उसका घर कहां है? उसके मां-बाप कहां हैं? बहुत कोशिश की, खोज-बीन की, कुछ पता नहीं चल सका। फिर आखिर किसी ने सुझाव दिया कि एक ही रास्ता है कि उसे इंग्लैंड के गांव-गांव में घुमाया जाए। शायद कहीं उसे देखकर याद आ जाए कि यह मेरा घर है, यह मेरा गांव है। शायद वह जान ले।

फिर उसे ले गए। स्टेशनों पर उसे उतारकर खड़ा कर देते, वह देखता रह जाता; कुछ याद न आता। फिर तो जो ले गए थे घुमाने, वे भी थक गए। एक छोटे स्टेशन पर, जिस पर उतरकर देखने का इरादा भी नहीं है, गाड़ी खड़ी है, चलने को है। उस आदमी ने खिड़की से झांककर देखा और उसने कहा, मेरा गांव! उतरा, बताना ही भूल गया, कि जो साथ थे उनको बता दे। भागा, सड़क पर आ गया। चिल्लाया, मेरा घर! दौड़ा, गली में पहुंचा। दरवाजे के सामने खड़े होकर कहा, मेरी मां! लौटकर पीछे देखा, साथी पीछे भागकर आए हैं। उनसे बोला, यह रहा मेरा नाम। याद आ गया।

सांख्य कहता है, आत्मज्ञान सिर्फ रिमेंबरेंस है, सिर्फ स्मरण है। कुछ खोया नहीं है, कुछ मिटा नहीं है, कुछ गया नहीं है, कुछ नया बना नहीं है, सिर्फ स्मृति खो गई है। और जिसे हम जानने जा रहे हैं, अगर वह नया जानना है, तब तो फिर कुछ और करना पड़ेगा। लेकिन अगर वह भूला हुआ ही है, जिसे पुनः जानना है, तब कुछ करने की जरूरत नहीं है, जान लेना ही काफी है।

तो कृष्ण ने कहा कि अभी जो मैंने तुझसे कहा अर्जुन, वह सांख्य की दृष्टि थी। इस पूरे वक्त कृष्ण ने सिर्फ स्मरण दिलाने की कोशिश की, कि आत्मा अमर है; न उसका जन्म है, न उसकी मृत्यु है। स्मरण दिलाया कि अव्यक्त था, अव्यक्त होगा, बीच में व्यक्त का थोड़ा-सा खेल है। स्मरण दिलाया कि जो तुझे दिखाई पड़ते हैं, वे पहले भी थे, आगे भी होंगे। स्मरण दिलाया कि जिन्हें तू मारने के भय से भयभीत हो रहा है, उन्हें मारा नहीं जा सकता है।

इस पूरे समय कृष्ण क्या कर रहे हैं? कृष्ण अर्जुन को, जैसे उस सिपाही को घुमाया जा रहा है इंग्लैंड में, ऐसे उसे किसी विचार के लोक में घुमा रहे हैं कि शायद कोई विचार-कण, कोई स्मृति चोट कर जाए और वह कहे कि ठीक, यही है। ऐसा ही है। लेकिन ऐसा वह नहीं कह पाता।

वह शिथिल गात, अपने गांडीव को रखे, उदास मन, वैसा ही हताश, विषाद से घिरा बैठा है। वह कृष्ण की बातें सुनता है। वह उसे पूरे इंग्लैंड में घुमा दिए--हर स्टेशन, हर जगह। कहीं भी उसे स्मरण नहीं आता कि वह दौड़कर कहे, कि यह रहा मैं; ठीक है, बात अब बंद करो, पहचान आ गई; रिकग्नीशन हुआ, प्रत्यभिज्ञा हुई, स्मरण आ गया है। ऐसा वह कहता नहीं। वह बैठा है। वह रीढ़ भी नहीं उठाता; वह सीधा भी नहीं बैठता। उसे कुछ भी स्मरण नहीं आ रहा है।

इसलिए कृष्ण उससे कहते हैं कि अब मैं तुझसे कर्मयोग की बात कहता हूं। सांख्ययोग श्रेष्ठतम योग है। अब मैं तुझसे कर्मयोग की बात करता हूं। वे जो जानने से ही नहीं जान सकते, जिन्हें कुछ करना ही पड़ेगा, जो बिना कुछ किए स्मरण ला ही नहीं सकते-- अब मैं तुझसे कर्मयोग की बात कहता हूं।

प्रश्नः भगवान श्री, झेन बुद्धिज्म में, जैसे कि अद्वैत वेदांत में ब्रह्म आता है, तो झेन बुद्धिज्म में तो कुछ ऐसा है नहीं, तो आप साम्यता जो बता रहे हैं, उसकी स्पष्टता करें। और दूसरी बात यह है कि वेस्टर्न फिलासफर्स सांख्य का कभी पुरस्कार करते हैं, तो इसलिए कि सांख्य निरीश्वरवादी है। लेकिन कोई-कोई विद्वान ऐसा कहते

हैं कि सांख्य निरीश्वरवादी नहीं है। तो यह भी है। तो वेस्टर्न फिलासफर्स निरीश्वरवादी है, इसलिए सांख्य का स्वीकार करते हैं? और झेन और सांख्य दोनों में ब्रह्म तत्व का स्थान क्या हो सकता है?

झेन और सांख्य के बीच जो साम्य मैंने कहा, उस साम्य का कारण है। ब्रह्म की चर्चा नहीं, उस साम्य का कारण है ज्ञान की प्रधानता। झेन कहता है, करने को कुछ भी नहीं है; और जो करेगा, वह व्यर्थ ही भटकेगा। झेन तो यहां तक कहता है कि तुमने खोजा कि तुम भटके। खोजो ही मत, खड़े हो जाओ और जान लो। क्योंकि तुम वही हो, जिसे तुम खोज रहे हो। झेन कहता है, जिसने प्रयास किया, वह मुश्किल में पड़ेगा। क्योंकि जिसे हमें पाना है, वह प्रयास से पाने की बात नहीं है। केवल अप्रयास में, एफर्टलेसनेस में जानने की बात है।

झेन कहता है, पा सकते हैं श्रम से उसे, जो हमारा नहीं है। पा सकते हैं श्रम से उसे, जो हमें मिला हुआ नहीं है। धन पाना हो तो बिना श्रम के नहीं मिलेगा; धन पाने के लिए श्रम करना होगा। धन हमारा कोई स्वभाव नहीं है। एक आदमी को दूसरे के घर जाना हो, तो रास्ता चलना पड़ेगा, क्योंकि दूसरे का घर अपना घर नहीं है। लेकिन एक आदमी अपने घर में बैठा हो और पूछता हो कि मुझे मेरे घर जाना है, मैं किस रास्ते से जाऊं? तो झेन कहता है, जाना ही मत, अन्यथा घर से दूर निकल जाओगे।

एक छोटी-सी कहानी मुझे याद आती है, जो झेन फकीर कहते हैं। वे कहते हैं, एक आदमी ने शराब पी ली। शराब पीकर आधी रात अपने घर पहुंचा। हाथ-पैर डोलते हैं, आंखों को ठीक दिखाई नहीं पड़ता। ऐसे भी अंधेरा है, भीतर नशा है, बाहर अंधेरा है। टटोल-टटालकर किसी तरह अपने दरवाजे तक पहुंच गया है। और फिर थक गया है। बहुत देर से भटक रहा है। फिर जोर-जोर से चिल्लाने लगा कि कोई मुझे मेरे घर पहुंचा दो। मेरी मां राह देखती होगी।

पास-पड़ोस के लोग उठ आए। और उन्होंने कहा, पागल तो नहीं हो गए हो! तुम अपने ही घर के सामने खड़े हो, अपने ही घर की सीढ़ियों पर। यही तुम्हारा घर है। लेकिन वह आदमी इतना परेशानी में चिल्ला रहा है कि मुझे मेरे घर पहुंचा दो, मुझे मेरे घर जाना है, मेरी बूढ़ी मां राह देखती होगी, कि सुने कौन! सुनने के लिए भी तो चुप होना जरूरी है। वह आदमी चिल्ला रहा है। पास-पड़ोस के लोग उससे कह रहे हैं, यही तुम्हारा घर है।

लेकिन यही तुम्हारा घर है--यह भीतर कैसे प्रवेश करे? वह आदमी तो भीतर चिल्ला रहा है, मेरा घर कहां है? शोरगुल सुनकर उसकी बूढ़ी मां भी उठ आई, जिसकी तलाश में वह है। उसने दरवाजा खोला, उसने उसके सिर पर हाथ रखा और कहा, बेटा तुझे क्या हो गया है! उसने उसके ही पैर पकड़ लिए और उसने कहा कि मेरी बूढ़ी मां राह देखती होगी; मुझे रास्ता बताओ कि मेरा घर कहां है?

तो पास-पड़ोस में कोई मजाक करने वाले लोग एक बैलगाड़ी लेकर आ गए और उन्होंने कहा कि बैठो, हम तुम्हें तुम्हारे घर पहुंचा देते हैं। वह आदमी बड़ा प्रसन्न हुआ। उसने कहा कि यह भला आदमी है। ये सारे लोग मुझे घर पहुंचाने का कोई उपाय ही नहीं करते! कोई उपाय नहीं करता, न कोई बैलगाड़ी लाता, न कोई घोड़ा लाता, न मेरा कोई हाथ पकड़ता। तुम एक भले आदमी हो। उसने उसके पैर पड़े। वह आदमी हंसता रहा। उसे बैलगाड़ी में बिठाया, दस-बारह चक्कर लगाए घर के, फिर उसे द्वार के सामने उतारा। फिर वह कहने लगा, धन्यवाद! बड़ी कृपा की, मुझे मेरे घर पहुंचा दिया।

अब कृष्ण अर्जुन से कोशिश कर चुके पहली वाली कि यही तेरा घर है। अब नहीं मानता, तो बैलगाड़ी जोतते हैं। वे कहते हैं, कर्मयोग में चल। अब तू चक्कर लगा। अब तू दस-पांच चक्कर लगा ले, फिर ही तुझे ख्याल में आ सकता है कि पहुंचा। बिना चले तू स्वयं तक भी नहीं पहुंच सकता है।

झेन कहता है कि जिसे हम खोज रहे हैं, वह वहीं है जहां हम हैं; इंचभर का फासला नहीं है। इसलिए जाओगे कहां? खोजोगे कैसे? श्रम क्या करोगे? असल में श्रम करके हम पराए को पा सकते हैं, स्वयं को नहीं। स्वयं तो सब श्रम के पहले उपलब्ध है।

तो झेन और सांख्य का जो साम्य मैंने कहा, वह इसलिए कहा कि सांख्य भी कर्म को व्यर्थ मानता है, कोई अर्थ नहीं है कर्म का। झेन भी कर्म को व्यर्थ मानता है, कोई अर्थ नहीं कर्म का। क्योंकि जिसे जानना है, वह सब कर्मों के पहले ही मिला हुआ है, आलरेडी एचीव्ड।

तो जो अड़चन है, जो कठिनाई है, जो समझ में हमें नहीं आती, वह इस तरह की है कि कोई चीज जो हमें मिली हुई नहीं है, उसे पाना है, यह एक बात है। और कोई चीज जो हमें मिली ही है, उसे सिर्फ जानना है, यह बिल्कुल दूसरी बात है। यदि आत्मा भीतर है ही, तो कहां खोजना है? और अगर मैं ब्रह्म हूं ही, तो क्या करना है? करने से क्या संबंध है? करने से क्या होगा?

नहीं; न-करने में उतरना होगा, नान-एक्शन में उतरना होगा, अकर्म में उतरना होगा। छोड़ देना होगा करना-वरना और थोड़ी देर रुककर उसे देखना होगा, जो करने के पीछे खड़ा है, जो सब करने का आधार है, फिर भी करने के बाहर है।

एक और झेन कहानी मुझे याद आती है कि झेन में कोई पांच सौ वर्ष पहले, एक बहुत अदभुत फकीर हुआ, बांकेई। जापान का सम्राट उसके दर्शन को गया। बड़ी चर्चा सुनी, बड़ी प्रशंसा सुनी, तो गया। सुना उसने कि दूर-दूर पहाड़ पर फैली हुई मोनेस्ट्री है, आश्रम है। कोई पांच सौ भिक्षु वहां साधना में रत हैं। तो गया। बांकेई से उसने कहा, एक-एक जगह मुझे दिखाओ तुम्हारे आश्रम की, मैं काफी समय लेकर आया हूं। मुझे बताओ कि तुम कहां-कहां क्या-क्या करते हो? मैं सब जानना चाहता हूं।

आश्रम के दूर-दूर तक फैले हुए मकान हैं। कहीं भिक्षु रहते हैं, कहीं भोजन करते हैं, कहीं सोते हैं, कहीं स्नान करते हैं, कहीं अध्ययन करते हैं--कहीं कुछ, कहीं कुछ। बीच में, आश्रम के सारे विस्तार के बीच एक बड़ा भवन है, स्वर्ण-शिखरों से मंडित एक मंदिर है।

बांकेई ने कहा, भिक्षु जहां-जहां जो-जो करते हैं, वह मैं आपको दिखाता हूं। फिर वह ले चला। सम्राट को ले गया भोजनालय में और कहा, यहां भोजन करते हैं। ले गया स्नानगृहों में कि यहां स्नान करते हैं भिक्षु। ले गया जगह-जगह। सम्राट थकने लगा। उसने कहा कि छोड़ो भी, ये सब छोटी-छोटी जगह तो ठीक हैं, वह जो बीच में स्वर्ण-शिखरों से मंडित मंदिर है, वहां क्या करते हो? वहां ले चलो। मैं वह देखने को बड़ा आतुर हूं।

लेकिन न मालूम क्या हो कि जैसे ही सम्राट उस बीच में उठे शिखर वाले मंदिर की बात करे, बांकेई एकदम बहरा हो जाए, वह सुने ही न। एक दफा सम्राट ने सोचा कि शायद चूक गया, ख्याल में नहीं आया। फिर दुबारा जोर से कहा कि और सब बातें तो तुम ठीक से सुन लेते हो! यह स्नानगृह देखने मैं नहीं आया, यह भोजनालय देखने मैं नहीं आया, उस मंदिर में क्या करते हो? लेकिन बांकेई एकदम चुप हो गया, वह सुनता ही नहीं। फिर घुमाने लगा--यहां यह होता है, यहां यह होता है।

आखिर वापस द्वार पर लौट आए, उस बीच के मंदिर में बांकेई नहीं ले गया। सम्राट घोड़े पर बैठने लगा और उसने कहा, या तो मैं पागल हूं या तुम पागल हो। जिस जगह को मैं देखने आया था, तुमने दिखाई ही नहीं।

तुम आदमी कैसे हो? और मैं बार-बार कहता हूं कि उस मंदिर में ले चलो, वहां क्या करते हैं? तुम एकदम बहरे हो जाते हो। सब बात सुनते हो, इसी बात में बहरे हो जाते हो!

बांकेई ने कहा, आप नहीं मानते तो मुझे उत्तर देना पड़ेगा। आपने कहा, वहां-वहां ले चलो, जहां-जहां भिक्षु कुछ करते हैं, तो मैं वहां-वहां ले गया। वह जो बीच में मंदिर है, वहां भिक्षु कुछ भी नहीं करते। वहां सिर्फ भिक्षु भिक्षु होते हैं। वह हमारा ध्यान मंदिर है, मेडिटेशन सेंटर है। वहां हम कुछ करते नहीं, सिर्फ होते हैं। वहां डूइंग नहीं है, वहां बीइंग है। वहां करने का मामला नहीं है। वहां जब करने से हम थक जाते हैं और सिर्फ होने का आनंद लेना चाहते हैं, तो हम वहां भीतर जाते हैं। अब मेरी मजबूरी थी, आपने कहा था, क्या करते हैं, वहां ले चलो।

अगर मैं उस भवन में ले जाता, आप पूछते कि भिक्षु यहां क्या करते हैं, तो मैं क्या कहता? और नहीं करने की बात आप समझ सकते, इसकी मुझे आशा नहीं है। अगर मैं कहता, ध्यान करते हैं, तो भी गलती होती, क्योंकि ध्यान कोई करना नहीं है, ध्यान कोई एक्शन नहीं है। अगर मैं कहता, प्रार्थना करते हैं, तो भी गलती होती; क्योंकि प्रार्थना कभी कोई कर नहीं सकता, वह कोई एक्ट नहीं है, भाव है। तो मैं मुश्किल में पड़ गया, इसलिए मुझे मजबूरी में बहरा हो जाना पड़ा। फिर मैंने सोचा, बजाय गलत बोलने के यही उचित है कि आप मुझे पागल या बहरा समझकर चले जाएं।

झेन कहता है, ध्यान अर्थात न-करना। इस न-करने में ही वह जाना जाता है, जो है। सांख्य और झेन का इस वजह से साम्य है। झेन बात नहीं करता ब्रह्म की। क्योंकि झेन का कहना यह है कि जब तक ध्यान नहीं, जब तक ज्ञान नहीं, तब तक ब्रह्म की बात व्यर्थ है। और जब ज्ञान हुआ, ध्यान हुआ, तब भी ब्रह्म की बात व्यर्थ है। क्योंकि जिसे हमने नहीं जाना, उसकी बात क्या करें! और जिसे हमने जान लिया, उसकी बात की क्या जरूरत है! इसलिए झेन चुप है, वह मौन है; वह ब्रह्म की बात नहीं करता।

लेकिन इसका यह मतलब नहीं है कि ब्रह्म नहीं जानता। यह तो निर्भर करेगा व्यक्तियों पर। सांख्य बात करता है, इसी आशा में कि शायद उसकी चर्चा--उसकी चर्चा से उसे जाना नहीं जा सकता, लेकिन उसकी चर्चा शायद किसी के मन में छिपी हुई प्यास पर चोट बन जाए। शायद उसकी चर्चा किसी के मन में चल रही आकांक्षा को मार्ग दे दे। शायद उसकी चर्चा ऊंट के लिए आखिरी तिनका सिद्ध हो जाए। कोई बिल्कुल बैठने को ही था ऊंट, एक तिनका और--एक तिनके से कहीं ऊंट बैठा है! लेकिन शायद किसी बैठते ऊंट को तिनका सिद्ध हो जाए, वह बैठ जाए।

इसलिए सांख्य बात करता है। लेकिन कैसे मिलेगा वह? कुछ करने से? नहीं; जानने से। जानना और करना, डूइंग और नोइंग का जो फर्क है, उस मामले में झेन और सांख्य बिल्कुल समान हैं। और जगत में जितने भी परम ज्ञानी हुए हैं, उन सब परम ज्ञानियों की बातों में सांख्य तो होगा ही। सांख्य से बचा नहीं जा सकता। सांख्य तो होगा ही। यह हो सकता है कि किसी की चर्चा में शुद्ध सांख्य हो। तब ऐसा आदमी बहुत कम लोगों के काम का रह जाएगा।

जैसे बुद्ध। बुद्ध की चर्चा शुद्ध सांख्य है। इसलिए हिंदुस्तान से बुद्ध के पैर उखड़ गए। क्योंकि सिर्फ जानना, सिर्फ जानना, सिर्फ जानना! करना कुछ भी नहीं! वह जो इतना बड़ा जगत है, जहां सब करने वाले इकट्ठे हैं, वे कहते हैं कि कुछ तो करने को बताओ, कुछ पाने को बताओ! बुद्ध कहते हैं, न कुछ पाने को है, न कुछ करने को। झेन जो है, वह बुद्धिज्म की शाखा है। वह शुद्धतम बुद्ध का विचार है। लेकिन हिंदुस्तान के बाहर बुद्ध के पैर जम गए--चीन में, बर्मा में, थाईलैंड में, तिब्बत में। क्योंकि जो अशुद्धि करने के लिए बुद्ध का विचार हिंदुस्तान में

राजी नहीं हुआ, तो यहां उसके पैर उखड़ गए, तो वही समझौता उसे करना पड़ा, जो यहां करने को राजी नहीं हुआ।

तिब्बत में वह करना बन गया, रिचुअल बन गया। चीन में जाकर उसने करने के लिए स्वीकृति दे दी कि ऐसा-ऐसा करो। थाईलैंड में वह करना बन गया, लंका में करना बन गया। वह कर्मयोग बना। जब तक वह सांख्य रहा शुद्ध, तब तक उसकी जड़ें फैलनी मुश्किल हो गईं।

थोड़े से लोगों की ही पकड़ में आ सकती है शुद्ध सांख्य की बात। इसलिए श्रेष्ठतम विचार सांख्य ने दिया, लेकिन सांख्य को मानने वाला आदमी हिंदुस्तान में खोजे से नहीं मिलेगा। सब तरह के, हजार तरह के मानने वाले आदमी मिल जाएंगे, सांख्य को मानने वाला आदमी नहीं मिलेगा। सांख्य के लिए समर्पित एक मंदिर नहीं है। सांख्य के जन्मदाता के लिए समर्पित एक मूर्ति नहीं है।

असल में जो एब्सोल्यूट ट्रुथ की बात करेंगे, उनको राजी होना चाहिए कि आम जनता तक उनकी खबर मुश्किल से पहुंचेगी। जो पूर्ण सत्य की बात करेंगे, उनको राजी रहना चाहिए कि उनकी बात बहुत आकाश में घूमती रहेगी। जमीन तक उतारना बहुत मुश्किल है। क्योंकि यहां जमीन पर सिर्फ अशुद्ध सत्य उतरते हैं। यहां जमीन पर जिस सत्य को भी पैर जमाने हों, उसे जमीन के साथ समझौता करना पड़ता है।

कृष्ण ने पहले नानकंप्रोमाइजिंग सांख्य की बात की। कहा कि मैं तुझे सांख्य की बुद्धि बताता हूं। लेकिन देखा कि अर्जुन के भीतर उसकी जड़ें नहीं पहुंच सकतीं। इसलिए दूसरे, सेकेंडरी वे कहते हैं, अब मैं तुझसे कर्मयोग की बात कहता हूं।

और एक बात और पूछी है कि पश्चिम में क्या सांख्य की चर्चा जिन दार्शनिकों ने की है, उनका कारण यही तो नहीं है कि सांख्य निरीश्वरवादी है?

असल में जो भी ब्रह्मवादी है, वह ईश्वरवादी हो नहीं सकता। जो भी ब्रह्मवादी है, वह ईश्वरवादी हो नहीं सकता। अगर वह ईश्वर को जगह भी देगा, तो वह माया के भीतर ही होगी जगह, बाहर नहीं हो सकती। वह इलूजन के भीतर ही होगी। या तो वह कह देगा, कोई ईश्वर नहीं है, ब्रह्म पर्याप्त है, अव्यक्त पर्याप्त है। या अगर समझौता किया उसने आपसे, तो वह कहेगा, ईश्वर है; वह भी अव्यक्त का एक रूप है, लेकिन माया के घेरे के भीतर। वह सिर्फ आपसे समझौता कर रहा है।

सांख्य के जो मौलिक सूत्र हैं, वे शुद्धतम हैं। उनमें ईश्वर की कोई जगह नहीं है। ईश्वर का मतलब समझ लेना आप, ब्रह्म का फर्क समझ लेना।

ईश्वर का मतलब है, दि क्रिएटर, सृजन करने वाला। ब्रह्म का अर्थ है, शुद्धतम जीवन की ऊर्जा। ईश्वर के पहले भी ब्रह्म है। ईश्वर भी बनते और मिटते हैं, ईश्वर भी आते और जाते हैं। ईश्वर हमारी धारणाएं हैं।

इसे ऐसा समझें कि मैं एक अंधेरी रात में चल रहा हूं। दूर, दो-चार मील दूर कुछ दिखाई पड़ता है। लगता है कि कोई पुलिस वाला खड़ा है। और मीलभर चलकर आता हूं पास, तो दिखाई पड़ता है, पुलिस वाला नहीं है, कोई झाड़ का ठूंठ है। और मीलभर चलकर आता हूं, तो पाता हूं, झाड़ का ठूंठ भी नहीं है, स्वतंत्रता का स्मारक है। जो है, वह वही है। और पता नहीं मीलभर बाद चलकर पता क्या चले! जो है, वह तो वही है। मैं आगे आता जा रहा हूं।

जो लोग ब्रह्म की यात्रा पर निकलते हैं, यात्रा के अंत पर जिसे पाते हैं, वह ब्रह्म है। और यात्रा पास आती जाती है, पास आती जाती है, उस पास आते जाते में जिसे पाते हैं, वह ईश्वर है। ईश्वर ब्रह्म को दूर से देखा गया कंसेप्शन है, धारणा है। हम सोच ही नहीं सकते ब्रह्म को। जब हम सोचते हैं, तब हम ईश्वर बना लेते हैं। निर्गुण

को हम सोच ही नहीं सकते, जब सोचते हैं तो सगुण बना लेते हैं। निराकार को हम सोच नहीं सकते, जब सोचते हैं तो उसे भी आकार दे देते हैं।

ब्रह्म मनुष्य के मन से जब देखा जाता है, तब ईश्वर निर्मित होता है। यह ईश्वर मनुष्य का निर्माण है। जैसे-जैसे आगे जाएगा, विचार छोड़ेगा, छोड़ेगा और निर्विचार होगा, उस दिन पाएगा, ईश्वर भी खो गया। अब जो शेष रह जाता है निराकार, निर्गुण, वही ब्रह्म है।

तो शुद्धतम सूत्र में तो सांख्य राजी नहीं है। क्योंकि सांख्य कहता है, बीच के मुकाम बनाने नहीं हैं। लेकिन सांख्य की भी बाद में एक दूसरी धारा फूटी। निरीश्वर सांख्य तो था ही, लेकिन वह भी हवा में खोने लगा, तो सेश्वर सांख्य भी निर्मित हुआ। कुछ लोगों ने समझौते किए और सांख्य में भी ईश्वर को जोड़ा। और कहा कि काम नहीं चलेगा, क्योंकि आदमी ब्रह्म को पकड़ नहीं पाता, उसके लिए बीच की मंजिलें बनानी पड़ेंगी। और न ही पकड़ पाए, इससे तो अच्छा है कि चार कदम चले और ईश्वर को पकड़े। फिर ईश्वर को छुड़ा लेंगे। चलने को ही जो राजी न हो, उसे चार कदम चलाओ। चार कदम चलने के बाद कहेंगे कि यह जो तुम्हें दिखाई पड़ता था, गलत दिखाई पड़ता था, इसे छोड़ो। और चार कदम चलो। हो सकता है, बीच में कई ईश्वर के मंदिर खड़े करने पड़ें--इससे पहले कि ब्रह्म का अव्यक्त, ब्रह्म का निराकार मंदिर प्रकट हो।

पश्चिम में जो सांख्य का प्रभाव है, वह निरीश्वरवादी होने की वजह से नहीं है। पश्चिम में भी जो बुद्धिमान, विचारशील आदमी पैदा हुआ है, वह भी जानता है कि बात तो सिर्फ ज्ञान की ही है, सिर्फ जान लेने की ही है। अगर हमें समझ में न आए, तो वह हमारी मजबूरी है, लेकिन बात केवल जान लेने की है। अगर इकहार्ट से पूछें, या प्लेटिनस से पूछें, या बोहेम से पूछें, तो पश्चिम में भी जो आदमी जानता है, वह कहेगा, बात तो यही है कि सिर्फ जान लेना है, और कुछ भी नहीं करना है। जरा हिले करने के लिए--कि चूक हुई। क्योंकि करना बिना हिले न होगा। करेंगे तो हिलना ही पड़ेगा। और वह जो अकंप है, वह हम जरा भी हिले कि खोया।

उसी की तरह अकंप हो जाना पड़ेगा। जैसे दीए की लौ किसी बंद घर में--जहां हवा के झोंके न आते हों--अकंप जलती है। ऐसे ही अकर्म में व्यक्ति की चेतना अकंप हो जाती है; अकर्म में, नान-एक्शन में अकंप हो जाती है। और जैसे ही व्यक्ति की चेतना अकंप होती है, विराट की चेतना से एक हो जाती है।

पश्चिम में भी प्रभाव सांख्य का है। और मैं मानता हूं कि जैसे-जैसे मनुष्य की बुद्धि और विकसित होगी, सांख्य और भी प्रभावी होता चला जाएगा। भारत में उतना प्रभाव सांख्य का नहीं है। भारत में प्रभाव योग का है, जो कि बिल्कुल ही दूसरी, उलटी बात है। योग कहता है, कुछ करना पड़ेगा। योग मनुष्य की निम्नतम बुद्धि से चलता है। सांख्य मनुष्य की श्रेष्ठतम बुद्धि से चलता है।

स्वभावतः, जो श्रेष्ठतम से शुरू करेगा, वह आखिर तक नहीं आ पाएगा। और अक्सर ऐसा होता है कि जो आखिरी से शुरू करेगा, वह चाहे तो श्रेष्ठतम तक पहुंच जाए।

सांख्य शुद्धतम ज्ञान है, योग शुद्धतम क्रिया है। और अगर हम सारी दुनिया के चिंतन को दो हिस्सों में बांटना चाहें, तो सांख्य और योग दो शब्द काफी हैं। जिनका भी करने पर भरोसा है, उनको योग में; और जिनको न-करने पर भरोसा है, सिर्फ जानने पर भरोसा है, उनको सांख्य में। असल में जगत में सांख्य और योग के अतिरिक्त कुछ भी नहीं है। बाकी सब इन दो केटेगरी में कहीं न कहीं खड़े होंगे। चाहे दुनिया के किसी कोने में कोई चिंतन पैदा हुआ हो जीवन के प्रति, बस दो ही विभाजन में बांटा जा सकता है।

असल में पूरब और पश्चिम की फिलासफी बांटनी बंद करनी चाहिए; जैन, हिंदू, मुसलमान की फिलासफी बांटनी बंद करनी चाहिए; सिर्फ दो विभाजन किए जाने चाहिए, योग और सांख्य। योग पर वे आस्थाएं, जो कहती हैं, कुछ करने से होगा। सांख्य पर वे आस्थाएं, जो कहती हैं, कुछ न करने से ही होता है।

नेहाभिक्रमनाशोऽस्ति प्रत्यवायो न विद्यते।

स्वल्पमप्यस्य धर्मस्य त्रायते महतो भयात्।। 40।।

इस निष्काम कर्मयोग में आरंभ का अर्थात बीज का नाश नहीं है, और उलटा फलस्वरूप दोष भी नहीं होता है, इसलिए इस निष्काम कर्मयोगरूप धर्म का थोड़ा भी साधन, जन्म-मृत्युरूप महान भय से उद्धार कर देता है।

कृष्ण कह रहे हैं कि निष्काम कर्म का कोई भी कदम व्यर्थ नहीं जाता है। इसे समझना जरूरी है। निष्काम कर्म का छोटा-सा प्रयास भी व्यर्थ नहीं जाता है। लेकिन इससे उलटी बात भी समझ लेनी चाहिए। सकाम कर्म का बड़े से बड़ा प्रयास भी व्यर्थ ही जाता है।

एक घर में मैं अभी ठहरा था। चिंतित थे, जिनके घर रुका था। रात नींद नहीं आती थी, तो मैंने पूछा, बात क्या है? उन्होंने कहा, क्या बताएं, बड़ी मुसीबत टूट पड़ी है, पांच लाख का नुकसान हो गया। स्वभावतः, पांच लाख का नुकसान लगा हो, तो बड़ी मुसीबत टूट ही गई है। मैंने उनकी पत्नी को पूछा, क्या हो गया? कैसे नुकसान लग गया पांच लाख का? उनकी पत्नी ने कहा, आप इनकी बातों में मत पड़ जाना। पांच लाख का नुकसान नहीं लगा है, पांच लाख का लाभ हुआ है!

मैं तो बहुत मुश्किल में पड़ गया। मैंने कहा कि क्या कहती हो! उसने कहा, बिल्कुल ठीक कहती हूं। उनको दस लाख के लाभ की आशा थी, पांच लाख का ही लाभ हुआ है, इसलिए उनको पांच लाख का नुकसान हो गया है। नींद हराम है, दवाएं चल रही हैं, ब्लड-प्रेशर बढ़ा हुआ है। कोई उपाय नहीं है उनको समझाने का कि पांच लाख का लाभ हुआ है!

मैंने उनसे पूछा। तो उन्होंने कहा कि वह पांच लाख क्या, दस लाख होने ही वाले थे। पंद्रह भी हो सकते थे। पांच का कोई सवाल ही नहीं है। पांच का तो सुनिश्चित नुकसान हुआ है।

अब यह सकाम बुद्धि है, यह सदा असफल होती है; सदा असफल होती है। लाभ हो, तो भी हानि होती है सकाम बुद्धि में। क्योंकि अपेक्षा का कोई अंत नहीं है। जो भी मिलता है, सदा छोटा पड़ता है। जो भी सफलता मिलती है, वह भी किसी बड़ी असफलता के सामने फीकी लगती है। कुछ भी मिल जाए, तो भी तृप्ति नहीं है। कुछ भी मिल जाए, तो भी संतोष की कहीं कोई झलक नहीं आती। सकाम कर्म असफल होने को बाध्य है। असफलता में नहीं है उसका राज, उसका राज सकाम होने में है।

अब कृष्ण कहते हैं, निष्काम कर्म का छोटा-सा भी कृत्य सफल ही होता है। होगा ही, क्योंकि असफलता का कोई उपाय नहीं है। जब निष्काम है, तो अपेक्षारहित है। इसलिए जो भी मिल जाए, वह भी बहुत है। क्योंकि कोई अपेक्षा नहीं थी, जिससे उसको छोटा बताया जा सके।

कहानी सुनी है हम सबने कि अकबर ने एक लकीर खींच दी थी दरबार में अपने, और कहा था अपने दरबारियों को कि बिना छुए इसे छोटा कर दो। वे सब हार गए थे और फिर बीरबल ने एक बड़ी लकीर उसके

पास खींच दी। उसे छुआ नहीं, काटा नहीं, पोंछा नहीं, सिर्फ एक बड़ी लकीर पास खींच दी। और वह लकीर एकदम छोटी हो गई।

अपेक्षा की बड़ी लकीर जिनके मन में खिंची है, सफलता की सभी लकीरें छोटी पड़ती हैं। अपेक्षा एंडलेस है--वह जितनी बड़ी खींची थी बीरबल ने, वह कुछ बड़ी नहीं थी--अपेक्षा की जो लकीर है, उसका कोई अंत ही नहीं है। वह दोनों छोरों पर अनंत है। जो लोग ब्रह्म को जानते हैं, वे ब्रह्म को अनंत कहते हैं। लेकिन जिन्होंने ब्रह्म को नहीं जाना, वे भी एक अनंत चीज को जानते हैं। वह अपेक्षा है, एक्सपेक्टेशन है। उस अनंत अपेक्षा के पास खींची गई कोई भी सफलता सदा छोटी पड़ती है।

लेकिन कृष्ण कह रहे हैं कि अपेक्षा की लकीर मिटा दो। निष्काम कर्म का अर्थ यही है--अपेक्षारहित, फल की आकांक्षारहित, कामनारहित। स्वभावतः, बड़ी होशियारी की बात उन्होंने कही है। वे कह रहे हैं कि अगर अपेक्षा की लकीर मिटा दो, तो फिर छोटा-सा भी कर्म तृप्ति ही लाता है। क्योंकि कितना ही छोटा हो, तो भी बड़ा ही होता है, क्योंकि तौलने के लिए कोई नीचे लकीर नहीं होती। इसलिए निष्कामकर्मी कभी भी विषाद को उपलब्ध नहीं होता है। सिर्फ सकामकर्मी विषाद को उपलब्ध होता है। फ्रस्ट्रेशन जो है, वह सकाम कर्म की छाया है। निष्काम कर्म की कोई छाया नहीं बनती, कोई विषाद नहीं बनता।

इसलिए एक बहुत मजे की बात ध्यान में ले लेनी जरूरी है, गरीब आदमी ज्यादा विषाद को उपलब्ध नहीं होता, अमीर आदमी ज्यादा विषाद को उपलब्ध होता है। होना नहीं चाहिए ऐसा। बिल्कुल नियम को तोड़कर चलती हुई बात मालूम पड़ती है। गरीब समाज ज्यादा परेशान नहीं होते, अमीर समाज बहुत परेशान हो जाते हैं। क्या कारण होगा?

असल में गरीब आदमी अनंत अपेक्षा की हिम्मत नहीं जुटा पाता। वह जानता है अपनी सीमा को। वह जानता है कि क्या हो सकता है, क्या नहीं हो सकता है। अपने वश के बाहर है बात, वह अनंत अपेक्षा की रेखा नहीं बनाता। इसलिए फ्रस्ट्रेशन को उपलब्ध नहीं होता। इसलिए विषाद को उपलब्ध नहीं होता। अमीर आदमी, जिसके पास सुविधा है, संपन्नता है, अपेक्षा की रेखा को अनंत गुना बड़ा करने की हिम्मत जुटा लेता है। बस, उसी के साथ विषाद उत्पन्न हो जाता है।

पाल गुडमेन ने अमेरिका के संबंध में एक किताब लिखी है, ग्रोइंग अप एब्सर्ड। उसमें उसने एक बहुत मजे की बात कही है। उसने कहा है कि मनुष्य जाति ने जिन-जिन सुविधाओं की आकांक्षा की थी, वे सब पूरी हो गई हैं अमेरिका में। मनुष्य जाति ने जो-जो सपने देखे थे, उनसे भी आगे अमेरिका में सफलता मिल गई। लेकिन अमेरिका में जो आदमी है, आज उससे दुखी आदमी बस्तर के जंगल में भी नहीं है। क्या, हो क्या गया? यह एब्सर्डिटी कहां से आई? यह अजीब बात है कि जो-जो आदमी करोड़ों साल से अपेक्षा कर रहा था, वह सब फलित हो गई है। सब सपने पूरे हो गए हैं। यह क्या हो गया लेकिन? हुआ क्या?

हुआ यह कि सब शक्ति हाथ में होने पर अपेक्षाएं एकदम अनंत हो गईं। इसलिए जो भी पास में है, एकदम छोटा पड़ गया। बस्तर के आदिवासी की बहुत बड़ी अपेक्षा की सामर्थ्य नहीं है, जो भी हाथ में है, काफी बड़ा है।

इसलिए दुनिया में गरीब आदमी कभी बगावत नहीं करते। गरीब आदमी अपेक्षा ही नहीं करते कि बगावत कर सकें। दुनिया में बगावत शुरू होती है, जब गरीब आदमी के पास अपेक्षाएं दिखाई पड़ने लगती हैं निकट; तब उपद्रव शुरू होता है। दुनिया में अशिक्षित आदमी बगावत नहीं करते, क्योंकि अपेक्षा बांध नहीं पाते। शिक्षित आदमी उपद्रव शुरू करते हैं। क्योंकि जैसे ही शिक्षा हुई, अपेक्षाएं एकदम विस्तार लेने लगती हैं।

शिक्षित आदमी को शांत करना मुश्किल है। मैं नहीं कहता कि शिक्षित नहीं करना चाहिए; यह मैं नहीं कह रहा हूं। शिक्षित आदमी को शांत करना मुश्किल है। अभी तक तो कोई उपाय नहीं खोजा जा सका।

एक बहुत बड़े विचारक ने तो एक किताब लिखी है, कंपल्सरी मिसएजुकेशन। जिसको हम अनिवार्य शिक्षा कहते हैं, वह उसको अनिवार्य कुशिक्षा... । क्योंकि अगर अंततः आदमी सिर्फ दुखी और अशांत ही होता हो, तो अ, ब, स, द सीख लेने से भी क्या हो जाने वाला है! अगर समृद्धि सिर्फ विषाद ही लाती हो, तो ऐसी समृद्धि से दरिद्रता बेहतर मालूम पड़ सकती है।

लेकिन राज क्या है? सीक्रेट सिर्फ इतना-सा है, समृद्धि से कोई लेना-देना नहीं है, अगर अपेक्षा की धारा बहुत ज्यादा न हो, तो समृद्ध आदमी भी शांत हो सकता है। और अगर अपेक्षा की धारा बहुत बड़ी हो, तो दरिद्र भी अशांत हो जाएगा। अगर अपेक्षा शून्य हो, तो शिक्षित भी शांत हो सकता है। अगर अपेक्षा विराट हो, तो अशिक्षित भी अशांत हो जाता है। प्रश्न शिक्षित-अशिक्षित, धन और दरिद्रता का नहीं है। प्रश्न सदा ही गहरे में अपेक्षा का है, एक्सपेक्टेशन का है।

तो वह कृष्ण कह रहे हैं कि निष्काम कर्म की तुझसे मैं बात कहता हूं और इसलिए कहता हूं, क्योंकि निष्काम कर्म को करने वाला व्यक्ति कभी भी असफलता को उपलब्ध नहीं होता है। यह पहली बात। और दूसरी बात वे यह कह रहे हैं कि निष्काम कर्म में छोटा-सा भी विघ्न, छोटी-सी भी बाधा नहीं आती। क्यों नहीं आती? निष्काम कर्म में ऐसी क्या कीमिया है, क्या केमिस्ट्री है कि बाधा नहीं आती, कोई प्रत्यवाय पैदा नहीं होता!

है। बाधा भी तो अपेक्षा के कारण ही दिखाई पड़ती है। जिसकी अपेक्षा नहीं है, उसे बाधा भी कैसे दिखाई पड़ेगी? गंगा बहती है सागर की तरफ, अगर वह पहले से एक नक्शा बना ले और पक्का कर ले कि इस-इस रास्ते से जाना है, तो हजार बाधाएं आएंगी रास्ते में। क्योंकि कहीं किसी ने मकान बना लिया होगा गंगा से बिना पूछे, कहीं कोई पहाड़ खड़ा हो गया होगा गंगा से बिना पूछे, कहीं चढ़ाई होगी गंगा से बिना पूछे। और नक्शा वह पहले बना ले, तो फिर बाधाएं हजार आएंगी। और यह भी हो सकता है कि बाधाओं से लड़-लड़कर गंगा इतनी मुश्किल में पड़ जाए कि सागर तक कभी पहुंच ही न पाए।

लेकिन गंगा बिना ही नक्शे के, बिना प्लानिंग के चल पड़ती है। रास्ता पहले से अपेक्षा में न होने से, जो भी मार्ग मिल जाता है, वही रास्ता है। बाधा का कोई प्रश्न ही नहीं है। अगर पहाड़ रास्ते में पड़ता है, तो किनारे से गंगा बह जाती है। पहाड़ से रास्ता बनाना किसको था, जिससे पहाड़ बाधा बने!

जो लोग भी भविष्य की अपेक्षा को सुनिश्चित करके चलते हैं, अपने हाथ से बाधाएं खड़ी करते हैं। क्योंकि भविष्य आपका अकेला नहीं है। किस पहाड़ ने बीच में खड़े होने की पहले से योजना कर रखी होगी, आपको कुछ पता नहीं है।

जो भविष्य को निश्चित करके नहीं चलता, जो अभी कर्म करता है और कल कर्म का क्या फल होगा, इसकी कोई फिक्स्ड, इसकी कोई सुनिश्चित धारणा नहीं बनाता, उसके मार्ग में बाधा आएगी कैसे? असल में उसके लिए तो जो भी मार्ग होगा, वही मार्ग है। और जो भी मार्ग मिलेगा, उसी के लिए परमात्मा को धन्यवाद है। उसको बाधा मिल ही नहीं सकती।

इसलिए कृष्ण कहते हैं, अर्जुन, निष्काम कर्म की यात्रा पर जरा-सा भी प्रत्यवाय नहीं है, जरा-सी भी बाधा नहीं है, जरा-सा भी हिंडरेंस है ही नहीं। पर बड़ी होशियारी की, बड़ी कलात्मक बात है, बहुत आर्टिस्टिक बात है। एकदम से ख्याल में नहीं आएगी। एकदम से ख्याल में नहीं आएगी कि बाधा क्यों नहीं है? क्या निष्काम कर्म करने वाले आदमी को बाधा नहीं बची?

बाधाएं सब अपनी जगह हैं, लेकिन निष्काम कर्म करने वाले आदमी ने बाधाओं को स्वीकार करना बंद कर दिया। स्वीकृति होती थी अपेक्षाओं से, उनके प्रतिकूल होने से। अब कुछ भी प्रतिकूल नहीं है। निष्काम कर्म की धारणा में बहने वाले आदमी को सभी कुछ अनुकूल है। इसका यह मतलब नहीं है कि सभी कुछ अनुकूल है। असल में जो भी है, वह अनुकूल ही है, क्योंकि प्रतिकूल को तय करने का उसके पास कोई भी तराजू नहीं है। न बाधा है, न विफलता है। सब बाधाएं, सब विफलताएं सकाम मन की निर्मितियां हैं।

प्रश्नः भगवान श्री, श्लोक के उत्तरार्द्ध में-- स्वल्पमप्यस्य धर्मस्य त्रायते महतो भयात्--इस धर्म का अति अल्प आचरण भी बड़े भय से बचाता है, इसे भी समझाएं।

निष्काम कर्म का अल्प आचरण भी बड़े-बड़े भयों से बचाता है। बड़े-बड़े भय क्या हैं? बड़े-बड़े भय यही हैं--असफलता तो नहीं मिलेगी! विषाद तो हाथ नहीं आएगा! दुख तो पल्ले नहीं पड़ेगा! कोई बाधा तो न आ जाएगी! निराशा तो नहीं मिलेगी! बड़े-बड़े भय यही हैं। कृष्ण कह रहे हैं, सूत्र के अंतिम हिस्से में, कि निष्काम कर्म का थोड़ा-सा भी आचरण, अंशमात्र आचरण भी, रत्तीभर आचरण भी, पहाड़ जैसे भयों से मनुष्य को मुक्ति दिला देता है।

असल में जब तक विपरीत दशा को न समझ लें, ख्याल में नहीं आएगा। जरा-सी अपेक्षा पहाड़ों जैसे भय को निर्मित कर देती है। जरा-सी कामना, पहाड़ों जैसे दुखों का निर्माण कर देती है। जरा-सी इच्छा पर जोर, जरा-सा आग्रह कि ऐसा ही हो, सारे जीवन को अस्तव्यस्त कर जाता है। जिसने भी कहा, ऐसा ही हो, वह दुख पाएगा ही। ऐसा होता ही नहीं। जिसने भी कहा, ऐसा ही होगा, तो ही मैं सुखी हो सकता हूं, उसने अपने नर्क का इंतजाम स्वयं ही कर लिया। वह आर्किटेक्ट है अपने नर्क का खुद ही; उसने सब व्यवस्था अपने लिए कर ली है।

हम जितने दुख झेल रहे हैं, कभी आपने सोचा कि कितनी छोटी अपेक्षाओं पर खड़े हैं! कितनी छोटी अपेक्षाओं पर! नहीं देखा कभी। हम जो दुख झेल रहे हैं, कितनी छोटी अपेक्षाओं पर खड़े हैं!

एक आदमी रास्ते से निकल रहा है। आपने सदा उसको नमस्कार किया था, आज आप नमस्कार नहीं करते हैं, ये दो हाथ ऊपर नहीं उठे आज। उसकी नींद हराम है, वह परेशान है, उसे बुखार चढ़ आया है! अब वह सोचने लगा कि क्या हो गया, कोई बदनामी हो गई, इज्जत हाथ से चली गई, प्रतिष्ठा मिट्टी में मिल गई। जिस आदमी ने सदा नमस्कार की, उसने नमस्कार नहीं किया! क्या होगा? क्या नहीं होगा? अब उसको कैसे बदला चुकाना, और क्या नहीं करना--वह हजार-हजार चक्करों में पड़ गया है। इस आदमी के ये दो हाथों का न उठना, हो सकता है उसकी जिंदगी के सारे भवन को उदासी से भर जाए।

पति घर आया है और उसने कहा, पानी लाओ। और पत्नी नहीं लाई दो क्षण। सब दुख हो गया! पति घर से बाहर निकला; राह चलती किसी स्त्री को उसने आंख उठाकर देख लिया; पत्नी के प्राण अंत हो गए! पत्नी मरने जैसी हालत में हो गई; जीने का कोई अर्थ नहीं रहा, जीना बिल्कुल बेकार है!

हम अगर अपने दुखों के पहाड़ को देखें, तो बड़ी क्षुद्र अपेक्षाएं उनके पीछे खड़ी मिलती हैं। यहीं से समझना उचित होगा। क्योंकि निष्काम कर्म का तो अंश भी हमें पता नहीं, लेकिन सकाम कर्म के काफी अंश हमें पता हैं। यहीं से समझना उचित होगा। उसके विपरीत निष्काम कर्म की स्थिति है। कितनी क्षुद्र अपेक्षाएं कितने विराट दुख को पैदा करती चली जाती हैं!

यह जो इतना बड़ा महाभारत हुआ, जानते हैं कितनी क्षुद्र-सी घटना से शुरू हुआ? इतना बड़ा यह युद्ध, यह इतनी-सी क्षुद्र घटना से शुरू हुआ! बहुत ही क्षुद्र घटना से, मजाक से, एक जोक। दुनिया के सभी युद्ध मजाक से शुरू होते हैं।

दुर्योधन आया है। और पांडवों ने एक मकान बनाया है। और अंधे के बेटे की वे मजाक कर रहे हैं। उसमें उन्होंने आईने लगाए हुए हैं। और इस तरह से लगाए हुए हैं कि दुर्योधन को, जहां दरवाजा नहीं है, वहां दरवाजा दिखाई पड़ जाता है; जहां पानी है, वहां पानी दिखाई नहीं पड़ता। उसका दीवार से सिर टकरा जाता है, पानी में गिर पड़ता है। द्रौपदी हंसती है। वह हंसी सारे महाभारत के युद्ध का मूल है। उस हंसी का बदला फिर द्रौपदी को नंगा करके चुकाया जाता है। फिर यह बदला चलता है। बड़ी ही क्षुद्र-सी घटना, जस्ट ए जोक, एक मजाक, लेकिन बहुत महंगा पड़ा है। मजाक बढ़ता ही चला गया। फिर उसके कोई आर-पार न रहे और उसने इस पूरे मुल्क को मथ डाला।

एक स्त्री का हंसना! एक घर में चचेरे भाइयों की आपसी मजाक! कभी सोचा भी न होगा कि हंसी इतनी महंगी पड़ सकती है। लेकिन उन्हें पता नहीं कि दुर्योधन की भी अपेक्षाएं हैं। चोट अपेक्षाओं को लग गई। चोट अपेक्षाओं को लग गई। दुर्योधन ने सोचा भी नहीं था कि उस पर हंसा जाएगा--निमंत्रण देकर। उसने सोचा भी नहीं था कि उसका इस तरह मखौल और मजाक उड़ाया जाएगा। वह आया होगा सम्मान लेने; मिला मजाक। उपद्रव शुरू हो गया।

फिर उस उपद्रव के भयंकर परिणाम हुए। जिन परिणामों से मैं नहीं सोचता हूं कि आज तक भी भारत पूरी तरह मुक्त हो पाया है। वह महाभारत में जो घटित हुआ था, उसके परिणाम की प्रतिध्वनि आज भी भारत के प्राणों में चलती है।

जगत में बड़े छोटे-से, छोटे-से कारण सब कुछ करते हैं।

सकाम का हमें पता है, निष्काम का हमें कुछ पता नहीं है। निष्काम कृत्य को भी ठीक ऐसे ही समझें, इसकी उलटी दिशा में। जरा-सा निष्काम भाव, और बड़े-बड़े भय जीवन के दूर हो जाते हैं।

प्रश्नः ओशो, क्या निष्काम भावना से हमारी प्रगति नहीं रुक जाती है?

पूछ रहे हैं कि निष्काम भावना से हमारी प्रगति नहीं रुक जाती है?

प्रगति का क्या मतलब होता है? अगर प्रगति से मतलब हो कि बहुत धन हो, बड़ा मकान हो, जायदाद हो, जमीन हो, तो शायद--तो शायद--थोड़ी रुकावट पड़ सकती है। लेकिन अगर प्रगति से अर्थ है, शांति हो, आनंद हो, प्रेम हो, जीवन में प्रकाश हो, ज्ञान हो, तो रुकावट नहीं पड़ती, बड़ी गति मिलती है। इसलिए आपकी प्रगति का क्या मतलब है, इस पर निर्भर करेगा।

प्रगति से आपका क्या मतलब है? अगर प्रगति से यही मतलब है जो बाहर इकट्ठा होता है, तब तो शायद थोड़ी बाधा पड़ सकती है। लेकिन बाहर सब कुछ भी मिल जाए--सारा जगत, सारी संपदा--और भीतर एक भी किरण शांति की न फूटे, तो मैं तुमसे कहता हूं कि अगर कोई तुम्हें शांति की एक किरण देने को राजी हो जाए और कहे कि छोड़ दो यह सब राज्य और यह सब धन और यह सब दौलत, तो तुम छोड़ पाओगे। छोड़ सकोगे। एक छोटी-सी शांति की लहर भी इस जगत के पूरे साम्राज्य के समतुल नहीं है।

लेकिन हम प्रगति से एक ही मतलब लेते हैं। लेकिन इसका यह भी मतलब नहीं है कि मैं ऐसा कह रहा हूं कि जो निष्काम कर्म में गति करेगा, अनिवार्य रूप से दीन और दरिद्र हो जाएगा। यह मैं नहीं कह रहा हूं। क्योंकि मन शांत हो, तो दरिद्र होने की कोई अनिवार्यता नहीं है। क्योंकि शांत मन जिस दिशा में भी काम करेगा, ज्यादा कुशल होगा। धन भी कमाएगा, तो भी ज्यादा कुशल होगा। हां, एक फर्क पड़ेगा कि धन कमाने का अर्थ चोरी नहीं हो सकेगा। शांत मन के लिए धन कमाने का अर्थ धन कमाना ही होगा, चोरी नहीं। धन निर्मित करना होगा।

शांत मन हो, तो आदमी जो भी करेगा, कुशल हो जाता है। उसके मित्र ज्यादा होंगे, उसकी कुशलता ज्यादा होगी, उसके पास शक्ति ज्यादा होगी, समझ ज्यादा होगी। इसलिए ऐसा नहीं कह रहा हूं कि वैसा आदमी अनिवार्य रूप से दरिद्र होगा। भीतरी तो समृद्धि होगी ही, लेकिन भीतरी समृद्धि बाहरी समृद्धि को लाने का भी आधार बनती है, लेकिन गौण होगी। भीतरी समृद्धि के बचते, भीतरी समृद्धि के रहते हुए मिलती होगी--नाट एट दि कास्ट, कीमत न चुकानी पड़ती होगी भीतरी समृद्धि की--तो बाहरी समृद्धि भी आएगी। हां, सिर्फ उसी जगह बाधा पड़ेगी, जहां बाहरी समृद्धि कहेगी कि भीतरी शांति और आनंद खोओ, तो मैं मिल सकती हूं। तो वैसा निष्कामकर्मी कहेगा कि मत मिलो, यही तुम्हारी कृपा है। जाओ।

प्रगति का क्या अर्थ है, इस पर सब निर्भर करता है। अगर सिर्फ दौड़ना ही प्रगति है--कहीं भी दौड़ना, बिना कहीं पहुंचे--तब बात अलग है। लेकिन कहीं अगर पहुंचना प्रगति है, तो फिर बात बिल्कुल अलग होगी। अगर आप यह कहते हों कि एक आदमी पागल है और हम उससे कहें कि तुम्हारे दिमाग का इलाज किए देते हैं। और वह कहे, दिमाग का इलाज तो आप कर देंगे, लेकिन इससे मेरी प्रगति में बाधा तो नहीं पड़ेगी? क्योंकि अभी मैं जितनी तेजी से दौड़ता हूं, कोई दूसरा नहीं दौड़ पाता। हम कहेंगे, बाधा पड़ेगी। अभी तुम्हारी जैसी तेजी से कोई भी नहीं दौड़ पाता, लेकिन तुम इतनी तेजी से दौड़कर भी कहीं नहीं पहुंचते और धीमे चलने वाले लोग भी पहुंच जाते हैं। बस, इतना ही ख्याल हो, तो बात समझ में आ सकती है।

व्यवसायात्मिका बुद्धिरेकेह कुरुनन्दन।

बहुशाखा ह्यनन्ताश्च बुद्धयोऽव्यवसायिनाम्।। 41।।

हे अर्जुन, इस कल्याणमार्ग में निश्चयात्मक-बुद्धि एक ही है और अज्ञानी (सकामी) पुरुषों की बुद्धियां बहुत भेदों वाली अनंत होती हैं।

मनुष्य का मन एक हो सकता है, अनेक हो सकता है। मनुष्य का चित्त अखंड हो सकता है, खंड-खंड हो सकता है। मनुष्य की बुद्धि स्वविरोधी खंडों में बंटी हुई हो सकती है, विभाजित हो सकती है, अविभाजित भी हो सकती है। साधारणतः विषयी चित्त, इच्छाओं से भरे चित्त की अवस्था एक मन की नहीं होती है, अनेक मन की होती है; पोलीसाइकिक, बहुचित्त होते हैं। और ऐसा ही नहीं कि बहुचित्त होते हैं, एक चित्त के विपरीत दूसरा चित्त भी होता है।

मैं कुछ दिन पहले दिल्ली में था। एक मित्र, बड़े शिक्षाशास्त्री हैं, किसी विश्वविद्यालय के पहले कुलपति थे, फिर अब और भी बड़े पद पर हैं। वे मुझसे पूछने आए कि हम शिक्षित तो कर रहे हैं लोगों को, लेकिन बेईमानी, झूठ, दगा, फरेब, सब बढ़ता चला जाता है! हम अपने बच्चों को बेईमानी, दगा, फरेब, झूठ से कैसे रोकें? तो मैंने उनसे पूछा कि दूसरों के बच्चों की पहले छोड़ दें। क्योंकि दूसरों के बच्चों को दगा, फरेब से रोकने

को कोई भी तैयार हो जाता है। मैं आपके बच्चों की बात करना चाहता हूं। दूसरों के बच्चों को दगा, फरेब से रोकने में कौन सी कठिनाई है! दूसरे का बेटा संन्यासी हो जाए, तो सब मुहल्ले के लोग उसको स्वागत- धन्यवाद देने आते हैं। उनका बेटा हो, तब पता चलता है!

मैंने उनसे पूछा, दूसरों के बच्चों की बात छोड़ दें। आपके भी लड़के हैं! उन्होंने कहा, हैं। लेकिन वे कुछ डरे हुए मालूम पड़े, जैसे ही मैंने कहा कि आपके बच्चों की सीधी बात की जाए। मैंने उनसे पूछा कि मैं आपसे यह पूछता हूं, आप अपने बच्चों को दगा, फरेब, झूठ, खुशामद, बेईमानी--ये जो हजार बीमारियां इस समय मुल्क में हैं--इन सब से छुटकारा दिलाना चाहते हैं? उन्होंने बड़े डरते से मन से कहा कि हां, दिलाना चाहता हूं। लेकिन मैंने कहा, आप इतने कमजोर मन से कह रहे हैं हां, कि मैं फिर से पूछता हूं, थोड़ी हिम्मत जुटाकर कहिए। उन्होंने कहा कि नहीं-नहीं, मैं तो दिलाना ही चाहता हूं।

मैंने कहा, लेकिन आप हिम्मत नहीं जुटाते। आप जितनी ताकत से पहले मुझसे बोले कि सब बर्बाद हुआ जा रहा है, हम मुल्कभर के बच्चों को कैसे ईमानदारी सिखाएं! उतने जोर से आप अब नहीं कहते। उन्होंने कहा कि आपने मेरा कमजोर हिस्सा छू दिया है। आपने मेरी नस पकड़ ली है। मैंने कहा कि नस पकड़कर ही बात हो सकती है, अन्यथा तो कोई बात होती नहीं। इस मुल्क में हर आदमी बिना नस पकड़े बात करता रहता है, तो कोई मतलब ही नहीं होता है। तो मैं नस ही पकड़ना चाहता हूं।

तो उन्होंने कहा कि नहीं, इतनी हिम्मत से तो नहीं कह सकता। मैंने कहा, क्यों नहीं कह सकते? तो उन्होंने कहा कि मैं जानता हूं। इतना तो मैं चाहता हूं कि जितने ऊंचे पद तक मैं उठा, कम से कम मेरा लड़का भी उठे। और यह भी मैं जानता हूं कि अगर वह पूरा ईमानदार हो, नैतिक हो, तो नहीं उठ सकता। तो फिर मैंने कहा, दो मन हैं आपके। दो में से एक साफ तय करिए--या तो कहिए कि लड़का सड़क पर भीख मांगे, इसके लिए मैं राजी हूं, लेकिन बेईमानी नहीं। और या फिर कहिए कि लड़का बेईमान हो, मुझे कोई मतलब नहीं; लड़का शिक्षा मंत्रालय में होना चाहिए। एजुकेशन मिनिस्ट्री में पहुंचे बिना हमें कोई चैन नहीं है। बेईमानी से हमें कोई मतलब नहीं। साफ बात कहिए। और नहीं तो आप अपने लड़के में भी डबल माइंड पैदा कर देंगे।

वह लड़का भी समझ जाएगा कि बाप चाहता है कि शिक्षामंत्री होने तक पहुंचो। और देखता है कि शिक्षामंत्री होने तक की यात्रा, सीढ़ी दर सीढ़ी बेईमानी और चोरी की यात्रा है। दूसरी तरफ बाप कहता है कि ईमानदार बनो। और ईमानदार की इस जगत में हालत ठीक वैसी है, जैसी कि नाइबर ने एक किताब लिखी है, मारल मैन इन इम्मारल सोसाइटी--नैतिक आदमी अनैतिक समाज में। सड़क पर भीख मांगने की तैयारी होनी ही चाहिए। यद्यपि नैतिक होकर सड़क पर भीख मांगने में जितना आनंद है, उतना अनैतिक होकर सम्राट हो जाने में भी नहीं है। लेकिन वह दूसरी बात है।

ये दोनों बातें लड़के के दिमाग में होंगी, तो लड़के के दो मन हो जाएंगे। तब तो वह यही कर सकता है ज्यादा से ज्यादा, कि उसको कोई इंतजाम भीतरी करना पड़ेगा। कोई कोएलिशन गवर्नमेंट तो भीतर बनानी पड़ेगी न! इन सब उपद्रवी विरोधी तत्वों के बीच कोई तो समझौता करके, कोई संविद सरकार निर्मित करनी पड़ेगी! तो फिर यही होगा कि जब बाहर दिखाना हो तो ईमानदारी दिखाओ और जब भीतर करना हो तो बेईमानी करो। क्योंकि मंत्री के पद तक पहुंचना ही है और ईमानदारी बड़ी अच्छी चीज है, उसको भी दिखाना ही है।

चित्त हमारा बंट जाता है अनेक खंडों में, और विपरीत आकांक्षाएं एक साथ पकड़ लेती हैं। और अनंत इच्छाएं एक साथ जब मन को पकड़ती हैं, तो अनंत खंड हो जाते हैं। और एक ही साथ हम सब इच्छाओं को

करते चले जाते हैं। एक आदमी कहता है, मुझे शांति चाहिए, और साथ ही कहता है, मुझे प्रतिष्ठा चाहिए। उसे कभी ख्याल में नहीं आता कि वह क्या कह रहा है!

एक मित्र मेरे पास आए। आते ही से मुझसे बोले कि मैं अरविंद आश्रम हो आया, रमण आश्रम हो आया, शिवानंद के आश्रम हो आया, सब आश्रम छान डाले, कहीं शांति नहीं मिलती है। अभी मैं पांडिचेरी से सीधा चला आ रहा हूं। किसी ने आपका नाम ले दिया, तो मैंने कहा आपके पास भी जाकर शांति--तो मुझे शांति दें।

तो मैंने कहा कि इसके पहले कि तुम मुझसे भी निराश होओ, एकदम उलटे लौटो और वापस हो जाओ। मैं तुम्हें शांति नहीं दूंगा। और तुम कुछ इस तरह कह रहे हो कि जैसे अरविंद आश्रम ने तुम्हें शांति देने का कोई ठेका ले रखा है। सब जगह हो आया, कहीं नहीं मिली! जैसे कि मिलना कोई आपका अधिकार था। बाहर हो जाओ दरवाजे के!

उन्होंने कहा, आप कैसे आदमी हैं! मैं शांति खोजने आया हूं। मैंने कहा, अशांति खोजने कहां गए थे? अशांति खोजने किस आश्रम में गए थे, यह मुझे पहले बता दो। कहा, कहीं नहीं गया था। तो मैंने कहा, जब तुम अशांति तक पैदा करने में कुशल हो, तो शांति भी पैदा कर सकते हो। मेरी क्या जरूरत है? जिस रास्ते से अशांत हुए हो, उसी रास्ते से वापस लौट पड़ो तो शांत हो जाओगे। मैं कहां आता हूं बीच में? अशांति के वक्त मुझसे तुमने कोई सलाह न ली थी, शांति के वक्त तुम मुझसे सलाह लेने चले आए हो! मैंने पूछा कि शांति की बात बंद। अगर मेरे पास रुकना है, तो अशांति की चर्चा करो कि अशांत कैसे हुए हो? क्या है अशांति, उसकी मुझसे बात करो। अशांति तुम्हारी स्पष्ट हो जाए, तो शांति पाना जरा भी कठिन नहीं है।

वे दो दिन मेरे पास थे। उनकी अशांति फिर धीरे-धीरे उन्होंने खोलनी शुरू की। वही थी, जो हम सब की है। एक ही लड़का है उनका। बहुत पैसा कमाया। ठेकेदारी थी। एक ही लड़का है। उस लड़के ने एक लड़की से शादी कर ली, जिससे वे नहीं चाहते थे कि शादी करे। तलवार लेकर खड़े हो गए दरवाजे पर--लाश बिछा दूंगा; बाहर निकल जाओ! लड़का बाहर निकल गया। अब मुसीबत है। अब मौत करीब आ रही है। अब किस मुंह से लड़के को वापस बुलाएं, तलवार दिखाकर निकाला था। और मौत पास आ रही है। और जिंदगीभर जिस पैसे को हजार तरह की चोरी और बेईमानी से कमाया, उसका कोई मालिक भी नहीं रह जाता और हाथ से सब छूटा जा रहा है!

तो मैंने उनसे पूछा, वह लड़की खराब थी, जिसने तुम्हारे लड़के से शादी की है? उन्होंने कहा, नहीं, लड़की तो बिल्कुल अच्छी है, लेकिन मेरी इच्छा के खिलाफ... ।

तुम्हारी इच्छा से तुम शादी करो, तुम्हारा लड़का क्यों करने लगा? अशांत होने के रास्ते खड़े कर रहे हो। फिर जब उसने शादी अपनी इच्छा से की और तुमने उसे घर से बाहर निकाल दिया, तो अब परेशान क्यों हो रहे हो? बात समाप्त हो गई। उसने तो आकर नहीं कहा कि घर में वापस लो।

कहने लगे, यही तो अशांति है। वह एक दफा आकर माफी मांग ले, अंदर आ जाए।

नहीं मानी, ठीक है। जब उसने आपकी बात नहीं मानी, तो ठीक है। बात खतम हो गई। अब आप क्यों परेशान हैं?

तो इस धन का क्या होगा?

मैंने कहा, धन का सबके मर जाने के बाद क्या होता है? और तुम्हें क्या फिक्र है? तुम मर जाओगे, धन का जो होगा, वह होगा।

कहा कि नहीं, मेरे ही लड़के के पास मेरा धन होना चाहिए। तो मैंने कहा, फिर मेरे लड़के के पास मेरी ही पसंद की औरत होनी चाहिए, यह ख्याल छोड़ो। तुम्हारा लड़का धन छोड़ने को राजी है अपने प्रेम के लिए, तुम भी कुछ छोड़ने को राजी होओ।

दो दिन मेरे पास थे, सारी बात हुई। देखा कि सब हजार तरह की उलटी-सीधी इच्छाएं मन को पकड़े हुए हैं, तो चित्त अशांत हो गया है। हम सब का मन ऐसा ही अशांत है।

कृष्ण कह रहे हैं कि विषय-आसक्त चित्त--चूंकि विषय बहुत विपरीत हैं--एक ही साथ विपरीत विषयों की आकांक्षा करके विक्षिप्त होता रहता है और खंड-खंड में टूट जाता है। जो व्यक्ति निष्काम कर्म की तरफ यात्रा करता है, अनिवार्यरूपेण--क्योंकि कामना गिरती है, तो कामना से बने हुए खंड गिरते हैं। जो व्यक्ति अपेक्षारहित जीवन में प्रवेश करता है, चूंकि अपेक्षा गिरती है, इसलिए अपेक्षाओं से निर्मित खंड गिरते हैं। उसके भीतर एकचित्तता, यूनिसाइकिकनेस, उसके भीतर एक मन पैदा होना शुरू होता है।

और जहां एक मन है, वहां जीवन का सब कुछ है--शांति भी, सुख भी, आनंद भी। जहां एक मन है, वहां सब कुछ है--शक्ति भी, संगीत भी, सौंदर्य भी। जहां एक मन है, उस एक मन के पीछे जीवन में जो भी है, वह सब चला आता है। और जहां अनेक मन हैं, तो पास में भी जो है, वह भी सब बिखर जाता है और खो जाता है। लेकिन हम सब पारे की तरह हैं--खंड-खंड, टूटे हुए, बिखरे हुए। खुद ही इतने खंडों में टूटे हैं, कि कैसे शांति हो सकती है!

जोसुआ लिएबमेन ने अपने संस्मरण लिखे हैं। संस्मरण की किताब को जो नाम दिया है, वह बहुत अच्छा है। और किताब के पहले ही हिस्से में उसने जो उल्लेख किया है, वह कीमती है। कहा कि जवान था, विश्वविद्यालय से पढ़कर लौटा था, तो मेरे मन में हुआ कि अब जीवन का एक नक्शा बना लूं कि जीवन में क्या-क्या पाना है! स्वभावतः, जीवन का एक नक्शा हो, तो जीवन को सुव्यवस्थित चलाया जा सके।

तो उसने एक फेहरिस्त बनाई। उस फेहरिस्त में लिखा कि धन चाहिए, सुंदर पत्नी चाहिए, यश चाहिए, सम्मान चाहिए, सदाचार चाहिए... । कोई बीस-बाइस बातों की फेहरिस्त तैयार की। उसमें सब आ गया, जो आदमी चाह सकता है। जो भी चाह चाह सकती है, वह सब आ गया। जो भी विषय की मांग हो सकती है, वह सब आ गया। जो भी कामना निर्मित कर सकती है, वे सब सपने आ गए। पर न मालूम, पूरी फेहरिस्त को बार-बार पढ़ता है, कि इसमें और कुछ तो नहीं जोड़ा जाना है; क्योंकि वह जीवनभर का नक्शा बनाना है।

सब खोज लेता है, कुछ जोड़ने को बचता नहीं। सब आ गया, फिर भी, समथिंग इ.ज मिसिंग। कुछ ऐसा लगता है कि कोई कड़ी खो रही है। क्यों लगता है ऐसा? क्योंकि रात सोते वक्त उसने सोचा कि मैं देखूं कि सब मुझे समझ लो कि मिल गया, जो-जो मैंने फेहरिस्त पर लिखा है, सब मिल गया--हो जाएगा सब ठीक? तो मन खाली-खाली लगता है। मन में ऐसा उत्तर नहीं आता आश्वासन से भरा, निश्चय से भरा, कि हां, यह सब मिल जाए, जो फेहरिस्त पर लिखा है, तो बस, सब मिल जाएगा। नहीं, ऐसा निश्चय नहीं आता; ऐसी निश्चयात्मक लहर नहीं आती भीतर।

तो गांव में एक बूढ़े फकीर के पास वह गया। उसने कहा कि इस गांव में सबसे ज्यादा बूढ़े तुम हो, सबसे ज्यादा जिंदगी तुमने देखी है। और तुमने जिंदगी गृहस्थ की ही नहीं देखी, संन्यासी की भी देखी है। तुमसे बड़ा अनुभवी कोई भी नहीं है। तो मैं यह फेहरिस्त लाया हूं, जरा इसमें कुछ जोड़ना हो तो बता दो।

उस बूढ़े ने पूरी फेहरिस्त पढ़ी, फिर वह हंसा और उसने कलम उठाकर वह पूरी फेहरिस्त काट दी। और पूरी फेहरिस्त के ऊपर बड़े-बड़े अक्षरों में तीन शब्द लिख दिए, पीस आफ माइंड, मन की शांति। उसने कहा,

बाकी ये सब तुम फिक्र छोड़ो; तुम यह एक चीज पा लो, तो यह बाकी सब मिल सकता है। और यदि तुमने बाकी सब भी पा लिया, तो भी ये जो तीन शब्द मैंने लिखे, ये तुम्हें कभी मिलने वाले नहीं हैं। और आखिर में निर्णय यही होगा कि यह पीस आफ माइंड, यह मन की शांति मिली या नहीं!

तो लिएबमेन ने अपनी आत्मकथा लिखी है, उसको नाम दिया है, पीस आफ माइंड। किताब को नाम दिया, मन की शांति। और लिखा कि उस दिन तो मुझे लगा कि यह बूढ़े ने सब फेहरिस्त खराब कर दी। कितनी मेहनत से बनाकर लाया हूं और इस आदमी ने सब काट-पीट कर दिया। जंची नहीं बात कुछ उसकी। लेकिन जिंदगी के अंत में लिएबमेन कहता है कि आज मैं जानता हूं कि उस बूढ़े ने फेहरिस्त काटी थी, तो ठीक ही किया था। उसने फाड़कर क्यों न फेंक दी! बेकार। आज जीवन के अंत में वे ही तीन शब्द पास घूम रहे हैं। काश, उस दिन मैं समझ जाता कि मन की शांति ही सब कुछ है, तो शायद आज तक पाया भी जा सकता था। लेकिन जिंदगी उसी फेहरिस्त को पूरा करने में बीत जाती है सबकी।

कृष्ण कह रहे हैं, यह जो विषयों की दौड़ है चित्त की, यह सिर्फ अशांति को... । अशांति का अर्थ ही सिर्फ एक है, बहुत-बहुत दिशाओं में दौड़ता हुआ मन, अर्थात अशांति। न दौड़ता हुआ मन, अर्थात शांति। कृष्ण कहते हैं, निष्काम कर्म की जो भाव-दशा है, वह एक मन और शांति को पैदा करती है। और जहां एक मन है, वहीं निश्चयात्मक बुद्धि है, दि डेफिनीटिव इंटलेक्ट, दि डेफिनीटिव इंटेलिजेंस।

इसको आखिरी बात समझ लें। तो जहां एक मन है, वहां अनिश्चय नहीं है। अनिश्चय होगा कहां? अनिश्चय के लिए कम से कम दो मन चाहिए। जहां एक मन है, वहां निश्चय है।

इसलिए आमतौर से आदमी लेकिन क्या करता है? वह कहता है कि निश्चयात्मक बुद्धि चाहिए, तो वह कहता है, जोड़-तोड़ करके निश्चय कर लो। दबा दो मन को और छाती पर बैठ जाओ, और निश्चय कर लो कि बस, निश्चय कर लिया। लेकिन जब वह निश्चय कर रहा है जोर से, तभी उसको पता है कि भीतर विपरीत स्वर कह रहे हैं कि यह तुम क्या कर रहे हो? यह ठीक नहीं है। वह आदमी कसम ले रहा है कि ब्रह्मचर्य साधूंगा, निश्चय करता हूं। लेकिन निश्चय किसके खिलाफ कर रहे हो? जिसके खिलाफ निश्चय कर रहे हो, वह भीतर बैठा है।

मैं एक बूढ़े आदमी से मिला। उस बूढ़े आदमी ने कहा कि मैंने अपनी जिंदगी में तीन बार ब्रह्मचर्य का व्रत लिया है। तो मैंने पूछा कि चौथी बार क्यों नहीं लिया? बूढ़ा आदमी ईमानदार था। बूढ़े आदमी कम ही ईमानदार होते हैं, क्योंकि जिंदगी इतनी बेईमानी सिखा देती है कि जिसका कोई हिसाब नहीं। बच्चे साधारणतः ईमानदार होते हैं। बेईमान बच्चा खोजना मुश्किल है। बूढ़े साधारणतः बेईमान होते हैं। ईमानदार बूढ़ा खोजना मुश्किल है।

पर वह बूढ़ा ईमानदार आदमी था। उसने कहा कि आप ठीक कहते हैं। आप ठीक कहते हैं, मैंने चौथी बार इसीलिए नहीं लिया कि तीन बार की असफलता ने हिम्मत ही तुड़वा दी। फिर हिम्मत भी नहीं रही कि चौथी बार ले सकूं। पर मैंने कहा, तुमने व्रत किसके खिलाफ लिया था? अपने ही खिलाफ कहीं व्रत पूरे होते हैं? जब तुमने व्रत लिया था, तब तुम्हारा पूरा मन राजी था? उसने कहा, पूरा ही मन राजी होता तो फिर क्या था! मेजारिटी माइंड से लिया था, बहुमत से लिया था।

मन कोई पार्लियामेंट नहीं है कि जिसमें आप बहुमत से पक्ष लें। मन कोई पार्लियामेंट नहीं है, कोई संसद नहीं है। और अगर संसद भी है, तो वैसी ही संसद है, जैसी दिल्ली में है। उसमें कुछ पक्का नहीं है कि जो अभी

आपके पक्ष में गवाही दे रहा था, वह दो दिन बाद विपक्ष में गवाही देगा; उसका कुछ पक्का नहीं है। आप रातभर सोकर सुबह उठोगे और पाओगे कि माइनारिटी में हो; मेजारिटी हाथ से खिसक गई है।

कृष्ण कुछ और बात कह रहे हैं। वे यह नहीं कह रहे हैं कि तुम निश्चय करो। वे यह कह रहे हैं, जो निष्काम कर्म की यात्रा पर निकलता है, उसे निश्चयात्मक बुद्धि उपलब्ध हो जाती है; क्योंकि उसके पास एक ही मन रह जाता है। विषयों में जो भटकता नहीं, जो अपेक्षा नहीं करता, जो कामना की व्यर्थता को समझ लेता है, जो भविष्य के लिए आतुरता से फल की मांग नहीं करता, जो क्षण में और वर्तमान में जीता है--वैसे व्यक्ति को एक मन उपलब्ध होता है। एक मन निश्चयात्मक हो जाता है, उसे करना नहीं पड़ता।

शेष कल सुबह बात करेंगे।

तेरहवां प्रवचन

काम, द्वंद्व और शास्त्र से--निष्काम, निर्द्वंद्व और स्वानुभव की ओर

यामिमां पुष्पितां वाचं प्रवदन्त्यविपश्चितः।

वेदवादरताः पार्थ नान्यदस्तीति वादिनः।। 42।।

कामात्मानः स्वर्गपरा जन्मकर्मफलप्रदाम्।

क्रियाविशेषबहुलां भोगैश्वर्यगतिं प्रति।। 43।।

हे अर्जुन, जो सकामी पुरुष केवल फल श्रुति में प्रीति रखने वाले, स्वर्ग को ही परम श्रेष्ठ मानने वाले, इससे बढ़कर कुछ नहीं है--ऐसे कहने वाले हैं, वे अविवेकीजन जन्मरूप कर्मफल को देने वाली और भोग तथा ऐश्वर्य की प्राप्ति के लिए बहुत-सी क्रियाओं के विस्तार वाली इस प्रकार की जिस दिखाऊ शोभायुक्त वाणी को कहते हैं।

भोगैश्वर्यप्रसक्तानां तयापहृतचेतसाम्।

व्यवसायात्मिका बुद्धिः समाधौ न विधीयते।। 44।।

उस वाणी द्वारा हरे हुए चित्त वाले, तथा भोग और ऐश्वर्य में आसक्ति वाले, उन पुरुषों के अंतःकरण में निश्चयात्मक बुद्धि नहीं होती है।

कर्मयोग की बात करते हुए कृष्ण ने अर्जुन को कहा है कि वे सारे लोग, जो सुख, कामना, विषय और वासना से उत्प्रेरित हैं, जो स्वर्ग से ऊपर जगत में कुछ भी नहीं देख पाते हैं, जिनका धार्मिक चिंतन, मनन और अध्ययन भी विषय-प्रेरित ही होता है, जो संसार में तो सुख की मांग करते ही हैं, जो परलोक में भी सुख की ही मांग किए चले जाते हैं, जिनके परलोक की दृष्टि भी वासना का ही विस्तार है, ऐसे व्यक्ति निष्काम-कर्म की गहराई को समझने में असमर्थ हैं।

कर्मयोग को अगर एक संक्षिप्त से गणित के सूत्र में कहें, तो कहना होगा, कर्म- कामना = कर्मयोग। जहां कर्म से कामना ऋण कर दी जाती है, तब जो शेष रह जाता है, वही कर्मयोग है। लेकिन कामना को शेष करने का अर्थ केवल सांसारिक कामना को शेष कर देना नहीं है, कामना मात्र को शेष कर देना है। इस बात को थोड़ा गहरे में समझ लेना जरूरी है।

संसार की कामना को शेष कर देना बहुत कठिन नहीं है, कामना मात्र को शेष करना असली तपश्चर्या है। संसार की कामना तो शेष की जा सकती है। अगर परलोक की कामना का प्रलोभन दिया जाए, तो संसार की कामना छोड़ने में कोई भी कठिनाई नहीं है। अगर किसी से कहा जाए, इस पृथ्वी पर धन छोड़ो, क्योंकि परलोक में, यहां जो थोड़ा छोड़ता है, बहुत पाता है। तो उस थोड़े को छोड़ना बहुत कठिन नहीं है। वह बार्गेन है, वह सौदा है। हम सभी छोड़ते हैं, पाने के लिए हम सभी छोड़ते हैं। पाने के लिए कुछ भी छोड़ा जा सकता है।

लेकिन पाने के लिए जो छोड़ना है, वह निष्काम नहीं है। वह पाना चाहे परलोक में हो, वह पाना चाहे भविष्य में हो, वह पाना चाहे धर्म के सिक्कों में हो, इससे बहुत फर्क नहीं पड़ता है। पाने की आकांक्षा को आधार बनाकर जो छोड़ना है, वही कामना है, वही कामग्रस्त चित्त है। वैसा चित्त कर्मयोग को उपलब्ध नहीं होता।

यहां कहा जाए पृथ्वी पर स्त्रियों को छोड़ दो, क्योंकि स्वर्ग में अप्सराएं उपलब्ध हैं, यहां कहा जाए पृथ्वी पर शराब छोड़ दो, क्योंकि बहिश्त में शराब के चश्मे बह रहे हैं, तो इस छोड़ने में कोई भी छोड़ना नहीं है। यह केवल कामना को नए रूप में, नए लोक में, नए आयाम में पुनः पकड़ लेना है। यह प्रलोभन ही है।

इसलिए जो व्यक्ति भी, कहीं भी, किसी भी रूप में पाने की आकांक्षा से कुछ करता है, वह कर्मयोग को उपलब्ध नहीं हो सकता है। क्योंकि कर्मयोग का मौलिक आधार, कामनारहित, फल की कामनारहित कर्म है। कठिन है बहुत। क्योंकि साधारणतः हम सोचेंगे कि फिर कर्म होगा ही कैसे? हम तो कर्म करते ही इसलिए हैं कि कुछ पाने को है, कोई लक्ष्य, कोई फल। हम तो चलते ही इसलिए हैं कि कहीं पहुंचने को है। हम तो श्वास भी इसीलिए लेते हैं कि पीछे कुछ होने को है। अगर पता चले कि नहीं, आगे की कोई कामना नहीं, तब तो फिर हम हिलेंगे भी नहीं, करेंगे भी नहीं। कर्म होगा कैसे?

गीता के संबंध में और कृष्ण के संदेश के संबंध में जिन लोगों ने भी चिंतन किया है, उनके लिए जो बड़े से बड़ा मनोवैज्ञानिक सवाल है, उलझाव है, वह यही है कि कृष्ण कहते हैं, कर्म वासनारहित, कामनारहित! तो कर्म होगा कैसे? क्योंकि कर्म का मोटिवेशन, कर्म की प्रेरणा कहां से उत्पन्न होती है? कर्म की प्रेरणा तो कामना से ही उत्पन्न होती है। कुछ हम चाहते हैं, इसलिए कुछ हम करते हैं। चाह पहले, करना पीछे। विषय पहले, कर्म पीछे। आकांक्षा पहले, फिर छाया की तरह हमारा कर्म आता है। अगर हम छोड़ दें चाहना, डिजायर, इच्छा, विषय, तो कर्म आएगा कैसे? मोटिवेशन नहीं होगा।

अगर हम पश्चिम के मनोविज्ञान से भी पूछें--जो कि मोटिवेशन पर बहुत काम कर रहा है--कर्म की प्रेरणा क्या है? तो पश्चिम के पूरे मनोवैज्ञानिक एक स्वर से कहते हैं कि बिना कामना के कर्म नहीं हो सकता है।

कृष्ण का मनोविज्ञान आधुनिक मनोविज्ञान से बिल्कुल उलटी बात कह रहा है। वे यह कह रहे हैं कि कर्म जब तक कामना से बंधा है, तब तक सिवाय दुख और अंधकार के कहीं भी नहीं ले जाता है। जिस दिन कर्म कामना से मुक्त होता है--परलोक की कामना से भी, स्वर्ग की कामना से भी--जिस दिन कर्म शुद्ध होता है, प्योर एक्ट हो जाता है, जिसमें कोई चाह की जरा भी अशुद्धि नहीं होती, उस दिन ही कर्म निष्काम है और योग बन जाता है।

और वैसा कर्म स्वयं में मुक्ति है। वैसे कर्म के लिए किसी मोक्ष की आगे कोई जरूरत नहीं है। वैसे कर्म का कोई मोक्ष भविष्य में नहीं है। वैसा कर्म अभी और यहीं, हियर एंड नाउ मुक्ति है। वैसा कर्म मुक्ति है। वैसे कर्म का मुक्ति फल नहीं है, वैसे कर्म की निजता ही मुक्ति है।

इसे थोड़ा समझ लेना जरूरी है, क्योंकि आगे बार-बार, उसके इर्द-गिर्द बात घूमेगी। और कृष्ण के संदेश की बुनियाद में वह बात छिपी है। क्या कर्म हो सकता है बिना कामना के? क्या बिना चाह के हम कुछ कर सकते हैं? तो फिर प्रेरणा कहां से उपलब्ध होगी? वह स्रोत कहां से आएगा, वह शक्ति कहां से आएगी, जो हमें खींचे और कर्म में संयुक्त करे?

जिस जगत में हम जीते हैं और जिस कर्मों के जाल से हम अब तक परिचित रहे हैं, उसमें शायद ही एकाध ऐसा कर्म हो जो अनमोटिवेटेड हो--शायद ही। अगर कभी ऐसा कोई कर्म भी दिखाई पड़ता हो, जो अनमोटिवेटेड मालूम होता है, जिसमें आगे कोई मोटिव, जिसमें आगे कोई पाने की आकांक्षा नहीं होती, उसमें भी थोड़ा भीतर खोजेंगे, तो मिल जाएगी।

रास्ते पर आप चल रहे हैं। आपके आगे कोई है, उसका छाता गिर गया। आप उठाकर दे देते हैं--अनमोटिवेटेड। उठाते वक्त आप यह भी नहीं सोचते कि क्या फल, क्या उपलब्धि, क्या मिलेगा? नहीं, यह सोच

नहीं होता। छाता गिरा, आपने उठाया, दे दिया। दिखाई पड़ता है, अनमोटिवेटेड है। क्योंकि न घर से सोचकर चले थे कि किसी का छाता गिरेगा, तो उठाएंगे। छाता गिरा, उसके एक क्षण पहले तक छाता उठाने की कोई भी योजना मन में न थी। छाता गिरने और छाता उठाने के बीच भी कोई चाह दिखाई नहीं पड़ती है।

लेकिन फिर भी, मनोविज्ञान कहेगा, अनकांशस मोटिवेशन है। अगर छाता देने के बाद वह आदमी धन्यवाद न दे, तो दुख होगा। छाता दबा ले और चल पड़े, तो आप चौकन्ने से खड़े रह जाएंगे कि कैसा आदमी है, धन्यवाद भी नहीं! अगर पीछे इतना भी स्मरण आता है कि कैसा आदमी है, धन्यवाद भी नहीं! तो मोटिवेशन हो गया। सचेतन नहीं था, आपने सोचा नहीं था, लेकिन मन के किसी गहरे तल पर छिपा था। अब पीछे से हम कह सकते हैं कि धन्यवाद पाने के लिए छाता उठाया? आप कहेंगे, नहीं, धन्यवाद का तो कोई विचार ही न था; यह तो पीछे पता चला।

लेकिन जो नहीं था, वह पीछे भी पता नहीं चल सकता है। जो बीज में न छिपा हो, वह प्रकट भी नहीं हो सकता है। जो अव्यक्त न रहा हो, वह व्यक्त भी नहीं हो सकता है। कहीं छिपा था, किसी अनकांशस, किसी अचेतन के तल पर दबा था, राह देखता था। नहीं, सचेतन कोई कामना नहीं थी, लेकिन अचेतन कामना थी।

जीवन में ऐसे कुछ क्षण हमें मालूम पड़ते हैं, जहां लगता है, अनमोटिवेटेड, निष्काम कोई कृत्य घटित हो गया है। लेकिन उसे भी पीछे से लौटकर देखें, तो लगता है, कामना कहीं छिपी थी। इसलिए पश्चिम का मनोविज्ञान कहेगा कि चाहे दिखाई पड़े और चाहे न दिखाई पड़े, जहां भी कर्म है, वहां कामना है; इतना ही फर्क हो सकता है कि वह चेतन है या अचेतन है।

लेकिन कृष्ण कहते हैं, ऐसा कर्म हो सकता है, जहां कामना नहीं हो। यह वक्तव्य बहुत महत्वपूर्ण है। इसे समझने के लिए दो-चार ओर से हम यात्रा करेंगे। एक छोटी-सी कहानी से आपको कहना चाहूंगा। क्योंकि जो हमारी जिंदगी में परिचित नहीं है, उसे हमें किसी और की जिंदगी में झांकना पड़े। और हमारी जिंदगी ही इति नहीं है। हमें किसी और जिंदगी में झांकना पड़े, देखना पड़े कि क्या यह संभव है? इ.ज इट पासिबल? पहले तो यही देख लें कि क्या यह संभव है? अगर संभावना दिखाई पड़े, तो शायद कल सत्य भी हो सकती है।

अकबर एक दिन तानसेन को कहा है, तुम्हारे संगीत को सुनता हूं, तो मन में ऐसा ख्याल उठता है कि तुम जैसा बजाने वाला शायद ही पृथ्वी पर हो! आगे भी कभी होगा, यह भी भरोसा नहीं आता। क्योंकि इससे ऊंचाई और क्या हो सकेगी, इसकी धारणा भी नहीं बनती है। तुम शिखर हो। लेकिन कल रात जब तुम्हें विदा किया था, सोने गया था, तो मुझे ख्याल आया, हो सकता है, तुमने भी किसी से सीखा हो, कोई तुम्हारा गुरु हो। तो मैं आज तुमसे पूछता हूं कि तुम्हारा कोई गुरु है? तुमने किसी से सीखा है?

तो तानसेन ने कहा, मैं कुछ भी नहीं हूं गुरु के सामने; जिससे सीखा है, उसके चरणों की धूल भी नहीं हूं। इसलिए वह ख्याल मन से छोड़ दें। शिखर! भूमि पर भी नहीं हूं। लेकिन आपने मुझे ही जाना है, इसलिए आपको शिखर मालूम पड़ता हूं। ऊंट जब पहाड़ के करीब आता है, तब उसे पता चलता है, अन्यथा वह पहाड़ होता ही है। पर, तानसेन ने कहा कि मैं गुरु के चरणों में बैठा हूं; मैं कुछ भी नहीं हूं। कभी उनके चरणों में बैठने की योग्यता भी हो जाए, तो समझूंगा बहुत कुछ पा लिया।

तो अकबर ने कहा, तुम्हारे गुरु जीवित हों तो तत्क्षण, अभी और आज उन्हें ले आओ, मैं सुनना चाहूंगा। पर तानसेन ने कहा, यही कठिनाई है। जीवित वे हैं, लेकिन उन्हें लाया नहीं जा सकता।

अकबर ने कहा, जो भी भेंट करनी हो, तैयारी है। जो भी! जो भी इच्छा हो, देंगे। तुम जो कहो, वही देंगे। तानसेन ने कहा, वही कठिनाई है, क्योंकि उन्हें कुछ लेने को राजी नहीं किया जा सकता। क्योंकि वह कुछ लेने

का प्रश्न ही नहीं है। अकबर ने कहा, कुछ लेने का प्रश्न नहीं है! तो क्या उपाय किया जाए? तानसेन ने कहा, कोई उपाय नहीं, आपको ही चलना पड़े। तो उन्होंने कहा, मैं अभी चलने को तैयार हूं। तानसेन ने कहा, अभी चलने से तो कोई सार नहीं है। क्योंकि कहने से वे बजाएंगे, ऐसा नहीं है। जब वे बजाते हैं, तब कोई सुन ले, बात और है। तो मैं पता लगाता हूं कि वे कब बजाते हैं। तब हम चलेंगे।

पता चला--हरिदास फकीर उसके गुरु थे, यमुना के किनारे रहते थे--पता चला, रात तीन बजे उठकर वे बजाते हैं, नाचते हैं। तो शायद ही दुनिया के किसी अकबर की हैसियत के सम्राट ने तीन बजे रात चोरी से किसी संगीतज्ञ को सुना हो। अकबर और तानसेन चोरी से झोपड़ी के बाहर ठंडी रात में छिपकर बैठे रहे। पूरे समय अकबर की आंखों से आंसू बहते रहे। एक शब्द बोला नहीं।

संगीत बंद हुआ। वापस होने लगे। सुबह फूटने लगी। राह में भी तानसेन से अकबर बोला नहीं। महल के द्वार पर तानसेन से इतना ही कहा, अब तक सोचता था कि तुम जैसा कोई भी नहीं बजा सकता। अब सोचता हूं कि तुम हो कहां! लेकिन क्या बात है? तुम अपने गुरु जैसा क्यों नहीं बजा सकते हो?

तानसेन ने कहा, बात तो बहुत साफ है। मैं कुछ पाने के लिए बजाता हूं, और मेरे गुरु ने कुछ पा लिया है, इसलिए बजाते हैं। मेरे बजाने के आगे कुछ लक्ष्य है, जो मुझे मिले, उसमें मेरे प्राण हैं। इसलिए बजाने में मेरे प्राण पूरे कभी नहीं हो सकते। बजाने में मैं सदा अधूरा हूं, अंश हूं। अगर बिना बजाए भी मुझे वह मिल जाए जो बजाने से मिलता है, तो बजाने को फेंककर उसे पा लूंगा। बजाना मेरे लिए साधन है, साध्य नहीं है। साध्य कहीं और है--भविष्य में, धन में, यश में, प्रतिष्ठा में--साध्य कहीं और है, संगीत सिर्फ साधन है। साधन कभी आत्मा नहीं बन पाती; साध्य में ही आत्मा अटकी होती है। अगर साध्य बिना साधन के मिल जाए, तो साधन को छोड़ दूं अभी। लेकिन नहीं मिलता साधन के बिना, इसलिए साधन को खींचता हूं। लेकिन दृष्टि और प्राण और आकांक्षा और सब घूमता है साध्य के निकट। लेकिन जिनको आप सुनकर आ रहे हैं, संगीत उनके लिए कुछ पाने का साधन नहीं है। आगे कुछ भी नहीं है, जिसे पाने को वे बजा रहे हैं। बल्कि पीछे कुछ है, जिससे उनका संगीत फूट रहा है और बज रहा है। कुछ पा लिया है, कुछ भर गया है, वह बह रहा है। कोई अनुभूति, कोई सत्य, कोई परमात्मा प्राणों में भर गया है। अब वह बह रहा है, ओवर फ्लोइंग है।

अकबर बार-बार पूछने लगा, किसलिए? किसलिए?

स्वभावतः, हम भी पूछते हैं, किसलिए? पर तानसेन ने कहा, नदियां किसलिए बह रही हैं? फूल किसलिए खिल रहे हैं? सूर्य किसलिए निकल रहा है?

किसलिए, मनुष्य की बुद्धि ने पैदा किया है। सारा जगत ओवर फ्लोइंग है, आदमी को छोड़कर। सारा जगत आगे के लिए नहीं जी रहा है, सारा जगत भीतर से जी रहा है। फूल खिल रहा है, खिलने में ही आनंद है। सूर्य निकल रहा है, निकलने में ही आनंद है। हवाएं बह रही हैं, बहने में ही आनंद है। आकाश है, होने में ही आनंद है। आनंद आगे नहीं, अभी है, यहीं है।

और जो हो रहा है, वह भीतर की ऊर्जा से अकारण बहाव है--अनमोटिवेटेड एक्ट। जिस पर कि कृष्ण का सारा कर्मयोग खड़ा होगा। वह जीवन को भविष्य की तरफ से पकड़ना नहीं, वह जीवन को आकांक्षा की तरफ से खींचना नहीं, वरन व्यक्ति के भीतर छिपा जो अव्यक्त है, उसकी ओवर फ्लोइंग, उसका ऊपर से बह जाना है। कृत्य, जिस दिन आपके जीवन-ऊर्जा की ओवर फ्लोइंग है, ऊपर से बह जाना है, उस दिन निष्काम है। और जब तक भविष्य के लिए किसी कारण से बहना है, तब तक सकाम है। सकाम कर्म योग नहीं है, निष्काम कर्म योग है।

इससे कोई फर्क नहीं पड़ता है कि वह कामना भविष्य की, स्वर्ग की, मोक्ष की, परमात्मा की--इससे कोई फर्क नहीं पड़ता। अगर एक व्यक्ति मंदिर में भजन गा रहा है, और इस भजन में भी इतनी कामना है कि ईश्वर को पा लूं, तो यह भजन व्यर्थ हो गया, यह भजन योग न रहा। ईश्वर को पाने की कामना भी कामना ही है। और कामना से कभी ईश्वर पाया नहीं जाता। ईश्वर तो निष्कामना में उपलब्ध है। अगर भजन में इतनी भी कामना है कि ईश्वर को पा लूं, तो भजन व्यर्थ हुआ। अगर प्रार्थना में इतनी भी मांग है कि तेरे दर्शन हो जाएं, तो प्रार्थना व्यर्थ हो गई।

लेकिन प्रार्थना अनमोटिवेटेड है; नहीं किसी को पाने के लिए, वरन भीतर के भाव से जन्मी है और अपने में पूरी है, अपने में पूरी है--आगे कुछ द्वार नहीं खोज रही है--तो प्रार्थना है। और उसी क्षण में प्रार्थना सफल है, जिस क्षण प्रार्थना निष्काम है। प्रत्येक कर्म प्रार्थना बन जाता है, अगर निष्काम बन जाए। और प्रत्येक प्रार्थना बंधन बन जाती है, अगर सकाम बन जाए।

लेकिन हम जैसे दुकान चलाते हैं, वैसे ही पूजा भी करते हैं। दुकान भी मोटिवेटेड होती है, पूजा भी। दुकान में भी कुछ पाने को होता है, पूजा में भी। पाप भी करते हैं, तो भी कुछ पाने को करते हैं। पुण्य भी करते हैं, तो कुछ पाने को करते हैं। और कृष्ण कह रहे हैं कि पाने के लिए करना ही अधर्म है। पाने की आकांक्षा के बिना जो कृत्य का फूल खिलता है--दि फ्लावरिंग आफ दि प्योर एक्ट--शुद्ध कर्म जब खिलता है बिना किसी कारण के... ।

इस संबंध में इमेनुअल कांट का नाम लेना जरूरी है। जर्मनी में कांट ने करीब-करीब कृष्ण से मिलती-जुलती बात कही है। उसने कहा कि अगर कर्तव्य में जरा-सी भी आकांक्षा है, तो कर्तव्य पाप हो गया। जरा-सी भी! कर्तव्य तभी कर्तव्य है, जब बिल्कुल शुद्ध है, उसमें कोई आकांक्षा नहीं है।

यह हमें कठिन पड़ेगा। क्योंकि हमारी जिंदगी में ऐसा कोई कर्म नहीं है, जिससे हमारी पहचान हो, जिससे हम समझ पाएं। लेकिन ऐसे कर्म के लिए द्वार खोले जा सकते हैं।

मैंने कहा, रास्ते पर एक आदमी है, उसका छाता गिर गया है। आप छाता उठाएं, दे दें, और छाता उठाकर देते समय भीतर देखते रहें कि कोई मांग तो नहीं उठती है! सिर्फ देखते रहें। छाता उठाकर दें और अपने रास्ते पर चल पड़ें और भीतर देखते रहें कि कोई मांग तो नहीं उठती धन्यवाद की भी! उठेगी; लेकिन देखते रहें, दो-चार कृत्यों में देखते रहें और अचानक पाएंगे, क्या पागलपन है! गिर जाएगी।

दिन में जो आदमी एक कृत्य भी अनमोटिवेटेड कर ले, वह कृष्ण की गीता को समझ पा सकता है। एक कृत्य भी चौबीस घंटे में अनमोटिवेटेड कर ले, जिसमें कि कुछ न हो, चेतन-अचेतन कोई मांग न हो--बस किया और हट गए और चले गए--तो कृष्ण की गीता को, और कृष्ण के कर्मयोग को समझने का मार्ग खुल जाएगा। रोज गीता न पढ़ें, चलेगा। लेकिन एक कृत्य चौबीस घंटे में ऐसा खिल जाए, जिसमें हमारी कोई भी कामना नहीं है; बस, जिसमें करना ही पर्याप्त है और हम बाहर हो गए और चल पड़े।

कठिन नहीं है। अगर थोड़ी खोज-बीन करें, तो बहुत कठिन नहीं है। छोटी-छोटी, छोटी-छोटी घटनाओं में उसकी झलक मिल सकती है।

और यह जो कृष्ण अर्जुन से कह रहे हैं, वह पूरा का पूरा प्रयोगात्मक है। होगा ही। यह कोई गुरुकुल में बैठकर, किसी वृक्ष के तले, किसी आश्रम में हुई चर्चा नहीं है। यह युद्ध के स्थल पर, जहां सघन कर्म प्रतीक्षा कर रहा है, वहां हुई चर्चा है। यह चर्चा किसी शांत वट-वृक्ष के नीचे बैठकर कोई तत्व-चर्चा नहीं है, यह कोरी तत्व-चर्चा नहीं है। यह सघन कर्म के बीच, ठीक युद्ध के क्षण में--युद्ध से ज्यादा सघन कृत्य और क्या होगा--वहां हुई

यह चर्चा है। और अर्जुन से कृष्ण कह रहे हैं कि अगर स्वर्ग तक की भी कामना मन में है--किसी भी विषय की--तो सब व्यर्थ हो जाता है।

कर्मयोग का सार, कर्म ऋण कामना है। काम से कामना गई... ।

हमने तो काम शब्द ही रखा हुआ है कर्म के लिए। क्योंकि काम कामना से ही बनता है। हम तो कहते हैं, काम वही है, जो कामना से चलता है।

लेकिन कृष्ण कहते हैं, काम से अगर कामना घट जाए तो कर्मयोग। तो फिर साधारण कर्म नहीं रह जाता है वह, योग बन जाता है। और योग बन जाए, तो न पाप है, न पुण्य है; न बंधन है, न मुक्ति है--दोनों के बाहर है व्यक्ति।

त्रैगुण्यविषया वेदा निस्त्रैगुण्यो भवार्जुन।

निर्द्वन्द्वो नित्यसत्त्वस्थो निर्योगक्षेम आत्मवान्।। 45।।

हे अर्जुन, सब वेद तीनों गुणों के कार्य रूप संसार को विषय करने वाले, अर्थात प्रकाश करने वाले हैं,

इसलिए तू असंसारी, अर्थात निष्कामी और सुख-दुःखादि द्वंद्वों से रहित, नित्य वस्तु में स्थित तथा योगक्षेम को न चाहने वाला और आत्मवान हो।

राग और द्वेष से मुक्त, द्वंद्व से रहित और शून्य। राग और द्वेष से मुक्त, दो में से एक पर होना सदा आसान है। राग में होना आसान है, विराग में भी होना आसान है। विराग द्वेष है। धन को पकड़ना आसान है, धन को त्यागना आसान है। पकड़ना राग है, त्यागना द्वेष है। राग और द्वेष दोनों से मुक्त हो जाओ, शून्य हो जाओ, रिक्त हो जाओ, तो जिसे महावीर ने वीतरागता कहा है, उसे उपलब्ध होता है व्यक्ति।

द्वंद्व में चुनाव आसान है, चुनावरहित होना कठिन है। च्वाइस आसान है, च्वाइसलेसनेस कठिन है। कहें मन को कि इसे चुनते हैं, तो मन कहता है--ठीक। कहें मन को, इसके विपरीत चुनते हैं, तो भी मन कहता है--ठीक। चुनो जरूर! क्योंकि जहां तक चुनाव है, वहां तक मन जी सकता है। चुनाव कोई भी हो, इससे फर्क नहीं पड़ता--घर चुनो, जंगल चुनो; मित्रता चुनो, शत्रुता चुनो; धन चुनो, धन-विरोध चुनो; कुछ भी चुनो, प्रेम चुनो, घृणा चुनो; क्रोध चुनो, क्षमा चुनो; कुछ भी चुनो--च्वाइस हो, तो मन जीता है। लेकिन कुछ भी मत चुनो, तो मन तत्काल--तत्काल--गिर जाता है। मन के आधार गिर जाते हैं। च्वाइस मन का आधार है, चुनाव मन का प्राण है।

इसलिए जब तक चुनाव चलता है जीवन में, तब तक आप कितना ही चुनाव बदलते रहें, इससे बहुत फर्क नहीं पड़ता है। संसार छोड़ें, मोक्ष चुनें; पदार्थ छोड़ें, परमात्मा चुनें; पाप छोड़ें, पुण्य चुनें--कुछ भी चुनें। यह सवाल नहीं है कि आप क्या चुनते हैं, सवाल गहरे में यह है कि क्या आप चुनते हैं? अगर चुनते हैं, अगर च्वाइस है, तो द्वंद्व रहेगा। क्योंकि किसी को छोड़ते हैं और किसी को चुनते हैं।

यह भी समझ लेना जरूरी है कि जिसे छोड़ते हैं, उसे पूरा कभी नहीं छोड़ पा सकते हैं। क्योंकि जिसे छोड़ना पड़ता है, उसकी मन में गहरी पकड़ होती है। नहीं तो छोड़ना क्यों पड़ेगा? अगर एक आदमी के मन में धन की कोई पकड़ न हो, तो वह धन का त्याग कैसे करेगा? त्याग के लिए पकड़ अनिवार्य है। अगर एक आदमी की कामवासना में, सेक्स में रुचि न हो, लगाव न हो, आकर्षण न हो, तो वह ब्रह्मचर्य कैसे चुनेगा? और जिसमें आकर्षण है, लगाव है, उसके खिलाफ हम चुन रहे हैं, तो ज्यादा से ज्यादा हम दमन कर सकते हैं, सप्रेशन कर

सकते हैं। और कुछ होने वाला नहीं है; दब जाएगा। जिसे हमने इनकार किया, वह हमारे अचेतन में उतर जाएगा। और जिसे हमने स्वीकार किया, वह हमारा चेतन बन जाएगा।

हमारा मन, जिसे अस्वीकार करता है, उसे अंधेरे में ढकेल देता है। हमारे सबके मन के गोडाउन हैं। घर में जो चीज बेकार हो जाती है, उसे हम कबाड़खाने में डाल देते हैं। ऐसे ही चेतन मन जिसे इनकार कर देता है, उसे अचेतन में डाल देता है। जिसे स्वीकार कर लेता है, उसे चेतन में ले आता है। चेतन मन हमारा बैठकखाना है।

लेकिन किसी भी आदमी का घर बैठकखाने में नहीं होता। बैठकखानों में सिर्फ मेहमानों का स्वागत किया जाता है, उसमें कोई रहता नहीं। असली घर बैठकखाने के बाद शुरू होता है। बैठकखाना घर का हिस्सा नहीं है, तो भी चलेगा। कह सकते हैं कि बैठकखाना घर का हिस्सा नहीं है। क्योंकि घर वाले बैठकखाने में नहीं रहते, बैठकखाने में सिर्फ अतिथियों का स्वागत होता है। बैठकखाना सिर्फ फेस है, बैठकखाना सिर्फ एक चेहरा है, दिखावा है घर का, असली घर नहीं है। बैठकखाना एक डिसेप्शन है, एक धोखा है, जिसमें बाहर से आए लोगों को धोखा दिया जाता है कि यह है हमारा घर। हालांकि उसमें कोई रहता नहीं, न उसमें कोई सोता, न उसमें कोई खाता, न उसमें कोई पीता। उसमें कोई नहीं रहता, वह घर है ही नहीं। वह सिर्फ घर का धोखा है। बैठकखाने के बाद घर शुरू होता है।

चेतन मन हमारा, जगत के दिखावे के लिए बैठकखाना है। उससे हम दूसरों से मिलते-जुलते हैं। लेकिन उसके गहरे में हमारा असली जीवन शुरू होता है। जब भी हम चुनाव करते हैं, तो चुनाव से कोई चीज मिटती नहीं। चुनाव से सिर्फ बैठकखाने की चीजें घर के भीतर चली जाती हैं। चुनाव से, सिर्फ जिसे हम चुनते हैं, उसे बैठकखाने में लगा देते हैं। वह हमारा डेकोरेशन है।

इसलिए दिनभर जो आदमी धन को इनकार करता है, कहता है कि नहीं, मैं त्याग को चुना हूं, रात सपने में धन को इकट्ठा करता है। जो दिनभर कामवासना से लड़ता है, रात सपने में कामवासना से घिर जाता है। जो दिनभर उपवास करता है, रात राजमहलों में निमंत्रित हो जाता है भोजन के लिए।

सपने में एसर्ट करता है वह जो भीतर छिपा है। वह कहता है, बहुत हो गया दिनभर अब चुनाव, अब हम प्रतीक्षा कर रहे हैं दिनभर से भीतर, अब हमसे भी मिलो। वह जाता नहीं है, वह सिर्फ दबा रहता है।

और एक मजे की बात है कि जो भीतर दबा है, वह शक्ति-संपन्न होता जाता है। और जो बैठकखाने में है, वह धीरे-धीरे निर्बल होता जाता है। और जल्दी ही वह वक्त आ जाता है कि जिसे हमने दबाया है, वह अपनी उदघोषणा करता है; विस्फोट होता है। वह निकल पड़ता है बाहर।

अच्छे से अच्छे आदमी को, जिसकी जिंदगी बिल्कुल बढ़िया, सुंदर, स्मूथ, समतल भूमि पर चलती है, उसे भी शराब पिला दें, तो पता चलेगा, उसके भीतर क्या-क्या छिपा है! सब निकलने लगेगा। शराब किसी आदमी में कुछ पैदा नहीं करती। शराब सिर्फ बैठकखाने और घर का फासला तोड़ देती है, दरवाजा खोल देती है।

अभी पश्चिम में एक फकीर था गुरजिएफ। उसके पास जो भी साधक आता, तो पंद्रह दिन तो उसको शराब में डुबाता। कैसा पागल आदमी होगा? नहीं, समझदार था। क्योंकि वह यह कहता है कि जब तक मैं उसे न देख लूं, जिसे तुमने दबाया है, तब तक मैं तुम्हारे साथ कुछ भी काम नहीं कर सकता। क्योंकि तुम क्या कह रहे हो, वह भरोसे का नहीं है। तुम्हारे भीतर क्या पड़ा है, वही जान लेना जरूरी है।

तो एकदम शराब पिलाता पंद्रह दिन; इतना डुबा देता शराब में। फिर उस आदमी का असली चेहरा खोजता कि भीतर कौन-कौन छिपा है, किस-किस को दबाया है! तुम्हारी च्वाइस ने क्या-क्या किया है, इसे जानना जरूरी है, तभी रूपांतरण हो सकता है।

कई लोग तो भाग जाते कि हम यह बरदाश्त नहीं कर सकते। लेकिन गुरजिएफ कहता कि पंद्रह दिन तो जब तक मैं तुम्हें शराब में न डुबा लूं, जब तक मैं तुम्हारे भीतरी घर में न झांक लूं कि तुमने क्या-क्या दबा रखा है, तब तक मैं तुमसे बात भी नहीं करूंगा। क्योंकि तुम जो कहते हो, उसको सुनकर अगर मैं तुम्हारे साथ मेहनत करूं, तो मेहनत व्यर्थ चली जाएगी। क्योंकि तुम जो कहते हो, पक्का नहीं है कि तुम वही हो, भीतर तुम कुछ और हो सकते हो। और अंतिम निष्कर्ष पर, तुम्हारे जो भीतर पड़ा है, वही निर्णायक है।

इसलिए कृष्ण कहते हैं, चुनना मत। क्योंकि चुनाव किया कि भीतर गया वह; जिसे तुमने छोड़ा, दबाया, वह अंदर गया। और जिसे तुमने उभारा और स्वीकारा, वह ऊपर आया। बस, इससे ज्यादा फर्क नहीं पड़ेगा। द्वंद्व बना ही रहेगा। और द्वंद्व क्या है? कांफ्लिक्ट क्या है?

द्वंद्व एक ही है, चेतन और अचेतन का द्वंद्व है। आपने कसम ली है, क्रोध नहीं करेंगे। कसम आपकी चेतन मन में, कांशस माइंड में रहेगी। और क्रोध की ताकतें अचेतन मन में रहेंगी। कल कोई गाली देगा, अचेतन मन कहेगा, करो क्रोध! और चेतन मन कहेगा, कसम खाई है कि क्रोध नहीं करना है। और द्वंद्व खड़ा होगा। लड़ोगे भीतर।

और ध्यान रहे, जब भी लड़ाई होगी, तो अचेतन जीतेगा। इमरजेंसी में हमेशा अचेतन जीतेगा। बेकाम समय में चेतन जीतता हुआ दिखाई पड़ेगा, काम के समय में अचेतन जीतेगा। क्यों? क्योंकि मनोविज्ञान की अधिकतम खोजें इस नतीजे पर पहुंची हैं कि चेतन मन हमारे मन का एक हिस्सा है। अगर हम मन के दस हिस्से करें, तो एक हिस्सा चेतन और नौ हिस्सा अचेतन है। नौगुनी ताकत है उसकी।

तो वह जो नौगुनी ताकत वाला मन है, वह प्रतीक्षा करता है कि कोई हर्जा नहीं। सुबह जब गीता का पाठ करते हो तब कोई फिक्र नहीं, कसम खाओ कि क्रोध नहीं करेंगे। मंदिर जब जाते हो, तब कोई फिक्र नहीं, मंदिर कोई जिंदगी है! कहो कि क्रोध नहीं करेंगे। देख लेंगे दुकान पर! देख लेंगे घर में! जब मौका आएगा असली, तब एकदम चेतन हट जाता है और अचेतन हमला बोल देता है।

इसीलिए तो हम कहते हैं, क्रोध करने के बाद आदमी कहता है कि पता नहीं कैसे मैंने क्रोध कर लिया! मेरे बावजूद--इंस्पाइट आफ मी--मेरे बावजूद क्रोध हो गया। लेकिन आपके बावजूद क्रोध कैसे हो सकता है? निश्चित ही, आपने अपने ही किसी गहरे हिस्से को इतना दबाया है कि उसको आप दूसरा समझने लगे हैं, कि वह और है। वह हमला बोल देता है। जब वक्त आता है, वह हमला बोल देता है।

यह जो द्वंद्व है, यह जो कांफ्लिक्ट है, यही मनुष्य का नरक है। द्वंद्व नरक है। कांफ्लिक्ट के अतिरिक्त और कोई नरक नहीं है। और हम इसको बढ़ाए चले जाते हैं। जितना हम चुनते जाते हैं, बढ़ाए चले जाते हैं।

तो कृष्ण इस सूत्र में कहते हैं, राग और द्वेष से--द्वंद्व से, कांफ्लिक्ट से--जो बाहर हो जाता है, जो चुनाव के बाहर हो जाता है, वही जीवन के परम सत्य को जान पाता है। और जो द्वंद्व के भीतर घिरा रहता है, वह सिर्फ जीवन के नरक को ही जान पाता है।

इस द्वंद्व-अतीत वीतरागता में ही निष्काम कर्म का फूल खिल सकता है। या निष्काम कर्म की भूमिका हो, तो यह द्वंद्वरहित, राग-द्वेषरहित, यह शून्य-चेतना फलित हो सकती है।

चेतना जब शून्य होती है, तभी शुद्ध होती है। यह शून्य का कृष्ण का कहना! चेतना जब शून्य होती है, तभी शुद्ध होती है; जब शुद्ध होती है, तब शून्य ही होती है।

करीब-करीब ऐसा समझें कि एक दर्पण है। दर्पण कब शुद्धतम होता है? जब दर्पण में कुछ भी नहीं प्रतिफलित होता, जब दर्पण में कोई तस्वीर नहीं बनती। जब तक दर्पण में तस्वीर बनती है, तब तक कुछ फारेन, कुछ विजातीय दर्पण पर छाया रहता है। जब तक दर्पण पर कोई तस्वीर बनती है, तब तक दर्पण सिर्फ दर्पण नहीं होता, कुछ और भी होता है। एक तस्वीर निकलती है, दूसरी बन जाती है। दूसरी निकलती है, तीसरी बन जाती है। दर्पण पर कुछ बहता रहता है। लेकिन जब कोई तस्वीर नहीं बनती, जब दर्पण सिर्फ दर्पण ही होता है, तब शून्य होता है।

चेतना सिर्फ दर्पण है। जब तक उस पर कोई तस्वीर बनती रहती है--कभी राग की, कभी विराग की; कभी मित्रता की, कभी शत्रुता की; कभी बाएं की, कभी दाएं की--कोई न कोई तस्वीर बनती रहती है, तो चेतना अशुद्ध होती है। लेकिन अगर कोई तस्वीर नहीं बनती, चेतना द्वंद्व के बाहर, चुनाव के बाहर होती है, तो शून्य हो जाती है। शून्य चेतना में क्या बनता है? जब दर्पण शून्य होता है, तब दर्पण ही रह जाता है। जब चेतना शून्य होती है, तो सिर्फ चैतन्य ही रह जाती है।

वह जो चैतन्य की शून्य प्रतीति है, वही ब्रह्म का अनुभव है। वह जो शुद्ध चैतन्य की अनुभूति है, वही मुक्ति का अनुभव है। शून्य और ब्रह्म, एक ही अनुभव के दो छोर हैं। इधर शून्य हुए, उधर ब्रह्म हुए। इधर दर्पण पर तस्वीरें बननी बंद हुईं कि उधर भीतर से ब्रह्म का उदय हुआ। ब्रह्म के दर्पण पर तस्वीरों का जमाव ही संसार है।

हम असल में दर्पण की तरह व्यवहार ही नहीं करते। हम तो कैमरे की फिल्म की तरह व्यवहार करते हैं। कैमरे की फिल्म प्रतिबिंब को ऐसा पकड़ लेती है कि छोड़ती ही नहीं। फिल्म मिट जाती है, तस्वीर ही हो जाती है।

अगर हम कोई ऐसा कैमरा बना सकें, बना सकते हैं, जिसमें कि एक तस्वीर के ऊपर दूसरी और दूसरी के ऊपर तीसरी ली जा सके; एक फिल्म पर अगर हजार तस्वीरें, लाख तस्वीरें ली जा सकें, तो जो स्थिति उस फिल्म की होगी, वैसी स्थिति हमारे चित्त की है। तस्वीरों पर तस्वीरें, तस्वीरों पर तस्वीरें इकट्ठी हो जाती हैं। कनफ्यूजन के सिवाय कुछ नहीं शेष रहता। कोई शकल पहचान में भी नहीं आती है कि किसकी तस्वीर है। कुछ पता भी नहीं चलता कि क्या है। एक नाइटमेयरिश, एक दुख-स्वप्न जैसा चित्त हो जाता है।

दर्पण तो फिर भी बेहतर है। एक तस्वीर बनती है, मिट जाती है, तब दूसरी बनती है। हमारा चित्त ऐसा दर्पण है, जो तस्वीरों को पकड़ता ही चला जाता है; इकट्ठा करता चला जाता है; तस्वीरें ही तस्वीरें रह जाती हैं।

उर्दू के किसी कवि की एक पंक्ति है, जिसमें उसने कहा है कि मरने के बाद घर से बस कुछ तस्वीरें ही निकली हैं। मरने के बाद हमारे घर से भी कुछ तस्वीरों के सिवाय निकलने को कुछ और नहीं है। जिंदगीभर तस्वीरों के संग्रह के अतिरिक्त हमारा कोई और कृत्य नहीं है।

कृष्ण कहते हैं, शून्य, निर्द्वंद्व चित्त... । छोड़ो तस्वीरों को, जानो दर्पण को। मत करो चुनाव, क्योंकि चुनाव किया कि पकड़ा। पकड़ो ही मत, नो क्लिंगिंग। रह जाओ वही, जो हो। उस शून्य क्षण में जो जाना जाता है, वही जीवन का परम सत्य है, परम ज्ञान है।

प्रश्नः भगवान श्री, इस श्लोक में यह वार्त्तिक मिला, बहुत यथार्थ है। मगर एक मुश्किल पड़ जाती है कि त्रैगुण्यविषया वेदा। इसमें गीता सर्व वेद पर आक्षेप करती है कि वे त्रैगुण्य विषय से युक्त हैं! और दूसरा, उत्तरार्ध में निर्योगक्षेम आत्मवान, तो आत्मवान होना न होना एक आंतरिक भाव है, तो श्रीकृष्ण उसको योगक्षेम प्रवृत्ति की बाह्य घटना से क्यों जोड़ते हुए दिखते हैं? मात्र आत्मवान होने से योगक्षेम की समस्या हल हो सकेगी?

कृष्ण कहते हैं, समस्त वेद सगुण से, तीन गुणों से भरे हैं, निर्गुण नहीं हैं। शब्द निर्गुण नहीं हो सकता; वेद ही नहीं, कृष्ण का शब्द भी निर्गुण नहीं हो सकता। और जब वे कहते हैं समस्त वेद, तो उसका मतलब है समस्त शास्त्र, उसका मतलब है समस्त वचन, उसका मतलब है समस्त ज्ञान, जो कहा गया, वह कभी भी तीन गुणों के बाहर नहीं हो सकता।

इसे ऐसा समझें कि जो भी अभिव्यक्त है, वह गुण के बाहर नहीं हो सकता। सिर्फ अव्यक्त, अनभिव्यक्त, अनमैनिफेस्टेड निर्गुण हो सकता है, व्यक्त तो सदा ही सगुण होगा। असल में व्यक्त होने के लिए गुण का सहारा लेना पड़ता है। व्यक्त होने के लिए गुण की रूपरेखा लेनी पड़ती है। व्यक्त होने के लिए गुण का माध्यम चुनना पड़ता है। जैसे ही कुछ व्यक्त होगा कि गुण की सीमा में प्रवेश कर जाएगा।

वेद का अर्थ है, व्यक्त ज्ञान; वेद का अर्थ है, शब्द में सत्य। जब सत्य को शब्द में रखेंगे, तब सत्य की असीमता शेष न रह जाएगी, वह सीमित हो जाएगा। कितना ही बड़ा शब्द हो, तो भी सत्य को पूरा न घेर पाएगा, क्योंकि सत्य को पूरा घेरा नहीं जा सकता। कितनी ही बड़ी प्रतिमा हो, तो भी परमात्मा को पूरा न घेर पाएगी, क्योंकि परमात्मा को पूरा घेरा नहीं जा सकता।

सब शब्द, सब व्यक्त सीमा बनाते हैं। गुणों की सीमा बनाते हैं। गुण से ही व्यक्त होगा। एक बीज में वृक्ष निर्गुण हो सकता है, निराकार हो सकता है। है, अभी कोई आकार नहीं है। लेकिन जब बीज फूटेगा और प्रकट होगा, तो वृक्ष आकार ले लेगा।

तो जहां वे कह रहे हैं वेद के संबंध में, वह समस्त वक्तव्य के संबंध में कही गई बात है। उसमें गीता भी समाहित हो गई है। तो ऐसा नहीं है कि गीता वेद की कोई उपेक्षा कर रही है। वेद में भी ऐसे वचन हैं, जो कहेंगे, शब्द से उसे नहीं कहा जा सकता।

समस्त शास्त्रों की गहरी से गहरी कठिनाई यही है कि शास्त्र उसी को कहने की चेष्टा में संलग्न हैं, जो नहीं कहा जा सकता है। शास्त्र उसी को बताने में संलग्न हैं, जिसे बताने के लिए कोई उपाय नहीं है। शास्त्र उसी दिशा में इंगित कर रहे हैं, जो अदिशा है, जो दिशा नहीं है, नो-डायमेंशन है।

अगर मुझे वृक्ष बताना हो, तो मैं इशारा कर दूं कि वह रहा। अगर मुझे तारा बताना हो, तो बता दूं कि वह रहा। लेकिन अगर मुझे परमात्मा बताना हो, तो अंगुली से नहीं बताया जा सकता, मुट्ठी बांधकर बताना पड़ेगा और कहना पड़ेगा, यह रहा। क्योंकि अंगुली तो समव्हेयर, कहीं बताएगी; और जो एवरीव्हेयर है, उसे अंगुली से नहीं बताया जा सकता। अंगुली से बताने में भूल हो जाने वाली है, क्योंकि अंगुली तो कहीं इशारा करती है उसको, बाकी जगह भी तो वही है।

नानक गए मक्का। सो गए रात। पुजारी बहुत नाराज हुए। नानक को पकड़ा और कहा कि बड़े मूढ़ मालूम पड़ते हो! पवित्र मंदिर की तरफ, परमात्मा की तरफ पैर करके सोते हो? तो नानक ने कहा कि मैं बड़ी मुसीबत में था; मैं भी बहुत सोचा, कोई उपाय नहीं मिला। तुम्हीं को मैं स्वतंत्रता देता हूं, तुम मेरे पैर उस तरफ कर दो, जहां परमात्मा न हो।

वे पुजारी मुश्किल में पड़े होंगे। पुजारी हमेशा नानक जैसे आदमी से मिल जाए, तो मुश्किल में पड़ता है। क्योंकि पुजारी को धर्म का कोई पता नहीं होता। पुजारी को धर्म का कोई पता ही नहीं होता। उसे मंदिर का पता होता है। मंदिर की सीमा है।

मुश्किल में डाल दिया। वही सवाल है नानक का। नानक कहते हैं, मेरे पैर उस तरफ कर दो, जहां परमात्मा न हो, मैं राजी।

कहां करें पैर? कहीं भी करेंगे, परमात्मा तो होगा। मंदिर नहीं होगा, काबा नहीं होगा, परमात्मा तो होगा। तो फिर काबा में जो परमात्मा है, वह उसी परमात्मा से समतुल नहीं हो सकता, जो सब जगह है।

तो काबा का परमात्मा सगुण हो जाएगा। मंदिर का परमात्मा सगुण हो जाएगा। शब्द का परमात्मा सगुण हो जाएगा। शास्त्र का परमात्मा सगुण हो जाएगा। बोला, कहा, प्रकट हुआ कि सगुण हुआ। कृष्ण जो बोल रहे हैं, वह भी सगुण हो जाता है; बोलते ही सगुण हो जाता है।

वेद की निंदा नहीं है वह, वेद की सीमा का निर्देश है। शब्द की निंदा नहीं है वह, शब्द की सीमा का निर्देश है। वचन की निंदा नहीं है वह, वचन की सीमा का निर्देश है। और वह निर्देश करना जरूरी है। लेकिन कितना ही निर्देश करो, आदमी बहरा है। अगर कृष्ण की बात सुन ले कि वेद में जो है, वह सब त्रिगुण के भीतर है, तो वह कहेगा, छोड़ो वेद को, गीता को पकड़ो। क्योंकि वेद में तो निर्गुण निराकार नहीं है, छोड़ो! छोटा हो गया वेद, गीता को पकड़ो।

लेकिन समझ ही नहीं पाया वह। अगर कृष्ण कहीं देखते होंगे, तो वे हंसते होंगे कि तुमने फिर दूसरा वेद बना लिया। यह सवाल वेद का नहीं है, यह सवाल व्यक्त की सीमा का है।

और दूसरी बात पूछी है कि अगर आत्मस्थिति को सीधा ही स्वीकार कर लिया जाए, तो उसे योगक्षेम से क्यों जोड़ते हैं?

जोड़ते नहीं हैं, जुड़ी है। सिर्फ कहते हैं। जोड़ते नहीं हैं, जुड़ी है। जैसे एक दीया जले, तो दीया तो अपने में ही जलता है। अगर आस-पास कोई चीज न हो दिखाई पड़ने को, तो भी जलता है। दीए का जलना, दीए का प्रकाश से भरना, किन्हीं प्रकाशित चीजों पर निर्भर नहीं होता। लेकिन दीया जलता है, तो चीजें प्रकाशित होती हैं। जो भी आस-पास होगा, वह प्रकाशित होगा।

और बड़े मजे की बात है कि आपने कभी भी प्रकाश नहीं देखा है अब तक, सिर्फ प्रकाशित चीजें देखी हैं। प्रकाश नहीं देखा है किसी ने भी आज तक, सिर्फ प्रकाशित चीजें देखी हैं। प्रकाशित चीजों की वजह से आप अनुमान करते हैं कि प्रकाश है। आप सोचेंगे कि मैं क्या बात कह रहा हूं! हम सब ने प्रकाश देखा है। फिर से सोचना, प्रकाश कभी किसी ने देखा ही नहीं।

यह वृक्ष दिखता है सूरज की रोशनी में चमकता हुआ, इसलिए आप कहते हैं, सूरज की रोशनी है। फिर अंधेरा आ जाता है और वृक्ष नहीं दिखता है; आप कहते हैं, रोशनी गई। लेकिन आपने रोशनी नहीं देखी है। देखें आकाश की तरफ, चीजें दिखाई पड़ेंगी, रोशनी कहीं दिखाई नहीं पड़ेगी। जहां भी है, जो भी दिखाई पड़ रहा है, वह प्रकाशित है, प्रकाश नहीं।

कृष्ण के कहने का कारण है। वे कहते हैं, जब कोई शून्य आत्मस्थिति को उपलब्ध होता है, तो योगक्षेम फलित होते हैं। आपको योगक्षेम ही दिखाई पड़ेंगे। आपको आत्मस्थिति दिखाई नहीं पड़ेगी। उस आत्मस्थिति के पास जो घटना घटती है योगक्षेम की, वही दिखाई पड़ेगी। जब कोई व्यक्ति आनंद को उपलब्ध होता है, तो आपको उसके भीतर की स्थिति दिखाई नहीं पड़ेगी; उसके चारों तरफ सब आनंद से भर जाएगा, वही दिखाई

पड़ेगा। जब कोई भीतर ज्ञान को उपलब्ध होता है, तो आपको उसके ज्ञान की स्थिति दिखाई नहीं पड़ेगी, लेकिन उसके चारों तरफ ज्ञान की घटनाएं घटने लगेंगी, वही आपको दिखाई पड़ेगा। भीतर तो शुद्ध अस्तित्व ही रह जाएगा आत्मा का, लेकिन योगक्षेम उसके कांसिक्वेंसेस होंगे।

जैसे दीया जलेगा, और चीजें चमकने लगेंगी। चीजें न हों तो भी दीया जल सकता है, लेकिन तब आपको दिखाई नहीं पड़ सकता है। अर्जुन आत्मवान होगा, यह उसकी भीतरी घटना है। अर्जुन का आत्मवान होना, चारों तरफ योगक्षेम के फूल खिला देगा; यह उसकी बाहरी घटना है। इसलिए वे दोनों का स्मरण करते हैं। और हम कैसे पहचानेंगे जो बाहर खड़े हैं? वे आत्मवान को नहीं पहचानेंगे, योगक्षेम को पहचानेंगे।

मोहम्मद के बाबत कहा जाता है कि मोहम्मद जहां भी चलते, तो उनके ऊपर आकाश में एक बदली चलती साथ, छाया करती हुई। कठिन मालूम पड़ती है बात। मोहम्मद जहां भी जाएं, तो उनके ऊपर एक बदली चले और छाया करे! लेकिन आदमी के पास शब्द कमजोर हैं, इसलिए जो चीज गद्य में नहीं कही जा सकती, उसे हम पद्य में कहते हैं। पद्य हमारे गद्य की असमर्थता है। जब प्रो.ज में नहीं कह पाते, तो पोएट्री निर्मित करते हैं। और जीवन में जो-जो गहरा है, वह गद्य में नहीं कहा जा सकता, इसलिए जीवन का सब गहरा पद्य में, पोएट्री में कहा जाता है।

यह पोएटिक एक्सप्रेशन है किसी अनुभूति का, मोहम्मद जहां भी जाते, वहां छाया पहुंच जाती। मोहम्मद जहां भी जाते, वहां आस-पास के लोगों को ऐसा लगता जैसे रेगिस्तान, मरुस्थल के आदमी को लगेगा कि जैसे ऊपर कोई बादल आ गया हो और सब छाया हो गई हो। मोहम्मद जहां होते, वहां योगक्षेम फलित होता।

महावीर के बाबत कहा गया है कि महावीर अगर रास्ते से चलते, तो कांटे अगर सीधे पड़े होते, तो उलटे हो जाते। कोई कांटा फिक्र नहीं करेगा; संभावना कम दिखाई पड़ती है।

लेकिन जिन्होंने यह लिखा है, उन्होंने कुछ अनुभव किया है। महावीर के आस-पास सीधे कांटे भी उलटे हो जाएं--कांटे नहीं, पर कांटापन। जिंदगी में बहुत कांटे हैं, बहुत तरह के कांटे हैं। रास्तों पर बहुत कांटे हैं। और महावीर के पास जो लोग आए हों, उन्हें अचानक लगा हो कि अब तक जो कांटे सीधे चुभ रहे थे, वे एकदम उलटे हो गए, नहीं चुभ रहे हैं; योगक्षेम फलित हुआ हो, तो कविता कैसे कहे? आदमी कैसे कहे? आदमी कहता है कि ऐसा हो जाता है। लेकिन भूल होती है हमें। हमें तो यही दिखाई पड़ता है। हम महावीर को पहचानेंगे भी कैसे कि वे महावीर हैं? हम कैसे पहचानेंगे कि बुद्ध बुद्ध हैं?

तो बुद्ध के लिए हमने कहानियां गढ़ी हैं कि बुद्ध जिस गांव से निकलते हैं, वहां केशर की वर्षा हो जाती है। हो नहीं सकती, उस केशर की नहीं, जो बाजार में बिकती है। लेकिन जिन लोगों के गांव से बुद्ध गुजरे हैं, उनको जरूर केशर की सुगंध जैसा, केशर जैसा--उनके पास जो कीमती से कीमती शब्द रहा होगा--उसकी प्रतीति हुई, उसका एहसास हुआ है। कुछ बरसा है उस गांव में जरूर। और आदमी की भाषा में कोई और शब्द नहीं होगा, तो कहा है, केशर बरस गई है।

जब भीतर जीवन प्रकाशित होता है, तो बाहर भी प्रकाश की किरणें लोगों को छूती हैं। वे जब लोगों को छूती हैं, तो योगक्षेम फलित होता है।

इसलिए कृष्ण कहते हैं और ठीक कहते हैं। कहना चाहिए। कहना जरूरी है। क्योंकि एक व्यक्ति के जीवन में भी जब आत्मा की घटना घटती है, तो उसके प्रकाश का वर्तुल दूर-दूर लोक-लोकांतर तक फैल जाता है। और एक व्यक्ति के भीतर भी जो स्वर बजता है आत्मा का, तो उसकी स्वरलहरी दूसरों के प्राणों को भी झंकार से भर

जाती है। और एक व्यक्ति के जीवन में जब आनंद फलित होता है, तो दूसरों के जीवन में भी आनंद के फूल थोड़े-से जरूर बरस जाते हैं।

इसलिए अर्जुन को तो कहते हैं, तू आत्मवान हो जाएगा, शक्ति-संपन्न हो जाएगा। लेकिन जब शक्ति-संपन्न होगा कोई, भीतर आत्मवान होगा कोई, तो इसे एक और दूसरी तरफ से देखने की कोशिश करें।

जब कोई व्यक्ति आत्महीन होता है, जब कोई व्यक्ति अपनी आत्मा को खो देता है, तो कभी आपने ख्याल किया है कि उसके आस-पास दुख, पीड़ा का जन्म होना शुरू हो जाता है! जब कोई एक व्यक्ति अपनी आत्मा को खोता है, तो अपने आस-पास दुख का एक वर्तुल पैदा कर लेता है! निर्भर करेगा कि कितनी उसने आत्मा खोई है।

अगर एक हिटलर जैसा आदमी पृथ्वी पर पैदा हो, तो विराट दुख का वर्तुल चारों ओर फलित होता है। योगक्षेम का पता ही नहीं चलता, सब खो जाता है। उससे उलटा घटित होने लगता है। अकल्याण और अमंगल चारों ओर फैल जाता है। फैलेगा। चंगेज खां जैसा आदमी पैदा होता है, तो जहां से गुजर जाता है, वहां केशर नहीं बरसती, सिर्फ खून! सिर्फ खून ही बहता है।

बुरे आदमियों को हम भलीभांति पहचानते हैं। उनके आस-पास जो घटनाएं घटती हैं, उन्हें भी पहचानते हैं। स्वभावतः, बुरे आदमी के आस-पास जो घटना घटती है, वह बहुत मैटीरियल होती है, बहुत भौतिक होती है, दिखाई पड़ती है।

चंगेज खां निकले आपके गांव से, तो मुश्किल है कि आप न देख पाएं। क्योंकि घटनाएं बहुत भौतिक, मैटीरियल घटेंगी। चंगेज खां जिस गांव से निकलता, उस गांव के सारे बच्चों को कटवा डालता। भालों पर बच्चों के सिर लगवा देता। और जब चंगेज खां से किसी ने पूछा कि तुम क्या कर रहे हो? दस-दस हजार बच्चे भालों पर लटके हैं! तो चंगेज खां ने हंसकर कहा कि लोगों को पता होना चाहिए कि चंगेज खां निकल रहा है।

बुद्ध भी निकलते हैं किसी गांव से, कृष्ण भी निकलते हैं किसी गांव से, जीसस भी निकलते हैं किसी गांव से--घटनाएं इम्मैटीरियल घटती हैं, घटनाएं मैटीरियल नहीं होतीं। इसलिए जिनके पास थोड़ी संवेदनशील चेतना है, वे ही पकड़ पाते हैं। जिनके पास थोड़ा संवेदन से भरा हुआ मन है, जो रिस्पांसिव हैं, वे ही पकड़ पाते हैं।

उसमें जो पकड़ में आता है, उसको कृष्ण कह रहे हैं योगक्षेम। वे जो पकड़ पाते हैं, उनको पता लगता है, सब बदल गया। हवा और हो गई, आकाश और हो गया, सब और हो गया। यह जो सब और हो जाने का अनुभव है, इस अनुभव को कृष्ण कह रहे हैं योगक्षेम। उसे स्मरण दिलाना उचित है।

एक बात और ख्याल में ले लेनी जरूरी है कि वे कह रहे हैं, तू शक्ति-संपन्न हो जाएगा।

असल में मनुष्य तब तक शक्ति-संपन्न होता ही नहीं, जब तक स्वयं होता है, तब तक वह शक्ति-विपन्न ही होता है। असल में स्वयं होना, अहंकार-केंद्रित होना, दीन होने की रामबाण व्यवस्था है। जितना मैं अहंकार से भरा हूं, जितना मैं हूं, उतना ही मैं दीन हूं। जितना मेरा अहंकार छूटता और मैं आत्मवान होता हूं, जितना ही मैं मिटता, उतना ही मैं सर्व से एक होता हूं। तब शक्ति मेरी नहीं, ब्रह्म की हो जाती है। तब मेरे हाथ मुझसे नहीं चलते, ब्रह्म से चलते हैं। तब मेरी वाणी मुझसे नहीं बोलती, ब्रह्म से बोलती है। तब मेरा उठना-बैठना मेरा नहीं, उसका ही हो जाता है।

स्वभावतः, उससे बड़ी और शक्ति-संपन्नता क्या होगी? जिस दिन व्यक्ति अपने को समर्पित कर देता सर्व के लिए, उस दिन सर्व की सारी शक्ति उसकी अपनी हो जाती है। उस दिन होता है वह शक्ति-संपन्न।

शक्ति यहां पावर का प्रतीक नहीं है। शक्ति उन अर्थों में नहीं, जैसे किसी पद पर पहुंचकर कोई आदमी शक्तिशाली हो जाता है; कि कोई आदमी कल तक सड़क पर था, फिर मिनिस्टर हो गया, तो शक्तिशाली हो गया। यह शक्ति व्यक्ति में नहीं होती, यह शक्ति पद में होती है। इसको कुर्सी से नीचे उतारो, यह फिर विपन्न हो जाता है। यह शक्ति इसमें होती ही नहीं, यह इसके कुर्सी पर बैठने से होती है।

कभी सर्कस में, कार्निवाल में आपने इलेक्ट्रिक चेयर देखी हो, कुर्सी जो इलेक्ट्रिफाइड होती है। उस पर एक लड़की या लड़के को बिठा रखते हैं। वह लड़का भी इलेक्ट्रिफाइड हो जाता है। फिर उस लड़के को छुएं, तो शॉक लगता है। वह लड़के का शॉक नहीं है, कुर्सी का शॉक है। लड़के को कुर्सी से बाहर उतारें, गया। मोरारजी भाई कुर्सी पर और मोरारजी भाई कुर्सी के बाहर। इलेक्ट्रिफाइड चेयर! सर्कस है! मगर वह जो कुर्सी पर बैठा हुआ लड़का या लड़की है, जब आपको शॉक लगता है, तो उसकी शान देखें। वह समझता है कि शायद मैं शॉक मार रहा हूं। कुर्सी के शॉक हैं। लेकिन आइडेंटिफाइड हो जाता है आदमी।

पावर नहीं मतलब है कृष्ण की शक्ति का। कृष्ण की शक्ति का मतलब है, एनर्जी, ऊर्जा; जो पद से नहीं आती। असल में जो पद-मात्र छोड़ने से आती है।

अहंकार पद को खोजता है। जो अहंकार को ही छोड़ देता है, उसके सब पद खो जाते हैं। उसके पास कोई पद नहीं रह जाता। वह शून्य हो जाता है। उस शून्य में विराट गूंजने लगता है। उस शून्य में विराट उतर आता है। उस शून्य में विराट के लिए द्वार मिल जाता है। तब वह एनर्जी है, पावर नहीं। तब वह ऊर्जा है, शक्ति है, उधार नहीं है। तब वह व्यक्ति मिटा और अव्यक्ति हो गया। तब व्यक्ति नहीं है, परमात्मा है। और ऐसी स्थिति से वापस लौटना नहीं होता।

ध्यान रखें, पावर से वापस लौटना होता है। पद से वापस लौटना होता है, धन से वापस लौटना होता है। जो शक्ति भी किसी कारण से मिलती है और अहंकार की खोज से मिलती है, उससे लौटना होता है। लेकिन जो शक्ति अहंकार को खोकर मिलती है, वह प्वाइंट आफ नो रिटर्न है, उससे वापस लौटना नहीं होता है।

इसलिए एक बार व्यक्ति परमात्मा की शक्ति को जान लेता है, एक हो जाता है, वह सदा के लिए शक्ति-संपन्न हो जाता है। शायद यह कहना ठीक नहीं है कि शक्ति-संपन्न हो जाता है, उचित यही होगा कहना कि वह शक्ति-संपन्नता हो जाता है। शक्ति-संपन्न हो जाता है, तो ऐसा ख्याल बनता है कि वह भी बचता है। नहीं, यह कहना ठीक नहीं है कि वह शक्ति-संपन्न हो जाता है, यही कहना ठीक है कि वह शक्ति हो जाता है। और ऐसी शक्ति अगर पद की है, धन की है, तो योगक्षेम फलित नहीं होंगे। ऐसी शक्ति अगर परमात्मा की है, तो योगक्षेम फलित होंगे।

इसलिए भी योगक्षेम की बात कर लेनी उचित है। क्योंकि ऐसी शक्तियां भी हैं, जिनसे योगक्षेम से उलटा फलित होता है।

पावर-पालिटिक्स है सारी दुनिया में। जब भी कोई आदमी पोलिटिकली पावरफुल होने की यात्रा करता है, तो योगक्षेम फलित नहीं होता है। उससे उलटा ही फलित होता है। अमंगल ही फलित होता है। दुख ही फलित होता है।

तो शक्ति का यह स्मरण रहे, भेद ख्याल में रहे, शक्ति का अर्थ पावर नहीं, एनर्जी। शक्ति का अर्थ अहंकार की खोज नहीं, अहंकार का विसर्जन। तो निश्चित ही योगक्षेम फलित होता है।

यावानर्थ उदपाने सर्वतः संप्लुतोदके।

तावान्सर्वेषु वेदेषु ब्राह्मणस्य विजानतः।। 46।।

क्योंकि मनुष्य का, सब ओर से परिपूर्ण जलाशय के प्राप्त होने पर, छोटे जलाशय में जितना प्रयोजन रहता है, अच्छी प्रकार ब्रह्म को जानने वाले ब्राह्मण का भी सब वेदों में उतना ही प्रयोजन रहता है।

कृष्ण कह रहे हैं कि जैसे छोटे-छोटे नदी-तालाब हैं, कुएं-पोखर हैं, झरने हैं, इन झरनों में नहाने से जो आनंद होता है, जो शुचिता मिलती है, ऐसी शुचिता तो सागर में नहाने से मिल ही जाती है अनेक गुना होकर। शब्दों के पोखर में, शास्त्रों के पोखर में जो मिलता है, उससे अनेक गुना ज्ञान के सागर में मिल ही जाता है। वेद में जो मिलेगा--संहिता में, शास्त्र में, शब्द में--वह ज्ञानी को ज्ञान में तो अनंत गुना होकर मिल ही जाता है।

इसमें दो बातें ध्यान रखने जैसी हैं। एक तो यह कि जो सीमा में मिलता है, वह असीम में मिल ही जाता है। इसलिए असीम के लिए सीमित को छोड़ने में भय की कोई भी आवश्यकता नहीं है। अगर ज्ञान के लिए वेद को छोड़ना हो, तो कोई चिंता की बात नहीं है। सत्य के लिए शब्द को छोड़ना हो, तो कोई चिंता की बात नहीं है। अनुभव के लिए शास्त्र को छोड़ना हो, तो कोई चिंता की बात नहीं है--पहली बात। क्योंकि जो मिलता है यहां, उससे अनंत गुना वहां मिल ही जाता है।

दूसरी बात, सागर में जो मिलता है, ज्ञान में जो मिलता है, असीम में जो मिलता है, उस असीम में मिलने वाले को सीमित के लिए छोड़ना बहुत खतरनाक है। अपने घर के कुएं के लिए सागर को छोड़ना बहुत खतरनाक है। माना कि घर का कुआं है, अपना है, बचपन से जाना, परिचित है, फिर भी कुआं है। घरों में कुएं से ज्यादा सागर हो भी नहीं सकते। सागरों तक जाना हो तो घरों को छोड़ना पड़ता है। घरों में कुएं ही हो सकते हैं।

हम सबके अपने-अपने घर हैं, अपने-अपने वेद हैं, अपने- अपने शास्त्र हैं, अपने-अपने धर्म हैं, अपने-अपने संप्रदाय हैं, अपने-अपने मोहग्रस्त शब्द हैं। हम सबके अपने-अपने--कोई मुसलमान है, कोई हिंदू है, कोई ईसाई है--सबके अपने वेद हैं। कोई इस मूर्ति का पूजक, कोई उस मूर्ति का पूजक; कोई इस मंत्र का भक्त, कोई उस मंत्र का भक्त है। सबके अपने-अपने कुएं हैं।

कृष्ण यहां कह रहे हैं, इनके लिए सागर को छोड़ना खतरनाक है। हां, इससे उलटा, वाइस-वरसा हो सकता है। सागर के लिए इनको छोड़ने में कोई भी हर्ज नहीं है। क्योंकि जो इनमें मिलेगा, वह अनंत गुना होकर सागर में मिल ही जाता है।

इसलिए वह व्यक्ति अभागा है, जो अपने घर के कुएं के लिए--बाइबिल, कुरान, वेद, गीता... गीता भी! गीता का कृष्ण ने उल्लेख नहीं किया, कैसे करते! क्योंकि जो वे कह रहे थे, वही गीता बनने वाला था। गीता तब तक थी नहीं। मैं उल्लेख करता हूं, गीता भी! जो इनमें मिलता है, इससे अनंत गुना होकर ज्ञान में मिल ही जाता है। इसलिए जो इनके कारण ज्ञान के लिए रुकावट बनाए, इनके पक्ष में ज्ञान को छोड़े, वह अभागा है। लेकिन जो ज्ञान के लिए इन सबको छोड़ दे, वह सौभाग्यशाली है। क्योंकि जो इनमें मिलेगा, वह ज्ञान में मिल ही जाने वाला है।

लेकिन क्या मतलब है? ज्ञान का और वेद का, ज्ञान का और शास्त्र का फासला क्या है? भेद क्या है?

गहरा फासला है। जो जानते हैं, उन्हें बहुत स्पष्ट दिखाई पड़ता है। जो नहीं जानते हैं, उन्हें दिखाई पड़ना बहुत मुश्किल हो जाता है। क्योंकि किन्हीं भी दो चीजों का फासला जानने के लिए दोनों चीजों को जानना जरूरी है। जो एक ही चीज को जानता है, दूसरे को जानता ही नहीं, फासला कैसे निर्मित करे? कैसे तय करे?

हम शास्त्र को ही जानते हैं, इसलिए हम जो फासले निर्मित करते हैं, ज्यादा से ज्यादा दो शास्त्रों के बीच करते हैं। हम कहते हैं, कुरान कि बाइबिल, वेद कि गीता, कि महावीर कि बुद्ध, कि जीसस कि जरथुस्त्र। हम जो फासले तय करते हैं, वे फासले ज्ञान और शास्त्र के बीच नहीं होते, शास्त्र और शास्त्र के बीच होते हैं। क्योंकि हम शास्त्रों को जानते हैं। असली फासला शास्त्र और शास्त्र के बीच नहीं है, असली फासला शास्त्रों और ज्ञान के बीच है। उस दिशा में थोड़ी-सी सूचक बातें ख्याल ले लेनी चाहिए।

ज्ञान वह है, जो कभी भी, कभी भी अनुभव के बिना नहीं होता है। ज्ञान यानी अनुभव, और अनुभव तो सदा अपना ही होता है, दूसरे का नहीं होता। अनुभव यानी अपना। शास्त्र भी अनुभव है, लेकिन दूसरे का। शास्त्र भी ज्ञान है, लेकिन दूसरे का। ज्ञान भी ज्ञान है, लेकिन अपना।

मैं अपनी आंख से देख रहा हूं, यह ज्ञान है। मैं अंधा हूं, आप देखते हैं और मुझे कहते हैं, यह शास्त्र है। नहीं कि आप गलत कहते हैं। ऐसा नहीं कि आप गलत ही कहते हैं। लेकिन आप कहते हैं, आप देखते हैं। आप जो आंख से करते हैं, वह मैं कान से कर रहा हूं। फर्क पड़ने वाला है। कान आंख का काम नहीं कर सकता।

इसलिए शास्त्र के जो पुराने नाम हैं, वे बहुत बढ़िया हैं। श्रुति, सुना हुआ--देखा हुआ नहीं। स्मृति, सुना हुआ, स्मरण किया हुआ, याद किया हुआ, मेमोराइज्ड--जाना हुआ नहीं। सब शास्त्र श्रुति और स्मृति हैं। किसी ने जाना और कहा। हमने जाना नहीं और सुना। जो उसकी आंख से हुआ, वह हमारे कान से हुआ। शास्त्र कान से आते हैं, सत्य आंख से आता है। सत्य दर्शन है, शास्त्र श्रुति हैं।

दूसरे का अनुभव, कुछ भी उपाय करूं मैं, मेरा अनुभव नहीं है। हां, दूसरे का अनुभव उपयोगी हो सकता है। इसी अर्थ में उपयोगी हो सकता है--इस अर्थ में नहीं कि मैं उस पर भरोसा का लूं, विश्वास कर लूं, अंधश्रद्धालु हो जाऊं; इस अर्थ में तो दुरुपयोग ही हो जाएगा; हिन्ड्रेंस बनेगा, बाधा बनेगा--इस अर्थ में उपयोगी हो सकता है कि दूसरे ने जो जाना है, उसे जानने की संभावना का द्वार मेरे लिए भी खुलता है। जो दूसरे को हो सका है, वह मेरे लिए भी हो सकता है, इसका आश्वासन मिलता है। जो दूसरे के लिए हो सका, वह क्यों मेरे लिए नहीं हो सकेगा, इसकी प्रेरणा। जो दूसरे के लिए हो सका, वह मेरे भीतर छिपी हुई प्यास को जगाने का कारण हो सकता है। लेकिन बस इतना ही। जानना तो मुझे ही पड़ेगा। जानना मुझे ही पड़ेगा, जीना मुझे ही पड़ेगा, उस सागर-तट तक मुझे ही पहुंचना पड़ेगा।

एक और मजे की बात है कि घर में जो कुएं हैं, वे बनाए हुए होते हैं, सागर बनाया हुआ नहीं होता। आपके पिता ने बनाया होगा घर का कुआं, उनके पिता ने बनाया होगा, किसी ने बनाया होगा। जिसने बनाया होगा, उसे एक सीक्रेट का पता है, उसे एक राज का पता है कि कहीं से भी जमीन को तोड़ो, सागर मिल जाता है। कुआं है क्या? जस्ट ए होल, सिर्फ एक छेद है। आप यह मत समझना कि पानी कुआं है। पानी तो सागर ही है, कुआं तो सिर्फ उस सागर में झांकने का आपके आंगन में उपाय है। सागर तो है ही नीचे फैला हुआ। वही है। जहां भी जल है, वहीं सागर है। हां, आपके आंगन में एक छेद खोद लेते हैं आप। कुएं से पानी नहीं खोदते, कुएं से सिर्फ मिट्टी अलग करते हैं, परत तोड़ देते हैं, एक छेद हो जाता है; अपने ही घर में सागर को झांकने का उपाय हो जाता है।

लेकिन कुआं बनाया हुआ है। और अगर कुआं इसकी खबर लाए--रिमेंबरेंस--कि सागर भी है और सागर की यात्रा करवा दे, तब तो कुआं सहयोगी हो जाता है। और अगर कुआं ही सागर बन जाए और हम सोचें कि यही रहा सागर, तो फिर सागर की, असीम की यात्रा नहीं हो पाती; फिर हम कुएं के किनारे ही बैठे समाप्त होते हैं।

शास्त्र कुएं हैं। जो जानते हैं, खोदते हैं। और शब्द की सीमा में छेद बनाते हैं। जो कहा जा सकता है, उसकी सीमा में छेद बनाते हैं। और अनकहे की थोड़ी-सी झलक, थोड़ा-सा दर्शन करवाते हैं। इस आशा में कि इसको देखकर अनंत की यात्रा पर कोई निकलेगा। इसलिए नहीं कि इसे देखकर कोई बैठ जाएगा और तृप्त हो जाएगा।

कुआं सागर है, सीमा में बंधा। सागर कुआं है, असीम में मुक्त। शास्त्र ज्ञान है, सीमा में बंधा। ज्ञान शास्त्र है, असीम में मुक्त।

तो कृष्ण जब वेद की, शब्द की बात कर रहे हैं, तो निंदा नहीं है, सिर्फ निर्देश है। और निर्देश स्मरण में रखने योग्य है।

अभी इतना ही। फिर सांझ बात करेंगे।

चौदहवां प्रवचन

फलाकांक्षारहित कर्म, जीवंत समता और परम पद

कर्मण्येवाधिकारस्ते मा फलेषु कदाचन।
मा कर्मफलहेतुर्भूर्मा ते संगोऽस्त्वकर्मणि।। 47।।

इससे तेरा कर्म करने मात्र में ही अधिकार होवे, फल में कभी नहीं, और तू कर्मों के फल की वासना वाला भी मत हो तथा तेरी कर्म न करने में भी प्रीति न होवे।

कर्मयोग का आधार-सूत्रः अधिकार है कर्म में, फल में नहीं; करने की स्वतंत्रता है, पाने की नहीं। क्योंकि करना एक व्यक्ति से निकलता है, और फल समष्टि से निकलता है। मैं जो करता हूं, वह मुझसे बहता है; लेकिन जो होता है, उसमें समस्त का हाथ है। करने की धारा तो व्यक्ति की है, लेकिन फल का सार समष्टि का है। इसलिए कृष्ण कहते हैं, करने का अधिकार है तुम्हारा, फल की आकांक्षा अनधिकृत है।

लेकिन हम उलटे चलते हैं, फल की आकांक्षा पहले और कर्म पीछे। हम बैलगाड़ी को आगे और बैलों को पीछे बांधते हैं। कृष्ण कह रहे हैं, कर्म पहले, फल पीछे आता है--लाया नहीं जाता। लाने की कोई सामर्थ्य मनुष्य की नहीं है; करने की सामर्थ्य मनुष्य की है। क्यों? ऐसा क्यों है? क्योंकि मैं अकेला नहीं हूं, विराट है।

मैं सोचता हूं, कल सुबह उठूंगा, आपसे मिलूंगा। लेकिन कल सुबह सूरज भी उगेगा? कल सुबह भी होगी? जरूरी नहीं है कि कल सुबह हो ही। मेरे हाथ में नहीं है कि कल सूरज उगे ही। एक दिन तो ऐसा जरूर आएगा कि सूरज डूबेगा और उगेगा नहीं। वह दिन कल भी हो सकता है।

वैज्ञानिक कहते हैं कि अब यह सूरज चार हजार साल से ज्यादा नहीं चलेगा। इसकी उम्र चुकती है। यह भी बूढ़ा हो गया है। इसकी किरणें भी बिखर चुकी हैं। रोज बिखरती जा रही हैं न मालूम कितने अरबों वर्षों से! अब उसके भीतर की भट्ठी चुक रही है, अब उसका ईंधन चुक रहा है। चार हजार साल हमारे लिए बहुत बड़े हैं, सूरज के लिए ना-कुछ। चार हजार साल में सूरज ठंडा पड़ जाएगा--किसी भी दिन। जिस दिन ठंडा पड़ जाएगा, उस दिन उगेगा नहीं; उस दिन सुबह नहीं होगी। उसकी पहली रात भी लोगों ने वचन दिए होंगे कि कल सुबह आते हैं--निश्चित।

लेकिन छोड़ें! सूरज चार हजार साल बाद डूबेगा और नहीं उगेगा। हमारा क्या पक्का भरोसा है कि कल सुबह हम ही उगेंगे! कल सुबह होगी, पर हम होंगे? जरूरी नहीं है। और कल सुबह भी होगी, सूरज भी उगेगा, हम भी होंगे, लेकिन वचन को पूरा करने की आकांक्षा होगी? जरूरी नहीं है। एक छोटी-सी कहानी कहूं।

सुना है मैंने कि चीन में एक सम्राट ने अपने मुख्य वजीर को, बड़े वजीर को फांसी की सजा दे दी। कुछ नाराजगी थी। लेकिन नियम था उस राज्य का कि फांसी के एक दिन पहले स्वयं सम्राट फांसी पर लटकने वाले कैदी से मिले, और उसकी कोई आखिरी आकांक्षा हो तो पूरी कर दे। निश्चित ही, आखिरी आकांक्षा जीवन को बचाने की नहीं हो सकती थी। वह बंदिश थी। उतनी भर आकांक्षा नहीं हो सकती थी।

सम्राट पहुंचा--कल सुबह फांसी होगी--आज संध्या, और अपने वजीर से पूछा कि क्या तुम्हारी इच्छा है? पूरी करूं! क्योंकि कल तुम्हारा अंतिम दिन है। वजीर एकदम दरवाजे के बाहर की तरफ देखकर रोने लगा। सम्राट ने कहा, तुम और रोते हो? कभी मैं कल्पना भी नहीं कर सकता, तुम्हारी आंखें और आंसुओं से भरी!

बहुत बहादुर आदमी था। नाराज सम्राट कितना ही हो, उसकी बहादुरी पर कभी शक न था। तुम और रोते हो! क्या मौत से डरते हो? उस वजीर ने कहा, मौत! मौत से नहीं रोता, रोता किसी और बात से हूं। सम्राट ने कहा, बोलो, मैं पूरा कर दूं। वजीर ने कहा, नहीं, वह पूरा नहीं हो सकेगा, इसलिए जाने दें। सम्राट जिद्द पर अड़ गया कि क्यों नहीं हो सकेगा? आखिरी इच्छा मुझे पूरी ही करनी है।

तो उस वजीर ने कहा, नहीं मानते हैं तो सुन लें, कि आप जिस घोड़े पर बैठकर आए हैं, उसे देखकर रोता हूं। सम्राट ने कहा, पागल हो गए? उस घोड़े को देखकर रोने जैसा क्या है? वजीर ने कहा, मैंने एक कला सीखी थी; तीस वर्ष लगाए उस कला को सीखने में। वह कला थी कि घोड़ों को आकाश में उड़ना सिखाया जा सकता है, लेकिन एक विशेष जाति के घोड़े को। उसे खोजता रहा, वह नहीं मिला। और कल सुबह मैं मर रहा हूं, जो सामने घोड़ा खड़ा है, वह उसी जाति का है, जिस पर आप सवार होकर आए हैं।

सम्राट के मन को लोभ पकड़ा। आकाश में घोड़ा उड़ सके, तो उस सम्राट की कीर्ति का कोई अंत न रहे पृथ्वी पर। उसने कहा, फिक्र छोड़ो मौत की! कितने दिन लगेंगे, घोड़ा आकाश में उड़ना सीख सके? कितना समय लगेगा? उस वजीर ने कहा, एक वर्ष। सम्राट ने कहा, बहुत ज्यादा समय नहीं है। अगर घोड़ा उड़ सका तो ठीक, अन्यथा मौत एक साल बाद। फांसी एक साल बाद भी लग सकती है, अगर घोड़ा नहीं उड़ा। अगर उड़ा तो फांसी से भी बच जाओगे, आधा राज्य भी तुम्हें भेंट कर दूंगा।

वजीर घोड़े पर बैठकर घर आ गया। पत्नी-बच्चे रो रहे थे, बिलख रहे थे। आखिरी रात थी। घर आए वजीर को देखकर सब चकित हुए। कहा, कैसे आ गए? वजीर ने कहानी बताई। पत्नी और जोर से रोने लगी। उसने कहा, तुम पागल तो नहीं हो? क्योंकि मैं भलीभांति जानती हूं, तुम कोई कला नहीं जानते, जिससे घोड़ा उड़ना सीख सके। व्यर्थ ही झूठ बोले। अब यह साल तो हमें मौत से भी बदतर हो जाएगा। और अगर मांगा ही था समय, तो इतनी कंजूसी क्या की? बीस, पच्चीस, तीस वर्ष मांग सकते थे! एक वर्ष तो ऐसे चुक जाएगा कि अभी आया अभी गया, रोते-रोते चुक जाएगा।

उस वजीर ने कहा, फिक्र मत कर; एक वर्ष बहुत लंबी बात है। शायद, शायद बुद्धिमानी के बुनियादी सूत्र का उसे पता था। और ऐसा ही हुआ। वर्ष बड़ा लंबा शुरू हुआ। पत्नी ने कहा, कैसा लंबा! अभी चुक जाएगा। वजीर ने कहा, क्या भरोसा है कि मैं बचूं वर्ष में? क्या भरोसा है, घोड़ा बचे? क्या भरोसा है, राजा बचे? बहुत-सी कंडीशंस पूरी हों, तब वर्ष पूरा होगा। और ऐसा हुआ कि न वजीर बचा, न घोड़ा बचा, न राजा बचा। वह वर्ष के पहले तीनों ही मर गए।

कल की कोई भी अपेक्षा नहीं की जा सकती। फल सदा कल है, फल सदा भविष्य में है। कर्म सदा अभी है, यहीं। कर्म किया जा सकता है। कर्म वर्तमान है, फल भविष्य है। इसलिए भविष्य के लिए आशा बांधनी, निराशा बांधनी है। कर्म अभी किया जा सकता है, अधिकार है। वर्तमान में हम हैं। भविष्य में हम होंगे, यह भी तय नहीं। भविष्य में क्या होगा, कुछ भी तय नहीं। हम अपनी ओर से कर लें, इतना काफी है। हम मांगें न, हम अपेक्षा न रखें, हम फल की प्रतीक्षा न करें, हम कर्म करें और फल प्रभु पर छोड़ दें--यही बुद्धिमानी का गहरे से गहरा सूत्र है।

इस संबंध में यह बहुत मजेदार बात है कि जो लोग जितनी ज्यादा फल की आकांक्षा करते हैं, उतना ही कम कर्म करते हैं। असल में फल की आकांक्षा में इतनी शक्ति लग जाती है कि कर्म करने योग्य बचती नहीं। असल में फल की आकांक्षा में मन इतना उलझ जाता है, भविष्य की यात्रा पर इतना निकल जाता है कि वर्तमान में होता ही नहीं। असल में फल की आकांक्षा में चित्त ऐसा रस से भर जाता है कि कर्म विरस हो जाता है, रसहीन हो जाता है।

इसलिए यह बहुत मजे का दूसरा सूत्र आपसे कहता हूं कि जितना फलाकांक्षा से भरा चित्त, उतना ही कर्महीन होता है। और जितना फलाकांक्षा से मुक्त चित्त, उतना ही पूर्णकर्मी होता है। क्योंकि उसके पास कर्म ही बचता है, फल तो होता नहीं, जिसमें बंटवारा कर सके। सारी चेतना, सारा मन, सारी शक्ति, सब कुछ इसी क्षण, अभी कर्म पर लग जाती है।

स्वभावतः, जिसका सब कुछ कर्म पर लग जाता है, उसके फल के आने की संभावना बढ़ जाती है। स्वभावतः, जिसका सब कुछ कर्म पर नहीं लगता, उसके फल के आने की संभावना कम हो जाती है।

इसलिए तीसरा सूत्र आपसे कहता हूं कि जो जितनी फलाकांक्षा से भरा है, उतनी ही फल के आने की उम्मीद कम है। और जिसने जितनी फल की आकांक्षा छोड़ दी है, उतनी ही फल के आने की उम्मीद ज्यादा है। यह जगत बहुत उलटा है। और परमात्मा का गणित साधारण गणित नहीं है, बहुत असाधारण गणित है।

जीसस का एक वचन है कि जो बचाएगा, उससे छीन लिया जाएगा। जो दे देगा, उसे सब कुछ दे दिया जाएगा। जीसस ने कहा है, जो अपने को बचाता है, व्यर्थ ही अपने को खोता है। क्योंकि उसे परमात्मा के गणित का पता नहीं है। जो अपने को खोता है, वह पूरे परमात्मा को ही पा लेता है।

तो जब कर्म का अधिकार है और फल की आकांक्षा व्यर्थ है, ऐसा कृष्ण कहते हैं, तो यह मत समझ लेना कि फल मिलता नहीं; ऐसा भी मत समझ लेना कि फल का कोई मार्ग नहीं है। कर्म ही फल का मार्ग है; आकांक्षा, फल की आकांक्षा, फल का मार्ग नहीं है। इसलिए कृष्ण जो कहते हैं, उससे फल की अधिकतम, आप्टिमम संभावना है मिलने की। और हम जो करते हैं, उससे फल के खोने की मैक्सिमम, अधिकतम संभावना है और लघुतम, मिनिमम मिलने की संभावना है।

जो फल की सारी ही चिंता छोड़ देता है, अगर धर्म की भाषा में कहें, तो कहना होगा, परमात्मा उसके फल की चिंता कर लेता है। असल में छोड़ने का भरोसा इतना बड़ा है, छोड़ने का संकल्प इतना बड़ा है, छोड़ने की श्रद्धा इतनी बड़ी है कि अगर इतनी बड़ी श्रद्धा के लिए भी परमात्मा से कोई प्रत्युत्तर नहीं है, तो फिर परमात्मा नहीं हो सकता है। इतनी बड़ी श्रद्धा के लिए--कि कोई कर्म करता है और फल की बात ही नहीं करता, कर्म करता है और सो जाता है और फल का स्वप्न भी नहीं देखता--इतनी बड़ी श्रद्धा से भरे हुए चित्त को भी अगर फल न मिलता हो, तो फिर परमात्मा के होने का कोई कारण नहीं है। इतनी श्रद्धा से भरे चित्त के चारों ओर से समस्त शक्तियां दौड़ पड़ती हैं।

और जब आप फलाकांक्षा करते हैं, तब आपको पता है, आप अश्रद्धा कर रहे हैं! शायद इसको कभी सोचा न हो कि फलाकांक्षा अश्रद्धा, गहरी से गहरी अनास्था, और गहरी से गहरी नास्तिकता है। जब आप कहते हैं, फल भी मिले, तो आप यह कह रहे हैं कि अकेले कर्म से निश्चय नहीं है फल का; मुझे फल की आकांक्षा भी करनी पड़ेगी। आप कहते हैं, दो और दो चार जोड़ता तो हूं, जुड़कर चार हों भी। इसका मतलब यह है कि दो और दो जुड़कर चार होते हैं, ऐसे नियम की कोई भी श्रद्धा नहीं है। हों भी, न भी हों!

जितना अश्रद्धालु चित्त है, उतना फलातुर होता है। जितना श्रद्धा से परिपूर्ण चित्त है, उतना फल को फेंक देता है--जाने समष्टि, जाने जगत, जाने विश्व की चेतना। मेरा काम पूरा हुआ, अब शेष काम उसका है।

फल की आकांक्षा वही छोड़ सकता है, जो इतना स्वयं पर, स्वयं के कर्म पर श्रद्धा से भरा है। और स्वभावतः जो इतनी श्रद्धा से भरा है, उसका कर्म पूर्ण हो जाता है, टोटल हो जाता है--टोटल एक्ट। और जब कर्म पूर्ण होता है, तो फल सुनिश्चित है। लेकिन जब चित्त बंटा होता है फल के लिए और कर्म के लिए, तब जिस मात्रा में फल की आकांक्षा ज्यादा है, कर्म का फल उतना ही अनिश्चित है।

सुबह एक मित्र आए। उन्होंने एक बहुत बढ़िया सवाल उठाया। मैं तो चला गया। शायद परसों मैंने कहीं कहा कि एक छोटे-से मजाक से महाभारत पैदा हुआ। एक छोटे-से व्यंग्य से द्रौपदी के, महाभारत पैदा हुआ। छोटा-सा व्यंग्य द्रौपदी का ही, दुर्योधन के मन में तीर की तरह चुभ गया और द्रौपदी नग्न की गई, ऐसा मैंने कहा। मैं तो चला गया। उन मित्र के मन में बहुत तूफान आ गया होगा। हमारे मन भी तो बहुत छोटे-छोटे प्यालियों जैसे हैं, जिनमें बहुत छोटे-से हवा के झोंके से तूफान आ जाता है--चाय की प्याली से ज्यादा नहीं! तूफान आ गया होगा। मैं तो चला गया, मंच पर वे चढ़ आए होंगे। उन्होंने कहा, तद्दन खोटी बात छे, बिल्कुल झूठी बात है; द्रौपदी कभी नग्न नहीं की गई।

द्रौपदी नग्न की गई; हुई नहीं--यह दूसरी बात है। द्रौपदी पूरी तरह नग्न की गई; हुई नहीं--यह बिल्कुल दूसरी बात है। करने वालों ने कोई कोर-कसर न छोड़ी थी। करने वालों ने सारी ताकत लगा दी थी। लेकिन फल आया नहीं, किए हुए के अनुकूल नहीं आया फल--यह दूसरी बात है।

असल में, जो द्रौपदी को नग्न करना चाहते थे, उन्होंने क्या रख छोड़ा था! उनकी तरफ से कोई कोर-कसर न थी। लेकिन हम सभी कर्म करने वालों को, अज्ञात भी बीच में उतर आता है, इसका कभी कोई पता नहीं है। वह जो कृष्ण की कथा है, वह अज्ञात के उतरने की कथा है। अज्ञात के भी हाथ हैं, जो हमें दिखाई नहीं पड़ते।

हम ही नहीं हैं इस पृथ्वी पर। मैं अकेला नहीं हूं। मेरी अकेली आकांक्षा नहीं है, अनंत आकांक्षाएं हैं। और अनंत की भी आकांक्षा है। और उन सब के गणित पर अंततः तय होगा कि क्या हुआ। अकेला दुर्योधन ही नहीं है नग्न करने में, द्रौपदी भी तो है जो नग्न की जा रही है। द्रौपदी की भी तो चेतना है, द्रौपदी का भी तो अस्तित्व है। और अन्याय होगा यह कि द्रौपदी वस्तु की तरह प्रयोग की जाए। उसके पास भी चेतना है और व्यक्ति है; उसके पास भी संकल्प है। साधारण स्त्री नहीं है द्रौपदी।

सच तो यह है कि द्रौपदी के मुकाबले की स्त्री पूरे विश्व के इतिहास में दूसरी नहीं है। कठिन लगेगी बात। क्योंकि याद आती है सीता की, याद आती है सावित्री की। और भी बहुत यादें हैं। फिर भी मैं कहता हूं, द्रौपदी का कोई मुकाबला ही नहीं है। द्रौपदी बहुत ही अद्वितीय है। उसमें सीता की मिठास तो है ही, उसमें क्लियोपेट्रा का नमक भी है। उसमें क्लियोपेट्रा का सौंदर्य तो है ही, उसमें गार्गी का तर्क भी है। असल में पूरे महाभारत की धुरी द्रौपदी है। वह सारा युद्ध उसके आस-पास हुआ है।

लेकिन चूंकि पुरुष कथाएं लिखते हैं, इसलिए कथाओं में पुरुष-पात्र बहुत उभरकर दिखाई पड़ते हैं। असल में दुनिया की कोई महाकथा स्त्री की धुरी के बिना नहीं चलती। सब महाकथाएं स्त्री की धुरी पर घटित होती हैं। वह बड़ी रामायण सीता की धुरी पर घटित हुई है; उसमें केंद्र में सीता है। राम और रावण तो ट्राएंगल के दो छोर हैं; धुरी पर सीता है।

ये कौरव और पांडव और यह सारा पूरा महाभारत और यह सारा युद्ध द्रौपदी की धुरी पर घटा है। उस युग की और सारे युगों की सुंदरतम स्त्री है वह। नहीं, आश्चर्य नहीं है कि दुर्योधन ने भी उसे चाहा हो। असल में, उस युग में कौन पुरुष होगा जिसने उसे न चाहा हो! उसका अस्तित्व उसके प्रति चाह पैदा करने वाला था। दुर्योधन ने भी उसे चाहा है और फिर वह चली गई अर्जुन के हाथ।

और यह भी बड़े मजे की बात है कि द्रौपदी को पांच भाइयों में बांटना पड़ा। कहानी बड़ी सरल है, उतनी सरल घटना नहीं हो सकती। कहानी तो इतनी ही सरल है कि अर्जुन ने आकर बाहर से कहा कि मां देखो, हम क्या ले आए हैं! और मां ने कहा, जो भी ले आए हो, वह पांचों भाई बांट लो। लेकिन इतनी सरल घटना हो नहीं सकती। क्योंकि जब बाद में मां को भी तो पता चला होगा कि यह मामला वस्तु का नहीं, स्त्री का है। यह कैसे बांटी जा सकती है! तो कौन-सी कठिनाई थी कि कुंती कह देती कि भूल हुई। मुझे क्या पता कि तुम पत्नी ले आए हो!

नहीं, लेकिन मैं जानता हूं कि जो संघर्ष दुर्योधन और अर्जुन के बीच होता, वह संघर्ष पांच भाइयों के बीच भी हो सकता था। द्रौपदी ऐसी थी; वे पांच भाई भी कट-मर सकते थे उसके लिए। उसे बांट देना ही सुगमतम राजनीति थी। वह घर भी कट सकता था। वह महायुद्ध, जो पीछे कौरवों-पांडवों में हुआ, वह पांडवों-पांडवों में भी हो सकता था।

इसलिए कहानी मेरे लिए उतनी सरल नहीं है। कहानी बहुत प्रतीकात्मक है और गहरी है। वह यह खबर देती है कि स्त्री वह ऐसी थी कि पांच भाई भी लड़ जाते। इतनी गुणी थी, साधारण नहीं थी, असाधारण थी। उसको नग्न करना आसान बात नहीं थी, आग से खेलना था। तो अकेला दुर्योधन नहीं है कि नग्न कर ले। द्रौपदी भी है।

और ध्यान रहे, बहुत बातें हैं इसमें, जो ख्याल में ले लेने जैसी हैं। जब तक कोई स्त्री स्वयं नग्न न होना चाहे, तब तक इस जगत में कोई पुरुष किसी स्त्री को नग्न नहीं कर सकता है, नहीं कर पाता है। वस्त्र उतार भी ले, तो भी नग्न नहीं कर सकता है। नग्न होना बड़ी घटना है वस्त्र उतरने से, निर्वस्त्र होने से नग्न होना बहुत भिन्न घटना है। निर्वस्त्र करना बहुत कठिन बात नहीं है, कोई भी कर सकता है, लेकिन नग्न करना बहुत दूसरी बात है। नग्न तो कोई स्त्री तभी होती है, जब वह किसी के प्रति खुलती है स्वयं। अन्यथा नहीं होती; वह ढंकी ही रह जाती है। उसके वस्त्र छीने जा सकते हैं, लेकिन वस्त्र छीनना स्त्री को नग्न करना नहीं है। यह भी।

और यह भी कि द्रौपदी जैसी स्त्री को नहीं पा सका दुर्योधन। उसके व्यंग्य तीखे पड़ गए उसके मन पर। बड़ा हारा हुआ है। हारे हुए व्यक्ति--जैसे कि क्रोध में आई हुई बिल्लियां खंभे नोचने लगती हैं--वैसा करने लगते हैं। और स्त्री के सामने जब भी पुरुष हारता है--और इससे बड़ी हार पुरुष को कभी नहीं होती। पुरुष पुरुष से लड़ ले, हार-जीत होती है। लेकिन पुरुष जब स्त्री से हारता है किसी भी क्षण में, तो इससे बड़ी कोई हार नहीं होती।

तो दुर्योधन उस दिन उसे नग्न करने का जितना आयोजन करके बैठा है, वह सारा आयोजन भी हारे हुए पुरुष-मन का है। और उस तरफ जो स्त्री खड़ी है हंसने वाली, वह कोई साधारण स्त्री नहीं है। उसका भी अपना संकल्प है, अपना विल है। उसकी भी अपनी सामर्थ्य है; उसकी भी अपनी श्रद्धा है; उसका भी अपना होना है। उसकी उस श्रद्धा में, वह जो कथा है, वह कथा तो काव्य है कि कृष्ण उसकी साड़ी को बढ़ाए चले जाते हैं। लेकिन मतलब सिर्फ इतना है कि जिसके पास अपना संकल्प है, उसे परमात्मा का सारा संकल्प तत्काल उपलब्ध हो जाता है। तो अगर परमात्मा के हाथ उसे मिल जाते हैं, तो कोई आश्चर्य नहीं।

तो मैंने कहा, और मैं फिर से कहता हूं, द्रौपदी नग्न की गई, लेकिन हुई नहीं। नग्न करना बहुत आसान है, उसका हो जाना बहुत और बात है। बीच में अज्ञात विधि आ गई, बीच में अज्ञात कारण आ गए। दुर्योधन ने जो चाहा, वह हुआ नहीं। कर्म का अधिकार था, फल का अधिकार नहीं था।

यह द्रौपदी बहुत अनूठी है। यह पूरा युद्ध हो गया। भीष्म पड़े हैं शय्या पर--बाणों की शय्या पर--और कृष्ण कहते हैं पांडवों को कि पूछ लो धर्म का राज! और वह द्रौपदी हंसती है। उसकी हंसी पूरे महाभारत पर छाई है। वह हंसती है कि इनसे पूछते हैं धर्म का रहस्य! जब मैं नग्न की जा रही थी, तब ये सिर झुकाए बैठे थे। उसका व्यंग्य गहरा है। वह स्त्री बहुत असाधारण है।

काश! हिंदुस्तान की स्त्रियों ने सीता को आदर्श न बनाकर द्रौपदी को आदर्श बनाया होता, तो हिंदुस्तान की स्त्री की शान और होती।

लेकिन नहीं, द्रौपदी खो गई है। उसका कोई पता नहीं है। खो गई। एक तो पांच पतियों की पत्नी है, इसलिए मन को पीड़ा होती है। लेकिन एक पति की पत्नी होना भी कितना मुश्किल है, उसका पता नहीं है। और जो पांच पतियों को निभा सकी है, वह साधारण स्त्री नहीं है, असाधारण है, सुपर ह्यूमन है। सीता भी अतिमानवीय है, लेकिन टू ह्यूमन के अर्थों में। और द्रौपदी भी अतिमानवीय है, लेकिन सुपर ह्यूमन के अर्थों में।

पूरे भारत के इतिहास में द्रौपदी को सिर्फ एक आदमी ने प्रशंसा दी है। और एक ऐसे आदमी ने जो बिल्कुल अनपेक्षित है। पूरे भारत के इतिहास में डाक्टर राम मनोहर लोहिया को छोड़कर किसी आदमी ने द्रौपदी को सम्मान नहीं दिया है, हैरानी की बात है। मेरा तो लोहिया से प्रेम इस बात से हो गया कि पांच हजार साल के इतिहास में एक आदमी, जो द्रौपदी को सीता के ऊपर रखने को तैयार है।

यह जो मैंने कहा, आदमी करता है कर्म फल की अति आकांक्षा से, कर्म भी नहीं हो पाता और फल की अति आकांक्षा से दुराशा और निराशा ही हाथ लगती है। कृष्ण ने यह बहुत बहुमूल्य सूत्र कहा है। इसे हृदय के बहुत कोने में सम्हालकर रख लेने जैसा है।

करें कर्म, वह हाथ में है; अभी है, यहीं है। फल को छोड़ें। फल को छोड़ने का साहस दिखलाएं। कर्म को करने का संकल्प, फल को छोड़ने का साहस, फिर कर्म निश्चित ही फल ले आता है। लेकिन आप उस फल को मत लाएं, वह तो कर्म के पीछे छाया की तरह चला आता है। और जिसने छोड़ा भरोसे से, उसके छोड़ने में ही, उसके भरोसे में ही, जगत की सारी ऊर्जा सहयोगी हो जाती है।

जैसे ही हम मांग करते हैं, ऐसा हो, वैसे ही हम जगत-ऊर्जा के विपरीत खड़े हो जाते हैं और शत्रु हो जाते हैं। जैसे ही हम कहते हैं, जो तेरी मर्जी; जो हमें करना था, वह हमने कर लिया, अब तेरी मर्जी पूरी हो; हम जगत-ऊर्जा के प्रति मैत्री से भर जाते हैं। और जगत और हमारे बीच, जीवन-ऊर्जा और हमारे बीच, परमात्मा और हमारे बीच एक हार्मनी, एक संगीत फलित हो जाता है। जैसे ही हमने कहा कि नहीं, किया भी मैंने, जो चाहता हूं वह हो भी, वैसे ही हम जगत के विपरीत खड़े हो गए हैं। और जगत के विपरीत खड़े होकर सिवाय निराशा के, असफलता के कभी कुछ हाथ नहीं लगता है। इसलिए कर्मयोगी के लिए कर्म ही अधिकार है। फल! फल परमात्मा का प्रसाद है।

योगस्थः कुरु कर्माणि संगं त्यक्त्वा धनंजय।
सिद्ध्यसिद्ध्योः समो भूत्वा समत्वं योग उच्यते।। 48।।

हे धनंजय, आसक्ति को त्यागकर, सिद्धि और असिद्धि में समान बुद्धि वाला होकर, योग में स्थित हुआ कर्मों को कर। यह समत्वभाव ही योग नाम से कहा जाता है।

समता ही योग है--इक्विलिब्रियम, संतुलन, संगीत। दो के बीच चुनाव नहीं, दो के बीच समभाव; विरोधों के बीच चुनाव नहीं, अविरोध; दो अतियों के बीच, दो पोलेरिटीज के बीच, दो ध्रुवों के बीच पसंद-नापसंद नहीं, राग-द्वेष नहीं, साक्षीभाव। समता का अर्थ ठीक से समझ लेना जरूरी है, क्योंकि कृष्ण कहते हैं, वही योग है।

समत्व कठिन है बहुत। चुनाव सदा आसान है। मन कहता है, इसे चुन लो, जिसे चुनते हो, उससे विपरीत को छोड़ दो। कृष्ण कहते हैं, चुनो ही मत। दोनों समान हैं, ऐसा जानो। और जब दोनों समान हैं, तो चुनेंगे कैसे? चुनाव तभी तक हो सकता है, जब असमान हों। एक हो श्रेष्ठ, एक हो अश्रेष्ठ; एक में दिखती हो सिद्धि, एक में दिखती हो असिद्धि; एक में दिखता हो शुभ, एक में दिखता हो अशुभ। कहीं न कहीं कोई तुलना का उपाय हो, कंपेरिजन हो, तभी चुनाव है। अगर दोनों ही समान हैं, तो चुनाव कहां?

चौराहे पर खड़े हैं। अगर सभी रास्ते समान हैं, तो जाना कहां? जाएंगे कैसे? चुनेंगे कैसे? खड़े हो जाएंगे। लेकिन अगर एक रास्ता ठीक है और एक गलत, तो जाएंगे, गति होगी। जहां भी असमान दिखा, तत्काल चित्त यात्रा पर निकल जाता है--दि वेरी मोमेंट। यहां पता चला कि वह ठीक, पता नहीं चला कि चित्त गया। पता चला कि वह गलत, पता नहीं चला कि चित्त लौटा। पता लगा प्रीतिकर, पता लगा अप्रीतिकर; पता लगा

श्रेयस, पता लगा अश्रेयस--यहां पता लगा मन को, कि मन गया। पता लगना ही मन के लिए तत्काल रूपांतरण हो जाता है। और समता उसे उपलब्ध होती है, जो बीच में खड़ा हो जाता है।

कभी रस्सी पर चलते हुए नट को देखा? नट चुन सकता है, किसी भी ओर गिर सकता है। गिर जाए, झंझट के बाहर हो जाए। लेकिन दोनों गिराव के बीच में सम्हालता है। अगर वह झुकता भी दिखाई पड़ता है आपको, तो सिर्फ अपने को सम्हालने के लिए, झुकने के लिए नहीं। और आप अगर सम्हले भी दिखते हैं, तो सिर्फ झुकने के लिए। आप अगर एक क्षण चौरस्ते पर खड़े भी होते हैं, तो चुनने के लिए, कि कौन-से रास्ते से जाऊं! अगर एक क्षण विचार भी करते हैं, तो चुनाव के लिए, कि क्या ठीक है! क्या करूं, क्या न करूं! क्या अच्छा है, क्या बुरा है! किससे सफलता मिलेगी, किससे असफलता मिलेगी! क्या होगा लाभ, क्या होगी हानि! अगर चिंतन भी करते हैं कभी, तो चुनाव के लिए।

नट को देखा है रस्सी पर! झुकता भी दिखता है, लेकिन झुकने के लिए नहीं। जब वह बाएं झुकता है, तब आपने कभी ख्याल किया है, कि बाएं वह तभी झुकता है, जब दाएं गिरने का डर पैदा होता है। दाएं तब झुकता है, जब बाएं गिरने का डर पैदा होता है। वह दाएं गिरने के डर को बाएं झुककर बैलेंस करता है। बाएं और दाएं के बीच, राइट और लेफ्ट के बीच वह पूरे वक्त अपने को सम कर रहा है।

निश्चित ही, यह समता जड़ नहीं है, जैसा कि पत्थर पड़ा हो। जीवन में भी समता जड़ नहीं है, जैसा पत्थर पड़ा हो। जीवन की समता भी नट जैसी समता ही है--प्रतिपल जीवित है, सचेतन है, गतिमान है।

दो तरह की समता हो सकती है। एक आदमी सोया पड़ा है गहरी सुषुप्ति में, वह भी समता को उपलब्ध है। क्योंकि वहां भी कोई चुनाव नहीं है। लेकिन सुषुप्ति योग नहीं है। एक आदमी शराब पीकर रास्ते पर पड़ा है; उसे भी सिद्धि और असिद्धि में कोई फर्क नहीं है। लेकिन शराब पी लेना समता नहीं है, न योग है। यद्यपि कई लोग शराब पीकर भी योग की भूल में पड़ते हैं।

तो गांजा पीने वाले योगी भी हैं, चरस पीने वाले योगी भी हैं। और आज ही हैं, ऐसा नहीं है, अति प्राचीन हैं। और अभी तो उनका प्रभाव पश्चिम में बहुत बढ़ता जाता है। अभी तो बस्तियां बस गई हैं अमेरिका में, जहां लोग चरस पी रहे हैं। मैस्कलीन, लिसर्जिक एसिड, मारिजुआना, सब चल रहा है। वे भी इस ख्याल में हैं कि जब नशे में धुत होते हैं, तो समता सध जाती है, क्योंकि चुनाव नहीं रहता।

कृष्ण अर्जुन को ऐसी समता को नहीं कह रहे हैं कि तू बेहोश हो जा! बेहोशी में भी चुनाव नहीं रहता, क्योंकि चुनाव करने वाला नहीं रहता। लेकिन जब चुनाव करने वाला ही न रहा, तो चुनाव के न रहने का क्या प्रयोजन है? क्या अर्थ है? क्या उपलब्धि है?

नहीं, चुनाव करने वाला है; चाहे तो चुनाव कर सकता है; नहीं करता है। और जब चाहते हुए चुनाव नहीं करता कोई, जानते हुए जब दो विरोधों से अपने को बचा लेता है, बीच में खड़ा हो जाता है, तो योग को उपलब्ध होता है, समाधि को उपलब्ध होता है।

सुषुप्ति और समाधि में बड़ी समानता है। चाहें तो हम ऐसी परिभाषा कर सकते हैं कि सुषुप्ति मूर्च्छित समाधि है। और ऐसी भी कि समाधि जाग्रत सुषुप्ति है। बड़ी समानता है। सुषुप्ति में आदमी प्रकृति की समता को उपलब्ध हो जाता है, समाधि में व्यक्ति परमात्मा की समता को उपलब्ध होता है।

इसलिए दुनिया में बेहोशी का जो इतना आकर्षण है, उसका मौलिक कारण धर्म है। शराब का जो इतना आकर्षण है, उसका मौलिक कारण धार्मिक इच्छा है।

आप कहेंगे, क्या मैं यह कह रहा हूं कि धार्मिक आदमी को शराब पीनी चाहिए? नहीं, मैं यही कह रहा हूं कि धार्मिक आदमी को शराब नहीं पीनी चाहिए, क्योंकि शराब धर्म का सब्स्टीट्यूट बन सकती है। नशा धर्म का परिपूरक बन सकता है। क्योंकि वहां भी एक तरह की समता, जड़ समता उपलब्ध होती है।

कृष्ण जिस समता की बात कर रहे हैं, वह सचेतन समता की बात है। उस युद्ध के क्षण में तो बहुत सचेतन होना पड़ेगा न! युद्ध के क्षण में तो बेहोश नहीं हुआ जा सकता, मारिजुआना और एल एस डी नहीं लिया जा सकता, न चरस पी जा सकती है। युद्ध के क्षण में तो पूरा जागना होगा।

कभी आपने ख्याल किया हो, न किया हो! जितने खतरे का क्षण होता है, आप उतने ही जागे हुए होते हो।

अगर हम यहां बैठे हैं, और यहां जमीन पर मैं एक फीट चौड़ी और सौ फीट लंबी लकड़ी की पट्टी बिछा दूं और आपसे उस पर चलने को कहूं, तो कोई गिरेगा उस पट्टी पर से? कोई भी नहीं गिरेगा। बच्चे भी निकल जाएंगे, बूढ़े भी निकल जाएंगे, बीमार भी निकल जाएंगे; कोई नहीं गिरेगा। लेकिन फिर उस पट्टी को इस मकान की छत पर और दूसरे मकान की छत पर रख दें। वही पट्टी है, एक फीट चौड़ी है। ज्यादा चौड़ी नहीं हो गई, कम चौड़ी नहीं की, उतनी ही लंबी है। फिर हमसे कहा जाए, चलें इस पर! तब कितने लोग चलने को राजी होंगे?

गणित और विज्ञान के हिसाब से कुछ भी फर्क नहीं पड़ा है। पट्टी वही है, आप भी वही हैं। खतरा क्या है? डर क्या है? और जब आप नीचे निकल गए थे चलकर और नहीं गिरे थे, तो अभी गिर जाएंगे, इसकी संभावना क्या है?

नहीं, लेकिन आप कहेंगे, अब नहीं चल सकते। क्यों? क्योंकि जमीन पर चलते वक्त जागने की कोई भी जरूरत न थी, सोए-सोए भी चल सकते थे। अब इस पर जागकर चलना पड़ेगा; खतरा नीचे खड़ा है। इतना जागकर चलने का भरोसा नहीं है कि सौ फीट तक जागे रह सकेंगे। एक-दो फीट चलेंगे, होश खो जाएगा। कोई फिल्मी गाना बीच में आ जाएगा, कुछ और आ जाएगा; जमीन पर हो जाएंगे। नीचे एक कुत्ता ही भौंक देगा, तो सब समता समाप्त हो जाएगी। तो आप कहेंगे, नहीं, अब नहीं चल सकते। अब क्यों नहीं चल सकते हैं? अब एक नई जरूरत--खतरे में जागरण चाहिए।

मनोवैज्ञानिक कहते हैं कि युद्ध का इतना आकर्षण भी खतरे का आकर्षण है। इसलिए कभी आपने ख्याल किया, जब दुनिया में युद्ध चलता है, तो लोगों के चेहरों की रौनक बढ़ जाती है, घटती नहीं। और जो आदमी कभी आठ बजे नहीं उठा था, वह पांच बजे उठकर रेडियो खोल लेता है। पांच बजे से पूछता है, अखबार कहां है? जिंदगी में एक पुलक आ जाती है! बात क्या है? युद्ध के क्षण में इतनी पुलक?

युद्ध का खतरा हमारी नींद को थोड़ा कम करता है। हम थोड़े जागते हैं। जागने का अपना रस है। इसलिए दस-पंद्रह साल में सोई हुई मनुष्यता को एक युद्ध पैदा करना पड़ता है, क्योंकि और कोई रास्ता नहीं है। और किसी तरह जागने का उपाय नहीं है। और जब युद्ध पैदा हो जाता है, तो रौनक छा जाती है। जिंदगी में रस, पुलक और गति आ जाती है।

युद्ध के इस क्षण में कृष्ण बेहोशी की बात तो कह ही नहीं सकते हैं, वह वर्जित है; उसका कोई सवाल ही नहीं उठता है। फिर कृष्ण जिस समता की बात कर रहे हैं, जिस योग की, वह क्या है? वह है, दो के बीच, द्वंद्व के बीच निर्द्वंद्व, अचुनाव, च्वाइसलेसनेस। कैसे होगा यह? अगर आपने द्वंद्व के बीच निर्द्वंद्व होना भी चुना, तो वह भी चुनाव है।

इसे समझ लें। यह जरा थोड़ा कठिन पड़ेगा।

अगर आपने दो द्वंद्व के बीच निर्द्वंद्व होने को चुना, तो दैट टू इ.ज ए च्वाइस, वह भी एक चुनाव है। निर्द्वंद्व आप नहीं हो सकते। अब आप नए द्वंद्व में जुड़ रहे हैं--द्वंद्व में रहना कि निर्द्वंद्व रहना। अब यह द्वंद्व है, अब यह

कांफ्लिक्ट है। अगर आप इसका चुनाव करते हैं कि निर्द्वंद्व रहेंगे हम, हम द्वंद्व में नहीं पड़ते, तो यह फिर चुनाव हो गया। अब जरा बारीक और नाजुक बात हो गई। लेकिन निर्द्वंद्व को कोई चुन ही नहीं सकता। निर्द्वंद्व अचुनाव में खिलता है; वह आपका चुनाव नहीं है। अचुनाव में निर्द्वंद्व का फूल खिलता है; आप चुन नहीं सकते। तो आपको द्वंद्व और निर्द्वंद्व में नहीं चुनना है।

गीता के इस सूत्र को पढ़कर अनेक लोग मेरे पास आकर कहते हैं कि हम कैसे समतावान हों? यानी मतलब, हम समता को कैसे चुनें? कृष्ण तो कहते हैं कि समता योग है, तो हम समता को कैसे पा लें?

वे समता को चुनने की तैयारी दिखला रहे हैं। कृष्ण कहते हैं, चुना कि समता खोई। फिर तुमने द्वंद्व बनाया--असमता और समता का द्वंद्व बना लिया। असमता छोड़नी है, समता चुननी है! इससे क्या फर्क पड़ता है कि तुम द्वंद्व का पेयर कैसा बनाते हो? बादशाह और गुलाम का बनाते हो, कि बेगम और बादशाह का बनाते हो--इससे कोई फर्क नहीं पड़ता। आप द्वंद्व बनाए बिना रह नहीं सकते। और जो द्वंद्व बनाता है, वह समता को उपलब्ध नहीं होता है। फिर कैसे? क्या है रास्ता?

रास्ता एक ही है कि द्वंद्व के प्रति जागें; कुछ करें मत, जस्ट बी अवेयर। जानें कि एक रास्ता यह और एक रास्ता यह और यह मैं, तीन हैं यहां। यह रही सफलता, यह रही विफलता और यह रहा मैं। यह तीसरा मैं जो हूं, इसके प्रति जागें। और जैसे ही इस तीसरे के प्रति जागेंगे, जैसे ही यह थर्ड फोर्स, यह तीसरा तत्व नजर में आएगा, कि न तो मैं सफलता हूं, न मैं विफलता हूं। विफलता भी मुझ पर आती है, सफलता भी मुझ पर आती है। सफलता भी चली जाती है, विफलता भी चली जाती है। सुबह होती है, सूरज खिलता है, रोशनी फैलती है। मैं रोशनी में खड़ा हो जाता हूं। फिर सांझ होती, अंधेरा आता है, फिर अंधेरा मेरे ऊपर छा जाता है। लेकिन न तो मैं प्रकाश हूं, न मैं अंधेरा हूं। न तो मैं दिन हूं, न मैं रात हूं। क्योंकि दिन भी मुझ पर आकर निकल जाता है और फिर भी मैं होता हूं। रात भी मुझ पर होकर निकल जाती है, फिर भी मैं होता हूं। निश्चित ही, रात और दिन से मैं अलग हूं, पृथक हूं, अन्य हूं।

यह बोध कि मैं भिन्न हूं द्वंद्व से, द्वंद्व को तत्काल गिरा देता है और निर्द्वंद्व फूल खिल जाता है। वह समता का फूल योग है। और जो समता को उपलब्ध हो जाता है, उसे कुछ भी और उपलब्ध करने को बाकी नहीं बचता है।

इसलिए कृष्ण कहते हैं, अर्जुन, तू समत्व को उपलब्ध हो। छोड़ फिक्र सिद्धि की, असिद्धि की; सफलता, असफलता की; हिंसा-अहिंसा की; धर्म की, अधर्म की; क्या होगा, क्या नहीं होगा; ईदर आर छोड़! तू अपने में खड़ा हो। तू जाग। तू जागकर द्वंद्व को देख। तू समता में प्रवेश कर। क्योंकि समता ही योग है।

दूरेण ह्यवरं कर्म बुद्धियोगाद्धनंजय।
बुद्धौ शरणमन्विच्छ कृपणाः फलहेतवः।। 49।।

इस समत्व रूप बुद्धियोग से सकाम कर्म अत्यंत तुच्छ है, इसलिए हे धनंजय, समत्वबुद्धियोग का आश्रय ग्रहण कर, क्योंकि फल की वासना वाले अत्यंत दीन हैं।

कृष्ण कहते हैं, धनंजय, बुद्धियोग को खोजो। मैंने जो अभी कहा, द्वंद्व को छोड़ो, स्वयं को खोजो; उसी को कृष्ण कहते हैं, बुद्धि को खोजो। क्योंकि स्वयं का जो पहला परिचय है, वह बुद्धि है। स्वयं का जो पहला परिचय है। अपने से परिचित होने चलेंगे, तो द्वार पर ही जिससे परिचय होगा, वह बुद्धि है। स्वयं का द्वार बुद्धि है। और स्वयं के इस द्वार में से प्रवेश किए बिना कोई भी न आत्मवान होता है, न ज्ञानवान होता है। यह बुद्धि का द्वार

है। लेकिन बुद्धि के द्वार पर हमारी दृष्टि नहीं जाती, क्योंकि बुद्धि से हमेशा हम कर्मों के चुनाव का काम करते रहते हैं।

बुद्धि के दो उपयोग हो सकते हैं। सब दरवाजों के दो उपयोग होते हैं। प्रत्येक दरवाजे के दो उपयोग हैं। होंगे ही। सब दरवाजे इसीलिए बनाए जाते हैं; उनसे बाहर भी जाया जा सकता है, उनसे भीतर भी जाया जा सकता है। दरवाजे का मतलब ही यह होता है कि उससे बाहर भी जाया जा सकता है, उससे भीतर भी जाया जा सकता है। जिससे भी बाहर जा सकते हैं, उससे ही भीतर भी जा सकते हैं। लेकिन हमने अब तक बुद्धि के दरवाजे का एक ही उपयोग किया है--बाहर जाने का। हमने अब तक उसका एक्जिट का उपयोग किया है, एंट्रेंस का उपयोग नहीं किया। जिस दिन आदमी बुद्धि का एंट्रेंस की तरह, प्रवेश की तरह उपयोग करता है, उसी दिन--उसी दिन--जीवन में क्रांति फलित हो जाती है।

अर्जुन भी बुद्धि का उपयोग कर रहा है। ऐसा नहीं कि नहीं कर रहा है; कहना चाहिए, जरूरत से ज्यादा ही कर रहा है। इतना ज्यादा कर रहा है कि कृष्ण को भी उसने दिक्कत में डाला हुआ है। बुद्धि का भलीभांति उपयोग कर रहा है। निर्बुद्धि नहीं है, बुद्धि काफी है। वह काफी बुद्धि ही उसे कठिनाई में डाले हुए है। निर्बुद्धि वहां और भी बहुत हैं, वे परेशान नहीं हैं।

लेकिन बुद्धि का वह एक ही उपयोग जानता है। वह बुद्धि का उपयोग कर रहा है कि यह करूं तो ठीक, कि वह करूं तो ठीक? ऐसा होगा, तो क्या होगा? वैसा होगा, तो क्या होगा? वह बुद्धि का उपयोग कर रहा है बहिर्जगत के संबंध में; वह बुद्धि का उपयोग कर रहा है फलों के लिए; वह बुद्धि का उपयोग कर रहा है कि कल क्या होगा? परसों क्या होगा? संतति कैसी होगी? कुल नाश होगा? क्या होगा? क्या नहीं होगा? वह बुद्धि का सारा उपयोग कर रहा है। सिर्फ एक उपयोग नहीं कर रहा है--भीतर प्रवेश का।

कृष्ण उससे कहते हैं, धनंजय, कर्म के संबंध में ही सोचते रहना बड़ी निकृष्ट उपयोगिता है बुद्धि की। उसके संबंध में भी सोचो, जो कर्म के संबंध में सोच रहा है। कर्म को ही देखते रहना, बाहर ही देखते रहना, बुद्धि का अत्यल्प उपयोग है--निकृष्टतम!

अगर इसे ऐसा कहें कि व्यवहार के लिए ही बुद्धि का उपयोग करना--क्या करना, क्या नहीं करना--बुद्धि की क्षमता का न्यूनतम उपयोग है। और इसलिए हमारी बुद्धि पूरी काम में नहीं आती, क्योंकि उतनी बुद्धि की जरूरत नहीं है। जहां सुई से काम चल जाता है, वहां तलवार की जरूरत ही नहीं पड़ती।

अगर वैज्ञानिक से पूछें, तो वह कहता है कि श्रेष्ठतम मनुष्य भी अपनी बुद्धि के पंद्रह प्रतिशत से ज्यादा का उपयोग नहीं करते हैं; कुल पंद्रह प्रतिशत, वह भी श्रेष्ठतम! श्रेष्ठतम यानी कोई आइंस्टीन या कोई बर्ट्रेंड रसेल। तो जो दुकान पर बैठा है, वह आदमी कितनी करता है? जो दफ्तर में काम कर रहा है, वह आदमी कितनी करता है? जो स्कूल में पढ़ा रहा है, वह आदमी कितना काम करता है बुद्धि से? दो-ढाई परसेंट, इससे ज्यादा नहीं। दो-ढाई परसेंट भी पूरी जिंदगी नहीं करता आदमी उपयोग, केवल अठारह साल की उम्र तक। अठारह साल की उम्र के बाद तो मुश्किल से ही कोई उपयोग करता है। क्योंकि कई बातें बुद्धि सीख लेती है, कामचलाऊ सब बातें बुद्धि सीख लेती है, फिर उन्हीं से काम चलाती रहती है जिंदगीभर।

अठारह साल के बाद मुश्किल से आदमी मिलेगा, जिसकी बुद्धि बढ़ती है। आप कहेंगे, गलत। सत्तर साल के आदमी के पास अठारह साल के आदमी से ज्यादा अनुभव होता है। अनुभव ज्यादा होता है, बुद्धि ज्यादा नहीं होती; अठारह साल की ही बुद्धि होती है। उसी बुद्धि से वह, उसी चम्मच से वह अनुभव को इकट्ठा करता चला जाता है। चम्मच बड़ी नहीं करता; चम्मच वही रहती है; बस उससे अनुभव को इकट्ठा करता चला जाता है। अनुभव का ढेर बढ़ जाता है उसके पास; बाकी चम्मच जो उसकी बुद्धि की होती है, वह अठारह साल वाली ही होती है।

दूसरे महायुद्ध में तो बड़ी कठिनाई हुई। कठिनाई यह हुई कि दूसरे महायुद्ध में अमेरिका को जांच-पड़ताल करनी पड़ी कि हम जिन सैनिकों को भेजते हैं, उनका आई.क्यू. कितना है, उनका बुद्धि-माप कितना है। युद्ध में भेज रहे हैं, तो उनकी बुद्धि की जांच भी तो होनी चाहिए! शरीर की जांच तो हो जाती है कि यह आदमी ताकतवर है, लड़ सकता है, सब ठीक। लेकिन अब युद्ध जो है, वह शरीर से नहीं चल रहा है, मस्कुलर नहीं रह गया है। अब युद्ध बहुत कुछ मानसिक हो गया है। बुद्धि कितनी है?

तो बड़ी हैरानी हुई। युद्ध के मैदान के लिए जो सैनिक भर्ती हो रहे थे, उनकी जांच करने से पता चला कि उन सभी सैनिकों की जो औसत बुद्धि की उम्र है, वह तेरह साल से ज्यादा की नहीं है। तेरह साल! उसमें युनिवर्सिटी के ग्रेजुएट हैं, उसमें मैट्रिक से कम पढ़ा-लिखा तो कोई भी नहीं है। कहना चाहिए, पढ़े-लिखे से पढ़ा-लिखा वर्ग है। उसकी उम्र भी उतनी ही है जितनी तेरह साल के बच्चे की होनी चाहिए--बुद्धि की। बड़ी चौंकाने वाली, बड़ी घबराने वाली बात है। मगर कारण है। और कारण यह है कि बाहर की दुनिया में जरूरत ही नहीं है बुद्धि की इतनी।

इसलिए जब कृष्ण कहते हैं तो बहुत मनोवैज्ञानिक सत्य कह रहे हैं वह कि निकृष्टतम उपयोग है कर्म के लिए बुद्धि का। निकृष्टतम! बुद्धि के योग्य ही नहीं है वह। वह बिना बुद्धि के भी हो सकता है। मशीनें आदमी से अच्छा काम कर लेती हैं।

सच तो यह है कि आदमी रोज मशीनों से हारता जा रहा है, और धीरे-धीरे आदमियों को कारखाने, दफ्तर के बाहर होना पड़ेगा। मशीनें उनकी जगह लेती चली जाएंगी। क्योंकि आदमी उतना अच्छा काम नहीं कर पाता, जितना ज्यादा अच्छा मशीनें कर लेती हैं। उसका कारण सिर्फ एक ही है कि मशीनों के पास बिल्कुल बुद्धि नहीं है। भूल-चूक के लिए भी बुद्धि होनी जरूरी है। गलती करने के लिए भी बुद्धि होनी जरूरी है। मशीनें गलती करती ही नहीं। करती चली जाती हैं, जो कर रही हैं।

हम भी सत्रह-अठारह साल की उम्र होते-होते तक मेकेनिकल हो जाते हैं। दिमाग सीख जाता है क्या करना है, फिर उसको करता चला जाता है।

एक और बुद्धि का महत उपयोग है--बुद्धियोग--बुद्धिमानी नहीं, बुद्धिमत्ता नहीं, इंटलेक्चुअलिज्म नहीं, सिर्फ बौद्धिकता नहीं। बुद्धियोग का क्या मतलब है कृष्ण का? बुद्धियोग का मतलब है, जिस दिन हम बुद्धि के द्वार का बाहर के जगत के लिए नहीं, बल्कि स्वयं को जानने की यात्रा के लिए प्रयोग करते हैं। तब सौ प्रतिशत बुद्धि की जरूरत पड़ती है। तब स्वयं-प्रवेश के लिए समस्त बुद्धिमत्ता पुकारी जाती है।

अगर बायोलाजिस्ट से पूछें, तो वह कहता है, आदमी की आधी खोपड़ी बिल्कुल बेकाम पड़ी है; आधी खोपड़ी का कोई भी हिस्सा काम नहीं कर रहा है। बड़ी चिंता की बात है जीव-शास्त्र के लिए कि बात क्या है? इसकी शरीर में जरूरत क्या है? यह जो सिर का बड़ा हिस्सा बेकार पड़ा है, कुछ करता ही नहीं; इसको काट भी दें तो चल सकता है; आदमी में कोई फर्क नहीं पड़ेगा; पर यह है क्यों? क्योंकि प्रकृति कुछ भी व्यर्थ तो बनाती नहीं। या तो यह हो सकता है कि पहले कभी आदमी पूरी खोपड़ी का उपयोग करता रहा हो, फिर भूल-चूक हो गई हो कुछ, आधी खोपड़ी के द्वार-दरवाजे बंद हो गए हैं। या यह हो सकता है कि आगे संभावना है कि आदमी के मस्तिष्क में और बहुत कुछ पोटेंशियल है, बीजरूप है, जो सक्रिय हो और काम करे।

दोनों ही बातें थोड़ी दूर तक सच हैं। ऐसे लोग पृथ्वी पर हो चुके हैं, बुद्ध या कृष्ण या कपिल या कणाद, जिन्होंने पूरी-पूरी बुद्धि का उपयोग किया। ऐसे लोग भविष्य में भी होंगे, जो इसका पूरा-पूरा उपयोग करें। लेकिन बाहर के काम के लिए थोड़ी-सी ही बुद्धि से काम चल जाता है। वह न्यूनतम उपयोग है--निकृष्टतम।

अर्जुन को कृष्ण कहते हैं, धनंजय, तू बुद्धियोग को उपलब्ध हो। तू बुद्धि का भीतर जाने के लिए, स्वयं को जानने के लिए, उसे जानने के लिए जो सब चुनावों के बीच में चुनने वाला है, जो सब करने के बीच में करने वाला है, जो सब घटनाओं के बीच में साक्षी है, जो सब घटनाओं के पीछे खड़ा है दूर, देखने वाला द्रष्टा है, उसे तू

खोज। और जैसे ही उसे तू खोज लेगा, तू समता को उपलब्ध हो जाएगा। फिर ये बाहर की चिंताएं--ऐसा ठीक, वैसा गलत--तुझे पीड़ित और परेशान नहीं करेंगी। तब तू निश्चिंत भाव से जी सकता है। और वह निश्चिंतता तेरी समता से आएगी, तेरी बेहोशी से नहीं।

बुद्धियुक्तो जहातीह उभे सुकृतदुष्कृते।
तस्माद्योगाय युज्यस्व योगः कर्मसु कौशलम्।। 50।।

बुद्धियुक्त पुरुष पुण्य-पाप दोनों को इस लोक में ही त्याग देता है अर्थात उनसे लिपायमान नहीं होता। इससे बुद्धियोग के लिए ही चेष्टा कर। यह बुद्धिरूप योग ही कर्मों में कुशलता है अर्थात कर्म बंधन से छूटने का उपाय है।

सांख्यबुद्धि को उपलब्ध व्यक्ति पाप-पुण्य से निवृत्त हो जाता है। सांख्यबुद्धि को उपलब्ध व्यक्ति कर्म की कुशलता को उपलब्ध हो जाता है। और कर्म की कुशलता ही, कृष्ण कहते हैं, योग है।

इसमें बहुत-सी बातें हैं। एक तो, सांख्यबुद्धि। इसके पहले सूत्र में मैंने कहा कि बुद्धि का प्रयोग प्रवेश के लिए, बहिर्यात्रा के लिए नहीं, अंतर्यात्रा के लिए है। जिस दिन कोई व्यक्ति अपने विचार का उपयोग अंतर्यात्रा के लिए करता है, उस दिन सांख्य को उपलब्ध होता है। जिस दिन भीतर पहुंचता है, स्वयं में जब खड़ा हो जाता है--स्टैंडिंग इन वनसेल्फ--जब अपने में ही खड़ा हो जाता है, जब स्वयं में और स्वयं के खड़े होने में रत्तीभर का फासला नहीं होता; जब हम वहीं होते हैं जहां हमारा सब कुछ होना है, जब हम वही होते हैं जो हम हैं, जब हम ठीक अपने प्राणों की ज्योति के साथ एक होकर खड़े हो जाते हैं--इसे सांख्यबुद्धि कृष्ण कहते हैं।

मैंने पीछे आपसे कहा कि सांख्य परम ज्ञान है, दि सुप्रीम डॉक्ट्रिन। उससे बड़ा कोई सिद्धांत नहीं है। ह्यूबर्ट बेनॉयट ने एक किताब लिखी है। किताब का नाम है, दि सुप्रीम डॉक्ट्रिन। लेकिन उसे सांख्य का कोई पता नहीं है। उसने वह किताब झेन पर लिखी है। लेकिन जो भी लिखा है वह सांख्य है। परम सिद्धांत क्या है? सांख्य को परम ज्ञान कृष्ण कहते हैं, क्या बात है? ज्ञानों में श्रेष्ठतम ज्ञान सांख्य क्यों है?

दो तरह के ज्ञान हैं। एक ज्ञान, जिससे हम ज्ञेय को जानते हैं। और एक दूसरा ज्ञान, जिससे हम ज्ञाता को जानते हैं। एक ज्ञान, जिससे हम आब्जेक्ट को जानते हैं--वस्तु को, विषय को। और एक ज्ञान, जिससे हम सब्जेक्ट को जानते हैं, जानने वाले को ही जानते हैं जिससे। ज्ञान दो हैं। पहला ज्ञान साइंस बन जाता है, आब्जेक्टिव नालेज। दूसरा ज्ञान सांख्य बन जाता है, सब्जेक्टिव नालेज।

मैं आपको जान रहा हूं, यह भी एक जानना है। लेकिन मैं आपको कितना ही जानूं, तब भी पूरा न जान पाऊंगा। मैं आपको कितना ही जानूं, मेरा जानना राउंड अबाउट होगा; मैं आपके आस-पास घूमकर जानूंगा, आपके भीतर नहीं जा सकता। अगर मैं आपके शरीर की चीर-फाड़ भी कर लूं, तो भी बाहर ही जानूंगा, तो भी भीतर नहीं जा सकता। अगर मैं आपके मस्तिष्क के भी टुकड़े-टुकड़े कर लूं, तो भी बाहर ही रहूंगा, भीतर नहीं जा सकता। उन अर्थों में मैं आपके भीतर नहीं जा सकता, जिन अर्थों में आप अपने भीतर हैं। यह इंपासिबिलिटी है।

आपके पैर में दर्द हो रहा है। मैं समझ सकता हूं, क्या हो रहा है। मेरे पैर में भी दर्द हुआ है। नहीं हुआ है, तो मेरे सिर में दर्द हुआ है, तो भी मैं अनुमान कर सकता हूं कि आपको क्या हो रहा है। अगर कुछ भी नहीं हुआ है, तो भी आपके चेहरे को देखकर समझ सकता हूं कि कोई पीड़ा हो रही है। लेकिन सच में आपको क्या हो रहा है, इसे मैं बाहर से ही जान सकता हूं। वह इनफरेंस है, अनुमान है। मैं अनुमान कर रहा हूं कि ऐसा कुछ हो रहा है। लेकिन जैसे आप अपने दर्द को जान रहे हैं, वैसा जानने का मेरे लिए आपके बाहर से कोई भी उपाय नहीं है।

लीबनिज हुआ एक बहुत बड़ा गणितज्ञ और विचारक। उसने आदमी के लिए एक शब्द दिया है, मोनोड। वह कहता है, हर आदमी एक बंद मकान है, जिसमें कोई द्वार-दरवाजा-खिड़की भी नहीं है। मोनोड का मतलब है, विंडोलेस सेल--एक बंद मकान, जिसमें कोई खिड़की भी नहीं है, जिसमें से घुस जाओ और भीतर जाकर जान लो कि क्या हो रहा है!

आप प्रेम से भरे हैं। क्या करें कि हम आपके प्रेम को जान लें बाहर से? कोई उपाय नहीं है। कोई उपाय नहीं है। निर-उपाय है। हां, लेकिन कुछ-कुछ जान सकते हैं। पर वह जो जानना है, वह ठीक नहीं है कहना कि ज्ञान है।

तो बर्ट्रेंड रसेल ने दो शब्द बनाए हैं। एक को वह कहता है नालेज, और एक को कहता है एक्वेनटेंस। एक को वह कहता है ज्ञान, और एक को कहता है परिचय। तो दूसरे का हम ज्यादा से ज्यादा परिचय कर सकते हैं, एक्वेनटेंस कर सकते हैं; दूसरे का ज्ञान नहीं हो सकता। और दूसरे का जो परिचय है, उसमें भी इतने मीडियम हैं बीच में कि वह ठीक है, इसका कभी भरोसा नहीं हो सकता है।

आप वहां बैठे हैं बीस गज की दूरी पर। मैंने आपके चेहरे को कभी नहीं देखा, हालांकि अभी भी देख रहा हूं। फिर भी आपके चेहरे को नहीं देख रहा हूं। आपके पास से ये प्रकाश की किरणें, आपके चेहरे को लेकर मेरी आंखों के भीतर जा रही हैं। फिर आंखों के भीतर ये प्रकाश की किरणें मेरी आंखों के तंतुओं को हिला रही हैं। फिर वे आंखों के तंतु मेरे भीतर जाकर मस्तिष्क के किसी रासायनिक द्रव्य में कुछ कर रहे हैं, जिसको अभी वैज्ञानिक भी नहीं कहते कि क्या कर रहे हैं। वे कहते हैं, समथिंग। अभी पक्का नहीं होता कि वे वहां क्या कर रहे हैं! उनके कुछ करने से मुझे आप दिखाई पड़ रहे हैं। पता नहीं, आप वहां हैं भी या नहीं। क्योंकि सपने में भी आप मुझे दिखाई पड़ते हैं और नहीं होते हैं; सुबह पाता हूं, नहीं हैं। अभी आप दिखाई पड़ रहे हैं, पता नहीं, हैं या नहीं! क्योंकि कौन कह सकता है कि जो मैं देख रहा हूं, वह सपना नहीं है! कौन कह सकता है कि जो मैं देख रहा हूं, वह सपना नहीं है!

फिर पीलिया का मरीज है, उसे सब चीजें पीली दिखाई पड़ती हैं। कलर ब्लाइंड लोग होते हैं--दस में से एक होता है, यहां भी कई लोग होंगे--उनको खुद भी पता नहीं होता। कुछ लोग रंगों के प्रति अंधे होते हैं। कोई किसी रंग के प्रति अंधा होता है। पता नहीं चलता, बहुत मुश्किल है पता चलना। क्योंकि अभाव का पता चलना बहुत मुश्किल है।

बर्नार्ड शा हरे रंग के प्रति अंधा था--साठ साल की उम्र में पता चला। साठ साल तक उसे पता ही नहीं था कि हरा रंग उसे दिखाई ही नहीं पड़ता! उसे हरा और पीला एक-सा दिखाई पड़ता था। कभी कोई मौका ही नहीं आया कि जिसमें जांच-पड़ताल हो जाती। वह तो साठवीं वर्षगांठ पर किसी ने एक सूट उसे भेंट भेजा। हरे रंग का सूट था। टाई भेजना भूल गया होगा। तो बर्नार्ड शा न सोचा कि टाई भी खरीद लाएं, तो पूरा हो जाए। तो बाजार में टाई खरीदने गया; पीले रंग की टाई खरीद लाया।

सेक्रेटरी ने रास्ते में कहा कि आप यह क्या कर रहे हैं, बड़ी अजीब मालूम पड़ेगी! पीले रंग की टाई और हरे रंग के कोट पर? बर्नार्ड शा ने कहा, पीला और हरा! क्या दोनों बिल्कुल मैच नहीं करते? दोनों बिल्कुल एक जैसे नहीं हैं? उसने कहा कि आप मजाक तो नहीं कर रहे हैं? बर्नार्ड शा आदमी मजाक करने वाला था। पर उसने कहा कि नहीं, मजाक नहीं कर रहा। तुम क्या कह रहे हो! ये दोनों अलग हैं? ये दोनों एक ही रंग हैं! तब आंख की जांच करवाई, तो पता चला कि उसकी आंख को हरा रंग दिखाई ही नहीं पड़ता। वह ब्लाइंड है हरे रंग के प्रति।

तो जो मुझे दिखाई पड़ रहा है, वह सच में है? वैसा ही है जैसा दिखाई पड़ रहा है? कुछ पक्का नहीं है। जो हमें दिखाई पड़ रहा है, वह सिर्फ ए.जम्शन है। हम मानकर चल सकते हैं कि है। एक बड़ी दूरबीन ले आएं, एक बड़ी खुर्दबीन ले आएं और आपके चेहरे पर लगाकर देखें।

ऐसी मजाक मैंने सुनी है। एक वैज्ञानिक ने एक बहुत सुंदर स्त्री से विवाह किया। और जाकर अपने मित्रों से, वैज्ञानिकों से कहा कि बहुत सुंदर स्त्री से प्रेम किया है। उन वैज्ञानिकों ने कहा, ठीक से देख भी लिया है? खुर्दबीन लगाई थी कि नहीं? क्योंकि भरोसा क्या है! उसने कहा, क्या पागलपन की बात करते हो? कहीं स्त्री के सौंदर्य को खुर्दबीन लगाकर देखा जाता है! उन्होंने कहा, तुम ले आना अपनी सुंदर स्त्री को।

मित्र, सिर्फ मजाक में, मिलाने ले आया। उन सबने एक बड़ी खुर्दबीन रखी, सुंदर स्त्री को दूसरी तरफ बिठाया। उसके पति को बुलाया कि जरा यहां से आकर देखो। देखा तो एक चीख निकल गई उसके मुंह से। क्योंकि उस तरफ तो खाई-खड्डे के सिवाय कुछ दिखाई नहीं पड़ता था। स्त्री के चेहरे पर इतने खाई-खड्डे!

लेकिन खुर्दबीन चाहिए; आदमी के चेहरे पर भी हैं। बड़ी खुर्दबीन से जब देखो तो ऐसा लगता है कि खाई-पहाड़, खाई-पहाड़, ऐसा दिखाई पड़ता है। सत्य क्या है? जो खुर्दबीन से दिखता है वह? या जो खाली आंख से दिखता है वह? अगर सत्य ही होगा, तो खुर्दबीन वाला ही ज्यादा होना चाहिए, खाली आंख की बजाय। उसको वैज्ञानिक बड़े इंतजाम से बनाते हैं।

जो हमें दिखाई पड़ रहा है, वह सिर्फ एक्केनटेंस है, कामचलाऊ, यूटिलिटेरियन! उपयोगी है, सत्य नहीं है। इसलिए दूसरे से हम सिर्फ परिचित ही हो सकते हैं। उस परिचय को कभी ज्ञान मत समझ लेना।

इसलिए कृष्ण अर्जुन से कहते हैं, परम-ज्ञान है सांख्य। सांख्य का मतलब है, दूसरे को नहीं, उसे जानो जो तुम हो। क्योंकि उसे ही तुम भीतर से, इंटिमेटली, आंतरिकता से, गहरे में जान सकते हो। उसको बाहर से जानने की जरूरत नहीं है। उसमें तुम उतर सकते हो, डूब सकते हो, एक हो सकते हो।

इसलिए इस मुल्क में, हमारे मुल्क में तो हम ज्ञान कहते ही सिर्फ आत्मज्ञान को हैं। बाकी सब परिचय है। साइंस ज्ञान नहीं है इन अर्थों में। साइंस का जो शब्द है अंग्रेजी में, उसका मतलब होता है ज्ञान, उसका मतलब भी टु नो है। साइंस का मतलब अंग्रेजी में होता है ज्ञान। लेकिन हम अपने मुल्क में साइंस को ज्ञान नहीं कहते, हम उसे विज्ञान कहते हैं; हम कहते हैं, विशेष ज्ञान। ज्ञान नहीं, स्पेसिफिक नालेज। ज्ञान नहीं, क्योंकि ज्ञान तो है वह जो स्वयं को जानता है। यह विशेष ज्ञान है, जिससे जिंदगी में काम चलता है। एक स्पेसिफिक नालेज है, एक्केनटेंस है, परिचय है।

इसलिए हमारा विज्ञान शब्द अंग्रेजी के साइंस शब्द से ज्यादा मौजूं है, वह ठीक है। क्योंकि वह एक--वि--विशेषता जोड़कर यह कह देता है कि ज्ञान नहीं है, एक तरह का ज्ञान है। एक तरह का ज्ञान है, ए टाइप आफ नालेज। लेकिन सच में ज्ञान तो एक ही है। और वह है उसे जानना, जो सबको जानता है।

यह भी स्मरण रखना जरूरी है कि जब मैं उसे ही नहीं जानता, जो सबको जानता है, तो मैं सबको कैसे जान सकता हूं! जब मैं अपने को ही नहीं जानता कि मैं कौन हूं, तो मैं आपको कैसे जान सकता हूं कि आप कौन हैं! अभी जब मैंने इस निकटतम सत्य को नहीं जाना--दि मोस्ट इंटिमेट, दि नियरेस्ट--जिसमें इंचभर का फासला नहीं है, उस तक को भी नहीं जान पाया, तो आप तो मुझसे बहुत दूर हैं, अनंत दूरी पर हैं। और अनंत दूरी पर हैं। कितने ही पास बैठ जाएं, घुटने से घुटना लगा लें, छाती से छाती लगा लें, दूरी अनंत है--इनफिनिट इ.ज दि डिस्टेंस। कितने ही करीब बैठ जाएं, दूरी अनंत है। क्योंकि भीतर प्रवेश नहीं हो सकता; फासला बहुत है, उसे पूरा नहीं किया जा सकता।

सभी प्रेमियों की तकलीफ यही है। प्रेम की पीड़ा ही यही है कि जिसको पास लेना चाहते हैं, न ले पाएं, तो मन दुखता रहता है कि पास नहीं ले पाए। और पास ले लेते हैं, तो मन दुखता है कि पास तो आ गए, लेकिन

फिर भी पास कहां आ पाए! दूरी बनी ही रही। वे प्रेमी भी दुखी होते हैं, जो दूर रह जाते हैं; और उनसे भी ज्यादा दुखी वे होते हैं, जो निकट आ जाते हैं। क्योंकि कम से कम दूर रहने में एक भरोसा तो रहता है कि अगर पास आ जाते, तो आनंद आ जाता। पास आकर पता चलता है कि डिसइलूजनमेंट हुआ। पास आ ही नहीं सकते। तीस साल पति-पत्नी साथ रहें, पास आते हैं? विवाह के दिन से दूरी रोज बड़ी होती है, कम नहीं होती। क्योंकि जैसे-जैसे समझ आती है, वैसे-वैसे पता चलता है, पास आने का कोई उपाय नहीं मालूम होता।

हर आदमी एक मोनोड है--अपने में बंद, आईलैंड; कहीं से खुलता ही नहीं। जितने निकट रहते हैं, उतना ही पता चलता है कि परिचय नहीं है, अपरिचित हैं बिल्कुल। कोई पहचान नहीं हो पाई। मरते दम तक भी पहचान नहीं हो पाती। असल में जो आदमी दूसरे की पहचान को निकला है अपने को बिना जाने, वह गलत है; वह गलत यात्रा कर रहा है, जो कभी सफल नहीं हो सकती।

सांख्य स्वयं को जानने वाला ज्ञान है। इसलिए मैं कहता हूं, दि सुप्रीम साइंस, परम ज्ञान। और कृष्ण कहते हैं, धनंजय, अगर तू इस परम ज्ञान को उपलब्ध होता है, तो योग सध गया समझ; फिर कुछ और साधने को नहीं बचता। सब सध गया, जिसने स्वयं को जाना। सब मिल गया, जिसने स्वयं को पाया। सब खुल गया, जिसने स्वयं को खोला। तो अर्जुन से वे कहते हैं, सब मिल जाता है; सब योग सांख्यबुद्धि को उपलब्ध व्यक्ति को उपलब्ध है। और योग कर्म की कुशलता बन जाती है।

योग कर्म की कुशलता क्यों है? व्हाय? क्यों? क्यों कहते हैं, योग कर्म की कुशलता है? क्योंकि हम तो योगियों को सिर्फ कर्म से भागते देखते हैं। कृष्ण बड़ी उलटी बात कहते हैं। असल में उलटी बात कहने के लिए कृष्ण जैसी हिम्मत ही चाहिए, नहीं तो उलटी बात कहना बहुत मुश्किल है। लोग सीधी-सीधी बातें कहते रहते हैं। सीधी बातें अक्सर गलत होती हैं। अक्सर गलत होती हैं। क्योंकि सीधी बातें सभी लोग मानते हैं। और सभी लोग सत्य को नहीं मानते हैं। सभी लोग, जो कनवीनिएंट है, सुविधापूर्ण है, उसको मानते हैं।

कृष्ण बड़ी उलटी बात कह रहे हैं। वे कह रहे हैं, योगी कर्म की कुशलता को उपलब्ध हो जाता है। योग ही कर्म की कुशलता है।

हम तो योगी को भागते देखते हैं। एक ही कुशलता देखते हैं--भागने की। एक ही एफिशिएंसी है उसके पास, कि वह एकदम रफू हो जाता है कहीं से भी। रफू शब्द तो आप समझते हैं न? कंबल में या शाल में छेद हो जाता है न। तो उसको रफू करने वाला ठीक कर देता है। छेद एकदम रफू हो जाता है। रफू मतलब, पता ही नहीं चलता कि कहां है। ऐसे ही संन्यासी रफू होना जानता है। बस एक ही कुशलता है--रफू होने की। और तो कोई कुशलता संन्यासी में, योगी में दिखाई नहीं पड़ती।

तो फिर ये कृष्ण क्या कहते हैं? ये किस योगी की बात कर रहे हैं? निश्चित ही, ये जिस योगी की बात कर रहे हैं, वह पैदा नहीं हो पाया है। जिस योगी की ये बात कर रहे हैं, वह योगी चूक गया।

असल में योगी तो वह पैदा हो पाया है, जो अर्जुन को मानता है, कृष्ण को नहीं। अर्जुन भी रफू होने के लिए बड़ी उत्सुकता दिखला रहे हैं। वह भी कहते हैं, रफू करो भगवान! कहीं से रास्ता दे दो, मैं निकल जाऊं। फिर लौटकर न देखूं। बड़े उपद्रव में उलझाया हुआ है। यह सब क्या देख रहा हूं! मुझे बाहर निकलने का रास्ता बता दो।

कृष्ण उसे बाहर ले जाने का उपाय नहीं, और भी अपने भीतर ले जाने का उपाय बता रहे हैं। इस युद्ध के तो बाहर ले जा नहीं रहे। वह इस युद्ध के भी बाहर जाना चाहता है। इस युद्ध के तो भीतर ही खड़ा रखे हुए हैं, और उससे उलटा कह रहे हैं कि जरा और भीतर चल--युद्ध से भी भीतर, अपने भीतर चल। और अगर तू अपने भीतर चला जाता है, तो फिर भागने की कोई जरूरत नहीं। फिर तू जो भी करेगा, वही कुशल हो जाएगा--तू जो भी करेगा, वही।

क्योंकि जो व्यक्ति भीतर शांत है, और जिसके भीतर का दीया जल गया, और जिसके भीतर प्रकाश है, और जिसके भीतर मृत्यु न रही, और जिसके भीतर अहंकार न रहा, और जिसके भीतर असंतुलन न रहा, और जिसके भीतर सब समता हो गई, और जिसके भीतर सब ठहर गया; सब मौन, सब शांत हो गया--उस व्यक्ति के कर्म में कुशलता न होगी, तो किसके होगी?

अशांत है हृदय, तो कर्म कैसे कुशल हो सकता है? कंपता है, डोलता है मन, तो हाथ भी डोलता है। कंपता है, डोलता है चित्त, तो कर्म भी डोलता है। सब विकृत हो जाता है। क्योंकि भीतर ही सब डोल रहा है, भीतर ही कुछ थिर नहीं है। शराबी के पैर जैसे कंप रहे, ऐसा भीतर सब कंप रहा है। बाहर भी सब कंप जाता है। कंप जाता है, अकुशल हो जाता है।

भीतर जब सब शांत है, सब मौन है, तो अकुशलता आएगी कहां से? अकुशलता आती है--भीतर की अशांति, भीतर के तनाव, टेंशन, एंग्जाइटी, भीतर की चिंता, भीतर के विषाद, भीतर गड़े हैं जो कांटे दुख के, पीड़ा के, चिंता के--वे सब कंपा डालते हैं। उनसे जो आह उठती है, वह बाहर सब अकुशल कर जाती है। लेकिन भीतर अगर वीणा बजने लगे मौन की, समता की, तो अकुशलता के आने का उपाय कहां है? बाहर सब कुशल हो जाता है। फिर तब ऐसा आदमी जो भी करता है, वह मिडास जैसा हो जाता है।

कहानी है यूनान में कि मिडास जो भी छूता, वह सोने का हो जाता। जो भी छू लेता, वह सोने का हो जाता। मिडास तो बड़ी मुश्किल में पड़ा इससे, क्योंकि सोना पास में न हो तो ही ठीक। थोड़ा हो, तो भी चल जाए। मिडास जैसा हो जाए, तो मुश्किल हो गई। क्योंकि सोना न तो खाया जा सकता, न पीया जा सकता। पानी छुए मिडास, तो सोना हो जाए; खाना छुए, तो सोना हो जाए। पत्नी उससे दूर भागे, बच्चे उससे दूर बचें। सभी सोने वालों की पत्नियां और बच्चे दूर भागते हैं। छुएं, तो सोना हो जाएं। मिडास का टच--पत्नी को अगर गले लगा ले प्रेम से, तो वह मरी, सोना हो गई।

तो जहां भी सोने का संस्पर्श है, वहां प्रेम मर जाता है; सब सोना हो जाता है, सब पैसा हो जाता है। मिडास तो बड़ी मुश्किल में पड़ा। क्योंकि वह जो छूता था, वह जीवित भी हो, तो मुर्दा सोना हो जाए।

लेकिन मैं यह कह रहा हूं कि कृष्ण एक और तरह की कीमिया, और तरह की अल्केमी बता रहे हैं। वे यह बता रहे हैं कि भीतर अगर समता है, और भीतर अगर सांख्य है, और भीतर अगर सब मौन और शांत हो गया है, तो हाथ जो भी छूते हैं, वह कुशल हो जाता है; जो भी करते हैं, वह कुशल हो जाता है। फिर जो होता है, वह सभी सफल है। सफल ही नहीं, कहना चाहिए, सुफल भी है।

सुफल और बात है। सफल तो चोर भी होता है, लेकिन सुफल नहीं होता। सफल का तो इतना ही मतलब है कि काम करते हैं, फल लग जाता है। लेकिन कड़वा लगता है, जहरीला भी लगता है। सुफल का मतलब है, अमृत का फल लगता है। भीतर जब सब ठीक है, तो बाहर सब ठीक हो जाता है। इसे कृष्ण ने योग की कुशलता कहा है।

और यह पृथ्वी तब तक दीनता, दुख और पीड़ा से भरी रहेगी, जब तक अयोगी कुशलता की कोशिश कर रहे हैं कर्म की; और योगी पलायन की कोशिश कर रहे हैं। जब तक योगी भागेंगे और अयोगी जमकर खड़े रहेंगे, तब तक यह दुनिया उपद्रव बनी रहे, तो आश्चर्य नहीं है। इससे उलटा हो, तो ज्यादा स्वागत योग्य है। अयोगी भागें तो भाग जाएं, योगी टिकें और खड़े हों और जीवन के युद्ध को स्वीकार करें।

जीवन के युद्ध में नहीं है प्रश्न। युद्ध भीतर है, वह है कष्ट। द्वंद्व भीतर है, वह है कष्ट। वहां निर्द्वंद्वता, वहां मौन, वहां शांति, तो बाहर सब कुशल हो जाता है।

एक श्लोक और।

कर्मजं बुद्धियुक्ता हि फलं त्यक्त्वा मनीषिणः।
जन्मबन्धविनिर्मुक्ताः पदं गच्छन्त्य नामयम्।। 51।।

क्योंकि बुद्धियोगयुक्त ज्ञानीजन कर्मों से उत्पन्न होने वाले फल को त्यागकर, जन्मरूप बंधन से छूटे हुए निर्दोष, अर्थात अमृतमय परमपद को प्राप्त होते हैं।

जो भी ऐसे ज्ञान को उपलब्ध हो जाता है, जो भी ऐसी निष्ठा को, ऐसी श्रद्धा को, ऐसे अनुभव को उपलब्ध हो जाता है जहां द्वंद्व नहीं है, वैसा व्यक्ति जन्म के, मृत्यु के घेरे से मुक्त होकर परमपद को पा लेता है।

इसे थोड़ा-सा खोलना पड़ेगा।

एक तो, जन्म-मृत्यु से मुक्त हो जाता है, इसका ऐसा मतलब नहीं है कि अभी जन्म-मृत्यु में है। है तो अभी भी नहीं; ऐसा प्रतीत करता है कि है। जन्म-मृत्यु से मुक्त हो जाता है, इसका मतलब यह नहीं कि पहले बंधा था और अब मुक्त हो जाता है। नहीं, ऐसा बंधा तो पहले भी नहीं था, लेकिन मानता था कि बंधा हूं। और अब जानता है कि नहीं बंधा हूं। पहला तो यह ख्याल ले लेना जरूरी है। जो घटना घटती है जन्म और मृत्यु से मुक्ति की, वह वास्तविक नहीं है, क्योंकि जन्म और मृत्यु ही वास्तविक नहीं हैं। जो घटना घटती है, वह एक असत्य का, एक अज्ञान का निराकरण है।

जैसे कि मैं एक गणित करता हूं, दो और दो पांच जोड़ लेता हूं। मैं कितना ही दो और दो पांच जोडूं, दो और दो पांच होते नहीं हैं। जब मैं दो और दो पांच जोड़ रहा हूं, तब भी दो और दो चार ही हैं। यानी मेरे जोड़ने से कोई दो और दो पांच नहीं हो जाते। एक कमरे में कुर्सियां रखी हैं दो और दो, और मैं जोड़कर बाहर आता हूं और कहता हूं कि पांच हैं, तो भी कमरे में पांच कुर्सियां नहीं हो जातीं। कमरे में कुर्सियां चार ही होती हैं। भूल जोड़ की है। जोड़ की भूल, अस्तित्व की भूल नहीं बनती।

तो सांख्य का कहना है कि जो गलती है, वह अस्तित्व में नहीं है। जो गलती है, वह हमारी समझ में है। वह जोड़ की भूल है। ऐसा नहीं है कि जन्म और मृत्यु हैं। ऐसा हमें दिखाई पड़ रहा है कि हैं। हमारे दिखाई पड़ने से हो नहीं जातीं।

फिर कल मुझे पता चलता है कि नहीं, दो और दो पांच नहीं होते, दो और दो चार होते हैं। मैं फिर लौटकर कमरे में जाता हूं और मैं देखता हूं कि ठीक, दो और दो चार ही हैं। और मैं बाहर आकर कहता हूं कि जब गणित ठीक आ जाता है किसी को, तो कुर्सियां पांच नहीं रह जातीं, चार हो जाती हैं। ऐसा ही--ठीक ऐसा ही--ऐसा ही समझना है। जो भूल है, वह ज्ञान की भूल है, इरर आफ नोइंग। वह भूल एक्झिस्टेंशियल नहीं है, अस्तित्वगत नहीं है। क्योंकि अस्तित्वगत अगर भूल हो, तो सिर्फ जानने से नहीं मिट सकती है।

अगर कुर्सियां पांच ही हो गई हों, तो फिर मैं दो और दो चार कर लूं, इससे चार नहीं हो जातीं। कुर्सियां दो और दो चार होने से चार तभी हो सकती हैं, जब वे चार रही ही हों उस समय भी, जब मैं पांच गिनता था। वह मेरे गिनने की भूल थी।

जीवन और मरण आत्मा का होता नहीं, प्रतीत होता है, एपियरेंस है, दिखाई पड़ता है, गणित की भूल है। मैंने पीछे आपसे बात कही, इसे थोड़ा और आगे ले जाना जरूरी है। हम दूसरे को मरते देख लेते हैं, तो सोचते हैं, मैं भी मरूंगा। यह इमिटेटिव मिसअंडरस्टैंडिंग है। और चूंकि जिंदगी में हम सब इमिटेशन से सीखते हैं, नकल से सीखते हैं, तो मृत्यु भी नकल से सीख लेते हैं। यह नकल है। नकल चोरी है बिल्कुल। जैसे कि बच्चे स्कूल में दूसरे की कापी में से उतारकर उत्तर लिख लेते हैं। उनको हम चोर कहते हैं। हम सब चोर हैं, जिंदगी में हमारे

अधिकतम अनुभव चोरी के हैं। मृत्यु जैसा बड़ा अनुभव भी चुराया हुआ है। किसी को मरते देखा, कहा कि अब हम भी मरेंगे।

आपने अपने को कभी मरते देखा है? किसी को मरते देखा; सोचा, हम भी मरेंगे। नकल कर ली। फिर रोज कोई न कोई मर रहा है--एक मरा, दो मरे, तीन मरे, चार मरे, पांच मरे। फिर पता चला कि सबको मरना ही पड़ता है। पहले जो भी हुए, सब मरे। तो फिर पक्का होता जाता है अनुमान, गणित तय होता जाता है कि नहीं, मरना ही है।

मृत्यु है, यह अनुभूत सत्य नहीं है। यह एक्सपीरिएंस्ड ट्रुथ नहीं है कि मृत्यु है। यह अनुमानजन्य, इनफरेंशियल है। यह हमने चारों तरफ देख लिया कि ऐसा होता है, इसलिए मृत्यु है।

आपने अपना जन्म देखा? यह बड़े मजे की बात है, आप जन्मे और आपको अपने जन्म का भी पता नहीं? छोड़ें, मृत्यु अभी आने वाली है, भविष्य में है, इसलिए भविष्य का अभी हम कैसे पक्का करें! लेकिन जन्म तो कम से कम अतीत में है। आप जन्मे हैं। आपको जन्म का भी पता नहीं है कि आप जन्मे हैं! बड़ी मजेदार बात है। मृत्यु का न पता हो, समझ में आता है। क्योंकि मृत्यु अभी भविष्य है, पता नहीं होगी कि नहीं होगी। लेकिन जन्म तो हो चुका है। पर आपको जन्म का भी कोई पता नहीं। और आप ही जन्मे और आपको ही अपने जन्म का पता नहीं है!

असल में आपको अपना ही पता नहीं है, जन्म वगैरह का पता कैसे हो! इतनी बड़ी घटना जन्म की घट गई, और आपको पता नहीं है! असल में आपको जीवन की किसी घटना का--गहरी घटना का--कोई भी पता नहीं है। आपको तो जो सिखा दिया गया है, वही पता है। स्कूल में गणित सिखा दिया गया, मां-बाप ने भाषा सिखा दी, फिर धर्म-मंदिर में धर्म की किताब सिखा दी, फिर किसी ने हिंदू-मुसलमान सिखा दिया, फिर किसी ने कुछ और सिखा दिया--वह सब सीखकर खड़े हो गए हैं। मगर आपको जिंदगी का कुछ भी गहरा अनुभव नहीं है, जन्म तक का कोई अनुभव नहीं है!

तो ध्यान रहे, जब जन्म से गुजरकर आपको जन्म का अनुभव नहीं मिला, तो पक्का समझना कि मृत्यु से भी आप गुजर जाओगे और आपको अनुभव नहीं मिलेगा। क्योंकि वह भी इतनी ही गहरी घटना है, जितनी जन्म है। वह दरवाजा वही है; जन्म से आप आए थे, मृत्यु से आप लौटेंगे--दि सेम डोर। दरवाजा अलग नहीं है; दरवाजा वही है। इधर आए थे, उधर जाएंगे। और दरवाजे को देखने की आपकी आदत नहीं है। आंख बंद करके निकल जाते हैं। अभी निकल आए हैं आंख बंद करके, अब फिर आंख बंद करके निकल जाएंगे।

तो ये जन्म और मृत्यु... जन्म भी, लोग हमसे कहते हैं कि आपका हुआ। वह भी कथन है। मृत्यु भी हम देखते हैं कि होती है, वह अनुमान है। जन्म किसी ने बताया, मृत्यु का अनुमान हमने किया है। लेकिन न हमें जन्म का कोई पता है, न हमें मृत्यु का कोई पता है। तो ये जन्म और मृत्यु होते हैं, ये बड़े इमिटेटिव कनक्लूजंस हैं; ये नकल से ली गई निष्पत्तियां हैं।

सांख्य कहता है कि काश! तुम एक बार जन्म लो जानते हुए। काश! तुम एक बार मरो जानते हुए। फिर तुम दुबारा न कहोगे कि जन्म और मरण होता है। और अभी मृत्यु को तो देर है, और जन्म हो चुका, लेकिन जीवित अभी आप हैं। सांख्य कहता है, अगर तुम जीवित रहो जानते हुए, तो भी छुटकारा हो जाएगा। छुटकारे का मतलब ही इतना है कि वह जो भ्रांति हो रही है, विचार से जो निष्कर्ष लिया जा रहा है, वह गलत सिद्ध होता है।

तो जो सांख्यबुद्धि को उपलब्ध हो जाते हैं, कृष्ण कहते हैं, अर्जुन, वे जन्म-मृत्यु से मुक्त हो जाते हैं। ठीक होता कहना कि वे कहते कि वे जन्म-मृत्यु की गलती से मुक्त हो जाते हैं। परमपद को उपलब्ध होते हैं।

वह परमपद कहां है? जब भी हम परमपद की बात सोचते हैं, तो कहीं ऊपर आकाश में ख्याल आता है। क्योंकि पद जो हैं हमारे, वे जमीन से जितने ऊंचे होते जाते हैं, उतने बड़े होते जाते हैं।

पट्टाभि सीतारमैया ने एक संस्मरण लिखा है। लिखा है कि मद्रास में एक मजिस्ट्रेट था अंग्रेज। वह अपनी अदालत में एक ही कुर्सी रखता था, खुद के बैठने के लिए। बाकी कुर्सियां थीं, लेकिन वह बगल के कमरे में रखता था। नंबर डाल रखे थे। क्योंकि वह कहता था, आदमी देखकर कुर्सी देनी चाहिए। तो एक नंबर का एक मोढ़ा था छोटा-सा, बिल्कुल गरीब आदमी आ जाए--बहुत गरीब आ जाए, तब तो खड़े-खड़े चल जाए--बाकी थोड़ा, जिसको एकदम गरीब न भी कहा जा सके, उसको नंबर एक का मोढ़ा। फिर नंबर दो का मोढ़ा, फिर नंबर तीन की कुर्सी, फिर चार की--ऐसे सात नंबर की कुर्सियां थीं।

एक दिन एक आदमी आया--पट्टाभि सीतारमैया ने लिखा है--कि एक दिन बड़ी मुश्किल हो गई। एक बड़ा धोखे से भरा आदमी आ गया। आदमी आया तो मजिस्ट्रेट ने देखा उसको, तो सोचा कि खड़े-खड़े चल जाएगा।

सोचना पड़ता है, कौन आदमी आया! आपको भी सोचना पड़ता है, कहां बिठाएं! क्या करें! क्या न करें! आदमी देखकर जगह बनानी पड़ती है। आदमी के लिए कोई जगह नहीं बनाता; जैसा दिखाई पड़ता है, उसके लिए जगह बनानी पड़ती है।

पर जैसे ही पास आया और जैसे ही उसने ऊपर आंख उठाई, तो देखा कि एक कीमती चश्मा लगाए हुए है। उसने कहा कि जाओ, नंबर एक; चपरासी को कहा कि नंबर एक। चपरासी भीतर भागा गया। वह बूढ़ा पास आकर खड़ा हुआ। जब उसने सिर ऊंचा किया--झुकी है कमर उसकी--तो देखा, गले में सोने की चेन है। तब तक मोढ़ा लिए चपरासी आता था। उसने कहा, रुक-रुक! नंबर दो ला। तब तक उस बूढ़े ने कोट उठाकर घड़ी देखी। तब तक चपरासी नंबर दो लाता था। मजिस्ट्रेट ने कहा, रुक-रुक... ।

उस बूढ़े ने कहा, मैं बूढ़ा आदमी हूं, जो आखिरी नंबर हो, वही बुला लो। क्योंकि अभी और भी बहुत बातें हैं। तुम्हें शायद पता नहीं कि सरकार ने मुझे राय बहादुर की पदवी दी है। और तुम्हें शायद यह भी पता नहीं कि मैं यहां आया ही इसलिए हूं कि कुछ लाख रुपया सरकार को दान करना चाहता हूं। नंबर आखिरी कुर्सी जो हो, तू बुला ले। बार-बार चपरासी को दिक्कत दे रहे हो। और मैं बूढ़ा आदमी हूं।

तो हमारे पद जो हैं, वे जमीन से ऊंचे उठते हैं। ऐसा ऊपर उठते जाते हैं सिंहासन। तो उसी सिंहासन के आखिरी छोर पर कहीं आकाश में परमपद हमारे ख्याल में है, कि परमपद जो है, वह कहीं समव्हेअर अप, ऊपर है।

जिस परमपद की कृष्ण बात कर रहे हैं, वह समव्हेअर इन-- ऊपर की बात नहीं है वह; वह कहीं भीतर--उस जगह, जिसके और भीतर नहीं जाया जा सकता; उस जगह, जो आंतरिकता का अंत है। जो इनरमोस्ट कोर, वह जो भीतरी से भीतरी जगह है, वह जो भीतरी से भीतरी मंदिर है चेतना का, वहीं परमपद है। सांख्य को उपलब्ध व्यक्ति उस परम मंदिर में प्रविष्ट हो जाते हैं।

शेष फिर कल।

पंद्रहवां प्रवचन

मोह-मुक्ति, आत्म-तृप्ति और प्रज्ञा की थिरता

यदा ते मोहकलिलं बुद्धिर्व्यतितरिष्यति।

तदा गन्तासि निर्वेदं श्रोतव्यस्य श्रुतस्य च।। 52।।

और हे अर्जुन, जिस काल में तेरी बुद्धि मोहरूप दलदल को बिल्कुल तर जाएगी, तब तू सुनने योग्य और सुने हुए के वैराग्य को प्राप्त होगा।

मोहरूपी कालिमा से जब बुद्धि जागेगी, तब वैराग्य फलित होता है। मोहरूपी कालिमा से! मनुष्य के आस-पास कौन-सा अंधकार है?

एक तो वह अंधकार है, जो दीयों के जलाने से मिट जाता है। धर्म से उस अंधकार का कोई भी संबंध नहीं है। वह हो तो भी कोई फर्क नहीं पड़ता है, नहीं हो तो भी कोई फर्क नहीं पड़ता है। फिर धर्म किस अंधकार को मिटाने के लिए चेष्टारत है?

एक और भी अंधकार है, जो मनुष्य के शरीर को नहीं घेरता, वरन मनुष्य की चेतना को घेर लेता है। एक और भी अंधकार है, जो मनुष्य की आत्मा के चारों तरफ घिर जाता है। उस अंधकार को कृष्ण कह रहे हैं, मोहरूपी कालिमा। तो अंधकार और मोह इन दो शब्दों को थोड़ा गहरे में समझना उपयोगी है।

अंधकार का लक्षण क्या है? अंधकार का लक्षण है कि दिखाई नहीं पड़ता जहां, जहां देखना खो जाता है, जहां देखना संभव नहीं हो पाता, जहां आंखों पर परदा पड़ जाता है--एक। दूसरा, जहां दिखाई न पड़ने से कोई मार्ग नहीं मालूम पड़ता, कहां जाएं! क्या करें! तीसरा, जहां दिखाई न पड़ने से प्रतिपल किसी भी चीज से टकरा जाने की संभावना हो जाती है। अंधकार हमारी दृष्टि का खो जाना है।

मोह में भी ऐसा ही घटित होता है। इसलिए मोह को अंधकार कहने की सार्थकता है। मोह में जो हम करते हैं, मोह में जो हम होते हैं, मोह में जैसे हम चलते हैं, मोह में जो भी हमसे निकलता है, वह ठीक ऐसा ही है, जैसे अंधेरे में कोई टटोलता हो। नहीं कुछ पता होता, क्या कर रहे हैं! नहीं कुछ पता होता, क्या हो रहा है! नहीं कुछ पता होता, कौन-सा रास्ता है! कौन-सा मार्ग है! आंखें नहीं होती हैं। मोह अंधा है। और मोह का अंधापन आध्यात्मिक अंधापन है, स्प्रिचुअल ब्लाइंडनेस है।

सुना है मैंने, एक आदमी के मकान में आग लग गई है। भीड़ इकट्ठी है। वह आदमी छाती पीटकर रो रहा है, चिल्ला रहा है। स्वभावतः, उसके जीवनभर की सारी संपदा नष्ट हुई जा रही है। जिसे उसने जीवन समझा है, वही नष्ट हुआ जा रहा है। जिसके आधार पर वह खड़ा था, वह आधार गिरा जा रहा है। जिसके आधार पर उसके मैं में शक्ति थी, बल था; जिसके आधार पर वह कुछ था, समबडी था, वह सब बिखरा जा रहा है।

जान सोलिज ने एक किताब लिखी है, अरेस्ट्रोस। उसमें कुछ कीमती वचन लिखे हैं। उसमें एक कीमती वचन है, नोबडी वांट्स टु बी नोबडी। नोबडी वांट्स टु बी नोबडी। ठीक-ठीक अनुवाद मुश्किल है। कोई भी नहीं चाहता कि ना-कुछ हो। सभी चाहते हैं, समबडी हों, कुछ हों।

उसकी समबडीनेस बिखरी जा रही है, उस आदमी की। वह कुछ था इस मकान के होने से। और जिनका भी कुछ होना किसी और चीज के होने पर निर्भर है, किसी दिन ऐसा ही रुदन, ऐसी ही पीड़ा उन्हें घेर लेती है। क्योंकि वे सब जो बाहर की संपदा पर टिके हैं, किसी दिन बिखरते हैं, क्योंकि बाहर कुछ भी टिकने वाला नहीं है। वह उसी के मकान में आग लग गई हो, ऐसा नहीं, सभी के बाहर के मकानों में आग लग जाती है। असल में बाहर जो भी है, वह आग पर चढ़ा हुआ ही है।

तो छाती पीटता है, रोता है। स्वाभाविक है। फिर पड़ोस में से कोई दौड़ा हुआ आता है और कहता है, व्यर्थ रो रहे हो तुम। तुम्हारे लड़के ने मकान तो कल बेच दिया। उसका बयाना भी हो गया है। क्या तुम्हें पता नहीं? बस, आंसू तिरोहित हो गए। उस आदमी का छाती पीटना बंद हो गया। जहां रोना था, वहां वह हंसने लगा, मुस्कुराने लगा। सब एकदम बदल गया।

अभी भी आग लगी है, मकान जल रहा है; वैसा ही जैसा क्षणभर पहले जलता था। फर्क कहां पड़ गया? मकान अब मेरा नहीं रहा, अपना नहीं रहा। मोह का जो जोड़ था मकान से, वह टूट गया है। अब भी मकान में आग है, लेकिन अब आंख में आंसू नहीं हैं। आंख में जो आंसू थे, वे मकान के जलने की वजह से थे? वह मकान अब भी जल रहा है। आंख में जो आंसू थे, वे मेरे के जलने की वजह से थे। मेरा अब नहीं जल रहा है, आंखें साफ हो गई हैं। अब आंसुओं की परत आंख पर नहीं है। अब उस आदमी को ठीक-ठीक दिखाई पड़ रहा है। अभी उसे कुछ भी दिखाई नहीं पड़ रहा था।

उधर आग की लपटें थीं, तो इधर आंख में भी तो आंसू थे, सब धुंधला था, सब अंधेरा था। अब तक उसके हाथ-पैर कंपते थे, अब हाथ-पैर का कंपन चला गया। अब वह आदमी ठीक वैसा ही हो गया है, जैसे और लोग हैं। और कह रहा है, ठीक; जो हो गया, ठीक है।

तभी उसका लड़का दौड़ा हुआ आता है। और वह कहता है, बात तो हुई थी, लेकिन बयाना नहीं हो पाया। बेचने की बात चली थी, लेकिन हो नहीं पाया। और अब इस जले हुए मकान को कौन खरीदने वाला है!

फिर आंसू वापस लौट आए; फिर छाती पीटना शुरू हो गया। मकान अब भी वैसा ही जल रहा है! मकान को कुछ भी पता नहीं चला कि इस बीच सब बदल गया है। सब फिर बदल गया है। मोह फिर लौट आया है। आंखें फिर अंधी हो गई हैं। फिर मेरा जलने लगा है।

इस जीवन में मोह ही जलता है, मोह ही चिंतित होता है, मोह ही तनाव से भरता है, मोह ही संताप को उपलब्ध होता है, मोह ही भटकाता है, मोह ही गिराता है। मोह ही जीवन का दुख है।

इसे कृष्ण मोह कह रहे हैं। बुद्ध ने इसे तृष्णा कहा है, तनहा कहा है। इसे कोई और नाम दें, इससे कोई फर्क नहीं पड़ता। इसके भीतरी रहस्य में एक गुण है, और वह यह कि जो मेरा नहीं है, वह मेरा मालूम होने लगता है। मोह की जो हिप्नोसिस है, मोह का जो सम्मोहन है, वहां जो मेरा नहीं है, वह मेरा मालूम होने लगता है; और जो मेरा है, उसका कुछ पता ही नहीं चलता।

मोह के अंधकार का जो गुणधर्म है, वह यह है कि जो मेरा नहीं है, वह मेरा मालूम होता है। और जो मेरा है, वह मेरा नहीं मालूम होता है। एक रिवर्सन, एक विपर्यय हो जाता है। चीजें सब उलटी हो जाती हैं।

मकान मेरा कैसे हो सकता है? मैं नहीं था, तब भी था। मैं नहीं रहूंगा, तब भी रहेगा। जमीन मेरी कैसे हो सकती है? मैं नहीं था, तब भी थी। मैं नहीं रहूंगा, तब भी होगी। और जमीन को बिल्कुल पता नहीं है कि मेरी है। और मेरा मोह एक सम्मोहन का जाल फैला लेता है--मेरा बेटा है, मेरी पत्नी है, मेरे पिता हैं, मेरा धर्म है,

मेरा धर्मग्रंथ है, मेरा मंदिर है, मेरी मस्जिद है--मैं के आस-पास एक बड़ा जाल खड़ा हो जाता है। वह जो मैं का फैलाव है, वही मोह का अंधकार है।

असल में मैं जो है, उसे ठीक ऐसा समझें कि वह अंधेरे का दीया है। जैसे दीए से रोशनी गिरती है, ऐसे मैं से अंधकार गिरता है। जैसे दीया जलता है, तो प्रकाश हो जाता है; ऐसे मैं जलता है, तो अंधकार हो जाता है। जितना सघन मैं, उतनी डार्कनेस, उतना निबिड़ अंधकार चारों ओर फैलता चला जाता है। जो आदमी मैं में ही जीता है, वह अंधकार में जीता है--मोह-निशा में।

तो कृष्ण कहते हैं, इस मोह की कालिमा से जो मुक्त हो जाता है, वैसा व्यक्ति वैराग्य को उपलब्ध होता है। लेकिन कृष्ण जिसे वैराग्य कहते हैं, हम आमतौर से उसे वैराग्य नहीं कहते हैं। इसलिए इस बात को भी ठीक से समझ लेना जरूरी है।

हम तो वैराग्य जिसे कहते हैं, वह राग की विपरीतता को कहते हैं। विपरीत राग को कहते हैं वैराग्य, हम जिसे वैराग्य कहते हैं। मकान मेरा है, ऐसा जानना राग है--हमारी बुद्धि में। मकान मेरा नहीं है, ऐसा जानना वैराग्य है--हमारी बुद्धि में। लेकिन मेरा है या मेरा नहीं है, ये दोनों एक ही चीज के दो छोर हैं। कृष्ण इसे वैराग्य नहीं कहते। यह विपरीत राग है। यह राग से मुक्ति नहीं है। नहीं, मेरा नहीं है।

रामतीर्थ अमेरिका से वापस लौटे, टेहरी गढ़वाल में मेहमान थे। उनकी पत्नी मिलने आई। खिड़की से देखा पत्नी को आते हुए, तो खिड़की बंद करके द्वार बंद कर लिया। एक मित्र साथ ठहरे हुए थे, सरदार पूर्ण सिंह। उन्होंने कहा, दरवाजा क्यों बंद करते हैं? क्योंकि मैंने आपको किसी भी स्त्री के लिए कभी दरवाजा बंद करते नहीं देखा! पूर्ण सिंह जानते हैं कि जो आ रही है, उनकी पत्नी है--या थी। रामतीर्थ ने कहा, वह मेरी कोई भी नहीं है। पर पूर्ण सिंह ने कहा कि और भी जो स्त्रियां आती हैं, वे भी आपकी कोई नहीं हैं। लेकिन उन और कोई नहीं स्त्रियों के लिए कभी द्वार बंद नहीं किया! नहीं, यह स्त्री जरूर आपकी कोई है--विशेष आयोजन करते हैं, द्वार बंद करते हैं! रामतीर्थ ने कहा, वह मेरी पत्नी थी; लेकिन मेरी कोई पत्नी नहीं है। पूर्ण सिंह ने कहा, अगर वह पत्नी नहीं है, तो उसके साथ वैसा ही व्यवहार करें, जैसा किसी भी स्त्री के साथ करते हैं। द्वार खोलें!

यह व्यवहार विशेष है; यह विपरीत राग का व्यवहार है। एक भ्रम था कि मेरी पत्नी है, अब एक भ्रम है कि मेरी पत्नी नहीं है। लेकिन अगर पहला भ्रम गलत था, तो दूसरा भ्रम सही कैसे हो सकता है? वह पहले पर ही खड़ा है; वह पहले का ही एक्सटेंशन है; वह उसी का विस्तार है।

पहला भ्रम तो हमारी समझ में आ जाता है। दूसरा भ्रम विरागी का भ्रम है--संन्यासी का, त्यागी का--वह जरा हमारी समझ में मुश्किल से आता है। लेकिन साफ है बात कि यह पत्नी विशेष है, यह साधारण नहीं है। इस स्त्री के प्रति रामतीर्थ की कोई दृष्टि है। किसी दिन रामतीर्थ ने इस स्त्री के लिए उठकर द्वार खोला होता, अब उठकर द्वार बंद कर रहे हैं। लेकिन इस स्त्री के लिए उठते जरूर हैं। किसी दिन द्वार खोलने उठे होते, अपनी पत्नी है; आज द्वार बंद करने उठे हैं, अपनी पत्नी नहीं है। लेकिन द्वार तक रामतीर्थ को उठना पड़ता है; वैराग्य नहीं है।

पूर्ण सिंह ने कहा कि अगर आप द्वार नहीं खोलते हैं, तो मैं नमस्कार करता हूं। मेरे लिए आपका सब ब्रह्मज्ञान व्यर्थ हो गया। मैं जाता हूं। यह कैसा ब्रह्मज्ञान है! क्योंकि किसी स्त्री से आपने नहीं कहा अब तक रुकने के लिए। सभी स्त्रियों में ब्रह्म दिखाई पड़ा। आज इस स्त्री में कौन-सा कसूर हो गया है कि ब्रह्म नहीं है!

रामतीर्थ को भी चुभी बात; ख्याल में पड़ी। द्वार तो खोल दिया। लेकिन विचारशील व्यक्ति थे। यह तो दिखाई पड़ गया कि वैराग्य फलित नहीं हुआ है। क्योंकि वैराग्य का अर्थ ही यह है कि जहां न राग रहा हो, न

विराग रहा हो। वैराग्य भी न रहा हो, वहीं वैराग्य है। मोह की निशा पूरी ही खो गई हो। मेरा खो गया हो, मेरा नहीं है, यह भी खो गया हो। जहां वैराग्य भी नहीं है, वहीं वैराग्य है।

रामतीर्थ को भी दिखाई तो पड़ गया। समझ में तो आ गया। उसी दिन उन्होंने गेरुए वस्त्र छोड़ दिए। यह जानकर आपको हैरानी होगी कि रामतीर्थ ने जिस दिन जल-समाधि ली, उस दिन वे गेरुए वस्त्र नहीं पहने हुए थे। उस दिन उन्होंने साधारण वस्त्र पहन लिए थे। क्योंकि यह उनको भी यह साफ हो गया था कि यह वैराग्य नहीं है।

वैराग्य का अर्थ, जहां न राग रह गया, न विराग रह गया। न जहां किसी चीज का आकर्षण है, न विकर्षण है; न अट्रैक्शन है, न रिपल्शन है। जहां न किसी चीज के प्रति खिंचाव है, न विपरीत भागना है। न जहां किसी चीज का बुलावा है, न विरोध है। जहां व्यक्ति थिर हुआ, सम हुआ; जहां पक्ष और विपक्ष एक से हो गए, वहां वैराग्य फलित होता है।

लेकिन इसे विराग क्यों कहते हैं? वैराग्य क्यों कहते हैं? क्योंकि जहां वैराग्य भी नहीं है, वहां वैराग्य क्यों कहते हैं? कोई उपाय नहीं है। शब्द की मजबूरी है, और कोई बात नहीं है। आदमी के पास सभी शब्द द्वंद्वात्मक हैं, डायलेक्टिकल हैं। आदमी की भाषा में ऐसा शब्द नहीं है जो नान-डायलेक्टिकल हो, द्वंद्वात्मक न हो। मनुष्य ने जो भाषा बनाई है, वह मन से बनाई है। मन द्वंद्व है। इसलिए मनुष्य जो भी भाषा बनाता है, उसमें विपरीत शब्दों में भाषा को निर्मित करता है।

बड़े मजे की बात है कि हमारी भाषा बन ही नहीं सकती विपरीत के बिना। क्योंकि बिना विपरीत के हम परिभाषा नहीं कर सकते, डेफिनीशन नहीं कर सकते। अगर कोई आपसे पूछे कि अंधेरा यानी क्या? तो आप कहते हैं, जो प्रकाश नहीं है। बड़ी सर्कुलर डेफिनीशन है। कोई पूछे, प्रकाश यानी क्या? तो आप कहते हैं, जो अंधेरा नहीं है। न आपको अंधेरे का पता है कि क्या है, न प्रकाश का पता है कि क्या है। अंधेरे को जब पूछते हैं, क्या है? तो कह देते हैं, प्रकाश नहीं है। और जब पूछते हैं, प्रकाश क्या है? तो कह देते हैं, अंधेरा नहीं है। यह कोई परिभाषा हुई? यह कोई डेफिनीशन हुई? परिभाषा तो तभी हो सकती है, जब कम से कम एक का तो पता हो!

मैंने सुना है, एक आदमी एक अजनबी गांव में गया। उसने पूछा कि अ नाम का आदमी कहां रहता है? तो लोगों ने कहा, ब नाम के आदमी के पड़ोस में। पर उसने कहा, मुझे ब का भी कोई पता नहीं, ब कहां रहता है? उन्होंने कहा, अ के पड़ोस में। पर उसने कहा कि इससे कुछ हल नहीं होता, क्योंकि न मुझे अ का पता है, न ब का पता है। मुझे ठीक-ठीक बताओ, अ कहां रहता है? उन्होंने कहा, ब के पड़ोस में। लेकिन ब कहां रहता है? उन्होंने कहा, अ के पड़ोस में।

आदमी से पूछो, चेतना क्या है? वह कहता है, पदार्थ नहीं। उससे पूछो, पदार्थ क्या है? वह कहता है, चेतना नहीं। माइंड क्या है? मैटर नहीं। मैटर क्या है? माइंड नहीं। बड़े से बड़ा दार्शनिक भी इसको परिभाषा कहता है, इसको डेफिनीशन कहता है। यह डेफिनीशन हुई? धोखा हुआ, डिसेप्शन हुआ--परिभाषा न हुई। क्योंकि इसमें से एक का भी पता नहीं है।

लेकिन आदमी को कुछ भी पता नहीं है, काम तो चलाना पड़ेगा। इसलिए आदमी बेईमान शब्दों को रखकर काम चलाता है। उसके सब शब्द डिसेप्टिव हैं। उसके किसी शब्द में कोई भी अर्थ नहीं है। क्योंकि अपने शब्द में वह जिस शब्द से अर्थ बताता है, उस शब्द में भी उसको कोई अर्थ नहीं है। उसकी सब परिभाषाएं

सर्कुलर हैं, वर्तुलाकार हैं। वह कहता है, बाएं यानी क्या! वह कहता है, दाएं जो नहीं है। और दाएं? वह कहता है, बाएं नहीं। लेकिन इनमें से किसी का पता है कि बायां क्या है?

यह आदमी की भाषा डायलेक्टिकल है। डायलेक्टिकल का मतलब यह कि जब आप पूछें अ क्या, तो वह ब की बात करता है; जब पूछें ब क्या, तो वह अ की बात करने लगता है। इससे भ्रम पैदा होता है कि सब पता है। पता कुछ भी नहीं है; सिर्फ शब्द पता हैं। लेकिन बिना शब्दों के काम नहीं चल सकता। राग है तो विराग है। लेकिन तीसरा शब्द कहां से लाएं? और तीसरा शब्द ही सत्य है। वह कहां से लाएं?

महावीर कहते हैं, वीतराग। लेकिन उससे भी कोई फर्क नहीं पड़ता। वीतराग का भी मतलब राग के पार हो जाना, बियांड अटैचमेंट होता है। विराग का भी मतलब वही होता है कि राग के बाहर हो जाना। कोई फर्क नहीं पड़ता। हम कोई भी शब्द बनाएंगे, वह किसी शब्द के विपरीत होगा। वह तीसरा नहीं होता, वह हमेशा दूसरा ही होता है। और सत्य तीसरा है। इसलिए दूसरे शब्द को कामचलाऊ रूप से उपयोग करते हैं। कृष्ण भी कामचलाऊ उपयोग कर रहे हैं।

इसलिए वैराग्य का अर्थ राग की विपरीतता मत समझ लेना। वैराग्य का अर्थ है, द्वंद्व के पार, राग और विराग के पार जो हो गया, जिसे न अब कोई चीज आकर्षित करती है, न विकर्षित करती है। क्योंकि विकर्षण आकर्षण का ही शीर्षासन है। क्योंकि विकर्षण आकर्षण का ही शीर्षासन है। वह सिर के बल खड़ा हो गया आकर्षण है। और मोह की अंध-निशा टूटे तो। शर्त साफ है। वैराग्य को कौन उपलब्ध होता है? मोह की अंध-निशा टूटे तो, मोह की कालिमा बिखरे तो।

लेकिन हम क्या करते हैं? हम मोह की कालिमा नहीं तोड़ते, मोह के खिलाफ अमोह को साधने लगते हैं। हम मोह की कालिमा नहीं तोड़ते, मोह के खिलाफ, विरोध में अमोह को साधने लगते हैं। हम कहते हैं, घर में मोह है, तो घर छोड़ दो, जंगल चले जाएं। लेकिन जिस आदमी में मोह था, आदमी में था कि घर में था?

अगर घर में मोह था, तो आदमी चला जाए तो मोह के बाहर हो जाएगा। अगर घर मोह था। लेकिन घर को कोई भी मोह नहीं है आपसे, मोह आपको है घर से। और आप भाग रहे हैं और घर वहीं का वहीं है। आप जहां भी जाएंगे, मोह वहीं पहुंच जाएगा। वह आपके साथ चलेगा, वह आपकी छाया है। फिर आश्रम से मोह हो जाएगा--मेरा आश्रम। क्या फर्क पड़ता है? मेरा घर, मेरा आश्रम--क्या फर्क पड़ता है? मेरा बेटा, मेरा शिष्य--क्या फर्क पड़ता है? मोह नया इंतजाम कर लेगा, मोह नई गृहस्थी बसा लेगा।

यह बड़ी मजेदार बात है कि गृह का अर्थ घर से नहीं है। गृह का अर्थ उस मोह से है, जो घर को बसा लेता है, दैट व्हिच बिल्ट्स दि होम। होम से मतलब नहीं है गृह का; उससे मतलब है, जो घर को बनाता है। वह कहीं भी घर को बना लेगा। वह झाड़ के नीचे बैठेंगे, तो मेरा हो जाएगा। महल होगा, तो मेरा होगा। लंगोटी होगी, तो मेरी हो जाएगी। और मेरे को कोई दिक्कत नहीं आती कि बड़ा मकान हो कि छोटा हो, इससे कोई फर्क नहीं पड़ता। मेरे का आयतन कितना है, इससे मेरे के होने में कोई फर्क नहीं पड़ता। मेरा, आयतन पर निर्भर नहीं है।

इसे ऐसा समझें, एक आदमी दो लाख रुपए की चोरी करे और एक आदमी दो पैसे की चोरी करे, तो क्या आप समझते हैं कि दो पैसे की चोरी छोटी चोरी है और दो लाख रुपए की चोरी बड़ी चोरी है? आयतन बड़ा है, चोरी बराबर है। दो लाख की चोरी उतनी ही चोरी है, जितनी दो पैसे की चोरी है। क्योंकि चोरी करने में जो भी घटना घटती है, वह दो पैसे में भी घट जाती है, दो लाख में भी घट जाती है। चोर तो आदमी हो ही जाता है दो पैसे में उतना ही, जितना दो लाख में। हां, अदालत दो पैसे के चोर को छोटा चोर कहे, दो लाख के चोर को

बड़ा चोर कहे, सजा कम-ज्यादा करे, वह बात अलग है। क्योंकि अदालत को चोरी से मतलब नहीं है, दो लाख से मतलब है। अदालत क्वांटिटी पर जीती है।

धर्म का क्वांटिटी से, परिमाण से कोई संबंध नहीं। धर्म का क्वालिटी से संबंध है, गुण से संबंध है। धर्म कहेगा, दो पैसे की चोरी या दो लाख की चोरी, बराबर चोरी है। इसमें कोई फर्क नहीं। गणित में होगा फर्क, धर्म में कोई भी फर्क नहीं है। धर्म के लिए चोरी हो गई। आदमी चोर है।

सच तो यह है कि धर्म को और थोड़ा गहरे में उतरें, तो अगर दो लाख और दो पैसे की चोरी में कोई फर्क नहीं है, तो दो लाख की चोरी और चोरी करने के विचार में भी कोई फर्क हो सकता है? धर्म के लिए कोई फर्क नहीं है। चोरी की या चोरी करने का विचार किया, कोई अंतर नहीं है, बात घटित हो गई। हम जो करते हैं, वह भी हमारे जीवन का हिस्सा हो जाता है। जो हम करने की सोचते हैं, वह भी हमारे जीवन का हिस्सा हो जाता है।

यह जान सोलिज की जिस किताब का मैंने नाम लिया, अरेस्ट्रोस, उसमें उसका एक वचन और है कि आदमी अपने कर्मों से ही नहीं बंधता--सिर्फ कर्मों से नहीं बंधता--बल्कि जो उसने करना चाहा और नहीं किया, उससे भी बंध जाता है।

हम सिर्फ चोरी से ही नहीं बंधते--की गई चोरी से--नहीं की गई चोरी से, सोची गई चोरी से भी उतने ही बंध जाते हैं। की गई चोरी से दूसरे को भी पता चलता है, न की गई चोरी से जगत को पता नहीं चलता, लेकिन परमात्मा को पूरा पता चलता है। क्योंकि परमात्मा से हमारे संबंध भाव के हैं, कृत्य के नहीं। करने के नहीं हैं हमारे संबंध परमात्मा से, करने के संबंध जगत से हैं, समाज से हैं, बाहर से हैं। होने के संबंध हैं हमारे परमात्मा से--बीइंग के, डूइंग के नहीं।

और होने में क्या फर्क पड़ता है? मैंने चोरी की कल्पना की या मैंने चोरी की, इससे होने में कोई फर्क नहीं पड़ता, चोर मैं हो गया। परमात्मा की तरफ तो चोरी की खबर पहुंच गई कि यह आदमी चोर है। हां, जगत तक खबर नहीं पहुंची। जगत तक खबर पहुंचने में देर लगेगी। जगत तक खबर पहुंचने में चोरी का विचार ही नहीं, चोरी को हाथ का भी सहयोग लेना होगा। जगत तक पहुंचने में भाव ही नहीं, पौदगलिक कृत्य, मैटीरियल एक्ट भी करना होगा। इससे चोरी बढ़ती नहीं, सिर्फ चोरी प्रकट होती है; अनमैनिफेस्ट चोरी मैनिफेस्ट होती है; अव्यक्त चोरी व्यक्त होती है। बस और कोई फर्क नहीं पड़ता। लेकिन अव्यक्त चोरी उतनी ही चोरी है, जितनी व्यक्त चोरी है, जहां तक धर्म का संबंध है।

तो यह सवाल नहीं है कि आपके पास कितना बड़ा मकान है, कि मकान नहीं है, झोपड़ा है। यह सवाल नहीं है कि आपके पास करोड़ों रुपए हैं, कि कौड़ियां हैं। यह सवाल नहीं है। सवाल यह है कि आपके पास मेरा कहने का भाव है या नहीं है।

वही मेरे का भाव मोह की निशा है, मोह का अंधकार है। जब तक आप कह सकते हैं मेरा, चाहे यह मेरा किसी भी चीज से जुड़ता हो--मेरा धर्म--फर्क नहीं पड़ता, मोह की निशा जारी है। आप कह सकते हैंः हिंदू, मुसलमान मेरा; कुरान, बाइबिल, गीता मेरी; मंदिर-मस्जिद मेरा।

हम अजीब लोग हैं। सारी दुनिया के धर्म चिल्लाते हैं कि जिसे परमात्मा को पाना हो, उसे मेरे को छोड़ना पड़ेगा। और हम इतने कुशल हैं कि हम परमात्मा को भी मेरा बना लेते हैं कि मेरा! वह परमात्मा तेरा, यह परमात्मा मेरा।

मैंने सुना है कि किसी गांव में एक बहुत मजेदार घटना घटी। गणेशोत्सव था और गणेश का जुलूस निकल रहा था। लेकिन पूरे गांव के लोगों के हर मोहल्ले के गणेश होते थे। अब गणेश हर मोहल्ले के होते, कोई ब्राह्मणों का गणेश होता, कोई भंगियों का गणेश होता, कोई चमारों का गणेश होता, कोई लोहारों का, कोई तेलियों का। लेकिन नियम था, डिसिप्लिन थी गणेशों की भी एक। और वह यह थी कि ब्राह्मणों का गणेश पहले चलता, फिर उसके बाद किसी का, फिर किसी का; ऐसी प्रोसेशन में व्यवस्था थी।

लेकिन एक वर्ष ऐसा हुआ कि ब्राह्मणों के गणेश जरा समय से देर से पहुंचे। ब्राह्मणों के गणेश थे; समय में जरा देर दिखानी ही चाहिए! आदमी के बड़े होने का पता ही चलता है कि वह समय से जरा देर से पहुंचे। जितना बड़ा नेता, उतनी देर से पहुंचता है। जरा देर से पहुंचे ब्राह्मणों के गणेश, और तेलियों के गणेश जरा पहले पहुंच गए। गरीब गणेश थे, वह जरा पहले पहुंच गए, समय से पहुंच गए कि कहीं जुलूस न निकल जाए। क्योंकि तेलियों के गणेश के लिए कोई जुलूस रुकेगा नहीं। उनको तो समय पर पहुंचना ही चाहिए, वे समय पर पहुंचे।

फिर समय से बहुत देर हो गई, जुलूस निकालना जरूरी था, रात हुई जाती थी, तो तेलियों के गणेश ही आगे हो गए। पीछे से आए ब्राह्मणों के गणेश! तो ब्राह्मणों ने कहा, हटाओ तेलियों के गणेश को! तेलियों का गणेश और आगे? यह कभी नहीं हो सकता। बेचारे तेलियों के गणेश को पीछे हटना पड़ा।

हिंदू के भी देवता हैं, मुसलमान के भी। हिंदुओं में भी हिंदुओं के हजार देवता हैं। एक देवता भी तेलियों और ब्राह्मणों का होकर, अलग हो जाता है। भगवान मेरे को छोड़ने से मिलता है। और हम इतने कुशल हैं कि भगवान को भी मेरे की सीमाओं में बांधकर खड़ा कर देते हैं। मंदिर जलता है, तो किसी मुसलमान को पीड़ा नहीं होती; खुशी होती है। मस्जिद जलती है, तो किसी हिंदू को पीड़ा नहीं होती; खुशी होती है। और हर हालत में भगवान ही जलता है। लेकिन मेरे की वजह से दिखाई नहीं पड़ता। मेरा अंधा कर जाता है। वह मेरा अंधकार है।

किसी भी तरह के मेरे का भाव मोह की निशा है। इसके प्रति जागना है, भागना नहीं है। भागे कि मैं की विपरीतता शुरू हुई, कि फिर मैं कहीं और निर्माण होगा। फिर वह वहां जाकर अपने को निर्मित कर लेगा।

मैं जो है, बड़ी क्रिएटिव फोर्स है; मैं जो है, बड़ी सृजनात्मक शक्ति है। वास्तविक नहीं, स्वप्न का सृजन करती है, ड्रीम क्रिएटिंग। स्वप्न का निर्माण करती है, लेकिन करती है। बहुत हिप्नोटिक है। जहां भी खड़ी हो जाती है, वहां एक संसार बन जाता है।

सच तो यह है कि मेरे के कारण ही संसार है। जिस दिन मेरा नहीं है, उस दिन संसार कहीं भी नहीं है। मेरे के कारण ही गृह है, गृहस्थी है। जिस दिन मेरा नहीं है, उस दिन कहीं कोई गृह नहीं है, कहीं कोई गृहस्थी नहीं है। संन्यासी वह नहीं है, जो घर छोड़कर भाग गया; संन्यासी वह है, जिसके भीतर घर को बनाने वाला बिखर गया। जिसके भीतर से वह निर्माण करने वाली मोह की जो तंद्रा थी, वह खो गई है।

इसे कृष्ण कहते हैं, इस मोह की निशा को जो छोड़ देता है और जिसकी बुद्धि वैराग्य को उपलब्ध हो जाती है, उसके जीवन में, उसके जीवन में फलित होता है--कहें उसे मोक्ष, कहें उसे ज्ञान, कहें उसे आनंद, कहें उसे परमात्मा, कहें उसे ब्रह्म, इससे कोई फर्क नहीं पड़ता। वे सिर्फ नामों के भेद हैं।

श्रुतिविप्रतिपन्ना ते यदा स्थास्यति निश्चला।
समाधावचला बुद्धिस्तदा योगमवाप्स्यसि।। 53।।

और जब तेरी अनेक प्रकार के सिद्धांतों को सुनने से विचलित हुई बुद्धि परमात्मा के स्वरूप में अचल और स्थिर ठहर जाएगी, तब तू समत्वरूप योग को प्राप्त होगा।

जैसी बुद्धि है, निश्चल नहीं है। जैसी बुद्धि है, दृढ़ नहीं है। जैसी बुद्धि है, वेवरिंग, कंपित, कंपती हुई, लहराती हुई है। जैसी बुद्धि है वह ऐसी है, जैसे तूफान और आंधी में दीए की ज्योति होती है। एक क्षण भी एक जगह नहीं; एक क्षण में भी अनेक जगह। क्षण के शुरू में कहीं होती है, तो क्षण के अंत में कहीं। एक क्षण को भी आश्वस्त नहीं कि बचेगी, बुझती-जलती मालूम पड़ती है। झोंके हवा के--और ज्योति अब गई, अब गई, ऐसी ही होती रहती है।

कीर्कगार्ड ने मनुष्य को कहा है, ए ट्रेंबलिंग, एक कंपन। पूरे समय--जन्म से लेकर मृत्यु तक--एक कंपन, जहां सब कंप रहा है, जहां सब भूकंप है। जहां भीतर कोई थिरता नहीं, कोई दृढ़ता नहीं। जो हम बाहर से चेहरे बनाए हुए हैं, वे झूठे हैं। हमारे बाहर के चेहरे ऐसे लगते हैं, बड़े अकंप हैं। सचाई वैसी नहीं है; भीतर सब कंपता हुआ है। बहादुर से बहादुर आदमी भीतर भय से कंप रहा है। बहादुर से बहादुर आदमी भीतर भय से कंप रहा है।

स्टैलिन था। नाम ही उसको स्टैलिन इसलिए दिया--मैन आफ स्टील, लौहपुरुष। नाम नहीं है उसका असली वह, दिया हुआ नाम है--लौहपुरुष, स्टैलिन, स्टील का आदमी। लेकिन ख्रुश्चेव ने अभी संस्मरण लिखे हैं। तो उसमें लिखा है कि वह इतना भयभीत आदमी था, जिसका कोई हिसाब नहीं। और एक दिन तो ख्रुश्चेव से उसने कहा कि अब तक तो मैं दूसरों से डरता था, अब तो मैं अपने से भी डरने लगा हूं। डर भारी था।

स्टैलिन कभी भी भोजन नहीं कर सकता था सीधा, जब तक कि दो-चार को खिलाकर न देख ले। अपनी लड़की पर भी भरोसा नहीं था, कि जो खाना बना है, उसमें जहर तो नहीं है! ख्रुश्चेव ने लिखा है, हम सब को उसका भोजन पहले चखना पड़ता था। हम भी कंपते हुए चखते थे कि जिससे स्टैलिन घबड़ा रहा है, लौहपुरुष, वह हमको चखना पड़ रहा है! लेकिन मजबूरी थी। पहले चार को भोजन करवा लेता सामने बिठाकर। जब देख लेता कि चारों जिंदा हैं, तब भोजन करता। भोजन करना भी निश्चिंतता न रही।

घर से बाहर नहीं जाता था। समझा तो यह जाता है कि उसने एक डबल आदमी रख छोड़ा था, अपनी शकल का एक आदमी और रख छोड़ा था, जो सामूहिक जलसों में सम्मिलित होता था। हिटलर ने भी एक डबल रख छोड़ा था। सामूहिक जलसे में कहां-कब गोली लग जाएगी! सब इंतजाम है, फिर भी डर है। इंतजाम भारी था। स्टैलिन और हिटलर के पास जैसा इंतजाम था, ऐसा पृथ्वी पर किसी आदमी के पास कभी नहीं रहा। एक-एक आदमी की तलाशी ले ली जाती थी। हजारों सैनिकों के बीच में थे। सब तरह का इंतजाम था। लेकिन फिर भी आखिरी इंतजाम यह था कि जो आदमी सलामी ले रहा है जनता की, वह असली स्टैलिन नहीं है। वह एक नकली अभिनेता है, जो स्टैलिन का काम कर रहा है। स्टैलिन तो अपने घर में बैठा हुआ देख रहा है, खबर सुन रहा है कि क्या हो रहा है।

कैसी विडंबना है कि स्टैलिन और हिटलर जैसे आदमी इसी यश को पाने के लिए इतना श्रम करते हैं! और फिर कोई अभिनेता नमस्कार लेता है जाकर। पत्नी को भी कमरे में सुला नहीं सकते। क्योंकि रात कब गरदन दबा देगी, कुछ पता नहीं।

खूब स्टील के आदमी हैं! तो घास-फूस का आदमी कैसा होता है? भूसे से भरा आदमी कैसा होता है? और अगर स्टैलिन इतने भूसे से भरे हैं, तो हमारी क्या हालत होगी? हम तो स्टैलिन नहीं हैं, हम तो स्टील के आदमी नहीं हैं। स्टील के आदमी की यह हालत हो, तो हमारी क्या हालत होगी?

नहीं, एक चेहरा, एक मास्क, एक मुखौटा है, जो ऊपर से बिल्कुल थिर है। भीतर असली चेहरा पूरे वक्त कंप रहा है। वहां कंपन ही चल रहा है। वहां बहादुर से बहादुर आदमी भीतर भयभीत है। वहां तथाकथित ज्ञानी से ज्ञानी, भीतर गहरे में अज्ञान से कंप रहा है। यहां वह कह रहा है कि मुझे पता है, ब्रह्म है। और वहां भीतर वह जान रहा है, मुझे कुछ भी पता नहीं। यह भी पता नहीं है कि मैं भी हूं। बाहर वह दिखला रहा है अधिकार, कि मुझे मालूम है। भीतर उसे कुछ भी मालूम नहीं है। भीतर अज्ञान खाए जा रहा है। बाहर से वह कह रहा है, आत्मा अमर है। और भीतर मौत मुंह बाए मालूम पड़ती है।

ऐसी जो हमारी बुद्धि है, जो दृढ़ नहीं है। लेकिन दृढ़ का क्या मतलब है? फिर वही कठिनाई है शब्दों की। दृढ़ का क्या मतलब है? जिसको हम दृढ़ आदमी कहते हैं, क्या उसके भीतर कंपन नहीं होता? असल में जितनी दृढ़ता आदमी बाहर से दिखाता है, उतना ही भीतर कंपित होता है। असल में दृढ़ता जो है, वह सेफ्टी मेजर है, वह भीतर के कंपन को झुठलाने के लिए आयोजन है।

एडलर ने इस संबंध में बड़ी मेहनत की है। शायद मनुष्य जाति के इतिहास में इस दिशा में एडलर की खोज सर्वाधिक कीमती है। एडलर कहता है कि एक बड़ी अजीब घटना आदमी के साथ घटती है कि आदमी जो भीतर होता है, उससे ठीक उलटा बाहर आयोजन करता है, दि एग्जेक्ट कानट्रेरी, ठीक उलटा आयोजन करता है। जितना मनुष्य भीतर हीनता से पीड़ित होता है, उतना बाहर श्रेष्ठता का आयोजन करता है।

सभी राजनीतिज्ञ इनफीरिअरिटी कांप्लेक्स से पीड़ित होते हैं। होंगे ही, अन्यथा राजनीतिज्ञ होना मुश्किल है। राजनीतिज्ञ होने के लिए जरूरी है कि भीतर हीनता का भाव हो कि मैं कुछ भी नहीं हूं। तभी आदमी दौड़कर सिद्ध करता है कि देखो, मैं कुछ हूं। यह आपको कम सिद्ध करता है, अपने को ज्यादा सिद्ध करता है--अपने सामने--कि नहीं, गलत थी वह बात कि मैं कुछ नहीं हूं। देखो, मैं कुछ हूं।

एडलर का कहना है कि बड़े से बड़े जो संगीतज्ञ हुए हैं जगत में, वे वे ही लोग हैं, जिनके बचपन में कान कमजोर होते हैं। कमजोर कान का आदमी संगीतज्ञ हो जाता है। कमजोर आंख के आदमी चित्रकार हो जाते हैं।

लेनिन कुर्सी पर बैठता था, तो उसके पैर जमीन नहीं छूते थे। पैर बहुत छोटे थे, ऊपर का हिस्सा बहुत बड़ा था। लेकिन बड़ी से बड़ी कुर्सी पर वह आदमी बैठ सका। उसने सिद्ध करके बता दिया कि तुम्हारे पैर अगर जमीन को छूते हैं, तो कोई बात नहीं, कोई फिक्र नहीं, हम कुर्सी को आसमान से छूकर बताए देते हैं। एडलर कहेगा कि लेनिन की इस महत्वाकांक्षा में उसके पैरों का छोटा होना ही कारण था, वह हीनता ही उसको पीड़ित कर रही थी। पैर बहुत छोटे थे, साधारण कुर्सी पर भी लटक जाते थे, जमीन पर नहीं पहुंचते थे।

बर्नार्ड शा ने मजाक में कहा है कि छोटे पैर से क्या फर्क! छोटा हो पैर कि बड़ा हो, जमीन पर आदमी खड़ा हो, तो सभी के पैर जमीन पर पहुंच जाते हैं। क्या फर्क पड़ता है छोटे-बड़े पैर से? जमीन पर खड़ा हो, तो सभी के पैर जमीन पर पहुंच जाते हैं।

वह तो ठीक है। लेकिन छोटे पैर से फर्क पड़ता है; आदमी कुर्सी पर पहुंच जाता है। क्योंकि जब तक कुर्सी पर नहीं पहुंच जाता, तब तक उसके प्राण पीड़ित होते रहते हैं कि पैर छोटे हैं, पैर छोटे हैं, पैर छोटे हैं। वही पीड़ा उसको विपरीत यात्रा पर ले जाती है।

तो एडलर से अगर पूछें कि दृढ़ता का क्या मतलब है? तो एडलर और कृष्ण के मतलब में फर्क है; वह मैं समझाना चाहता हूं। एडलर कहेगा, दृढ़ता का मतलब कि आदमी वीकलिंग है, भीतर कमजोर है। आदमी भीतर कमजोर है, इसलिए बाहर से दृढ़ता आरोपित कर रहा है। आदमी भीतर घास-फूस का है, इसलिए बाहर से स्टैलिन है। आदमी भीतर से कुछ नहीं है, इसलिए बाहर से सब कुछ बनने की कोशिश में लगा है। क्या कृष्ण भी इसी दृढ़ता की बात कर रहे हैं? अगर इसी दृढ़ता की बात कर रहे हैं, तो दो कौड़ी की है।

नहीं, इस दृढ़ता की वे बात नहीं कर रहे हैं। एक और दृढ़ता है, जो भीतर की कमजोरी को दबाने से उपलब्ध नहीं होती, जो भीतर के चित्त के विपरीत आयोजन करने से उपलब्ध नहीं होती, बल्कि भीतर के कंपित चित्त के विदा हो जाने से उपलब्ध होती है।

दो तरह की दृढ़ताएं हैं। एक दृढ़ता वह है, जिसमें मेरे भीतर कमजोरी तो मौजूद रहती है, और उसकी छाती पर सवार होकर मैं दृढ़ हो जाता हूं। और एक ऐसी दृढ़ता है, जो मेरी कमजोरी बिखर जाती है, विलीन हो जाती है, उसके अभाव में जो मेरे भीतर छूट जाती है। लेकिन उसे हम क्या कहें? उसे दृढ़ता कहना ठीक नहीं है, क्योंकि सच तो यह है कि दृढ़ता पहले वाली ही है। वह एडलर ठीक कहता है। उसे हम क्या कहें, जो कमजोरी के विसर्जन पर बचती है?

एक तो स्वास्थ्य वह है, जो भीतर बीमारी को दबाकर प्रकट होता है। और एक स्वास्थ्य वह है, जो बीमारी के अभाव पर, एब्सेंस में प्रकट होता है। लेकिन जो बीमारी के अभाव में प्रकट होता है, उस स्वास्थ्य को हम क्या कहें? क्योंकि हम एक ही तरह के स्वास्थ्य से परिचित हैं, जो बीमारी को दबाकर उपलब्ध होता है। दबाने की प्रक्रिया को इसलिए हम दवा कहते हैं। दवाई--दबाने वाली। जिससे हम बीमारी को दबाते रहते हैं, उसको हम दवा कहते हैं।

लेकिन एक और स्वास्थ्य है, जो बीमारी का अभाव है--दबाव नहीं, सप्रेशन नहीं--एब्सेंस। लेकिन अगर हम मेडिकल साइंस से पूछने जाएं, तो वह कहेगी कि नहीं, हम ऐसे किसी स्वास्थ्य को नहीं जानते हैं, जो बीमारी का अभाव है। हम तो ऐसे ही स्वास्थ्य को जानते हैं, जो बीमारी से लड़कर उपलब्ध होता है।

इसलिए अगर आप किसी चिकित्सक से जाकर कहें कि मुझे स्वस्थ होना है, तो वह कहेगा, हम कुछ रास्ता नहीं बता सकते हैं। हमसे तो यह पूछो कि कौन-सी बीमारी है, उसे अलग करना है, उसे मिटाना है, तो हम रास्ता बता सकते हैं।

इसलिए आज तक दुनिया की कोई भी मेडिकल साइंस, चाहे वह आयुर्वेद हो और चाहे वह एलोपैथी हो और चाहे होमियोपैथी हो और चाहे यूनानी हो और चाहे कोई और हो, कोई भी पैथी हो, वह अब तक स्वास्थ्य की परिभाषा नहीं कर पाई, सिर्फ बीमारियों की परिभाषा कर पाई है। उससे पूछो कि स्वास्थ्य क्या है? तो वह कहेगी, हमें पता नहीं। हमसे पूछो कि बीमारियां क्या हैं, तो हम बता सकते हैं, टी.बी. का मतलब यह, कैंसर का मतलब यह, फ्लू का मतलब यह। लेकिन स्वास्थ्य का क्या मतलब है? स्वास्थ्य का हमें कोई पता नहीं है।

हीनता को दबाकर एक श्रेष्ठता प्रकट होती है, यह श्रेष्ठता सदा ही नीचे की हीनता पर कंपती रहती है। सदा भयभीत, सदा अपने को सिद्ध करने को आतुर, सदा अपने को तर्क देने को चेष्टारत, सदा संदिग्ध, सदा भीतर से भयग्रस्त।

और एक ऐसी भी श्रेष्ठता है--असंदिग्ध, अपने को सिद्ध करने को आतुर नहीं, अपने को प्रमाणित करने के लिए चेष्टारत नहीं, जिसे अपने होने का पता ही नहीं।

अब ध्यान रहे, जिस दृढ़ता का आपको पता है, वह एडलर वाली दृढ़ता होगी। और जिस दृढ़ता का आपको पता ही नहीं है, वह कृष्ण वाली दृढ़ता होगी। जिस दृढ़ता का पता है... पता चलेगा कैसे? पता हमेशा कंट्रास्ट में चलता है। स्कूल में शिक्षक लिखता है सफेद खड़िया से काले ब्लैक-बोर्ड पर। सफेद दीवार पर भी लिख सकता है, लिख जाएगा, पता नहीं चलेगा। लेकिन काले ब्लैक-बोर्ड पर लिखता है; लिखता है, दिखाई पड़ता है। काले पर लिखता ही इसीलिए है कि दिखाई पड़ सके। जितना काला ब्लैक-बोर्ड, उतने अक्षर साफ दिखाई पड़ते हैं।

जितना हीन आदमी, उतनी श्रेष्ठता दिखाई पड़ती है। जितना श्रेष्ठ आदमी, उतनी श्रेष्ठता सफेद दीवार पर सफेद अक्षरों जैसी लीन हो जाती है, दिखाई नहीं पड़ती है। कंट्रास्ट में, विरोध में दिखाई पड़ती है।

अगर आपको पता चलता है कि मैं स्वस्थ हूं, तो समझना कि बीमारी कहीं दबी है। अगर आपको पता चलता है, मैं ज्ञानी हूं, तो समझना कि अज्ञान कहीं दबा है। अगर आपको पता चलता है कि मैं दृढ़ चित्तवान हूं, तो समझना कि भीतर भूसा कहीं भरा है। अगर पता ही नहीं चलता... ।

इसलिए उपनिषद कहते हैं कि जो कहता है, मैं जानता हूं, समझना कि नहीं जानता है। इसलिए उपनिषद एक अदभुत वचन कहते हैं। शायद इससे ज्यादा करेजियस स्टेटमेंट, इससे ज्यादा साहसी वक्तव्य पृथ्वी पर कभी नहीं दिया गया है। उपनिषद कहते हैं कि ज्ञानी को क्या कहें! अज्ञानी तो भटक ही जाते हैं अंधकार में, ज्ञानी महा-अंधकार में भटक जाते हैं, ग्रेटर डार्कनेस। अज्ञानी तो भटकते ही हैं अंधकार में, ज्ञानी महा-अंधकार में भटक जाते हैं। किन ज्ञानियों की बात कर रहा है उपनिषद? उन ज्ञानियों की बात कर रहा है, जिन्हें ज्ञान का पता है कि ज्ञान है।

जिन्हें दृढ़ता का पता है, वे दृढ़ नहीं हैं। कृष्ण जिस दृढ़ता की बात कह रहे हैं, उसे एडलर की दृढ़ता से बिल्कुल भिन्न जान लेना। कृष्ण का मनोविज्ञान बहुत और है। वह विपरीत पर खड़ा हुआ नहीं है। क्योंकि जो विपरीत पर खड़ा हुआ मकान है, किसी भी दिन गिर जाएगा; उसका कोई भरोसा नहीं है। जो प्रतिकूल पर ही निर्मित है, वह अपने शत्रु पर ही आधार बनाए है। स्वभावतः, अपने ही शत्रु के कंधे पर हाथ रखकर जो बलशाली हुआ है, वह कितनी देर बलशाली रहेगा? जो अपने ही विपरीत को अपनी बुनियाद में आधारशिला के पत्थर बनाया है, उसके शिखर कितनी देर तक आकाश में, सूर्य की रोशनी में उन्नत रहेंगे? कितनी देर तक?

नहीं, यह नहीं हो सकता ज्यादा देर। और जितनी देर ये शिखर ऊपर उन्नत दिखाई भी पड़ेंगे, उतनी देर नीचे बुनियाद में पूरे समय संघर्ष है, पूरे समय द्वंद्व है, पूरे समय प्राणों में कंपन है, वेवरिंग है, ट्रेंबलिंग है। वहां कंपन चलता ही रहेगा, वहां भय हिलता ही रहेगा, वहां पानी की धार कंपती ही रहेगी। यह रेत पर बनाया हुआ मकान है। रेत पर भी नहीं, पानी पर बनाया हुआ मकान है। यह अब गिरा, अब गिरा, अब गिरा--भीतर आप जानते ही रहेंगे; अब गिरा, अब गिरा, अब गिरा--भीतर आप डरते ही रहेंगे। जितना भीतर डरेंगे, उतनी बाहर दृढ़ता दिखलाएंगे--अपने को धोखा देने के लिए, दूसरों को धोखा देने के लिए।

लेकिन कृष्ण जिस दृढ़ता की बात कर रहे हैं, वह प्रवंचना नहीं है, वह रूपांतरण है। लेकिन वह कब फलित होता है? वह तभी फलित होता है, वह तभी फलित होता है, जब चित्त राग और विराग से, जब बुद्धि चुनाव से, और जब मन विषयों के बीच कंपन को छोड़कर अकंप हो जाता है, जब मन इच्छाओं के बीच कंपन को छोड़कर अनिच्छा को उपलब्ध हो जाता है। अनिच्छा का मतलब विपरीत इच्छा नहीं, इच्छा के अभाव को उपलब्ध हो जाता है। तब वे कहते हैं कि अर्जुन, ऐसी अकंप चित्त की दशा में जीवन की संपदा की उपलब्धि है।

तब चित्त दृढ़ है। तब चित्त पानी पर नहीं, चट्टानों पर है। और तब आकाश में शिखर उठ सकता है। और तब पताका, जीवन की, अस्तित्व की ऊंचाइयों में फहरा सकती है।

अर्जुन उवाच

स्थितप्रज्ञस्य का भाषा समाधिस्थस्य केशव।

स्थितधीः किं प्रभाषेत किमासीत व्रजेत किम्।। 54।।

इस प्रकार भगवान के वचनों को सुनकर अर्जुन ने पूछाः

हे केशव, समाधि में स्थित स्थिर प्रज्ञा वाले पुरुष का क्या लक्षण है और स्थिरबुद्धि पुरुष कैसे बोलता है, कैसे बैठता है, कैसे चलता है?

अर्जुन पहली बार, अब तक अर्जुन का जो वर्तुल- व्यक्तित्व था, उससे उठकर प्रश्न पूछ रहा है। पहली बार। अब तक जो भी उसने पूछा था, वह पुराना आदमी पूछ रहा था, वह पुराना अर्जुन पूछ रहा था। पहली बार उसके प्रश्न ने कृष्ण को छूने की कोशिश की है--पहली बार। इस वचन से पहली बार वह कृष्ण के निकट आ रहा है। पहली बार अर्जुन अर्जुन की तरह नहीं पूछ रहा है, पहली बार अर्जुन कृष्ण के निकट होकर पूछ रहा है। पहली बार कृष्ण अर्जुन के भीतर प्रविष्ट हुए प्रतीत होते हैं।

यह सवाल गहरा है। वह पूछता है, स्थितप्रज्ञ किसे कहते हैं? किसे कहते हैं, जिसकी प्रज्ञा स्थिर हो गई? वह कौन है? वह कौन है जिसके ज्ञान की ज्योति थिर हो गई? वह कौन है जिसकी चेतना का दीया अकंप है? वह कौन है जिसे समाधिस्थ कहते हैं? उसकी भाषा क्या है? वह उठता कैसे है? वह चलता कैसे है? वह बोलता कैसे है? उसका होना क्या है? उसका व्यवहार क्या है? उसे हम कैसे पहचानें?

दो बातें वह पूछ रहा है। एक तो वह यह पूछ रहा है, प्रज्ञा का स्थिर हो जाना, स्थित हो जाना, ठहर जाना क्या है? लेकिन वह घटना तो बहुत आंतरिक है। वह घटना तो शायद स्वयं पर ही घटेगी, तभी पता चलेगा। वह शायद कृष्ण भी नहीं बता पाएंगे कि क्या है। इसलिए अर्जुन तत्काल--और इसमें अर्जुन बहुत ही बुद्धिमानी का सबूत देता है। एक बहुत इंटेलिजेंट, बहुत ही विचार का, विवेक का सबूत देता है। प्रश्न के पहले हिस्से में पूछता है कि प्रज्ञा का थिर हो जाना क्या है कृष्ण? लेकिन जैसे किसी अनजान मार्ग से उसको भी एहसास होता है कि प्रश्न शायद अति-प्रश्न है, शायद प्रश्न का उत्तर नहीं हो सकता है। क्योंकि घटना इतनी आंतरिक है कि शायद बाहर से न बताई जा सके।

इसलिए ठीक प्रश्न के दूसरे हिस्से में वह यह पूछता है कि बताएं यह भी कि बोलता कैसे है वह, जिसकी प्रज्ञा थिर हो गई? जो समाधि को उपलब्ध हुआ, समाधिस्थ है, वह बोलता कैसे? डोलता कैसे? चलता कैसे? उठता कैसे? उसका व्यवहार क्या है? इस दूसरे प्रश्न में वह यह पूछता है कि बाहर से भी अगर हम जानना चाहें, तो वह कैसा है? भीतर से जानना चाहें, तो क्या है? वह घटना क्या है? वह हैपनिंग क्या है? जिसको समाधिस्थ कहते हैं, वह घटना क्या है? यह भीतर से। लेकिन अगर यह न भी हो सके, तो जब किसी व्यक्ति में वैसी घटना घट जाती है, तो उसके बाहर क्या-क्या फलित होता है? उस घटना के चारों तरफ जो परिणाम होते हैं, वे क्या हैं?

यह प्रश्न पहला प्रश्न है, जिसने कृष्ण को आनंदित किया होगा। यह पहला प्रश्न है, जिसने कृष्ण के हृदय को पुलकित कर दिया होगा। अब तक के जो भी प्रश्न थे, अत्यंत रोगग्रस्त चित्त से उठे प्रश्न थे। अब तक जो प्रश्न थे, वे

अर्जुन के जस्टीफिकेशन के लिए थे। वह जो चाहता था, उसके ही समर्थन के लिए थे। अब तक जो प्रश्न थे, उनमें अर्जुन ने चाहा था कि कृष्ण, वह जैसा है, वैसे ही अर्जुन के लिए कोई कंसोलेशन, कोई सांत्वना बन जाएं।

अब यह पहला प्रश्न है, जिससे अर्जुन उस मोह को छोड़ता है कि मैं जैसा हूं, वैसे के लिए सांत्वना हो। यह पहला प्रश्न है जिससे वह पूछता है कि चलो, अब मैं उसको ही जानूं, जैसे आदमी के लिए तुम कहते हो, जैसे आदमी को तुम चाहते हो। जिस मनुष्य के आस-पास तुम्हारे इशारे हैं, अब मैं उसको ही जानने के लिए आतुर हूं। छोड़ूं उसे, जो अब तक मैंने पकड़ रखा था।

इस प्रश्न से अर्जुन की वास्तविक जिज्ञासा शुरू होती है। अब तक अर्जुन जिज्ञासा नहीं कर रहा था। अब तक अर्जुन कृष्ण को ऐसी जगह नहीं रख रहा था, जहां से उनसे उसे कुछ सीखना, जानना है। अब तक अर्जुन कृष्ण का उपयोग एक जस्टीफिकेशन, एक रेशनलाइजेशन, एक युक्तियुक्त हो सके उसका अपना ही ख्याल, उसके लिए कर रहा था।

इसे समझ लेना उचित है, तो आगे-आगे समझ और स्पष्ट हो सकेगी।

हम अक्सर जब प्रश्न पूछते हैं, तो जरूरी नहीं कि वह प्रश्न जिज्ञासा से आता हो। सौ में निन्यानबे मौके पर प्रश्न जिज्ञासा से नहीं आता। सौ में निन्यानबे मौके पर प्रश्न सिर्फ किसी कनफर्मेशन के लिए, किसी दूसरे के प्रमाण को अपने साथ जोड़ लेने के लिए आता है।

बुद्ध एक दिन एक गांव में प्रविष्ट हुए। एक आदमी ने पूछा, ईश्वर है? बुद्ध ने कहा, नहीं, कहीं नहीं है, कभी नहीं था, कभी नहीं होगा। स्वभावतः, वह आदमी कंप गया। कंप गया। उसने कहा, क्या कहते हैं आप? ईश्वर नहीं है? बुद्ध ने कहा, बिल्कुल नहीं है। सब जगह खोज डाला; मैं कहता हूं, नहीं है।

फिर दोपहर एक आदमी उस गांव में आया और उसने पूछा कि जहां तक मैं सोचता हूं, ईश्वर नहीं है। आपका क्या ख्याल है? बुद्ध ने कहा, ईश्वर नहीं है? ईश्वर ही है। उसके अतिरिक्त और कुछ भी नहीं है। उस आदमी ने कहा, क्या कहते हैं! मैं तो यह सोचकर आया कि बुद्ध नास्तिक हैं।

सांझ को एक और आदमी आया और उस आदमी ने बुद्ध से कहा कि मुझे कुछ भी पता नहीं है कि ईश्वर है या नहीं। आप क्या कहते हैं? बुद्ध ने कहा, मैं भी कुछ न कहूंगा। मैं भी चुप रहूंगा। उसने कहा कि नहीं-नहीं, कुछ तो कहें! बुद्ध ने कहा कि मैं कुछ न कहूंगा।

इन तीन को तो छोड़ दें, कठिनाई में पड़ गया बुद्ध का भिक्षु आनंद। वह तीनों समय साथ था, सुबह भी, दोपहर भी, सांझ भी। उसका कष्ट हम समझ सकते हैं। सोचा न था कभी कि बुद्ध और ऐसे इनकंसिस्टेंट, इतने असंगत कि सुबह कुछ, दोपहर कुछ, सांझ कुछ। लेकिन कंसिस्टेंट सिर्फ बुद्धुओं के सिवाय और कोई भी नहीं हो सकते। सिर्फ बुद्धिहीन संगत हो सकते हैं। बुद्धिमान के उत्तर असंगत होंगे ही। क्योंकि हर उत्तर किसी को दिया गया है; कोई उत्तर सभी को नहीं दिया गया है।

आनंद ने बुद्ध से कहा कि मुझे परेशानी में डाल दिया। रात सोते समय मुझे नींद न आएगी, पहले मेरा उत्तर दो! सही क्या है? इन तीनों में कौन-सी बात ठीक है? या कि चौथी बात ठीक है?

बुद्ध ने कहा, तुझे क्या मतलब! जिनसे मैंने बात की थी, उनसे मतलब पूरा हो गया। तेरा न सवाल था, न तेरे लिए जवाब है। तूने पूछा नहीं था, तूने सुना क्यों? उसने कहा, और मजा करते हैं आप! मेरे पास कान हैं, मैं बहरा नहीं हूं। मैं पास ही मौजूद था। सुनाई मुझे पड़ गया। तो बुद्ध ने कहा, जो दूसरे के लिए कहा गया हो, उसे सुनना उचित नहीं है। तुझे क्या जरूरत थी? पर उसने कहा, जरूरत थी या नहीं, मुझे सुनाई पड़ गया और मैं बेचैन हूं। तीन उत्तर एक दिन में! आप कहना क्या चाहते हैं?

बुद्ध ने कहा, मैंने तीन उत्तर नहीं दिए। मैंने तो उत्तर एक ही दिया है कि मैं तुम्हें कन्फर्म न करूंगा। मैं तुम्हारी हां में हां न भरूंगा। मैंने तो उत्तर एक ही दिया है दिनभर। सुबह जो आदमी आया था, वह चाहता था कि मैं कह दूं कि हां, ईश्वर है, ताकि जिस ईश्वर को वह मानता है, उसको मेरा भी सहारा मिल जाए। ताकि वह आश्वस्त हो जाए कि चलो, मैं ठीक हूं, बुद्ध भी यही कहते हैं। वह सिर्फ मेरा उपयोग करना चाहता था। वह मुझसे सीखने नहीं आया था। वह मुझसे जानने नहीं आया था। वह जानता ही था, वह सीखा ही हुआ था। वह सिर्फ मेरा और साथ चाहता था, वह सिर्फ एक सर्टिफिकेट और चाहता था, एक प्रमाणपत्र और चाहता था कि जो मैं कहता हूं, वही बुद्ध भी कहते हैं! मैं ठीक हूं, क्योंकि बुद्ध भी यही कहते हैं! वह सिर्फ अपने अहंकार के लिए एक युक्ति और खोज रहा था। वह बुद्ध का भी अपने अहंकार के लिए शोषण कर रहा था।

दोपहर जो आदमी आया था, वह नास्तिक था। वह भी आश्वस्त था कि उसे पक्का पता है। उसकी कोई जिज्ञासा न थी। जिन्हें पक्का पता है, उनकी कोई जिज्ञासा नहीं होती। जिन्हें पक्का ही पता है, उन्हें जिज्ञासा कैसे हो सकती है? और मजा यह है कि जिन्हें पक्का पता है, वे भी जिज्ञासा करते हैं। तब उनका पक्का पता बहुत कच्चे पते पर खड़ा है। पर वह कच्चा पता बहुत नीचे है। पक्का ऊपर है, कच्चा नीचे है। इसलिए वह कच्चा उनको धक्के देता रहता है कि और पक्का कर लो, और पक्का कर लो। पक्का नहीं है, पता कुछ भी नहीं है, लेकिन भ्रम है कि पता है।

अर्जुन अभी ऐसे बोलता रहा, इस प्रश्न के पहले तक, जैसे उसे पता है कि क्या ठीक है, क्या गलत है! चाहता था इतना कि कृष्ण और हामी भर दें, गवाह बन जाएं, तो कल वह जगत को कह सके कि मैं ही नहीं भागा था, कृष्ण ने भी कहा था। मैंने ही युद्ध नहीं छोड़ा था, कृष्ण से पूछो! रिस्पांसिबिलिटी बांटना चाहता था, दायित्व बांटना चाहता था।

ध्यान रहे, जो दायित्व बांटना चाहता है, उसके भीतर कंपन है। पक्का उसको भी नहीं है, इसीलिए तो दूसरे का सहारा चाहता है। लेकिन यह बताना भी नहीं चाहता कि मुझे पता नहीं है। यह अहंकार भी नहीं छोड़ना चाहता कि मुझे पता नहीं है।

अर्जुन पूरे समय ऐसे बोल रहा है कि जैसे उसे भलीभांति पता है। धर्म क्या है, अधर्म क्या है! श्रेयस क्या है, अश्रेयस क्या है! जगत का किससे लाभ होगा, किससे नहीं होगा! मरेगा कोई, नहीं मरेगा! सब उसे पता है। पता बिल्कुल नहीं है; लेकिन अहंकार कहता है, पता है। इसी अहंकार में वह एक टेक कृष्ण की भी लगवा लेना चाहता था। तुम भी बन जाओ उस लंगड़े की बैसाखी, यही वह चाहता था।

कृष्ण जैसे लोग किसी की बैसाखी नहीं बनते। क्योंकि किसी लंगड़े की बैसाखी बनना, उसको लंगड़ा बनाए रखने के लिए व्यवस्था है। कृष्ण जैसे लोग तो सब बैसाखियां छीन लेते हैं। वे लंगड़े को पैर देना चाहते हैं, बैसाखी नहीं देना चाहते। इसलिए कृष्ण ने अभी इस बीच उसकी सब बैसाखियां छीन लीं, जो उसके पास थीं, वे भी।

अब वह पहली दफा, पहली बार कृष्ण से जिज्ञासा कर रहा है, जिसमें अपने लिए समर्थन नहीं मांग रहा है। अब वह उन्हीं से पूछ रहा है कि समाधिस्थ कौन है कृष्ण? किसे हम कहते हैं कि उसकी प्रज्ञा ठहर गई? और जब किसी की प्रज्ञा ठहर जाती है, तो उसका आचरण क्या है? और जब किसी के अंतस में ज्योति ठहर जाती है, तो उसके बाहर के आचरण पर क्या परिणाम होते हैं? मुझे उस संबंध में बताएं। अब वह पहली बार हंबल है, पहली बार विनीत है।

और जहां विनय है, वहीं जिज्ञासा है। और जहां विनय है, वहां ज्ञान का द्वार खुलता है। जहां अपने अज्ञान का बोध है, वहीं से मनुष्य ज्ञान की तरफ यात्रा शुरू करता है। इस वचन में कृष्ण ज्ञानी और अर्जुन अज्ञानी, ऐसी अर्जुन की प्रतीति पहली बार स्पष्ट है। इसके पहले अर्जुन भी ज्ञानी है। कृष्ण भी होंगे, नंबर दो के। नंबर एक वह खुद था अब तक। बड़ा कठिन है, दूसरे आदमी को नंबर एक रखना बड़ा कठिन है।

मैंने सुना है, गांधी गोलमेज-कांफ्रेंस के लिए गए लंदन। तो उनका एक भक्त बर्नार्ड शा को मिलने गया। और बर्नार्ड शा को कहा उस भक्त ने कि गांधी जी को आप महात्मा मानते हैं या नहीं?

भक्तों को बड़ी चिंता होती है कि उनके महात्मा को कोई दूसरा महात्मा मानता है कि नहीं! खुद ही संदेह होता है भीतर, इसलिए दूसरे से भी पक्की गारंटी करवाना चाहते हैं। अब बर्नार्ड शा से पूछने जाने की क्या जरूरत है भक्त को? इसको खुद ही शक रहा होगा। सोचा, चलो, बर्नार्ड शा से पूछ लें। और सोचा होगा यह भी कि शिष्टाचारवश भी कम से कम बर्नार्ड शा कुछ ऐसा तो कह नहीं सकता कि नहीं हैं।

लेकिन बर्नार्ड शा जैसे लोग शिष्टाचार नहीं पालते, सत्याचार पालते हैं। और सत्याचार बड़ी और बात है। और शिष्टाचार तो सब दिखावा है। बर्नार्ड शा ने कहा, महात्मा हैं तुम्हारे गांधी, बिल्कुल हैं, लेकिन नंबर दो के हैं। भक्त ने कहा, नंबर दो के? नंबर एक का महात्मा कौन है? बर्नार्ड शा ने कहा, मैं! बर्नार्ड शा ने कहा, मैं झूठ न बोल सकूंगा। मैं अपने से ऊपर किसी को रख ही नहीं सकता हूं। ऐसी मेरी स्पष्ट प्रतीति है।

भक्त तो बहुत घबड़ा गया कि कैसा अहंकारी आदमी है! लेकिन बर्नार्ड शा बड़ा ईमानदार आदमी है। नंबर एक कोई भी अपने को रखता है। वह जो कहता है, चरणों की धूल हूं, वह भी नंबर एक ही रखता है अपने को। यह चरणों की धूल वगैरह सब शिष्टाचार है।

बर्नार्ड शा ने कहा, सचाई यह है कि ज्यादा से ज्यादा नंबर दो रख सकता हूं तुम्हारे महात्मा को। नंबर एक तो तय ही है। उसकी कोई बात ही मत करो। उसमें कोई शक-शुबहा नहीं है मुझे। मैं नंबर एक हूं।

व्यंग्य कर रहा था गहरा पूरी मनुष्य जाति पर। और कभी-कभी ऐसा होता है कि बहुत बुद्धिमान जो नहीं कह पाते, वह व्यंग्य करने वाले कह जाते हैं।

अरबी में एक कहावत है कि परमात्मा जब भी किसी आदमी को बनाता है, तो दुनिया में धक्का देने के पहले उसके कान में एक मजाक कर देता है। उससे कह देता है, तुझसे अच्छा आदमी कभी भी नहीं बनाया। बस उस मजाक में सभी आदमी जीते हैं। जिंदगीभर कान में वह गूंजती रहती है परमात्मा की बात कि मुझसे अच्छा कोई भी नहीं! मगर वह दिल में ही रखनी पड़ती है, क्योंकि बाकी को भी यही कह दिया है उसने। उसको अगर जोर से कहिए, तो झगड़े के सिवाय कुछ हो नहीं सकता। इसलिए मन में अपने-अपने हर आदमी समझता है। दूसरे से शिष्टाचार की बातें करता है, मन में सत्य को जानता है, कि सत्य मुझे पता है।

अभी जो भी प्रश्न पूछे जा रहे थे कृष्ण से, कृष्ण भी समझते हैं कि उनमें अर्जुन अभी तक नंबर एक है। इस पूरे बीच उसके नंबर एक को गिराने की उन्होंने सब तरफ से कोशिश की है। और उसको चाहा है कि वह समझे कि स्थिति क्या है! व्यर्थ ही अपने को नंबर एक न माने। क्योंकि नंबर एक को केवल वही उपलब्ध होता है, जिसको अपने नंबर एक होने का कोई पता नहीं रह जाता। वह हो जाता है। जिसको पता रहता है, वह कभी नहीं हो पाता। पहली दफे अर्जुन विनम्र हुआ है। अब उसकी हंबल इंक्वायरी शुरू होती है। अब वह पूछता है कि बताओ कृष्ण! और इस पूछने में बड़ी विनम्रता है।

प्रश्नः भगवान श्री, जैसा कि आपने बताया, स्थितप्रज्ञता एक आंतरिक घटना है। और स्थितप्रज्ञ पुरुष जो जीवन जीता है, वह कोई पैटर्न में तो जीता नहीं है, कोई निश्चित पैटर्न बनाकर नहीं जीता है। जैसे कि बुद्ध के तीनों उत्तर अलग रहे। तो बाहर से भी हम कैसे निश्चित कर पाएं कि वह स्थितप्रज्ञ है?

ठीक पूछते हैं। जिस व्यक्ति के भीतर जीवन में सत्य की किरणें फैल जाती हैं, सत्य का सूर्य जगता है, और जिसकी आंतरिक चेतना जागृति को, पूर्ण जागृति को उपलब्ध हो जाती है, उसका जीवन स्पांटेनियस हो जाता है, सहज हो जाता है, सहज-स्फूर्त हो जाता है। उसके जीवन में किसी पैटर्न को, किसी ढांचे को खोजना मुश्किल है। उसके जीवन में कोई बंधी-बंधाई रेखाएं नहीं होतीं। उस व्यक्ति का जीवन रेल की पटरियों पर दौड़ता हुआ जीवन नहीं होता; गंगा की तरह भागता हुआ, स्वतंत्रता से भरा जीवन होता है। वहां कोई रेल की पटरियां नहीं होतीं बंधी हुई, कि जिन पर ही चलता है वैसा व्यक्ति।

लेकिन फिर भी कुछ बातें कही जा सकती हैं। क्योंकि उसके नो-पैटर्न में भी एक बहुत गहरा पैटर्न होता है। उसके न-ढांचे में भी, उसके ढांचे के अभाव में भी, एक गहरी आंतरिक व्यवस्था होती है, एक इनर डिसिप्लिन होती है। ऊपर तो कोई ढांचा नहीं होता।

अब जैसे इतना तो कहा ही जा सकता है कि उसका जीवन सहज-स्फूर्त होता है, स्पांटेनियस होता है। यह भी सूचना हो गई। यह भी सूचना हो गई। बुद्ध सुबह कुछ कहते हैं, दोपहर कुछ कहते हैं, सांझ कुछ कहते हैं। पैटर्न नहीं है, फिर भी पैटर्न है। ढांचा नहीं है। सुबह जो कहा था, वही दोपहर नहीं दोहराया।

बुद्ध जैसे व्यक्ति मरकर नहीं जीते हैं, जीकर ही जीते हैं। सुबह जो कहा था, उसको सिर्फ वही दोहराएगा, जो दोपहर तक मरा हुआ है। जो दोपहर तक जीया है, वह फिर से उत्तर देगा, फिर रिस्पांड करेगा। उसका उत्तर सदा नया होगा। नए का मतलब यह है कि वह पुराने उत्तर को दोहराएगा नहीं। आप पूछेंगे, फिर उत्तर उसमें प्रतिध्वनित होगा। वह जो भी हो!

लेकिन इन तीन अलग-अलग घटनाओं में, इन तीन असंगतियों में, इस इनकंसिस्टेंसी में भी एक भीतरी कंसिस्टेंसी है। सुबह भी बुद्ध सहज उत्तर देते हैं, दोपहर भी, सांझ भी। सुबह भी देख लेते हैं कि वह आदमी सिर्फ प्रमाण चाह रहा है, दोपहर भी देख लेते हैं कि प्रमाण चाह रहा है, सांझ भी देख लेते हैं कि प्रमाण चाह रहा है। सुबह भी उसे डगमगा देते, दोपहर भी डगमगा देते, सांझ भी डगमगा देते।

बुद्ध के ऊपर कोई मृत ढांचा नहीं है, लेकिन एक जीवंत धारा है। पर उस जीवंत-धारा के संबंध में कुछ इशारे किए जा सकते हैं। जैसे एक इशारा यही किया जा सकता है कि स्थितप्रज्ञ का जीवन सहज-स्फूर्त, तत्क्षण-स्फूर्त, स्पांटेनियस है। इसलिए दो स्थितप्रज्ञ के जीवनों को ऊपर से बिल्कुल अलग-अलग होते हुए भी, भीतर की एकता को जांचा जा सकता है, पहचाना जा सकता है।

जैसा मैंने पीछे कहा, तो कई मित्रों ने मुझे पूछा कि ऐसा कैसे हो सकता है! मैंने कहा कि महावीर और बुद्ध एक बार एक ही गांव में एक ही धर्मशाला में ठहरे। अब एक ही धर्मशाला में दो स्थितप्रज्ञ--ऐसा कम होता है। एक ही बार पृथ्वी पर दो स्थितप्रज्ञ मुश्किल से होते हैं। एक ही धर्मशाला में, एक ही गांव में--बहुत रेयर फिनामिनन, बड़ी अदभुत घटना है। तो मुझसे मित्रों ने पूछा कि क्या इतने अहंकारी रहे होंगे कि मिले नहीं?

हमको ऐसा ही सूझता है एकदम से। क्योंकि हम जब नहीं मिलते किसी से, तो सिर्फ अहंकार के कारण नहीं मिलते। और हमारे पास कोई कारण नहीं होता। क्यों मिलें हम? लेकिन हमको यह पता ही नहीं होता कि

अहंकार न बचा हो, तो मिलना कैसे हो सकता है। क्योंकि मिलने वाला भी अहंकार है, न मिलने वाला भी अहंकार है। हमें ख्याल में नहीं आती वह बात।

मिले कौन? होना तो चाहिए न कोई--मिलने के लिए भी, न मिलने के लिए भी। बुद्ध हैं कहां! महावीर हैं कहां! किससे मिलना है? कोई पराया बचा है, जिससे मिलना है? बुद्ध अगर बचे होते, तो चले जाते महावीर से मिलने, या इनकार करते मिलने से।

यह बड़े मजे की बात है कि न मिले, न इनकार किया मिलने से। वह हुआ ही नहीं, बस, इट डिडन्ट हैपेन--बस, यह हुआ ही नहीं। इसका कोई उपाय ही नहीं है। क्योंकि कौन मिले? किससे मिले? मिलने के लिए भी अहंकार चाहिए। और फिर किसलिए मिले? कोई कारण चाहिए।

हां, अगर अहंकार होता, तो शायद एक ही धर्मशाला में ठहरने से भी इनकार कर देते। कहते कि वहां हम नहीं ठहरते। ठहर गए। अगर कोई पकड़कर ले जाता, तो चले जाते। रुकते भी नहीं, रोकते भी नहीं कि नहीं जाते। कोई पकड़कर नहीं ले गया। किसी ने दोनों को खींचा नहीं।

असल में दोनों के आस-पास अहंकारियों का इतना बड़ा जाल रहा होगा कि उसने दीवार का काम किया होगा। दोनों के आस-पास अहंकारियों का इतना जाल रहा होगा कि उसने सख्त प्राचीर का काम किया होगा। अगर कोशिश भी चली होगी, तो भक्तों ने न चलने दी होगी--मिलने की। ऐसा कैसे हो सकता है! अगर बुद्ध के भक्तों ने महावीर के भक्तों से कहा होगा कि मिलाने महावीर को ले आओ, तो उन्होंने कहा होगा, हम ले आएं? तुम ले आओ अपने बुद्ध को, मिलाना हो तो। उन्होंने कहा होगा, यह कैसे हो सकता है कि बुद्ध को हम लेकर आएं! बुद्ध नहीं आ सकते। मगर यह बातचीत भक्तों में चली होगी। यह उनमें चली होगी, जो चारों तरफ घेरकर खड़े हैं। वे सदा खड़े हैं।

इस दुनिया में बुद्ध, महावीर, कृष्ण और मोहम्मद और ईसा के बीच कोई दीवार नहीं है; दीवार है, भक्तों के कारण; वे जो घेरकर खड़े हैं। भयंकर दीवार है। हां, बुद्ध अगर तोड़ना चाहते, तो दीवार को तोड़ सकते थे। लेकिन तोड़ने का भी कोई कारण नहीं है। महावीर अगर चाहते कि मिलना है, तो मिल सकते थे। लेकिन महावीर और बुद्ध चाह से नहीं जीते; एकदम डिजायरलेस, अचाह से जीते हैं। मिलना हो जाता, तो हो जाता। नहीं हुआ, तो नहीं हुआ। राह पर चलते मिल जाते, तो मिल जाते। नहीं मिले, तो नहीं मिले। मगर दोनों बिल्कुल एक जैसे हैं। दोनों बिल्कुल एक जैसे हैं।

एक और मित्र ने इस संबंध में मुझे चिट्ठी लिखकर भेजी है कि आप कहते हैं कि महावीर और बुद्ध जो कहते हैं, वह बिल्कुल एक है। तो क्या बुद्ध और महावीर को दिखाई नहीं पड़ा यह कि एक है?

बिल्कुल दिखाई पड़ता था। बिल्कुल दिखाई पड़ता था। तो उन्होंने पूछा है कि अगर दिखाई पड़ता था, तो उन्होंने कह क्यों नहीं दिया कि एक है!

उन्होंने नहीं कहा, आप पर कृपा करके। क्योंकि अगर बुद्ध और महावीर कह दें कि बिल्कुल एक है, तो आप सिर्फ कनफ्यूज्ड होंगे और कुछ भी नहीं हो सकता; आप सिर्फ विभ्रमित होंगे, और कुछ भी नहीं हो सकता।

इसलिए महावीर कहे चले जाते हैं कि जो मैं कह रहा हूं, वही ठीक है। जो बुद्ध... बेकार है। यह जो मैं कह रहा हूं, यही ठीक है। आप इतने कमजोर चित्त हैं कि अगर महावीर इतने अतिशय से न बोलें, तो आपके चित्त पर कोई परिणाम ही होने वाला नहीं है। क्योंकि आप इतने कमजोर हैं कि अगर महावीर को आप देखें कि वह कहें, यह भी ठीक, वह भी ठीक; यह भी ठीक, वह भी ठीक, सभी ठीक, तो आप भाग खड़े होंगे। आप तो खुद ही

कमजोर हैं। आप तो चले ही जाएंगे कि जब सभी ठीक है, तो फिर ठीक है, हम भी ठीक हैं। आप उससे जो निष्कर्ष निकालेंगे, वह यह कि फिर हम भी ठीक! फिर हम जाते हैं।

अगर महावीर को ज्ञानियों के बीच में बोलना पड़े, तो महावीर कहेंगे, सभी ठीक। अगर बुद्ध को ज्ञानियों के बीच में बोलना पड़े, बुद्ध कहेंगे, सभी ठीक। अगर ज्ञानियों के बीच में बोलना पड़े, तो बुद्ध बोलेंगे ही नहीं, महावीर बोलेंगे ही नहीं। इतना भी नहीं कहेंगे कि सभी ठीक। लेकिन बोलना पड़ता है अज्ञानियों के बीच में।

ये बुद्ध और महावीर की पीड़ा आपको पता नहीं है। बोलना पड़ता है उनके बीच में, जिन्हें कुछ भी पता नहीं है। उनके लिए इस तरह के एब्सोल्यूट स्टेटमेंट, इस तरह के निरपेक्ष वचन कि सभी ठीक, सिर्फ व्यर्थ होंगे, अर्थहीन होंगे। उनके लिए कहना पड़ता है, यही ठीक। और इतने जोर से कहना पड़ता है कि महावीर के व्यक्तित्व का वजन और गरिमा और महिमा, उस यही ठीक के बीच जुड़ जाए, तो शायद आप दो कदम उठाएं।

हां, महावीर भलीभांति जानते हैं कि जिस दिन आप पहुंचेंगे, जान लेंगे, सभी ठीक। लेकिन वह उस दिन के लिए छोड़ दिया जाता है। उसके लिए कोई अभी चिंता करने की जरूरत नहीं है।

पहाड़ पर आप चल रहे हैं। मैं अपने रास्ते को कहता हूं, यही ठीक। आप कहते हैं, उस रास्ते के बाबत क्या ख्याल है, वह जो वहां से जा रहा है? मैं कहता हूं, बिल्कुल गलत! जब मैं कहता हूं, बिल्कुल गलत, तो मेरा मतलब यह नहीं होता कि वह बिल्कुल गलत। मैं भलीभांति जानता हूं, उससे भी लोग पहुंचे हैं। लेकिन हजार रास्ते जा रहे हैं पहाड़ पर। और आप चल सकते हैं सिर्फ एक पर, हजार पर नहीं। और अगर आपको हजार ही ठीक दिखाई पड़ जाएं, तो संभावना यह नहीं है कि आप हजार पर चलें, संभावना यही है कि आप एक पर भी न चलें। दो कदम एक पर चलें, फिर दो कदम दूसरे पर चलें, फिर दो कदम तीसरे पर चलें। जैसा आपका चित्त है डांवाडोल, वह रास्ते बदलता रहे और आप पहाड़ के नीचे ही भटकते रहें।

हजार रास्ते भी पहुंच जाते हैं पहाड़ पर, लेकिन हजार रास्तों से चलकर कोई भी नहीं पहुंचता। अनंत रास्ते पहुंचते हैं परमात्मा तक, लेकिन अनंत रास्तों से कोई भी नहीं पहुंचता। पहुंचने वाले सदा एक ही रास्ते से पहुंचते हैं।

तो महावीर जिस रास्ते पर खड़े हैं, उचित है कि वे कहें, इसी रास्ते से पहुंच जाओगे, आ जाओ। और जरूरी है कि आपको इस रास्ते पर चलने के लिए भरोसा और निष्ठा आ सके, वे कहें कि बाकी कोई रास्ता नहीं पहुंचाता है।

महावीर को आपकी वजह से भी असत्य बोलने पड़ते हैं। और बुद्ध को भी आपकी वजह से असत्य बोलने पड़ते हैं। मनुष्य के ऊपर जो अनुकंपा है ज्ञानियों की, उसकी वजह से उन्हें ढेर असत्य बोलने पड़ते हैं। लेकिन इस भरोसे में वे असत्य बोले जाते हैं कि आप एक से भी चढ़कर जब शिखर पर पहुंच जाएंगे, तब आप खुद ही देख लेंगे कि सभी रास्ते यहीं ले आए हैं।

अब जैसे पूछा है कि क्या ढांचा होगा? ढांचा कोई नहीं होगा। लेकिन जैसे यह बातः कृष्ण भी कहेंगे कि इस रास्ते से चलो, बुद्ध भी कहेंगे कि इस रास्ते से चलो, महावीर भी कहेंगे कि इस रास्ते से चलो, शंकर भी कहेंगे कि इस रास्ते से चलो। और अगर झंझट बनी और शंकर से किसी ने पूछा, बुद्ध के रास्ते के बाबत क्या ख्याल है? तो वे कहेंगे, बिल्कुल गलत। और बुद्ध से अगर किसी ने पूछा कि महावीर के रास्ते के बाबत क्या ख्याल है? तो बुद्ध कहेंगे, बिल्कुल गलत। और महावीर से किसी ने पूछा कि बुद्ध के रास्ते के बाबत क्या ख्याल है? तो महावीर कहेंगे, भटकना हो तो बिल्कुल ठीक। इस मामले में तो बिल्कुल एक ही बात होगी।

यह जो... ऊपर से ढांचे नहीं दिखाई पड़ेंगे, लेकिन अगर बहुत गहरे में खोज-बीन की, तो बहुत जीवंत पैटर्न, लिविंग पैटर्न होंगे। पैटर्न भी डेड और लिविंग हो सकते हैं।

एक चित्रकार एक चित्र बनाता है, वह डेड होता है। लेकिन एक चित्र प्रकृति बनाती है, वह लिविंग होता है। एक चित्रकार भी एक वृक्ष बनाता है, लेकिन वह मरा होता है। एक वृक्ष प्रकृति भी बनाती है, लेकिन वह जीवंत होता है। वह प्रतिपल बदल रहा है। कुछ पत्ते गिर रहे, कुछ आ रहे, कुछ जा रहे, कुछ फूट रहे, हवाएं हिला रही हैं।

एक सूर्य सुबह उगता है, और एक वानगाग भी सूर्योदय का चित्र बनाता है। लेकिन वानगाग के सूर्योदय का चित्र ठहरा हुआ है, स्टैटिक, स्टैगनेंट है। सुबह का सूरज कभी नहीं ठहरता है; उगता ही चला जाता है, कहीं नहीं ठहरता। इतना उगता चला जाता है कि डूब जाता है, एक क्षण नहीं ठहरता है।

जिंदगी में जो पैटर्न हैं, वे सब जीवित हैं। वे ऐसे ही हैं जैसे किसी वृक्ष के नीचे खड़े हो जाएं। पत्तों से छनकर धूप की किरणें आती हैं। वृक्ष में हवाएं दौड़ती हैं, नीचे छाया और धूप का एक जाल बन जाता है। वह प्रतिपल कंपता रहता है, बदलता रहता है--प्रतिपल।

स्थितप्रज्ञ की प्रज्ञा तो स्थिर होती है, लेकिन उसके जीवन का पैटर्न बिल्कुल जीवंत होता है, वह प्रतिपल बदलता रहता है।

कृष्ण से ज्यादा बदलता हुआ व्यक्ति खोजना मुश्किल है। नहीं तो हम सोच ही नहीं सकते कि एक ही आदमी बांसुरी भी बजाए और एक ही आदमी सुदर्शन चक्र लेकर भी खड़ा हो जाए। और एक ही आदमी गोपियों के साथ नाचे भी, और इतना कोमल, और वही आदमी युद्ध के लिए इतना सख्त हो जाए। और वही आदमी नदी में स्नान करती स्त्रियों के कपड़े लेकर वृक्ष पर चढ़ जाए, और वही आदमी नग्न होती द्रौपदी के लिए वस्त्र बढ़ाता रहे, बढ़ा दे। यह एक ही आदमी इतने बदलता पैटर्न!

जिन्होंने कृष्ण को गोपियों के वस्त्र उठाकर वृक्ष पर बैठते देखा होगा, क्या वे सोच सकते थे कभी कि किसी नग्न होती स्त्री के यह वस्त्र बढ़ाएगा? यह आदमी! भूलकर ऐसा नहीं सोच सकते थे। कोई सोच सकता था कि यह आदमी, जो मोर के पंख बांधकर और स्त्रियों के बीच नाचता है, यह आदमी कभी युद्ध के लिए जगत की सबसे मुखर वाणी बन जाएगा? कोई सोच भी नहीं सकता था। मोर के पंखों से और युद्धों का कोई संबंध है, कोई संगति है?

लेकिन यह मृत आदमी नहीं है, मोर के पंख इसे बांधते नहीं। यह मृत आदमी नहीं है, बांसुरी की धुन इसे बांधती नहीं। यह मृत आदमी नहीं है, यह जीवित आदमी है।

और जीवित आदमी का मतलब ही है, रिस्पांसिव। जगत जो भी स्थिति ला देगा, उसमें उत्तर देगा और उत्तर रेडीमेड नहीं होंगे। स्थितप्रज्ञ के उत्तर कभी भी रेडीमेड नहीं हैं, तैयार नहीं हैं। उन पर सैमसन की सील नहीं होती, वे रेडीमेड कपड़े नहीं हैं। बने-बनाए नहीं हैं कि बस कोई भी पहन ले। वह प्रतिपल, प्रतिपल जीवन को दिए गए उत्तर से, प्रतिपल जीवन के प्रति हुई संवेदना से, सब कुछ निकलता है। इसलिए एक अनुशासन नहीं है ऊपर, लेकिन भीतर एक गहरा अनुशासन है।

और एक बात और। जिनके जीवन में ऊपर अनुशासन होता है, उनके जीवन में ऊपर अनुशासन इसलिए होता है कि उन्हें इनर डिसिप्लिन का भरोसा नहीं है। उनके भीतर कोई डिसिप्लिन नहीं है। जिन्हें भीतर के अनुशासन का कोई भरोसा नहीं है, वे ऊपर से अनुशासन बांधकर चलते हैं। लेकिन जिनके भीतर के अनुशासन का जिन्हें भरोसा है, वे ऊपर से बिल्कुल स्वतंत्र होकर चलते हैं। कोई डर ही नहीं है। कोई डर ही नहीं है। वे

तैयार होकर नहीं जीते; वे जीते हैं, क्योंकि वे तैयार हैं। जो भी स्थिति आएगी, उसमें उत्तर उनसे आएगा। उस उत्तर के लिए पहले से तैयार होने की कोई भी जरूरत नहीं है।

श्री भगवानुवाच

प्रजहाति यदा कामान्सर्वान्पार्थ मनोगतान्।

आत्मन्येवात्मना तुष्टः स्थितप्रज्ञस्तदोच्यते।। 55।।

उसके उपरांत श्री कृष्ण भगवान बोलेः हे अर्जुन, जिस काल में यह पुरुष मन में स्थित संपूर्ण कामनाओं को त्याग देता है, उस काल में आत्मा से ही आत्मा में संतुष्ट हुआ, स्थिर प्रज्ञा वाला कहा जाता है।

स्चरूप से संतुष्ट--टु बी कंटेंट विद वनसेल्फ--इसे पहला स्थितप्रज्ञ का लक्षण कृष्ण कहते हैं। हम कभी भी स्वयं से संतुष्ट नहीं हैं। अगर हमारा कोई भी लक्षण कहा जा सके, तो वह है, स्वयं से असंतुष्ट। हमारे जीवन की पूरी धारा ही स्वयं से असंतुष्ट होने की धारा है। अकेले में हमें कोई छोड़ दे, तो अच्छा नहीं लगता, क्योंकि अकेले में हम अपने ही साथ रह जाते हैं। हमें कोई दूसरा चाहिए, कंपनी चाहिए, साथ चाहिए। तभी हमें अच्छा लगता है, जब कोई और हो।

और बड़े मजे की बात है कि दो आदमियों को साथ होकर अच्छा लगता है और इन दोनों आदमियों को ही अकेले में बुरा लगता है। जो अपने साथ ही आनंदित नहीं है, वह दूसरे को आनंद दे पाएगा? और जो अपने को भी इस योग्य नहीं मानता कि खुद को आनंद दे पाए, वह दूसरे को आनंद कैसे दे पा सकता है? करीब-करीब हमारी हालत ऐसी है कि जैसे भिखारी रास्ते पर मिल जाएं और एक-दूसरे के सामने भिक्षा-पात्र फैला दें। दोनों भिखारी!

मैंने सुना है, एक गांव में दो ज्योतिषी रहते थे। सुबह दोनों निकलते थे, तो एक-दूसरे को अपना हाथ दिखा देते थे कि आज कैसा धंधा चलेगा!

हम सब स्वयं से बिल्कुल राजी नहीं हैं। एक क्षण अकेलापन भारी हो जाता है। जितना हम अपने से ऊब जाते हैं, उतना हम किसी से नहीं ऊबते। रेडियो खोलो, अखबार उठाओ, मित्र के पास जाओ, होटल में जाओ, सिनेमा में जाओ, नाच देखो, मंदिर में जाओ--कहीं न कहीं जाओ, अपने साथ मत रहो। अपने साथ बड़ा... ।

कृष्ण पहला सूत्र देते हैं, स्वयं से संतुष्ट, स्वयं से तृप्त। स्वभावतः, जो अपने से तृप्त नहीं है, उसकी चेतना सदा दूसरे की तरफ बहती रहेगी, उसकी चेतना सदा दूसरे की तरफ कंपती रहेगी। असल में जहां हमारा संतोष है, वहीं हमारी चेतना की ज्योति ढल जाती है। मिलता है वहां या नहीं, यह दूसरी बात है। लेकिन जहां हमें संतोष दिखाई पड़ता है, हमारे प्राणों की धारा उसी तरफ बहने लगती है।

तो हम चौबीस घंटे बहते रहते हैं यहां-वहां। एक जगह को छोड़कर--अपने में होने को छोड़कर--हमारा होना सब तरफ डांवाडोल होता है। फिर जिसके पास भी बैठ जाते हैं, थोड़ी देर में वह भी उबा देता है। मित्र से भी ऊब जाते हैं, प्रेमी से भी ऊब जाते हैं, क्लब से भी ऊब जाते हैं, खेल से भी ऊब जाते हैं, ताश से भी ऊब जाते हैं। तो फिर विषय बदलने पड़ते हैं। फिर दौड़ शुरू होती है--जल्दी बदलो--नए सेंसेशन की, नई संवेदना की। सब पुराना पड़ता जाता है--नया लाओ, नया लाओ, नया लाओ। उसमें हम दौड़ते चले जाते हैं।

लेकिन कभी यह नहीं देखते कि जब मैं अपने से ही असंतुष्ट हूं, तो मैं कहां संतुष्ट हो सकूंगा? जब मैं भीतर ही बीमार हूं, तो मैं किसी के भी साथ होकर कैसे स्वस्थ हो सकूंगा? जब दुख मेरे भीतर ही है, तब किसी और का सुख मुझे कैसे भर पाएगा?

हां, थोड़ी देर के लिए धोखा हो सकता है। लोग मरघट ले जाते हैं किसी को, कंधे पर रखकर उसकी अर्थी को, तो रास्ते में कंधा बदल लेते हैं। एक कंधा दुखने लगता है, तो दूसरे कंधे पर अर्थी कर लेते हैं। लेकिन अर्थी का वजन कम होता है? नहीं, दुखा हुआ कंधा थोड़ी राहत पा लेता है। नए कंधे पर थोड़ी देर भ्रम होता है कि ठीक है। फिर दूसरा कंधा दुखने लगता है। सिर्फ वजन के ट्रांसफर से कुछ अंतर पड़ता है? नहीं कोई अंतर पड़ता। अपने पर वजन है, तो कंधे बदलने से कुछ न होगा। और भीतर दुख है, तो साथी बदलने से कुछ न होगा। और भीतर दुख है, तो जगह बदलने से कुछ न होगा।

दूसरे में संतोष खोजना ही प्रज्ञा की अस्थिरता है, स्वयं में संतोष पा लेना ही प्रज्ञा की स्थिरता है। लेकिन स्वयं में संतोष वही पा सकता है, जो--दूसरे में संतोष नहीं मिलता है--इस सत्य को अनुभव करता है। जब तक यह भ्रम बना रहता है कि मिल जाएगा--इसमें नहीं मिलता तो दूसरे में मिल जाएगा, दूसरे में नहीं मिलता तो तीसरे में मिल जाएगा--जब तक यह भ्रम बना रहेगा, तब तक जन्मों-जन्मों तक प्रज्ञा अस्थिर रहेगी। जब तक यह इलूजन, जब तक यह भ्रम पीछा करेगा कि कोई बात नहीं, इस स्त्री में सुख नहीं मिला, दूसरी में मिल सकता है; इस पुरुष में सुख नहीं मिला, दूसरे में मिल सकता है; इस मकान में सुख नहीं मिला, दूसरे में मिल सकता है; इस कार में सुख नहीं मिला, दूसरी कार में मिल सकता है--जब तक यह भ्रम बना रहेगा कि बदलाहट में मिल सकता है, तब तक प्रज्ञा डोलती ही रहेगी, कंपित होती ही रहेगी। यह विषयों की आकांक्षा, यह भ्रामक दूर के ढोल का सुहावनापन, यह चित्त को कंपाता ही रहेगा।

लेकिन आदमी बहुत अदभुत है। अगर उसका सबसे अदभुत कोई रहस्य है, तो वह यही है कि वह अपने को धोखा देने में अनंत रूप से समर्थ है। इनफिनिट उसकी सामर्थ्य है धोखा देने की। एक चीज से धोखा टूट जाए, टूट ही नहीं पाता कि उसके पहले वह अपने धोखे का दूसरा इंतजाम कर लेता है।

बर्नार्ड शा ने कहीं कहा है, कि कैसा मजेदार है मन! एक जगह भ्रम के तंबू उखड़ नहीं पाते कि मन तत्काल दूसरी जगह खूंटियां गाड़कर इंतजाम शुरू कर देता है। सच तो यह है कि मन इतना होशियार है कि इसके पहले कि एक जगह से तंबू उखड़ें, वह दूसरी जगह खूंटियां गाड़ चुका होता है।

और हम सब इसको समझ लेते हैं। अगर पत्नी देखती है कि पति थोड़ी कम उत्सुकता ले रहा है, तो वह किसी बहुत गहरे इंसटिंक्टिव आधार पर समझ जाती है कि खूंटियां किसी और स्त्री पर गड़नी शुरू हो गई होंगी। तत्काल! तत्काल कोई उसे गहरे में बता जाता है, कहीं खूंटियां और गड़नी शुरू हो गई हैं। और सौ में निन्यानबे मौके पर बात सही होती है। सही इसलिए होती है कि सौ में निन्यानबे मौके पर आदमी स्थितप्रज्ञ नहीं हो जाता। और मन बिना खूंटियां गाड़े जी नहीं सकता।

हां, एक मौके पर गलत होती है। कभी किसी बुद्ध के मौके पर गलत हो जाती है। यशोधरा ने भी सोची होगी पहली बात तो यही कि कुछ गड़बड़ है। जरूर कोई दूसरी स्त्री बीच में आ गई, अन्यथा भाग कैसे सकते थे!

इसलिए बुद्ध जब बारह साल बाद घर लौटे, तो यशोधरा बहुत नाराज थी, बड़ी क्रुद्ध थी। क्योंकि वह यह सोच ही नहीं सकती कि मन ने कहीं खूंटियां ही न गाड़ी हों, खूंटियां ही उखाड़ दी हों सब तरफ से। और फिर भी बड़े मजे की बात है कि एक स्त्री को इसमें ही ज्यादा सुख मिलेगा कि कोई किसी दूसरी स्त्री पर खूंटियां

गाड़ ले। इसमें ही ज्यादा पीड़ा होगी कि अब खूंटियां गाड़ी ही नहीं हैं। क्योंकि यह बिल्कुल समझ के बाहर मामला हो जाता है।

कृष्ण से अर्जुन ने जो बात पूछी है, उसके लिए पहला उत्तर बहुत ही गहरा है, मौलिक है, आधारभूत है। जब तक चित्त सोचता है कि कहीं और सुख मिल सकता है, तब तक चित्त स्वयं से असंतुष्ट है। जब तक चित्त स्वयं से असंतुष्ट है, तब तक दूसरे की आकांक्षा, दूसरे की अभीप्सा उसकी चेतना को कंपित करती रहेगी, दूसरा उसे खींचता रहेगा। और उसके दीए की लौ दूसरे की तरफ दौड़ती रहेगी, तो थिर नहीं हो सकती। जैसे ही--दूसरे में सुख नहीं है--इसका बोध स्पष्ट हो जाता है, जैसे ही दूसरे पर खूंटियां गाड़ना मन बंद कर देता है, वैसे ही सहज चेतना अपने में थिर हो जाती है। स्थिरधी की घटना घट जाती है।

बायरन ने शादी की। मुश्किल से शादी की। कोई साठ स्त्रियों से उसके संबंध थे। हमें लगेगा, कैसा पुरुष था! लेकिन अगर हमें लगता है, तो हम धोखा दे रहे हैं। असल में ऐसा पुरुष खोजना कठिन है जो साठ स्त्रियों से भी तृप्त हो जाए। यह दूसरी बात है कि समाज का भय है, हिम्मत नहीं जुटती, व्यवस्था है, कानून है, और फिर उपद्रव हैं बहुत।

लेकिन बायरन को एक स्त्री ने मजबूर कर दिया शादी के लिए। उसने कहा, पहले शादी, फिर कुछ और। पहले शादी, अन्यथा हाथ भी मत छूना। शादी की। चर्च में घंटियां बज रही हैं, मोमबत्तियां जली हैं, मित्र विदा हो रहे हैं, शादी करके बायरन उतर रहा है सीढ़ियों पर अपनी नव-वधू का हाथ हाथ में लिए हुए। और तभी सड़क से एक स्त्री जाती हुई दिखाई पड़ती है। और उसका हाथ छूट गया। और उसकी पत्नी ने चौंककर देखा, और बायरन वहां नहीं है। शरीर से ही है, मन उसका उस स्त्री के पीछे चला गया है।

उसकी पत्नी ने कहा, क्या कर रहे हैं आप? बायरन ने कहा, अरे, तुम हो? लेकिन जैसे ही तुम्हारा हाथ मेरे हाथ में आया, तुम मेरे लिए अचानक व्यर्थ हो गई हो। मेरा मन एक क्षण को उस स्त्री के पीछे चला गया। और मैं कामना करने लगा कि काश! वह स्त्री मिल जाए।

ईमानदार आदमी है। नहीं तो पहले ही दिन विवाहित स्त्री से इतनी हिम्मत बहुत मुश्किल है कहने की। साठ साल के बाद भी मुश्किल पड़ती है कहना। पहला दिन, पहला दिन भी नहीं, अभी सीढ़ियां ही उतर रहा है चर्च की। वह स्त्री तो चौंककर खड़ी हो गई। लेकिन बायरन ने कहा कि जो सच है वही मैंने तुमसे कहा है।

ऐसा ही है सच हम सब के बाबत। कभी आपने सोचा है कि जिस कार के लिए आप दीवाने थे और कई रात नहीं सोए थे, वह पोर्च में आकर खड़ी हो गई है। फिर! फिर कल दूसरी कोई कार सड़क पर चमकती हुई निकलती है और उसकी चमक आंखों में समा जाती है। फिर वही पीड़ा है। जिस मकान के लिए आप दीवाने थे कि पता नहीं उसके भीतर पहुंचकर कौन-से स्वर्ग में प्रवेश हो जाएगा। उसमें प्रवेश हो गया है। और प्रवेश होते ही मकान भूल गया और कोई स्वर्ग नहीं मिला। और फिर स्वर्ग कहीं और दिखाई पड़ने लगा। मृग-मरीचिका है। सदा सुख कहीं और है और चित्त दौड़ता रहता है।

कृष्ण कहते हैं, जब सुख यहीं है भीतर, अपने में, तभी प्रज्ञा की स्थिरता उपलब्ध होती है।

अभी इतना ही। फिर सांझ।

सोलहवां प्रवचन

विषय-त्याग नहीं--रस-विसर्जन मार्ग है

दुःखेष्वनुद्विग्नमनाः सुखेषु विगतस्पृहः।

वीतरागभयक्रोधः स्थितधीर्मुनिरुच्यते।। 56।।

तथा दुखों की प्राप्ति में उद्वेगरहित है मन जिसका और सुखों की प्राप्ति में दूर हो गई है स्पृहा जिसकी, तथा नष्ट हो गए हैं--राग, भय और क्रोध जिसके, ऐसा मुनि स्थिर-बुद्धि कहा जाता है।

समाधिस्थ कौन है? स्थितधी कौन है? कौन है जिसकी प्रज्ञा थिर हुई? कौन है जो चंचल चित्त के पार हुआ? अर्जुन ने उसके लक्षण पूछे हैं। कृष्ण इस सूत्र में कह रहे हैं, दुख आने पर जो उद्विग्न नहीं होता... ।

दुख आने पर कौन उद्विग्न नहीं होता है? दुख आने पर सिर्फ वही उद्विग्न नहीं होता, जिसने सुख की कोई स्पृहा न की हो, जिसने सुख चाहा न हो। जिसने सुख चाहा हो, वह दुख आने पर उद्विग्न होगा ही। जो चाहा हो और न मिले, तो उद्विग्नता होगी ही। सुख की चाह जहां है, वहां दुख की पीड़ा भी होगी ही। जिसे सुख के फूल चाहिए, उसे दुख के कांटों के लिए तैयार होना ही पड़ता है।

इसलिए पहली बात कहते हैं, दुख आने पर जो उद्विग्न नहीं होता। और दूसरी बात कहते हैं, सुख की जिसे स्पृहा नहीं है, सुख की जिसे आकांक्षा नहीं है।

ये एक ही सिक्के के दो पहलू हैं। सुख की आकांक्षा है, तो दुख की उद्विग्नता होगी। सुख की आकांक्षा नहीं है, तो दुख असमर्थ है फिर उद्विग्न करने में।

दुख को तो कोई भी नहीं चाहता है, दुख आता है। सुख को सभी चाहते हैं। इसलिए दुख को आने का एक ही रास्ता है, सुख की आड़ में; और तो कोई रास्ता भी नहीं है। दुख को तो कोई बुलाता नहीं, निमंत्रण नहीं देता। दुख को तो कोई कहता नहीं कि आओ। दुख का अतिथि द्वार पर आए, तो कोई भी द्वार बंद कर लेता है। दुख का तो कोई स्वागत नहीं करता। फिर भी दुख आता तो है। तो दुख कहां से आता है?

दुख, सुख की आड़ में आता है; वही है मार्ग। अगर बहुत ठीक से समझें, तो दुख सुख की ही छाया है। और भी गहरे में समझें, तो जो ऊपर से सुख दिखाई पड़ता है, वह भीतर से दुख सिद्ध होता है। कहें कि सुख केवल दिखावा है, दुख स्थिति है।

जैसे एक आदमी मछली मार रहा है नदी के किनारे बैठकर, तो कांटे में आटा लगा लेता है। आटे को लटका देता है पानी में। कोई मछली कांटे को पकड़ने को न आएगी। कोई मछली क्यों कांटे को पकड़ेगी? लेकिन आटे को तो कोई भी मछली पकड़ना चाहती है। मछली सदा आटा ही पकड़ती है, लेकिन आटे के पकड़े जाने में मछली कांटे में पकड़ी जाती है। आटा धोखा सिद्ध होता है, आवरण सिद्ध होता है; कांटा भीतर का सत्य सिद्ध होता है।

सुख आटे से ज्यादा नहीं है। हर सुख के आटे में दुख का कांटा है। और सुख भी तभी तक मालूम पड़ता है, जब तक आटा दूर है और मछली के मुंह में नहीं है--तभी तक! मुंह में आते ही तो कांटा मालूम पड़ना शुरू हो जाता है।

तो सुख सिर्फ दिखाई पड़ता है, मिलता सदा दुख है। और जिसने सुख चाहा हो, उसे दुख मिल जाए, वह उद्विग्न न हो! तो फिर उद्विग्न और कौन होगा? जिसने सुख मांगा हो और दुख आ जाए, जिसने जीवन मांगा हो और मृत्यु आ जाए, जिसने सिंहासन मांगे हों और सूली आ जाए--वह उद्विग्न नहीं होगा? उद्विग्न होगा ही। अपेक्षा के प्रतिकूल उद्विग्नता निर्मित होती है।

और भी एक बात समझ लेने जैसी है कि असल में जो सुख मांग रहा है, वह भी उद्विग्नता मांग रहा है। शायद इसका कभी ख्याल न किया हो। ख्याल तो हम जीवन में किसी चीज का नहीं करते। आंख बंद करके जीते हैं। अन्यथा कृष्ण को कहने की जरूरत न रह जाए। हमें ही दिखाई पड़ सकता है।

सुख भी एक उद्विग्नता है। सुख भी एक उत्तेजना है। हां, प्रीतिकर उत्तेजना है। है तो आंदोलन ही, मन थिर नहीं होता सुख में भी, कंपता है। इसलिए कभी अगर बड़ा सुख मिल जाए, तो दुख से भी बदतर सिद्ध हो सकता है। कभी आटा भी बहुत आ जाए मछली के मुंह में, तो कांटे तक नहीं पहुंचती; आटा ही मार डालता है, कांटे तक पहुंचने की जरूरत नहीं रह जाती।

एक आदमी को लाटरी मिल जाती है और हृदय की गति एकदम से बंद हो जाती है। लाख रुपया! हृदय चले भी तो कैसे चले! इतने जोर से चल नहीं सकता, जितने जोर से लाख रुपये के सुख में चलना चाहिए। इतने जोर से नहीं चल सकता है, इसलिए बंद हो जाता है। बड़ी उत्तेजना की जरूरत थी। हृदय नहीं चाहिए था, लोहे का फेफड़ा चाहिए था, तो लाख रुपये की उत्तेजना में भी धड़कता रहता। लाख रुपये अचानक मिल जाएं, तो सुख भी भारी पड़ जाता है।

ख्याल में ले लेना जरूरी है कि सुख भी उत्तेजना है; उसकी भी मात्राएं हैं। कुछ मात्राओं को हम सह पाते हैं। आमतौर से सुख की मात्रा किसी को मारती नहीं, क्योंकि मात्रा से ज्यादा सुख आमतौर से उतरता नहीं।

यह बहुत मजे की बात है कि मात्रा से ज्यादा दुख आदमी को नहीं मार पाता, लेकिन मात्रा से ज्यादा सुख मार डालता है। दुख को सहना बहुत आसान है, सुख को सहना बहुत मुश्किल है। सुख मिलता नहीं है, इसलिए हमें पता नहीं है। दुख को सहना बहुत आसान है, सुख को सहना बहुत मुश्किल है। क्यों? क्योंकि दुख के बाहर सुख की सदा आशा बनी रहती है। उस उत्तेजना के बाहर निकलने की आशा बनी रहती है। उसे सहा जा सकता है।

सुख के बाहर कोई आशा नहीं रह जाती; मिला कि आप ठप्प हुए, बंद हुए। मिलता नहीं है, यह बात दूसरी है। आप जो चाहते हैं, वह तत्काल मिल जाए, तो आपके हृदय की गति वहीं बंद हो जाएगी। क्योंकि सुख में ओपनिंग नहीं है, दुख में ओपनिंग है। दुख में द्वार है, आगे सुख की आशा है, जिससे जी सकते हैं। सुख अगर पूरा मिल जाए, तो आगे फिर कोई आशा नहीं है, जीने का उपाय नहीं रह जाता। सुख भी एक गहरी उत्तेजना है।

मैंने सुना है, एक आदमी को लाटरी मिल गई है। उसकी पत्नी बहुत चिंतित और परेशान है, घबड़ा गई है। उस आदमी के हाथ में कभी सौ रुपये नहीं आए, इकट्ठे पांच लाख रुपये! पास में चर्च है। वह पादरी के पास गई है और उसने प्रार्थना की, पांच लाख की लाटरी मिल गई है, पति दफ्तर से लौटते होंगे। क्लर्क हैं, सौ रुपये से ज्यादा कभी देखे नहीं हैं हाथ में, पांच लाख! उन्हें किसी तरह इस सुख से बचाओ। कहीं कुछ हानि न हो जाए!

पादरी ने कहा, घबड़ाओ मत, एकदम से सुख पड़े तो खतरा हो सकता है, इंस्टालमेंट में पड़े तो खतरा नहीं हो सकता। हम आते हैं; हम खंड-खंड सुख देने का इंतजाम करते हैं।

पादरी बुद्धिमान था; आ गया, बैठ गया। पति घर लौटा। पादरी ने सोचा, पांच लाख इकट्ठा कहना ठीक नहीं, पचास हजार से शुरू करो। तो उसने पति को कहा कि सुना तुमने, पचास हजार लाटरी में मिले हैं! फिर आंखों की तरफ देखा कि इतना पचा जाए तो फिर और पचास हजार की बात करूं! लेकिन उस आदमी ने कहा, सच! अगर पचास हजार मुझे मिले हैं, यह सच है, तो पच्चीस हजार चर्च को दान देता हूं। पादरी का हार्ट-फेल हो गया। पच्चीस हजार! पांच पैसे कोई चर्च को देता नहीं था।

सुख का आघात अगर आकस्मिक हो, तीव्र हो, तो जीवनधारा तक टूट सकती है। तार टूट सकते हैं।

सुख भी उत्तेजना है--प्रीतिकर। अपने आप में तो सिर्फ उत्तेजना है। हमारे मनोभाव में प्रीतिकर है, क्योंकि हमने उसे चाहा है। इसलिए एक और बात ध्यान में रख लेनी जरूरी है कि सब सुख कनवर्टिबल हैं, दुख बन सकते हैं। और सब दुख सुख बन सकते हैं। कुल सवाल इतना है कि चाह है। चाह का फर्क हो जाना चाहिए।

एक आदमी पहली दफा शराब पीता है, तो प्रीतिकर नहीं होता स्वाद। स्वाद तिक्त ही होता है, अप्रीतिकर ही होता है। इसलिए टेस्ट डेवलप करना होता है। शराब पीने वाले को स्वाद विकसित करना पड़ता है। फिर-फिर पीता है--मित्रों की शान में, लोगों की तारीफ में, कि मैं कोई कमजोर तो नहीं हूं--पीता है, अभ्यास हो जाता है। फिर वह तिक्त स्वाद भी प्रीतिकर लगने लगता है।

सिगरेट कोई पहली दफा पीता है, तो खांसी ही आती है, तकलीफ ही होती है। फिर सिगरेट के साथ जुड़ी है अकड़, सिगरेट के साथ जुड़ा है अहंकार, सिगरेट के साथ शान के प्रतीक जुड़े हैं। उस शान के लिए आदमी उस दुख को झेलता है और अभ्यासी हो जाता है। फिर वह सिगरेट का गंदा स्वाद--धुएं में कोई और अच्छा स्वाद हो भी नहीं सकता--प्रीतिकर लगने लगता है, सुख हो जाता है। दुख का भी अभ्यास सुख बना सकता है। और सुख के अभ्यास से भी दुख निकल आता है।

आए हैं आप मेरे पास, मैंने गले आपको लगा लिया; बहुत प्रीतिकर लगा है क्षणभर को। लेकिन मिनिट होने लगा, अब आप घबड़ा रहे हैं। दो मिनिट होने लगे, अब आप छूटना चाहते हैं। तीन मिनिट हो गए, अब आप कहते हैं, छोड़िए भी। चार मिनिट हो गए, अब आप घबड़ाते हैं कि कहीं मैं पागल तो नहीं हूं! पांच मिनिट हो गए, अब आप पुलिस वाले को चिल्लाते हैं!

यह हुआ क्या? पहले क्षण में कह रहे थे, हृदय से मिलकर बड़ा आनंद मिला है। पांच मिनिट में आनंद खो गया! अगर मिला था, तो पांच मिनिट में हजार गुना हो जाना चाहिए था। जब एक सेकेंड में इतना मिला, तो दूसरे में और ज्यादा, तीसरे में और ज्यादा। नहीं, वह पहले सेकेंड में भी मिला नहीं था, सिर्फ सोचा गया था। दूसरे सेकेंड में समझ बढ़ी, तीसरे में समझ और बढ़ी--पाया कि कुछ भी नहीं है। जिन हाथों को हम हाथों में लेने को तरसते हैं, थोड़ी देर में सिवाय पसीने के उनसे कुछ भी नहीं निकलता है।

सब सुख की उत्तेजनाएं परिचित होने पर दुख हो जाती हैं; सब दुख की उत्तेजनाएं परिचित होने पर सुख बन सकती हैं। सुख और दुख कनवर्टिबल हैं, एक-दूसरे में बदल सकते हैं। इसलिए बहुत गहरे में दोनों एक ही हैं, दो नहीं हैं। क्योंकि बदलाहट उन्हीं में हो सकती है, जो एक ही हों। सिर्फ हमारे मनोभाव में फर्क पड़ता है, चीज वही है, उसमें कोई अंतर नहीं पड़ता है।

इसलिए कृष्ण ने दो सूत्र कहे। पहला कि दुख में जो उद्विग्न न हो, दुख में जो अनुद्विग्नमना हो; दूसरा--सुख की जिसे स्पृहा न हो, जो सुख की आकांक्षा और मांग किए न बैठा हो। तीसरी बात--क्रोध, भय जिसमें न हों।

यहां एक बात बहुत ठीक से ध्यान में ले लें, क्योंकि उसके ध्यान में न होने से सारे मुल्क में बड़ी नासमझी है। कृष्ण कह रहे हैं कि जिसमें क्रोध और भय न हों, वह समाधिस्थ है। वे यह नहीं कह रहे हैं कि जो क्रोध और

भय को छोड़ दे, वह समाधिस्थ हो जाता है--वे यह नहीं कह रहे हैं। वे यह कह रहे हैं, जो समाधिस्थ है, उसमें क्रोध और भय नहीं पाए जाते हैं। इन दोनों बातों में गहरा फर्क है। क्रोध और भय जो छोड़ दे, वह समाधिस्थ हो जाता है--ऐसा वे नहीं कह रहे हैं। जो समाधिस्थ हो जाता है, उसका क्रोध और भय छूट जाता है--ऐसा वे कह रहे हैं।

आप कहेंगे, इसमें क्या फर्क पड़ता है? ये दोनों एक ही बात हैं।

ये दोनों एक बात नहीं हैं। ये बहुत फासले पर हैं, विपरीत बातें हैं। जिस आदमी ने सोचा कि क्रोध और भय छोड़ने से समाधि मिल जाती है, वह क्रोध और भय को छोड़ने में ही लगा रहेगा, समाधि को कभी नहीं पा सकता। और जिस आदमी ने सोचा कि क्रोध और भय को छोड़ने से समाधि मिल जाती है, वह क्रोध और भय से लड़ेगा। और क्रोध से लड़कर आदमी क्रोध के बाहर नहीं होता। भय से लड़कर आदमी भय के बाहर नहीं होता। भय से लड़कर आदमी और सूक्ष्म भयों में उतर जाता है। क्रोध से लड़कर आदमी और सूक्ष्म तलों पर क्रोधी हो जाता है।

मैंने एक कहानी सुनी है। मैंने सुना है कि एक आदमी की ख्याति हो गई कि उसने क्रोध पर विजय पा ली है। उसका एक मित्र उसके परीक्षण के लिए गया। सुबह थी, सर्दी थी अभी, लेकिन सूरज उग आया था। शायद साधु चार बजे रात से उठ आया होगा। आग जलाकर आग तापता था। फिर आग भी बुझ गई थी, फिर राख ही रह गई थी। अब भी साधु बैठा था। मित्र आया, उसने पास आकर नमस्कार किया और कहा कि थोड़ी-बहुत आग बची या नहीं? साधु ने कहा, नहीं; देखते नहीं, अंधे हो? कोई आग नहीं है, राख ही राख है। वह आदमी हंसा। उसने कहा कि नहीं बाबा जी, थोड़ी-बहुत तो बची ही होगी; राख के नीचे दबी होगी। साधु ने कहा, आदमी कैसे हो? मैं कहता हूं, नहीं है आग। उस आदमी ने कहा, जरा कुरेदकर तो देखें, शायद कहीं कोई चिनगारी पड़ी ही हो! साधु का हाथ अपने चिमटे पर चला गया। उसने कहा, तू आदमी है कि जानवर? मैं कहता हूं, नहीं है कोई आग। उस आदमी ने कहा, बाबा जी, अब तो चिनगारी ही नहीं, लपट बन गई है।

वह जिस आग की बात कर रहा है, वह क्रोध है। वह जिस राख की बात कर रहा है, वह ऊपर का दमन है। एक छोटी-सी चर्चा, पता नहीं उस राख में आग थी या नहीं, लेकिन साधु में काफी आग थी, वह निकल आई। जरा-सी चोट और वह निकल आई। उस आदमी ने कहा, मैंने भी यही सुना था कि राख ही राख बची है, आग नहीं बची है। यही देखने आया था। लेकिन आग काफी बची है। राख ऊपर का ही धोखा है, भीतर आग है।

क्रोध से जो लड़ेगा, वह ज्यादा से ज्यादा क्रोध को भीतर दबाने में समर्थ हो सकता है। भय से जो लड़ेगा, वह ज्यादा से ज्यादा निर्भय होने में समर्थ हो सकता है, अभय होने में नहीं। निर्भय का इतना ही मतलब है कि भय को भीतर दबा दिया है। भय आता भी है तो कोई फिक्र नहीं; हम डटे ही रहते हैं। अभय का मतलब बहुत और है। अभय का मतलब है, भय का अभाव। निर्भय का अर्थ, भय के बावजूद भी डटे रहने की हिम्मत। अभय का मतलब, फियरलेसनेस। निर्भय का मतलब, ब्रेवरी। बड़े से बड़ा बहादुर आदमी भी भयभीत होता है, अभय नहीं होता। अभय होने का मतलब, भय है ही नहीं; निर्भय होने का भी उपाय नहीं है। भय बचा ही नहीं है।

जो आदमी लक्षण को... लक्षण हैं ये। ये कृष्ण लक्षण गिना रहे हैं; काजेज नहीं, कांसिक्वेंसेज गिना रहे हैं। ये कारण नहीं गिना रहे हैं, लक्षण गिना रहे हैं कि अगर क्रोध न हो, अगर भय न हो, तो ऐसा आदमी स्थितधी है।

लेकिन हम आमतौर से उलटा कर लेते हैं। हम कह सकते हैं कि एक आदमी का शरीर अगर गरम न हो, तो उस आदमी को बुखार नहीं है। ठीक, इसमें कोई अड़चन नहीं मालूम पड़ती है। एक आदमी का शरीर गरम न

हो, तो उसे बुखार नहीं है। लेकिन एक आदमी का शरीर गरम हो, तो उसके शरीर को ठंडा करने से बुखार नहीं जाता; पानी डालने से बुखार नहीं जाता। बुखार अगर पानी डालकर मिटाने की कोशिश की, तो बीमारी के जाने की उम्मीद कम, बीमार के जाने की उम्मीद ज्यादा है।

नहीं, शरीर पर बुखार जब देखता है चिकित्सक, टेंपरेचर देखता है, तो यह जानने के लिए देखता है कि बीमारी कितनी है भीतर, जिससे इतना उत्ताप बाहर है। उत्ताप सिर्फ लक्षण है। उत्ताप बीमारी नहीं है। शरीर कहीं भीतर गहन संघर्ष में पड़ा है, उस संघर्ष के कारण उत्तप्त हो गया है। शरीर के सेल, शरीर के कोष्ठ कहीं लड़ रहे हैं भीतर दुश्मनों की तरह। कहीं भीतर कोई लड़ाई जारी है। कोई कीटाणु भीतर घुस गए हैं, जो शरीर के कीटाणुओं से लड़ रहे हैं। शरीर के रक्षक और शरीर के शत्रुओं के बीच कहीं गहरा संघर्ष है। उस संघर्ष की वजह से सारा शरीर उत्तप्त हो गया है। उत्तप्त होना सिर्फ लक्षणा है, सिम्पटम है, बीमारी नहीं है। और अगर गरम होने को ही कोई बीमारी समझ ले, तो ठंडा करना इलाज है। तो पानी डालें। बुखार तो नहीं, बीमार चला जाएगा।

नहीं, इतना ही समझें कि बुखार है, तो भीतर बीमारी है। अब बीमारी को अलग करें। और बीमारी अलग हुई, यह तब जानें, जब शरीर पर बुखार न रह जाए। तो चिकित्सक कहता है, जब शरीर पर गरमी नहीं है तब आदमी स्वस्थ है। लेकिन शरीर पर गरमी घटाने का उपाय स्वास्थ्य की विधि नहीं है।

कृष्ण जब कह रहे हैं कि भय नहीं रह जाता, क्रोध नहीं रह जाता, तो समझना कि क्रोध और भय टेंपरेचर हैं। जो बीमार आदमी के, डिजीज्ड माइंड के, भीतर जिसका मन आपस में लड़ रहा है, कलह से भरा है--कलहग्रस्त मन में क्रोध का बुखार होता है। कलहग्रस्त मन में कमजोरी आ जाती है। स्वयं से लड़कर आदमी टूट जाता है, अपनी शक्ति को खोता है और इसलिए भयभीत हो जाता है। क्रोध और भय, स्वयं जब आदमी मन में संघर्ष में पड़ा होता है, तब लक्षणाएं हैं। वे खबर देती हैं कि आदमी भीतर बीमार है, चित्त रुग्ण है। बस, इतनी ही खबर। और जब क्रोध और भय नहीं होते, तब खबर मिलती है कि भीतर चित्त स्वस्थ है। चित्त का स्वास्थ्य समाधि है, अंतर-स्वास्थ्य समाधि है।

इस भेद को इसलिए आपसे कहना चाहा कि आप क्रोध और भय से मत लड़ने लग जाना। क्रोध और भय को देखना, जानना, पहचानना। उनकी पहचान से पता चलेगा कि भीतर समाधि नहीं है। फिर समाधि लाने के उपाय अलग ही हैं। समाधि लाने के उपाय करना। समाधि आ जाएगी, तो क्रोध और भय चले जाएंगे। टेंपरेचर कहेगा कि नहीं, थर्मामीटर बताएगा कि नहीं। जब क्रोध और भय मालूम न पड़ें, तब समझना कि समाधि फलित हुई है।

लेकिन हम इससे उलटा कर लेते हैं, क्रोध और भय को दबा लेते हैं। दबाने से एक खतरा है। वह खतरा यह है कि समाधि तो भीतर फलित नहीं होती, दबे हुए क्रोध और भय के कारण हमें पता भी नहीं चलता कि भीतर समाधि नहीं है। हम लक्षणों में धोखा दे लेते हैं।

मैंने गुरजिएफ का नाम बीच में लिया था। और मैंने कहा कि गुरजिएफ के कोई पास आता, तो वह शराब पिलाता। वह न केवल शराब पिलाता, बल्कि जब कोई आदमी साधना के लिए उसके पास आता, तो वह अजीब-अजीब तरह के टेंपटेशन पैदा करता। वह अजीब सिचुएशंस, स्थितियां पैदा करता। वह एक आदमी को इस हालत में ला देता कि उसको पता ही न चले कि उसको क्रोध दिलाया जा रहा है, उसका पूरा क्रोध जगवा देता। वह ऐसी हालत पैदा कर देता कि वह आदमी बिल्कुल पागल होकर क्रुद्ध हो जाए। और जब वह पूरे क्रोध में आ जाता, तब वह उस आदमी को कहता कि जरा जागकर देख कि कितना क्रोध है तेरे भीतर! जब तू आया

था तब इतना क्रोध नहीं था। लेकिन तू यह मत समझना कि यह क्रोध अभी आ गया है। यह था तब भी, लेकिन भीतर दबा था, अब प्रकट हुआ है। इसे पहचान ले, क्योंकि यही लक्षण है।

हमें पता ही नहीं चलता कि हमारे भीतर कितना दबा है। आमतौर से हम समझते हैं कि कभी-कभी कोई हमें क्रोधित करवा देता है। यह बड़ी झूठी समझ है। कोई दुनिया में किसी को क्रोधित नहीं करवा सकता, जब तक कि भीतर क्रोध मौजूद न हो। दूसरे लोग तो केवल निमित्त बन सकते हैं, खूंटियां बन सकते हैं; कोट आपका ही टंगता है, कोट खूंटी का नहीं होता। आपके पास कोट होता है, तो आप टांग देते हैं। आप यह नहीं कह सकते कि इस खूंटी ने कोट टंगवा लिया। कोट तो था ही--चाहे हाथ पर टांगते, चाहे सांकल पर टांगते, चाहे खीली पर टांगते, चाहे कंधे पर टांगते--कहीं न कहीं टांगते। कोट तो था ही आपके पास; खूंटी ने सिर्फ रास्ता दिया, आपका कोट टांग लिया। खूंटी जिम्मेवार नहीं है, जिम्मेवार आप ही हैं। खूंटी सिर्फ निमित्त है।

एक आदमी मुझे गाली देता है। आग भड़क उठती है, क्रोध आ जाता है। तो मैं कहता हूं, इस आदमी ने क्रोध पैदा करवा दिया। यह आदमी क्रोध पैदा करवा सकता है? तो मैं आदमी हूं कि मशीन हूं, कि इसने बटन दबाई और क्रोध पैदा हो गया।

नहीं, क्रोध मेरे भीतर उबल रहा है; यह आदमी सिर्फ निमित्त है। और ऐसा मत कहिए कि यह आदमी मुझको खोज रहा है। असलियत तो यह है कि मैं इस आदमी को खोज रहा हूं। अगर यह न मिले, तो मैं मुसीबत में पड़ जाऊंगा। यह मिल जाता है, तो मैं हल्का हो जाता हूं, अनबर्डन्ड हो जाता हूं, बोझ उतर जाता है।

जैसे एक कुएं में हम बालटी डालते हैं। फिर बालटी में पानी भरकर आ जाता है। लेकिन कुएं में पानी तो होना चाहिए न! बालटी खाली कुएं से पानी नहीं ला सकती, सूखे कुएं से पानी नहीं ला सकती। खड़खड़ाकर लौट आएगी। कह देगी, नहीं है। दूसरे आदमी की गाली ज्यादा से ज्यादा बालटी बन सकती है मेरे भीतर। लेकिन क्रोध वहां होना चाहिए, तब उस बालटी में भरकर बाहर आ जाएगा।

सब भरा है भीतर। दबा-दबाकर बैठे हैं। बहुत कागजी दबाव है, बड़ा दबाव नहीं है। जरा खरोंच दो, अभी उभर पड़ेगा। लेकिन उसे देखना जरूरी है।

तो कृष्ण की इस बात से यह मत समझ लेना कि क्रोध को दबा लिया, भय को दबा लिया, तो निश्चिंत हो गए, समाधिस्थ हो गए, स्थितधी हो गए! इतना सस्ता मामला नहीं है। दबाने की बजाय क्रोध को उभारकर ही देखना। और जब कोई गाली दे, तो अपने भीतर देखना, कितना उभरता है! और जब कोई गाली दे, तो उसे धन्यवाद देना कि तेरी बड़ी कृपा! तू अगर बालटी न लाता, तो अपने कुएं की खबर ही न मिलती। ऐसा कभी-कभी बालटी ले आना।

कबीर ने कहा है, निंदक नियरे राखिए, आंगन कुटी छवाय। साधुओं से कबीर ने कहा है कि साधुओ! अपने निंदक को आंगन-कुटी छवाकर अपने पड़ोस में ही बसा लो, कि जैसे ही तुम बाहर निकलो, वह बालटी डाल दे और तुम्हारे भीतर जो पड़ा है, वह तुम्हें दिखाई पड़ जाए। क्योंकि उसे तुम देख लो, उसे तुम पहचान लो, तो तुम्हें अपनी असली स्थिति का बोध हो। और जिसे अपनी असली स्थिति का बोध नहीं है, वह अपनी परम स्थिति को कभी प्राप्त नहीं हो सकता है। जो अपनी वास्तविक, यथार्थ स्थिति को जानता है आज के क्षण में, वह अपनी परम स्थिति को, परम स्वभाव को भी उपलब्ध करने की यात्रा पर निकल सकता है।

क्रोध और भय इंगित हैं, सूचक हैं, सिंबालिक हैं, सिंप्टमैटिक हैं। उनसे डायग्नोसिस कर लेना। उनसे अपना निदान कर लेना कि ये हैं, तो मेरे भीतर समाधि नहीं है। लेकिन इनको दबाकर मत सोच लेना कि इनको

दबाने से समाधि हो जाती है। नहीं, समाधि आएगी तो ये नहीं हो जाएंगे। इनके दबाने से समाधि फलित नहीं होगी।

इसलिए कृष्ण ने बहुत ठीक सूत्र कहे, दुख उद्विग्न न करे, सुख की आकांक्षा न हो, क्रोध उत्तप्त न करे, भय कंपाए नहीं, तो जानना अर्जुन कि ऐसा व्यक्ति समाधिस्थ है।

प्रश्नः भगवान श्री, स्थितप्रज्ञ के गुण-लक्षण कहते हुए आपने यह तो विशदता की कि उसकी सेंसिटिविटी ब्लंट नहीं होती। तो स्थितप्रज्ञ मनुष्य सुख में विगतस्पृह रहेगा और दुख में अनुद्विग्नमन रहेगा। तो इसमें एक बाधा पड़ जाती है। अगर वह सुख को सुख की भांति और कष्ट को कष्ट की भांति न ले, तो उसकी संवेदना को ह्यूमन, मानवीय कैसे कहें? स्थितप्रज्ञ होना क्या सुपर ह्यूमन फिनामिनन है?

जिसकी प्रज्ञा जागी, थिर हुई, अकंप हुई, क्या उसे कष्ट का पता नहीं चलेगा?

अब यहां एक नया शब्द बीच में आया है, जो अभी चर्चा में नहीं था। सुख था, दुख था, कष्ट नहीं था। इनके फासले को समझना जरूरी होगा।

कष्ट तथ्य है, दुख व्याख्या है। पैर में कांटा चुभता है, तो चुभन तथ्य है, फैक्ट है, स्थितप्रज्ञ को भी होगी। स्थितप्रज्ञ मर नहीं गया है कि पैर में कांटा चुभे तो पता नहीं चले। पता चलेगा। शायद आपसे ज्यादा पता चलेगा। क्योंकि उसकी प्रज्ञा ज्यादा शांत है, ज्यादा संवेदनशील है। उसकी अनुभूति की क्षमता आपसे गहरी और घनी है। उसका बोध, उसकी सेंसिटिविटी आपसे प्रगाढ़ है, अनंत गुना प्रगाढ़ है। शायद आपको जो कांटा चुभा है, इस तरह कभी पता ही नहीं चला होगा, जैसा उसको पता चलेगा। क्योंकि पता चलना ध्यान की क्षमता पर निर्भर होता है।

एक युवक खेल रहा है हाकी मैदान में। पैर पर चोट लग गई है हाकी की। खून बह रहा है अंगूठे से। नाखून टूट गया है। उसे कुछ पता नहीं है। सारे देखने वाले देख रहे हैं कि पैर से खून टपक रहा है। वह दौड़ रहा है, और खून की बिंदुओं की कतार बन जाती है। फिर खेल खत्म हुआ और वह पैर पकड़कर बैठ गया है। और वह कह रहा है कि कब यह चोट लग गई? मुझे कुछ पता नहीं है! क्या हुआ? चोट लगी और पता नहीं चला!

असल में जब चोट लगी, तब उसकी अटेंशन कहीं और थी, ध्यान कहीं और था। और ध्यान के बिना पता नहीं चल सकता। अंगूठे तक पहुंचने के लिए ध्यान उसके पास था ही नहीं। ध्यान एंगेज्ड था, आकुपाइड था, पूरा का पूरा संलग्न था खेल में। अभी ध्यान के पास सुविधा न थी कि अंगूठे तक जाए। तो अंगूठा पड़ा रहा, चिल्लाता रहा कि चोट लगी है, चोट लगी है। लेकिन कहीं कोई सुनवाई न थी। सुनने वाला मौजूद नहीं था। सुनने वाला उस यात्रा पर जाने को राजी नहीं था, जहां अंगूठा है। सुनने वाला अभी कहीं और था, व्यस्त था। फिर खेल बंद हुआ; व्यस्तता समाप्त हुई। सुनने वाला, ध्यान, अटेंशन वापस आया। अब फुर्सत थी। वह पैर की तरफ भी गया। वहां पता चला कि खून बह रहा है, चोट लग गई है, दर्द है।

तो स्थितप्रज्ञ की प्रज्ञा तो पूरे समय अव्यस्त है, अनआकुपाइड है। जिस व्यक्ति का चित्त बिल्कुल शांत है, उसकी चेतना हमेशा अव्यस्त है। उसकी चेतना कहीं भी उलझी नहीं है, सदा अपने में है। तो उसके पैर में अगर कांटा गड़ेगा, तो अनंत गुना अनुभव उसे होगा, जितना हमें होता है। कष्ट तथ्य है, वह जानेगा कि पैर में कष्ट है। लेकिन पैर में कष्ट उसका, मुझमें दुख है, ऐसी व्याख्या नहीं बनेगा। पैर का कष्ट एक घटना है--बाहर, दूर, अलग।

ध्यान रहे, कष्ट और हमारे बीच सदा फासला है, दुख और हमारे बीच फासला नहीं है। जब हम कष्ट से आइडेंटिफाइड होते हैं, जब कष्ट ही मैं हो जाता हूं, तब कष्ट दुख बनता है। वह कहेगा, पैर में चोट है, पैर में कांटा गड़ रहा है। वह उपाय करेगा कि कांटे को निकाले; पैर के लिए इंतजाम करे। लेकिन इससे उद्विग्न नहीं है।

अब यह भी बड़े मजे की बात है कि अगर पैर में कष्ट है, तो उद्विग्न होने से कम नहीं होगा। जितना उद्विग्न आदमी होगा, उतना कम करने के उपाय कम कर सकेगा। जितना अनुद्विग्न आदमी होगा, उतने शीघ्र उपाय कर सकेगा।

मैं एक गांव में ठहरा था। मेरे पड़ोस के मकान में आग लग गई। एक बहुत मजेदार दृश्य देखने को मिला। तीन मंजिल मकान है। पूरे मकान पर टीन ही टीन छाए हुए हैं। दूसरे मंजिल पर आग लगी। बीड़ी के पत्ते रखे हुए हैं। मकान मालिक इतना उद्विग्न हो गया कि वह तीसरी मंजिल पर चढ़ गया, जहां उसकी टंकी है पानी की। और उसने टंकी से बालटियां लेकर पानी फेंकना शुरू कर दिया तीसरी मंजिल से। सारा मकान टीन से छाया हुआ है। टीन आग की तरह लाल तप रहे हैं। वह पानी उन टीनों पर गिरे और वह पानी जाकर नीचे खड़े लोगों पर गिरे, जो घर से बच्चों को निकाल रहे हैं, सामान निकाल रहे हैं। जिस पर वह पानी गिर जाए, वही चीखकर भागे कि मार डाला! फिर कोई उसके पास आने को तैयार न हुआ।

भीड़ खड़ी है, सारे लोग नीचे से चिल्ला रहे हैं, तुम यह क्या पागलपन कर रहे हो! पानी डालना बंद करो, नहीं तो तुम्हारे बच्चे अंदर मर जाएंगे। तुम्हारे घर से एक चीज न निकाली जा सकेगी। लेकिन वह आदमी बस इतना ही चिल्ला रहा है, बचाओ! आग लग गई! बचाओ! आग लग गई! और पानी डालता चला जा रहा है।

उस आदमी ने--आग ने नहीं--उस पूरे मकान को जलवा दिया। क्योंकि एक आदमी भी बुझाने की स्थिति में भीतर नहीं जा सका। एक बच्चा भी मरा, आग से नहीं, उसके पानी से। उस तक पहुंचने का भी कोई उपाय न रहा कि कैसे उस तक कोई चढ़कर जाए! उसका पानी इतने जोर से आता था कि कौन वहां चढ़कर जाए! बांसों से लोगों ने दूसरे मकानों पर चढ़कर उस पर चोट की कि भाई साहब! यह क्या कर रहे हो? वह बांस को ऐसा अलग कर दे और कहे कि बचाओ! आग लगी है! और पानी डालता रहा।

यह उद्विग्न चित्त आत्मघाती हो जाता है। अनुद्विग्न चित्त, जो उचित है, वह करता है। कष्ट हो सिर्फ, दुख न हो, तो उद्विग्न नहीं होते आप, सिर्फ कष्ट के बोध से भरे होते हैं। दुख मानसिक व्याख्या है, कष्ट तथ्य है। ठीक ऐसे ही अकष्ट तथ्य है, सुख मानसिक व्याख्या है।

स्थितप्रज्ञ कष्ट और अकष्ट को भलीभांति जानता है। कांटों पर लिटाइए, तो उसे पता चलता है कि कांटे हैं; और गद्दी पर बिठाइए, तो उसे पता चलता है कि गद्दी है। लेकिन गद्दी पर बैठने की वह आकांक्षा नहीं बांध लेता, गद्दी पर बैठकर वह पागल नहीं हो जाता, गद्दी से वह एक नहीं हो जाता। गद्दी सुख नहीं बनती, मानसिक व्याख्या नहीं बनती, एक भौतिक तथ्य होती है। कांटे भी एक भौतिक तथ्य होते हैं।

स्थितधी अनुभव में, अनुभूति में, तथ्यों के जानने में पूरी तरह संवेदनशील होता है। लेकिन व्याख्या जो हम करते हैं, वह नहीं करता है। मृत्यु उसकी भी आती है। हम दुखी होते हैं, वह दुखी नहीं होता। वह मृत्यु को देखता है कि मृत्यु आती है। बुढ़ापा उसका भी आता है। ऐसा नहीं कि उसे पता नहीं चलता कि अब बुढ़ापा आ गया। लेकिन वह बुढ़ापे को देखता है कि जीवन का एक तथ्य है और आता है। वह जवानी को जाते देखता, बुढ़ापे को आते देखता। बुढ़ापे के कष्ट होंगे, शरीर जीर्ण-जर्जर होगा। लेकिन शरीर होगा, स्थितधी को ऐसा नहीं

लगता कि मैं हो रहा हूं। लेकिन जब हम बूढ़े होते हैं, तो ऐसा नहीं लगता कि शरीर बूढ़ा हो रहा है, ऐसा लगता है कि मैं बूढ़ा हो रहा हूं।

हमारे प्रत्येक तथ्य में हमारा मैं तत्काल समाविष्ट हो जाता है। जीवन का कोई तथ्य हमारे मैं की व्याख्या के बाहर नहीं छूटता। हम प्रत्येक तथ्य को तत्काल व्याख्या, इंटरप्रिटेशन बना लेते हैं। स्थितप्रज्ञ की कोई व्याख्या नहीं है। वह अ को अ कहता है, ब को ब कहता है। वह कहीं भी अपने को जोड़ नहीं लेता है। और चूंकि जोड़ता नहीं, इसलिए सदा बाहर खड़े होकर हंस सकता है।

मैंने सुना है, इपिक्टेटस यूनान में, जिसको कृष्ण समाधिस्थ कहें, ऐसा एक व्यक्ति हुआ। वह कहता था, मुझे मार डालो तो भी मैं हंसता रहूंगा, मुझे काट डालो तो भी मैं हंसता रहूंगा। सम्राट ने उसे पकड़ बुलाया और कहा कि छोड़ो ये बातें। हम बातें नहीं मानते, हम कृत्य मानते हैं। दो पहलवान बुलवाए, जंजीरें बांधकर इपिक्टेटस को डाल दिया और कहा कि इसका एक पैर उखाड़ो। उन पहलवानों ने उसका एक पैर उखाड़ने के लिए पैर मोड़ा। इपिक्टेटस ने कहा कि बिल्कुल ठीक, जरा और। अभी तुम जितना कर रहे हो, इससे सिर्फ कष्ट हो रहा है, पैर टूटेगा नहीं। जरा और, बस जरा और कि टूट जाएगा!

सम्राट ने कहा, तू पागल तो नहीं है! अपने ही पैर को तोड़ने की तरकीब बता रहा है! इपिक्टेटस ने कहा कि मुझे ज्यादा ठीक से पता चल रहा है, उन बेचारों को क्या पता चलेगा! दूसरे का पैर मरोड़ रहे हैं। मैं इधर भीतर जान रहा हूं कि तकलीफ बढ़ती जा रही है, तकलीफ बढ़ती जा रही है, बढ़ती जा रही है। अब ठीक वह जगह है, जहां हड्डी टूट जाएगी। पर सम्राट ने कहा, तेरा पैर हम तोड़ रहे हैं!

इपिक्टेटस ने कहा कि अगर मुझे तोड़ रहे होते, तो बात और होती। मेरे पैर को ही तोड़ रहे हैं न? तो मेरे पैर को आप नहीं तोड़ेंगे, तो कल मौत तोड़ देगी। और आप तो सिर्फ पैर ही तोड़ रहे हैं, फुटकर, मौत होलसेल तोड़ देगी, सभी कुछ टूट जाएगा। एक पैर तोड़ रहे हैं, दूसरा तो बचा है। इपिक्टेटस से हम भीतर कह रहे हैं कि देखो बेटे, एक ही टूट रहा है, अभी दूसरा बचा है। अभी तुम इसको ही तुड़वा दो ठीक से।

फिर यह भी हम अनुभव कर रहे हैं--उसने कहा--कि जितनी देर लगेगी टूटने में, उतनी देर कष्ट होगा। तुम्हारा प्रयोग भी न हो पाएगा, हमारा प्रयोग भी न हो पाएगा। आज मौका आ गया है। कहा हमने सदा है कि कोई तोड़ डाले हमें, तो कुछ न होगा। आज देखने का अवसर तुमने जुटा दिया। तुम भी देख लोगे, हम भी देख लेंगे कि कष्ट दुख बनता है या नहीं बनता है।

कष्ट-अकष्ट अलग बात है, सुख और दुख बिल्कुल अलग बात है। सुख और दुख मनुष्य की व्याख्या है। इसलिए जब आप पूछ रहे हैं कि क्या ऐसा आदमी सुपर ह्यूमन हो जाएगा?

निश्चित ही। सुपर ह्यूमन इन अर्थों में नहीं कि उसे कांटे नहीं चुभेंगे। इन अर्थों में भी अतिमानवीय नहीं कि उसे बीमारी होगी, तो पीड़ा नहीं होगी। अतिमानवीय इन अर्थों में नहीं कि मौत आएगी, बुढ़ापा आएगा, तो वह बूढ़ा नहीं होगा। नहीं, अतिमानवीय इन अर्थों में कि वह व्याख्या जो मनुष्य की करने की आदत है, नहीं करेगा। वह मनुष्य की व्याख्या करने की आदत के बाहर होगा। इन अर्थों में वह अतिमानव है, सुपरमैन है।

यः सर्वत्रानभिस्नेहस्तत्तत्प्राप्य शुभाशुभम्।
नाभिनन्दति न द्वेष्टि तस्य प्रज्ञा प्रतिष्ठिता।। 57।।
यदा संहरते चायं कूर्मोऽङ्गानीव सर्वशः।
इन्द्रियाणीन्द्रियार्थेभ्यस्तस्य प्रज्ञा प्रतिष्ठिता।। 58।।

और जो पुरुष सर्वत्र स्नेहरहित हुआ उस-उस शुभ तथा अशुभ वस्तुओं को प्राप्त होकर न प्रसन्न होता है और न द्वेष करता है, उसकी प्रज्ञा स्थिर है।

और कछुआ अपने अंगों को जैसे समेट लेता है, वैसे ही यह पुरुष जब सब ओर से अपनी इंद्रियों को इंद्रियों के विषयों से समेट लेता है, तब उसकी प्रज्ञा स्थिर होती है।

हर्ष में, विषाद में, अनुकूल में, प्रतिकूल में भेद नहीं। लेकिन यह अभेद कब फलित होगा? कृष्ण कहते हैं, जैसे कछुआ अपने अंगों को कभी भी भीतर सिकोड़ लेता है, जैसे कछुआ अपने अंगों को सिकोड़ना जानता है, ऐसा ही समाधिस्थ पुरुष विषयों से अपनी इंद्रियों को सिकोड़ना जानता है।

थोड़ी नाजुक बात है, थोड़ी डेलिकेट बात है।

यहां इंद्रियों को सिकोड़ना... योग की दृष्टि में इंद्रियों के दो रूप हैं। एक इंद्रिय का वह रूप जो हमें बाहर से दिखाई पड़ता है, कहें इंद्रिय का शरीर। एक इंद्रिय का वह रूप जो हमें दिखाई नहीं पड़ता है, लेकिन इंद्रिय का प्राण है, कहें इंद्रिय का प्राण या आत्मा इंद्रिय की।

एक मेरी आंख है। इंस्ट्रूमेंट है आंख का। इस आंख के संबंध में चिकित्सक आंख का सब कुछ बता सकता है। आंख को काट-पीट करके, सर्जरी करके, एक-एक रग-रेशे की खबर ले आ सकता है। लेकिन यह सिर्फ आंख शरीर है आंख का। वस्तुतः यह इंद्रिय नहीं है। सिर्फ इंद्रिय की बाह्य रूप-आकृति है। इंद्रिय तो और है। इस आंख के पीछे देखने की जो वासना है, देखने की जो आकांक्षा है, वह इंद्रिय है, वह प्राण है। उसका किसी चिकित्सक को आंख के काटने-पीटने से कुछ पता नहीं चल सकता।

प्रत्येक इंद्रिय का शरीर है और प्रत्येक इंद्रिय का प्राण है। आंख सिर्फ देखने का काम ही नहीं करती, देखने की आकांक्षा, देखने का रस भी उसके पीछे छिपा है। देखने की वासना भी उसके पीछे हिलोरें लेती है। वही वासना असली इंद्रिय है।

कृष्ण को समझने के लिए समस्त इंद्रियों के इन दो हिस्सों को समझ लेना जरूरी है। अन्यथा आदमी आंख फोड़ने लग जाए। इंद्रियां सिकोड़ने का क्या मतलब--आंख फोड़ लें? इंद्रियां सिकोड़ने का क्या मतलब--कान फोड़ लें? इंद्रियां सिकोड़ने का क्या मतलब--जीभ काट डालें? और आप सोचते हों कि नहीं, ऐसा तो कोई भी नहीं समझता, तो गलत सोचते हैं।

जमीन पर अधिक लोगों ने ऐसा ही सोचा है। ऐसा ही सोचा है। ऐसे साधु हुए हैं, जिन्होंने आंखें फोड़ी हैं। ऐसे साधु हुए हैं, जिन्होंने कान फोड़े हैं। ऐसे साधु हुए हैं, जिन्होंने पैर काट डाले हैं। ऐसे साधु हुए हैं, जिन्होंने जननेंद्रियां काट डाली हैं। मध्ययुग में योरोप में एक बहुत बड़ा ईसाइयों का संप्रदाय था, जिसने लाखों लोगों की जननेंद्रियां कटवा डालीं। स्त्रियों के स्तन कटवा डाले; पुरुषों की जननेंद्रियां कटवा डालीं।

लेकिन क्या आंख के फूट जाने से देखने की वासना फूट जाती है? क्या जननेंद्रिय के कट जाने से काम की वासना कट जाती है? तब तो सभी बूढ़े कामवासना के बाहर हो जाएं!

नहीं, इंद्रिय कट जाने से सिर्फ अभिव्यक्ति का माध्यम कट जाता है। और अभिव्यक्त होने की जो प्रबल वासना थी भीतर, वह और विक्षिप्त होकर दौड़ने लगती है। मार्ग न मिलने से वह और पागल हो जाती है, द्वार न मिलने से और विक्षिप्त हो जाती है। हां, दूसरों को पता चलना बंद हो जाता है। वह वासना प्रेत बन जाती है, उसके पास शरीर नहीं रह जाता।

कृष्ण जिस इंद्रिय को सिकोड़ने की बात कर रहे हैं, और कछुए से जो उदाहरण दे रहे हैं; कछुए के उदाहरण को बहुत मत खींच लेना। गीता पर टीका लिखने वालों ने बहुत खींचा है। आदमी कछुआ नहीं है। कोई उदाहरण पूरे नहीं होते। सब उदाहरण सिर्फ सूचक होते हैं--जस्ट ए इंडिकेशन--एक इशारा, जिससे बात समझ में आ जाए, बस। जैसे कछुआ अपनी इंद्रियों को सिकोड़ लेता है, ऐसा ही स्थितप्रज्ञ, वे जो भीतर की रस इंद्रियां हैं, उन्हें सिकोड़ लेता है। लेकिन रस इंद्रियों का जो बाह्य-शरीर है, उसे सिकोड़ने का कोई मतलब नहीं है। उसे सिकोड़ने का मतलब तो सिर्फ मरना है। और उसे काटकर भीतर का रस नहीं कटता। हां, भीतर का रस कट जाए, तो वह इंद्रिय शुद्ध इंस्ट्रूमेंट रह जाती है--वासना का नहीं, सिर्फ व्यवहार का।

आंख तब देखती है बिना देखने की वासना के। तब जो आंख के सामने आ जाता है, वह देखा जाता है। लेकिन तब आंख कुछ आंख के सामने आ जाए, इसकी आकांक्षा से पीड़ित नहीं होती है। तब जो भोजन सामने आ जाता है, वह कर लिया जाता है। तब जीभ उस भोजन को करने में सहयोग देती है, लार छोड़ती है। लेकिन जो भोजन सामने नहीं है, जीभ फिर उसके लिए लार नहीं टपकाती है। फिर जो कान में पड़ जाता है, वह सुन लिया जाता है। लेकिन फिर कान तड़पते नहीं हैं किसी को सुनने के लिए। नहीं, तब इंद्रियां सिर्फ व्यवहार के माध्यम रह जाती हैं।

ध्यान रहे, जब इंद्रियां व्यवहार के माध्यम रहती हैं, तब वे केवल बाहर से सेंस डेटा इकट्ठा करती हैं, बस। जब इंद्रियां सिर्फ व्यवहार का माध्यम होती हैं, तो बाहर के जगत से तथ्यों की सूचना भीतर देती हैं। और जब इंद्रियां वासना के माध्यम बनती हैं, तब वासनाओं को बाहर ले जाकर विषयों से जोड़ने के उपयोग में लाई जाती हैं।

ये दोनों अलग-अलग फंक्शन हैं, ये दोनों अलग-अलग काम हैं। यह तो आंख का काम है कि वह बताए कि सामने दरख्त है। यह आंख का काम है कि वह बताए कि सामने पत्थर है। यह आंख का काम है कि वह खबर दे कि सामने क्या है। लेकिन जब आंख वासना से भरती है, तो बहुत मजेदार है।

तुलसीदास भागे हैं पत्नी को खोजने। उस वक्त उनकी आंख फंक्शनल नहीं है, उस वक्त सांप को वे रस्सी समझ लेते हैं। आंख अपना फंक्शन नहीं कर पा रही है। वासना इतनी तीव्र है, रस्सी को ही देखना चाहती है। इसलिए सांप को भी रस्सी देख लेती है। रस्सी ही चाहती है उस वक्त, एक क्षण चैन नहीं है। सामने के दरवाजे से जाएंगे, उचित नहीं; अभी पत्नी को आए देर भी नहीं हुई, वे पीछे-पीछे ही चले आए हैं।

नदी पार करते हैं, तो एक मुरदे की लाश को लकड़ी समझकर सहारा लेकर नदी पार कर जाते हैं। आंख अपना फंक्शनल काम नहीं कर पा रही है। आंख जो करने के लिए बनी है, वह नहीं कर पा रही है कि लाश है। न, मन कह रहा है, कहां लाश! मन को लाश से कोई लेना-देना नहीं है। मन को पहुंचना है उस पार। उस पार भी नहीं पहुंचना है, वह जो पत्नी चली गई है, उस तक पहुंचना है। अब मन बिल्कुल आंखों का उपयोग नहीं कर रहा है। आंखें बिल्कुल अंधी हो गई हैं। लाश का सहारा लेकर, लकड़ी समझकर, पार हो जाते हैं। सांप को पकड़कर छत पर चढ़ जाते हैं।

अब यहां अगर हम ठीक से समझें, तो आंख का जो व्यवहार है, जिसके लिए आंख है, वह नहीं हो रहा है। बल्कि आंख के पीछे जो वासना है, वह वासना आंख पर हावी है। आंख वासना से आब्सेस्ड है। वासनाग्रस्त आंख अंधी हो जाती है। वह वही देखती है, जो देखना चाहती है; वह नहीं देखती, जो है।

कृष्ण जब कहते हैं, कछुए की तरह इंद्रियों को सिकोड़ लेता है स्थितधी, तो मतलब यह नहीं है कि आंखें फोड़ लेता है, कि आंखें बंद कर लेता है। मतलब इतना ही है कि आंखों से सिर्फ आंखों का ही काम लेता है। सिर्फ

देखता ही है आंखों से; वही देखता है, जो है। कानों से वही सुनता है, जो है। हाथों से वही छूता है, जो है। विषयों पर वासना को आरोपित नहीं करता। विषयों पर वासना के सपनों के भवन नहीं बनाता। विषयों को आपूरित नहीं कर देता।

सुना है मैंने कि मजनू को उसके गांव के राजा ने बुलाया और कहा, तू बिल्कुल पागल है, साधारण-सी स्त्री है लैला।

शायद आपको भी ख्याल न हो, क्योंकि मजनू इतना लैला-लैला चिल्लाया है कि ऐसा ख्याल पैदा हो गया है कि लैला कोई बहुत सुंदर स्त्री रही होगी। लैला बहुत साधारण स्त्री है।

सम्राट ने बुलाकर कहा कि तू पागल है। बहुत साधारण-सी स्त्री है, उसके पीछे तू दीवाना है? उससे अच्छी स्त्रियां मैं तुझे बुलाए देता हूं; कोई भी चुन ले। सम्राट ने नगर की बारह सुंदरतम लड़कियों को लाकर खड़ा कर दिया। मजनू पर उसे दया आ गई।

मजनू हंसने लगा। उसने कहा कि कहां लैला और कहां ये स्त्रियां! आपका दिमाग तो ठीक है? लैला के चरणों में भी तो ये कोई नहीं बैठ सकतीं! सम्राट ने कहा, दिमाग मेरा ठीक है कि तेरा ठीक है! मजनू ने कहा, कुछ भी हो, दिमाग से लेना-देना क्या है! लेकिन एक बात आपसे कहे देता हूं, अब दोबारा यह बात मत उठाना। क्योंकि लैला के सौंदर्य को देखने के लिए मजनू की आंख चाहिए।

मजनू के पास कौन-सी आंख है? कोई और तरह की आंख है? आंख तो ऐसी ही है, जैसी मेरी है, आपकी है, उस राजा के पास थी। आंख तो जैसी सब की है वैसी उसकी भी है। लेकिन आंख वासनाग्रस्त है। आंख आंख का काम नहीं कर रही है, पीछे जो आंख की वासना की इंद्रिय है, वह हावी है। आंख वही देख रही है, जो वासना दिखाना चाह रही है।

इस भीतर की अंतर-इंद्रिय को सिकोड़ लेने की बात है-- अंतर-इंद्रिय को, दिस इनर इंस्ट्रूमेंट, यह जो भीतर है हमारे।

इस फासले को ठीक से हमें समझ लेना चाहिए। जब हाथ से मैं जमीन छूता हूं, तब मेरा हाथ क्या वही काम करता है! जब हाथ से मैं पत्थर छूता हूं, तब भी वही करता है! जब हाथ से मैं किसी उसको छूता हूं जिसको मैं छूना चाहता हूं, तब हाथ वही काम करता है?

नहीं, हाथ के काम में फर्क पड़ गया है। जब मैं जमीन को छूता हूं, तो सिर्फ छूता हूं। कोई वासना नहीं है वह, सिर्फ स्पर्श है, एक भौतिक घटना है, एक मानसिक आरोपण नहीं। लेकिन जब मैं किसी को प्रेम करता हूं और उसके हाथ को छूता हूं, तब सिर्फ भौतिक घटना है?

नहीं, तब एक मानसिक घटना भी है। हाथ सिर्फ छू ही नहीं रहा है, हाथ कुछ और भी कर रहा है। हाथ कोई सपना भी देख रहा है। हाथ किसी ड्रीम में उतर रहा है। हाथ अपने स्पर्श करने के ही अकेले काम को नहीं कर रहा है, स्पर्श के आस-पास काव्य भी बुन रहा है, कविता भी गढ़ रहा है।

वह भीतरी, वह जो भीतरी हाथ है, जो यह कर रहा है, इस भीतरी हाथ के सिकोड़ लेने की बात कृष्ण कह रहे हैं--कि स्थितधी अंतर-इंद्रियों को ऐसे ही सिकोड़ लेता है, जैसे कछुआ बहिर-इंद्रियों को सिकोड़ लेता है।

लेकिन आदमी को बहिर-इंद्रियां सिकोड़नी नहीं हैं। बहिर-इंद्रियां परमात्मा की बड़ी से बड़ी देन हैं। उनके कारण ही जगत का विराट हम तक उतरता है, उनके द्वार से ही हम परिचित होते हैं प्रकाश से। उनके द्वार से ही आकाश से, उनके द्वार से ही फूलों से, उनके द्वार से ही मनुष्य के सौंदर्य से, उनके द्वार से ही जगत में जो भी है, उससे हम परिचित होते हैं।

नहीं, इंद्रियां तो द्वार हैं। लेकिन इन द्वार से सिर्फ जो बाहर है, वह भीतर जाए, तब तक ये द्वार विक्षिप्त नहीं हैं। और जब भीतर का मन इन द्वार से बाहर जाकर हमले करने लगता है, और चीजों पर आरोपित होने लगता है, और आग्रह निर्मित करने लगता है, और कल्पनाएं सजाने लगता है, और सपने निर्माण करने लगता है, तब, तब हम एक जाल में खो जाते हैं, जो जाल बाहर की इंद्रियों का नहीं है, अंतर-इंद्रियों का है।

अंतर-इंद्रियों को सिकोड़ लेता है स्थितधी। कैसे सिकोड़ लेता होगा? क्योंकि बहिर-इंद्रियों को सिकोड़ना तो बहुत आसान समझ में आता है। यह हाथ फैला है, इसको सिकोड़ लिया। इसके लिए कोई स्थितप्रज्ञ होने की जरूरत नहीं है। कछुआ स्थितप्रज्ञ नहीं है, नहीं तो सभी आदमी कछुए हो जाएं और स्थितप्रज्ञ हो जाएं।

लेकिन बहुत लोगों ने कछुआ बनने की कोशिश की है। कई साधु, संन्यासी, साधक, त्यागी, योगी, कछुआ बनने की कोशिश में लगे रहे हैं कि कैसे इंद्रियों को सिकोड़ लें। कछुआ बनने से कोई हल नहीं है। कछुआ तो सिर्फ एक प्रतीक था, और अच्छा प्रतीक था। शायद कृष्ण जिस दुनिया में थे, इससे अच्छा प्रतीक और कोई मिल नहीं सकता था। आज भी नहीं है। आज भी हम खोजें कोई दूसरा सब्स्टीट्यूट, तो बहुत मुश्किल है। कछुआ बिल्कुल ठीक से बात कह जाता है--ऐसा कुछ, भीतर के जगत में। लेकिन वह भीतर के जगत में होगा कैसे?

बाहर की इंद्रियां सिकोड़ना बहुत आसान है। आंखें फोड़ लेना कितना आसान है, लेकिन देखने का रस छोड़ना कितना कठिन है! सच तो यह है कि आंखें फोड़ लो, तभी पहली दफा पता चलता है कि देखने का रस कितना है! रात आंख तो बंद हो जाती है, लेकिन सपने तो बंद नहीं होते। और दिनभर जो नहीं देखा, वह भी रात में दिखाई पड़ता है। आंख फोड़ लेंगे, तो क्या होगा? इतना ही होगा कि सपने चौबीस घंटे चलने लगेंगे। और क्या होगा?

सपनों पर बहुत खोजबीन हुई है। जब आप रात सपना देखते हैं, तो अब तो बाहर से भी पता चल जाता है कि आप सपना देख रहे हैं कि नहीं। अब तो यंत्र बन गए हैं, जो आपकी आंखों पर लगा दिए जाते हैं रात में, और रातभर अंकित करते रहते हैं कि इस आदमी ने कब सपना देखा, कब नहीं देखा। क्योंकि जब आप सपना देखते हैं, तब बंद आंख में भी आंख तेजी से चलने लगती है। बंद आंख है, देखने को कुछ नहीं है वहां, लेकिन आंख तेजी से चलने लगती है। उसके मूवमेंट्स रैपिड हो जाते हैं। इतनी तेजी से आंख चलने लगती है, जैसे सच में वह देख रही है अब।

तो वह उसकी आंख की गति ऊपर से पकड़ ली जाती है, वह ग्राफ बन जाता है कि आंख कब कितनी तेजी से चली। रात में कितनी बार आपने सपने देखे, वह सब ग्राफ बता देता है। अब तो धीरे-धीरे, धीरे-धीरे समझ में आ रहा है कि किस तरह का सपना देखा! ग्राफ से वह भी पता चलने लगा है। क्योंकि जब आप सेक्सुअल सपना देखते हैं, जब आप कामुक सपना देखते हैं--और सौ में से कम से कम पचास सपने कामुक होते हैं सभी के, साधारणतः सभी के; जो असाधारण हैं, उनके जरा और ज्यादा परसेंटेज में होते हैं; पचास प्रतिशत कामुक सपने--तब तो आंख ही नहीं, जननेंद्रिय भी तत्काल प्रभावित हो जाती है। उस पर भी मशीन लगाई जा सकती है, वह भी खबर कर देती है ग्राफ पर।

अब कोई भी नहीं है, आप बिल्कुल अकेले हैं अपने सपने में। न कोई विषय है, न कोई स्त्री है, न कोई पुरुष है, न कोई भोजन है--कुछ भी नहीं है। निपट अकेले हैं, सब इंद्रियां बंद हैं। फिर यह भीतर कौन गति कर रहा है? ये अंतर-इंद्रियां हैं, जो भीतर गति कर रही हैं। और इनकी भीतरी गति के कारण इनकी बहिर-इंद्रिय भी प्रभावित हो जाती है। काट डालें पूरे आदमी को, तो भी कोई फर्क नहीं पड़ेगा। पता नहीं चलेगा बस, सब भीतर-भीतर धुआं होकर घूमने लगेगा। अक्सर सज्जन आदमियों के भीतर सब धुआं हो जाता है, भीतर घूमने

लगता है। बुरे आदमी जो बाहर कर लेते हैं, अच्छे आदमी भीतर करते रहते हैं। धर्म की दृष्टि से कोई भी फर्क नहीं है।

इन भीतर की इंद्रियों को कैसे सिकोड़ेंगे? एक छोटा-सा सूत्र, फिर हम दूसरा श्लोक लें। बहुत छोटा-सा सूत्र है भीतर की इंद्रियों को सिकोड़ने का।

एक दिन बुद्ध बैठे हैं ऐसे ही किसी सांझ; बहुत लोग उन्हें सुनने आ गए हैं। एक आदमी सामने ही बैठा हुआ पैर का अंगूठा हिला रहा है। बुद्ध ने बोलते बीच में उस आदमी से कहा कि क्यों भाई, यह पैर का अंगूठा क्यों हिलाते हो? वह आदमी भी चौंका, और लोग भी चौंके, कि कहां बात चलती थी, कहां उस आदमी के पैर का अंगूठा! बुद्ध ने कहा, यह पैर का अंगूठा क्यों हिल रहा है? उस आदमी का तत्काल अंगूठा रुक गया। उस आदमी ने कहा, आप भी कैसी बातें देख लेते हैं! छोड़िए भी। बुद्ध ने कहा, नहीं, छोडूंगा नहीं। जानना ही चाहता हूं, अंगूठा क्यों हिलता था? तुम्हारे इतने सवालों के जवाब मैंने दिए, आज पहली दफे मैंने सवाल पूछा है; मुझे उत्तर दो। उस आदमी ने कहा, अब आप पूछते हैं, तो मुश्किल में डालते हैं। सच बात यह है कि मुझे पता ही नहीं था कि पैर का अंगूठा हिल रहा है; और जैसे ही पता चला, रुक गया। तो बुद्ध ने कहा, जो अंतर-कंपन हैं, वे पता चलते ही रुक जाते हैं। अंतर-कंपन जो हैं, वे पता चलते ही रुक जाते हैं।

तो भीतर की इंद्रियों को सिकोड़ना नहीं पड़ता, सिर्फ इसका पता चलना कि भीतर इंद्रिय है और गति कर रही है, इसका बोध ही उनका सिकुड़ना हो जाता है--दि वेरी अवेयरनेस। जैसे ही पता चला कि यह भीतर काम की वासना उठी, कुछ करें मत, सिर्फ देखें। आंख बंद कर लें और देखें, यह भीतर काम की वासना उठी। यह काम की वासना चली जननेंद्रिय के केंद्रों की तरफ--सिर्फ देखें। दो सेकेंड से ज्यादा नहीं, और आप अचानक पाएंगे, सिकुड़ गई। यह क्रोध उठा, चला यह बाहर की इंद्रियों को पकड़ने। सिर्फ देखें; आंख बंद कर लें और देखें; और आप पाएंगे, वापस लौट गया। यह किसी को देखने की इच्छा जगी और आंख तड़पी। देखें, चली भीतर की इंद्रिय बाहर की इंद्रिय को पकड़ने। देखें--सिर्फ देखें--और आप पाएंगे कि वापस लौट गई।

भीतर की इंद्रियां इतनी संकोचशील हैं कि जरा-सी भी चेतना नहीं सह पातीं। उनके लिए अचेतना जरूरी माध्यम है--मूर्च्छा। इसलिए जो अपने भीतर की इंद्रियों के प्रति जागने लगता है, उसकी भीतर की इंद्रियां सिकुड़ने लगती हैं, अपने आप सिकुड़ने लगती हैं। बाहर की इंद्रियां बाहर पड़ी रह जाती हैं, भीतर की इंद्रियां सिकुड़कर अंदर चली जाती हैं। ऐसी स्थिति व्यक्ति की समाधिस्थ स्थिति बन जाती है।

विषया विनिवर्तन्ते निराहारस्य देहिनः।

रसवर्जं रसोऽप्यस्य परं दृष्ट्वा निवर्तते।। 59।।

यद्यपि इंद्रियों द्वारा विषयों को न ग्रहण करने वाले देहाभिमानी तपस्वी पुरुष के भी विषय तो निवृत्त हो जाते हैं, परंतु रस निवृत्त नहीं होता। परंतु इस पुरुष का रस भी परमात्मा को साक्षात करके निवृत्त हो जाता है।

देहाभिमानी तपस्वी के... ।

तपस्वी और देहाभिमानी? असल में देहाभिमान दो तरह का हो सकता है--भोगी का, तपस्वी का। लेकिन दोनों की स्थिति देहाभिमान की है, बाडी ओरिएंटेशन की है। क्योंकि भोगी भी मानता है कि जो करूंगा वह शरीर से, और तपस्वी भी मानता है कि जो करूंगा वह शरीर से। भोगी भी मानता है कि शरीर ही द्वार है सुख का, त्यागी भी मानता है कि शरीर ही द्वार है सुख का। सुख की धारणाएं उनकी अलग हैं। भोगी शरीर से ही

विषयों तक पहुंचने की कोशिश करता है, त्यागी शरीर से ही विषयों से छूटने की कोशिश करता है। लेकिन शरीर ओरिएंटेशन है, शरीर ही आधार है दोनों का। और दोनों बड़े देहाभिमानी हैं, बाडी-सेंट्रिक हैं, शरीर-केंद्रित हैं। दोनों की दृष्टि शारीरिक है।

इस तथ्य को पहले समझें, फिर दूसरा हिस्सा ख्याल में लाया जा सकता है। दोनों की स्थिति शारीरिक है। एक आदमी सोचता है, शरीर से इंद्रियों को तृप्त कर लें। सारा जगत सोचता है।

मुझसे कोई पूछता था कि चार्वाक का कोई संप्रदाय क्यों न बना? उसके शास्त्र क्यों न बचे? उसके मंदिर क्यों न निर्मित हुए? उसका कोई पंथ, उसका कोई संप्रदाय क्यों नहीं है?

तो मैंने उस आदमी को कहा कि शायद तुम सोचते हो कि उसके पास अनुयायी कम हैं इसलिए, तो गलत सोचते हो। असल में संप्रदाय सिर्फ माइनर ग्रुप्स के बनते हैं; मेजर ग्रुप का संप्रदाय नहीं बनता। जो अल्पमतीय होते हैं, उनका संप्रदाय बनता है; जो बहुमतीय होते हैं, वे बिना संप्रदाय के जीते हैं। बहुमत को संप्रदाय बनाने की जरूरत नहीं होती। बहुमत को संप्रदाय बनाने की क्या जरूरत है? अल्पमत संप्रदाय बनाता है। करोड़ आदमी हैं, दस आदमी एक मत के होंगे, तो संप्रदाय बनाएंगे, बाकी क्यों बनाएंगे? चार्वाक का संप्रदाय इसीलिए नहीं बना कि सारी पृथ्वी चार्वाक की है। सब चार्वाक हैं, नाम कुछ भी रखे हों।

इसलिए चार्वाक शब्द बड़ा अच्छा है, वह बना है चारु-वाक से, जो वचन सभी को प्रिय लगते हैं। चार्वाक का मतलब, जो बातें सभी को प्रीतिकर हैं। चार्वाक का एक दूसरा नाम है, लोकायत। लोकायत का मतलब है, लोक को मान्य, जो सबको मान्य है। बड़ी अजीब बात है। जो सबको मान्य है, ऐसा विचार लोकायत है। जो सबको प्रीतिकर है, मधुर है, ऐसा विचार चार्वाक है। नहीं, कोई मंदिर नहीं, कोई संप्रदाय नहीं बना, क्योंकि सभी उसके साथ हैं।

क्या, चार्वाक कहता क्या है? वह कहता यह है कि सब सुख ऐंद्रिक हैं। इंद्रिय के अतिरिक्त कोई सुख नहीं है। सुख यानी ऐंद्रिक होना। सुख चाहिए तो इंद्रिय से ही मिलेगा। हां, वह कहता है, यह बात सच है कि दुख भी इंद्रिय से मिलते हैं। यह बिल्कुल ठीक ही है, जहां से सुख मिलेगा, वहीं से दुख भी मिलेगा। लेकिन वह कहता है, कोई भी पागल भूसे के कारण गेहूं को नहीं फेंक देता। कोई भी पागल कांटों के कारण फूल को नहीं छोड़ देता। तो दुख के कारण सुख को छोड़ने की कोई भी जरूरत नहीं है। बुद्धिमान दुख को कम करता और सुख को बढ़ाता चला जाता है। लेकिन सब सुख ऐंद्रिक हैं।

क्या इस बात पर आपको कभी भी शक हुआ है कि सब सुख ऐंद्रिक हैं? अगर शक नहीं हुआ, तो कृष्ण को समझना बहुत मुश्किल हो जाएगा। हम सब का भी भरोसा यही है कि सब सुख ऐंद्रिक हैं। हमने कोई सुख जाना भी नहीं है, जो इंद्रिय के बाहर जाना हो। स्वाद जाना है, संगीत जाना है, दृश्य देखे हैं, गंध सूंघी है, सौंदर्य देखा है--जो भी, वह सब इंद्रियों से देखा है। वह सब ऐंद्रिक हैं। इंद्रिय के अतिरिक्त हमने और कुछ जाना नहीं है। हम इंद्रियों के अनुभव का ही जोड़ हैं।

इसीलिए तो हमें आत्मा का कोई पता नहीं चलता। क्योंकि इंद्रिय का अनुभव ही जिसकी सारी संपदा है, वह शरीर के ऊपर किसी भी तत्व को नहीं जान सकता है। यह तो हमारी स्थिति है। यह हमारी देहाभिमानी भोगी की स्थिति है।

फिर अगर कभी कोई देहाभिमानी भोगी देह को भोगते-भोगते ऊब जाता है... । हर चीज को भोगते-भोगते ऊब आ जाती है। सभी चीजों से चित्त ऊब जाता है। अगर स्वर्ग में भी बिठा दिया जाए आपको, तो ऊब जाएगा। ऐसा मत सोचना कि स्वर्ग में बैठे हुए लोग जम्हाई नहीं लेते, लेते हैं। वहां भी ऊब जाएंगे।

बर्ट्रेंड रसेल ने तो कहीं मजाक में कहा है कि मैं स्वर्ग से बहुत डरता हूं। सबसे बड़ा डर यह है कि इटरनल है स्वर्ग; फिर वहां से लौटना नहीं है। उसने कहा, इससे बहुत डर लगता है। दूसरा, उसने कहा कि वहां सुख ही सुख है, सुख ही सुख है, तो फिर ऊब नहीं जाएंगे सुख से? मिठास भी उबा देती है; बीच-बीच में नमकीन की जरूरत पड़ जाती है। सुख भी उबा देता है; बीच-बीच में दुख की भी जरूरत पड़ जाती है। सब एकरसता मोनोटोनस हो जाती है और उबा देती है। कितना ही सुंदर संगीत हो, बजता रहे, बजता रहे, तो फिर सिर्फ नींद ही ला सकता है, और कुछ नहीं कर सकता।

तो देहाभिमानी भोगी ऊब जाता है, इंद्रियों के सुखों से ऊब जाता है, तो वह इंद्रियों की शत्रुता करने लगता है। वह देहाभिमानी भोगी की जगह देहाभिमानी त्यागी बन जाता है। फिर जिस-जिस इंद्रिय से उसने सुख पाया है, उस-उस इंद्रिय को सताता है। और कहता है, अब इससे विपरीत चलकर सुख पा लेंगे। लेकिन मानता है इंद्रिय को ही आधार अब भी।

तो कृष्ण कहते हैं, ऐसा व्यक्ति ज्यादा से ज्यादा विषयों को छोड़ सकता है, लेकिन रस से मुक्त नहीं होता। अब आंख फोड़ डालेंगे, तो दिखाई पड़ने वाले आब्जेक्ट से तो मुक्त हो ही जाएंगे। जब दिखाई ही नहीं पड़ेगा, तो दिखाई पड़ने वाला विषय तो खो ही जाएगा। जब कान ही न होंगे, तो वीणा तो खो ही जाएगी, सुनाई पड़ने वाला विषय तो खो ही जाएगा। लेकिन क्या रस खो जाएगा?

रस, विषय से अलग बात है। विषय बाहर है, रस भीतर है, इंद्रियां बीच में हैं। इंद्रियां सेतु हैं; ब्रिजेज हैं; रस और विषय के बीच में बना हुआ सेतु हैं। रस को ले जाती हैं विषय तक, विषय को लाती हैं रस तक। इंद्रियां बीच के द्वार, मार्ग, पैसेज हैं। इंद्रिय तोड़ दें; तो ठीक है, विषय से रस का संबंध टूट जाएगा। लेकिन रस तो नहीं टूट जाएगा। रस भीतर निर्मित रह जाएगा--अपनी जगह तड़पता, अपनी जगह कूदता, विषयों की मांग करता, लेकिन विषयों तक पहुंचने में असमर्थ, इंपोटेंट; क्लीव हो जाएगा रस। पुंसत्व खो देगा, द्वार खो देगा, मार्ग खो देगा, विक्षिप्त हो जाएगा, लेकिन भीतर घूमने लगेगा। अब वह रस भीतर कल्पना के विषय निर्मित करेगा। क्योंकि जब वास्तविक विषय नहीं मिलते, जब एक्चुअल आब्जेक्ट्स नहीं मिलते, तब चित्त कल्पित विषय निर्मित करना शुरू कर देता है।

दिनभर उपवास करके देखें, तो रात सपने में पता चल जाता है, कि दिनभर किया उपवास तो रातभर सपने में भोजन करना पड़ता है। रस भीतर विषय निर्मित करने लगता है। वह कहता है, कोई फिक्र नहीं। बाहर नहीं मिला, भीतर कर लेते हैं।

असल में, रस इतना प्रबल है कि अगर विषय न हों, तो वह काल्पनिक विषयों को निर्मित कर लेता है। सेतु टूट जाए, तो भीतर ही विषय बना लेता है; आटो इरोटिक हो जाता है। दूसरे की जरूरत ही नहीं रह जाती, वह आत्ममैथुन में रत हो जाता है। अपने ही रस को अपना ही विषय बनाकर भीतर ही जीने लगता है। पागल, विक्षिप्त, न्यूरोटिक हो जाता है।

कृष्ण जो कह रहे हैं कि विषय तो टूट जाएंगे, छूट जाएंगे देहाभिमानी त्यागी के, लेकिन रस नहीं छूटेंगे। और असली सवाल विषयों का नहीं है, असली सवाल रसों का है। असली सवाल इसका नहीं है कि बाहर कोई बड़ा मकान है; असली सवाल इसका है कि मेरे भीतर बड़े मकान की चाह है। असली सवाल यह नहीं है कि बाहर सौंदर्य है; असली सवाल यह है कि मेरे भीतर सौंदर्य की मालकियत की आकांक्षा है। असली सवाल यह नहीं है कि बाहर फूल है; असली सवाल यह है कि मेरे हाथ में फूल को तोड़ने की हिंसा है। असली सवाल फूल

नहीं है, रहे फूल; अगर मेरे हाथ में तोड़ने की हिंसा नहीं है, तो मैं निकल जाऊंगा फूल के पास से। फूल कभी कहता नहीं कि आओ, तोड़ो। फूल बुलाता नहीं, फूल निमंत्रण नहीं देता, मैं ही जाता हूं।

रस! कीमती क्या है, विषय या रस? अगर विषय कीमती है, तो तपश्चर्या बहुत मैटीरियल होगी, शारीरिक होगी, फिजिकल होगी। और अगर रस, तो फिर तपश्चर्या मनोवैज्ञानिक होगी; फिर तपश्चर्या आंतरिक होगी। और मैंने जैसा कहा कि कृष्ण गहरे मनोवैज्ञानिक हैं, इसलिए साधक के इस मामले में भी वह जो फिजिकल, वह जो भौतिक साधक है, उसकी गहरी व्यंगना और गहरी मजाक कर रहे हैं। वे यह कह रहे हैं कि उसके विषय छूट जाते हैं, रस नहीं छूटता। और देहाभिमानी कहकर जितनी कड़ी आलोचना हो सकती है, उतनी उन्होंने कर दी है। देहाभिमानी तपस्वी! अब देहाभिमानी और तपस्वी कहते हैं!

नहीं, देह को मानने वाला तपस्वी... । उसको भी तपस्वी कह रहे हैं, क्योंकि तपश्चर्या तो बहुत करता है--व्यर्थ करता है, करता बहुत है। असफल होता है, चेष्टा बहुत करता है। श्रम में कमी नहीं है, दिशा गलत है। रस भीतर रह जाएंगे। और अगर सारे विषय बाहर से छोड़ दिए जाएं और सारे रस भीतर रह जाएं, तो इससे सिर्फ साइकोसिस, विक्षिप्तता पैदा होती है, विमुक्तता पैदा नहीं होती।

समाधिस्थ व्यक्ति के विषय नहीं, रस छूट जाते हैं। और जिस दिन रस छूटते हैं, उस दिन विषय विषय नहीं रह जाते। क्योंकि वे विषय इसीलिए मालूम पड़ते थे कि रस उनको विषय बनाते थे। जिस दिन रस छूट जाते हैं, उस दिन विषय वस्तुएं रह जाते हैं, विषय नहीं--थिंग्स। क्योंकि उनसे अब कोई रस का संबंध नहीं रह जाता।

समाधिस्थ व्यक्ति रसों के विसर्जन में उत्सुक है, विषयों के त्याग में नहीं। त्याग हो जाता है, यह दूसरी बात है। लेकिन असली सवाल आंतरिक रसों के विसर्जन का है। इसलिए यह लक्षण भी वे गिनाते हैं कि समाधिस्थ व्यक्ति रसों से मुक्त हो जाता है, विषयों की उसे जरा भी चिंता नहीं है।

यह ध्यान में ले लेना जरूरी है, क्योंकि यही कृष्ण के ऊपर बड़े से बड़ा आक्षेप रहा है। क्योंकि कृष्ण को आम्र-कुंजों में नाचते देखकर बड़ी कठिनाई पड़ेगी देहाभिमानी तपस्वी को, कि यह क्या हो रहा है! उसकी पीड़ा का अंत न रहेगा। उसका वश चले तो वह पुलिस में रिपोर्ट लिखाने भागेगा। यह क्या हो रहा है? ये कृष्ण और नाच रहे हैं? कृष्ण को समझ पाना उसे मुश्किल हो जाएगा। उसके ख्याल में भी नहीं आ सकता कि किसी व्यक्ति के रस अगर भीतर सिकुड़ गए हों, तो बाहर के विषयों से कोई भी सेतु नहीं बनता। सेतु बनाने वाला ही खो गया है। तब न कोई भागना है, न कोई चाहना है।

इसलिए कृष्ण के जीवन में अदभुत घटनाएं घटती हैं। जिस वृंदावन में वे नाचे हैं, उस वृंदावन को जब छोड़कर चले गए हैं, तो लौटकर भी नहीं देखा है। वासनाग्रस्त चित्त होता, तो छोड़कर जाना बहुत मुश्किल पड़ता। वासनाग्रस्त चित्त होता, तो स्मृतियां बड़ी पीड़ा देतीं। वासनाग्रस्त चित्त होता, तो लौट-लौटकर वृंदावन मन को घेरता, सपनों में आता।

नहीं, वृंदावन जैसे था ही नहीं--गया। जैसे पृथ्वी के नक्शे पर अब नहीं है। जिन्होंने वृंदावन में उनके आस-पास नृत्य करके उनको प्रेम किया था, उनकी पीड़ा का अंत नहीं है। वहां रस भी रहा होगा। इसलिए उनका मन तो वृंदावन और द्वारिका के बीच ब्रिज बनाने की चेष्टा में लगा ही है, सेतु बनाना ही चाहता है। लेकिन कृष्ण को? कृष्ण को जैसे कोई बात ही नहीं है, सब समाप्त हो गया। जहां थे, वहां थे। जहां नहीं हैं, वहां नहीं हैं। वृंदावन नहीं है। वह नक्शे से गिर गया। रस न हो भीतर, तो ही यह संभव है। रस भीतर हो, तो यह कतई संभव नहीं है।

खूबी है यह कि जितना रस, वासना से भरा हुआ व्यक्ति हो, उतना विषय के निकट होने पर पीड़ित नहीं होता, जितना दूर होने पर पीड़ित होता है। जिसे हम चाहते हैं, वह पास रहे, तो उसकी याद नहीं आती है। जिसे हम चाहते हैं, वह दूर हो, तभी उसकी याद आती है। जिसे हम चाहते हैं, वह पास हो, तब तो भूलना बहुत आसान है। जिसे हम चाहते हैं, जब वह पास न हो, तब भूलना बहुत कठिन है।

लेकिन कृष्ण उलटे हैं। जो पास है, उसे वे पूरी तरह याद रखते हैं। हम, जो पास है, उसे बिल्कुल भूल जाते हैं; जो दूर है, उसे पूरी तरह याद रखते हैं। कृष्ण, जो पास है, उसे पूरी तरह याद रखते हैं। वह उनकी चेतना में पूरा का पूरा है। उसी से तो भ्रम पैदा होता है। उसी से तो प्रत्येक को लगता है कि इतनी अटेंशन मुझे दी, इतना ध्यान मेरी तरफ दिया; फिर मुझे इस तरह भूल गए, तो बड़ी गैर-वफादारी है।

उसे पता नहीं है कि कृष्ण जहां हैं, वहीं उनका पूरा ध्यान है। वे जहां हैं, वहां पूरे हैं; उनकी उपस्थिति पूरी है। पत्थर को भी देखते हैं, तो पूरे ध्यान से देखते हैं। पत्थर भूल में नहीं पड़ता, यह बात दूसरी है। लेकिन आदमी को देख लेते हैं, तो भूल में पड़ जाता है। स्त्री को देख लेते हैं, तो और भी भूल में पड़ जाती है। फिर वह तड़पती है, रोती है, चिल्लाती है। उसे पता नहीं है कि कृष्ण गए, तो गए। वहां भीतर कोई सेतु नहीं बनता, वहां भीतर कोई रस नहीं है।

इस तथ्य को न समझे जाने से कृष्ण के संबंध में भारी भूल हुई है। जिस स्थितधी की वे बात कर रहे हैं, वैसी थिरता चेतना की स्वयं उनमें पूरी तरह फलित हुई है।

यततो ह्यपि कौन्तेय पुरुषस्य विपश्चितः।
इन्द्रियाणि प्रमाथीनि हरन्ति प्रसभं मनः।। 60।।
और हे अर्जुन, इसलिए यत्न करते हुए बुद्धिमान पुरुष के भी मन को यह प्रमथन स्वभाव वाली इंद्रियां बलात्कार से हर लेती हैं।
तानि सर्वाणि संयम्य युक्त आसीत मत्परः।
वशे हि यस्येन्द्रियाणि तस्य प्रज्ञा प्रतिष्ठिता।। 61।।

इसलिए मनुष्य को चाहिए कि उन संपूर्ण इंद्रियों को वश में करके समाहित चित्त हुआ, मेरे परायण स्थित होवे। क्योंकि, जिस पुरुष के इंद्रियां वश में होती हैं, उसकी ही प्रज्ञा स्थिर होती है।

एक चेतावनी कृष्ण देते हैं, वह यह कि इंद्रियां भी व्यक्ति को खींचती हैं विषयों की ओर। इस बात को थोड़ा गहरे में समझना आवश्यक है। इंद्रियां भी व्यक्ति को खींचती हैं विषयों की ओर। साधक को भी इंद्रियां गिरा देती हैं।

इंद्रियां कैसे गिराएंगी? क्या इंद्रियों के पास अपनी कोई व्यक्ति की आत्मा से अलग शक्ति है? क्या इंद्रियों के पास अपनी कोई अलग ऊर्जा है? क्या इंद्रियां इतनी बलवान हैं स्वतंत्र रूप से कि व्यक्ति की आत्मा को गिराएंगी?

नहीं, इस कारण नहीं। इंद्रियों के पास कोई भी शक्ति नहीं है। इंद्रियां व्यक्ति से स्वतंत्र अस्तित्ववान भी नहीं हैं। लेकिन फिर भी इंद्रियां गिरा सकती हैं, गिराने का कारण बहुत दूसरा है।

वह दूसरा यह है कि इंद्रियां मैकेनिकल हैबिट्स हैं, यांत्रिक आदतें हैं। और आपने जन्मों-जन्मों में जिस इंद्रिय की जो आदत बनाई है, जो कंडीशनिंग की है उसकी, जब आप बदलते हैं तो उसे कुछ भी पता नहीं होता कि आप बदल गए हैं। वह अपनी पुरानी आदत को दोहराए चली जाती है। इंद्रियां यंत्र हैं, उन्हें कुछ पता नहीं होता।

आपने एक ग्रामोफोन पर रिकार्ड चढ़ा दिया। रिकार्ड गाए चला जा रहा है। आधा गीत हो गया, अब आपका मन बिल्कुल सुनने को नहीं है, लेकिन रिकार्ड गाए चला जा रहा है। अब रिकार्ड को कोई भी पता नहीं है कि अब आपका मन सुनने का नहीं है। रिकार्ड को पता हो भी नहीं सकता। रिकार्ड तो सिर्फ यंत्र की तरह चल रहा है। लेकिन उठकर आप रिकार्ड को बंद कर देते हैं, क्योंकि रिकार्ड को कभी आपने अपना हिस्सा नहीं समझा।

इंद्रियों के यंत्र के साथ एक दूसरी आइडेंटिटी है कि आप इंद्रियों को अपना ही समझते हैं। इसलिए इंद्रियां जब चलती चली जाती हैं, तो अपना ही समझने के कारण आप भी उनके पीछे चल पड़ते हैं। आप उनको यंत्र की तरह बंद नहीं कर पाते।

अब एक आदमी है; उसे सिगरेट पीने की यांत्रिक आदत पड़ गई है, या शराब पीने की। कसम खाता है, नहीं पीऊंगा। निर्णय करता है, नहीं पीऊंगा। लेकिन उसकी इंद्रियों को कोई पता नहीं; उनके पास बिल्ट-इन-प्रोसेस हो गई है। तीस साल से वह पी रहा है, चालीस साल से वह पी रहा है। इंद्रियों का एक नियमित ढांचा हो गया है कि हर आधे घंटे में सिगरेट चाहिए। हर आधे घंटे पर यंत्र की घंटी बज जाती है, सिगरेट लाओ। तो आदमी कहता है, तलब! तलब लग गई है। तलब वगैरह क्या लगेगी! वह कहता है, सिगरेट पुकारती है। सिगरेट क्या पुकारेगी!

नहीं, चालीस-पचास वर्ष का यांत्रिक जाल है इंद्रियों का। हर आधे घंटे पर सिगरेट मिलती रही है, इंद्रियों के पास व्यवस्था हो गई है। उनके पास बिल्ट-इन-प्रोग्रेम है। उनके पास चौबीस घंटे की योजना है कि जब आधा घंटा हो जाए, तब आपको खबर कर दें कि अब सिगरेट चाहिए। पूरा शरीर! और इंद्रियों के साथ पूरा शरीर है।

तो जब सिगरेट चाहिए, तब शरीर के अनेक अंगों से यह खबर आएगी कि सिगरेट चाहिए। होंठ कुछ पकड़ने को आतुर हो जाएंगे, फेफड़े कुछ खींचने को आतुर हो जाएंगे, खून निकोटिन लेने के लिए प्यासा हो जाएगा, नाक कुछ छोड़ने को आतुर हो जाएगी। मन किसी चीज में व्यस्त होने को आतुर हो जाएगा। यह इकहरी घटना नहीं है, कांप्लेक्स है, इसमें पूरा शरीर संयुक्त है। और पूरा शरीर इंतजार करने लगेगा कि लाओ। सब तरफ से दबाव पड़ने लगेगा कि लाओ।

चालीस-पचास साल का दबाव है। और आपने जो निर्णय लिया है सिगरेट न पीने का, वह सिर्फ चेतन मन से लिया है। और यह दबाव चालीस साल का अचेतन मन के गहरे कोनों तक पहुंच गया है। इसकी बड़ी ताकत है। और मन जल्दी बदलने को राजी नहीं होता, क्योंकि अगर मन जल्दी बदलने को राजी हो, पूरा मन, तो आदमी जिंदा नहीं रह सकता। इसलिए मन को बहुत आर्थोडाक्सी दिखलानी पड़ती है। मन को पूरी कोशिश करनी पड़ती है कि जो चीज चालीस साल सीखी है, वह एक सेकेंड में छोड़ोगे! तब तो जिंदगी बहुत मुश्किल में पड़ जाए।

एक आदमी चालीस साल एक स्त्री को प्रेम करता रहा, जरा-सा गुस्सा आता है, कहता है, छोड़ देंगे! लेकिन कोई छोड़ता-वोड़ता नहीं, क्योंकि वह चालीस साल जो पकड़ा है, उसका वजन ज्यादा है। और अगर

ऐसा छोड़ना होने लगे, तो जिंदगी एकदम अस्तव्यस्त हो जाए। इसलिए मन कहता है, जिसको चालीस साल पकड़ा है, कम से कम चालीस साल छोड़ो।

फिर मन के भी संकल्प के क्षण हैं और संकल्पहीनता के क्षण हैं। मन कभी एक ही स्थिति में नहीं होता। कभी वह संकल्प के शिखर पर होता है, तब ऐसा लगता है कि दुनिया की कोई ताकत नहीं रोक सकती। कभी वह विषाद के गड्ढे में होता है, तब ऐसा लगता है, कोई जरा-सा धक्का दे जाएगा तो मर जाऊंगा।

तो जब वह संकल्प के शिखर पर होता है, तब वह कहता है, ठीक है, छोड़ देंगे। घंटेभर बाद जब विषाद में उतर जाता है, वह कहता है, क्या छोड़ना है! कैसे छोड़ सकते हैं! नहीं छूट सकती है, अपने वश की बात नहीं है। इस जन्म में नहीं हो सकता है। यह कहता जाता है भीतर, हाथ तब तक सिगरेट को खोल लेते हैं, हाथ तब तक मुंह में लगा देते हैं, दूसरा हाथ माचिस जला देता है। जब तक वह भीतर यह सोच ही रहा है, नहीं हो सकता, तब तक शरीर पीना ही शुरू कर देता है। तब वह जागकर देखता है, क्या हो गया यह? यह तो फिर सिगरेट पी ली? नहीं, यह नहीं हो सकता है! तब निर्णय पक्का हो जाता है कि यह हो ही नहीं सकता है।

इसलिए कृष्ण कहते हैं कि इंद्रियां खींच-खींचकर गिरा देती हैं साधक को।

इंद्रियां क्या गिराएंगी! साधक का ही अतीत में इंद्रियों को दिया गया बल, साधक का ही इंद्रियों को दिया गया अभ्यास, साधक की ही इंद्रियों को दी गई कंडीशनिंग, संस्कार... ।

और संस्कार बड़ी प्रबल चीज है। हम सब संस्कार से जीते हैं। हम चेतना से नहीं जीते, हम जीते संस्कार से हैं। संस्कार बड़ी प्रबल चीज है। इतनी प्रबल चीज है कि जब संस्कार की सारी स्थिति भी चली जाती है, अकेला संस्कार रह जाता है, तो अकेला संस्कार भी काम करता रहता है।

मैंने सुना है, विलियम जेम्स एक बहुत बड़ा मनोवैज्ञानिक अमेरिका में हुआ। वह संस्कार पर बड़ा काम कर रहा था। असल में जो मनोविज्ञान संस्कार पर काम नहीं करता, वह मनोविज्ञान बन ही नहीं सकता। क्योंकि बहुत गहरी पकड़ तो मनुष्य की कंडीशनिंग की है। सारी पकड़ तो वहां है, जहां आदमी जकड़ा हुआ है; जहां अवश, हेल्पलेस हो जाता है। तो वह कंडीशनिंग पर काम कर रहा है। वह एक दिन होटल में बैठा हुआ है, एक मित्र से बात कर रहा है। और उसने कहा कि इतना अजीब जाल है संस्कार का मनुष्य का कि जिसका कोई हिसाब नहीं है।

तभी उसने देखा कि सामने पहले महायुद्ध का रिटायर हुआ मिलिट्री का एक कैप्टन चला जा रहा है। अंडों की एक टोकरी लिए हुए है। उसे सूझा कि ठीक उदाहरण है। विलियम जेम्स ने होटल के भीतर से चिल्लाकर जोर से कहा, अटेंशन। वह मिलिट्री का आदमी अंडे छोड़कर अटेंशन खड़ा हो गया। सारे अंडे जमीन पर गिर पड़े। रिटायर हुए भी वर्षों हो गए उसे। लेकिन अटेंशन ने बिल्कुल बंदूक के ट्रिगर की तरह काम किया। गोली चल गई।

वह आदमी बहुत नाराज हुआ कि तुम किस तरह के आदमी हो, यह कोई मजाक है? सारे अंडे फूट गए! लेकिन विलियम जेम्स ने कहा, तुमसे किसने कहा कि तुम अटेंशन हो जाओ। हमें अटेंशन कहने का हक है। तुमसे ही कहा, यह तुमने कैसे समझा? और तुमसे भी कहा, तो तुम्हें होने की मजबूरी किसने कही कि तुम हो जाओ! उस आदमी ने कहा, यह सवाल कहां है, यह कोई सोचने की बात है! ये पैर वर्षों तक अटेंशन सुने हैं और अटेंशन हुए हैं। इसमें कोई गैप ही नहीं है बीच में। उधर अटेंशन, इधर अटेंशन घटित होता है।

करीब-करीब, वह जो कृष्ण कह रहे हैं, वह एक बहुत मनोवैज्ञानिक सत्य है, कि आदमी की इंद्रियां, उसकी कंडीशनिंग-- और एक जन्म की नहीं, अनेक जन्मों की। हमने वही-वही, वही-वही किया है। हम वही-

वही करते रहे हैं। हम उसी जाल में घूमते रहे हैं। हम रोज एनफोर्समेंट कर रहे हैं। हमने जो किया है, उसको हम रोज बल दे रहे हैं। और फिर जब हम निर्णय लेते हैं कभी, तो हम इसका कोई ख्याल ही नहीं करते कि जिन इंद्रियों के खिलाफ हम निर्णय ले रहे हैं, उनका बल कितना है! उसकी कोई तौल नहीं करते कभी। बिना तौले निर्णय ले लेते हैं। फिर पराजय के सिवाय हाथ में कुछ भी नहीं लगता।

तो जो साधक सीधा इंद्रियों को बदलने में लग जाएगा और जल्दी निर्णय लेगा, वह खतरे में पड़ेगा ही। इंद्रियां उसे रोज-रोज पटकेंगी। उसकी ही इंद्रियां। मजा तो यही है, किसी और की हों, तो भी कोई बात है। अपनी ही इंद्रियां! लेकिन फिर क्या रास्ता है? क्योंकि कंडीशनिंग तो बहुत पुरानी है। संस्कार बहुत पुराने हैं, जन्मों-जन्मों के हैं। अनंत जन्मों के हैं। सब इतना सख्ती से मजबूत हो गया है कि जैसे एक लोहे की जैकेट हमारे चारों तरफ कसी हो, जिसमें से हिलना-डुलना भी संभव नहीं है। लोहा है चारों तरफ आदतों का। कैसे होगा?

तब तक न होगा, जब तक हम इंद्रियों को बिल्कुल ध्यान में ही न लें और निर्णय अलग किए चले जाएं, उनका ध्यान ही न लें। इसकी फिक्र ही न करें कि चालीस साल मैंने सिगरेट पी, और निर्णय ले लें एक क्षण में कि अब सिगरेट नहीं पीऊंगा, तो कभी नहीं होगा। एक क्षण के निर्णय चालीस साल की आदतों के मुकाबले नहीं टिकने वाले। क्षण का निर्णय क्षणिक है। टूट जाएगा। इंद्रियां पटक देंगी वापस उसी जगह। फिर क्या करना होगा?

असल में जिन इंद्रियों के साथ हमने जो किया है, उनको अनकंडीशंड करना होता है। उनको संस्कारमुक्त करना होता है। जिनकी हमने कंडीशनिंग की है, जब उनको संस्कारित किया है, तो उनको गैर-संस्कारित करना होता है। और गैर-संस्कारित इंद्रियां सहयोगी हो जाती हैं। क्योंकि इंद्रियों को कोई मतलब नहीं है कि आप सिगरेट पीओ, कि शराब पीओ। कोई मतलब नहीं है। सिगरेट पीने जैसी दूसरी अच्छी चीजें भी इंद्रियां वैसे ही पकड़ लेती हैं।

एक आदमी रोज भजन करता है, प्रार्थना करता है सुबह। एक दिन नहीं करता है, तो दिनभर तकलीफ मालूम पड़ती है। इससे यह मत समझ लेना आप कि यह तकलीफ कुछ इसलिए मालूम पड़ रही है कि प्रार्थना में उनको बड़ा आनंद मिल रहा था। क्योंकि जिसको प्रार्थना में आनंद मिल गया, उसके तो चौबीस घंटे आनंद से भर जाते हैं। जिसको एक बार भी प्रार्थना में आनंद मिल गया, उसकी तो बात ही और है।

लेकिन आमतौर से तो प्रार्थना न करने से दुख मिलता है, करने से आनंद नहीं मिलता। यह बड़े मजे की बात है, न करने से दुख मिलता है। वह दुख हैबिचुअल है, वह वैसा ही है जैसा सिगरेट का। उसमें कोई बहुत फर्क नहीं है। रोज करते हैं, रोज आदतें कहती हैं, करो। नहीं किया, तो जगह खाली छूट जाती है। दिनभर वह खाली जगह भीतर ठक-ठक करती रहती है कि आज प्रार्थना नहीं की! फिर काम किया--आज प्रार्थना नहीं की! अब बड़ी मुश्किल हो गई। सिगरेट भी हो तो अभी जला लो और पी लो। अब सुबह तो कल आएगी।

अनकंडीशनिंग! जैसे-जैसे बांधा है, वैसे-वैसे खोलना भी पड़ता है। जैसे-जैसे आदत बनाई है, वैसे-वैसे आदत बिखरानी भी पड़ती है। इंद्रियों को निर्मित किया है, उनको अनिर्मित भी करना होता है।

इस अनिर्मित करने के लिए कृष्ण एक बहुत अदभुत सुझाव देते हैं। वे इस सूत्र में कहते हैं कि जो ज्ञानी पुरुष है, वह सारा बोझ अपने ही ऊपर नहीं ले लेता।

असल में ज्ञानी पुरुष, ठीक से समझो, तो बोझ अपने ऊपर लेता ही नहीं। वह बोझ बहुत कुछ तो परमात्मा पर छोड़ देता है। सच तो यह है कि वह पूरा ही बोझ परमात्मा पर छोड़ देता है। और जो पुरानी

आदतें हमला करती हैं, उनको वह पिछले कर्मों का फल मानकर साक्षीभाव से झेलता है। उनसे कोई दुख भी नहीं लेता। कहता है कि ठीक। कल मैंने किया था, इसलिए ऐसा हुआ।

बुद्ध एक गांव से निकलते। कुछ लोग गाली देते। वे हंसकर आगे बढ़ जाते। फिर कोई भिक्षु उनसे पूछता, उन्होंने गाली दी, आपने उत्तर नहीं दिए? बुद्ध कहते, कभी मैंने उनको गाली दी होंगी, वे उत्तर दे गए हैं। अब और आगे का सिलसिला क्या जारी रखना! जरूर मैंने उन्हें कभी गाली दी होंगी, नहीं तो वे क्यों कष्ट करते? अकारण तो कुछ भी घटित नहीं होता है। कभी मैंने गाली दी होंगी, उत्तर बाकी रह गया था, अब वे उत्तर दे गए हैं। अब मैं उनको फिर गाली दूं, फिर आगे का सिलसिला होता है। सौदा पट गया। लेन-देन हो गया। अब मैं खुश हूं। अब आगे उनसे कुछ लेना-देना न रहा। अब मैं आगे चलता हूं।

कृष्ण कहते हैं, ऐसा व्यक्ति, जो हमले होते हैं, उन हमलों को अतीत कर्मों कीशृंखला मानता है। और उनको साक्षीभाव से और शांतभाव से झेल लेता है। और जो संघर्ष है, समाधिस्थ होने की जो यात्रा है, उसमें वह परमात्मा को, प्रभु को, जीवन-तत्व को, जीवन-ऊर्जा को सहयोगी बनाता है। वह इतना नहीं कहता कि मैं ही लड़ लूंगा, मैं ही कर लूंगा।

कभी इस तत्व को थोड़ा-सा समझ लें और प्रयोग करके देखें। सिगरेट मैं पीता हूं, तो मैं सोचता हूं, मैं ही सिगरेट छोडूंगा। लेकिन मेरा सिगरेट पीने वाला पचास साल पुराना है और मेरा सिगरेट छोड़ने वाला मैं एक क्षण का है। तो मेरा सिगरेट छोड़ने वाला मैं हार जाएगा। लेकिन मैं कहता हूं, सिगरेट पीने वाला पचास साल पुराना है, इंद्रियों की आदत मजबूत है, हमला बार-बार होगा; आज का एक क्षण का मैं तो बहुत कमजोर हूं--मैं परमात्मा पर छोड़ता हूं, तू ही मुझे सिगरेट पीना छुड़ा दे।

यह भी अहंकार नहीं लेता हूं कि मैं छोडूंगा। क्योंकि जो यह अहंकार लेगा कि मैं छोडूंगा, तो वह अहंकार कहां जाएगा जिसने पचास साल कहा है कि मैं पीता हूं। उस अहंकार के मुकाबले यह छोड़ने वाला अहंकार छोटा पड़ेगा और हारेगा। इस छोड़ने वाले अहंकार को परमात्मा के चरणों में रखना जरूरी है। इसे कह देना जरूरी है कि तू सम्हाल। सिगरेट मैंने पी, अब छोड़ना चाहता हूं। लेकिन अकेला बहुत कमजोर हूं। तू साथ देना। जब मैं सिगरेट पीऊं, तब तू साथ देना।

और जब सिगरेट पीने का वापस जोर आए, तब यह मत सोचना कि अब क्या करूं और क्या न करूं! तब बजाय सिगरेट के पक्ष-विपक्ष में सोचने के परमात्मा के समर्पण की तरफ ध्यान देना। ध्यान देना कि अब वह सिगरेट फिर पुकार रही है, अब तू सम्हाल! और जैसे ही परमात्मा का स्मरण और समर्पण का स्मरण, जैसे ही विराट के प्रति समर्पण का स्मरण, कि ऊर्जा इतनी हो जाती है, अनंत की ऊर्जा हो जाती है, कि पचास साल क्या पचास जन्मों की आदत भी कमजोर हो जाती है। टूट जाती है।

एक छोटी-सी घटना, उससे आपको स्मरण आ जाए। कोई उन्नीस सौ दस में एक वैज्ञानिकों का अन्वेषक-मंडल उत्तरी ध्रुव पर यात्रा पर गया। उत्तरी ध्रुरव में तीन महीने तक वे लोग फंस गए बर्फ में और लौट न सके। भोजन चुक गया। बड़ी मुश्किल थी, बड़ी कठिनाई थी।

लेकिन सबसे बड़ी कठिनाई तब हुई, जब सिगरेट चुक गई। लोग कम रोटी लेने को राजी थे, लेकिन कम सिगरेट लेने को राजी नहीं थे। लोग कम पानी पीने को राजी थे, लेकिन कम सिगरेट लेने को राजी नहीं थे। लेकिन कोई उपाय न था। नावें फंसी थीं बर्फ में। और तीन महीने से पहले निकलने की संभावना न थी। और तीन महीने सब चलाना था। नहीं माने। तो भोजन तो किसी तरह चला थोड़ा-थोड़ा देकर, लेकिन सिगरेट सबसे पहले चुक गई। क्योंकि कोई सिगरेट कम करने को राजी न था।

फिर एक बड़ा खतरा आया। और वह खतरा यह आया कि लोगों ने नावों की रस्सियां काट-काटकर सिगरेट बनाकर पीना शुरू कर दिया। तब तो जो जहाज का कप्तान था, उसने कहा कि तुम क्या कर रहे हो यह? अगर नावों की रस्सियां कट गईं, तो फिर तीन महीने के बाद भी छुटकारा नहीं है। क्योंकि फिर ये नावें चलेंगी कैसे? पर लोगों ने कहा कि तीन महीना! तीन महीने के बाद छुटकारा होगा कि नहीं होगा, यह कुछ भी पक्का नहीं है। सिगरेट अभी चाहिए। और हम बिना सिगरेट के तीन महीने बचेंगे, यह कहां पक्का है? और तीन महीने तड़पना और रस्सियां बंधी हैं पास में जिनको पीया जा सकता है। सिगरेट तो नहीं होतीं, लेकिन फिर भी धुआं तो निकाला ही जा सकता है। तो नहीं, असंभव है। बहुत समझाया, तो रात चोरी से रस्सियां कटने लगीं।

फिर जब वह नाव लौटी, तो उसके कप्तान ने जो वक्तव्य दिया, उसने कहा कि सबसे कठिन कठिनाई जो तीन महीने में आई, वह यह थी कि लोग सिगरेट की जगह रस्सियां पी गए, कपड़े जलाकर पी गए, किताबें जलाकर पी गए। जो भी मिला, उसको पीते चले गए।

एक आदमी अखबार में पढ़ रहा था। एक स्टुअर्ट पैरी नाम का आदमी अखबार में यह पढ़ रहा था। पढ़कर उसे ख्याल आया-- वह भी चेन स्मोकर था, जब पढ़ रहा था, तब सिगरेट पी ही रहा था--उसे ख्याल आया कि मेरी भी यही हालत होती क्या? क्या मैं भी रस्सी पी जाता? उसने कहा कि नहीं, मैं कैसे रस्सी पी सकता था? आप भी कहेंगे कि मैं कैसे रस्सी पी सकता था? पर उसने कहा कि वहां भी तीस-चालीस लोग थे, कोई हिम्मत न जुटा पाया, सबने पी! क्या मैं भी पी जाता!

उसकी आधी जली हुई सिगरेट थी। उसने ऐश-ट्रे पर नीचे रख दी और उसने कहा कि परमात्मा, अब तू सम्हाल। अब यह सिगरेट आधी रखी है नीचे। और अब मैं इसे उसी दिन उठाऊंगा, जिस दिन मेरा तुझ पर भरोसा खो जाए। और जब मैं इसे उठाने लगूं, तो मेरी तो कोई ताकत नहीं है, क्योंकि मैं अपने को अच्छी तरह जानता हूं, कि मैं तो एक सिगरेट से दूसरी सिगरेट जलाता हूं। मैं अपने को भलीभांति जानता हूं, जैसा मैं आज तक रहा हूं, मैं भलीभांति जानता हूं कि यह सिगरेट नीचे नहीं रह सकती, मैं इसे उठा ही लूंगा। मैं अपनी कमजोरी से परिचित हूं। मेरे भीतर मुझे कोई सुरक्षा का उपाय नहीं है। मेरे भीतर मेरे परिचय में मेरे पास कोई संकल्प नहीं है जो मैं सिगरेट से बच सकूं। लेकिन मेरे मन को पीड़ा भी बहुत है। और मैं यह भी नहीं सोच पा सकता कि इतना कमजोर, इतना दीन हूं कि सिगरेट भी नहीं छोड़ सकूंगा, तो फिर मैं और क्या छोड़ सकता हूं। मैं तेरे ऊपर छोड़ता हूं। अब तू ही ख्याल रखना। जब तू ही साथ छोड़ देगा, तो ही सिगरेट उठाऊंगा। हां! उठाने के पहले एक दफे तेरी तरफ आंख उठा लूंगा!

फिर तीस साल बीत गए। उस आदमी ने उन्नीस सौ चालीस में वक्तव्य दिया है कि तीस साल बीत गए--सिगरेट आधी वहीं रखी है। जब भी उठाने का स्टुअर्ट पैरी का मन होता है, तभी ऊपर की तरफ देखता हूं कि क्या इरादे हैं? सिगरेट वहां रह जाती है, पैरी यहां रह जाते हैं। तीस साल हो गए, अभी उठाई नहीं। और अब तीस साल काफी वक्त है, स्टुअर्ट पैरी ने कहा, अब मैं कह सकता हूं कि जो भरोसा, जो ट्रस्ट मैंने परमात्मा पर किया था, वह पूरा हुआ है।

तो कृष्ण अर्जुन से कह रहे हैं कि स्थितप्रज्ञ छोड़ देता है। उस गहरी साधना में लगा व्यक्ति, संयम की उस यात्रा पर निकला व्यक्ति अपने पर ही भरोसा नहीं रख लेता, वह परम तत्व पर भी छोड़ देता है, समर्पण कर देता है। वह समर्पण ही असंयम के क्षणों में, कमजोरी के क्षणों में सहारा बनता है। वह हेल्पलेसनेस ही, वह निरुपाय दशा ही--यह जान लेना कि मैं कमजोर हूं--बड़ी शक्ति सिद्ध होती है। और यह मानते रहना कि मैं बड़ा शक्तिशाली हूं, बड़ी कमजोरी सिद्ध होती है।

इंद्रियां गिरा देती हैं उस संयमी को, जो अहंकारी भी है। इंद्रियां नहीं गिरा पातीं उस संयमी को, जो अहंकारी नहीं है, विनम्र है। जो अपनी कमजोरियों को स्वीकार करता है। जो उनको दबाता नहीं, जो उनको झुठलाता नहीं, लेकिन जो परमात्मा के हाथों में उनको भी समर्पित कर देता है। ऐसा संयमी व्यक्ति धीरे-धीरे रसों से, इंद्रियों के दबाव से, अतीत के किए गए संस्कारों के प्रभाव से, आदतों से, यांत्रिकता से--सभी से मुक्त हो जाता है। और तभी स्थितप्रज्ञ की स्थिति में आगमन शुरू होता है। तभी वह स्वयं में थिर हो पाता है।

आज इतना ही। शेष कल सुबह।

सत्रहवां प्रवचन

मन के अधोगमन और ऊर्ध्वगमन की सीढ़ियां

ध्यायतो विषयान्पुंसः संगस्तेषूपजायते।

संगात्संजायते कामः कामात्क्रोधोऽभिजायते।। 62।।

विषयों को चिंतन करने वाले पुरुष की उन विषयों में आसक्ति हो जाती है। और आसक्ति से उन विषयों की कामना उत्पन्न होती है। और कामना में विघ्न पड़ने से क्रोध उत्पन्न होता है।

क्रोधाद्भवति संमोहः संमोहात्स्मृतिविभ्रमः।

स्मृतिभ्रंशाद्बुद्धिनाशो बुद्धिनाशात्प्रणश्यति।। 63।।

क्रोध से मोह उत्पन्न होता है। और मोह से स्मरणशक्ति भ्रमित हो जाती है। और स्मरणशक्ति के भ्रमित हो जाने से बुद्धि अर्थात ज्ञानशक्ति का नाश हो जाता है। और बुद्धि के नाश होने से यह पुरुष अपने श्रेय साधन से गिर जाता है।

मनुष्य के मन की भी अपनीशृंखलाएं हैं। मनुष्य के मन के भी ऊर्ध्वगमन और अधोगमन के नियम हैं। मनुष्य के मन का अपना विज्ञान है। यहां मनुष्य के मन का अधोगमन कैसे होता है, कैसे वह पतन के मार्ग पर एक-एक सीढ़ी उतरता है, कृष्ण उन सीढ़ियों का पूरा ब्योरा दे रहे हैं।

सूक्ष्मतम होता है प्रारंभ, स्थूलतम हो जाता है अंत। मन के बहुत गहरे में उठती है लहर, फैलती है, और पूरे मन को ही नहीं, पूरे आचरण को, पूरे व्यक्तित्व को ग्रसित कर लेती है। सूक्ष्म उठी इस लहर को इसके स्थूल तक पहुंचने की जो पूरी प्रक्रिया है, जो उसे पहचान लेता है, वह उससे बच भी सकता है, वह उसके पार भी जा सकता है।

कहां से मन का पतन शुरू होता है? कहां से मन संसार-उन्मुख होता है? कहां से मन स्वयं को खोना शुरू करता है?

तो कृष्ण ने कहा है कि विषय के चिंतन से, वासना के विचार से। जो पहला वर्तुल, जहां से पकड़ा जा सकता है, वह है विचार का वर्तुल--सूक्ष्मतम, जहां से हम पकड़ सकते हैं। विषय की इच्छा, विषय का विचार, भोग की कामना उठती है मन में। विषय का संग करने की आकांक्षा जगती है मन में। वह पहली लहर है, जहां से सब शुरू होता है। काम की जो बीज-स्थिति है, वह विषय का विचार है। संग की कामना पैदा होती है, भोग की कामना पैदा होती है।

राह पर देखते हैं भागती एक कार को। चमकती हुई, आंखों में कौंधकर निकल जाती है। देखते हैं एक सुंदर स्त्री को; देखते हैं एक सुंदर बलिष्ठ पुरुष को; आंख में एक कौंध--और व्यक्ति निकल जाता है। वह जो सुंदर स्त्री या सुंदर पुरुष या सुंदर कार या सुंदर भवन दिखाई पड़ा है--तत्क्षण भीतर खोजने की जरूरत है--जैसे ही वह दिखाई पड़ा है, क्या आपको सिर्फ दिखाई ही पड़ा है, सिर्फ आपने देखा ही, या देखने के साथ ही मन के किसी कोने में चाह ने भी जन्म लिया! सिर्फ देखा ही या चाहा भी! दिखाई पड़ी है एक सुंदर स्त्री, देखी ही या भीतर कोई और भी कंपन उठा--चाह का भी, मांग का भी, पा लेने का भी, पजेस करने का भी।

अगर सिर्फ देखा, तो बात आई और गई हो गई। सिर्फ बहिर-इंद्रियों ने भाग लिया। आंख ने देखा, मन ने खबर की, कोई जाता है। लेकिन चाहा भी, तो जो देखा, वहीं बात समाप्त नहीं हो गई। मन में वर्तुल शुरू हो गए, मन में लहरें शुरू हो गईं। देखने तक बात समाप्त नहीं हुई; भीतर चाह ने भी जन्म लिया, मांग भी उठी।

आप कहेंगे, नहीं, मांगा नहीं, चाहा नहीं; देखा, सिर्फ इतना हुआ मन में कि सुंदर है। इस बात को ठीक से समझ लेना जरूरी है।

इतना भी मन में उठा कि सुंदर है, तो चाह ने अपने अंकुर फैलाने शुरू कर दिए। क्योंकि सुंदर का कोई और मतलब नहीं होता। सुंदर का इतना ही मतलब होता है, जिसे चाहा जा सकता है। सुंदर का और कोई मतलब नहीं होता। असुंदर का इतना ही मतलब होता है, जिसे नहीं चाहा जा सकता।

सुंदर है, इस वक्तव्य में चाह कहीं दिखाई नहीं पड़ती, यह वक्तव्य बड़ा निर्दोष मालूम पड़ता है। यह वक्तव्य सिर्फ स्टेटमेंट आफ फैक्ट मालूम पड़ता है। नहीं, लेकिन यह सिर्फ तथ्य का वक्तव्य नहीं है। इसमें आप संयुक्त हो गए। क्योंकि चीजें अपने आप में न सुंदर हैं, न असुंदर हैं; चीजें सिर्फ हैं। आपने व्याख्या डाल दी।

एक स्त्री निकली है राह से; वह सिर्फ है। सुंदर और असुंदर देखने वाले की व्याख्या है। सुंदर-असुंदर उसमें कुछ भी नहीं है। व्याख्याएं बदलती हैं, तो सौंदर्य बदल जाते हैं। चीन में चपटी नाक सुंदर हो सकती है, भारत में नहीं हो सकती। चीन में उठे हुए गाल की हड्डियां सुंदर हैं, भारत में नहीं हैं। अफ्रीका में चौड़े ओंठ सुंदर हैं और स्त्रियां पत्थर लटकाकर अपने ओंठों को चौड़ा करती हैं। सारी दुनिया में कहीं चौड़े ओंठ सुंदर नहीं हैं, पतले ओंठ सुंदर हैं। वे हमारी व्याख्याएं हैं, वे हमारी सांस्कृतिक व्याख्याएं हैं। एक समाज ने क्या व्याख्या पकड़ी है, इस पर निर्भर करता है। फिर फैशन बदल जाते हैं, सौंदर्य बदल जाता है। तथ्य वही के वही रहते हैं।

अफ्रीका में जो स्त्री पागल कर सकती है पुरुषों को, वही भारत में सिर्फ पागलों को आकर्षित कर सकती है। क्या हो गया! स्त्री वही है, तथ्य वही है, लेकिन व्याख्या करने वाले दूसरे हैं। जब हम कहते हैं, सुंदर है, तभी हम सम्मिलित हो गए, तभी तथ्य नहीं रहा।

बुद्ध एक वृक्ष के नीचे विश्राम कर रहे हैं। रात है पूर्णिमा की। गांव से कुछ मनचले युवक एक वेश्या को लेकर पूर्णिमा की रात मनाने आ गए हैं। उन्होंने वेश्या को नग्न कर लिया है, उसके वस्त्र छीन लिए हैं। वे सब शराब में मदहोश हो गए हैं, वे सब नाच-कूद रहे हैं। उनको बेहोश हुआ देखकर वेश्या भाग निकली।

थोड़ा होश आया, तो देखा, जिसके लिए नाचते थे, वह बीच में नहीं है। खोजने निकले। जंगल है, किससे पूछें? आधी रात है। फिर उस वृक्ष के पास आए, जहां बुद्ध बैठे हैं। तो उन्होंने कहा, यह भिक्षु यहां बैठा है, यही तो रास्ता है एक जाने का। अभी तक कोई दोराहा भी नहीं आया। वह स्त्री जरूर यहीं से गुजरी होगी। तो उन्होंने बुद्ध को कहा कि सुनो भिक्षु, यहां से कोई एक नग्न सुंदर युवती भागती हुई निकली है? देखी है?

बुद्ध ने कहा, कोई निकला जरूर, लेकिन युवती थी या युवक, कहना मुश्किल है। क्योंकि व्याख्या करने की मेरी कोई इच्छा नहीं। कोई निकला है जरूर, सुंदर था या असुंदर, कहना मुश्किल है। क्योंकि जब अपनी चाह न रही, तो किसे सुंदर कहें, किसे असुंदर कहें!

सौंदर्य चुनाव है, सौंदर्य निर्णय है। असल में जैसे ही सुंदर कहा, मन के किसी कोने पर बनना शुरू हो गया भाव--कि मिले। सौंदर्य पसंदगी की शुरुआत है। वह वक्तव्य सिर्फ तथ्य का नहीं, वह वक्तव्य वासना का है। वासना छा गई है तथ्य पर; वह कहती है, सुंदर है।

हम साधारणतया कहेंगे कि नहीं, सुंदर कहने से कोई मतलब नहीं होता। सुंदर है। जब पहला मन का विषयों में गमन शुरू होता है, तो अति सूक्ष्म है। वह ऐसे ही शुरू होता हैः सुंदर है, असुंदर है; प्रीतिकर है,

अप्रीतिकर है; अच्छा लगता है, बुरा लगता है। चाह जब पैदा होती है पहले, तो पसंद और नापसंद के रूप में झलकती है, फिर बढ़ती है। अभी बीज है, अभी पहचानना बहुत मुश्किल है। अभी कोई कृष्ण, कोई बुद्ध पहचान सकेगा। हम तो तब पहचानेंगे, जब वृक्ष हो जाएगा।

लेकिन बीज से मुक्त हुआ जा सकता है, वृक्ष से मुक्त होना अति कठिन है। जितनी बढ़ जाएगी वासना भीतर गहरी और प्रगाढ़ और जड़ों को फैला देगी, उतना ही उससे छूटना कठिन होता जाएगा। जब अभी वासना सिर्फ बीज है, जब उसमें कोई जड़ें नहीं हैं अभी, अभी जब उसने चित्त की भूमि में कहीं जड़ों को फैलाकर भूमि को पकड़कर कस नहीं लिया है, तब तक बहुत आसान है। बीज फेंके जा सकते हैं, वृक्षों को काटना और उखाड़ना पड़ता है।

और मजा यह है कि वृक्ष काटने से भी कटते हों, ऐसा नहीं है। अक्सर तो काटने से सिर्फ कलम होती है। एक शाखा कटती है और चार शाखाएं निकल आती हैं। जड़ों तक काट डालने से भी जड़ें नए अंकुर और नई कोंपलें छोड़ जाती हैं और एक वृक्ष के अनेक वृक्ष भी हो जाते हैं। और जड़ों को उखाड़ना बहुत कठिन है, क्योंकि जड़ें मनुष्य के मन के अचेतन गर्भों में फैल जाती हैं। उन तक पहुंचना भी मुश्किल हो जाता है।

इसलिए कृष्ण का यह सूत्र साधक के लिए बहुत समझ लेने जैसा है। इस पर पूरा ही, मन के रूपांतरण की पूरी काजेलिटी, पूरा कारण, उसका राज छिपा है।

तथ्य तभी तक तथ्य है, जब तक आपने व्याख्या नहीं की है। बुद्ध ने कहा, निकला कोई जरूर। यह व्याख्या नहीं है, निकला है कोई। युवक था कि युवती, कहना कठिन है। क्योंकि--बुद्ध ने कहा--जब तक मेरे भीतर पुरुष बहुत लालायित था, तब तक बाहर खोज चलती थी, कौन स्त्री, कौन पुरुष!

स्त्री और पुरुष भी, तथ्य होते हुए भी, हमारी व्याख्या के कारण ही वह तथ्य दिखाई पड़ता है। अब यह बड़े मजे की बात है। हम जिंदगी में सब भूल जाते हैं। एक आदमी मुझे आज मिले। मैं भूल जाता हूं कि उसका नाम क्या है दस साल बाद; भूल जाता हूं, जाति क्या है, धर्म क्या है, चेहरा कैसा था, आंखें कैसी थीं, कितना पढ़ा-लिखा था--सब भूल जाता हूं। एक बात नहीं भूल पाता कि स्त्री था कि पुरुष था।

यह बड़े मजे की बात है। कभी आप भूले हैं किसी के बाबत कि मुझे पक्का याद नहीं आता कि वह जो मिला था, स्त्री थी या पुरुष था? सब भूल जाते हैं--नाम, शकल, चेहरा, जाति, धर्म--कई बार यह भी शक होता है कि वह मिला था कि नहीं मिला था; यह भी भूल सकते हैं। लेकिन वह स्त्री थी या पुरुष, यह नहीं भूल सकते हैं। जरूर और सब पहचान से यह स्त्री और पुरुष की पहचान आपके किसी गहरे मन ने की है, जहां से भूल नहीं होती।

अगर एक हवाई जहाज आपके गांव में गिर पड़े, समझें कोई अंतरिक्ष यान गिर पड़े, कोई दूसरे ग्रह के यात्री का जहाज आपके गांव में गिर पड़े, उसमें से पायलट को आप बाहर निकालें, तो जो पहली जिज्ञासा उठेगी, वह यह कि वह स्त्री है या पुरुष! पहली जिज्ञासा कि वह स्त्री है या पुरुष! फिर दूसरी जिज्ञासाएं उठेंगी।

निश्चित ही, स्त्री और पुरुष होना एक बायोलाजिकल फैक्ट है, एक जैविक तथ्य है। स्त्री और पुरुष के शरीर में फर्क है। लेकिन यह फर्क इतना प्रगाढ़ होकर दिखाई पड़े, इसकी अनिवार्यता उसमें नहीं है। इसकी अनिवार्यता हमारे मन की चाह में है।

रास्ते से आप निकलते हैं, वृक्ष लगे हैं। आपने शायद ही कभी देखा हो कि सभी वृक्ष एक जैसे हरे नहीं हैं। हरेपन में भी हजार तरह के हरेपन हैं। हरा कोई एक रंग नहीं है, हरा भी हजार रंग है। लेकिन आपको नहीं दिखाई पड़ेंगे। एक चित्रकार निकले, तो उसे दिखाई पड़ेगा, हजार रंग के हरे रंग हैं। दो हरे रंग एक-से हरे रंग

नहीं हैं। ये सामने दस वृक्ष हैं, दस तरह के हरे हैं। आपको नहीं दिखाई पड़ेगा। इन वृक्षों के नीचे से आप रोज निकलते हैं। इनका दस तरह का हरा होना प्राकृतिक तथ्य है। लेकिन आपके भीतर चित्रकार चाहिए, तब वह दिखाई पड़ेगा। उसकी खोज भी आपके भीतर कोई चीज खोजती हो, तो ही दिखाई पड़ेगी, अन्यथा दिखाई नहीं पड़ेगी। चित्रकार को दिखाई पड़ेगा कि रंग ही रंग हैं, हरे रंग भी कई रंग हैं।

स्त्री और पुरुष जैविक तथ्य है। लेकिन आपको इतना प्रगाढ़ होकर दिखाई पड़ता है, यह जैविक तथ्य नहीं है, यह मानसिक तथ्य है, यह साइकोलाजिकल तथ्य है। इसमें कुछ न कुछ आपने जोड़ना शुरू कर दिया। इसमें आपने कुछ डालना शुरू कर दिया। थोड़ा-सा आप भी इसमें प्रवेश कर गए; फिर चिंतन शुरू होगा।

यह तो हैपनिंग हुई, रास्ते पर स्त्री दिखी, पुरुष दिखा। फिर आपने कहा, सुंदर है, फिर आपकी यात्रा शुरू हुई चित्त की; अब चिंतन होगा। सुंदर है, तो पीछे से चाह, पीछे से चाह चली आएगी। चाह आएगी, तो भोग--कामना में ही, मन में ही, स्वप्न में ही प्रतिमाएं निर्मित होनी शुरू हो जाएंगी।

अगर किसी दिन हम आदमी की खोपड़ी में विंडो बना सके--बना सकेंगे, अब तो सर्जन्स कहते हैं, बहुत कठिनाई नहीं है; मनोवैज्ञानिक भी कहते हैं, बहुत कठिनाई नहीं है--अगर हम आदमी की खोपड़ी में एक कांच की खिड़की बना सके, जो कि हम बना ही लेंगे, तब आपको मुसीबत पता चलेगी। अगर बाहर से भी आपकी खोपड़ी में झांका जा सके कि भीतर क्या-क्या हो रहा है!

एक स्त्री जा रही है, तत्काल आपके मन के भीतर बहुत कुछ होना शुरू हो गया है। यह होना किसी को पता नहीं चलता, आपको ही पता चलता है। बहुत मौकों पर तो आपको भी पता नहीं चलता। बहुत मौकों पर तो यह इतना अचेतन होता है कि आपको भी पता नहीं चलता। दूसरों को तो पता चलता ही नहीं, खुद आप भी चूक जाते हैं। यह भीतर चलता रहता है और आप कहीं और चलते रहते हैं। लेकिन कैसे यह शुरू हो रहा है?

तथ्य हैं जगत में, फिक्शंस वहां नहीं हैं, फैक्ट्स हैं। कल्पनाएं मनुष्य डालता है। सुंदर है--यात्रा शुरू हुई। सुंदर है, तो चाह है। चाह है, तो भोग है। अब चिंतन शुरू हुआ। अब वासना चिंतन बनेगी। चिंतन को कहें, काल्पनिक संग पैदा हुआ। जब काल्पनिक संग पैदा होगा, तो क्रिया भी आएगी, काम भी आएगा। और कृष्ण कहते हैं, काम आएगा, तो क्रोध भी आएगा। क्यों? काम आएगा, तो क्रोध क्यों आ जाएगा?

असल में जो कामी नहीं है, वह क्रोधी नहीं हो सकता। क्रोध काम का ही एक और ऊपर गया चरण है। क्रोध क्यों आता है? क्रोध का क्या गहरा रूप है? क्रोध आता ही तब है, जब काम में बाधा पड़ती है, अन्यथा क्रोध नहीं आता। जब भी आपकी चाह में कोई बाधा डालता है--जो आप चाहते हैं, उसमें बाधा डालता है--तभी क्रोध आता है। जो आप चाहते हैं, अगर वह होता चला जाए, तो क्रोध कभी नहीं आएगा।

समझें आप कल्पवृक्ष के नीचे बैठे हैं, तो कल्पवृक्ष के नीचे क्रोध नहीं आ सकता, अगर कल्पवृक्ष नकली न हो। कल्पवृक्ष असली है, तो क्रोध नहीं आ सकता। क्योंकि क्रोध का उपाय नहीं है। आपने चाहा कि यह सुंदर स्त्री मिले; मिल गई। आपने चाहा, यह मकान मिले; मिल गया। आपने चाहा, यह धन मिले; मिल गया। आपने चाहा, सिंहासन मिले; मिल गया। आपने चाहा नहीं कि मिला नहीं, तो क्रोध के लिए जगह कहां है!

क्रोध आता है, चाहा और नहीं मिले के बीच में जो गैप है, उस गैप का नाम, उस अंतराल का नाम क्रोध है। चाहा और नहीं मिला, अटक गई चाह, रुक गई चाह, हिन्डर्ड डिजायर, चाह के बीच में अड़ गया पत्थर, चाह के बीच में पड़ गई बाधा, क्रोध के वर्तुल को पैदा कर जाती है।

नदी भाग रही है सागर की तरफ, आ गया एक पत्थर बीच में, तो सब खड़बड़ हो जाता है। आवाज हो जाती है। पत्थर न हो तो नदी में आवाज नहीं होती। नदी आवाज नहीं करती, पत्थर के साथ टकराकर आवाज हो जाती है।

अगर काम की नदी बहती रहे और कोई बाधा न हो, तो क्रोध कभी पैदा न होगा। लेकिन काम की नदी बहती है और बाधाओं के पत्थर चारों ओर खड़े हैं। वे खड़े ही हैं। कोई आपके काम को रोकने के लिए नहीं खड़े हैं वे, वे खड़े ही थे। आपके काम ने वहां से बहना शुरू किया।

अब एक स्त्री सुंदर मुझे दिखाई पड़ी; मैंने उसे चाहना शुरू किया। अब हजार पत्थर हैं। उस स्त्री का पति भी है, वह भी पत्थर है। उस स्त्री का पिता भी है, वह भी पत्थर है। उस स्त्री का भाई भी है, वह भी पत्थर है। कानून भी है, अदालत भी है, पुलिस भी है--वे भी पत्थर हैं। और ये कोई भी न हों, तो कम से कम वह स्त्री भी तो है। मैंने चाहा इसलिए वह चाहे, यह तो जरूरी नहीं है। मेरी चाह कोई उसके लिए नियम और कानून तो नहीं है। वह स्त्री तो है ही; इस जगत में हम सारे पत्थर हटा दें, तो भी वह स्त्री तो है ही। और फिर अगर वह स्त्री भी राजी हो, तो भी पत्थर नहीं रहेंगे, ऐसा नहीं है।

यहां थोड़े और गहरे उतरना पड़ेगा।

अगर ऐसा भी हम कर लें जैसा कि समाजशास्त्री सोचते हैं, जैसा कि समाजवादी सोचते हैं कि सारे पत्थर अलग कर दें; जैसा कि हिप्पी और बीटनिक और प्रवोस सोचते हैं कि सारे पत्थर अलग कर दो--कानून अलग करो, पुलिस अलग करो--जहां-जहां पत्थर है, वह अलग कर दो, क्योंकि व्यर्थ ही उनसे क्रोध पैदा होता है और मनुष्य दुखी होता है। सब पत्थर अलग कर दो। तो भी एक स्त्री को पचीस पुरुष नहीं चाह लेंगे, एक पुरुष को पचीस स्त्रियां नहीं चाह लेंगी, इसका क्या उपाय है?

असल में कानून और व्यवस्था इसीलिए बनानी पड़ी कि अव्यवस्था इससे भी बदतर हो जाएगी। यह बदतर है काफी, लेकिन अव्यवस्था इससे भी बदतर हो जाएगी। यह चुनाव रिलेटिव है। यह बदतर है काफी कि हर जगह चाह के बीच में उपद्रव खड़ा है, लेकिन अगर सारे उपद्रव हटा लो, तो महाउपद्रव खड़ा हो जाएगा। अभी एक ही पति है उसका खड़ा। पति की व्यवस्था को हटा दो, तो हजार पति नहीं खड़े हो जाएंगे, इसका क्या उपाय है रोकने का? अभी एक ही पत्नी उस पति के ऊपर पहरा दे रही है। हटा दो उसे, तो हजार पत्नियां नहीं पहरा देंगी, इसकी क्या गारंटी है?

फिर हम कल्पना भी कर लें कि सब हटा दिया जाए और ऐसा भी कुछ हो जाए कि बाहर से कोई बाधा नहीं आती, तो भीतरी बाधाएं हैं, जो और भी बड़ी बाधाएं हैं। क्योंकि जिस स्त्री को आप चाहते हैं, जो स्त्री आपको चाहती है, बीच में और कोई बाधा नहीं है, तो भी आप दो हैं और दो होना भी काफी बड़ी बाधा है। और क्रोध रोज-रोज जन्मेगा; जरा-जरा सी बात में जन्मेगा।

आप सुबह पांच बजे उठना चाहते हैं और आपकी स्त्री सुबह छः बजे उठना चाहती है। बस, इतना भी काफी है। कोई पुलिस, अदालत, कानून और राज्य की जरूरत नहीं है क्रोध के लिए, इतनी ही बाधा काफी है। छोटी-छोटी अड़चनें चाह में खड़ी होती हैं और बाधा खड़ी हो जाती है। वह दूसरा व्यक्ति भी व्यक्ति है, मशीन नहीं है। उसकी भी अपनी चिंतना है, अपना सोचना है, अपना ढंग है। और दो चिंतन एकदम पैरेलल नहीं हो पाते; हो नहीं सकते। सिर्फ दो मशीनें समानांतर हो सकती हैं, दो व्यक्ति कभी समानांतर नहीं हो सकते।

असल में दो व्यक्तियों का साथ रहना उपद्रव है। न रहना भी उपद्रव है, क्योंकि चाह है। साथ न रहें, तो पूरी नहीं हो सकती। साथ रहें, तो भी पूरी नहीं हो पाती है।

तो वे जितनी अड़चनें हैं, वे सब काम में अड़चनें, पत्थर बन जाती हैं और क्रोध को जन्माती हैं। कामी क्रोधी हो जाता है।

अगर कृष्ण ने कहा है कि स्थितप्रज्ञ को क्रोध नहीं होता, तो उसका कारण यही है कि स्थितप्रज्ञ को काम नहीं होता; वह निष्काम है। ये नेसेसरी स्टेप्स हैं, ये अनिवार्य सीढ़ियां हैं, जो एक के पीछे चली आती हैं। और एक को लाएं, तो दूसरे को लाना पड़ता है। वह दूसरा उससे इतना बंधा है कि वह एक को लाते वक्त ही उसके साथ छाया की तरह भीतर प्रवेश कर जाता है। आपको मैंने निमंत्रण दिया, आपकी छाया भी मेरे घर में आ जाती है। आपकी छाया को मैंने कभी निमंत्रण नहीं दिया था, पर वह आपके साथ ही है, वह भीतर चली आती है।

काम के पीछे आता है क्रोध। अगर चित्त में क्रोध हो, तो जरा भीतर खोजने से पता चलेगा, कहीं काम है। अटका हुआ काम क्रोध है। रुका हुआ काम क्रोध है। बाधा डाला गया काम क्रोध है। क्रोध का सांप फुफकारता तभी है, तभी वह फन फैलाता है, जब मार्ग में कोई अड़चन आ जाती है और द्वार नहीं मिलता है। जब कोई रोकता है, कोई अटकाता है... ।

फिर हम अकेले नहीं हैं इस जगत में। विराट यह जगत है। सभी की कामनाएं एक-दूसरे की कामनाओं को क्रिस-क्रास कर जाती हैं; तो सब जगह अटकाव हो जाता है। मैं कुछ चाहता हूं, लेकिन साढ़े तीन अरब लोग और हैं पृथ्वी पर, वे कुछ चाहते हैं। फिर अदृश्य परमात्मा है, फिर अदृश्य जीव-जंतु हैं, फिर अदृश्य देवी-देवता हैं, फिर अदृश्य वृक्ष, पशु-पक्षी सब हैं, उन सब की चाहें हैं। अगर हम अपने ऊपर देख सकें, तो हमें पता चले कि पूरा आकाश, पूरा व्योम अनंत चाहों से क्रिस-क्रास है। अनंत चाहें एक-दूसरे को काट रही हैं। एक-एक चाह पर करोड़-करोड़ चाहों का कटाव है। वह कटाव क्रोध पैदा करता है; करेगा ही। जहां भी वासना कटी कि पीड़ा हुई। जैसे किसी ने रग काट दी हो और खून बहने लगे। वासना की रग कटती है, तो क्रोध का खून बहता है।

कृष्ण कहते हैं, काम से क्रोध पैदा होता है।

क्रोध, क्रोध बहुत ही... । मनुष्य के अस्तित्व में, जैसा मनुष्य है, बड़ी गहरी आधारशिलाएं उसकी रखी हैं। है क्या क्रोध, अपने में? शक्ति, एनर्जी! तृप्ति के लिए काम के मार्ग से जाती थी, लेकिन मार्ग अवरुद्ध पाकर शक्ति उद्विग्न हो गई है। चाहा था कुछ, उस चाह की पगडंडी से प्राणों की ऊर्जा बहनी थी; आ गया है पत्थर, अटक गया सब। शक्ति अपने पर लौट पड़ी है। सब भीतर क्रुद्ध हो गया है। लौटा हुआ काम, काम के मार्ग से जाती हुई ऊर्जा अवरुद्ध होकर विद्रोह से भर गई है, विक्षिप्त हो गई है, इनसेन हो गई है। इसलिए क्रोध है।

जैसे-जैसे क्रोध बढ़ता है, वैसे-वैसे मोह बढ़ता है। क्यों? जिसे हम चाहते हैं और नहीं पा पाते, उसके प्रति मोह और गहरा हो जाता है। मिल जाए, तो मोह कम हो जाता है। न मिले, तो मोह बढ़ जाता है। जो नहीं मिलता, उसी के प्रति मोह होता है; जो मिलता है, उसके प्रति मोह नहीं रह जाता। क्रोध मोह को जन्म दे जाता है। मोह का मतलब क्या है?

मैंने सुना है कि नादिरशाह ने एक दफे एक बहुत गहरा मजाक किया। गहरा कहना चाहिए। और कभी-कभी पाप में गहरे गए लोगों की बुद्धि भी पुण्य में गहरे गए लोगों की बुद्धि जैसी ही गहरी हो जाती है--उलटी होती है, लेकिन गहरी हो जाती है।

नादिरशाह किसी स्त्री के प्रति लोलुप है, लेकिन वह स्त्री उसके प्रति बिल्कुल ही अनासक्त है, पर नादिरशाह के एक सैनिक के प्रति पागल है। स्वभावतः, नादिर के लिए बर्दाश्त करना मुश्किल हो गया। पकड़वा भिजवाया दोनों को। पूछा अपने वजीरों से कि कोई नई सजा खोजो, जो कभी न दी गई हो।

ऐसी कोई सजा है, जो कभी न दी गई हो! सब सजाएं चुक गई हैं। वजीर बड़ी मुश्किल में पड़े। नई-नई सजाएं खोजकर लाते, लेकिन नादिर कहता कि यह हो चुका; यह कई बार दी जा चुकी है। हम ही दे चुके हैं। दूसरे दे चुके हैं। नई चाहिए! और सच में ही एक बूढ़े वजीर ने नई सजा खोज ली। आप भी न सोच सकेंगे कि नई सजा क्या हो सकती थी!

नई सजा यह थी कि दोनों को नग्न करके, एक-दूसरे के चेहरों को आमने-सामने करके, दोनों को एक खंभे से बांध दिया गया। कभी सोचा भी नहीं होगा किसी ने! एक दिन, दो दिन, एक-दूसरे के शरीर से बास आने लगी, मल-मूत्र छूटने लगा। तीन दिन, एक-दूसरे के चेहरे को देखने की भी इच्छा न रही। चार दिन, एक-दूसरे पर भारी घृणा पैदा होने लगी। पांच दिन, नींद नहीं, मल-मूत्र, गंदगी; और बंधे हैं दोनों एक साथ--यही चाहते थे! पंद्रह दिन, दोनों पागल हो गए कि एक-दूसरे की गर्दन काट दें।

और नादिर रोज आकर देखता कि कहो प्रेमियो, इच्छा पूरी कर दी न! मिला दिया न दोनों को! और ऐसा मिलाया है कि छूट भी नहीं सकते। जंजीरें बंधी हैं। पंद्रह दिन बाद जब उन दोनों को छोड़ा, तो कथा है कि उन्होंने लौटकर एक-दूसरे को जिंदगी में न दुबारा देखा और न बोले। जो भागे एक-दूसरे से, तो फिर लौटकर कभी नहीं देखा!

क्या हुआ? मोह पैदा होने का उपाय न रहा। अमोह पैदा हो गया। करीब-करीब जिसको हम विवाह कहते हैं, वह भी नादिरशाह का बहुत छोटे पैमाने पर प्रयोग है--बड़े छोटे पैमाने पर। किसी बहुत होशियार आदमी ने कोई गहरी ईजाद की है। मैरिज मोह को नहीं जमने देती, मोह को मार डालती है। असल में मोह, जो नहीं मिलता, उसके लिए पैदा होता है।

इसलिए कृष्ण की इनसाइट, उनकी अंतर्दृष्टि गहरी है। वे कहते हैं, क्रोध से मोह पैदा होता है अर्जुन! क्योंकि क्रोध का मतलब ही यह है कि जिसे चाहा था, वह नहीं मिल सका, इसलिए क्रोध आया। नहीं मिल सका, इसलिए मिलने की और आकांक्षा आएगी। नहीं मिल सका, इसलिए पाने का और पागलपन आएगा। नहीं मिल सका, इसलिए मन और-और विक्षिप्त हो जाएगा और मांग करेगा।

जापान में वेश्याओं का एक वर्ग है--गेसा गर्ल्स। उनकी जो ट्रेनिंग है, उस ट्रेनिंग का एक हिस्सा है--दुनिया में सभी वेश्याओं की ट्रेनिंग का हिस्सा है। वेश्याएं पत्नियों से ज्यादा होशियार हैं। गेसा गर्ल्स को सिखाया जाता है कि कभी इतनी मत मिल जाना किसी को कि अमोह पैदा हो जाए। बस, मिलना और न मिलना, इनके बीच सदा खेल को चलाते रहना। पास बुलाना किसी को और दूर हो जाना। कोई निकट आ पाए कि सरक जाना। बुलाना भर, मिल ही मत जाना, क्योंकि मिल ही गए कि मोह नष्ट हो जाता है। वेश्याएं भी जानती हैं कृष्ण के राज को; उनको भी पता है।

अब यह बड़े मजे की बात है। ख्याल में आती है, आपसे कहता हूं। स्त्रियां थीं पृथ्वी की घूंघट में दबी, अंधेरे में छिपी। पति भी नहीं देख पाता था सूरज की रोशनी में। कभी खुले में बात भी नहीं कर पाता था। अपनी पत्नी से भी बात चोरी से ही होती थी, रात के अंधेरे में, वह भी खुसुर-फुसुर। क्योंकि सारा बड़ा परिवार होता था, कोई सुन न ले! आकर्षण गहरा था, मोह जिंदगीभर चलता था।

स्त्री उघड़ी, परदा गया--अच्छा हुआ, स्त्री के लिए बहुत अच्छा हुआ--सूरज की रोशनी आई। लेकिन साथ ही मोह क्षीण हुआ। स्त्री और पुरुष आज कम मोहग्रस्त हैं। आज स्त्री उतनी आकर्षक नहीं है, जितनी सदा थी। और यूरोप और अमेरिका में और भी अनाकर्षक हो गई है; क्योंकि चेहरा ही नहीं उघड़ा, पूरा शरीर भी उघड़ा।

आज यूरोप और अमेरिका के समुद्र-तट पर स्त्री करीब-करीब नग्न है, पास से चलने वाला रुककर भी तो नहीं देखता; पास से गुजरने वाला ठहरकर भी तो नहीं देखता कि नग्न स्त्री है।

कभी आपने देखा, बुरके में ढकी औरत जाती हो, तो पूरी सड़क उत्सुक हो जाती है। ढके का आकर्षण है, क्योंकि ढके में बाधा है। जहां बाधा है, वहां मोह है। जहां बाधा नहीं है, वहां मोह नहीं है।

स्त्री और पुरुष का आकर्षण जितना सेक्सुअल है, जितना कामुक है, उससे ज्यादा सोशल है, कल्चरल है। जितना ज्यादा काम से पैदा हुआ है, उतना काम में डाली गई सामाजिक बाधाओं से पैदा हुआ है।

अब मैं मानता हूं कि आज नहीं कल, पचास साल के भीतर, सारी दुनिया में घूंघट वापस लौट सकता है। आज कहना बहुत मुश्किल मालूम पड़ता है, यह भविष्यवाणी करता हूं, पचास साल में घूंघट वापस लौट आएगा। क्योंकि स्त्री-पुरुष इतनी अनाकर्षक हालत में जी न सकेंगे। वे आकर्षण फिर पैदा करना चाहेंगे। आने वाले पचास वर्षों में स्त्रियों के वस्त्र फिर बड़े होंगे, फिर उनका शरीर ढकेगा।

बर्ट्रेंड रसेल ने लिखा है कि जब वह बच्चा था, तो विक्टोरियन युग समाप्त हो रहा था। और स्त्रियों के पैर का अंगूठा भी देखना मुश्किल था। घाघरा ऐसा होता था, जो जमीन छूता था। तो बर्ट्रेंड रसेल ने लिखा है कि अगर किसी स्त्री के पैर का अंगूठा भी दिख जाता था, तो चित्त में बिजली कौंध जाती थी। और उसने लिखा है कि अब कल्पना करने को भी कुछ नहीं बचा है। स्त्री पूरी दिखाई पड़ जाती है और चित्त में कोई बिजली नहीं कौंधती।

नग्न स्त्री उतनी आकर्षक नहीं है, नग्न पुरुष उतना आकर्षक नहीं है। और स्त्रियां पुरुषों से ज्यादा होशियार हैं, इसलिए कोई स्त्री नग्न पुरुष में कभी उत्सुकता नहीं लेती। गहरे से गहरे प्रेम के क्षण में स्त्रियां आंख बंद कर लेती हैं कि पुरुष दिखाई ही न पड़े। स्त्रियां ज्यादा होशियार हैं, शायद इंसटिंक्टिवली वे प्रकृति के ज्यादा करीब हैं और राजों से परिचित हैं।

कृष्ण कहते हैं, क्रोध से मोह पैदा होता है। क्योंकि क्रोध से बाधा पैदा होती है। जहां भी बाधा है, वहां आकर्षण खड़ा हो जाता है।

अब यह बड़े मजे की बात है कि जिन लोगों ने बाधाएं खड़ी की हैं, वे ही आकर्षण के लिए जिम्मेदार हैं। ईसाइयत ने पाप को इतना आकर्षक बना दिया, क्योंकि पाप के लिए इतनी बाधाएं खड़ी कीं। धर्मों ने सेक्स को बहुत आकर्षक बना दिया, क्योंकि उसके लिए बहुत बाधाएं खड़ी कीं।

आमतौर से लोग समझते हैं कि फिल्में हैं, नग्न-चित्र हैं, नग्न-अश्लील तस्वीरें हैं--ये लोगों को कामुक बना रही हैं। कृष्ण यह नहीं कह सकते कि कामुक बना रही हैं। कृष्ण कहेंगे कि यह लोगों का तो सारा मोह खराब कर देंगी। क्योंकि लोगों के लिए अनाकर्षक हो जाएगी, जो चीज परिचित हो जाती है। जिसमें बाधा नहीं है, वह अनाकर्षक हो जाती है।

अगर कृष्ण से हम पूछें मनोविज्ञान का सत्य, तो वह यह है कि अगर दुनिया में स्त्री-पुरुष के आकर्षण को बढ़ाना हो, तो नग्न तस्वीरें बंद करो, अश्लील तस्वीरें बंद करो, स्त्री को नग्न मत करो। ढांको; बाधाएं खड़ी करो; स्त्री-पुरुष को एकदम मिल जाने की सुविधा मत बनाओ; असुविधाएं खड़ी करो--अगर मोह पैदा करना है।

अगर कृष्ण से हम पूछें, तो कृष्ण वह जवाब नहीं देंगे, जो हिंदुस्तान के सब साधु दे रहे हैं। वे कह रहे हैं कि फिल्मों में चुंबन न हो। चुंबन हुआ, तो लोग कामुक हो जाएंगे। गलत हैं! उन्हें बिल्कुल मनोविज्ञान का कोई भी पता नहीं। कृष्ण को ज्यादा पता है। वह कृष्ण कह रहे हैं कि अगर बाधा बिल्कुल नहीं है, तो मोह बिल्कुल

गिर जाएगा। अगर चीजें बिल्कुल साफ हैं, तो आकर्षण खो देती हैं। निषेध में निमंत्रण है। जहां ढका है, वहां उघाड़ने का मन है। जहां बाधा है!

अब मेरी अपनी समझ यही है कि पुरानी मनुष्य की संस्कृति स्त्री और पुरुष के बीच ज्यादा आकर्षण को जन्माती थी। पुरानी संस्कृति में तलाक मुश्किल था। आकर्षण भारी था। अपनी ही पत्नी से मिलना कहां हो पाता था! कितनी बाधाएं थीं! संयुक्त परिवार बड़ी बाधा का काम करता था। आकर्षण जीवनभर खिंचता था। जीवनभर ही नहीं, स्त्री और पुरुष चाहते थे कि मरकर भी यही स्त्री, यही पुरुष मिल जाए। तलाक जन्म के साथ भी करने का मन नहीं था। जन्मों-जन्मों तक एक को ही पा लेने का आकर्षण था। राज कहां है? राज इसी सूत्र में है, बाधाएं बहुत थीं।

क्रोध सबसे बड़ी बाधा है। असल में क्रोध बाधा से ही पैदा हुआ चित्त-विकार है। तो मोह पैदा हो जाता है। और जहां मोह पैदा होता है, वहां स्मृति भ्रष्ट हो जाती है। स्मृति मोह से भ्रष्ट क्यों हो जाती है?

आमतौर से हम सोचते होंगे, काम से भ्रष्ट होनी चाहिए स्मृति। काम से भ्रष्ट नहीं होती, क्योंकि काम प्राकृतिक तथ्य है। आमतौर से हमें सोचना चाहिए, क्रोध से भ्रष्ट हो जाती है स्मृति। लेकिन क्रोध से भी नहीं होती। क्योंकि क्रोध सिर्फ काम के मार्ग में पड़ी अड़चन से पैदा होता है। क्रोध प्रोजेक्टिव नहीं है। यह समझना पड़ेगा। क्रोध का कोई सम्मोहन नहीं है। क्रोध केवल प्रतिकार है, प्रक्षेप नहीं। क्रोध किसी दूसरे का प्रतिकार है, किसी बाधा को हटाने की चेष्टा है। बाधा हट जाए, क्रोध खो जाएगा।

मोह क्रोध से भी सबल है। मोह प्रोजेक्टिव है; मोह अंधा कर देता है। क्रोध पागल करता है, मोह अंधा कर देता है। मोह कहता है, कुछ भी हो! सब बाधाओं को भूलकर मोह पागल होकर जिसे पाना चाहता है, उसके पीछे दौड़ पड़ता है। क्रोध बाधाओं को अलग करने की कोशिश करता है, काफी रिअलिस्टिक है; क्रोध बहुत यथार्थ है। लेकिन मोह कहता है, बाधाएं! कोई बाधाएं नहीं हैं, छलांग लगाएंगे, दौड़कर निकल जाएंगे।

मोह अंधा कर देता है। और जब चित्त अंधा होता है, तभी स्मृति क्षीण होती है। हां, मोह तक आने के लिए काम और क्रोध जरूरी हैं। लेकिन मोह कहना चाहिए परिपाक है। मोह हमारे चित्त के विकार की सौ डिग्री अवस्था है, जहां से भाप बनना शुरू होता है। निन्यानबे डिग्री तक भी पानी भाप नहीं बनता, गरम ही रहता है। और गरम रहने में एक खूबी है कि अभी चाहे, नीचे से अगर ईंधन निकाल लिया जाए, तो फिर ठंडा हो सकता है। लेकिन सौ डिग्री पर पहुंचकर भाप बन जाएगा। फिर आप ईंधन निकालो या कुछ करो, भाप सिर्फ ईंधन निकालने से फिर ठंडी नहीं हो सकती। पानी ने नई अवस्था पा ली।

क्रोध तक सिर्फ मन गरम है, मोह पर भाप बन जाता है। नई अवस्था शुरू हो गई मन की, ए न्यू स्टेट; क्वालिटेटिव चेंज हो गया, गुणात्मक अंतर हो गया। क्रोध तक गुणात्मक अंतर नहीं है, परिमाणात्मक अंतर है, क्वांटिटेटिव चेंज हो रहा है सिर्फ। इसलिए क्रोध से वापस लौट जाना आसान है, मोह से वापस लौट जाना बहुत मुश्किल हो जाता है।

इसलिए मोह को कृष्ण कहते हैं कि उससे स्मृति भ्रष्ट हो जाती है। क्योंकि चित्त भाप-भाप हो जाता है। लौटना बहुत कठिन है। अब उसको ठंडा करना बहुत कठिन है। अब ईंधन हटाने से कुछ न होगा। और फिर मोह के तत्व को ठीक से समझें, तो पता चलेगा कि स्मृति क्यों मोह नष्ट करता है।

मनुष्य के मन में स्मृति का जो काम है, मोह का उससे विपरीत काम है। स्मृति तथ्यगत है। स्मृति का मतलब ही यही है कि जो जाना, उसे वैसा ही याद रखना जैसा जाना। मेमोरी का मतलब ही इतना है। राइट

मेमोरी, ठीक स्मृति का मतलब इतना ही है कि हम अपनी तरफ से कुछ नहीं जोड़ते, जो है, उसको ही स्मरण रखते हैं। उसमें हमारा कोई जोड़ नहीं होता।

मोह कहना चाहिए क्रिएटिव है, सृजनात्मक है। वह वही नहीं देखता, जो है; वह वह प्रोजेक्ट करता है, निर्माण करता है, जो चाहता है कि हो। मोह स्वप्न-निर्माता है। मोह सम्मोहक है, हिप्नोटिक है। मोह अपने हिप्नोटिज्म का जाल फैला देता है। वह बिल्कुल अंधा होकर वही देखने लगता है, जो देखना चाहता है।

इसलिए अक्सर हम कहते हैं कि जब कोई मोहग्रस्त होता है, कोई प्रेम में पागल हो जाता है, तो फिर उसे तथ्य दिखाई नहीं पड़ते। वह आग में चल सकता है, वह पहाड़ों से कूद सकता है। उसे फिर कुछ दिखाई नहीं पड़ता। फिर वह रिअलिस्ट नहीं रह जाता, वह सोम्नाबुलिस्ट हो जाता है; वह नींद में चलने लगता है। उसका चलना फिर नींद में चलना है।

इसलिए प्रेमी को मनुष्य हमेशा से पागल कहता रहा है। और प्रेम को सदा से अंधा कहता रहा है। ठीक होगा कि प्रेम की जगह हम मोह का उपयोग करें। ठीक शब्द मोह है। मोह अंधा है, ब्लाइंड है। प्रेम बड़ी और बात है।

प्रेम को मोह के साथ एक कर लेने से गहरा, भारी नुकसान हुआ है। प्रेम एक बहुत ही और बात है। प्रेम तो उसी के जीवन में घटित होता है, जिसके जीवन में मोह नहीं होता। लेकिन हम प्रेम को ही मोह और मोह को प्रेम कहते रहे हैं।

प्रेम तो बुद्ध और कृष्ण जैसे लोगों के जीवन में होता है। हमारे जीवन में प्रेम होता ही नहीं है। जिनके जीवन में मोह है, उनके जीवन में प्रेम नहीं हो सकता। क्योंकि मोह मांगता है, प्रेम देता है। बिल्कुल अलग अवस्थाएं हैं। उनकी हम आगे थोड़ी बात कर सकेंगे। लेकिन मोह को समझने के लिए उपयोगी है।

प्रेम उस चित्त में फलित होता है, जिसमें कोई काम नहीं रह जाता, जिसमें कोई वासना नहीं रह जाती। क्योंकि दे वही सकता है, जो मांगता नहीं। वासना मांगती है। वासना कहती है, मिलना चाहिए, यह मिलना चाहिए, यह मिलना चाहिए। प्रेम कहता है, अब कोई मांग न रही, हम कोई भिखारी नहीं हैं। वासना भिखारी है, प्रेम सम्राट है। प्रेम कहता है, जो हमारे पास है, ले जाओ। जो हमारे पास है, ले जाओ; अब हमें तो कोई जरूरत न रही, अब हमारी कोई मांग न रही। अब तुम्हें जो भी लेना है, ले जाओ। प्रेम दान है। वासना भिक्षावृत्ति है, मांग है।

इसलिए वासना में कलह है; प्रेम में कोई कलह नहीं है। ले जाओ तो ठीक, न ले जाओ तो ठीक। लेकिन मांगने वाला यह नहीं कह सकता कि दे दो तो ठीक, न दो तो ठीक। देने वाला कह सकता है कि ले जाओ तो ठीक, न ले जाओ तो ठीक। क्योंकि देने में कोई अंतर ही नहीं पड़ता, नहीं ले जाते, तो मत ले जाओ। मांग में अंतर पड़ता है। नहीं दोगे, तो प्राण छटपटाते हैं। क्योंकि फिर अधूरा रह जाएगा भीतर कुछ, पूरा नहीं हो पाएगा।

मोह पैदा होता है वासना की अंतिम कड़ी में, और प्रेम पैदा होता है निर्वासना की अंतिम कड़ी में। कहना चाहिए, जिस तरह मोह से स्मृति नष्ट होती है, उसी तरह से प्रेम से स्मृति पुष्ट होती है। पर उसकी अलग बात करेंगे। अभी उससे कोई लेना-देना नहीं है।

मोह सीढ़ियों का नीचे उतरा हुआ सोपान है, पायदान है, जहां आदमी पागल होने के करीब पहुंचता है। प्रेम सीढ़ियों का ऊपरी पायदान है, जहां आदमी विमुक्त होने के करीब पहुंचता है। विक्षिप्त होने के करीब और विमुक्त होने के करीब। मोह के बाद विक्षिप्तता है, प्रेम के बाद विमुक्ति है।

यह जो मोह पैदा हुआ, यह स्मृति को नष्ट कर देता है। क्यों? क्योंकि स्मृति अब रिकार्ड नहीं कर पाती कि क्या है। स्मृति का काम सिर्फ रिकार्डिंग का है कि वह वही रिकार्ड कर ले, जो है; तथ्य को अंकित कर ले। लेकिन मोह के कारण तथ्य दिखाई नहीं पड़ता। मोह के कारण हम एक जाल अपनी तरफ से प्रोजेक्ट करते हैं।

प्रोजेक्टर आपने देखा होगा। सिनेमागृह में परदा होता है। परदे पर चित्र होते हैं। लेकिन आपकी पीठ के पीछे दीवाल के उस पार छिपा हुआ प्रोजेक्टर होता है, मशीन होती है, जो चित्रों को परदे पर फेंकती है। चित्र उस मशीन में छिपे होते हैं, परदे पर नहीं होते हैं। परदे पर चित्रों का सिर्फ भ्रम पैदा होता है। चित्र होते हैं मशीन में छिपे, प्रोजेक्टर में, फेंकने वाले में। और वहां से चित्र फेंके जाते हैं, लेकिन दिखाई पड़ते हैं परदे पर। होते हैं प्रोजेक्टर में, दिखाई पड़ते हैं परदे पर।

मोह प्रोजेक्टर है। होता है हमारे भीतर, दिखाई पड़ता है परदे पर। जब मैं किसी स्त्री के प्रेम में पड़ जाता हूं, तो जो चेहरा मुझे दिखाई पड़ता है, वह उस स्त्री का नहीं होता, वह मेरे प्रोजेक्टर का होता है। वह होता है मेरे भीतर, दिखाई पड़ता है वहां। स्त्री सिर्फ परदा होती है। क्योंकि जिनको उस स्त्री से मोह नहीं है, उनको वहां वैसा चेहरा नहीं दिखाई पड़ता, जैसा मुझे दिखाई पड़ता है। मुझे उसके पसीने में भी सुगंध आने लगती है; उसके पसीने में भी गुलाब खिलने लगते हैं। किसी को नहीं खिलते। कुछ दिन बाद मुझे भी नहीं खिलेंगे--जब मोह गिरेगा और प्रोजेक्टर बंद हो जाएगा और परदा दिखाई पड़ेगा। तब मैं कहूंगा, अरे! क्या हुआ? गुलाब के फूल कहां गए? वे गुलाब के फूल विदा हो जाएंगे। वे गुलाब के फूल वहां थे ही नहीं। वे गुलाब के फूल मैंने आरोपित किए थे, प्रोजेक्ट किए थे; वह मेरा प्रक्षेप था।

धन में धन के पागल को जो दिखाई पड़ता है, वह धन में होता नहीं, प्रोजेक्टेड होता है। धन में क्या होगा! लेकिन धन के पागल को देखा है आपने। वह रुपए को किस मोह से पकड़ता है, जैसे किसी जीवंत चीज को पकड़ रहा हो! वह रुपए को किस प्रेम से सम्हालता है, जैसे उसका हृदय हो! वह तिजोरी को कैसे आहिस्ता से खोलता है! वह तिजोरी को कैसे देखता है, जैसे उसकी आत्मा वहां बंद है! वह रात सोता भी है, तो तिजोरी का ही चिंतन घूमता है। रात सपने भी आते हैं, तो रुपयों के ही ढेर बढ़ते चले जाते हैं। वह जिस जगत में जी रहा है, उसका हमें कुछ भी पता नहीं है कि उसका प्रोजेक्शन क्या हो रहा है! वह क्या प्रोजेक्ट कर रहा है!

मैंने सुना है, एक आदमी एक गांव में बहुत धनपति है। फिर गांव में लोग मरने लगे, अकाल पड़ा। तो लोगों ने उससे कहा, इतना धन है तुम्हारे पास, इतना धान्य है तुम्हारे पास, लोग मर रहे हैं, ऐसे क्षण पर रोको मत--बांटो। तो उस आदमी ने कहा, जिसे तुम बांटने के लिए कह रहे हो, वह अगर बंट जाए तो मैं मर जाऊं। तो लोग मर रहे हैं माना, लेकिन मैं मरना नहीं चाहता! यह तुम भी जानो। और लोग मर रहे हैं, तो दूसरे पैदा हो जाएंगे। लेकिन जो धन मैंने इकट्ठा किया है, वह दूसरा कहां से आ सकता है? लोग बड़े चकित हुए। कभी न सोचा था!

लेकिन उन्हें पता नहीं कि लोग उस आदमी के लिए छायाओं की तरह झूठे हैं; धन आत्मा की तरह सच्चा है। लोग हैं ही नहीं उसकी जीवन-परिधि में। उसके मन के घेरे में लोगों का कोई अस्तित्व नहीं है। वे प्रतिबिंब हैं। आते हैं, जाते हैं। धन बहुत वास्तविक है।

फिर उसकी पत्नी भी बीमार पड़ गई। गांवभर में लोग मर रहे हैं, बीमारियां फैल गईं। उसकी पत्नी बीमार पड़ गई, तो लोगों ने कहा, कम से कम अपनी पत्नी को दिखाने के लिए वैद्य को बुला लो! उसने कहा, पत्नी फिर भी मिल सकती है। लेकिन धन फिर भी मिलेगा, इसका आश्वासन है?

जिसके मन में धन का मोह है, हम नहीं समझ पाते उसकी भाषा। जैसे अर्जुन पूछ रहा है कि स्थितधी कैसी भाषा बोलता है? ऐसे ही मोहग्रस्त कैसी भाषा बोलता है, वह भी हम नहीं समझ सकते। मोहग्रस्त कैसे उठता, कैसे बैठता, हमारी पकड़ में नहीं आता। हां, अपने-अपने मोह को देखेंगे, तो पकड़ में आ सकता है। सबके मोह हैं। दूसरे का मोह हमारी समझ में नहीं आता, हमारा मोह ही हमारी समझ में आता है।

उसने कहा, पत्नी दूसरी मिल जाएगी। पत्नी मर गई। फिर तो वह खुद भी मरने के करीब आ गया। बीमारियां उसे भी पकड़ लीं। लोगों ने कहा, अब तो कम से कम अपने पर कृपा करो। अब तो तुम्हीं मरने के करीब हो! उसने कहा, धन न बचे और मैं बच जाऊं, ऐसे बचने से तो मर जाना ही बेहतर है। वह तो बड़ा दुखद है, वह तो बड़ा भयप्रद है कि धन न बचे और मैं बच जाऊं। कल्पना ही नहीं कर सकता धन के बिना मेरे होने की। हां, मेरे न होने की कल्पना कर सकता हूं। लेकिन धन के बिना मेरे होने की कल्पना नहीं कर सकता।

मोहग्रस्त आदमी ऐसी ही भाषा बोलता है। वह कहता है, यह स्त्री मुझे न मिली, तो मैं मर जाऊंगा। इस स्त्री के बिना होने की मैं कल्पना नहीं कर सकता। हां, अपने न होने की कल्पना कर सकता हूं। वही मोह, वह कहता है, ऐसा नहीं होगा... अगर मंत्री पद नहीं मिला, तो मर जाऊंगा। मंत्री पद के बिना अपने होने की कल्पना नहीं कर सकता। हां, अपने न होने की कल्पना कर सकता हूं। मोहग्रस्त की यही भाषा है।

फिर लोगों ने कहा, लेकिन तुम मर जाओगे, तो यह धन पड़ा रह जाएगा। इतने दिन बचाया है, फिर इसका क्या होगा? उसने कहा कि क्या तुम सोचते हो, मैं धन को पड़ा रहने दूंगा! मैं साथ ले जाऊंगा। लोगों ने कहा, अब तक सुना नहीं कि कोई धन को साथ ले गया हो! उसने कहा, सुन लेना, जब मैं ले जाऊंगा, तब तुम्हें पता चल जाएगा।

मोहग्रस्त मन की स्मृति खो जाती है; सोच-विचार खो जाता है; सहज विवेक खो जाता है। वह कह रहा है, मैं धन को भी साथ ले जाऊंगा! मोहग्रस्त आदमी कहता है, छोड़ूंगा ही नहीं, प्राण में समा लूंगा। अपना-अपना मोह!

एक मुख्यमंत्री को मैं जानता हूं एक प्रदेश के। जो मरने के एक साल पहले मुझसे ही कहे कि अब एक ही इच्छा है कि मुख्यमंत्री रहते हुए मरूं। मौत करीब दिखने लगी थी। बहुत बीमार थे। कहा कि बस अब एक ही इच्छा है कि मुख्यमंत्री रहते हुए मरूं। मैंने कहा, मरने का उतना भय नहीं, जितना मुख्यमंत्री पद के छूटने का भय है। मरते हुए भी कम से कम मुख्यमंत्री पद तो साथ चला जाए! मरे तो मुख्यमंत्री थे; साथ ले गए!

उस आदमी ने कहा, ले जाऊंगा साथ। और सच में एक रात उसने कोशिश की। मोहग्रस्त आदमी कोई भी कोशिश कर सकता है। उसकी स्मृति खो जाती है, उसका विवेक खो जाता है। रात उसने देखा कि शायद सुबह नहीं होगी। तो आधी रात वह उठा। उसने अपने सारे हीरे-जवाहरात, जो भी कीमती था, वह एक बोरी में बंद किया। लेकर नदी के किनारे पहुंचा। उसने सोचा कि अपने बोरे को कमर से बांधकर नदी में कूद जाऊं। आखिरी चेष्टा कि साथ ले जाऊं! लेकिन नदी गहरी है और अगर किनारे कूद पड़े, तो लाश तो किनारे लगी रह जाएगी। वह हीरे-जवाहरातों से भरा हुआ बोरा किनारे रह जाएगा। न मालूम कोई उसे उठा ले!

तो उसने नाविकों को जगाया। कहता हूं नाविकों को, एक नाविक के जगाने से काम चल जाता। पर नाविकों को जगाया, क्योंकि वह आदमी ठहराए बिना नहीं कर सकता था काम; उसे जाना था बीच नदी में। उसने मांझियों को जगाया और कहा कि सबसे कम में कौन ले जा सकता है? सबसे कम में! और वह आदमी मरने जा रहा है। यह सब धन लेकर डूब जाने वाला है। तो सबसे कम में कौन ले जा सकता है! ठहराया उसने। सबसे कम, छोटी से छोटी अशर्फी में जो राजी था, उस मल्लाह के साथ वह नदी में उतरा।

और आखिर जब बीच मझधार में पहुंच गया, तो उसने उस मल्लाह से कहा कि क्या एक मरते हुए आदमी की आखिरी इच्छा पूरी न करोगे? उसने कहा, क्या मतलब? कैसी आखिरी इच्छा? तो उसने कहा कि अगर तुम वह अशर्फी न मांगो, तो मैं शांति से मर जाऊं। पर एक मरते हुए आदमी की आखिरी इच्छा! इतनी दुष्टता करोगे कि एक मरते हुए आदमी की आखिरी इच्छा पूरी न करो?

गरीब मल्लाह उस मरते हुए आदमी की आखिरी इच्छा पूरी किया। वह धनपति शांति से कूद गया। ऐसे ही हम सब कूद जाते हैं, अपने-अपने मोह से भरी हुई मृत्यु में। मोह स्मृति को नष्ट कर देता है, विचार को छुड़ा देता है।

जहां स्मृति नष्ट होती है, कृष्ण कहते हैं, वहां बुद्धि भी नष्ट हो जाती है।

स्मृति और बुद्धि में फर्क है। स्मृति बुद्धि नहीं है, स्मृति बुद्धि की एक फैकल्टी है। स्मृति केवल बुद्धि का, कहना चाहिए, कोषागार है। स्मृति, कहना चाहिए, बुद्धि का संग्रहालय है, रिजर्वायर है। कहना चाहिए, स्मृति बुद्धि का अतीत है। बुद्धि ने जो-जो जाना है, वह स्मृति में संगृहीत कर दिया है। बुद्धि का अतीत है स्मृति, बुद्धि नहीं। स्मृति का अर्‌थ ही है, दि पास्ट, बीता हुआ।

लेकिन पहले अतीत भ्रष्ट होता है, तब वर्तमान भ्रष्ट होता है, तब भविष्य भ्रष्ट होता है। पहले उसका बोध क्षीण होता है, जो था। फिर उसका बोध क्षीण होता है, जो है। फिर उसका बोध क्षीण हो जाता है, जो होगा। स्वाभाविक। क्योंकि अतीत सबसे ज्यादा स्पष्ट है। जो हो चुका है, वह सबसे ज्यादा स्पष्ट है। जो हो रहा है, अभी धूमिल है। जो नहीं हुआ, अनिश्चित है। बुद्धि की पकड़ सबसे ज्यादा अतीत पर साफ होती है।

जो हो चुका, वह साफ होगा ही। सब रेखाएं पूरी हो गईं। घटनाएं घट चुकीं। जो होना था, उसने पूरा रूप ले लिया; वह आकृति बन गया। जो हो रहा है, अभी निराकार से आकार में आ रहा है। जो होगा, वह अभी निराकार है। जो भविष्य है, वह अव्यक्त है। जो वर्तमान है, वह व्यक्त होने की प्रक्रिया में है। जो अतीत है, वह व्यक्त हो गया है।

इसलिए जब पहला हमला होगा, तो स्मृति पर होगा। क्योंकि वही सबसे स्पष्ट है। सबसे पहले स्पष्ट डांवाडोल हो जाएगा। और जब स्पष्ट ही डांवाडोल हो जाएगा, तो अस्पष्ट के डांवाडोल होने में कितनी देर लगेगी! और जब अस्पष्ट ही डांवाडोल हो जाएगा, तो जो अभी निराकार है, उस पर तो सारी ही समझ छूट जाएगी। पहले अतीत नष्ट हो जाएगा, फिर वर्तमान, फिर भविष्य। पहले इतिहास विकृत हो जाएगा, फिर जीवन, और फिर संभावना।

कृष्ण एक-एक कदम, ठीक वैज्ञानिक कदम की बात कर रहे हैं, स्मृति नष्ट हो जाती है अर्जुन, फिर बुद्धि का नाश हो जाता है।

बुद्धि क्या है? और कृष्ण जिन अर्थों में बुद्धि का उपयोग करते हैं, वह क्या है? कृष्ण इंटलेक्ट के अर्थों में बुद्धि का उपयोग नहीं करते। इंटेलिजेंस के अर्थों में बुद्धि का उपयोग करते हैं। इसमें आपको... भाषाकोश में तो दोनों शब्दों का एक ही मतलब है। आप कहेंगे, बुद्धि, इंटलेक्ट और इंटेलिजेंस में क्या फर्क है?

बुद्धि का वह रूप जो एक्चुअलाइज हो गया है, इंटलेक्ट है। बुद्धि का वह रूप जो वास्तविक हो गया है, जिसका आप प्रयोग कर चुके, जो सक्रिय हो गया है, वह इंटलेक्ट है। कहें, बुद्धिमानी है। जो बुद्धि का रूप अभी भी निष्क्रिय पड़ा है, जो अभी सक्रिय नहीं हुआ, जो अभी पोटेंशियल में पड़ा है, बीज में पड़ा है, अभी रूपाकृत नहीं हुआ, रूपायित नहीं हुआ, जो अभी साकार नहीं हुआ, जो अभी वास्तविक नहीं हुआ--केवल संभावना है--

बुद्धि में, इंटेलिजेंस में वह भी सम्मिलित है। दि एक्चुअलाइज्ड इंटेलिजेंस इ.ज इंटलेक्ट। जो वास्तविक बन गई है बुद्धि, वह बुद्धिमानी है। और जो अभी वास्तविक नहीं बनी, वह भी बुद्धि के हिस्से में है।

तो आपकी बुद्धिमानी ही आपकी बुद्धि नहीं है, आपकी बुद्धि आपकी बुद्धिमानी से बड़ी चीज है। अगर आपकी बुद्धिमानी ही आपकी बुद्धि है, तो फिर आपमें विकास का कोई उपाय न बचेगा। बात खतम हो गई। बुद्धि का वर्तुल बड़ा है। बुद्धिमानी का वर्तुल बुद्धि के बड़े वर्तुल में छोटा है। वह बुद्धिमानी का वर्तुल बड़ा होता जाए, बड़ा होता जाए और किसी दिन बुद्धि के पूरे वर्तुल को छू ले, तो आदमी स्थितप्रज्ञ हो जाता है।

कृष्ण कहते हैं, बुद्धि विकृत हो जाती है।

बुद्धिमानी तो विकृत हो जाती है स्मृति के साथ ही। क्योंकि बुद्धिमानी यानी स्मृति; नालेज यानी मेमोरी। नोइंग यानी बुद्धि, जानने की क्षमता यानी बुद्धि। जानने की क्षमता जितनी सक्रिय हो गई, यानी बुद्धिमानी। जो जान लिया, वह बुद्धिमानी; और जो जानने की शक्ति है भीतर, वह बुद्धि। बुद्धि सदा जानने की शक्ति से बड़ी है। जानने की वास्तविकता से बड़ी क्षमता है।

स्मृति पहले विकृत हो जाती है। स्मृति अर्थात इंटलेक्ट विकृत हो गई। और फिर, कृष्ण कहते हैं, वह जो अव्यक्त में पड़ी बुद्धि है, उस तक भी डांवाडोल भंवर पहुंचने लगते हैं। वह जो गहरे में छिपी प्रज्ञा है, वह भी कंपित होने लगती है। क्योंकि जब स्मृति की आधारशिलाएं गिर जाती हैं, तो उसके ऊपर अव्यक्त का जो भवन है, शिखर है, वे भी कंपने लगते हैं। वह अंतिम पतन है। और जब बुद्धि-नाश हो जाता है, तो सब खो जाता है।

कृष्ण कहते हैं, अर्जुन, जब बुद्धि-नाश हो जाता है, तो सब खो जाता है। फिर कुछ भी बचता नहीं। वह आदमी की परम दीनता है, बैंक्रप्सी, दिवालियापन है। वहां आदमी बिल्कुल दिवालिया हो जाता है--धन खोकर नहीं, स्वयं को ही खो देता है। फिर उसके पास कुछ बचता ही नहीं। वह बिल्कुल ही नकार हो जाता है। ना-कुछ हो जाता है। उसका सब ही खो जाता है। यही दीनता है, यही दरिद्रता है। अगर अध्यात्म के अर्थों में समझें, तो ऐसी स्थिति स्प्रिचुअल पावर्टी है; ऐसी स्थिति आध्यात्मिक दारिद्र्य है।

लेकिन हम भौतिक दारिद्र्य से बहुत डरते हैं, आध्यात्मिक दारिद्र्य से जरा भी नहीं डरते। हम बहुत डरते हैं कि एक पैसा न खो जाए। आत्मा खो जाए--हम नहीं डरते। हम बहुत डरते हैं कि कोट न खो जाए, कमीज न खो जाए। लेकिन जिसने कोट और कमीज पहना है, वह खो जाए--हमें जरा भी फिक्र नहीं। कोट और कमीज बच जाए, बस बहुत है। वस्तुओं को बचा लेते हैं, स्वयं को खो देते हैं।

खोने की जो प्रक्रिया कृष्ण ने कही, वह बहुत ही मनोवैज्ञानिक है। अभी पश्चिम का मनोविज्ञान या आधुनिक मनोविज्ञान इतने गहरे नहीं जा सका है। जाएगा, कदम उठने शुरू हो गए हैं, लेकिन इतने गहरे नहीं जा सका है। अभी पश्चिम का मनोविज्ञान काम के आस-पास ही भटक रहा है, सेक्स के आस-पास ही भटक रहा है।

अभी पश्चिम का चाहे फ्रायड हो और चाहे कोई और हो, अभी पहले वर्तुल पर ही भटक रहे हैं, जहां काम है। अभी उन्हें पता नहीं है कि काम के बाद और गहरे में क्रोध है, क्रोध के बाद और गहरे में मोह है, मोह के और गहरे में स्मृति-नाश है, स्मृति-नाश के और गहरे में बुद्धि का दिवालियापन है, बुद्धि के दिवालियापन के और गहरे में स्वयं का पूर्णतया नकार हो जाना है।

रागद्वेषवियुक्तैस्तु विषयानिन्द्रियैश्चरन्।
आत्मवश्यैर्विधेयात्मा प्रसादमधिगच्छति।। 64।।

परंतु, स्वाधीन अंतःकरण वाला पुरुष राग-द्वेष से रहित, अपने वश में की हुई इंद्रियों द्वारा विषयों को भोगता हुआ प्रसाद अर्थात अंतःकरण की प्रसन्नता को प्राप्त होता है।

ठीक इसके विपरीत--पतन की जो कहानी थी, ठीक इसके विपरीत--राग-द्वेष से मुक्त, कामना के पार, स्वयं में ठहरा, स्वायत्त। स्वयं को खो चुका; और स्वयं में ठहरा। अभी जो कहानी हमने समझी, अभी जो कथा हमने समझी, अभी जो यात्रा हमने देखी, वह स्वयं को खोने की। और स्वयं को कैसे खोता है सीढ़ी-सीढ़ी आदमी, वह हमने देखा। स्वयं से कैसे रिक्त और शून्य हो जाता है। स्वयं से कैसे बाहर, और बाहर, और दूर हो जाता है। कैसे स्वयं को खोकर पर में ही आयत्त हो जाता है, पर में ही ठहर जाता है।

जिसको मैंने कहा, आध्यात्मिक दिवालियापन, स्प्रिचुअल बैंक्रप्सी, उसका मतलब है, पर में आयत्त हुआ पुरुष। यह जो पूरी की पूरी यात्रा थी, पर में आयत्त होने से शुरू हुई थी। देखा था राह पर किसी स्त्री को, देखा था किसी भवन को, देखा था किसी पुरुष को, देखा था चमकता हुआ सोना, देखा था सूरज में झलकता हुआ हीरा--पर, दि अदर, कहीं पर में आकर्षित चित्त पर की खोज पर निकला था। चिंतन किया था, चाह की थी, बाधाएं पाई थीं, क्रोधित हुआ था, मोहग्रस्त बना था, स्मृति को खोया था, बुद्धि के नाश को उपलब्ध हुआ था। पर-आयत्त, दूसरे में--दि अदर ओरिएंटेड। मनोविज्ञान जो शब्द उपयोग करेगा, वह है, दि अदर ओरिएंटेड।

तो बड़ी मजे की बात है कि कृष्ण ने स्वायत्त, सेल्फ ओरिएंटेड शब्द का उपयोग किया है। पर-आयत्त, दूसरे की तरफ बहता हुआ पुरुष, दूसरे को केंद्र मानकर जीता हुआ पुरुष। इस पुरुष शब्द को थोड़ा समझें, तो इस पर-आयत्त और स्वायत्त होने को समझा जा सकता है।

शायद कभी ख्याल न किया हो कि यह पुरुष शब्द क्या है! सांख्य का शब्द है पुरुष। गांव को हम कहते हैं पुर--नागपुर, कानपुर--गांव को हम कहते हैं पुर। सांख्य कहता है, पुर के भीतर जो छिपा है, वह पुरुष, पुर में रहने वाला। शरीर है पुर। कहेंगे, इतना छोटा-सा शरीर पुर! बहुत बड़ा है, छोटा नहीं है। बहुत बड़ा है। कानपुर की कितनी आबादी है? पांच लाख, छः लाख, सात लाख होगी। शरीर की कितनी आबादी है? सात करोड़। सात करोड़ जीवाणु रहते हैं शरीर में। छोटा पुर नहीं है, सात करोड़ जीवित सेल हैं शरीर में। अभी तक दुनिया में कोई पुर इतना बड़ा नहीं है। लंदन की आबादी एक करोड़, टोकियो की सवा करोड़, कलकत्ता की अस्सी लाख, बंबई की साठ।

अभी मनुष्य के शरीर के बराबर पुर पृथ्वी पर बना नहीं है। सात करोड़! क्या इससे कोई फर्क पड़ता है कि छोटे-छोटे प्राणी रहते हैं। छोटा कौन है? बड़ा कौन है? सब रिलेटिव मामला है। आदमी कोई बहुत बड़ा प्राणी है? हाथी से पूछें, ऊंट से पूछें, तो बहुत छोटा प्राणी है। तो ये ऊंट या हाथी क्या कोई बहुत बड़े प्राणी हैं? पृथ्वी से पूछें, हिमालय से पूछें... ।

सोचते होंगे शायद, हिमालय में कोई प्राण नहीं हैं। तो गलत सोचते हैं। हिमालय अभी भी बढ़ रहा है, अभी भी ग्रोथ है, अभी भी बड़ा हो रहा है। हिमालय अभी भी जवान है। सतपुड़ा और विंध्याचल बूढ़े हैं, अब बढ़ते नहीं हैं। अब सिर्फ थकते हैं और झुक रहे हैं। हिमालय अभी भी बढ़ रहा है। हिमालय की उम्र भी बहुत कम है, सबसे नया पहाड़ है। सब पुराने पहाड़ हैं। विंध्या सबसे ज्यादा पुराना पहाड़ है। सबसे पहले पृथ्वी पर विंध्या पैदा हुआ। बूढ़े से बूढ़ा पर्वत है। अब उसकी ग्रोथ बिल्कुल रुक गई है। अब वह बढ़ता नहीं है। अब वह थक रहा है, टूट रहा है, झुक रहा है, कमर उसकी आड़ी हो गई है। हमारे पास कहानी है, उसकी कमर के आड़े होने की।

अगस्त्य की कथा है, कि मुनि गए हैं दक्षिण और कह गए हैं कि झुका रहना, जब तक मैं लौटूं न। फिर वे नहीं लौटे। कर्म आदमी के हाथ में है, फल आदमी के हाथ में नहीं है। लौटना मुनि का नहीं हो सका। फिर वह बेचारा झुका है। पर यह जियोलाजिकल फैक्ट भी है, यह पुराण कथा ही नहीं है। विंध्या झुक गया है और अब उसमें विकास नहीं है; बूढ़ा है। हिमालय बच्चा है।

हिमालय से पूछें, ऊंट, हाथी! वह कहेगा, बहुत छोटे प्राणी हैं। खुर्दबीन से देखूं तब दिखाई पड़ते हैं, नहीं तो नहीं दिखाई पड़ते। पृथ्वी से पूछें कि हिमालय की कुछ खबर है! वह कहेगी, ऐसे कई हिमालय पैदा हुए, आए और गए। सब मेरे बेटे हैं, मुझ में आते हैं, समा जाते हैं। धरित्री--वह मां है। लेकिन पृथ्वी कोई बहुत बड़ा प्राण रखती है! तो सूरज से पूछें। सूरज साठ लाख गुना बड़ा है पृथ्वी से। उसे दिखाई भी नहीं पड़ती होगी पृथ्वी। साठ लाख गुने बड़े को कैसे दिखाई पड़ेगी?

पर सूरज कोई बहुत बड़ा है? मत इस ख्याल में पड़ना। बहुत मीडियाकर स्टार है, बहुत मध्यमवर्गीय है। उससे बहुत बड़े सूर्य हैं, उससे करोड़ और अरब गुने बड़े सूर्य हैं। ये जो रात को तारे दिखाई पड़ते हैं, ये सब सूर्य हैं। छोटे-छोटे दिखाई पड़ते हैं, क्योंकि बहुत दूर हैं। ये छोटे होने की वजह से छोटे नहीं दिखाई पड़ते। ये बहुत दूर हैं, इसलिए छोटे दिखाई पड़ते हैं। बहुत बड़े-बड़े महासूर्य हैं, जिनसे पूछें कि हमारा भी एक सूर्य है! तो वे कहेंगे कि है, पर बहुत गरीब है, छोटा है। किसी गिनती में नहीं आता। कोई वी.आई.पी. नहीं है!

लेकिन वे महासूर्य, जो इस सूर्य से भी अरबों गुने बड़े हैं, वे भी क्या बहुत बड़े हैं? तो पूरे जगत से पूछें। तो अब तक वैज्ञानिक कहते हैं कि चार अरब सूर्यों का हमें पता चला है। मगर वह अंत नहीं है। उसके पार भी, उसके पार भी, बियांड एंड बियांड--कुछ अंत नहीं है। यहां कौन छोटा, कौन बड़ा! सब छोटा-बड़ा रिलेटिव है।

आपके शरीर में जो जीवाणु हैं, वे भी छोटे नहीं हैं, आप भी बड़े नहीं हैं। सात करोड़ की एक शरीर में बसी हुई बस्ती! और आप सोचते हों कि इन सात करोड़ जीवाणुओं को आपका कोई भी पता है, इनका आपको कोई भी पता है--तो नहीं है। आपको इनका पता नहीं है, इनको आपका पता नहीं है। उनको भी आपका पता नहीं है कि आप हैं। आप जब नहीं होंगे इस शरीर में, तब भी उनमें से बहुत-से जीवाणु जीए चले जाएंगे। मर जाने के बाद भी! आप मरते हैं, वे नहीं मरते। उनमें जो अमीबा हैं, बहुत छोटे हैं, वे तो मरते ही नहीं। उनकी लाखों साल की उम्र है। अगर उम्र के हिसाब से सोचें, तो आप छोटे हैं, वे बड़े हैं।

कब्रिस्तान में दबे हुए आदमी के भी नाखून और बाल बढ़ते रहते हैं। क्योंकि बाल और नाखून बनाने वाले जो जीवाणु हैं, वे आपके साथ नहीं मरते। वे अपना काम जारी रखते हैं। उनको पता ही नहीं पड़ता कि आप मर गए। वे नाखून और बाल को बढ़ाए चले जाते हैं। और जब आप मरते हैं, तो सात करोड़ कीटाणुओं की संख्या में कमी नहीं होती है और बढ़ती हो जाती है। आपके मरने से जगह खाली हो जाती है और हजारों कीटाणु प्रवेश कर जाते हैं। जिसको आप सड़ना कहते हैं, डिटेरियोरेशन, वह आपके लिए होगा; नए कीटाणुओं के लिए तो जीवन है।

यह पुर, इसमें जो बीच में बसा है इस नगर के, वह पुरुष। यह पुरुष दो तरह से हो सकता हैः पर-आयत्त हो सकता है, स्वायत्त हो सकता है। जब यह वासनाग्रस्त होता है, तो यह दूसरे को केंद्र बनाकर घूमने लगता है। सैटेलाइट हो जाता है।

जैसे चांद है। चांद सैटेलाइट है। वह जमीन को केंद्र बनाकर घूमता है। जमीन भी सैटेलाइट है, वह सूर्य को केंद्र बनाकर घूमती है। सूर्य भी सैटेलाइट है, वह किसी महासूर्य को केंद्र बनाकर घूमता है। सब अदर ओरिएंटेड हैं।

लेकिन उन्हें माफ किया जा सकता है, क्योंकि उनकी चेतना इतनी नहीं कि वे जान सकें कि क्या अदर और क्या सेल्फ; क्या स्वयं और क्या पर। आदमी को माफ नहीं किया जा सकता, वह जानता है। पति पत्नी का सैटेलाइट है, पत्नी के आस-पास घूम रहा है। कभी छोटा वर्तुल बनाता है, कभी बड़ा वर्तुल बनाता है, लेकिन पत्नी के आस-पास घूम रहा है। पत्नी पति की सैटेलाइट है। वह उसके आस-पास घूम रही है। कोई धन के आस-पास घूम रहा है, कोई काम के आस-पास घूम रहा है, कोई पद के आस-पास घूम रहा है--सैटेलाइट, पर-आयत्त। दूसरा केंद्र है, हम तो सिर्फ परिधि पर घूम रहे हैं--यही दिवालियापन है।

लेकिन हम अपने केंद्र स्वयं हैं, किसी के आस-पास नहीं घूम रहे हैं, तो आदमी स्वायत्त है। यही सम्राट होना है। यही स्प्रिचुअल रिचनेस है। जिसको जीसस ने किंगडम आफ गाड, परमात्मा का साम्राज्य कहा, उसको कृष्ण कह रहे हैं, स्वायत्त हुआ पुरुष परम आनंद को उपलब्ध हो जाता है। क्योंकि पर-आयत्त हुआ पुरुष परम दुख को उपलब्ध हो जाता है। दुख यानी पर-आयत्त होना, आनंद यानी स्वायत्त होना।

ये सब समाधिस्थ व्यक्ति की तरफ ही वे इशारे करते जा रहे हैं अर्जुन को। सब दिशाओं से, अनेक-अनेक जगहों से वे इशारे कर रहे हैं कि समाधिस्थ पुरुष यानी क्या। वह जो सवाल पूछ लिया था अर्जुन ने, हो सकता है, वह खुद भी भूल गया हो कि उसने क्या सवाल पूछा था। लेकिन कृष्ण उसके सवाल को समस्त दिशाओं से ले रहे हैं। कहीं से भी उसकी समझ में आ जाए।

तो वे यह कह रहे हैं कि जो स्वयं ही अपना केंद्र बन गया, जिसका अब कोई पर केंद्र नहीं है, ऐसा पुरुष परम ज्ञान को, परम शांति को, परम आनंद को उपलब्ध हो जाता है।

अभी इतना। फिर शेष सांझ हम बात करेंगे।

अठारहवां प्रवचन

विषाद की खाई से ब्राह्मी-स्थिति के शिखर तक

प्रसादे सर्वदुःखानां हानिरस्योपजायते।

प्रसन्नचेतसो ह्याशु बुद्धिः पर्यवतिष्ठते।। 65।।

उस निर्मलता के होने पर इसके संपूर्ण दुखों का अभाव हो जाता है और उस प्रसन्नचित्त वाले पुरुष की बुद्धि शीघ्र ही अच्छी प्रकार स्थिर हो जाती है।

विक्षेपरहित चित्त में शुद्ध अंतःकरण फलित होता है? या शुद्ध अंतःकरण विक्षेपरहित चित्त बन जाता है? कृष्ण जो कह रहे हैं, वह हमारी साधारण साधना की समझ के बिल्कुल विपरीत है। साधारणतः हम सोचते हैं कि विक्षेप अलग हों, तो अंतःकरण शुद्ध होगा। कृष्ण कह रहे हैं, अंतःकरण शुद्ध हो, तो विक्षेप अलग हो जाते हैं।

यह बात ठीक से न समझी जाए, तो बड़ी भ्रांतियां जन्मों-जन्मों के व्यर्थ के चक्कर में ले जा सकती हैं। ठीक से काज और इफेक्ट, क्या कारण बनता है और क्या परिणाम, इसे समझ लेना ही विज्ञान है। बाहर के जगत में भी, भीतर के जगत में भी। जो कार्य-कारण की व्यवस्था को ठीक से नहीं समझ पाता और कार्यों को कारण समझ लेता है और कारणों को कार्य बना लेता है, वह अपने हाथ से ही, अपने हाथ से ही अपने को गलत करता है। वह अपने हाथ से ही अपने को अनबन करता है।

किसान गेहूं बोता है, तो फसल आती है। गेहूं के साथ भूसा भी आता है। लेकिन भूसे को अगर बो दिया जाए, तो भूसे के साथ गेहूं नहीं आता। ऐसे किसान सोच सकता है कि जब गेहूं के साथ भूसा आता है, तो उलटा क्यों नहीं हो सकता है! भूसे को बो दें, तो गेहूं साथ आ जाए--वाइस-वरसा क्यों नहीं हो सकता? लेकिन भूसा बोने से सिर्फ भूसा सड़ जाएगा, गेहूं तो आएगा ही नहीं, हाथ का भूसा भी जाएगा। भूसा आता है गेहूं के साथ, गेहूं भूसे के साथ नहीं आता है।

अंतःकरण शुद्ध हो, तो चित्त के विक्षेप सब खो जाते हैं, विक्षिप्तता खो जाती है। लेकिन चित्त की विक्षिप्तता को कोई खोने में लग जाए, तो अंतःकरण तो शुद्ध होता नहीं, चित्त की विक्षिप्तता और बढ़ जाती है।

जो आदमी अशांत है, अगर वह शांत होने की चेष्टा में और लग जाए, तो अशांति सिर्फ दुगुनी हो जाती है। अशांति तो होती ही है, अब शांत न होने की अशांति भी पीड़ा देती है। लेकिन अंतःकरण कैसे शुद्ध हो जाए? पूछा जा सकता है कि अंतःकरण शुद्ध कैसे हो जाएगा? जब तक विचार आ रहे, विक्षेप आ रहे, विक्षिप्तता आ रही, विकृतियां आ रहीं, तब तक अंतःकरण शुद्ध कैसे हो जाएगा? कृष्ण अंतःकरण शुद्ध होने को पहले रखते हैं, पर वह होगा कैसे?

यहां सांख्य का जो गहरा से गहरा सूत्र है, वह आपको स्मरण दिलाना जरूरी है। सांख्य का गहरा से गहरा सूत्र यह है कि अंतःकरण शुद्ध है ही। कैसे हो जाएगा, यह पूछता ही वह है, जिसे अंतःकरण का पता नहीं है। जो पूछता है, कैसे हो जाएगा शुद्ध? उसने एक बात तो मान ली कि अंतःकरण अशुद्ध है।

आपने अंतःकरण को कभी जाना है? बिना जाने मान रहे हैं कि अंतःकरण अशुद्ध है और उसको शुद्ध करने में लगे हैं। अगर अंतःकरण अशुद्ध नहीं है, तो आपके शुद्ध करने की सारी चेष्टा व्यर्थ ही हो रही है। और यह चेष्टा

जितनी असफल होगी--सफल तो हो नहीं सकती, क्योंकि जो शुद्ध है, वह शुद्ध किया नहीं जा सकता; लेकिन जो शुद्ध है, उसे शुद्ध करने की चेष्टा असफल होगी--असफलता दुख लाएगी, असफलता विषाद लाएगी, असफलता दीनता-हीनता लाएगी, असफलता हारापन, फ्रस्ट्रेशन लाएगी। और बार-बार असफल होकर आप यह कहेंगे, अंतःकरण शुद्ध नहीं होता, अशुद्धि बहुत गहरी है। आप जो निष्कर्ष निकालेंगे, निष्पत्ति निकालेंगे, वह बिल्कुल ही उलटी होगी।

एक घर में अंधेरा है। तलवारें लेकर हम घर में घुस जाएं और अंधेरे को बाहर निकालने की कोशिश करें। तलवारें चलाएं, अंधेरे को काटें-पीटें। अंधेरा बाहर नहीं निकलेगा। थक जाएंगे, हार जाएंगे, जिंदगी गंवा देंगे, अंधेरा बाहर नहीं निकलेगा। क्यों? तो शायद सारी मेहनत करने के बाद हम बैठकर सोचें कि अंधेरा बहुत शक्तिशाली है, इसलिए बाहर नहीं निकलता।

तर्क अनेक बार ऐसे गलत निष्कर्षों में ले जाता है, जो ठीक दिखाई पड़ते हैं; यही उनका खतरा है। अब यह बिल्कुल ठीक दिखाई पड़ता है कि इतनी मेहनत की और अंधेरा नहीं निकला, तो इसका मतलब साफ है कि मेहनत कम पड़ रही है, अंधेरा ज्यादा शक्तिशाली है। सचाई उलटी है। अगर अंधेरा शक्तिशाली हो, तब तो किसी तरह उसे निकाला जा सकता है। शक्ति को निकालने के लिए बड़ी शक्ति ईजाद की जा सकती है।

अंधेरा है ही नहीं; यही उसकी शक्ति है। वह है ही नहीं, इसलिए आप उसको शक्ति से निकाल नहीं सकते। वह नान- एक्झिस्टेंशियल है, उसका कोई अस्तित्व ही नहीं है। और जिसका अस्तित्व नहीं है, उसे तलवार से न काटा जा सकता है, न धक्के से निकाला जा सकता है। असल में अंधेरा सिर्फ एब्सेंस है किसी चीज की, अंधेरा अपने में कुछ भी नहीं है। अंधेरा सिर्फ अनुपस्थिति है प्रकाश की; बस।

इसलिए आप अंधेरे के साथ सीधा कुछ भी नहीं कर सकते हैं। और अंधेरे के साथ कुछ भी करना हो, तो प्रकाश के साथ कुछ करना पड़ता है। प्रकाश जलाएं, तो अंधेरा नहीं होता। प्रकाश बुझाएं, तो अंधेरा हो जाता है। सीधा अंधेरे के साथ कुछ भी नहीं किया जा सकता है, क्योंकि अंधेरा नहीं है। और जो नहीं है, उसके साथ जो सीधा कुछ करने में लग जाएगा, वह अपने जीवन को ऐसे उलझाव में डाल देता है, जिसके बाहर कोई भी मार्ग नहीं होता। वह एब्सर्डिटी में पड़ जाता है।

अंतःकरण अगर शुद्ध है, तो अंतःकरण को शुद्ध करने की सब चेष्टा खतरनाक है; अंधेरे को निकालने जैसी चेष्टा है। क्योंकि जो नहीं है अशुद्धि, उसे निकालेंगे कैसे? सांख्य कहता है, अंतःकरण अशुद्ध नहीं है। और अगर अंतःकरण भी अशुद्ध हो सकता है, तो इस जगत में फिर शुद्धि का कोई उपाय नहीं है। फिर शुद्ध कौन करेगा? क्योंकि जो शुद्ध कर सकता था, वह अशुद्ध हो गया है।

अंतःकरण अशुद्ध नहीं है। अगर ठीक से समझें, तो अंतःकरण ही शुद्धि है--दि वेरी प्योरीफिकेशन, दि वेरी प्योरिटी। अंतःकरण शुद्ध ही है। लेकिन अंतःकरण का हमें कोई पता नहीं है कि क्या है। आप किस चीज को अंतःकरण जानते हैं?

अंग्रेजी में एक शब्द है, कांशिएंस। और गीता के जिन्होंने भी अनुवाद किए हैं, उन्होंने अंतःकरण का अर्थ कांशिएंस किया है। उससे गलत कोई अनुवाद नहीं हो सकता। कांशिएंस अंतःकरण नहीं है। कांशिएंस अंतःकरण का धोखा है। इसे थोड़ा समझ लेना जरूरी होगा, क्योंकि वह बहुत गहरे, रूट्स में बैठ गई भ्रांति है सारे जगत में।

जहां भी गीता पढ़ी जाती है, वहां अंतःकरण का अर्थ कांशिएंस कर लिया जाता है। हम भी अंतःकरण से जो मतलब लेते हैं, वह क्या है? आप चोरी करने जा रहे हैं। भीतर से कोई कहता है, चोरी मत करो, चोरी बुरी

है। आप कहते हैं, अंतःकरण बोल रहा है। यह कांशिएंस है, अंतःकरण नहीं। यह सिर्फ समाज के द्वारा डाली गई धारणा है, अंतःकरण नहीं। क्योंकि अगर समाज चोरों का हो, तो ऐसा नहीं होगा। ऐसे समाज हैं।

जाट हैं। तो जाट लड़के की शादी नहीं होती, जब तक वह दो-चार चोरियां न कर ले। जाट का लड़का जब चोरी करने जाता है, तो कभी उसके मन में नहीं आता कि बुरा कर रहा है। अंतःकरण उसके पास भी है, आपके पास ही नहीं है। लेकिन सोशल जो बिल्ट-इन आपके भीतर डाली गई धारणा है, वह उसके पास नहीं है।

मेरे एक मित्र पख्तून इलाके में घूमने गए थे। तो पेशावर में उन्हें मित्रों ने कहा कि पख्तून इलाके में जा रहे हैं, जरा सम्हलकर बैठना। जीप तो ले जा रहे हैं, लेकिन होशियारी रखना। उन्होंने कहा, क्या, खतरा क्या है? हमारे पास कुछ है नहीं लूटने को। उन्होंने कहा कि नहीं, यह खतरा नहीं है। खतरा यह है कि पख्तून लड़के अक्सर सड़कों पर निशाना सीखने के लिए लोगों को गोली मार देते हैं--निशाना सीखने के लिए; दुश्मन को नहीं! पख्तून लड़के निशाना सीखने के लिए सड़क के किनारे से चलती हुई कार में गोली मारकर देखते हैं कि निशाना लगा कि नहीं। मित्र तो बहुत घबड़ा गए। उन्होंने कहा कि आप क्या कहते हैं, निशाना लगाने के लिए! तो क्या उनके पास कोई अंतःकरण नहीं है?

अंतःकरण तो पख्तून के पास भी है। अंतःकरण किसी की बपौती नहीं है। लेकिन पख्तून के पास, जिसको हिंसा-अहिंसा का सामाजिक बोध कहते हैं, उसे डालने का कोई बचपन से प्रयास नहीं किया गया है।

एक हिंदू को कहें कि चचेरी बहन से शादी कर ले, तो उसका अंतःकरण इनकार करता है, मुसलमान का नहीं करता। कारण यह नहीं है कि मुसलमान के पास अंतःकरण नहीं है। सिर्फ चचेरी बहन से शादी करने की धारणा का भेद है। वह समाज देता है। वह अंतःकरण नहीं है।

समाज ने एक इंतजाम किया है, बाहर अदालत बनाई है और भीतर भी एक अदालत बनाई है। समाज ने पुख्ता इंतजाम किया है कि बाहर से वह कहता है कि चोरी करना बुरा है; वहां पुलिस है, अदालत है। लेकिन इतना काफी नहीं है, क्योंकि भीतर भी एक पुलिसवाला होना चाहिए, जो पूरे वक्त कहता रहे कि चोरी करना बुरा है। क्योंकि बाहर के पुलिसवाले को धोखा दिया जा सकता है। उस हालत में भीतर का पुलिसवाला काम पड़ सकता है।

कांशिएंस अंग्रेजी का जो शब्द है, उसको हमें कहना चाहिए अंतस-चेतन, अंतःकरण नहीं। सांख्य का अंतःकरण, बात ही और है। अंतःकरण को अगर अंग्रेजी में अनुवादित करना हो, तो कांशिएंस शब्द नहीं है। अंग्रेजी में कोई शब्द नहीं है ठीक। क्योंकि अंतःकरण का मतलब होता है, दि इनरमोस्ट इंस्ट्रूमेंट, अंतरतम उपकरण, अंतरतम--जहां तक अंतस में जाया जा सकता है भीतर--वह जो आखिरी है भीतर, वही अंतःकरण है। इसका मतलब क्या हुआ? इसका मतलब आत्मा नहीं।

अब यह बड़े मजे की बात है, अंतःकरण का मतलब आत्मा नहीं है। क्योंकि आत्मा तो वह है, जो बाहर और भीतर दोनों में नहीं है, दोनों के बाहर है। अंतःकरण वह है, आत्मा के निकटतम जो उपकरण है, जिसके द्वारा हम बाहर से जुड़ते हैं।

समझ लें कि आत्मा के पास एक दर्पण है, जिसमें आत्मा प्रतिफलित होती है, वह अंतःकरण है, निकटतम। आत्मा में पहुंचने के लिए अंतःकरण आखिरी सीढ़ी है। और अंतःकरण आत्मा के इतने निकट है कि अशुद्ध नहीं हो सकता। आत्मा की यह निकटता ही उसकी शुद्धि है।

यह अंतःकरण कांशिएंस नहीं है, जो हमारे भीतर, जब हम सड़क पर चलते हैं और बाएं न चलकर दाएं चल रहे हों, तो भीतर से कोई कहता है कि दाएं चलना ठीक नहीं है, बाएं चलना ठीक है। यह अंतःकरण नहीं

है। यह केवल सामाजिक आंतरिक व्यवस्था है। यह अंतस-चेतन है, जो समाज ने इंतजाम किया है, ताकि आपको व्यवस्था और अनुशासन दिया जा सके।

समाज अलग होते हैं, व्यवस्था अलग हो जाती है। अमेरिका में चलते हैं, तो बाएं चलने की जरूरत नहीं है। वहां अंतःकरण-- जिसको हम अंतःकरण कहते हैं--वह कहता है, दाएं चलो, बाएं मत चलना। क्योंकि नियम बाएं चलने का नहीं है, दाएं चलने का है। सामाजिक व्यवस्था की जो आंतरिक धारणाएं हैं, वे अंतःकरण नहीं हैं।

तो अंतःकरण का हमें पता ही नहीं है, इसका मतलब यह हुआ। हम जिसे अंतःकरण समझ रहे हैं, वह बिल्कुल ही भ्रांत है। अंतःकरण नैतिक धारणा का नाम नहीं है, अंतःकरण मारैलिटी नहीं है। क्योंकि मारैलिटी हजार तरह की होती हैं, अंतःकरण एक ही तरह का होता है। हिंदू की नैतिकता अलग है, मुसलमान की नैतिकता अलग, जैन की नैतिकता अलग, ईसाई की नैतिकता अलग, अफ्रीकन की अलग, चीनी की अलग। नैतिकताएं हजार हैं, अंतःकरण एक है।

अंतःकरण शुद्ध ही है। आत्मा के इतने निकट रहकर कोई चीज अशुद्ध नहीं हो सकती। जितनी दूर होती है आत्मा से, उतनी अशुद्ध की संभावना बढ़ती है। अगर ठीक से समझें, मोर दि डिस्टेंस, मोर दि इंप्योरिटी। जैसे एक दीया जल रहा है यहां; दीए की बत्ती जल रही है। बत्ती के बिल्कुल पास रोशनी का वर्तुल है, वह शुद्धतम है। फिर बत्ती की रोशनी आगे गई; फिर धूल है, हवा है, और रोशनी अशुद्ध हुई। फिर और दूर गई, फिर और अशुद्ध हुई; फिर और दूर गई, फिर और अशुद्ध हुई। और थोड़ी दूर जाकर हम देखते हैं कि रोशनी नहीं है, अंधेरा है। एक-एक कदम रोशनी जा रही है और अंधेरे में डूबती जा रही है।

शरीर तक आते-आते सब चीजें अशुद्ध हो जाती हैं; आत्मा तक जाते-जाते सब शुद्ध हो जाती हैं। शरीर के निकटतम इंद्रियां हैं। इंद्रियों के निकटतम अंतस-इंद्रियां हैं। अंतस-इंद्रियों के निकटतम स्मृति है। स्मृति के निकटतम बुद्धि है--प्रायोगिक। प्रायोगिक, एप्लाइड इंटलेक्ट के निकटतम अप्रायोगिक बुद्धि है। अप्रायोगिक बुद्धि के नीचे अंतःकरण है। अंतःकरण के नीचे आत्मा है। आत्मा के नीचे परमात्मा है।

ऐसा अगर ख्याल में आ जाए, तो सांख्य कहता है कि अंतःकरण शुद्ध ही है। वह कभी अशुद्ध हुआ नहीं। लेकिन हमने अंतःकरण को जाना नहीं है, इसलिए लोग पूछते, अंतःकरण कैसे शुद्ध हो? अंतःकरण शुद्ध नहीं किया जा सकता। करेगा कौन? और जो शुद्ध है ही, वह शुद्ध कैसे किया जा सकता है? पर जाना जा सकता है कि शुद्ध है। कैसे जाना जा सकता है?

एक ही रास्ता है--पीछे हटें, पीछे हटें, अपने को पीछे हटाएं, अपनी चेतना को सिकोड़ें, जैसे कछुआ अपने अंगों को सिकोड़ लेता है। शरीर को भूलें, इंद्रियों को भूलें। छोड़ें बाहर की परिधि को, और भीतर चलें। अंतस-इंद्रियों को छोड़ें, और भीतर चलें। स्मृति को छोड़ें, और भीतर चलें। भीतर याद आ रही है, शब्द आ रहे हैं, विचार आ रहे हैं, स्मृति आ रही है। छोड़ें; कहें कि यह भी मैं नहीं हूं। कहें कि नेति-नेति, यह भी मैं नहीं हूं। हैं भी नहीं, क्योंकि जो देख रहा है भीतर कि यह स्मृति से विचार आ रहा है, वह अन्य है, वह भिन्न है, वह पृथक है। जानें कि यह मैं नहीं हूं। आप मुझे दिखाई पड़ रहे हैं। निश्चित ही, आप मुझे दिखाई पड़ रहे हैं, पक्का हो गया कि मैं आप नहीं हूं। नहीं तो देखेगा कौन आपको? देखने वाला और दिखाई पड़ने वाला भिन्न हैं, दृश्य और द्रष्टा भिन्न हैं।

यह सांख्य का मौलिक साधना-सूत्र है, दृश्य और द्रष्टा भिन्न हैं। फिर सांख्य की सारी साधना इसी भिन्नता के ऊपर गहरे उतरती है। फिर सांख्य कहता है, जो भी चीज दिखाई पड़ने लगे, समझना कि इससे भिन्न हूं।

भीतर से देखें, शरीर दिखाई पड़ता है। और भीतर देखें, हृदय की धड़कन सुनाई पड़ती है। आप भिन्न हैं। और भीतर देखें, विचार दिखाई पड़ते हैं। आप भिन्न हैं। और भीतर देखें, और भीतर देखें, समाज की धारणाएं हैं, चित्त पर बहुत सी परतें हैं--वे सब दिखाई पड़ती हैं। और उतरते जाएं। आखिर में उस जगह पहुंच जाते हैं, जहां अंतःकरण है, सब शुद्धतम है। लेकिन शुद्धतम, वह भी भिन्न है; वह भी अलग है। इसीलिए उसको आत्मा नहीं कहा; उसको भी अंतःकरण कहा। क्योंकि आत्मा उस शुद्धतम के भी पार है। शुद्धतम का अनुभव कैसे होगा? आपको अशुद्धतम का अनुभव कैसे होता है?

कोई मुझसे आकर पूछता है, शुद्ध का हम अनुभव कैसे करेंगे? तो उसको मैं कहता हूं कि तुम बगीचे की तरफ चले। अभी बगीचा नहीं आया, लेकिन ठंडी हवा मालूम होने लगी। तुम्हें कैसे पता चल जाता है कि ठीक चल रहे हैं? क्योंकि ठंडी हवा मालूम होने लगी। फिर तुम और बढ़ते हो; सुगंध भी आने लगी; तब तुम जानते हो कि और निकट है बगीचा। अभी बगीचा आ नहीं गया है। शायद अभी दिखाई भी नहीं पड़ रहा हो। और निकट बढ़ते हो, अब हरियाली दिखाई भी पड़ने लगी। अब बगीचा और निकट आ गया है। अभी फिर भी हम बगीचे में नहीं पहुंच गए हैं। फिर हम बगीचे के बिल्कुल द्वार पर खड़े हो गए। सुगंध है, शीतलता है, हरियाली है, चारों तरफ शांति और सन्नाटा और एक वेल बीइंग, एक स्वास्थ्य का भाव घेर लेता है।

ऐसे ही जब कोई भीतर जाता है, तो आत्मा के जितने निकट पहुंचता है, उतना ही शांत, उतना ही मौन, उतना ही प्रफुल्लित, उतना ही प्रसन्न, उतना ही शीतल होने लगता है। जैसे-जैसे भीतर चलता है, उतना ही प्रकाशित, उतना ही आलोक से भरने लगता है। जैसे-जैसे भीतर चलने लगता है, कदम-कदम भीतर सरकता है, कहता है, यह भी नहीं, यह भी नहीं, यह भी नहीं। पहचानता है, रिकग्नाइज करता है--यह भी नहीं। यह दृश्य हो गया, तो मैं नहीं हूं। मैं तो वहां तक चलूंगा, जहां सिर्फ द्रष्टा रह जाए। तो द्रष्टा जब अंत में रह जाए, उसके पहले जो मिलता है, वह अंतःकरण है। अंतःकरण जो है, वह अंतर्यात्रा का आखिरी पड़ाव है। आखिरी पड़ाव, मंजिल नहीं। मंजिल उसके बाद है।

यह अंतःकरण शुद्ध ही है, इसीलिए सांख्य की बात कठिन है। कोई हमें समझाए कि शुद्ध कैसे हो, तो समझ में आता है। सांख्य कहता है, तुम शुद्ध हो ही। तुम कभी गए ही नहीं वहां तक जानने, जहां शुद्धि है। तुम बाहर ही बाहर घूम रहे हो घर के। तुम कभी घर के भीतर गए ही नहीं। घर के गर्भ में परम शुद्धि का वास है। उस परम शुद्धि के बीच आत्मा और उस आत्मा के भी बीच परमात्मा है। पर वहां गए ही नहीं हम कभी। घर के बाहर घूम रहे हैं। और घर के बाहर की गंदगी है।

एक आदमी घर के बाहर घूम रहा है और सड़क पर गंदगी पड़ी है। वह कहता है इस गंदगी को देखकर कि मेरे घर के अंदर भी सब गंदा होगा, उसको मैं कैसे शुद्ध करूं? हम उसे कहते हैं, यह गंदगी घर के बाहर है। तुम घर के भीतर चलो; वहां कोई गंदगी नहीं है। तुम इस गंदगी से आब्सेस्ड मत हो जाओ। यह घर के बाहर होने की वजह से है। यहां तक वह शुद्धि की धारा नहीं पहुंच पाती है, माध्यमों में विकृत हो जाती है, अनेक माध्यमों में विकृत हो जाती है। अंदर चलो, भीतर चलो, गो बैक, वापस लौटो।

तो कृष्ण कह रहे हैं, अंतःकरण शुद्ध होता है, ऐसा जिस दिन जाना जाता है, उसी दिन चित्त के सब विक्षेप, चित्त की सारी विक्षिप्तता खो जाती है--खोनी नहीं पड़ती।

इसे ऐसा समझें, एक पहाड़ के किनारे एक खाई में हम बसे हैं। अंधेरा है बहुत। सीलन है। सब गंदा है। पहाड़ को घेरे हुए बादल घूमते हैं। वे वादी को, खाई को ढक लेते हैं। उनकी वजह से ऊपर का सूर्य भी दिखाई नहीं पड़ता। उनकी काली छायाएं डोलती हैं घाटी में और बड़ी भयानक मालूम होती हैं।

और एक आदमी शिखर पर खड़ा है, वह कहता है, तुम पहाड़ चढ़ो। लेकिन हम नीचे से पूछते हैं कि इन बादलों से छुटकारा कैसे होगा? ये काली छायाएं सारी घाटी को घेरे हुए हैं; इनसे मुक्ति कैसे होगी? वह आदमी कहता है, तुम इनकी फिक्र छोड़ो, तुम पहाड़ चढ़ो। तुम उस जगह आ जाओगे, जहां तुम पाओगे कि बदलियां नीचे रह गई हैं और तुम ऊपर हो गए हो। और जिस दिन तुम पाओगे कि बदलियां नीचे रह गई हैं और तुम ऊपर हो गए हो, उस दिन बदलियां तुम पर कोई छाया नहीं डालतीं।

बदलियां सिर्फ उन्हीं पर छायाएं डालती हैं, जो बदलियों के नीचे हैं। बदलियां उन पर छाया नहीं डालतीं, जो बदलियों के ऊपर हैं। अगर कभी हवाई जहाज में आप उड़े हैं, तो बदलियां फिर आप पर छाया नहीं डालतीं। बदलियों का वितान नीचे रह जाता है, आप ऊपर हो जाते हैं। लेकिन पृथ्वी पर बदलियां बहुत छाया डालती हैं।

मन के जो विक्षेप हैं, विक्षिप्तताएं हैं, विकार हैं, वे बदलियों की तरह हैं। और हम पर छाया डालते हैं, क्योंकि हम घाटियों में जीते हैं।

कृष्ण कहते हैं, चलो अंतःकरण की शुद्धि की यात्रा पर। जब तुम अंतःकरण पर पहुंचोगे, तब तुम हंसोगे कि ये बदलियां, जो बड़ी पीड़ित करती थीं, अब ये नीचे छूट गई हैं। अब इनका कोई ख्याल भी नहीं आता; अब ये कोई छाया भी नहीं डालतीं। अब इनसे कोई संबंध ही नहीं है। अब सूरज आमने-सामने है। अब बीच में कोई बदलियों का वितान नहीं है, कोई जाल नहीं है।

विचार घाटियों के ऊपर बादलों की भांति हैं। जो अंतःकरण तक पहुंचता है, वह शिखर पर पहुंच जाता है। वहां सूर्य का प्रकट प्रकाश है। यह यात्रा है, यह शुद्धि नहीं है। यह यात्रा है, शुद्धि फल है। पता चलता है कि शुद्ध है।

कृष्ण कह रहे हैं, अंतःकरण शुद्ध है, वहां चित्त का कोई विक्षेप नहीं है।

नास्ति बुद्धिरयुक्तस्य न चायुक्तस्य भावना।

न चाभावयतः शान्तिरशान्तस्य कुतः सुखम्।। 66।।

अयुक्त पुरुष के अंतःकरण में श्रेष्ठ बुद्धि नहीं होती है और उसके अंतःकरण में भावना भी नहीं होती है और बिना भावना वाले पुरुष को शांति भी नहीं होती है। फिर शांतिरहित पुरुष को सुख कैसे हो सकता है?

अयुक्त पुरुष को शांति नहीं। युक्त पुरुष को शांति है। अयुक्त पुरुष क्या? युक्त पुरुष क्या? अयुक्त पुरुष को भावना नहीं, शांति नहीं, आनंद नहीं। यह युक्त और अयुक्त का क्या अर्थ है?

अयुक्त का अर्थ है, अपने से ही अलग, अपने होने से ही दूर पड़ गया, अपने से ही बाहर पड़ गया, अपने से ही टूट गया--स्प्लिट।

लेकिन अपने से कोई कैसे टूट सकता है? अपने से कोई कैसे अयुक्त हो सकता है? अपने से टूटना तो असंभव है। अगर हम अपने से ही टूट जाएं, इससे बड़ी असंभव बात कैसे हो सकती है! क्योंकि अपने का मतलब ही यह होता है कि अगर मैं अपने से ही टूट जाऊं, तो मेरे दो अपने हो गए--एक जिससे मैं टूट गया, और एक जो मैं टूटकर हूं। अपने से टूटना हो नहीं सकता।

और अपने से जुड़ने का भी क्या मतलब, अपने से युक्त होने का भी क्या मतलब, जब टूट ही नहीं सकता हूं! तो फिर बात कहां है?

सच में कोई अपने से टूटता नहीं, लेकिन अपने से टूटता है, ऐसा सोच सकता है, ऐसा विचार सकता है। ऐसे भाव, ऐसे सम्मोहन से भर सकता है कि मैं अपने से टूट गया हूं।

आप रात सोए। सपना देखा कि अहमदाबाद में नहीं, कलकत्ते में हूं। कलकत्ते में चले नहीं गए। ऐसे सोए-सोए कलकत्ता जाने का अभी तक कोई उपाय नहीं है। अपनी खाट पर अहमदाबाद में ही पड़े हैं। लेकिन स्वप्न देख रहे हैं कि कलकत्ता पहुंच गए। सुबह जल्दी काम है अहमदाबाद में। अब चित्त बड़ा घबड़ाया, यह तो कलकत्ता आ गए! सुबह काम है। अब वापस अहमदाबाद जाना है! अब सपने में लोगों से पूछ रहे हैं कि अहमदाबाद कैसे जाएं! ट्रेन पकड़ें, हवाई जहाज पकड़ें, बैलगाड़ी से जाएं। जल्दी पहुंचना है, सुबह काम है और यह रात गुजरी जाती है।

आपकी घबड़ाहट उचित है, अनुचित तो नहीं। अहमदाबाद में काम है; कलकत्ते में हैं। बीच में फासला बड़ा है। सुबह करीब आती जाती है। वाहन खोज रहे हैं। लेकिन क्या अहमदाबाद आने के लिए वाहन की जरूरत पड़ेगी? क्योंकि अहमदाबाद से आप गए नहीं हैं क्षणभर को भी, इंचभर को भी। न भी मिले वाहन, तो जैसे ही नींद टूटेगी, पाएंगे कि लौट आए। मिल जाए, तो भी पाएंगे कि लौट आए। असल में गए ही नहीं हैं, लौट आना शब्द ठीक नहीं है। सिर्फ गए के भ्रम में थे।

तो जब कृष्ण कहते हैं, अयुक्त और युक्त, तो वास्तविक फर्क नहीं है। कोई अयुक्त तो होता नहीं कभी, सिर्फ अयुक्त होने के भ्रम में होता है, स्वप्न में होता है। सिर्फ एक ड्रीम क्रिएशन है, एक स्वप्न का भाव है कि अपने से अलग हो गया हूं। युक्त पुरुष वह है, जो इस स्वप्न से जाग गया और उसने देखा कि मैं तो अपने से कभी भी अलग नहीं हुआ हूं।

अयुक्त पुरुष में भावना नहीं होती। क्यों नहीं होती? भावना से मतलब आप मत समझ लेना आपकी भावना, क्योंकि हम सब अयुक्त पुरुष हैं, हममें भावना बहुत है। इसलिए कृष्ण इस भावना की बात नहीं कर रहे होंगे, जो हममें है।

एक आदमी कहता है कि भावना बहुत है। पत्नी मर गई है, रो रहा है। बेटा बीमार पड़ा है, आंसू गिरा रहा है। कहता है, भावना बहुत है। यह भावना नहीं है, यह फीलिंग नहीं है, यह सिर्फ सेंटिमेंटलिटी है। फर्क क्या है? अगर यह भावना नहीं है, सिर्फ भावना का धोखा है, तो फर्क क्या है?

एक आदमी रो रहा है अपने बेटे के पास बैठा हुआ--मेरा बेटा बीमार है और चिकित्सक कहते हैं, बचेगा नहीं, मर जाएगा। रो रहा है; छाती पीट रहा है। उसके प्राणों पर बड़ा संकट है। तभी हवा का एक झोंका आता है और टेबल से एक कागज उड़कर उसके पैरों पर नीचे गिर जाता है। वह उसे यूं ही उठाकर देख लेता है। पाता है कि उसकी पत्नी को लिखा किसी का प्रेम-पत्र है। पता चलता है पत्र को पढ़कर कि बेटा अपना नहीं है, किसी और से पैदा हुआ है। सब भावना विदा हो गई। कोई भावना न रही। दवाई की बोतलें हटा देता है। जहर की बोतलें रख देता है। रात एकांत में गरदन दबा देता है। वही आदमी जो उसे बचाने के लिए कह रहा था, वही आदमी गरदन दबा देता है।

भावना का क्या हुआ? यह कैसी भावना थी? यह भावना नहीं थी। यह मेरे के लिए भावना का मिथ्या भ्रम था। मेरा नहीं, तो बात समाप्त हो गई।

टाल्सटाय ने एक कहानी लिखी है। लिखा है कि एक आदमी का बेटा बहुत दिन से घर के बाहर चला गया। बाप ही क्रोधित हुआ था, इसलिए चला गया था। फिर बाप बूढ़ा होने लगा। बहुत परेशान था। अखबारों

में खबर निकाली, संदेशवाहक भेजे। फिर उस बेटे का पत्र आ गया कि मैं आ रहा हूं। आपने बुलाया, तो मैं आता हूं। मैं फलां-फलां दिन, फलां-फलां ट्रेन से आ जाऊंगा।

स्टेशन दूर है, देहात में रहता है बाप। अपनी बग्घी कसकर वह उसे लेने आया। मालगुजार है, जमींदार है। लेकिन उसके आने पर पता चला कि ट्रेन आ चुकी है। वह सोचता था चार बजे आएगी, वह दो बजे आ गई। तो धर्मशाला में ठहरा जाकर। अब अपने बेटे की तलाश करे कि वह कहां गया!

धर्मशाला में कोई जगह खाली नहीं है। धर्मशाला के मैनेजर को उसने कहा कि कोई भी जगह तो खाली करवाओ ही। वह जमींदार है। तो उसने कहा कि अभी एक कोई भिखमंगा-सा आदमी आकर ठहरा है इस कमरे में--उसको निकाल बाहर कर दें? उसने कहा कि निकाल बाहर करो। उसे पता नहीं कि वह उसका बेटा है। उसे निकाल बाहर कर दिया गया। वह अपने कमरे में आराम से... । उसने आदमी भेजे कि गांव में खोजो।

वह बेटा बाहर सीढ़ियों पर बैठा है। सर्द रात उतरने लगी। उस गरीब लड़के ने बार-बार कहा कि मुझे भीतर आ जाने दें, बर्फ पड़ रही है और मुझे बहुत दर्द है पेट में। पर उसने कहा कि यहां गड़बड़ मत करो; भाग जाओ यहां से; रात मेरी नींद हराम मत कर देना। फिर रात पेट की तकलीफ से वह लड़का चीखने लगा। तो उसने नौकरों से उसे उठवाकर सड़क पर फिंकवा दिया।

फिर सुबह वह मर गया। सुबह जब वह जमींदार उठा, तो वह लड़का मरा हुआ पड़ा था। लोगों की भीड़ इकट्ठी थी। लोग कह रहे थे, कौन है, क्या है, कुछ पता लगाओ। किसी ने उसके खीसे में खोज-बीन की तो चिट्ठी मिल गई। तब तो उन्होंने कहा कि अरे, वह जमींदार जिसको खोज रहा है, यह वही है। यह जमींदार को लिखी गई चिट्ठी-पत्री, यह अखबारों की कटिंग! यह उसका लड़का है।

वह जमींदार बाहर बैठकर अपना हुक्का पी रहा है। जैसे ही उसने सुना कि मेरा लड़का है, एकदम भावना आ गई। अब वह छाती पीट रहा है, अब वह रो रहा है। अब उस लड़के को--मरे को--कमरे के अंदर ले गया है। जिंदा को रात नहीं ले गया। मरे को दिन में कमरे के अंदर ले गया। अब उसकी सफाई की जा रही है--मरे पर। मरे को नए कपड़े पहनाए जा रहे हैं! वह जमींदार का बेटा है। अब उसको घर ले जाने की तैयारी चल रही है। और रात उसने कई बार प्रार्थना की, मुझे भीतर आने दो, तो उसको नौकरों से सड़क पर फिंकवा दिया। यह भावना है?

नहीं, यह भावना का धोखा है। भावना मेरे-तेरे से बंधी नहीं होती, भावना भीतर का सहज भाव है। अगर भावना होती, तो उसे कमरे के बाहर निकालना मुश्किल होता। अगर भावना होती, तो रात उसके पेट में दर्द है, सर्द रात है, बर्फ पड़ती है, उसे बाहर बिठाना मुश्किल होता। यह सवाल नहीं है कि वह कौन है। सवाल यह है कि भाव है भीतर!

ध्यान रहे, भावना स्वयं की स्फुरणा है। दूसरे का सवाल नहीं कि वह कौन है। मर रहा है एक आदमी, नौकरों से फिंकवा दिया उसको उठवाकर!

टाल्सटाय ने जब यह कहानी लिखी, तो उसने अपने संस्मरणों में लिखा है कि यह कहानी मेरी एक अर्थों में आटोबायोग्राफी भी है। यह मेरा आत्मस्मरण भी है। क्योंकि खुद टाल्सटाय शाही परिवार का था।

उसने लिखा है, मेरी मां मैं समझता था बहुत भावनाशील है। लेकिन यह तो मुझे बाद में उदघाटन हुआ कि उसमें भावना जैसी कोई चीज ही नहीं है। क्यों समझता था कि भावना थी? क्योंकि थिएटर में उसके चार-चार रूमाल भीग जाते थे आंसुओं से। जब नाटक चलता और कोई दुख, ट्रेजेडी होती, तो वह ऐसी धुआंधार रोती थी कि नौकर रूमाल लिए खड़े रहते--शाही घर की लड़की थी--तत्काल रूमाल बदलने पड़ते थे। चार-

चार, छह-छह, आठ-आठ रूमाल एक नाटक, एक थिएटर में भीग जाते। तो टाल्सटाय ने लिखा है कि मैं उसके बगल में बैठकर देखा करता था, मेरी मां कितनी भावनाशील!

लेकिन जब मैं बड़ा हुआ तब मुझे पता चला कि उसकी बग्घी बाहर छह घोड़ों में जुती खड़ी रहती थी और आज्ञा थी कि कोचवान बग्घी पर ही बैठा रहे। क्योंकि कब उसका मन हो जाए थिएटर से जाने का, तो ऐसा न हो कि एक क्षण को भी कोचवान ढूंढ़ना पड़े। बाहर बर्फ पड़ती रहती और अक्सर ऐसा होता कि वह थिएटर में नाटक देखती, तब तक एक-दो कोचवान मर जाते। उनको फेंक दिया जाता, दूसरा कोचवान तत्काल बिठाकर बग्घी चला दी जाती। वह औरत बाहर आकर देखती कि मुरदे कोचवान को हटाया जा रहा है और जिंदा आदमी को बिठाया जा रहा है। और वह थिएटर के लिए रोती रहती, वह थिएटर में जो ट्रेजेडी हो गई!

तो टाल्सटाय ने लिखा है कि एक अर्थ में यह कहानी मेरी आटोबायोग्राफिकल भी है, आत्म-कथ्यात्मक भी है। ऐसा मैंने अपनी आंख से देखा है। तब मुझे पता चला कि भावना कोई और चीज होगी। फिर यह चीज भावना नहीं है।

जिसको हम भावना कहते हैं, कृष्ण उसको भावना नहीं कह रहे। भावना उठती ही उस व्यक्ति में है, जो अपने से संयुक्त है, जो अपने में युक्त है। युक्त यानी योग को उपलब्ध, युक्त यानी जुड़ गया जो, संयुक्त। अयुक्त अर्थात वियुक्त--जो अपने से जुड़ा हुआ नहीं है। वियुक्त सदा दूसरों से जुड़ा रहता है। युक्त सदा अपने से जुड़ा रहता है।

वियुक्त सदा दूसरों से जुड़ा रहता है। उसके सब लिंक दूसरों से होते हैं। वह किसी का पिता है, किसी का पति है, किसी का मित्र है, किसी का शत्रु है, किसी का बेटा है, किसी का भाई है, किसी की बहन है, किसी की पत्नी है। लेकिन खुद कौन है, इसका उसे कोई पता नहीं होता। उसकी अपने बाबत सब जानकारी दूसरों के बाबत जानकारी होता है। पिता है, अर्थात बेटे से कुछ संबंध है। पति है, यानी पत्नी से कोई संबंध है। उसकी अपने संबंध में सारी खबर दूसरों से जुड़े होने की होती है।

अगर हम उससे पूछें कि नहीं, तू पिता नहीं, भाई नहीं, मित्र नहीं--तू कौन है? हू आर यू? तो वह कहेगा, कैसा फिजूल सवाल पूछते हैं! मैं तो पिता हूं, मैं तो पति हूं, मैं तो क्लर्क हूं, मैं तो मालिक हूं। लेकिन ये सब फंक्शंस हैं। यह सब दूसरों से जुड़े होना है।

अयुक्त व्यक्ति दूसरों से जुड़ा होता है। जो दूसरों से जुड़ा होता है, उसमें भावना कभी पैदा नहीं होती। क्योंकि भावना तभी पैदा होती है, जब कोई अपने से जुड़ता है। जब अपने भीतर के झरनों से कोई जुड़ता है, तब भावना का स्फुरण होता है। जो दूसरों से जुड़ता है, उसमें भावना नहीं होती--एक। जो दूसरों से जुड़ा होता है, वह सदा अशांत होता है--दो। क्योंकि शांति का अर्थ ही अपने भीतर जो संगीत की अनंत धारा बह रही है, उससे संयुक्त हो जाने के अतिरिक्त और कुछ भी नहीं है।

शांति का अर्थ है, इनर हार्मनी; शांति का अर्थ है, मैं अपने भीतर तृप्त हूं, संतुष्ट हूं। अगर सब भी चला जाए, चांद-तारे मिट जाएं, आकाश गिर जाए, पृथ्वी चली जाए, शरीर गिर जाए, मन न रहे, फिर भी मैं जो हूं, काफी हूं--मोर दैन इनफ--जरूरत से ज्यादा, काफी हूं।

पाम्पेई नगर में, पाम्पेई का जब विस्फोट हुआ, ज्वालामुखी फूटा, तो सारा गांव भागा। आधी रात थी। गांव में एक फकीर भी था। कोई अपनी सोने की तिजोरी, कोई अपनी अशर्फियों का बंडल, कोई फर्नीचर, कोई कुछ, कोई कुछ, जो जो बचा सकता है, लोग लेकर भागे। फकीर भी चला भीड़ में; चला, भागा नहीं।

भागने के लिए या तो पीछे कुछ होना चाहिए या आगे कुछ होना चाहिए। भागने के लिए या तो पीछे कुछ होना चाहिए, जिससे भागो; या आगे कुछ होना चाहिए, जिसके लिए भागो।

सारा गांव भाग रहा है, फकीर चल रहा है। लोगों ने उसे धक्के भी दिए और कहा कि यह कोई चलने का वक्त है! भागो। पर उसने कहा, किससे भागूं और किसके लिए भागूं? लोगों ने कहा, पागल हो गए हो! यह कोई वक्त चलने का है। कोई टहल रहे हो तुम! यह कोई तफरीह हो रही है!

उस आदमी ने कहा, लेकिन मैं किससे भागूं! मेरे पीछे कुछ नहीं, मेरे आगे कुछ नहीं। लोगों ने उसे नीचे से ऊपर तक देखा और उससे कहा कि कुछ बचाकर नहीं लाए! उसने कहा, मेरे सिवाय मेरे पास कुछ भी नहीं है। मैंने कभी कोई चीज बचाई नहीं, इसलिए खोने का उपाय नहीं है। मैं अकेला काफी हूं।

कोई रो रहा है कि मेरी तिजोरी छूट गई। कोई रो रहा है कि मेरा यह छूट गया। कोई रो रहा है कि मेरा वह छूट गया। सिर्फ एक आदमी उस भीड़ में हंस रहा है। लोग उससे पूछते हैं, तुम हंस क्यों रहे हो? क्या तुम्हारा कुछ छूटा नहीं? वह कहता है कि मैं जितना था, उतना यहां भी हूं। मेरा कुछ भी नहीं छूटा है।

उस अशांत भीड़ में अकेला वही आदमी है, जिसके पास कुछ भी नहीं है। बाकी सब कुछ न कुछ बचाकर लाए हैं, फिर भी अशांत हैं। और वह आदमी कुछ भी बचाकर नहीं लाया और फिर भी शांत है। बात क्या है?

युक्त पुरुष शांत हो जाता है, अयुक्त पुरुष अशांत होता है। ज्ञानी युक्त होकर शांति को उपलब्ध हो जाता है।

इंद्रियाणां हि चरतां यन्मनोऽनु विधीयते।
तदस्य हरति प्रज्ञां वायुर्नावमिवाम्भसि।। 67।।
तस्माद्यस्य महाबाहो निगृहीतानि सर्वशः।
इन्द्रियाणीन्द्रियार्थेभ्यस्तस्य प्रज्ञा प्रतिष्ठिता।। 68।।
क्योंकि, जल में वायु नाव को जैसे कंपित कर देता है,
वैसे ही विषयों में विचरती हुई इंद्रियों के बीच में
जिस इंद्रिय के साथ मन रहता है, वह एक ही इंद्रिय
इस अयुक्त पुरुष की प्रज्ञा का हरण कर लेती है।
इससे हे महाबाहो, जिस पुरुष की इंद्रियां सब प्रकार
इंद्रियों के विषयों से वश में की हुई होती हैं,
उसकी प्रज्ञा स्थिर होती है।

जैसे नाव चलती हो और हवा की आंधियों के झोंके उस नाव को डांवाडोल कर देते हैं; आंधियां तेज हों, तो नाव डूब भी जाती है; ऐसे ही कृष्ण कहते हैं, अर्जुन, जिसके चित्त की शक्ति विषयों की तरफ विक्षिप्त होकर भागती है, उसका मन आंधी बन जाता है, उसका मन तूफान बन जाता है। उस आंधी और तूफान में शांति की, समाधि की, स्वयं की नाव डूब जाती है। लेकिन अगर आंधियां न चलें, तो नाव डगमगाती भी नहीं। अगर आंधियां बिल्कुल न चलें, तो नाव के डूबने का उपाय ही नहीं रह जाता।

ठीक ऐसे ही मनुष्य का चित्त जितने ही झंझावात से भर जाता है वासनाओं के, जितने ही जोर से चित्त की ऊर्जा और शक्ति विषयों की तरफ दौड़ने लगती है, वैसे ही जीवन की नाव डगमगाने लगती है और डूबने लगती है।

ज्ञानी पुरुष इस सत्य को देखकर, इस सत्य को पहचानकर यह चित्त की वासना की आंधियों को नहीं दौड़ाता। क्या मतलब है? रोक लेता है? लेकिन आंधियां अगर रोकी जाएंगी, तो भी आंधियां ही रहेंगी। और दौड़ रही आंधियां शायद कम संघातक हों, रोकी गई आंधियां शायद और भी संघातक हो जाएं। तो क्या ज्ञानी पुरुष आंधियों को रोक लेता है, रिस्ट्रेन करता है? अगर रोकेगा, तो भी आंधियां आंधियां ही रहेंगी और रुकी आंधियों का वेग और भी बढ़ जाएगा। तो क्या करता है ज्ञानी पुरुष?

यह बहुत मजे की और समझने की बात है कि आंधियां रोकनी नहीं पड़तीं, सिर्फ चलानी पड़ती हैं। रोकनी नहीं पड़तीं, सिर्फ चलानी पड़ती हैं। आप न चलाएं, तो रुक जाती हैं। क्योंकि आंधियां कहीं बाहर से नहीं आ रही हैं, आपके ही सहयोग, कोआपरेशन से आ रही हैं।

मैं इस हाथ को हिला रहा हूं। इस हाथ को हिलने से मुझे रोकना नहीं पड़ता। जब रोकता हूं, तो उसका कुल मतलब इतना होता है कि अब नहीं हिलाता हूं। कोई हाथ अगर बाहर से हिलाया जा रहा हो, तो मुझे रोकना पड़े। मैं ही हिला रहा हूं, तो रोकने का क्या मतलब होता है! शब्द में रोकना क्रिया बनती है, उससे भ्रांति पैदा होती है। यथार्थ में, वस्तुतः रोकना नहीं पड़ता, सिर्फ चलाता नहीं हूं कि हाथ रुक जाता है।

एक झेन फकीर हुआ, उसका नाम था रिंझाई। एक आदमी उसके पास गया और उसने कहा कि मैं कैसे रोकूं? उस फकीर ने कहा, गलत सवाल मेरे पास पूछा तो ठीक नहीं होगा। यह डंडा देखा है! रिंझाई एक डंडा पास रखता था। और वह दुनिया बहुत कमजोर है, जहां फकीर के पास डंडा नहीं होता। कृष्ण कुछ कम डंडे की बात नहीं करते!

एक मित्र कल मुझसे कह रहे थे कि मेरी हालत भी अर्जुन जैसी है। आप मुझे सम्हालना! मेरे मन में हुआ कि उनसे कहूं कि अगर कृष्ण जैसा एक दफा तुमसे कह दूं, महामूर्ख! तुम दुबारा लौटकर न आओगे। तुम आओगे ही नहीं।

अर्जुन होना भी आसान नहीं है। वह कृष्ण उसको डंडे पर डंडे दिए चले जाते हैं। भागता नहीं है। संदेह है, लेकिन निष्ठा में भी कोई कमी नहीं है। संदेह है, तो सवाल उठाता है। निष्ठा में भी कोई कमी नहीं है, इसलिए भागता भी नहीं है।

रिंझाई ने कहा कि देखा है यह डंडा! झूठे गलत सवाल पूछेगा, सिर तोड़ दूंगा।

उस आदमी ने कहा, क्या कहते हैं आप! सिर मेरा वैसे ही अपनी वासनाओं से टूटा जा रहा है। आप मुझे कोई तरकीब रोकने की बताएं। रिंझाई ने कहा, रोकने की बात नहीं है, मैं तुझसे यह पूछता हूं, किस तरकीब से वासनाओं को चलाता है? क्योंकि तू ही चलाने वाला है, तो रोकने की तरकीब पूछनी पड़ेगी!

एक आदमी दौड़ रहा है और हमसे पूछता है, कैसे रुकें? रुकना पड़ता है! सिर्फ नहीं दौड़ना पड़ता है। रुकना नहीं पड़ता है, सिर्फ नहीं दौड़ना पड़ता है।

हां, कोई उसको घसीट रहा हो, कोई उसकी गरदन में बैल की तरह रस्सी बांधकर खींच रहा हो, तब भी कोई सवाल है। कोई उसके पीछे से उसको धक्के दे रहा हो, तब भी कोई सवाल है। न उसे कोई घसीट रहा है, न कोई पीछे से धक्के दे रहा है, वह आदमी दौड़ रहा है। और कहता है, मैं कैसे रुकूं? तो उसे इतना ही कहना

पड़ेगा, तू गलत ही सवाल पूछ रहा है। दौड़ भी तू ही रहा है, कैसे रुकने की बात भी तू ही पूछ रहा है। निश्चित ही तू रुकना नहीं चाहता, इसीलिए पूछ रहा है।

जो लोग रुकना नहीं चाहते, वे यही पूछते रहते हैं, कैसे रुकें? इसी में समय गंवाते रहते हैं। वे पूछते हैं, हाऊ टु डू इट? करना नहीं चाहते हैं। क्योंकि मजा यह है कि वासना को कैसे चलाएं, इसे पूछने आप कभी किसी के पास नहीं गए, बड़े मजे से चला रहे हैं।

तो कृष्ण कह रहे हैं कि जो इन आंधियों को नहीं चलाता है--रोक लेता है नहीं--नहीं चलाता है।

हमारा कोआपरेशन मांगती है वासना। आपने कोई ऐसी वासना देखी है, जो आपके बिना सहयोग के इंचभर सरक जाए! कभी बिना आपके सहयोग के आपके भीतर कोई भी वासना सरकी है इंचभर! तो फिर जरा लौटकर देखना। जब वासना सरके, तो खड़े हो जाना और कहना कि मेरा सहयोग नहीं, अब तू चल। और आप पाएंगे, वहीं गिर गई--वहीं--इंचभर भी नहीं जा सकती। आपका कोआपरेशन चाहिए।

एक मेरे मित्र हैं, उनको बड़ा क्रोध आता है। बड़े मंत्र पढ़ते हैं, बड़ी प्रार्थनाएं करते हैं, मंदिर जाते हैं और वहां से और क्रोधी होकर लौटते हैं। क्रोध नहीं जाता। बस, उनकी वही परेशानी है कि क्रोध! पर मैंने उनसे कहा कि तुम ही क्रोध करते हो कि कोई और करता है? उन्होंने कहा कि मैं ही करता हूं, लेकिन फिर भी जाता नहीं। कैसे जाए?

मैंने कहा कि अब यह सब छोड़ो। यह कागज मैं तुम्हें लिखकर देता हूं। कागज लिखकर उन्हें दे दिया। उसमें मैंने बड़े-बड़े अक्षरों में लिख दिया कि अब मुझे क्रोध आ रहा है। मैंने कहा, इसे खीसे में रखो और जब भी क्रोध आए, तो इसे देखकर पढ़ना और फिर खीसे में रखना, और कुछ मत करना। उन्होंने कहा, इससे क्या होगा? मैं बड़े-बड़े ताबीज भी बांध चुका! मैंने कहा, छोड़ो ताबीज तुम। तुम इसको खीसे में रखो। पंद्रह दिन बाद मेरे पास आना।

पंद्रह दिन बाद नहीं, वे पांच ही दिन बाद आ गए। और कहने लगे कि क्या जादू है? क्योंकि जैसे ही मैं इसको पढ़ता हूं कि अब मुझे क्रोध आ रहा है, पता नहीं भीतर क्या होता है--गया! कोआपरेशन नहीं मिल पाता। एक सेकेंड को कोआपरेशन चूक जाए--गया।

फिर तो वे कहने लगे, अब तो खीसे तक अंदर हाथ भी नहीं लगाना पड़ता। इधर हाथ गया कि अक्षर ख्याल आए कि अब क्रोध आ रहा है; बस कोई चीज एकदम से बीच में जैसे फ्लाप! कोई चीज एकदम से गिर जाती है।

वासना सहयोग मांगती है आपका। निर्वासना सिर्फ असहयोग मांगती है। निर्वासना के लिए कुछ करना नहीं है, वासना के लिए जो किया जा रहा है, वही भर नहीं करना है।

तो रिंझाई ने मुट्ठी बांध ली उस आदमी के सामने और कहा कि देख, यह मुट्ठी बंधी है, अब मुझे मुट्ठी को खोलना है। मैं क्या करूं? उस आदमी ने कहा कि क्या फिजूल की बातें पूछते हैं! बांधिए मत, मुट्ठी खुल जाएगी। बांधिए मत! क्योंकि बांधना पड़ता है; बांधना एक काम है। खोलना काम नहीं है। बांधने में शक्ति लग रही है, खोलने में कोई शक्ति नहीं लगती। न बांधिए तो मुट्ठी खुली रहती है, बांधिए तो बंधती है।

वासना शक्ति मांगती है; न दीजिए शक्ति, तो निर्वासना फलित हो जाती है।

ऐसा झंझावात से मुक्त हुआ चित्त स्वयं में प्रतिष्ठित हो जाता है। कृष्ण कहते हैं, हे महाबाहो, जो स्वयं में प्रतिष्ठित हो जाता है, वह सब कुछ पा लेता है।

या निशा सर्वभूतानां तस्यां जागर्ति संयमी।

यस्यां जाग्रति भूतानि सा निशा पश्यतो मुनेः।। 69।।

और हे अर्जुन, संपूर्ण भूत प्राणियों के लिए जो रात्रि है, उसमें भगवत्ता को प्राप्त हुआ संयमी पुरुष जागता है। और जिस नाशवान, क्षणभंगुर सांसारिक सुख में सब भूत प्राणी जागते हैं, तत्व को जानने वाले मुनि के लिए वह रात्रि है।

जो सबके लिए अंधेरी रात है, वह भी ज्ञानी के लिए, संयमी के लिए जागरण का क्षण है। जो निद्रा है सबके लिए, वह भी ज्ञानी के लिए जागृति है। यह महावाक्य है। यह साधारण वक्तव्य नहीं है। यह महावक्तव्य है। इसके बहुआयामी अर्थ हैं। दो-तीन आयाम समझ लेना जरूरी है।

एक तो बिल्कुल सीधा, जिसको कहना चाहिए लिटरल जो अर्थ है, वह भी इसका अर्थ है। आमतौर से गीता पर किए गए वार्त्तिक उसके तथ्यगत अर्थ को कभी भी नहीं लेते हैं। जो कि बड़ी ही गलत बात है। वे सदा ही उसको मेटाफर बना लेते हैं। वह सिर्फ मेटाफर नहीं है। जब यह बात कही जा रही है कि जो सबके लिए निद्रा है, वह भी संयमी और ज्ञानी के लिए जागरण है, तो इसका पहला अर्थ बिल्कुल शाब्दिक है। जब आप रात सोते हैं, तब भी संयमी नहीं सोता है।

इसे पहले समझ लेना जरूरी है, क्योंकि इसे कहने की हिम्मत नहीं जुटाई जा सकी है आज तक। सदा उसका अर्थ मोहरूपी निशा और और सब रूपी बातें कही गई हैं। इसका पहला अर्थ बिल्कुल ही तथ्यगत है।

जब आप रात सोते हैं, तब भी ज्ञानी नहीं सोता है। इसका क्या मतलब है? बिस्तर पर नहीं लेटता है! इसका क्या मतलब है? आंख बंद नहीं करता है! इसका क्या मतलब है? रात विश्राम को उपलब्ध नहीं होता है! नहीं, यह सब करता है, फिर भी नहीं सोता है। दो-तीन उदाहरण से इस बात को समझें।

बुद्ध ने आनंद को दीक्षा दी। वह उनका चचेरा भाई था और बड़ा भाई था। तो दीक्षा लेते वक्त आनंद ने कहा कि दीक्षा के बाद तो तुम गुरु और मैं शिष्य हो जाऊंगा, तो मैं तुमसे फिर कुछ कह न सकूंगा। अभी मैं तुम्हें आज्ञा दे सकता हूं, मैं तुम्हारा बड़ा भाई हूं। दीक्षा लेने के पहले मैं तुम्हें दो-तीन आज्ञाएं देता हूं, जो तुम्हें छोटे भाई की तरह माननी पड़ेंगी। बुद्ध ने कहा, कहो।

आनंद ने कहा, एक तो यह कि मैं चौबीस घंटे तुम्हारे साथ रहूंगा। रात तुम सोओगे जहां, वहीं मैं भी सोऊंगा। दूसरा यह कि जब भी मैं कोई सवाल पूछूं, तुम्हें उसी वक्त उत्तर देना पड़ेगा, टाल न सकोगे। तीसरा यह कि मैं अंधेरी आधी रात में भी किसी को मिलाने ले आऊं, तो मिलना पड़ेगा, इनकार न कर सकोगे। तो ये तीन आज्ञाएं देता हूं बड़े भाई की हैसियत से। फिर दीक्षा के बाद तो मैं कुछ कह न सकूंगा। तुम्हारी आज्ञा मेरे सिर पर होगी।

बुद्ध ने ये वचन दे दिए। फिर आनंद बुद्ध के कमरे में ही सोता। दो-चार-दस दिन में ही बहुत हैरान हुआ। क्योंकि बुद्ध जिस करवट सोते हैं--जहां हाथ रखते हैं, जहां पैर रखते हैं--रात में इंचभर भी हिलाते नहीं। कभी करवट भी नहीं बदलते। हाथ जहां रखा है, वहीं रखा रहता है पूरी रात। पैर जहां रखा है, वहीं रखा रहता है पूरी रात। तो आनंद ने कहा कि यह क्या मामला है! यह कैसी नींद है!

दो-चार-दस दिन, रात में कई बार उठकर उसने देखा। देखा कि वही--वही मुद्रा है, वही आसन है, वही व्यवस्था है--सब वही है। दसवें दिन उसने पूछा कि एक सवाल उठ गया है। रात में सोते हो या क्या करते हो? बुद्ध ने कहा, जब से अज्ञान टूटा, तब से सिर्फ शरीर सोता है, मैं नहीं सोता हूं। तो अगर करवट, तो मुझे बदलनी

पड़े, मेरे बिना सहयोग के शरीर नहीं बदल सकता। कोई जरूरत नहीं बदलने की। एक ही करवट से काम चल जाता है। तो फकीर आदमी को जितने से काम चल जाए, उससे ज्यादा के उपद्रव में नहीं पड़ना चाहिए। ऐसे ही चल जाता है काम। हाथ जहां रखता हूं, वहीं रखे रहता हूं। हाथ सो जाता है, मैं नहीं सोता हूं।

कृष्ण कहते हैं, जो सबके लिए अंधेरी निद्रा है, वह भी ज्ञानी के लिए जागरण है।

आप भी पूरे नहीं सोते हैं। क्योंकि ज्ञान का कोई न कोई कोना तो आप में भी जागा रहता है। यहां हम इतने लोग बैठे हैं, सब सो जाएं, रात कोई आदमी आकर चिल्लाए, राम! सबको सुनाई पड़ेगा, लेकिन सबको सुनाई नहीं पड़ेगा। जिसका नाम राम है, वह कहेगा, कौन बुला रहा है? कान सबके हैं, सब सोए हैं। राम शब्द गूंजा है, तो सबको सुनाई पड़ा है। लेकिन जो राम है, वह कहता है, कौन बुला रहा है? रात में कौन गड़बड़ करता है? सोने नहीं देता!

क्या हुआ! जरूर इसके भीतर चेतना का एक कोना इस रात में भी जागा है; पहरा दे रहा है। पहचानता है कि राम नाम है अपना।

मां सोई है रात, तूफान आ जाए बाहर, आंधी आ जाए, बादल गरजें, बिजली चमके, उसकी नींद नहीं टूटती। उसका बच्चा जरा-सा कुनकुन करे, वह फौरन हाथ रख लेती। भीतर कोई हिस्सा जागा हुआ है मां का, वह देख रहा है कि बच्चे को कोई गड़बड़ न हो जाए। और बच्चे की गड़बड़ इतनी धीमी है कि मां के एक हिस्से को जागा ही रहना होगा।

आकाश में बिजली चमकती है, बादल गरजते हैं, पानी बरस रहा है, उसका कुछ सुनाई नहीं पड़ता उसे। लेकिन बच्चे की जरा-सी आवाज, उसका जरा-सा करवट लेना, उसकी धीमी-सी पुकार उसे तत्काल जगा देती है। एक हिस्सा उसका भी जागा हुआ है। पर एक हिस्सा! जरूरत के वक्त, इमरजेंसी मेजर है वह हमारा। साधारणतः हमारी पूरी चेतना डूबी रहती है अंधेरे में।

कृष्ण कहते हैं, ज्ञानी पुरुष नींद में भी जागा रहता है। पहला अर्थ, पहले आयाम का अर्थ, वास्तविक निद्रा में भी जागरण है।

और मैं आपसे कहता हूं कि यह बहुत कठिन नहीं है। जो आदमी दिन के जागते हिस्से में बारह घंटे जागा हुआ जीएगा, वह रात में जागा हुआ सोता है। आप रास्ते पर चल रहे हैं, जागकर चलें। आप खाना खा रहे हैं, जागकर खाएं। आप किसी से बात कर रहे हैं, जागकर बोलें। सुन रहे हैं, जागकर सुनें। यह नींद-नींद, स्लीपी-स्लीपी न हो। यह सब ऐसे ही चल रहा है।

एक आदमी खाना खा रहा है। हमें लगता है कि नींद में कैसे खाना खा सकता है! लेकिन मनोवैज्ञानिक कहते हैं कि सब लोग नींद में खाना खा रहे हैं।

इमरसन एक बड़ा विचारक हुआ। सुबह बैठा है। उसकी नौकरानी नाश्ता रख गई। किताब में उलझा है, तो नौकरानी ने बाधा नहीं दी। किताब से छूटेगा, तो नाश्ता कर लेगा।

उसका एक मित्र मिलने आया है। वह किताब में डूबा है। नाश्ता पास है। मित्र ने सोचा, इससे बात पीछे कर लेंगे, पहले नाश्ता कर लें। मित्र ने नाश्ता कर लिया, प्लेट खाली करके बगल में सरका दी। फिर इमरसन ने कहा, अरे कब आए? मित्र को देखा, खाली प्लेट को देखा और कहा कि जरा देर से आए, मैं नाश्ता कर चुका हूं।

इस आदमी ने कभी जागकर नाश्ता किया होगा? नहीं, हमने भी नहीं किया है। एक रूटीन है, जिसको हम नींद में भी कर लेते हैं। आदमी साइकिल चलाता है। पैर साइकिल चलाते रहते हैं, आदमी भीतर कुछ और चलाता रहता है। चलता चला जाता है। नींद है।

सड़क के किनारे खड़े हो जाएं, लोगों को जरा चलते देखें। कोई बातचीत करता दिखाई पड़ेगा किसी से, जो मौजूद नहीं है। किसी के ओंठ हिल रहे हैं। कोई हाथ से किसी को झिड़क रहा है। कोई इशारा कर रहा है। आप बहुत हैरान होंगे कि किससे हो रहा है यह सब! नींद, नींद में चल रहे हैं। जब हम जागे हुए भी सोए हैं, तो सोए हुए जागना बहुत मुश्किल है।

इसलिए मैं कहता हूं कि जिन लोगों ने गीता के इस महावाक्य पर वक्तव्य दिए हैं, उनको खुद का कोई अनुभव नहीं है। अन्यथा यह पहला वक्तव्य चूक नहीं सकता था। उनको साफ पता नहीं है कि नींद में जागा हुआ हुआ जा सकता है। लेकिन जागे हुए ही सोए हुए आदमियों को नींद में जागने का ख्याल भी नहीं उठ सकता है! तो वे इसका मेटाफोरिकल अर्थ करते हैं। वह अर्थ ठीक नहीं है।

जो आदमी दिन में जागकर चलेगा, उठेगा, बैठेगा, वह रात में भी जागा हुआ सोएगा।

महावीर ने कहा है--अजीब बात कही है--महावीर ने कहा है, साधुओ! जागकर चलना, जागकर उठना, जागकर बैठना। सब ठीक है। लेकिन आखिर में महावीर कहते हैं, जागकर सोना। पागलपन की बातें कर रहे हैं! तो फिर सोएंगे काहे के लिए! जागकर सोना, जागते रहना और देखना कि नींद कब आई।

आप कितनी दफे सोए हैं, कभी नींद को आते देखा? जिंदगीभर सोए, रोज सोए। आदमी साठ साल जीता है, तो बीस साल सोता है। आठ घंटे सोए अगर, तो बीस साल सोने में चले जाते हैं। जिंदगी का एक तिहाई सोते हैं। बीस साल सोकर भी कभी आपको पता है, नींद कब आती है? कैसे आती है? नींद क्या है?

कैसा अदभुत है यह मामला! बीस साल जिस अनुभव से गुजरते हैं, उस अनुभव की कोई भी पहचान नहीं है! रोज सोते हैं। लेकिन कोई आपसे पूछे कि नींद क्या है? व्हाट इ.ज दि स्लीप? कैसे आती है? आते वक्त क्या उसकी शकल है, क्या उसका रूप है? कैसे उतरती है? जैसे सांझ उतरती है अंधकार की, सूरज डूबता है, ऐसा आपके भीतर क्या उतरता है नींद में?

आप कहेंगे कि कुछ पता नहीं है। क्योंकि जब तक जागे रहते हैं, तब तक नींद नहीं आती। जब नींद आ जाती है, उसके पहले तो सो गए होते हैं।

सुबह उठते हैं रोज। कभी देखा है कि नींद का टूटना क्या है, फिनामिनल? नींद कैसे टूटती है? क्या होता है नींद के टूटने में?

आप कहते हैं, कुछ पता नहीं। जब तक नींद नहीं टूटती, तब तक हम नहीं होते। जब नींद टूट जाती है, तब टूट ही चुकी होती है। कोई हमें पता नहीं।

कृष्ण कह रहे हैं, ज्ञानी जागकर सोता है।

और जिस व्यक्ति ने अपनी नींद को जागकर देख लिया, वही व्यक्ति अपनी मृत्यु को भी जागकर देख सकता है, अन्यथा नहीं देख सकता है। इसलिए इस सूत्र को मैं महावाक्य कहता हूं।

मौत तो कल आएगी, नींद तो आज ही आएगी। रात नींद को देखते हुए सोएं। आज, कल, महीना, दो महीना, तीन महीना-- रोज सोते वक्त एक ही प्रार्थना मन में, एक ही भाव मन में आए कि उसे मैं देखूं। जागे रहें, जागे रहें, जागे रहें। देखते रहें, देखते रहें। आज चूकेंगे, कल चूकेंगे, परसों चूकेंगे। महीना, दो महीना, तीन महीना--अचानक किसी दिन आप पाएंगे कि नींद उतर रही है और आप देख रहे हैं। और जिस दिन आप नींद को उतरते देख लेंगे, उस दिन कृष्ण का यह महावाक्य समझ में आएगा; उसके पहले समझ में नहीं आ सकता है। यह इसका वास्तविक अर्थ है।

इसका जो मेटाफोरिकल अर्थ है, वह भी आपसे कहूं। वह भी है, लेकिन वह नंबर दो का मूल्य है उसका। नंबर एक का मूल्य इसी का है। वह भी है। लेकिन वह तो और बहुत-सी बातों में भी कह दिया गया है। उसको कहने के लिए इस वाक्य को कहने की कोई भी जरूरत न थी। वह दूसरा जो मोह-निशा, उसकी तो बहुत चर्चा हो गई। वह जो विषयों की नींद है, वह जो वासना की नींद है, तो उसकी तो काफी चर्चा हो गई है।

और कृष्ण जैसे लोग एक शब्द भी व्यर्थ नहीं बोलते हैं। एक शब्द पुनरुक्त नहीं करते हैं। अगर पुनरुक्ति दिखती हो, तो आपकी समझ में भूल और गलती होती है। कृष्ण जैसे लोग, दे नेवर रिपीट। क्योंकि रिपीट का कोई सवाल नहीं है। दोहराने की कोई जरूरत नहीं है।

क्या आपको पता है कि कौन लोग दोहराते हैं! सिर्फ वे ही लोग दोहराते हैं, जिनमें आत्मविश्वास की कमी होती है। दूसरा आदमी नहीं दोहराता। जिसने एक बात पूरे विश्वास से कह दी पूरी तरह जानकर, बात खत्म हो गई।

तो कृष्ण दोहरा नहीं सकते। इसलिए मैं कहता हूं कि जो आम व्याख्या की गई है कि जहां कामी आदमी कामवासना में, मोह-निद्रा में, विषयों की नींद में, अंधेरे में डूबा रहता है, वहां संयमी आदमी जागा रहता है। इसको दोहराने के लिए इस वाक्य की बहुत जरूरत नहीं है। लेकिन वह अर्थ करें, तो बुरा नहीं है। लेकिन पहला अर्थ पहले समझ लें।

हां, दूसरा अर्थ है। एक तंद्रा का घेरा, कहना चाहिए एक हिप्नोटिक ऑरा, हमारे व्यक्तित्व में अटका हुआ है। जब आप चलते हैं, तो आपके चारों तरफ नींद का एक घेरा चलता है। जब जागा हुआ पुरुष चलता है, तब उसके पास भी चारों तरफ एक जागरण का एक घेरा चलता है। यह जो हमने फकीरों--नानक और कबीर और राम और कृष्ण और बुद्ध और महावीर के आस-पास, उनके चेहरे के पास एक गोल घेरा बनाया है, यह फोटोग्राफिक ट्रिक नहीं है। यह सिर्फ एक मिथ नहीं है। जागे हुए व्यक्ति के आस-पास प्रकाश का एक उज्ज्वल घेरा चलता है।

और जो लोग भी अपने भीतर के प्रकाश को देखने में समर्थ होते हैं, वे दूसरे के ऑरा को भी देखने में समर्थ हो जाते हैं। जिन लोगों को भीतर अपने प्रकाश दिखाई पड़ने लगता है, वे उस आदमी के चेहरे के आस-पास प्रकाश के गोल घेरे को तत्काल देख लेते हैं। हां, आपको नहीं दिखता, क्योंकि आपको उस तरह के सूक्ष्म प्रकाश का कोई भी अनुभव नहीं है।

तो जैसे महावीर और बुद्ध और कृष्ण के चेहरे के आस-पास एक गोल वर्तुल चलता है जागरण का, रोशनी का, ऐसे ही हम सब सोए हुए आदमियों के आस-पास एक गोल वर्तुल चलता है अंधकार का, निद्रा का। वह भी आपको दिखाई नहीं पड़ेगा। क्योंकि उसका पता भी तब चलेगा, जब प्रकाश दिखाई पड़े। तब आपको पता चलेगा कि जिंदगीभर एक अंधेरे का गोल घेरा भी आपके पास चलता था। पता तो पहले प्रकाश का चलेगा, तभी अंधकार का बोध होगा। उसके साथ ही हम पैदा होते हैं। उससे इतने निकट और परिचित होते हैं कि वह दिखाई नहीं पड़ता।

लेकिन मैं देखता हूं कि रास्ते पर दो आदमी चल रहे हों, तो दोनों के पास का चलने वाला घेरा अलग होता है। रंगों-रंगों के फर्क होते हैं, शेड के फर्क होते हैं। अंधेरे और सफेदी के बीच में बहुत से ग्रे कलर होते हैं।

लेकिन साधारणतः सोए आदमी के पास, सौ में से निन्यानबे आदमियों के पास नींद का एक वर्तुल चलता है, एक स्लीपी वर्तुल चलता है। वैसा आदमी जहां जाता है, उसके साथ उसकी नींद भी जाती है। वह जो भी

छूता है, उसे नींद में छूता है। वह जो भी करता है, उसे नींद में करता है। वह जो भी बोलता है, नींद में बोलता है।

कभी आपने सोचा है कि आप अपने वक्तव्यों के लिए कितनी बार नहीं पछताए हैं! पछताए हैं। लेकिन कभी आपको पता है कि आपने ही बोला था--होश में!

पति घर आया है और एक शब्द पत्नी बोल गई है और कलह शुरू हो गई है। और वह जानती है कि यह शब्द रोका जा सकता था। क्योंकि यह शब्द पचीस दफे बोला जा चुका है और इस शब्द के आस-पास इसी तरह की कलह पचीस बार हो चुकी है। फिर यह आज क्यों बोला गया? नींद में बोल गई, फिर बोल गई। कल फिर बोलेगी, परसों फिर बोलेगी। वह नींद चलेगी। वह रोज वही बोलेगी और रोज वही होगा। पति भी रोज वही उत्तर देगा।

अगर एक पति-पत्नी को सात दिन ठीक से देख लिया जाए, तो उनकी पिछली जिंदगी और आगे की सारी जिंदगी की कथा लिखी जा सकती है कि पीछे क्या हुआ और आगे क्या होगा। क्योंकि यही होगा। इसकी पुनरुक्ति होती रहेगी।

ये नींद में चलते हुए लोग--वही क्रोध, वही काम, वही सब, वही दुख, वही पीड़ा, वही चिंता--सब वही। रोज उठते हैं और वही दोहराते हैं। जैसे सब तय है, बंधी हुई मशीन की तरह। बस, रोज अपनी मशीन पर जम जाते हैं और फिर दोहराते हैं।

यह नींद है। यह कृष्ण का दूसरा अर्थ है। जागा हुआ पुरुष जो भी करता है, वह नींद में करने वाले आदमी जैसा उसका व्यवहार नहीं है।

क्या फर्क पड़ेगा उसके व्यवहार में? तो उन्होंने इंगित दिए हैं कि नींद से भरा हुआ आदमी मैं के और अहंकार के आस-पास जीएगा। उसका सब कुछ अहंकार से भरा होगा।

कभी आपने ख्याल किया है, आईने के सामने खड़े होकर जो तैयारी आप कर रहे हैं, वह आपकी तैयारी है कि अहंकार की तैयारी है! किसकी तैयारी कर रहे हैं? अहंकार की तैयारी कर रहे हैं। बाहर निकलते हैं, तो झाड़-झूड़ के साफ, रीढ़ सीधी कर लेते हैं। आंखें तेज हो जाती हैं। या तो सुरक्षा में लग जाते हैं या आक्रमण में लग जाते हैं। चल पड़े, नींद वाला आदमी निकला घर से बाहर, उपद्रव संभावित है, कि कुछ होगा अब। अब यह कुछ न कुछ करेगा। और सारे लोग अपने घरों के बाहर निकल रहे हैं। ये कुछ न कुछ करेंगे।

अमेरिका में अभी कार के एक्सिडेंट्स का जो सर्वे हुआ है, उससे पता चला है कि पचहत्तर प्रतिशत कार की दुर्घटनाएं भौतिक नहीं, मानसिक घटनाएं हैं। पागलपन की बात मालूम होती है न! कार की दुर्घटना और मानसिक! कार का भी कोई माइंड है, कार का भी कोई मन है कि कार भी कोई मन से दुर्घटना करती है! कार का नहीं है, ड्राइवर का है, वह जो सारथी बैठे रहते हैं भीतर।

कभी आपको पता है कि जब आप क्रोध में होते हैं, तो कार का एक्सेलेरेटर जोर से दबता है--नींद में, होश में नहीं। जल्दी आपको कहीं पहुंचना नहीं है। लेकिन चित्त क्रोध से भरा है। किसी चीज को दबाना चाहता है। इसकी फिक्र नहीं कि किसको दबा रहे हैं। एक्सेलेरेटर को ही दबा रहे हैं। अब एक्सेलेरेटर से कोई झगड़ा नहीं है। अब एक्सेलेरेटर को दबाइएगा क्रोध में, तो खतरा पक्का है। क्योंकि एक तो नींद में दबाया जा रहा है। आपको पता ही नहीं है कि क्यों दबा रहे हैं एक्सेलेरेटर को। पता होना चाहिए कि क्यों दबा रहे हैं, कहां दबा रहे हैं, कितनी भीड़ है, कितने लोग हैं, कितनी कारें दौड़ रही हैं। आपको कुछ पता नहीं है।

आप एक्सेलेरेटर को नहीं दबा रहे हैं। कोई अपनी पत्नी के सिर पर पैर दबा रहा है, कोई अपने बेटे के, कोई अपने बाप के, कोई अपने मालिक के। पता नहीं वह एक्सेलेरेटर किन-किन के लिए काम कर रहा है। पता नहीं कौन एक्सेलेरेटर उस वक्त बना हुआ है। दबाए जा रहे हैं। अब यह आदमी जो नींद में एक्सेलेरेटर दबा रहा है, इस आदमी को सड़क दिखाई पड़ रही होगी!

इसकी हालत ठीक वैसी है, मैंने सुना है, वर्षा हो रही है और एक आदमी अपनी कार चला रहा है। जोर से वर्षा हो रही है, लेकिन वह आदमी वाइपर नहीं चला रहा है कार के। तो उसकी पत्नी उससे कहती है, क्या कर रहे हो! जैसा कि पत्नियां आमतौर से ड्राइवर को गाइड करती रहती हैं। पति चलाता है, पत्नियां चलवाती हैं। वे पूरे वक्त बताती रहती हैं कि यह करो, यह करो।

पूछा, क्यों नहीं चला रहे हैं वाइपर? तो उसने कहा, कोई फायदा नहीं है, क्योंकि चश्मा तो मैं घर ही भूल आया हूं। वैसे ही नहीं दिखाई पड़ रहा है कुछ। पानी गिर रहा है कि नहीं गिर रहा है, इससे क्या मतलब है!

अब यह जो आदमी है, वह जो एक्सेलेरेटर को क्रोध में दबा रहा है, वह भी अंधा है। उसको भी कुछ नहीं दिखाई पड़ रहा है कि बाहर क्या हो रहा है। पचहत्तर प्रतिशत दुर्घटनाएं मानसिक घटनाएं हैं। यह नींद है।

इस नींद में हम उलटा भी करते हैं। वह तीसरा आयाम है। फिर हम आगे बढ़ें।

एक तीसरा अर्थ भी है; नींद का कृत्य हमेशा, जो आप करते हैं और जो होता है, उसका आपको कोई ख्याल नहीं होता। जो आप करते हैं, उससे ही होता है। लेकिन जब होता है, तब आप पछताते हैं कि यह कैसे हो गया! क्योंकि हमने तो यह कभी न किया था।

एक स्त्री सज रही है, आईने के सामने सज रही है। अब उसे पता नहीं है कि सजकर वह क्या कर रही है। मैं सज रही हूं और कुछ भी नहीं कर रही! लेकिन वह सज-धजकर सड़क पर आ गई है। उसने चुस्त कपड़े पहन रखे हैं। अब उसको पता नहीं कि वह धक्का निमंत्रित कर रही है। कोई आदमी धक्का मारेगा। जब वह धक्का मारेगा, तब वह कहेगी कि बहुत ज्यादती हो रही है। वह स्त्री कहेगी, बहुत ज्यादती हो रही है, अन्याय हो रहा है, अनीति हो रही है। लेकिन सब तैयारी करके आई है वह। पर वह तैयारी नींद में की गई थी, उसे कोई काज-इफेक्ट दिखाई नहीं पड़ता कि ये इतने चुस्त कपड़े, इतने बेढंगे कपड़े, इतनी सजावट किसी को भी धक्का मारने के लिए निमंत्रण है।

और बड़े मजे की बात है, अगर उसको कोई धक्का न दे और कोई न देखे, तो भी दुखी लौटेगी कि बेकार गई, सब मेहनत बेकार गई। किसी ने देखा ही नहीं! सड़क पर कोई इसे न देखे, कोई इसको ले ही न, कोई अटेंशन न दे, तो यह ज्यादा दुखी लौटेगी। धक्का दे, तो भी दुखी लौटेगी। क्या हो रहा है यह!

मैंने सुना है कि एक बच्चे ने अपने बाप को खबर दी कि मैंने पांच मक्खियां मार डाली हैं। उसके बाप ने कहा, अरे! और उसने कहा कि तीन नर थे, दो मादाएं थीं। उसके बाप ने कहा कि हद कर रहा है, तूने कैसे पता लगाया? तो उसने कहा कि दो मक्खियां आईने-आईने पर ही बैठती थीं। समझ गया कि स्त्रियां होनीं चाहिए!

यह जो नींद में सब चल रहा है, इसमें हम ही कारण होते हैं और जब कार्य आता है, तब हम चौंककर खड़े हो जाते हैं कि यह मैंने नहीं किया! अगर हम नींद में न हों, तो हम फौरन समझ जाएंगे, यह मेरा किया हुआ है। यह धक्का मेरा बुलाया हुआ है। यह धक्का ऐसे ही नहीं आ गया है। इस जगत में कुछ भी आकस्मिक नहीं है, एक्सिडेंटल नहीं है। सब चीजों की हम व्यवस्था करते हैं। लेकिन फिर व्यवस्था जब पूरी हो जाती है, तब पछताते हैं कि यह क्या हो गया! यह क्या हो रहा है?

यह भी नींद का अर्थ है। संयमी, ज्ञानी इस भांति कभी नहीं सोता; जागा ही रहता है। स्वभावतः, जागकर वह वैसा व्यवहार नहीं करता, जैसा सोया आदमी करता है। उसका मैं कभी केंद्र में नहीं होता। मैं सदा नींद के ही केंद्र में होता है। समझ लें कि नींद का केंद्र मैं है। न-मैं, ईगोलेसनेस, निरअहंकार भाव, जागरण का केंद्र है।

यह बड़े मजे की बात है। इसको अगर हम ऐसा कहें तो बिल्कुल कह सकते हैं कि सोया हुआ आदमी ही होता है, जागा हुआ आदमी होता नहीं। यह बड़ा उलटा वक्तव्य लगेगा। सोया हुआ आदमी ही होता है--मैं। जागा हुआ आदमी नहीं होता है--न-मैं। जागरण आदमी के अहंकार का विसर्जन है। निद्रा आदमी के अहंकार का संग्रहण है, कनसनट्रेशन है, केंद्रीकरण है।

आपूर्यमाणमचलप्रतिष्ठं
समुद्रमापः प्रविशन्ति यद्वत्।
तद्वत्कामा यं प्रविशन्ति सर्वे
स शान्तिमाप्नोति न कामकामी।। 70।।

और जैसे सब ओर से परिपूर्ण अचल प्रतिष्ठा वाले समुद्र में नाना नदियों के जल उसको चलायमान न करते हुए ही समा जाते हैं, वैसे ही जिस स्थितप्रज्ञ पुरुष के प्रति संपूरण भोग किसी प्रकार का विकार उत्पन्न किए बिना ही समा जाते हैं, वह पुरुष परमशांति को प्राप्त होता है, न कि भोगों को चाहने वाला।

विहाय कामान्यः सर्वान्पुमांश्चरति निःस्पृहः।
निर्ममो निरहंकारः स शान्तिमधिगच्छति।। 71।।

क्योंकि, जो पुरुष संपूर्ण कामनाओं को त्यागकर ममतारहित और अहंकाररहित, स्पृहारहित हुआ बर्तता है, वह शांति को प्राप्त होता है।

एषा ब्राह्मी स्थितिः पार्थ नैनां प्राप्य विमुह्यति।
स्थित्वास्यामन्तकालेऽपि ब्रह्मनिर्वाणमृच्छति।। 72।।

हे अर्जुन, यह ब्रह्म को प्राप्त हुए पुरुष की ब्राह्मी-स्थिति है। इसको प्राप्त होकर वह मोहित नहीं होता है और अंतकाल में भी इस निष्ठा में स्थिर होकर ब्रह्म-निर्वाण को प्राप्त हो जाता है।

हे पार्थ! जैसे महासागर अनंत-अनंत नदियों को भी अपने में समाकर जरा भी मर्यादा नहीं खोता, इंचभर भी परिवर्तित नहीं होता; जैसे कुछ समाया ही नहीं उसमें, ऐसा ही होता है। जैसा पहले था हजारों नदियों के गिरने के, ऐसा ही बाद में होता है। ऐसे ही जो व्यक्ति जीवन के समस्त भोग अपरिवर्तित रूप से, भोगने के पहले जैसा था, भोगने के बाद भी वैसा ही होता है। जैसे कि भोगा ही न हो, अर्थात जो भोगते हुए भी न-भोगा बना रहता है, जो भोगते हुए भी भोक्ता नहीं बनता है, जिसमें कोई भी अंतर नहीं आता है, जो जैसा था वैसा ही है; नहीं होता, तो जैसा होता, होकर भी वैसा ही है। ऐसा व्यक्ति मुक्ति को, ब्राह्मी-स्थिति को उपलब्ध हो जाता है।

कृष्ण कहते हैं, हे पार्थ! तेरी मुक्ति की जिज्ञासा... ।

बड़ी मजे की बात कहते हैं। क्योंकि अर्जुन ने जिज्ञासा मुक्ति की नहीं की थी। अर्जुन ने जिज्ञासा मुक्ति की नहीं की थी, अर्जुन ने जिज्ञासा सिर्फ युद्ध से बचने की की थी। लेकिन कृष्ण कहते हैं, हे पार्थ! तेरी मुक्ति की जिज्ञासा, तेरे मोक्ष की खोज के लिए तुझे यह बताता हूं।

अर्जुन ने नहीं की थी मुक्ति की जिज्ञासा, लेकिन अर्जुन ने जो भी जिज्ञासा की थी, कृष्ण ने उसे इस बीच मुक्ति की जिज्ञासा में रूपांतरित किया है। इस पूरी यात्रा में कृष्ण ने अर्जुन की जिज्ञासा को भी रूपांतरित किया है। धीरे-धीरे युद्ध गौण हो गया है। धीरे-धीरे युद्ध रहा ही नहीं है। बहुत देर हो गई, जब से युद्ध की बात समाप्त हो गई है। बहुत देर हो गई, जब से अर्जुन भी और हो गया है।

अर्जुन शब्द का अर्थ होता है, दैट व्हिच इ.ज नाट स्ट्रेट। ऋजु से बनता है वह शब्द। ऋजु का मतलब होता है, सीधा-सरल। अर्जुन का मतलब होता है, तिरछा-इरछा। अर्जुन का मतलब होता है, आड़ा-तिरछा। अर्जुन सीधा-सादा नहीं है, बहुत आड़ा-तिरछा है। विचार करने वाले सभी लोग आड़े-तिरछे होते हैं। निर्विचार ही सीधा होता है।

अर्जुन की जिज्ञासा को कृष्ण ने बहुत रूपांतरित किया है, ट्रांसफार्म किया है। और ध्यान रहे, साधारणतः मनुष्य धर्म की जिज्ञासा शुरू नहीं करता, साधारणतः मनुष्य जिज्ञासा तो संसार की ही शुरू करता है। लेकिन उसकी जिज्ञासा को संसार से मुक्ति और मोक्ष की तरफ रूपांतरित किया जा सकता है। क्यों? इसलिए नहीं कि कृष्ण कर सकते हैं, बल्कि इसलिए कि संसार की जिज्ञासा करने वाला मनुष्य भी जानता नहीं कि क्या कर रहा है। उसकी गहरी और मौलिक जिज्ञासा सदा ही मुक्ति की होती है।

जब कोई धन खोजता है, तब भी बहुत गहरे में वैसा व्यक्ति आंतरिक दरिद्रता को मिटाने की चेष्टा में रत होता है--गलत चीज से, लेकिन चेष्टा उसकी यही होती है कि दरिद्र न रह जाऊं, दिवालिया न रह जाऊं। जब कोई आदमी पद खोजता है, तब भी उसकी भीतरी कोशिश, आत्महीनता न रह जाए, उसी की होती है--गलत जगह खोजता है। जब कोई आदमी युद्ध से भागना चाहता है, तब भी वह युद्ध से नहीं भागना चाहता, बहुत गहरे में संताप से, एंग्विश से, चिंता से ऊपर उठना चाहता है। लेकिन फिर भी वह ठीक दिशा में नहीं पहुंचता।

इस बात को कहकर कृष्ण बहुत गहरा इंगित दे रहे हैं। वे कह रहे हैं, हे अर्जुन, तेरी मुक्ति की जिज्ञासा के लिए मैंने यह सब कहा। अगर तू महासागर जैसा हो जाए, जहां सब आए और सब जाए, लेकिन तुझे छुए भी नहीं, स्पर्श भी न करे, अनटच्ड, अस्पर्शित, तू पीछे वैसा ही रह जाए जैसा था, तो तू ब्राह्मी-स्थिति को उपलब्ध हो जाता है। ब्राह्मी-स्थिति अर्थात तब तू नहीं रह जाता और ब्रह्म ही रह जाता है।

और जहां मैं नहीं रह जाता, ब्रह्म ही रह जाता है, वहां फिर कोई चिंता नहीं, क्योंकि सभी चिंताएं मैं के साथ हैं। जहां मैं नहीं रह जाता और ब्रह्म ही रह जाता है, वहां कोई दुख नहीं है, क्योंकि सब दुख मैं की उत्पत्तियां हैं। और जहां मैं नहीं रह जाता और ब्रह्म ही रह जाता है, वहां कोई मृत्यु नहीं, क्योंकि मैं ही मरता है, जन्म लेता है। ब्रह्म की न कोई मृत्यु है, न कोई जन्म है। वह है।

ऐसा कृष्ण ने इस दूसरे अध्याय की चर्चा में, जिसे गीताकार सांख्ययोग कह रहा है, पहले अध्याय को कहा था विषादयोग, दूसरे अध्याय को कह रहा है सांख्ययोग। विषाद के बाद एकदम सांख्य! कहां विषाद से घिरा चित्त अर्जुन का और कहां ब्राह्मी-स्थिति अनंत आनंद से भरी हुई! इस संबंध में एक बात, फिर मैं अपनी बात पूरी करूं।

धन्य हैं वे, जो अर्जुन के विषाद को उपलब्ध हो जाएं। क्योंकि उतने विषाद में से ही ब्राह्मी-स्थिति तक के शिखर तक उठने की चुनौती उत्पन्न होती है। कृष्ण ने अर्जुन के विषाद को ठीक से पकड़ लिया।

अगर अर्जुन किसी मनोवैज्ञानिक के पास गया होता, तो मनोवैज्ञानिक क्या करता! चूंकि मैंने यह कहा कि कृष्ण का यह पूरा शास्त्र एक साइकोलाजी है, इसलिए मैं यह भी अंत में आपसे कह दूं, अगर मनोवैज्ञानिक के पास अर्जुन गया होता, तो मनोवैज्ञानिक क्या करता! मनोवैज्ञानिक अर्जुन को एडजस्ट करता। मनोवैज्ञानिक

कहता कि समायोजित हो जा। ऐसा तो युद्ध में होता ही है, सभी को ऐसी चिंता पैदा होती है। यह बिल्कुल स्वाभाविक है। तू नाहक की एबनार्मल बातों में पड़ रहा है। तू व्यर्थ की विक्षिप्त बातों में पड़ रहा है। ऐसे पागल हो जाएगा, न्यूरोसिस हो जाएगी। अर्जुन नहीं मानता, तो वह कहता कि तू फिर इलेक्ट्रिक शॉक ले ले; इंसुलिन के इंजेक्शन ले ले।

लेकिन कृष्ण ने उसके विषाद का क्रिएटिव उपयोग किया। उसके विषाद को स्वीकार किया कि ठीक है। अब इस विषाद को हम ऊपर ले चलते हैं। हम तुझे विषाद के लिए राजी न करेंगे। हम विषाद का ही उपयोग करके तुझे ऊपर ले जाएंगे।

असल में ज्ञान सदा ही अभिशाप को वरदान बना लेता है। अभिशाप को वरदान न बनाया जा सके, तो वह ज्ञान नहीं। अर्जुन के लिए जो अभिशाप जैसा फलित हुआ था, कृष्ण ने उसे वरदान बनाने की पूरी चेष्टा की है। उसके दुख का भी सृजनात्मक उपयोग किया है।

इसलिए मैं यह कहता हूं कि भविष्य का जो मनोविज्ञान होगा, वह सिर्फ मरीज को किसी तरह मरीजों के समाज में रहने योग्य नहीं बनाएगा, बल्कि मरीज की यह जो बेचैन स्थिति है, इस बेचैन स्थिति को मरीज की पूरी आत्मा के रूपांतरण के लिए उपयोग करेगा। वह क्रिएटिव साइकोलाजी होगी।

इसलिए कृष्ण का मनोविज्ञान साधारण मनोविज्ञान नहीं, सृजनात्मक मनोविज्ञान है। यहां हम कोयले को हीरा बनाने की कोशिश करते हैं; यह अल्केमी है। जैसा अल्केमिस्ट कहते रहे हैं कि हम लोअर बेस मेटल को--सस्ती और साधारण धातुओं को--सोना बनाते हैं। पता नहीं उन्होंने कभी बनाया या नहीं बनाया। लेकिन यहां अर्जुन बड़े बेस मेटल की तरह कृष्ण के हाथ में आया था, कोयले की तरह, उस कोयले को हीरा बनाने की उन्होंने बड़ी कोशिश की।

धन्य हैं वे, जो अर्जुन के विषाद को उपलब्ध होते हैं। क्योंकि उनकी ही धन्यता ब्राह्मी-स्थिति तक पहुंचने की भी हो सकती है।

मेरी बातों को इतने प्रेम और आनंद से सुना, इससे बहुत अनुगृहीत हूं और अंत में सबके भीतर बैठे परमात्मा को प्रणाम करता हूं।

मेरे प्रणाम स्वीकार करें।

पहला प्रवचन

स्वधर्म की खोज

श्रीमद्भगवद्गीता

अथ तृतीयोऽध्यायः

अर्जुन उवाच

ज्यायसी चेत्कर्मणस्ते मता बुद्धिर्जनार्दन।

तत्किं कर्मणि घोरे मां नियोजयसि केशव।। 1।।

अर्जुन ने कहा, हे जनार्दन, यदि कर्मों की अपेक्षा ज्ञान आपको श्रेष्ठ मान्य है, तो फिर हे केशव, मुझे भयंकर कर्म में क्यों लगाते हैं?

जीवन का सत्य कर्म से उपलब्ध है या ज्ञान से? यदि कर्म से उपलब्ध है, तो उसका अर्थ होगा कि वह हमें आज नहीं मिला हुआ है, श्रम करने से कल मिल सकता है। यदि कर्म से उपलब्ध होगा, तो उसका अर्थ है, वह हमारा स्वभाव नहीं है, अर्जित वस्तु है। यदि कर्म से उपलब्ध होगा, तो उसका अर्थ है, उसे हम विश्राम में खो देंगे। जिसे हम कर्म से पाते हैं, उसे निष्कर्म में खोया जा सकता है।

निश्चित ही जीवन का सत्य ऐसी कोई वस्तु नहीं है, जो कर्म करने से मिलेगा। जीवन का सत्य मिला ही हुआ है; उसे हमने कभी खोया नहीं है; उसे हम चाहें तो भी खो नहीं सकते हैं; हमारे प्राणों का प्राण वही है।

फिर हमने खोया क्या है? हमने सिर्फ उसकी स्मृति खोई है, उसकी सुरति खोई है। हम केवल, जो है हमारे पास मौजूद, उसे जान नहीं पा रहे हैं। हमारी आंख बंद है; रोशनी मौजूद है। हमारे द्वार बंद हैं; सूरज मौजूद है। सूरज को पाने नहीं जाना; द्वार खोले, सूरज मिला ही हुआ है।

कृष्ण ने अर्जुन को इस सूत्र के पहले सांख्ययोग की बात कही है। कृष्ण ने कहा, जो पाने जैसा है, वह मिला ही हुआ है। जो जानने जैसा है, वह निकट से भी निकट है। उसे हमने कभी खोया नहीं है। वह हमारा स्वरूप है। तो अर्जुन पूछ रहा है, यदि जो जानने योग्य है, जो पाने योग्य है, वह मिला ही हुआ है और यदि जीवन की मुक्ति और जीवन का आनंद मात्र ज्ञान पर निर्भर है, तो मुझ गरीब को इस महाकर्म में क्यों धक्का दे रहे हैं!

कृष्ण ने सांख्य की जो दृष्टि समझाई है, अर्जुन उस सांख्य की दृष्टि पर नया प्रश्न खड़ा कर रहा है। दो शब्द सांख्य की दृष्टि को समझ लेने के लिए जरूरी हैं।

दुनिया में, सारे जगत में मनुष्य जाति ने जितना चिंतन किया है, उसे दो धाराओं में बांटा जा सकता है। सच तो यह है कि बस दो ही प्रकार के चिंतन पृथ्वी पर हुए हैं, शेष सारे चिंतन कहीं न कहीं उन दोशृंखलाओं से बंध जाते हैं। एक चिंतन का नाम है सांख्य; और दूसरे चिंतन का नाम है योग। बस, दो ही सिस्टम्स हैं सारे जगत में। जिन्होंने सांख्य का और योग का नाम भी नहीं सुना है--चाहे अरस्तू, चाहे सुकरात, चाहे अब्राहिम, चाहे

इजेकिअल, चाहे लाओत्से, चाहे कन्फ्यूसियस--जिन्हें सांख्य और योग के नाम का भी कोई पता नहीं है, वे भी इन दो में से किसी एक में ही खड़े होंगे। बस, दो ही तरह की निष्ठाएं हो सकती हैं।

सांख्य की निष्ठा है कि सत्य सिर्फ ज्ञान से ही जाना जा सकता है, कुछ और करना जरूरी नहीं है। कृत्य की, कर्म की कोई भी आवश्यकता नहीं है। प्रयास की, प्रयत्न की, श्रम की, साधना की कोई भी जरूरत नहीं है। क्योंकि जो भी खोया है हमने, वह खोया नहीं, केवल स्मृति खो गई है। याद पर्याप्त है, रिमेंबरिंग पर्याप्त है--करने का कोई भी सवाल नहीं है।

योग की मान्यता है, बिना किए कुछ भी नहीं हो सकेगा। साधना के बिना नहीं पहुंचा जा सकता है। क्योंकि योग का कहना हैः अज्ञान को भी काटना पड़ेगा; उसके काटने में भी श्रम करना होगा। अज्ञान कुछ ऐसा नहीं है जैसा अंधेरा है कि दीया जलाया और अज्ञान चला गया। अंधेरा कुछ ऐसा है, जैसे एक आदमी जंजीरों से बंधा पड़ा है। माना कि स्वतंत्रता उसका स्वभाव है, लेकिन जंजीरें काटे बिना स्वतंत्रता के स्मरण मात्र से वह मुक्त नहीं हो सकता है।

सांख्य मानता हैः अज्ञान अंधेरे की भांति है, जंजीरों की भांति नहीं। इसलिए दीया जलाया कि अंधेरा गया। ज्ञान हुआ कि अज्ञान गया। योग कहता हैः अज्ञान का भी अस्तित्व है, उसे भी काटना पड़ेगा।

दो तरह की निष्ठाएं हैं जगत में--सांख्य की और योग की।

कृष्ण ने दूसरे अध्याय में अर्जुन को सांख्य की निष्ठा के संबंध में बताया है। उन्होंने कहा है, ज्ञान पर्याप्त है, ज्ञान परम है, अल्टिमेट है।

साक्रेटीज ने ठीक ऐसी ही बात यूनान में कही है। साक्रेटीज को हम पश्चिम में सांख्य का व्यवस्थापक कह सकते हैं। साक्रेटीज ने कहा हैः ज्ञान ही चरित्र है। कुछ और करना नहीं है, जान लेना काफी है। जो हम जान लेते हैं, उससे हम मुक्त हो जाते हैं।

कृष्णमूर्ति जो भी कहते हैं, वह सांख्य की निष्ठा है। वह निष्ठा यह है कि जानना काफी है। टु नो दि फाल्स ए.ज फाल्स इ.ज इनफ, गलत को गलत जान लेना काफी है, फिर कुछ और करना नहीं पड़ेगा, वह तत्काल गिर जाएगा।

कुंदकुंद ने समयसार में जो कहा है, वह सांख्य की निष्ठा है। ज्ञान अपने आप में पूर्ण है; किसी कर्म की कोई जरूरत नहीं है।

अर्जुन पूछ रहा है कि यदि ऐसा है कि ज्ञान काफी है, तो मुझे इस भयंकर युद्ध के कर्म में उतरने के लिए आप क्यों कहते हैं? तो मैं जाऊं, कर्म को छोडूं और ज्ञान में लीन हो जाऊं! यदि ज्ञान ही पाने जैसा है, तो फिर मुझे ज्ञान के मार्ग पर ही जाने दें।

अर्जुन भागना चाहता है। और यह बात समझ लेनी जरूरी है कि हम अपने प्रत्येक काम के लिए तर्क जुटा लेते हैं। अर्जुन को ज्ञान से कोई भी प्रयोजन नहीं है। अर्जुन को सांख्य से कोई भी प्रयोजन नहीं है। अर्जुन को आत्मज्ञान की कोई अभी जिज्ञासा पैदा नहीं हो गई है। अर्जुन को प्रयोजन इतनी सी ही बात से है कि सामने वह जो युद्ध का विस्तार दिखाई पड़ रहा है, उससे वह भयभीत हो गया है, वह डर गया है। लेकिन वह यह स्वीकार करने को राजी नहीं कि मैं भय के कारण हटना चाहता हूं।

हममें से कोई भी कभी स्वीकार नहीं करता कि हम भय के कारण हटते हैं। अगर हम भय के कारण भी हटते हैं, तो हम और कारण खोजकर रेशनलाइजेशन करते हैं। अगर हम भय के कारण भी भागते हैं, तो हम यह मानने को कभी राजी नहीं होते कि हम भय के कारण भाग रहे हैं। हम कुछ और कारण खोज लेते हैं।

अर्जुन कह रहा है, यदि ज्ञान बिना कर्म के मिलता है, तो मुझे फिर कर्म में धक्का क्यों देते हैं?

ज्ञान पाने के लिए अगर अर्जुन यह कहे, तो कृष्ण पहले आदमी होंगे, जो उससे राजी हो जाएंगे। लेकिन वह फाल्स जस्टीफिकेशन, एक झूठा तर्क खोज रहा है। वह कह रहा है कि मुझे भागना है, मुझे निष्क्रिय होना है। और आप कहते हैं कि ज्ञान ही काफी है, तो कृपा करके मुझे कर्म से भाग जाने दें। उसका जोर कर्म से भागने में है, उसका जोर ज्ञान को पाने में नहीं है। यह फर्क समझ लेना एकदम जरूरी है, क्योंकि उससे ही कृष्ण जो कहेंगे आगे, वह समझा जा सकता है।

अर्जुन का जोर इस बात पर नहीं है कि ज्ञान पा ले; अर्जुन का जोर इस बात पर है कि इस कर्म से कैसे बच जाए। अगर सांख्य कहता है कि कर्म बेकार है, तो अर्जुन कहता है कि सांख्य ठीक है, मुझे जाने दो। सांख्य ठीक है, इसलिए अर्जुन नहीं भागता है। अर्जुन को भागना है, इसलिए सांख्य ठीक मालूम पड़ता है। और इसे, इसे अपने मन में भी थोड़ा सोच लेना आवश्यक है।

हम भी जिंदगीभर यही करते हैं। जो हमें ठीक मालूम पड़ता है, वह ठीक होता है इसलिए मालूम पड़ता है? सौ में निन्यानबे मौके पर, जो हमें करना है, हम उसे ठीक बना लेते हैं। हमें हत्या करनी है, तो हम हत्या को भी ठीक बना लेते हैं। हमें चोरी करनी है, तो हम चोरी को भी ठीक बना लेते हैं। हमें बेईमानी करनी है, तो हम बेईमानी को भी ठीक बना लेते हैं। हमें जो करना है, वह पहले है, और हमारे तर्क केवल हमारे करने के लिए सहारे बनते हैं।

फ्रायड ने अभी इस सत्य को बहुत ही प्रगाढ़ रूप से स्पष्ट किया है। फ्रायड का कहना है कि आदमी में इच्छा पहले है और तर्क सदा पीछे है; वासना पहले है, दर्शन पीछे है। इसलिए वह जो करना चाहता है, उसके लिए तर्क खोज लेता है। अगर उसे शोषण करना है, तो वह उसके लिए तर्क खोज लेगा। अगर उसे स्वच्छंदता चाहिए, तो वह उसके लिए तर्क खोज लेगा। अगर अनैतिकता चाहिए, तो वह उसके लिए तर्क खोज लेगा। आदमी की वासना पहले है और तर्क केवल वासना को मजबूत करने का, स्वयं के ही सामने वासना को सिद्ध, तर्कयुक्त करने का काम करता है।

इसलिए फ्रायड ने कहा है कि आदमी रेशनल नहीं है। आदमी बुद्धिमान है नहीं, सिर्फ दिखाई पड़ता है। आदमी उतना ही बुद्धिहीन है, जितने पशु। फर्क इतना है कि पशु अपनी बुद्धिहीनता के लिए किसी फिलासफी का आवरण नहीं लेते। पशु अपनी बुद्धिमानी को सिद्ध करने के लिए कोई प्रयास नहीं करते। वे अपनी बुद्धिहीनता में जीते हैं और बुद्धिमानी का कोई तर्क का जाल खड़ा नहीं करते। आदमी ऐसा पशु है, जो अपनी पशुता के लिए भी परमात्मा तक का सहारा खोजने की कोशिश करता है।

अर्जुन यही कर रहा है। कृष्ण की आंख से बचना मुश्किल है। अन्यथा अगर सांख्य की दृष्टि अर्जुन की समझ में आ जाए कि ज्ञान ही काफी है, तो अर्जुन पूछेगा नहीं कृष्ण से एक भी सवाल। बात खतम हो गई; वह उठेगा, नमस्कार करेगा और कहेगा, जाता हूं।

झेन फकीरों की मोनेस्ट्रीज में, आश्रम में एक छोटा-सा नियम है। जापान में जब भी कोई साधक किसी गुरु के पास ज्ञान सीखने आता है, तो गुरु उसे बैठने के लिए एक चटाई दे देता है। और कहता है, जिस दिन बात तुम्हारी समझ में आ जाए, उस दिन अपनी चटाई को गोल करके दरवाजे से बाहर निकल जाना। तो मैं समझ जाऊंगा, बात समाप्त हो गई। और जब तक समझ में न आए, तब तक तुम बाहर चले जाना, चटाई तुम्हारी यहीं पड़ी रहने देना। रोज लौट आना; अपनी चटाई पर बैठना; पूछना, खोजना। जिस दिन तुम्हें लगे, बात पूरी हो गई, उस दिन धन्यवाद भी मत देना। क्योंकि जिस दिन ज्ञान हो जाता है, कौन किसको धन्यवाद दे! कौन गुरु,

कौन शिष्य? और जिस दिन ज्ञान हो जाता है, उस दिन कौन कहे कि मुझे ज्ञान हो गया, क्योंकि मैं भी तो नहीं बचता है। तो उस दिन तुम अपनी चटाई गोल करके चले जाना, तो मैं समझ लूंगा कि बात पूरी हो गई।

अगर अर्जुन को सांख्य समझ में आ गया हो, तो वह चटाई गोल करेगा और चला जाएगा। उसकी समझ में कुछ आया नहीं है। हां, उसे एक बात समझ में आई कि मैं जो एस्केप, जो पलायन करना चाहता हूं, कृष्ण से ही उसकी दलील मिल रही है।

कृष्ण कहते हैं, ज्ञान ही काफी है, ऐसी सांख्य की निष्ठा है। और सांख्य की निष्ठा परम निष्ठा है। श्रेष्ठतम जो मनुष्य सोच सका है आज तक, वे सांख्य के सार सूत्र हैं। क्योंकि ज्ञान अगर सच में ही घटित हो जाए, तो जिंदगी में कुछ भी करने को शेष नहीं रह जाता है; फिर कुछ भी ज्ञान के प्रतिकूल करना असंभव है। लेकिन तब अर्जुन को पूछने की जरूरत न रहेगी; बात समाप्त हो जाती है। लेकिन वह पूछता है कि हे कृष्ण, आप कहते हैं, ज्ञान ही परम है, तो फिर मुझे इस युद्ध की झंझट में, इस कर्म में क्यों डालते हैं? अगर उसे ज्ञान ही हो जाए, तो युद्ध झंझट न होगी।

ज्ञानवान को जगत में कोई भी झंझट नहीं रह जाती। इसका यह मतलब नहीं है कि झंझटें समाप्त हो जाती हैं। इसका मतलब सिर्फ इतना ही है कि ज्ञानवान को झंझट झंझट नहीं, खेल मालूम पड़ने लगती है। अगर उसे ज्ञान हो जाए, तो वह यह न कहेगा कि इस भयंकर कर्म में मुझे क्यों डालते हैं? क्योंकि जिसे अभी कर्म भयंकर दिखाई पड़ रहा है, उसे ज्ञान नहीं हुआ। क्योंकि ज्ञान हो जाए तो कर्म लीला हो जाता है। ज्ञान हो जाए तो कर्म अभिनय, एक्टिंग हो जाता है। वह नहीं हुआ है। इसलिए कृष्ण को गीता आगे जारी रखनी पड़ेगी।

सच तो यह है कि कृष्ण ने जो श्रेष्ठतम है, वह अर्जुन से पहले कहा। इससे बड़ी भ्रांति पैदा हुई है। सबसे पहले कृष्ण ने सांख्य की निष्ठा की बात कही; वह श्रेष्ठतम है। साधारणतः, कोई दूसरा आदमी होता, तो अंत में कहता। दुकानदार अगर कोई होता कृष्ण की जगह, तो जो श्रेष्ठतम है उसके पास, वह अंत में दिखाता। निकृष्ट को बेचने की पहले कोशिश चलती। अंत में, जब निकृष्ट खरीदने को ग्राहक राजी न होता, तो वह श्रेष्ठतम दिखाता।

कृष्ण कोई दुकानदार नहीं हैं, वे कुछ बेच नहीं रहे हैं। वे श्रेष्ठतम अर्जुन से पहले कह देते हैं कि सांख्य की निष्ठा श्रेष्ठतम है, वह मैं तुझे कह देता हूं। अगर उससे बात पूरी हो जाए, तो उसके ऊपर फिर कुछ बात करने को नहीं बचती है।

दूसरे अध्याय पर गीता खतम हो सकती थी, अगर अर्जुन पात्र होता। लेकिन अर्जुन पात्र सिद्ध नहीं हुआ। कृष्ण को श्रेष्ठ से एक कदम नीचे उतरकर बात शुरू करनी पड़ी। अगर श्रेष्ठतम समझ में न आए, तो फिर श्रेष्ठ से नीचे समझाने की वे कोशिश करते हैं। अर्जुन का सवाल बता देता है कि सांख्य उसकी समझ में नहीं पड़ा। क्योंकि समझ के बाद प्रश्न गिर जाते हैं। इसे भी ख्याल में ले लें।

आमतौर से हम सोचते हैं कि समझदार को सब उत्तर मिल जाते हैं; गलत है वह बात। समझदार को उत्तर नहीं मिलते, समझदार के प्रश्न गिर जाते हैं। समझदार के पास प्रश्न नहीं बचते। असल में समझदार के पास पूछने वाला ही नहीं बचता है। असल में समझ में कोई प्रश्न ही नहीं है। ज्ञान निष्प्रश्न है, क्योंकि ज्ञान में कोई भी प्रश्न उठता नहीं। ज्ञान मौन और शून्य है, वहां कोई प्रश्न बनता नहीं। ऐसा नहीं कि ज्ञान में सब उत्तर हैं, बल्कि ऐसा कि ज्ञान में कोई प्रश्न नहीं हैं। ज्ञान प्रश्नशून्य है।

अगर सांख्य समझ में आता, तो अर्जुन के प्रश्न गिर जाते। लेकिन वह वापस अपनी जगह फिर खड़ा हो गया है। अब वह सांख्य को ही आधार बनाकर प्रश्न पूछता है। अब ऐसा दिखाने की कोशिश करता है कि सांख्य

मेरी समझ में आ गया, तो अब मैं तुमसे कहता हूं कृष्ण, कि मुझे इस भयंकर युद्ध और कर्म में मत डालो। लेकिन उसका भय अपनी जगह खड़ा है। युद्ध से भागने की वृत्ति अपनी जगह खड़ी है। पलायन अपनी जगह खड़ा है। जीवन को गंभीरता से लेने की वृत्ति अपनी जगह खड़ी है।

सांख्य कहेगा कि जीवन को गंभीरता से लेना व्यर्थ है। क्योंकि जो कहेगा कि ज्ञान ही सब कुछ है, उसके लिए कर्म गंभीर नहीं रह जाते, कर्म खेल हो जाते हैं बच्चों के। सांख्य हम सब को, जो कर्म में लीन हैं, जो कर्म में रस से भरे हैं या विरस से भरे हैं, कर्म में भाग रहे हैं या कर्म से भाग रहे हैं--सांख्य की दृष्टि में हम छोटे बच्चों की तरह हैं, जो नदी के किनारे रेत के मकान बना रहे हैं, बड़े कर्म में लीन हैं। और अगर उनके रेत के मकान को धक्का लग जाता है, तो बड़े दुखी और बड़े पीड़ित हैं।

सांख्य कहता है, कर्म स्वप्न से ज्यादा नहीं है। अगर यह समझ में आ जाए, तो कृष्ण के सामने और प्रश्न उठाने की अर्जुन को कोई जरूरत नहीं है। यह समझ में नहीं आया है। फिर भी नासमझी भी समझदारी के प्रश्न खड़े कर सकती है। और अर्जुन वैसा ही प्रश्न खड़ा कर रहा है।

प्रश्नः भगवान श्री, सांख्य समझ में तो आई है थोड़ी, लेकिन अनुभूति में नहीं आई है, इसलिए प्रश्न तो उठते ही हैं। भगवान श्री, ज्ञाननिष्ठा अर्थात सांख्य, और कर्मनिष्ठा अर्थात योग क्या अपने-अपने में पूर्ण नहीं हैं? अथवा क्या वे एक-दूसरे के पूरक हैं? और उनमें विरोध दिखाई पड़ने का क्या कारण है? कृपया इसे बताएं।

सांख्य और योग में विरोध नहीं है; लेकिन सांख्य की दिशा जिस व्यक्ति के लिए अनुकूल है, उसके लिए योग की दिशा प्रतिकूल है। जिसे योग की दिशा अनुकूल है, उसे सांख्य की दिशा प्रतिकूल है। सांख्य और योग में विरोध नहीं है, लेकिन इस जगत में व्यक्ति दो प्रकार के हैं, व्यक्तियों का टाइप दो प्रकार का है। और इसलिए किसी के लिए सांख्य बिल्कुल गलत हो सकता है और किसी के लिए योग बिल्कुल सही हो सकता है। और किसी के लिए योग बिल्कुल गलत हो सकता है और सांख्य बिल्कुल सही हो सकता है। दो तरह के व्यक्ति हैं जगत में।

अभी गुस्ताव जुंग ने व्यक्तियों के दो मोटे विभाजन किए हैं। एक को गुस्ताव जुंग कहता है एक्स्ट्रोवर्ट, और दूसरे को कहता है इंट्रोवर्ट। एक वे, जो बहिर्मुखी हैं; एक वे, जो अंतर्मुखी हैं।

जो व्यक्ति अंतर्मुखी हैं, उनके लिए योग जरा भी काम का नहीं है। जो व्यक्ति अंतर्मुखी हैं, उनके लिए सांख्य पर्याप्त है। पर्याप्त से ज्यादा है। जो व्यक्ति बहिर्मुखी हैं, सांख्य उनकी पकड़ में ही नहीं आएगा, कर्म ही उनकी पकड़ में आएगा। क्योंकि ध्यान रहे, कर्म के लिए बाहर जाना जरूरी है और ज्ञान के लिए भीतर जाना जरूरी है। कर्म अगर कोई भीतर करना चाहे, तो नहीं कर सकता। आप भीतर कर्म कर सकते हैं? कर्म के लिए बहिर्मुख होना जरूरी है, बाहर जाना जरूरी है। कर्म के लिए अपने से बाहर निकलना पड़ेगा, तो ही कर्म हो सकता है। इसलिए जितना कर्मठ व्यक्ति, उतना अपने से बाहर चला जाता है; चांद-तारों पर चला जाता है; भीतर नहीं आ सकता है।

योग बहिर्मुखी व्यक्ति के लिए मार्ग है; सांख्य अंतर्मुखी व्यक्ति के लिए मार्ग है। और इस तरह के, दो तरह के व्यक्ति हैं। इन दो तरह के व्यक्तियों में विरोध है; सांख्य और योग में विरोध नहीं है।

इस बात को ठीक से समझ लेना जरूरी है। क्योंकि अक्सर व्यक्तियों का विरोध, शास्त्रों का विरोध मालूम पड़ने लगता है। व्यक्तियों का विरोध शास्त्रों का विरोध मालूम पड़ने लगता है, है नहीं। अब महावीर हैं, बुद्ध हैं, शंकर हैं या नागार्जुन हैं--इनके बीच जो भी विरोध हमें मालूम पड़ते हैं, वे इन व्यक्तियों के विरोध हैं; जिस

सत्य, जिस अनुभूति, जिस अलौकिक जगत की वे बात कर रहे हैं, वहां कोई विरोध नहीं है। लेकिन जिस मार्ग से वे पहुंचे हैं, वहां भिन्नता है। भिन्नता ही नहीं, विरोध भी है।

अब जैसे एक बहिर्मुखी व्यक्ति है, तो उसके लिए धर्म सेवा बनेगी। अंतर्मुखी व्यक्ति है, उसके लिए धर्म ध्यान बनेगा। अंतर्मुखी व्यक्ति के लिए सेवा की बात एकदम से समझ में नहीं आएगी। बहिर्मुखी व्यक्ति के लिए ध्यान की बात एकदम से समझ में नहीं आएगी--कि भीतर डूबकर क्या होगा? जो भी है करने का, बाहर है। जो भी होने की संभावना है, बाहर है।

ये दो तरह के व्यक्ति हैं, मोटे हिसाब से। आमतौर से कोई भी व्यक्ति एकदम एक्सट्रोवर्ट और एकदम इंट्रोवर्ट नहीं होता। ये मोटे विभाजन हैं। हम सब मिश्रण होते हैं--कुछ अंतर्मुखी, कुछ बहिर्मुखी। मात्राओं के फर्क होते हैं। कभी होता है कि नब्बे प्रतिशत व्यक्ति बहिर्मुखी होता है, दस प्रतिशत अंतर्मुखी होता है।

आमतौर से व्यक्ति मिश्रित होते हैं। ऐसा बहुत कम होता है कि व्यक्ति शुद्ध रूप से अंतर्मुखी हो। क्योंकि शुद्ध रूप से अंतर्मुखी व्यक्ति एक क्षण भी जी नहीं सकता। भोजन करेगा, तो बाहर जाना पड़ेगा; स्नान करेगा, तो बाहर जाना पड़ेगा। अंतर्मुखी व्यक्ति अगर सौ प्रतिशत हो, तो तत्काल मृत्यु घटित हो जाएगी। बहिर्मुखी व्यक्ति भी अगर सौ प्रतिशत हो, तो तत्काल मृत्यु हो जाएगी। क्योंकि निद्रा भी चाहिए, जिसमें भीतर जाना पड़ेगा। विश्राम भी चाहिए, जिसमें अपने में डूबना पड़ेगा। काम से छुट्टी, अवकाश भी चाहिए; मित्रों, प्रियजनों से बचाव भी चाहिए; अन्यथा उसका अपने अंतर-जीवन के स्रोतों से संबंध टूट जाएगा और वह समाप्त हो जाएगा।

इसलिए यह जो विभाजन है, सैद्धांतिक है। व्यक्ति-व्यक्ति में मात्राओं के फर्क होते हैं। नब्बे प्रतिशत कोई व्यक्ति बहिर्मुखी हो सकता है, दस प्रतिशत अंतर्मुखी हो सकता है।

अर्जुन जो है, एक्सट्रोवर्ट है। अर्जुन जो है, बहिर्मुखी व्यक्ति है। इसलिए सांख्य की बात उसकी समझ में पड़नी असंभव है; या इतनी थोड़ी-सी पड़ सकती है कि उससे वह नए सवाल उठा सकता है। लेकिन उससे उसके जीवन का समाधान नहीं हो सकता। क्यों? अर्जुन बहिर्मुखी क्यों है?

अर्जुन का सारा जीवन क्षत्रिय के शिक्षण का जीवन है। सारा जीवन कुछ करने और करने में कुशलता पाने में बीता है। सारा जीवन दूसरे को ध्यान में रखकर बीता है--प्रतियोगिता में, प्रतिस्पर्धा में, संघर्ष में, युद्ध में। क्षत्रिय, इंट्रोवर्ट आदमी क्षत्रिय नहीं हो सकता है। और अगर अंतर्मुखी आदमी क्षत्रिय के घर में भी पैदा हो जाए, तो भी क्षत्रिय नहीं रह सकता।

जैनों के चौबीस तीर्थंकर क्षत्रियों के घर में पैदा हुए, लेकिन क्षत्रिय नहीं रह सके। वे सब इंट्रोवर्ट हैं। महावीर अंतर्मुखी व्यक्ति हैं। बाहर के जगत में उन्हें कोई अर्थ मालूम नहीं होता है। बुद्ध क्षत्रिय घर में पैदा हुए, लेकिन क्षत्रिय नहीं रह सके। बाहर का वह विस्तार, कर्मों का वह जाल, उन्हें बेमानी मालूम पड़ा, छोड़कर हट गए।

अगर ब्राह्मण के घर में भी बहिर्मुखी व्यक्ति पैदा हो जाए--जैसे परशुराम--तो ब्राह्मण नहीं रह सकता, क्षत्रिय हो जाएगा। क्षत्रिय अनिवार्यरूपेण बहिर्मुखी होता है। अगर क्षत्रिय होने में उसे सफल होना है।

अर्जुन, कहना चाहिए, क्षत्रिय होने का आदर्श है। क्षत्रिय जैसा हो सकता है, वैसा व्यक्तित्व है। कृष्ण ने उसे सांख्य की निष्ठा कही सबसे पहले, क्योंकि अर्जुन बातें ब्राह्मणों जैसी कर रहा है। अर्जुन आदमी क्षत्रिय जैसा, सवाल ब्राह्मणों जैसे उठा रहा है। युद्ध के मैदान पर खड़ा है, लेकिन प्रश्न जो पूछ रहा है, वे गुरुकुलों में पूछने जैसे हैं। प्रश्न जो पूछा रहा है, वे किसी बुद्ध से, किसी बोधिवृक्ष के नीचे बैठकर, वन के एकांत में पूछने जैसे हैं। लेकिन

प्रश्न जो पूछ रहा है, वह पूछ रहा है युद्ध के समारंभ के शुरुआत में, जब कि शंखनाद हो चुका है और योद्धा आमने-सामने आ गए हैं और जब अब घड़ीभर की देर नहीं है कि लहू की धारें बह जाएंगी--ऐसे क्षण में वह जिज्ञासाएं जो कर रहा है, वे ब्राह्मण जैसी हैं।

कृष्ण ने बड़ी ही अंतर्दृष्टि का प्रमाण दिया है। क्योंकि बात वह ब्राह्मण जैसी कर रहा है, इसलिए ब्राह्मण की जो चरम उत्कृष्ट संभावना है--सांख्य--कृष्ण ने सबसे पहले वही कह दी। उन्होंने कहा कि अगर तू सच में ही ब्राह्मण की स्थिति में आ गया है, तो सांख्य की बात पर्याप्त होगी, ज्ञान पर्याप्त होगा।

उससे कुछ हल नहीं हुआ। अर्जुन वहीं का वहीं रहा, जैसे घड़े पर पानी गिरा और बह गया। दूसरा अध्याय व्यर्थ गया है अर्जुन पर। अर्जुन पर अगर सार्थक हो जाता, तो गीता वहीं बंद हो जाती, आगे गीता के चलने का उपाय न था।

अब कृष्ण को एक-एक कदम नीचे उतरना पड़ेगा। वे एक-एक कदम नीचे उतरकर अर्जुन से बात करेंगे। शायद एक सीढ़ी नीचे की बात अर्जुन की समझ में आ जाए। इतना तय हो गया कि ब्राह्मण वह नहीं है। वह उसका स्वधर्म नहीं है, वह उसका व्यक्तित्व नहीं है। सांख्य बेकार गया--सांख्य बेकार है, इसलिए नहीं। अर्जुन पर बेकार गया, अर्जुन के लिए बेकार है।

लेकिन कृष्ण के लिए सर्वाधिक महत्वपूर्ण था, इसलिए सबसे पहले सांख्य की बात कर ली।

प्रश्नः भगवान श्री, एक बहुत ही छोटा-सा प्रश्न है, आपने अभी-अभी कहा कि व्यक्ति कुछ अंतर्मुखी है और कुछ बहिर्मुखी है। इसका अर्थ क्या यह है कि व्यक्ति को सांख्य और योग दोनों की साधना साथ-साथ करनी पड़ेगी?

नहीं; दोनों की साधना साथ-साथ नहीं की जा सकती है। दो रास्तों पर कभी भी एक साथ नहीं चला जा सकता है। और जो दो रास्तों पर एक साथ चलेगा, वह कहीं भी नहीं पहुंचेगा। चल ही नहीं सकेगा। न दो नावों पर एक साथ सवार हुआ जा सकता है। और जो दो नावों पर एक साथ सवार होगा, वह सिर्फ डूबेगा; वह कहीं पहुंच नहीं सकता है।

जब मैंने कहा कि व्यक्ति में मात्राएं हैं, तो जिस व्यक्ति में जिस तत्व की ज्यादा मात्रा है, उसे उसी मार्ग पर जाना होगा। मार्ग तो एक ही चुनना होगा। अगर वह बहिर्मुखी है अधिक मात्रा में, तो योग मार्ग है; अगर अंतर्मुखी है अधिक मात्रा में, तो सांख्य मार्ग है। मार्ग तो चुनना ही होगा। दोनों पर नहीं चला जा सकता।

और इसीलिए एक बात और आपसे कह दूं। इसीलिए जो व्यक्ति जिस मार्ग से पहुंचेगा, वह बलपूर्वक कहेगा कि मेरा ही मार्ग ठीक है। उसके कहने में कोई गलती नहीं है, वह पहुंचा है उस मार्ग से। और वह बलपूर्वक यह भी कहेगा कि दूसरे का मार्ग ठीक नहीं है, जानते हुए भी कि दूसरे का मार्ग भी ठीक है। पर ऐसा क्यों कहेगा? क्योंकि अगर वह ऐसा कहे कि वह मार्ग भी ठीक है, यह मार्ग भी ठीक है, तो जिन लोगों को मार्ग पर चलना है, उनके लिए चुनाव कठिन होता चला जाता है।

इसलिए दुनिया में जब से इक्लेक्टिक रिलीजन पैदा हो गए, जैसे थियोसाफी, जिसने कहा कि सब मार्ग ठीक हैं, तो उस मार्ग पर कोई आदमी चला नहीं कभी। हां, लोग किताब पढ़ लिए। जब सब मार्ग ठीक हैं, तो चुनाव मुश्किल हो गया। जब से दुनिया में कुछ ऐसे लोगों ने बात करनी शुरू की कि सभी ठीक है, तब से करीब-करीब मतलब यह हुआ कि सभी बेकार है, कुछ भी ठीक नहीं है। जो अंततः मतलब हुआ। जब हम कहने

लगते हैं कि सभी ठीक है, तो करीब-करीब बात ऐसी हो जाती है कि गलत कुछ भी नहीं है। और अंततः मनुष्य के मन पर जो परिणाम होता है, वह यह होता है कि सभी गलत है।

इसलिए सांख्य अनिवार्य रूप से कहेगा कि गलत है कर्म की बात; ज्ञान ही सही है। और मैं मानता हूं, इसमें करुणा है, इसमें डागमेटिज्म नहीं है। इस बात को ठीक से समझ लेना है। इसमें कोई रूढ़िवाद नहीं है; इसमें सिर्फ करुणा है। क्योंकि वह जो विराट मनुष्य जाति है, उसे चुनाव करना है। एक-एक आदमी को डिसीजन लेना है--कहां चले? अगर सभी ठीक है, तो आदमी इनडिसीसिव हो जाता है। वह अनिश्चय में पड़ जाता है। वह सिर्फ खड़ा रह जाता है।

अगर चौरस्ते पर आप किसी से पूछें कि कौन-सा रास्ता नदी पहुंचता है? और वह कहे कि सभी रास्ते नदी पहुंचते हैं, तो बहुत संभावना यही है कि आप चौरस्ते पर खड़े रह जाएं और दूसरे आदमी की प्रतीक्षा करें, जो एक रास्ता बता सकता हो।

सांख्य कहेगाः ठीक है ज्ञान। योग कहेगाः ठीक है साधना, कर्म, श्रम। उनके कहने में करुणा है। व्यक्तियों को, जिनसे यह बात कही जा रही है, उनके सामने स्पष्ट चुनाव चाहिए। लेकिन एक बात समझ लेनी चाहिए कि प्रत्येक व्यक्ति को अपने को तौलकर मार्ग... ।

इसलिए गीता एक अर्थ में अदभुत ग्रंथ है। न कुरान इस अर्थ में अदभुत है, न बाइबिल इस अर्थ में अदभुत है, न महावीर के वचन, न बुद्ध के, इस अर्थ में अदभुत हैं। किसी और अर्थ में वे सारी चीजें अदभुत हैं। लेकिन गीता एक विशेष अर्थ में अदभुत है कि उसमें सब तरह के व्यक्तियों के मार्गों की चर्चा हो गई है। उसमें सब तरह की संभावनाओं पर चर्चा हो गई है, क्योंकि अर्जुन पर कृष्ण ने सभी तरह की संभावनाओं की बात की है। एक-एक संभावना बेकार होती गई है, वे दूसरी संभावना की बात करते चले गए हैं। ऐसे अर्जुन के बहाने कृष्ण ने प्रत्येक मनुष्य के लिए संभावना का द्वार खोल दिया है।

लेकिन उससे उलझन भी पैदा हुई। उलझन यह पैदा हुई कि कृष्ण जब सांख्य की बात करते हैं, तो वे कहते हैं, सांख्य परम है। तब वे ऐसे बोलते हैं, जैसे वे सांख्य स्वयं हैं। बोलना ही पड़ेगा। जब वे योग की बात करते हैं, तो लगता है, योग परम है। जब वे भक्ति की बात करते हैं, तो लगता है कि भक्ति परम है। इससे एक उपद्रव जरूर हुआ। वह उपद्रव यह हुआ कि भक्त ने पूरी गीता में से भक्ति निकाल डाली। निकाल ली भक्ति और पूरी गीता पर भक्ति को थोप देने की कोशिश की। रामानुज, वल्लभ, निम्बार्क--सबकी टीकाएं पूरी गीता पर भक्ति को थोप देती हैं। ज्ञानियों ने ज्ञान निकाल लिया और पूरी गीता पर ज्ञान थोपने की कोशिश की--शंकर। कर्मियों ने कर्म निकाल लिया--तिलक--और पूरी गीता पर कर्म को थोपने की कोशिश की।

लेकिन कोई भी इस सत्य को ठीक से नहीं समझ पाया कि गीता समस्त मार्गों का विचार है। और जब एक मार्ग की कृष्ण बात करते हैं, तो उस मार्ग से वे इतने लीन और एक हो जाते हैं कि वे कहते हैं, परम है, यही परम है। जब अर्जुन पर वह व्यर्थ हो जाता है, तब वे दूसरे मार्ग की बात करते हैं। तब वे अर्जुन से फिर कहते हैं, यही परम है, दिस इ.ज दि अल्टिमेट, यही सत्य है पूर्ण। क्योंकि अर्जुन को वे फिर चाहते हैं कि इसे चुन ले। और अर्जुन वैसे ही अनिश्चयमना है, अगर कृष्ण भी स्यातवाद में बोलें कि शायद यह ठीक है, शायद वह ठीक है, तो अर्जुन के लिए चुनाव असंभव है। अगर कृष्ण यह कहें कि वह भी ठीक है, यह भी ठीक है; किसी के लिए वह ठीक है, किसी के लिए यह ठीक है; कभी वह ठीक है, कभी यह ठीक है। तो अर्जुन, जो इनडिसीजन में पड़ा है, जो अनिर्णय में पड़ा है, जो चिंता में पड़ा है, जिसे मार्ग नहीं सूझता, उसके लिए कृष्ण मार्ग नहीं बना सकेंगे, मार्ग नहीं दे सकेंगे।

इसलिए कृष्ण जब कहते हैं, यही परम है, तो वे अर्जुन की आंख में झांक रहे हैं और देख रहे हैं कि शायद यह उसे ठीक पड़ जाए; तो उसके लिए यही परम हो जाए।

इसलिए गीता विशिष्ट है इस अर्थ में कि अब तक सत्य तक पहुंचने के जितने द्वार हैं, कृष्ण ने उन सबकी बात की है। लेकिन वह बात सिंथेटिक नहीं है, वह बात गांधी जी जैसी नहीं है। वह बात ऐसी नहीं है कि वह भी ठीक है, यह भी ठीक है। कृष्ण कहते हैं, जो ठीक है, उसके लिए वह परम रूप से ठीक है, बाकी उसके लिए सब गलत है। दूसरा किसी के लिए ठीक है, तो वह उसके लिए परिपूर्ण रूप से ठीक है--एब्सोल्यूट--निरपेक्ष ठीक है, और बाकी उसके लिए सब गलत है।

गीता बड़ी हिम्मतवर किताब है। और इतनी हिम्मत के लोग कम होते हैं, जो अपनी ही बात को जिसे उन्होंने दो क्षण पहले कहा है, दो क्षण बाद कह सकें कि वह बिल्कुल गलत है, यह बिल्कुल ठीक है। और दो क्षण बाद इसको भी कह सकें कि यह बिल्कुल गलत है और अब जो मैं कह रहा हूं वही बिल्कुल ठीक है। इतना असंगत होने का साहस केवल वे ही लोग कर सकते हैं, जो भीतरी रूप से परम संगति को उपलब्ध हो गए हैं, और अन्य लोग नहीं कर सकते हैं।

यह तो बार-बार ख्याल में आएगा आपको कि कृष्ण जब भी जो कुछ कहते हैं, एब्सोल्यूट, निरपेक्ष कहते हैं; जब जो कुछ कहते हैं, उसे पूर्णता से कहते हैं। ख्याल यही है कि वह इतनी पूर्णता में ही अर्जुन के लिए चुनाव बन सकता है, अन्यथा चुनाव नहीं बन सकता है।

इसलिए दुनिया में जब से बहुत कम हिम्मत के दयालु लोग पैदा हो गए हैं--जो कहते हैं, यह भी ठीक है, वह भी ठीक है; सब ठीक है; और सबकी खिचड़ी बनाने की कोशिश में लगे हुए हैं--तब से उन्होंने न हिंदू को ठीक से हिंदू रहने दिया, न मुसलमान को ठीक से मुसलमान रहने दिया; न अल्लाह के पुकारने में ताकत रह गई, न राम को बुलाने में हिम्मत रह गई। अल्ला-ईश्वर तेरे नाम बिल्कुल इम्पोटेंट हो जाता है, बिल्कुल मर जाता है; उसमें कोई ताकत नहीं रह जाती। उसमें कोई ताकत ही नहीं रह जाती।

एक व्यक्ति के लिए उसका निर्णय सदा परम होता है। वह निर्णय उसी तरह का है कि मैं किसी स्त्री के प्रेम में पड़ जाऊं, तो उस प्रेम के क्षण में मैं उससे कहता हूं कि तुझसे ज्यादा सुंदर और कोई भी नहीं है। और ऐसा नहीं है कि मैं उसे धोखा दे रहा हूं। ऐसा मुझे उस क्षण में दिखाई ही पड़ता है। ऐसा भी नहीं है कि कल मैं बदल जाऊंगा, तो आप कहें कि कल आप बदल गए तो उस दिन आपने धोखा दिया था? नहीं, तब भी उस क्षण में मैंने ऐसा ही जाना था और वह मेरे पूरे प्राणों से निकला था कि तुझसे ज्यादा सुंदर और कोई भी नहीं है। उस क्षण के लिए मेरे पूरे प्राणों की पुकार वही थी।

कृष्ण जैसे लोग क्षणजीवी होते हैं, लिविंग मोमेंट टु मोमेंट। जब वे सांख्य की बात करते हैं, तब वे सांख्य के साथ इस प्रेम में पड़ जाते हैं कि वे कहते हैं, सांख्य परम है। अर्जुन! सांख्य से श्रेष्ठ कुछ भी नहीं है। और जब वे भक्ति के प्रेम में पड़ जाते हैं क्षणभर के बाद, तो वे कहते हैं, अर्जुन! भक्ति ही मार्ग है; उसके अतिरिक्त कोई भी मार्ग नहीं है।

इसे ध्यान में रखना पड़ेगा। इसमें कोई तुलनात्मक, कोई कंपेरेटिव बात नहीं है। जब कृष्ण कहते हैं, सांख्य परम है, या जब मैं कहता हूं किसी स्त्री से कि तुझसे सुंदर और कोई भी नहीं है, तब मैं दुनिया की स्त्रियों से उसकी तुलना नहीं कर रहा। असल में मेरे लिए वह अतुलनीय हो गई है, इसलिए दुनिया में अब कोई स्त्री उसके मुकाबले नहीं है। मैं कोई तुलना नहीं कर रहा, मैं कोई कंपेयर नहीं कर रहा, सारी तस्वीरें रखकर जांच नहीं कर रहा कि इससे सुंदर कोई स्त्री है या नहीं! न मैंने सारी दुनिया की स्त्रियां देखी हैं, न जानने का सवाल

है। न! इस क्षण में मेरे पूरे प्राणों की आवाज यह है कि तुझसे सुंदर और कोई भी नहीं है। वह सिर्फ मैं यह कह रहा हूं कि मैं तुझे प्रेम करता हूं। और जहां प्रेम है, वहां परम, एब्सोल्यूट प्रकट होता है।

और कृष्ण जब सांख्य की बात करते हैं, तो वे सांख्य के साथ उसी तरह प्रेम में हैं, जैसे कोई प्रेमी। और अगर इतने प्रेम में न हों, तो गीता में इतने प्राण नहीं हो सकते थे, तब किताब भगवद्गीता नहीं कही जा सकती थी। तब वह भगवान का वचन नहीं कही जा सकती थी। भगवान का वचन वह इसीलिए कही जा सकी--वह इसीलिए गीत गोविंद बन गई--सिर्फ इसीलिए कि प्रतिपल कृष्ण ने जो भी कहा, उसके साथ वे इतने एक हो गए कि रत्तीभर का फासला न रहा।

सांख्य की बात करते वक्त वे सांख्य हो जाते हैं; भक्ति की बात करते वक्त वे भक्त हो जाते हैं; योग की बात करते वक्त वे महायोगी हो जाते हैं। अतीत गिर जाता, भविष्य शेष नहीं रहता, जो सामने होता है, उसके साथ वे पूरे एक हो जाते हैं।

इसे ख्याल में रखेंगे, तो उनके वचन तुलनात्मक नहीं हैं। एक अध्याय की दूसरे अध्याय से तुलना नहीं की गई है। एकशृंखला दूसरीशृंखला से, एक निष्ठा दूसरी निष्ठा से तौली नहीं गई है। प्रत्येक निष्ठा अपने में परम है। निश्चित ही, जो भी उस निष्ठा से पहुंचता है, उसके लिए उससे श्रेष्ठ कोई निष्ठा नहीं रह जाती।

प्रश्नः भगवान श्री, बहिर्मुखी व्यक्ति साधना करते-करते अंतर्मुख होता जाए, तो क्या अपना रास्ता जीवन में आगे जाकर उसे बदलना चाहिए?

नहीं; ऐसा होता नहीं। बहिर्मुख व्यक्ति बढ़ते-बढ़ते सारे ब्रह्म से एक हो जाता है। बहिर्मुख व्यक्ति बढ़ते-बढ़ते उस जगह पहुंच जाता है, जहां बाहर कुछ शेष नहीं रहता। सारे बहिर से उसका एकात्म हो जाता है। जिस दिन सारे बहिर से उसका एकात्म हो जाता है, उस दिन भीतर भी कुछ नहीं रह जाता, बाहर भी कुछ नहीं रह जाता। लेकिन वह बाहर के साथ एक होकर स्वयं को और सत्य को पाता है। तब वह कहता हैः ब्रह्म मैं हूं, वह सारे ब्रह्म से एक हो जाता है। पूर्ण मैं हूं, तब वह पूरे पूर्ण से एक हो जाता है। तब चांद-तारे उसे अपने भीतर घूमते हुए मालूम पड़ते हैं।

अंतर्मुखी व्यक्ति भीतर डूबते-डूबते इतना भीतर डूब जाता है कि भीतर भी नहीं बचता, शून्य हो जाता है। तब वह कह पाता है, मैं हूं ही नहीं। जैसे दीए की लौ बुझ गई और खो गई, ऐसा ही सब खो गया।

बहिर्मुखी व्यक्ति अंततः पूर्ण को पकड़ पाता है। अंतर्मुखी व्यक्ति अंततः शून्य को पकड़ पाता है। और शून्य और पूर्ण दोनों एक ही अर्थ रखते हैं। लेकिन बहिर्मुखी व्यक्ति बाहर की यात्रा कर-करके पहुंचता है; अंतर्मुखी व्यक्ति भीतर की यात्रा कर-करके पहुंचता है। बहिर्मुखी व्यक्ति अंततः अपने अंतस को बिल्कुल काटकर फेंक देता है; भीतर कुछ बचता ही नहीं, बाहर ही बचता है। अंतर्मुखी व्यक्ति बाहर को भूलते-भूलते इतना भूल जाता है कि बाहर कुछ बचता ही नहीं है।

और बड़े मजे की बात है कि बाहर और भीतर दोनों एक साथ बचते हैं। एक नहीं बच सकता दो में से। इसलिए एक खोता है, तो दूसरा तत्काल खो जाता है। अगर आप बाहर ही बाहर बचे और भीतर कुछ न बचे, तो बाहर भी खो जाएगा। क्योंकि बाहर फिर किसका बाहर होगा! उसके लिए एक भीतर चाहिए, भीतर के कारण ही वह बाहर है। अगर भीतर ही बचे और बाहर बिल्कुल न बचे, तो उसे भीतर कैसे कहिएगा? वह किसी बाहर की तुलना और अपेक्षा में भीतर है। असल में जैसे आपके कोट का खीसा है। उसका एक हिस्सा

भीतर है, जिसमें आप हाथ डालते हैं; और एक हिस्सा उसका बाहर है, जो लटका हुआ है। क्या आप सोच सकते हैं कि कभी ऐसा हो जाए कि खीसे का भीतर ही भीतर बचे और बाहर न बचे!

आपका घर है। कभी आप सोच सकते हैं कि घर का भीतर ही भीतर बचे और घर का बाहर न बचे! अगर भीतर ही भीतर बचे और बाहर न बचे, तो भीतर भी न बचेगा। अगर बाहर ही बाहर बचे और भीतर न बचे, तो बाहर भी न बचेगा। बाहर और भीतर एक ही सिक्के के दो पहलू हैं।

इसलिए दो रास्ते हैं। या तो बाहर को गिरा दो या भीतर को गिरा दो। दोनों गिर जाएंगे और तब जो शेष रह जाएगा, जो बाहर और भीतर दोनों में था, जो बाहर और भीतर दोनों के पार भी था। वह जो बचेगा, उसे हम ब्रह्म कहें--अगर हमने बाहर से यात्रा की हो। या उसे हम शून्य कहें, निर्वाण कहें--अगर हमने भीतर से यात्रा की हो।

जिन लोगों ने परमात्मा को पूर्ण की तरह सोचा है, वे बहिर्यात्रा कर रहे हैं। जिन्होंने परमात्मा को शून्य की तरह सोचा है, वे अंतर्यात्रा कर रहे हैं। ऐसा नहीं है कि योग की साधना करते-करते, बहिर-साधना करते-करते एक दिन फिर सांख्य की साधना करनी पड़ेगी--कोई जरूरत नहीं है! योग ही पहुंचा देगा।

इसे एक और तरह से समझ लें, तो ख्याल में आ जाए। एक आदमी दस की संख्या पर खड़ा है। वह दस की संख्या से अगर ग्यारह और बारह ऐसा बढ़ता चला जाए, तो भी असीम पर पहुंच जाएगा। एक जगह आएगी, जहां सब संख्याएं खो जाएंगी। अगर वह दस से नीचे उतरे नौ, आठ... पीछे लौटता है, तो एक के बाद शून्य आ जाएगा, जहां सब संख्याएं खो जाएंगी। आप किसी भी तरफ यात्रा करें, संख्या खोएगी। और जब संख्या खो जाएगी, तो आपने कहां से यात्रा की थी, इससे कोई फर्क नहीं पड़ेगा। जो बचेगा--संख्या के बाहर--वह एक ही होने वाला है।

इसे पाजिटिव और निगेटिव की तरह भी ख्याल में ले लेना चाहिए। कुछ लोग हैं जिनको विधायक शब्द प्रीतिकर लगते हैं, वे वे ही लोग हैं, जो बहिर्मुखी हैं। कुछ लोग हैं जिन्हें नकारात्मक, निषेधात्मक शब्द प्रीतिकर लगते हैं, वे वे ही लोग हैं, जो अंतर्मुखी हैं। जैसे बुद्ध। तो बुद्ध को नकारात्मक शब्द बड़े प्रीतिकर लगते हैं। अगर उन्हें परमात्मा भी प्रकट होगा, तो नहीं के रूप में प्रकट होगा, नथिंगनेस के रूप में प्रकट होगा, शून्य के रूप में प्रकट होगा।

इसलिए बुद्ध ने अपने मोक्ष के लिए जो नाम चुना, वह है निर्वाण। अब निर्वाण का मतलब होता है, दीए का बुझ जाना। जैसे दीया बुझ जाता है, बस ऐसे ही एक दिन व्यक्ति बुझ जाता है। तब जो रह गया, वह निर्वाण है। कोई बुद्ध से पूछता है कि आपके निर्वाण के बाद क्या होगा? तो बुद्ध कहते हैं, दीया बुझ जाता है, तो फिर क्या होता है? शून्य के साथ एक हो जाता है। तो बुद्ध का जोर निगेटिव है, नकारात्मक है। वह अंतर्मुखी का जोर है।

दुनिया में जब भी अंतर्मुखी बोलेगा, तो नकार की भाषा बोलेगा, निगेशन की भाषा बोलेगा--नहीं, नेति-नेति। वह कहेगा, यह भी नहीं, यह भी नहीं, यह भी नहीं। उस जगह पहुंचना है, जहां कुछ भी न बचे। लेकिन जहां कुछ भी न बचे, वहीं सब कुछ बचता है। एक पाजिटिव भाषा है--यह भी, यह भी, यह भी। अगर सब जुड़ जाए, तो जो बचता है, वह भी सब कुछ है।

ये दो ही ढंग हैं। इनमें किसी भी तरफ आप चुन सकते हैं यात्रा। और ये दोनों ढंग बड़े विरोधी मालूम पड़ते हैं। जहां तक ढंग का संबंध है, विरोधी हैं। लेकिन जहां तक उपलब्धि का संबंध है, कोई विरोध नहीं है। वहीं पहुंच जाते हैं शून्य से भी। वहीं पहुंच जाते हैं पूर्ण से भी। वहीं पहुंच जाते हैं नेति-नेति कहकर भी। वहीं

पहुंच जाते हैं सब में परमात्मा को जानकर, देखते, मानकर, सोचते, अनुभव करते हुए भी। पहुंचना है वहां, जहां द्वैत न बचे।

तो द्वैत दो तरह से शून्य हो सकता है, मिट सकता है, या तो सब स्वीकृत हो जाए या सब अस्वीकृत हो जाए। या तो सब बंधन गिर जाएं और या सब बंधन आत्मा ही हो जाएं, तब भी हो सकता है। या तो बंधन बचें ही नहीं और या फिर बंधन ही सब कुछ-- आत्मा--बन जाएं; तब भी बंधन नहीं बचते।

न तो योगी को सांख्य में जाना पड़ता है, न सांख्य को योग में जाना पड़ता है। लेकिन दोनों जहां पहुंच जाते हैं, वह एक ही जगह है। कहीं कोई बदलाहट नहीं करनी पड़ती। वे दोनों ही वहीं ले जाते हैं। यह प्रत्येक व्यक्ति को अपने भीतर देखने की बात है कि उसकी अपनी रुचि, उसका अपना स्वधर्म, उसका अपना लगाव विधायक के साथ है कि नकारात्मक के साथ है, पूर्ण के साथ कि शून्य के साथ।

इसे ऐसा भी समझ लें। अगर कोई भाव से भरा हुआ व्यक्ति है, इमोशनल, भावुक, तो उसे पूर्ण की भाषा स्वीकार होगी। और अगर कोई बहुत बौद्धिक, बहुत इंटलेक्चुअल व्यक्ति है, तो उसे नकार की, इनकार की भाषा स्वीकार होगी। तर्क इनकार करता है, तर्क इलिमिनेट करता है, काटता है--यह भी बेकार, यह भी बेकार, यह भी बेकार--फेंकता चला जाता है, उस समय तक जब कि फेंकने को कुछ बचता ही नहीं। तब जब कुछ फेंकने को नहीं बचता, तो तर्क भी गिर जाता है।

कभी आपने देखी है एक दीए की बाती! बाती तेल को जलाती है। जब सारे तेल को जला डालती है, फिर खुद जल जाती है। कभी आपने यह देखा कि बाती को आग की लपट जलाती है, फिर पूरी बाती जल जाती है, तो लपट भी बुझ जाती है!

तर्क इनकार करता चला जाता है--यह भी नहीं, यह भी नहीं, यह भी नहीं। आखिर में जब कुछ भी इनकार करने को नहीं बचता, तो इनकार करने वाला तर्क भी मर जाता है। श्रद्धा स्वीकार करती चली जाती है--यह भी, यह भी, यह भी। और जब सब स्वीकार हो जाता है, तो श्रद्धा की भी कोई जरूरत नहीं रह जाती, वह भी गिर जाती है। और जहां तर्क और श्रद्धा दोनों ही गिर जाते हैं, वहां एक ही मुकाम, एक ही मंजिल, एक ही मंदिर आ जाता है।

व्यामिश्रेणेव वाक्येन बुद्धिं मोहयसीव मे।

तदेकंवद निश्चित्य येन श्रेयोऽहमाप्नुयाम्।। 2।।

हे कृष्ण, आप मिले हुए वचन से मेरी बुद्धि को मोहित-सी करते हैं। इसलिए उस एक बात को निश्चय करके कहिए कि जिसमें मैं कल्याण को प्राप्त होऊं।

पूछता है अर्जुन, एक बात निश्चित करके कहिए, ताकि मैं इस उलझाव से मुक्त हो जाऊं। लेकिन क्या दूसरे की कही बात निश्चय बन सकती है? और क्या दूसरा कितने ही निश्चय से कहे, तो भी भीतर का अनिश्चय गिर सकता है? कृष्ण ने कम निश्चय से नहीं कही सांख्य की बात। कृष्ण ने पूरे ही निश्चय से कही है कि यही है मार्ग। लेकिन अर्जुन फिर कहता है, निश्चय से कहिए। इसका क्या अर्थ हुआ?

इसका अर्थ हुआ कि कृष्ण ने कितने ही निश्चय से कही हो, अर्जुन के व्यक्तित्व से उसका कोई तालमेल नहीं हो पाया। अर्जुन के लिए वह कहीं भी निश्चय की ध्वनि भी नहीं पैदा कर पाई। अर्जुन और उसके बीच समानांतर स्थिति रही--पैरेलल। वैसे ही जैसे रेल की दो पटरियां समानांतर होती हैं, चलती हैं जिंदगीभर साथ,

मिलती कहीं भी नहीं हैं। साथ ही साथ होती हैं सदा और बहुत दूर फासले पर मिलती हुई मालूम भी होती हैं; लेकिन जब वहां पहुंचो तो पाया जाता है, उतनी ही अलग हैं, मिलती कहीं भी नहीं। पैरेलल लाइन की तरह अर्जुन और कृष्ण के बीच यह लंबा संवाद चलने वाला है।

अर्जुन कह रहा है, निश्चित कहो कि मेरा भ्रम टूटे, मेरा उलझाव मिटे। लेकिन जो चित्त भीतर उलझा हुआ है, वह निश्चित से निश्चित बात में से भी उलझाव निकाल लेता है। कोई बात निश्चित नहीं हो सकती जब तक चित्त उलझा हुआ है, क्योंकि वह हर निश्चय में से अनिश्चय निकाल लेता है। कितनी ही निश्चित बात कही जाए, वह उसमें से नए दस सवाल उठा लेता है। वे सवाल उसके भीतर से आते हैं, उसके अनिश्चय से आते हैं। और अगर निश्चित चित्त हो, तो कितनी ही अनिश्चित बात कही जाए, वह उसमें से निश्चय निकाल लेता है। हम वही निकाल लेते हैं, जो हमारे भीतर की अवस्था होती है। हममें कुछ डाला नहीं जाता; हम वही अपने में आमंत्रित कर लेते हैं, जो हमारे भीतर तालमेल खाता है।

साक्रेटीज मर रहा था। तो उसके एक मित्र ने साक्रेटीज से पूछा कि आप बड़े निश्चित मालूम पड़ रहे हैं और मृत्यु सामने खड़ी है, जहर पीसा जा रहा है! आपके निश्चय को देखकर मन डरता है, मन कंपता है। यह कैसा निश्चय है? मृत्यु सामने है, आप इतने निश्चितमना क्यों हैं?

साक्रेटीज ने कहा कि मैं सोचता हूं कि नास्तिक कहते हैं कि आत्मा बचेगी नहीं, सब मर जाएगा। अगर वे सही हैं, तो चिंता का कोई भी कारण नहीं। क्योंकि मैं मर ही जाऊंगा, चिंता करने वाला भी कोई बचने वाला नहीं है। आस्तिक कहते हैं कि नहीं मरोगे; शरीर ही मरेगा, आत्मा बचेगी ही; आत्मा को मारा ही नहीं जा सकता। अगर वे सही हैं, तो मेरे चिंतित होने का कोई भी कारण नहीं। क्योंकि जब बचूंगा ही, तो चिंता क्या करनी! साक्रेटीज कहता है, मुझे मालूम नहीं कि नास्तिक ठीक कहते हैं कि आस्तिक ठीक कहते हैं। लेकिन अगर नास्तिक ठीक कहते हैं, तो मैं निश्चित हूं। क्योंकि मर ही जाऊंगा, चिंता किसे है! और अगर आस्तिक ठीक कहते हैं, तो भी मैं निश्चित हूं। क्योंकि जब बचना ही है, तो चिंता कैसी?

अब इसको समझें। यह साक्रेटीज इतनी अनिश्चित स्थिति में से भी निश्चय निकाल लेता है। और कृष्ण इतनी निश्चित बात कहते हैं। उनका स्टेटमेंट टोटल है, कि सांख्य परम निष्ठा है; ज्ञान पर्याप्त है; स्वयं को जान लेना काफी है, कुछ और करने का कोई अर्थ नहीं है। अर्जुन कहता है, कुछ ऐसी निश्चित बात कहो कि मेरा अनिश्चित मन अनिश्चित न रहे, मेरा विषयों में भागता हुआ यह मन ठहर जाए। अर्जुन यह नहीं समझ पा रहा है कि बातें निश्चित नहीं होतीं, चित्त निश्चित होते हैं। सिद्धांत निश्चित नहीं होते, चेतना निश्चित होती है। सर्टेन्टीज जो हैं, निर्णायक तत्व जो हैं, वे सिद्धांतों से नहीं आते, चित्त की स्थिति से आते हैं।

कभी आपने अर्जुन शब्द का अर्थ सोचा है? बड़ा अर्थपूर्ण है। शब्द है एक--ऋजु। ऋजु का अर्थ होता हैः सीधा-सादा, स्ट्रेट। अऋजु, अऋजु का अर्थ होता हैः टेढ़ा-मेढ़ा, डांवाडोल। अर्जुन शब्द का अर्थ ही होता है, डोलता हुआ।

हम सबके भीतर अर्जुन है। वह जो हमारा चित्त है, वह अर्जुन की हालत में होता है। वह सदैव डोलता रहता है। वह कभी कोई निश्चय नहीं कर पाता। वह काम भी कर लेता है अनिश्चय में। काम भी हो जाता है, फिर भी निश्चय नहीं कर पाता। काम भी कर चुका होता है, फिर भी तय नहीं कर पाता कि करना था कि नहीं करना था। पूरी जिंदगी अनिश्चय है।

वह जो अर्जुन है, वह हमारे मन का प्रतीक है, सिंबालिक है। वह इस बात की खबर है कि मन का यह ढंग है। और मन से आप कितनी ही निश्चित बात कहें, वह उसमें से नए अनिश्चय निकालकर हाजिर हो जाता है। वह कहता है, फिर इसका क्या होगा? फिर इसका क्या होगा?

एक मित्र कल मुझे मिलने आए। कहने लगे, बर्ट्रेंड रसेल ऐसा कहते हैं कि आत्मा नहीं है, तो मेरा क्या होगा? मैंने कहा, बर्ट्रेंड रसेल कहते हैं, तो उनको चिंता करने दो, तुम क्यों चिंता करते हो? फिर मैंने कहा, बर्ट्रेंड रसेल कहते हैं कि आत्मा नहीं है, लेकिन खुद तो चिंतित नहीं हैं। तुम क्यों चिंतित होते हो? नहीं, उन्होंने कहा कि और ये बुद्ध, महावीर और कृष्ण, ये सब कहते हैं कि आत्मा अमर है, इससे बड़ी चिंता होती है। मैंने कहा कि बर्ट्रेंड रसेल कहते हैं कि आत्मा नहीं है, तो क्या चिंता होती है? तो चिंता होती है कि मैं समाप्त हो जाऊंगा। बुद्ध और महावीर कहते हैं कि आत्मा अमर है, तो क्या चिंता होती है? तो वे कहने लगे, चिंता यह होती है कि क्या मैं कभी भी समाप्त न होऊंगा! ऐसा ही बना रहूंगा! तब भी मन घबड़ाता है।

अब बड़ी मुश्किल है। एक साक्रेटीज है, जो कहता है, नास्तिक से भी निश्चय निकाल लेता है, आस्तिक से भी निश्चय निकाल लेता है। एक ये मित्र हैं, ये बिल्कुल एंटीसाक्रेटीज हैं। ये बुद्ध और महावीर से भी चिंता निकालते हैं, बर्ट्रेंड रसेल से भी चिंता निकालते हैं। ये दोनों विरोधियों से भी चिंता निकाल लेते हैं। तो इसका अर्थ क्या है?

इसका अर्थ यह है, हम वही निकाल लेते हैं, जो हम निकाल सकते हैं। लेकिन फिर भी हम सोचते हैं कि वह बर्ट्रेंड रसेल की वजह से मुझे चिंता पैदा हो रही है, महावीर की वजह से चिंता पैदा हो रही है। सच बात यह है कि मैं चिंतित हूं, अनिश्चित हूं। मैं महावीर से भी अनिश्चय निकालता हूं, रसेल से भी अनिश्चय निकाल लेता हूं।

अर्जुन कहता है, कुछ ऐसा कहें मुझे कि मैं सारे अनिश्चय के पार होकर थिर हो जाऊं। अर्जुन की मांग तो ठीक है; लेकिन साफ-साफ उसे नहीं है कि कारण क्या है। हम सबकी भी यही हालत है। मंदिर में जाते हैं, मस्जिद में जाते हैं, गुरु के पास, साधु के पास--निश्चय खोजने कि कहीं निश्चित हो जाए बात। कहीं निश्चित न होगी। अनिश्चित मन लिए हुए इस जगत में कुछ भी निश्चित नहीं हो सकता। अर्जुन को भीतर लिए हुए इस जगत में कुछ भी निश्चित नहीं हो सकता। और निश्चित, ऋजु मन हो, तो इस जगत में कुछ भी अनिश्चित नहीं, सब निश्चित है। चित्त है आधार--शब्द और सिद्धांत और शास्त्र नहीं, दूसरे के वक्तव्य नहीं।

अब कृष्ण से ज्यादा निश्चित आदमी अर्जुन को कहां मिलेगा! मुश्किल है। जन्मों-जन्मों भी अर्जुन खोजे, तो कृष्ण जैसा आदमी खोज पाना बहुत मुश्किल है। पर उनसे भी वह कह रहा है कि आप कुछ निश्चित बात कहें, तो शायद मेरा मन निश्चित हो जाए! और ध्यान रहे, जो व्यक्ति दूसरे से निर्णय खोजता है, वह अक्सर निर्णय नहीं उपलब्ध कर पाता।

एक व्यक्ति मेरे पास आए। उन्होंने कहा, मैं संन्यास लेना चाहता हूं। आप सलाह दें कि मैं लूं या न लूं? मैंने कहा कि जब तक सलाह मानने की और मांगने की इच्छा रहे, तब तक मत लेना। जिस दिन सारी दुनिया कहे कि मत लो, फिर भी हो कि लेंगे, तभी लेना। अन्यथा लेकर भी पछताओगे, लेकर भी दुखी होओगे और लोगों से पूछने जाओगे कि कोई गलती तो नहीं की। संन्यास छोड़ दूं कि रखूं!

ध्यान रहे, जब हम दूसरे से पूछते हैं, तो वह केवल इसकी खबर होती है कि अब हम अपने से पूछने की हालत में बिल्कुल नहीं रहे। अब हालत इतनी बुरी है कि अपने से पूछना बेकार ही है। अपने से जो उत्तर आते हैं,

सब कनफ्यूजिंग हैं, सब... । लेकिन यह जिसके भीतर से हम पूछ रहे हैं, जो पूछ रहा है, वही तो सुनेगा न? वही फिर नए प्रश्न खड़े कर लेता है। अर्जुन करेगा।

ऐसे उसकी बड़ी कृपा है, अन्यथा गीता पैदा नहीं हो सकती थी। इस अर्थ में भर उसकी कृपा है कि वह उठाता जाएगा प्रश्न और कृष्ण से उत्तर संवेदित होते चले जाएंगे। कृष्ण जैसे लोग कभी कुछ लिखते नहीं। कृष्ण जैसे लोग सिर्फ रिस्पांड करते हैं, प्रतिसंवेदित होते हैं। लिखते तो केवल वे ही लोग हैं, जो किसी को कुछ थोपना चाहते हों। कृष्ण जैसे लोग तो कोई पूछता है, पुकारता है, तो बोल देते हैं।

तो अर्जुन खुद तो परेशानी में है, लेकिन अर्जुन से आगे आने वाले जो और अर्जुन होंगे, उन पर उसकी बड़ी कृपा है। गीता पैदा नहीं हो सकती थी अर्जुन के बिना; अकेले कृष्ण से गीता पैदा नहीं हो सकती थी। अर्जुन पूछता है, तो कृष्ण से उत्तर आता है। कोई नहीं पूछेगा, तो कृष्ण शून्य और मौन रह जाएंगे; कुछ भी उत्तर वहां से आने को नहीं है। उनसे कुछ लिया जा सकता है, उनसे कुछ बुलवाया जा सकता है। और अर्जुन ने वह बुलवाने का काम किया है। उसकी जिज्ञासा, उसके प्रश्न, कृष्ण के भीतर से नए उत्तर का जन्म बनते चले जाते हैं।

श्रीभगवानुवाच

लोकेऽस्मिन्द्विविधा निष्ठा पुरा प्रोक्ता मयानघ।

ज्ञानयोगेन सांख्यानां कर्मयोगेन योगिनाम्।। 3।।

इस प्रकार अर्जुन के पूछने पर भगवान श्री कृष्ण बोले,

हे निष्पाप अर्जुन, इस लोक में दो प्रकार की निष्ठा मेरे द्वारा पहले कही गई हैः ज्ञानियों की ज्ञानयोग से और योगियों की निष्काम कर्मयोग से।

कहते हैं कृष्ण, निष्पाप अर्जुन! संबोधन करते हैं, निष्पाप अर्जुन! क्यों? क्यों? इसे थोड़ा समझना जरूरी है। यह एक बहुत मनोवैज्ञानिक संबोधन है।

मनोविज्ञान कहता है, चित्त में जितना ज्यादा पाप, अपराध और गिल्ट हो, उतना ही इनडिसीजन पैदा होता है। चित्त में जितना पाप हो, जितना अपराध हो, उतना चित्त डांवाडोल होता है। पापी का चित्त सर्वाधिक डांवाडोल हो जाता है। अपराधी का चित्त भीतर से भूकंप से भर जाता है।

बड़े मजे की बात है कि कृष्ण से पूछा है अर्जुन ने, कोई निश्चित बात कहें। कृष्ण जो उत्तर देते हैं, वह बहुत और है। वे निश्चित बात का उत्तर नहीं दे रहे हैं। वे पहले अर्जुन को आश्वस्त करते हैं कि वह भीतर निश्चित हो पाए। वे उससे कहते हैं, निष्पाप अर्जुन!

यह भी समझ लेने जैसा है कि पाप कम सताता है; पाप किया मैंने, यह ज्यादा सताता है। इसलिए जीसस ने रिपेंटेंस और प्रायश्चित्त की एक बड़ी मनोवैज्ञानिक प्रक्रिया निकाली और कहा कि अपने अपराध को और पाप को जो स्वीकार कर ले, वह पाप से मुक्त हो जाता है। सिर्फ स्वीकार करने से!

पाप के साथ एक मजा है कि पाप को हम छिपाना चाहते हैं। अगर इसे और ठीक से समझें, तो कहना होगा कि जिसे हम छिपाना चाहते हैं, वह पाप है। इसलिए जिसे हम प्रकट कर दें, वह पाप नहीं रह जाता। जिसे हम घोषित कर दें, वह पाप नहीं रह जाता।

जीसस ने एक मनोवैज्ञानिक प्रक्रिया ईसाइयत को दी और वह यह कि अपने पाप को स्वीकार कर लो और तुम पाप से मुक्त हो जाओगे। ऐसी और भी प्रक्रियाएं सारी पृथ्वी पर पैदा हुईं, जिनमें यही किया गया कि

व्यक्ति को आश्वासन दिलाया गया कि अब तुम निष्पाप हो। और अगर व्यक्ति को यह भरोसा आ जाए कि वह निष्पाप है, तो उसके भविष्य में पाप करने की क्षमता क्षीण होती है।

यह भी बहुत मजे की बात है कि हम वही करते हैं, जो हमारी अपने बाबत इमेज होती है। अगर एक आदमी को पक्का ही पता है कि वह चोर है, तो उसे चोरी से बचाना बहुत मुश्किल है। वह चोरी करेगा ही। वह अपनी प्रतिमा को ही जानता है कि वह चोर की प्रतिमा है, और तो कुछ उससे हो भी नहीं सकता। इसलिए अगर हम एक आदमी को चारों तरफ से सुझाव देते रहें कि तुम चोर हो, तो हम अचोर को भी चोर बना सकते हैं।

इससे उलटा भी संभव है, घटित होता है। अगर हम चोर को भी सुझाव दें चारों तरफ से कि तुम चोर नहीं हो, तो हम उसे चोर होने में कठिनाई पैदा करते हैं। अगर दस भले आदमी एक बुरे आदमी को भला मान लें, तो उस बुरे आदमी को भले होने की सुविधा और मार्ग मिल जाता है।

इसलिए सारी दुनिया में धर्मों ने बहुत-बहुत रूप विकसित किए थे। सब रूप विकृत हो जाते हैं, लेकिन इससे उनका मौलिक सत्य नष्ट नहीं होता।

हम इस देश में कहते थे कि गंगा में स्नान कर आओ, पाप धुल जाएंगे। गंगा में कोई पाप नहीं धुल सकते। गंगा के पानी में पाप धोने की कोई कीमिया, कोई केमिस्ट्री नहीं है। लेकिन एक साइकोलाजिकल सत्य है कि अगर कोई आदमी पूरे भरोसे और निष्ठा से गंगा में नहाकर अनुभव करे कि मैं निष्पाप हुआ, तो लौटकर पाप करना मुश्किल हो जाएगा। डिसकंटिन्युटी हो गई। वह जो कल तक पापी था, गंगा में नहाकर बाहर निकला और अब वह दूसरा आदमी है, आइडेंटिटी टूटी। संभावना है कि उसको निष्पाप होने का यह जो क्षणभर को भी बोध हुआ है... ।

गंगा कुछ भी नहीं करती। लेकिन अगर पूरे मुल्क के कलेक्टिव माइंड में, अगर पूरे मुल्क के अचेतन मन में यह भाव हो कि गंगा में नहाने से पाप धुलता है, तो गंगा में नहाने वाला निष्पाप होने के भाव को उपलब्ध होता है। और निष्पाप होने का भाव निश्चय में ले जाता है, पापी होने का भाव अनिश्चय में ले जाता है।

इसलिए अर्जुन तो पूछता है कि कृष्ण, कुछ ऐसी बात कहो, जो निश्चित हो और जिससे मेरा डांवाडोलपन मिट जाए। लेकिन कृष्ण कहां से शुरू करते हैं, वह देखने लायक है। कृष्ण कहते हैं, हे निष्पाप अर्जुन!

कृष्ण जैसे व्यक्ति के मुंह से जब अर्जुन ने सुना होगा, हे निष्पाप अर्जुन! तो गंगा में नहा गया होगा। सारी गंगा उसके ऊपर गिर पड़ी होगी, जब उसने कृष्ण की आंखों में झांका होगा और देखा होगा कि कृष्ण कहते हैं, हे निष्पाप अर्जुन! और कृष्ण जैसे व्यक्ति जब किसी को ऐसी बात कहते हैं, तो सिर्फ शब्द से नहीं कहते; ख्याल रखें! उनका सब कुछ कहता है। उनका रोआं-रोआं, उनकी आंख, उनकी श्वास, उनका होना--उनका सब कुछ कहता है, हे निष्पाप अर्जुन!

जब कृष्ण की उस गंगा में अर्जुन को निष्पाप होने का क्षणभर को बोध हुआ होगा। तो जो निश्चय कृष्ण के कोई वचन नहीं दे सकते, वह अर्जुन को निष्पाप होने से मिला होगा।

इसलिए कृष्ण पहले उसे मनोवैज्ञानिक रूप से उसके भीतर के आंदोलन से मुक्त करते हैं। कहते हैं, हे निष्पाप अर्जुन! और मजे की बात यह है कि यह कहकर, फिर वे वही कहते हैं कि दो निष्ठाएं हैं। वह कह चुके हैं। वह दूसरे अध्याय में कह चुके हैं। लेकिन तब तक अर्जुन को निष्पाप उन्होंने नहीं कहा था। अर्जुन डांवाडोल था। अब वे फिर कहते हैं कि दो तरह की निष्ठाएं हैं अर्जुन! सांख्य की और योग की, कर्म की और ज्ञान की।

एकदम तत्काल! कृष्ण ने तीन बार नहीं कहा कि हे निष्पाप अर्जुन, हे निष्पाप अर्जुन, हे निष्पाप अर्जुन। नियम यही था। नियम यही था। अदालत में शपथ लेते हैं तो तीन बार। इमाइल कुए है फ्रांस में; अगर वह सुझाव देता है, तो तीन बार। दुनिया के किसी भी सम्मोहनशास्त्री और मनोवैज्ञानिक से पूछें, तो वह कहेगा कि जितनी बार सुझाव दो, उतना गहरा परिणाम होगा। कृष्ण कुछ ज्यादा जानते हैं। कृष्ण कहते हैं एक बार, और छोड़ देते हैं। क्योंकि दुबारा कहने का मतलब है, पहली बार कही गई बात झूठ थी क्या!

जब अदालत में एक आदमी कहता है कि मैं परमात्मा की कसम खाकर कहता हूं कि सच बोलूंगा; और फिर दुबारा कहता है कि मैं परमात्मा की कसम खाकर कहता हूं कि सच बोलूंगा; तो पहली बात का क्या हुआ! और जिसकी पहली बात झूठ थी, उसकी दूसरी बात का कोई भरोसा है? वह तीन बार भी कहेगा, तो क्या होगा?

कृष्ण कुए से ज्यादा जानते हैं। कृष्ण एक बार कहते हैं इनोसेंटली--जैसे कि जानकर कहा ही नहीं--हे निष्पाप अर्जुन! और बात छोड़कर आगे बढ़ जाते हैं; एक क्षण ठहरते भी नहीं। शक का मौका भी नहीं देते, हेजिटेशन का मौका भी नहीं देते, अर्जुन को विचारने का भी मौका नहीं देते। ऐसा भी नहीं लगता अर्जुन को कि उन्होंने कोई जानकर चेष्टा से कहा हो। बस, ऐसे संबोधन किया और आगे बढ़ गए।

असल में उसका निष्पाप होना, कृष्ण ऐसा मान रहे हैं, जैसे कोई बात ही नहीं है। जैसे उन्होंने कहा हो, हे अर्जुन! और बस, ऐसे ही चुपचाप आगे बढ़ गए। जितना साइलेंट सजेशन, उतना गहरा जाता है। जितना चुप, जितना इनडायरेक्ट, जितना परोक्ष--चुपचाप भीतर सरक जाता है। जितनी तीव्रता से, जितनी चेष्टा से, जितना आग्रहपूर्वक--उतना ही व्यर्थ हो जाता है।

पश्चिम के मनोविज्ञान को बहुत कुछ सीखना है। कुए जब अपने मरीज को कहता है कि तुम बीमार नहीं हो, और जब दुबारा कहता है कि तुम बीमार नहीं हो, और जब तिबारा कहता है कि तुम बीमार नहीं हो, तो कृष्ण उस पर हंसेंगे। वे कहेंगे कि तुम तीन बार कहते हो, तो तीन बार तुम उसे याद दिलाते हो कि बीमार हो, बीमार हो, बीमार हो।

हे निष्पाप अर्जुन! आगे बढ़ गए वे और कहा कि दो निष्ठाएं हैं। अर्जुन को मौका भी नहीं दिया कि सोचे-विचारे, पूछे कि कैसा निष्पाप? क्यों कहा निष्पाप? मुझ पापी को क्यों कहते हैं? कोई मौका नहीं दिया। बात आई और गई, और अर्जुन के मन में सरक गई।

ध्यान रहे, जैसे ही चित्त सोचने लगता है, वैसे ही बात गहरी नहीं जाती है। चित्त ने सोचा, उसका मतलब है कि हुक्स में अटक गई। चित्त ने सोचा, उसका मतलब है कि ऊपर-ऊपर रह गई, लहरों में जकड़ गई--गहरे में कहां जाएगी! विचार तो लहर है। सिर्फ वे ही बातें गहरे में जाती हैं, जो बिना सोचे उतर जाती हैं। इसलिए सोचने का जरा भी मौका नहीं है। और सोचने का मौका दूसरी बात में है, ताकि इसमें सोचा ही न जा सके।

वे कहते हैं, दो निष्ठाएं हैं। एक निष्ठा है ज्ञान की, एक निष्ठा है कर्म की।

न कर्मणामनारम्भान्नैष्कर्म्यं पुरुषोऽश्नुते।

न च संन्यसनादेव सिद्धिं समधिगच्छति।। 4।।

मनुष्य न तो कर्मों के न करने से निष्कर्मता को प्राप्त होता है और न कर्मों को त्यागने मात्र से भगवत साक्षात्कार रूप सिद्धि को प्राप्त होता है।

कर्मों के न करने से निष्कर्म को मनुष्य प्राप्त नहीं होता है और न ही सब कुछ छोड़कर भाग जाने से भगवत साक्षात्कार को उपलब्ध होता है।

बड़े ही विद्रोही और क्रांतिकारी शब्द हैं। क्या होगा त्यागियों का! क्या होगा भागने वालों का?

कृष्ण कहते हैं, मात्र कर्म को छोड़कर भाग जाने से कोई निष्कर्म को उपलब्ध नहीं होता। क्योंकि निष्कर्म कर्म के अभाव से ज्यादा बड़ी बात है। मात्र कर्म का न होना निष्कर्म नहीं है। निष्कर्म और भी बड़ी घटना है।

जैसे कि बीमारी का न होना स्वास्थ्य नहीं है; स्वास्थ्य और बड़ी घटना है। ऐसा हो सकता है कि आदमी बिल्कुल बीमार न हो और बिल्कुल स्वस्थ न हो। सब तरह की जांच-परख कहे कि कोई बीमारी नहीं है और आदमी बिल्कुल ही स्वस्थ न हो। बीमारी का न होना मात्र, स्वास्थ्य नहीं है। और मात्र कर्मों को छोड़कर भाग जाने से निष्कर्म उपलब्ध नहीं होता। क्यों?

तो निष्कर्म की व्याख्या कृष्ण की समझनी पड़ेगी। क्योंकि आमतौर से हम अब तक कर्म के न करने को निष्कर्म समझते रहे हैं; निष्क्रियता को निष्कर्म समझा है। निष्क्रियता निष्कर्म नहीं है। तब तो आलसी भी निष्कर्म को उपलब्ध हो जाएंगे। तब तो मुरदे भी निष्कर्म को उपलब्ध हो जाएंगे। तब तो पत्थर इत्यादि परमात्म- साक्षात्कार में ही होंगे।

निष्कर्म नहीं, लेकिन कर्म कर्तारहित निष्कर्म बनता है। कर्म, जहां भीतर करने वाला मैं मौजूद नहीं है, निष्कर्म बनता है। निष्कर्म कर्म का अभाव नहीं, कर्ता का अभाव है--नाट एब्सेंस आफ डूइंग, बट एब्सेंस आफ दि डुअर, वह जो करने वाला है।

कृष्ण कह रहे हैं अर्जुन से कि अगर तू यह छोड़ दे कि तू कर रहा है, तो तेरा कोई कर्म कर्म नहीं है, सब निष्कर्म हो जाता है। अगर तू यह पकड़े रहे कि मैं कर रहा हूं, तो तू कर्म से भाग भी जा, तो भागना भी तेरा कर्म बन जाता है।

भागना भी कर्म है, भागना भी तो पड़ेगा। त्यागना भी तो कर्म है, त्यागना भी तो पड़ेगा। जहां कर्ता मौजूद है, जहां लग रहा है कि मैं कर रहा हूं, वहां कर्म मौजूद है, चाहे वह करना आलस्य ही क्यों न हो, चाहे वह करना न-करना ही क्यों न हो। लेकिन जहां लग रहा है कि मेरे करने का कोई सवाल ही नहीं, परमात्मा कर रहा है; जो है, वह कर रहा है, सारा जीवन कर रहा है; जहां मैं एक हवा में डोलते हुए पत्ते की तरह हूं, जहां मैं नहीं डोल रहा, हवा डोल रही है; जहां मैं एक सागर की लहर की तरह हूं, मैं नहीं लहरा रहा, सागर लहरा रहा है; जहां मेरा मैं नहीं--वहां निष्कर्म है। निष्क्रियता नहीं, निष्कर्म।

कर्म होगा, फिर भी कर्म का जो उत्पात है, वह नहीं होगा। कर्म होगा, लेकिन कर्म की जो चिंता और संताप है, वह नहीं होगा। कर्म होगा, लेकिन कर्म के साथ जो विफलता और सफलता का रोग है, वह नहीं होगा। कर्म होगा, लेकिन कर्म के पीछे वह जो महत्वाकांक्षा का ज्वर है, बुखार है, वह नहीं होगा। कर्म होगा, लेकिन कर्म के पीछे वह जो फलाकांक्षा की विक्षिप्तता है, वह नहीं होगी। और तब कर्म फूल की तरह आनंददायी हो जाता है; तब उस पर कोई वजन नहीं रह जाता; तब कर्म फूल की तरह खिलता है। तब करने वाला मौजूद नहीं होता; तब कर्म का आनंद ही और हो जाता है; तब वह परमात्मा को समर्पित हो जाता है।

कृष्ण कह रहे हैं कि कर्म को छोड़कर तू अगर भाग गया, तो तू यह मत समझना कि तू निष्कर्म को उपलब्ध हो गया है। क्योंकि जो निष्कर्म को उपलब्ध होता है, वह कर्म को छोड़कर क्यों भागेगा! वह स्वीकार कर लेगा, जो नियति है, जो डेस्टिनी है, जो हो रहा है, उसे स्वीकार कर लेगा।

दूसरी बात वे कहते हैं कि चीजों को त्यागकर, छोड़कर कोई अगर सोचता हो कि संसार को त्यागकर परमात्मा का साक्षात्कार हो जाए, तो जरूरी नहीं है। ऐसा नहीं होता है। परमात्मा का साक्षात्कार किसी भी सौदे से नहीं होता है। कि आपने ये-ये चीजें छोड़ दीं, तो परमात्मा का साक्षात्कार हो जाएगा।

एक संन्यासी मेरे पास आए थे। वे कहने लगे कि मैंने घर छोड़ दिया, पत्नी छोड़ दी, बच्चे छोड़ दिए, दुकान छोड़ दी, अभी तक परमात्मा का साक्षात्कार क्यों नहीं हुआ है? तो मैंने कहा, कितनी कीमत थी मकान की, दुकान की, पत्नी की, बच्चों की? हिसाब है? तो उन्होंने कहा, आपका मतलब? मैंने कहा कि पक्का हो जाए कि कितने मूल्य की चीजें छोड़ी हैं, तो फिर परमात्मा के सामने शिकायत की जाए कि यह आदमी इतने दाम लग रहा है तुम्हारे लिए और तुम अभी तक छिपे हो! इसने एक मकान छोड़ दिया। मकान के बदले में परमात्मा?

असल में जहां भी बदले का ख्याल है, वहां व्यवसाय है, वहां धर्म नहीं है। त्यागी कहता है, मैंने यह छोड़ दिया और अभी तक नहीं हुआ! लेकिन तुमसे कहा किसने कि छोड़ने से हो जाएगा! और जो तुमने छोड़ दिया है, उसका मूल्य क्या है? और कल जब मौत आएगी, तब तुम क्या करोगे? उसे छोड़ोगे कि पकड़े लिए चले जाओगे? मौत आएगी तो वह छूट जाएगा। और तुम नहीं थे, तब भी वह था। और तुम नहीं रहोगे, तब भी वह होगा। तो तुम अपने को छोड़ने वाला समझ रहे हो! जो तुम्हारे होने के पहले था और तुम्हारे होने के बाद रहेगा, उसे तुम छोड़ सकते हो? उसकी मालकियत पागलपन है। और ध्यान रहे, त्याग में भी मालकियत का ख्याल है। और जब एक आदमी कहता है, मैंने त्यागा, तो वह यह कह रहा है कि मालकियत मेरी थी। सच बात यह है, मालकियत नहीं है। त्यागेंगे कैसे?

कृष्ण कहते हैं, कुछ त्याग देने से परमात्मा का साक्षात्कार नहीं हो जाता।

परमात्मा का साक्षात्कार बात ही अलग है। वह त्याग से फलित नहीं होती है। हां, ऐसा हो सकता है कि परमात्मा के साक्षात्कार से त्याग फलित हो जाए। ऐसा होता है। क्योंकि जब कोई उस विराट को जान लेता है, तो क्षुद्र को पकड़ने को राजी नहीं रहता। जब किसी को हीरे मिल जाते हैं, तो कंकड़-पत्थर छोड़ता है। त्याग से परमात्मा मिलता है, ऐसा नहीं; लेकिन परमात्मा से अक्सर त्याग फलित होता है। क्योंकि परमात्मा महाभोग है, वह परम रस है।

कृष्ण यहां एक बहुत ही कैटेगोरिकल वक्तव्य, एक बहुत निश्चयात्मक वक्तव्य दे रहे हैं। वह वक्तव्य बहुत कीमती है। उस वक्तव्य पर पूरे जीवन का यहां से वहां होना निर्भर है। वह वक्तव्य यह है कि कर्म नहीं छोड़ना है। छोड़ा भी नहीं जा सकता। जीते-जी कर्म को छोड़ने का कोई उपाय भी नहीं है।

संन्यासी भी कर्म करेगा ही! दुकान नहीं चलाएगा, तो भीख मांगेगा। फर्क क्या पड़ता है? भीख मांगना कोई कम कर्म है दुकान करने से? उतना ही कर्म है। घर नहीं बनाएगा, आश्रम बनाएगा। घर छोड़कर आश्रम बनाना कोई कम कर्म है? उतना ही कर्म है।

कर्म से भागा नहीं जा सकता। जब कर्म से भागा ही नहीं जा सकता, तो कर्म से भागना सिर्फ हिपोक्रेसी में ले जाएगा, पाखंड में ले जाएगा। जो असंभव है, उसे करने की कोशिश पाखंड पैदा करती है। अगर अर्जुन भाग भी जाए युद्ध के मैदान को छोड़कर, तो करेगा क्या? कुछ तो करेगा। वह जो भी करेगा, वह भी कर्म है। कर्म से नहीं भागा जा सकता। तो फिर क्या कोई उपाय नहीं है?

कृष्ण एक नया द्वार, एक नया डायमेंशन, एक नया आयाम खोलते हैं। वे कहते हैं, कर्म जारी रखो, कर्ता से भाग जाओ। कृष्ण मनुष्य के व्यक्तित्व में बड़ी गहरी क्रांति की बात कहते हैं। वे कहते हैं, कर्म जारी रखो। वह

असंभव है, उससे जाया नहीं जा सकता; लेकिन कर्ता से जाया जा सकता है। कर्म को चलने दो, कर्ता को जाने दो। भीतर से कर्ता को छोड़ो, यह छोड़ो कि मैं कर रहा हूं।

इसलिए कृष्ण बार-बार गीता में अर्जुन को कहते हैं कि जिन्हें तू सोचता है कि तू मारेगा, मैं तुझे कहता हूं कि वे पहले ही मारे जा चुके हैं। जिन्हें तू सोचता है कि तेरे कारण मरेंगे, तू नासमझ है, तू मात्र निमित्त है, वे तेरे बिना भी मरेंगे। पूरे समय वे यह कह रहे हैं कि तू एक ख्याल छोड़ दे कि तू करने वाला है। और अर्जुन की परेशानी यही है, उसे लग रहा है कि करने वाला मैं हूं। अगर मैं भाग जाऊं, तो युद्ध बच जाए।

यह जरूरी नहीं है। अर्जुन अकेला नहीं है। अर्जुन के भागने से भी युद्ध बच जाएगा, यह जरूरी नहीं है। युद्ध अनंत कारणों पर निर्भर है।

लोग सोचते थे कि पहला महायुद्ध हो गया, अब दूसरा महायुद्ध नहीं होगा। दूसरा भी हो गया। फिर दूसरे के बाद लोग सोचने लगे, अब तीसरा नहीं होगा। क्योंकि अब तो हिटलर भी मर गया, अब तो मुसोलिनी भी नहीं है, अब तीसरा किसलिए होगा? लेकिन क्या फर्क पड़ता है! माओ को पैदा होने से कैसे रोकिएगा? और नामों से फर्क पड़ता है! कोई फर्क नहीं पड़ता। नहीं हिटलर, तो माओ होगा। नहीं माओ, तो कोई और होगा। नहीं कोई और, तो कोई अ ब स होगा।

युद्ध इतना विराट जाल है कि वह कोई अर्जुन यह सोचता हो कि मेरे भाग जाने से हट जाएगा, तो बहुत ही ईगोइस्ट है, बहुत अहंकारी है। सोच रहा है, मेरी वजह से ही यह इतना बड़ा विराट युद्ध हो रहा है!

सभी को ऐसा ख्याल होता है कि सारी दुनिया उन्हीं के कारण चल रही है। सबको यह ख्याल होता है। छोटों को, बड़ों को; अनुयायियों को, नेताओं को--सबको यह ख्याल होता है कि उनसे ही सारी दुनिया चल रही है। वे गए कि एकदम से सब चला जाएगा। लेकिन नेपोलियन चला जाता है, कहीं कोई पत्थर नहीं हिलता। सिकंदर चले जाते हैं, किसी पत्ते को खबर नहीं होती है। हिटलर आते हैं, चले जाते हैं; चर्चिल, गांधी, नेहरू, सब आते हैं, खो जाते हैं; जगत चलता चला जाता है।

कृष्ण अर्जुन से कह रहे हैं कि तू यह पागलपन छोड़ कि तेरी वजह से कुछ हो रहा है। वजह बड़ी है। विराट है जाल उसका। उस विराट जाल को ही नियति कहते हैं, डेस्टिनी कहते हैं। जो एक व्यक्ति पर निर्भर नहीं है। अनंत-अनंत कारणों के जाल पर जो निर्भर है। उससे हो रहा है। इसलिए तू यह पागलपन छोड़ कि तेरे हट जाने से कोई युद्ध नहीं होगा, कि तेरे होने से युद्ध हो रहा है। तू नहीं भी हो, तो भी हो जाएगा। क्योंकि तू बहुत छोटा पुर्जा है। तेरे बिना हो सकता है। शायद पुर्जा भी नहीं है। क्योंकि जिसने तुझे पुर्जा चुना है, वह किसी दूसरे को भी पुर्जा चुन सकता है। और तुझसे तो पूछकर चुना नहीं है उसने, दूसरे को भी बिना पूछे चुन लेगा।

कर्ता होने का ख्याल अगर गिर जाए और व्यक्ति देखे कि अनंत नियमों के जाल में जीवन चलता है। एक धारा है, जो बही जा रही है; उसमें हम तिनकों-से बहते हैं--तिनके। हम बहते हैं, यह कहना भी शायद ठीक नहीं। धारा बहती है। हम तो तिनके हैं, हम क्या खाक बहते हैं! धारा बहती है, हम सिर्फ धारा में होते हैं। धारा पूरब बहती है, तो हम पूरब बहते हैं; धारा पश्चिम बहती है, तो हम पश्चिम बहते हैं।

कृष्ण का सारा जोर इस बात पर है कि तू यह भूल जा कि तू करने वाला है और फिर कर्म को होने दे; और फिर मैं तुझे विश्वास दिलाता हूं कि फिर कोई कर्म नहीं छूता।

पाप नहीं छूता, पाप का कर्ता होना छूता है। पुण्य नहीं छूता, पुण्य का कर्ता होना छूता है। अगर ठीक से समझें, आध्यात्मिक अर्थों में समझें, तो करने का ख्याल एकमात्र पाप है। कर्ता का बोध एकमात्र पाप है। ओरिजिनल सिन अगर किसी चीज को कहें, मूल पाप, तो कर्ता का ख्याल कि मैं कर रहा हूं।

लेकिन सोचने जैसा है। इधर कृष्ण तो कहते हैं अर्जुन को कि कर्ता एक ही है, परमात्मा। तू छोड़। अठारहवीं सदी के बाद सारी दुनिया में हमने परमात्मा को हटाने की कोशिश की है। कास्मिक आर्डर से, एक जगत की व्यवस्था से हमने कहा कि तुम रिटायर हो जाओ। परमात्मा को कहा कि आप छोड़ो। बहुत दिन हो गए, आप हटो। आदमी को कर्ता बनने दो!

ध्यान रहे, परमात्मा को अगर हम हटा दें जगत के ख्याल से--जगत से तो नहीं हटा सकते, अपने ख्याल से हटा सकते हैं--हटा दें, तो आदमी कर्ता हो जाता है। क्या आपने कभी यह सोचा कि जिन-जिन समाजों में आदमी कर्ता हो गया और परमात्मा कर्ता नहीं रहा, वहां मानसिक तनाव अपनी अति पर पहुंच गए हैं! वहां चिंता भयंकर हो गई है! वहां चित्त एकदम विक्षिप्त होने की हालत में पहुंच गया है! क्योंकि सारा बोझ मेरे मैं पर पड़ गया है। दुनिया चल रही है मेरे मैं पर; मैं हो गया है सेंटर।

आज पश्चिम की सारी सभ्यता मैं पर खड़ी है। इसलिए बड़ी पीड़ा है। न रात नींद है, न दिन चैन है। कहीं कोई शांति नहीं; कहीं कोई अर्थ नहीं; सब बेबूझ हो गया है। लेकिन एक बात ख्याल में नहीं आती है कि जिस दिन से आदमी कर्ता बनने के ख्याल में पड़ा है, उस दिन से चिंता उसने पुकार ली है।

अर्जुन भी चिंता में पड़ गया है। चिंता पैदा ही कर्ता होने के ख्याल से पैदा होती है; कर्म से चिंता नहीं होती। आप कितना ही कर्म करें, कर्म चिंता नहीं लाता। और जरा-सा भी कर्ता बने कि चिंता आनी शुरू हो जाती है। एंग्जाइटी जो है, वह कर्ता की छाया है। अर्जुन बड़ा चिंतित है। उसकी सारी चिंता एक बात से है कि वह सोच रहा है, मैं मारने वाला हूं, मैं न मारूं तो ये न मरेंगे। मैं अगर युद्ध न करूं, तो युद्ध बंद हो जाएगा, शांति छा जाएगी। उसे ऐसा लग रहा है कि वही निर्णायक है। कोई निर्णायक नहीं है, समष्टि निर्णायक है; नियति निर्णायक है।

इसलिए कृष्ण उसको कहते हैं कि तू कर्ता को छोड़ और कर्म को चलने दे। निष्पाप बताकर उसे, वे जो दूसरी बात कहते हैं, वह निष्पाप में ले जाने वाली है। पहले उसे कहते हैं, तू निष्पाप है। और फिर वे जो दूसरा वक्तव्य देते हैं, वह समस्त पापों के बाहर ले जाने वाला है। वे निष्पाप कहकर चुप नहीं हो जाते, वे निष्पाप बनाने के लिए राह भी देते हैं। आश्वासन देकर मान नहीं लेते कि बात समाप्त हो गई। बात सिर्फ शुरू हुई है। और आदमी पूर्ण निष्पाप उसी दिन होता है, जिस दिन पूर्ण अकर्ता हो जाता है। कर्म नहीं बांधते, कर्ता बांध लेता है। कर्म नहीं छोड़ते, कर्ता छूट जाए तो छूटना हो जाता है।

ठीक उसके साथ ही दूसरी बात उन्होंने कही, त्याग नहीं साक्षात्कार को ले जाता है।

क्यों नहीं ले जाता है त्याग साक्षात्कार को? नहीं ले जाता इसलिए कि हम परमात्मा के सामने सौदे की हालत में खड़े नहीं हो सकते, बारगेनिंग नहीं हो सकती, खरीद-फरोख्त नहीं हो सकती। त्याग नहीं, समर्पण।

इस पर आगे हम बात करेंगे।

त्यागी कभी समर्पित नहीं होता। त्यागी आदमी कभी समर्पण नहीं करता। वह तो कहता है कि मेरे पास कारण है कि मैंने इतना छोड़ा, अब मुझे मिलना चाहिए। समर्पण तो वह करता है, जो कहता है, मेरे पास तो कुछ भी नहीं है, मैं तो कुछ भी नहीं हूं जो दावा कर सकूं कि मुझे मिलना चाहिए। मैं तो सिर्फ प्रार्थना कर सकता हूं, मैं तो सिर्फ चरणों में सिर रख सकता हूं। मेरे पास देने को कुछ भी नहीं है।

समर्पण वह करता है, जिसके ख्याल में यह बात आ जाती है कि मैं असहाय हूं, टोटल हेल्पलेस हूं। मैं बिल्कुल, मेरे पास कुछ भी नहीं है परमात्मा को देने को। रो सकता हूं, चिल्ला सकता हूं, पुकार सकता हूं; दे तो

कुछ भी नहीं सकता। जो इतना दीन, इतना दरिद्र, इतना असहाय, इतना बेसहारा पुकारता है, वह समर्पित हो जाता है, वह साक्षात्कार को उपलब्ध हो जाता है।

त्यागी की तो अकड़ होती है, वह बेसहारा नहीं होता। उसके पास तो बैंक बैलेंस होता है त्याग का। कहता है कि यह मेरे पास है, इतना मैंने छोड़ा है--इतने हाथी, इतने घोड़े, इतने मकान--कहां हो, बाहर निकलो! त्याग पूरा कर दिया है, साक्षात्कार होना चाहिए।

त्यागी के पास तो दंभ होगा ही। त्यागी कभी दंभ के बाहर नहीं हो पाता। हां, उनकी बात दूसरी है, जिनके दंभ के जाने से त्याग फलित होता है। पर उनको त्याग का कभी पता नहीं चलता। उनको पता ही नहीं चलता कि उन्होंने कुछ त्यागा है। अगर आप उनसे कहें कि आपने कुछ त्यागा है? तो वे कहेंगे कि कभी था ही नहीं हमारे पास कुछ, हम त्यागेंगे कैसे! अगर उनसे आप कहें, आपने कुछ छोड़ा है? तो वे कहेंगे, कभी कुछ पकड़ा क्या था? छोड़ेंगे कैसे! खाली हाथ हैं, हमारे पास कुछ है नहीं। हम सिर्फ खाली हाथ ही परमात्मा के चरणों में रखते हैं।

और ध्यान रहे, जो भरे हाथ परमात्मा के सामने जाता है, वह खाली हाथ लौट आता है; और जो खाली हाथ जाता है, उसके हाथ भर दिए जाते हैं।

आज इतना ही। फिर कल हम बात करेंगे।

दूसरा प्रवचन

कर्ता का भ्रम

न हि कश्चित्क्षणमपि जातु तिष्ठत्यकर्मकृत्।

कार्यते ह्यवशः कर्म प्रकृतिजैर्गुणैः।। 5।।

सर्वथा कर्मों का स्वरूप से त्याग हो भी नहीं सकता है, क्योंकि कोई भी पुरुष किसी काल में क्षणमात्र भी बिना कर्म किए नहीं रहता है। निःसंदेह सभी पुरुष प्रकृति से उत्पन्न हुए गुणों द्वारा परवश हुए कर्म करते हैं।

जीवन ही कर्म है। मृत्यु कर्म का अभाव है। जन्म कर्म का प्रारंभ है, मृत्यु कर्म का अंत है। जीवन में कर्म को रोकना असंभव है। ठीक से समझें, तो जीवन और कर्म पर्यायवाची हैं। एक ही अर्थ है उनका। इसलिए जीते-जी कर्म चलेगा ही। इस संबंध में मनुष्य की कोई स्वतंत्रता नहीं है।

सार्त्र ने अपने एक बहुत प्रसिद्ध वचन में कहा है, मैन इज कंडेम्ड टु बी फ्री--आदमी स्वतंत्र होने के लिए परवश है। लेकिन सार्त्र को शायद पता नहीं है कि आदमी कुछ बातों में परतंत्र होने के लिए भी परवश है, जैसे कर्म।

कर्म के संबंध में जीते-जी छुटकारा असंभव है। जीने की प्रत्येक क्रिया कर्म है। श्वास भी लूंगा, तो भी कर्म होगा। उठूंगा तो भी, बैठूंगा तो भी कर्म होगा। जीना कर्म की प्रोसेस, कर्म की प्रक्रिया का ही नाम है।

इसलिए जो लोग सोचते हैं कि जीते-जी कर्मत्याग कर दें, वे सिर्फ असंभव बातें सोच रहे हैं। वह संभव नहीं हो सकता है। संभव इतना ही हो सकता है कि वे एक कर्म को छोड़कर दूसरे कर्म को करना शुरू कर दें।

जिसे हम गृहस्थ कहते हैं, वह एक तरह के कर्म करता है। और जिसे संन्यासी कहते हैं, वह दूसरे तरह के कर्म करता है। संन्यासी कर्म नहीं छोड़ पाता। इसमें संन्यासी का कोई कसूर नहीं है। जीवन का स्वभाव ऐसा है। इसलिए जो कर्म छोड़ने की असंभव आकांक्षा करेगा, वह पाखंड में और हिपोक्रेसी में गिर जाएगा।

इस देश में वैसी दुर्घटना घटी। कृष्ण की बात नहीं सुनी गई। यद्यपि आप कहेंगे, गीता से ज्यादा कुछ भी नहीं पढ़ा गया है। लेकिन साथ ही मैं यह भी कहूंगा कि गीता से कम कुछ भी नहीं समझा गया है। अक्सर ऐसा होता है कि जो बहुत पढ़ा जाता है, उसे हम समझना बंद कर देते हैं। बहुत बार पढ़ने से ऐसा लगता है, बात समझ में आ गई। स्मरण हो जाने से लगता है, समझ में आ गई। स्मृति ही ज्ञान मालूम होने लगती है। गीता कंठस्थ है और पृथ्वी पर सर्वाधिक पढ़ी गई किताबों में से एक है, लेकिन सबसे कम समझी गई किताबों में से भी एक है।

जैसे यही बात, कर्म नहीं छोड़ा जा सकता; फिर भी इस देश का संन्यासी हजारों साल से कर्म छोड़ने की असंभव चेष्टा कर रहा है। कर्म नहीं छूटा, सिर्फ निठल्लापन पैदा हुआ है। कर्म नहीं छूटा, सिर्फ निष्क्रियता पैदा हुई है। और निष्क्रियता का अर्थ है, व्यर्थ कर्मों का जाल, जिनसे कुछ फलित भी नहीं होता। लेकिन कर्म जारी रहते हैं। पाखंड उपलब्ध हुआ है। जो कर्म को छोड़कर भागेगा, उसकी कर्म की ऊर्जा व्यर्थ के कामों में सक्रिय हो जाती है।

दो तरह से लोग कर्म को छोड़ने की कोशिश करते हैं। दोनों ही एक-सी भ्रांतियां हैं। एक कोशिश संन्यासी ने की है कर्म को छोड़ने की--सब छोड़ दे, कुछ न करे। लेकिन कुछ न करने का मतलब सिर्फ आत्मघात हो सकता है। और आत्मघात भी करना पड़ेगा; वह भी अंतिम कर्म होगा। एक और रास्ता है, जिससे कर्म छोड़ने की आकांक्षा की जाती रही है। वह भी समझ लेना जरूरी है।

पूरब ने संन्यासी के रास्ते से कर्मत्याग की कोशिश की है और असफल हुआ है। कृष्ण की बात नहीं सुनी गई। पश्चिम ने दूसरे ढंग से कर्म को छोड़ने की कोशिश की है और वह यह है कि यदि यंत्र सारे काम कर दें, तो आदमी कर्म से मुक्त हो जाए! अगर सारा काम यंत्र कर सके, तो आदमी काम से मुक्त हो जाए, कर्म से मुक्त हो जाए, तो परम आनंद को उपलब्ध हो जाएगा। लेकिन पश्चिम दूसरी मुश्किल में पड़ गया है। और वह मुश्किल यह है कि जितना कम काम आदमी के हाथ में है, उतना आदमी ज्यादा उपद्रव हाथ में लेता चला जा रहा है। वह जो कर्म की ऊर्जा है, वह प्रकट होना मांगती है। वह कर्म की ऊर्जा कहीं से प्रकट होगी।

इसलिए पश्चिम में छुट्टी के दिन ज्यादा दुर्घटनाएं होंगी, ज्यादा हत्याएं होंगी, ज्यादा चोरियां होंगी, ज्यादा बलात्कार होंगे। क्योंकि छुट्टी के दिन कर्म की ऊर्जा क्या करे? अगर एक महीने के लिए पूरी छुट्टी दे दी जाए पश्चिम को, तो सारी सभ्यता एक महीने में नष्ट हो जाएगी और नीचे गिर जाएगी।

इसलिए पश्चिम के विचारक अब परेशान हैं कि आज नहीं कल यंत्र के हाथ में सारा काम चला जाएगा, फिर हम आदमी को कौन-सा काम देंगे! और अगर आदमी को काम न मिला, तो आदमी कुछ तो करेगा ही। और वह कुछ खतरनाक हो सकता है; अगर वह काम का न हुआ, तो आत्मघाती हो सकता है।

कृष्ण की बात पश्चिम में भी नहीं सुनी गई। असल में कृष्ण की बात किसी ने भी नहीं सुनी कि कर्म से छुटकारा नहीं है, क्योंकि जीवन और कर्म एक ही चीज के दो नाम हैं। सिर्फ एक बात हो सकती है। इसका यह मतलब नहीं है कि हम जैसे जी रहे हैं और जो कर रहे हैं, वैसे ही जीते रहें और वैसे ही करते चले जाएं। अगर ऐसा कोई समझता है, तो उसे भी कृष्ण की बात सुनाई नहीं पड़ी।

कृष्ण यह कह रहे हैं कि कर्म को बदलने की उतनी फिक्र मत करो, कर्ता को बदलने की फिक्र करो। असली सवाल यह नहीं है कि क्या तुम कर रहे हो, क्या नहीं कर रहे हो! असली सवाल यह है कि तुम क्या हो और क्या नहीं हो! असली सवाल डूइंग का नहीं, बीइंग का है। असली सवाल यह है कि भीतर तुम क्या हो! अगर तुम भीतर गलत हो, तो तुम जो भी करोगे, उससे गलत फलित होगा। और अगर तुम भीतर सही हो, तो तुम जो भी करोगे, उससे सही फलित होगा।

कर्म का प्रश्न नहीं है। वह भीतर जो व्यक्ति है, चेतना है, आत्मा है, कर्म उससे ही निकलते हैं, उससे ही फलते-फूलते हैं। उस चेतना, उस आत्मा का सवाल है। और वह आत्मा बीमार है एक बहुत बड़ी बीमारी से। लेकिन वह बड़ी बीमारी, हमें लगता है कि हमारा बड़ा स्वास्थ्य है। वह आत्मा बीमार है मैं के भाव से, ईगोइज्म से। मैं हूं--यही आत्मा की बीमारी है।

कभी शायद आपने ख्याल न किया हो, अगर शरीर पूरा स्वस्थ हो, तो आपको शरीर का पता नहीं चलता। ठीक से समझा जाए, तो स्वास्थ्य का एक ही प्रमाण होता है कि शरीर का पता न चलता हो, बाडीलेसनेस हो जाए। आपके सिर में दर्द होता है, तो सिर का पता चलता है। अगर सिर में दर्द न हो, तो सिर का पता नहीं चलता। और अगर सिर का थोड़ा भी पता चलता हो, तो समझना कि थोड़ा न थोड़ा सिर बीमार है। अगर पैर में पीड़ा हो, तो पैर का पता चलता है; पांव में कांटा गड़ा हो, तो पांव का पता चलता है। जहां भी

वेदना है, वहीं बोध है। जहां वेदना नहीं, वहां बोध नहीं। जहां वेदना है, वहीं चेतना सघन हो जाती है। और जहां वेदना नहीं है, वहां चेतना विदा हो जाती है।

यह वेदना शब्द भी बहुत अदभुत है। इसके दो अर्थ होते हैं। इसका अर्थ ज्ञान भी होता है और दुख भी होता है। हमारे पास शब्द है, वेद। वेद का अर्थ होता है ज्ञान। वेद से ही वेदना बना है। वेदना का एक अर्थ तो होता हैः ज्ञान, बोध, कांशसनेस; और एक अर्थ होता हैः पीड़ा, दुख। यह अकारण अर्थ नहीं होता है इस शब्द का। असल में जहां पीड़ा है, वहीं बोध टिक जाता है। अगर पैर में कांटा गड़ा है, तो सारा बोध, सारी अटेंशन वहीं, उसी कांटे पर पहुंच जाती है। अगर शरीर में कहीं भी कोई पीड़ा नहीं है, तो शरीर का बोध मिट जाता है। बाडी कांशसनेस चली जाती है। शरीर का पता ही नहीं चलता है। विदेह हो जाता है आदमी, अगर शरीर स्वस्थ हो।

ठीक ऐसे ही अगर आत्मा स्वस्थ हो, तो मैं का पता नहीं चलता। मैं का पता चलता है तभी तक, जब तक आत्मा बीमार है। इसलिए जो आत्मा के तल पर स्वस्थ हो जाते हैं, वे होते तो हैं, लेकिन उन्हें ऐसा नहीं लगता है कि मैं हूं। उन्हें ऐसा ही लगता है--हूं। हूं काफी हो जाता है, मैं विदा हो जाता है।

वह मैं भी एक कांटे की तरह चुभता है चौबीस घंटे। रास्ते पर चलते, उठते-बैठते, कोई देखे तो, कोई न देखे तो, वह मैं का कांटा चुभता रहता है। उस मैं के घाव से भरे हुए हम कर्ता से घिर जाते हैं।

वह अर्जुन भी उसी पीड़ा में पड़ा है। उसका मैं सघन होकर उसे पीड़ा दे रहा है। वह कह क्या रहा है? वह यह नहीं कहता है, युद्ध में हिंसा होगी, इसलिए मैं युद्ध नहीं करना चाहता हूं। नहीं, वह यह नहीं कहता। वह कहता है, युद्ध में मेरे लोग मर जाएंगे, इसलिए मैं युद्ध नहीं करना चाहता हूं। कहता है, मेरे प्रियजन, मेरे संबंधी, मेरे मित्र दोनों तरफ युद्ध के लिए आतुर खड़े हैं। सब मेरे हैं, और मर जाएंगे।

कभी आपने सोचा है कि जब मेरा मरता है, तो पीड़ा क्यों होती है? क्या इसलिए पीड़ा होती है कि जो मेरा था, वह मर गया! या इसलिए पीड़ा होती है कि मेरा होने की वजह से मेरे मैं का एक हिस्सा था, जो मर गया! ठीक से समझेंगे, तो किसी दूसरे के मरने से किसी को कभी कोई पीड़ा नहीं होती है। लेकिन मेरा है, तो पीड़ा होती है। क्योंकि जब भी मेरा कोई मरता है, तो मेरे ईगो का एक हिस्सा, मेरे अहंकार का एक हिस्सा बिखर जाता है भीतर, जो मैंने उसके सहारे सम्हाला था।

इसीलिए तो हम मेरे को बढ़ाते हैं--मेरा मकान हो, मेरी जमीन हो, मेरा राज्य हो, मेरा पद हो, मेरी पदवी हो, मेरा ज्ञान हो, मेरे मित्र हों--जितना मेरा मेरे का विस्तार होता है, उतना मेरा मैं मजबूत और बीच में सघन होकर सिंहासन पर बैठ जाता है। अगर मेरा सब विदा हो जाए, तो मेरे मैं को खड़े होने के लिए कोई सहारा न रह जाएगा और वह भूमि पर गिरकर टूट जाएगा, बिखर जाएगा।

अर्जुन की पीड़ा क्या है? अर्जुन की पीड़ा यह है कि सब मेरे हैं। इसलिए वह बार-बार कहता है कि जिनके लिए राज्य जीता जाता है, जिनके लिए धन कमाया जाता है, जिनके लिए यश की कामना की जाती है, वे सब मेरे मर जाएंगे युद्ध में, तो मैं इस राज्य का, इस धन का, इस साम्राज्य का, इस वैभव को पाकर करूंगा भी क्या? जब मेरे ही मर जाएंगे... !

लेकिन उसे भी साफ नहीं है कि मेरे के मरने का इतना डर मैं के मरने का डर है। जब पत्नी मरती है, तो पति भी एक हिस्सा मर जाता है। उतना ही जितना जुड़ा था, उतना ही जितना पत्नी उसके भीतर प्रवेश कर गई थी और उसके मैं का हिस्सा बन गई थी। एकदम से ख्याल में नहीं आता कि हम सब एक-दूसरे से अपने मैं के लिए भोजन जुटाते हैं।

एक बच्चा हो रहा है एक मां को। एक स्त्री को बच्चा हो रहा है। जिस दिन बच्चा पैदा होता है, उस दिन अकेला बच्चा ही पैदा नहीं होता है, उस दिन मां भी पैदा होती है। उसके पहले सिर्फ स्त्री है, बच्चे के जन्म के बाद वह मां है। यह जो मां होना उसमें आया, यह बच्चे के होने से आया है। अब उसके मैं में मां होना भी जुड़ गया। कल यह बच्चा मर जाए, तो उसका मां होना फिर मरेगा, अब उसके मैं से फिर मां होना गिरेगा। बच्चे का मरना नहीं अखरता; गहरे में अखरता है, मेरे भीतर कुछ मरता है, मेरे मैं की कोई संपदा छिनती है, मेरे मैं का कोई आधार टूटता है।

उपनिषदों ने कहा है, कोई किसी दूसरे के लिए दुखी नहीं होता, सब अपने लिए दुखी होते हैं। कोई किसी दूसरे के लिए आनंदित नहीं होता, सब अपने लिए आनंदित होते हैं। कोई किसी दूसरे के लिए जीता नहीं, सब अपने मैं के लिए जीते हैं। हां, जिन-जिन से हमारे मैं को सहारा मिलता है, वे अपने मालूम पड़ते हैं; और जिन-जिन से हमारे मैं को विरोध मिलता है, वे पराए मालूम पड़ते हैं। जो मेरे मैं को आसरा देते हैं, वे मित्र हो जाते हैं; और जो मेरे मैं को खंडित करना चाहते हैं, वे शत्रु हो जाते हैं।

इसलिए जिसका मैं गिर जाता है, उसका मित्र और शत्रु भी पृथ्वी से विदा हो जाता है। उसका फिर कोई मित्र नहीं और फिर कोई शत्रु नहीं। क्योंकि शत्रु और मित्र सभी मैं के आधार पर निर्मित होते हैं।

यह जो कृष्ण अर्जुन को कह रहे हैं कि कर्म से भागने का कोई उपाय नहीं, मनुष्य परवश है; कर्म तो करना ही होगा, क्योंकि कर्म जीवन है। इस पर इतना जोर इसीलिए दे रहे हैं कि अर्जुन को दिखाई पड़ जाए कि असली बदलाहट, असली म्यूटेशन, असली क्रांति कर्म में नहीं, कर्ता में करनी है। कर्म नहीं मिटा डालना, कर्ता को विदा कर देना है। वह भीतर से कर्ता विदा हो जाए, तो कर्म चलता रहेगा, लेकिन तब, तब कर्म परमात्मा के हाथ में समर्पित होकर चलता है। तब मेरा कोई भी दायित्व, तब मेरा कोई भी बोझ नहीं रह जाता। इस बात को ही कृष्ण आगे और स्पष्ट करेंगे।

प्रश्नः भगवान श्री, पांचवें श्लोक पर प्रश्न करने के पहले कल की चर्चा के संबंध में तीन छोटे प्रश्न रह गए हैं। कल आपने कहा कि क्षत्रिय बहिर्मुखी है और ब्राह्मण अंतर्मुखी है और तदनुरूप उनकी साधना में भेद है। कृपया बताएं कि वैश्य और शूद्र को आप किस चित्त-कोटि में रखेंगे?

क्षत्रिय बहिर्मुखता का प्रतीक है, ब्राह्मण अंतर्मुखता का प्रतीक है। फिर शूद्र और वैश्य किस कोटि में हैं? दो-तीन बातें समझनी होंगी।

अंतर्मुखता अगर पूरी खिल जाए, तो ब्राह्मण फलित होता है; अंतर्मुखता अगर खिले ही नहीं, तो शूद्र फलित होता है। बहिर्मुखता पूरी खिल जाए, तो क्षत्रिय फलित होता है; बहिर्मुखता खिले ही नहीं, तो वैश्य फलित होता है। इसे ऐसा समझें। एक रेंज है अंतर्मुखी का, एकशृंखला है, एक सीढ़ी है। अंतर्मुखता की सीढ़ी के पहले पायदान पर जो खड़ा है, वह शूद्र है; और अंतिम पायदान पर जो खड़ा है, वह ब्राह्मण है। बहिर्मुखता भी एक सीढ़ी है। उसके प्रथम पायदान पर जो खड़ा है, वह वैश्य है; और उसके अंतिम पायदान पर जो खड़ा है, वह क्षत्रिय है।

यहां जन्म से क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र की मैं बात नहीं कर रहा हूं। मैं व्यक्तियों के टाइप की बात कर रहा हूं। ब्राह्मणों में शूद्र पैदा होते हैं, शूद्रों में ब्राह्मण पैदा होते हैं। क्षत्रियों में वैश्य पैदा हो जाते हैं, वैश्यों में क्षत्रिय

पैदा हो जाते हैं। यहां मैं जन्मजात वर्ण की बात नहीं कर रहा हूं। यहां मैं वर्ण के मनोवैज्ञानिक तथ्य की बात कर रहा हूं।

इसलिए यह भी ध्यान में रखने जैसा है कि ब्राह्मण जब भी नाराज होगा किसी पर, तो कहेगा, शूद्र है तू! और क्षत्रिय जब भी नाराज होगा, तो कहेगा, बनिया है तू! कभी सोचा है? क्षत्रिय की कल्पना में बनिया होना नीचे से नीची बात है। ब्राह्मण की कल्पना में शूद्र होना नीचे से नीची बात है। क्षत्रिय की कल्पना अपनी ही बहिर्मुखता में जो निम्नतम सीढ़ी देखती है, वह वैश्य की है। इसलिए अगर क्षत्रिय पतित हो तो वैश्य हो जाता है; और अगर वैश्य विकसित हो तो क्षत्रिय हो जाता है।

इसकी बहुत घटनाएं घटीं। और कभी-कभी जब कोई व्यक्ति समझ नहीं पाता अपने टाइप को, अपने व्यक्तित्व को, अपने स्वधर्म को, तो बड़ी मुश्किल में पड़ जाता है। महावीर क्षत्रिय घर में पैदा हुए, लेकिन वे व्यक्ति अंतर्मुखी थे और उनकी यात्रा ब्राह्मण की थी। बुद्ध क्षत्रिय घर में पैदा हुए, लेकिन वे व्यक्ति ब्राह्मण थे और उनकी यात्रा ब्राह्मण की थी। इसलिए बुद्ध ने बहुत जगह कहा है कि मुझसे बड़ा ब्राह्मण और कोई भी नहीं है। लेकिन बुद्ध ने ब्राह्मण की परिभाषा और की है। बुद्ध ने कहा, जो ब्रह्म को जाने, वह ब्राह्मण है।

बुद्ध और महावीर क्षत्रिय हैं और ब्राह्मण उनका व्यक्तित्व है। जन्म से वे क्षत्रिय हैं। जब महावीर जैसा क्षत्रिय ब्राह्मण की यात्रा पर गया, इंट्रोवर्शन की, अंतर्यात्रा पर गया, सारे बाहर के जगत को छोड़कर भीतर ध्यान और समाधि में डूबा। स्वभावतः, महावीर के आस-पास क्षत्रियों के ही संबंध थे--मित्र थे, प्रियजन थे--वे भी महावीर से प्रभावित हुए और महावीर के पीछे यात्रा पर गए। यह बड़े मजे की बात है कि महावीर के पीछे जो क्षत्रिय यात्रा पर गए, अंत में वे वैश्य होकर रह गए। सारा जैन समाज वैश्यों का हो गया।

असल में महावीर से प्रभावित होकर जो क्षत्रिय महावीर के पीछे गया था, वह इंट्रोवर्ट नहीं था। वह ब्राह्मण हो नहीं सकता था। था तो वह क्षत्रिय, महावीर से प्रभावित होकर पीछे चला गया। ब्राह्मण हो नहीं पाया, क्षत्रिय होना मुश्किल हो गया, वैश्य होने का एकमात्र मार्ग रह गया। वह क्षत्रिय होने से नीचे गिरा और वैश्य हो गया।

यह होने ही वाला था। ब्राह्मण अंतर्मुखता की श्रेष्ठतम स्थिति है। सभी ब्राह्मण ब्राह्मण नहीं हैं। अगर ठीक से समझें, तो हम सब पैदा तो होते हैं या शूद्र की तरह या वैश्य की तरह, विकसित हो सकते हैं ब्राह्मण की तरह या क्षत्रिय की तरह। पैदा तो हम होते हैं नीचे पायदान पर, विकसित हो सकते हैं। बीज में तो हम या तो होते हैं शूद्र, या होते हैं वैश्य। फिर अगर बीज खिल जाए, तो बन सकते हैं क्षत्रिय, या बन सकते हैं ब्राह्मण।

मेरे देखे, जन्म से सारे लोग दो तरह के होते हैं--शूद्र और वैश्य। उपलब्धि से, एचीवमेंट से दो तरह के हो जाते हैं--ब्राह्मण और क्षत्रिय। जो विकसित नहीं हो पाते, वे पिछली दो कोटियों में रह जाते हैं। वर्ण तो दो ही हैं।

अगर सारे लोग विकसित हों, तो जगत में दो ही वर्ण होंगे-- बहिर्मुखी और अंतर्मुखी। लेकिन जो विकसित नहीं हो पाते, वे भी दो वर्ण निर्मित कर जाते हैं। इसलिए चार वर्ण निर्मित हुएः दो, जो विकसित हो जाते हैं; दो, जो विकसित नहीं हो पाते और पीछे छूट जाते हैं।

क्षत्रिय की आकांक्षा शक्ति की आकांक्षा है, ब्राह्मण की आकांक्षा शांति की आकांक्षा है। क्षत्रिय की आकांक्षा शक्ति की है। और अगर क्षत्रिय न हो पाए कोई वैश्य रह जाए। तो बहुत भयभीत, डरा हुआ, कायर व्यक्तित्व होता है वैश्य का, लेकिन बीज उसके पास क्षत्रिय के हैं, इसलिए शक्ति की आकांक्षा भी नहीं छूटती। लेकिन क्षत्रिय होकर शक्ति को पा भी नहीं सकता। इसलिए वैश्य फिर धन के द्वारा शक्ति को खोजता है। वह धन के

द्वारा शक्ति को निर्मित करने की कोशिश करता है। लड़ तो नहीं सकता, युद्ध के मैदान पर नहीं हो सकता, हाथ में तलवार नहीं ले सकता, लेकिन तिजोरी तो ली जा सकती है और तलवारें खरीदी जा सकती हैं। इसलिए इनडाइरेक्टली धन की आकांक्षा, शक्ति की आकांक्षा है--परोक्ष, पीछे के रास्ते से, भयभीत रास्ते से।

ब्राह्मण होने की आकांक्षा शूद्र में भी है। होगी ही। बीज उसके भीतर है अंतर्मुखता का। अगर वह विकसित हो, तो वह पूर्ण अंतर्मुखी यात्रा पर निकल जाएगा। अगर विकसित न हो, तो सिर्फ आलस्य में खड़ा रह जाएगा। बहिर्मुखी हो न पाएगा, अंतर्मुखी होगा नहीं। तब बीच में खड़ा रह जाएगा। आलस्य, तमस, प्रमाद उसकी जिंदगी हो जाएगी। बाहर की यात्रा पर जाएगा नहीं, भीतर की यात्रा पर जा सकता था, जा नहीं रहा है। यात्रा ठहर जाएगी। दोनों यात्राएं ठहर जाएंगी। शूद्र का अर्थ है, प्रमादी। शूद्र का अर्थ है, सोया हुआ। शूद्र का अर्थ है, आलस्य, तमस से घिरा हुआ। शूद्र का अर्थ है, जो कुछ भी नहीं कर रहा है; न बाहर जा रहा है, न भीतर जा रहा है; जो प्रमाद में, अंधेरे में सोया रह गया है।

यह जो मैं कह रहा हूं--यह ध्यान रख लेंगे--यह किसी शूद्र, किसी ब्राह्मण, किसी वैश्य, किसी क्षत्रिय के लिए नहीं कह रहा हूं। यह मनोवैज्ञानिक टाइप के लिए कह रहा हूं।

इसलिए शूद्र निरंतर ही ब्राह्मण के विपरीत अनुभव करेगा। और अगर आज सारी दुनिया में और विशेषकर इस मुल्क में, जिसने कि यह टाइप की मनोवैज्ञानिक व्यवस्था सबसे पहले खोजी थी, शूद्र ने ब्राह्मण के खिलाफ बगावत कर दी है। बगावत करने का एक ढंग और भी था; वह ढंग यह था कि शूद्र ब्राह्मण होने की यात्रा पर निकल जाए। वह नहीं हो सका। और अब राममोहन राय, गांधी और उन सारे लोगों के आधार पर, जिनकी कोई मनोवैज्ञानिक समझ नहीं है, शूद्र एक दूसरी यात्रा पर निकला है। वह कह रहा है कि हम ब्राह्मण को भी शूद्र बनाकर रहेंगे। अब हम तो ब्राह्मण नहीं बन सकते। वह बात छोड़ें। लेकिन अब हम ब्राह्मण को भी शूद्र बनाकर रहेंगे।

शूद्र ब्राह्मण बने, यह हितकर है। लेकिन वह यात्रा आंतरिक यात्रा है। लेकिन शूद्र सिर्फ ब्राह्मण को खींचकर शूद्र बनाने की चेष्टा में लग जाए, तो वह सिर्फ आत्मघाती बात है। शूद्र आतुर है कि ब्राह्मण और उसके बीच का फासला टूट जाए। फासला टूटना चाहिए। लेकिन वह एक मनोवैज्ञानिक साधना है; वह एक सामाजिक व्यवस्था मात्र नहीं है।

और यह भी ध्यान में रखना जरूरी है कि उसी तरह ब्राह्मण भी बहुत बेचैन है कि कहीं फासला न टूट जाए। शंकराचार्य पुरी के बहुत बेचैन हैं कि कहीं फासला न टूट जाए! कहीं ब्राह्मण और शूद्र का फासला न टूट जाए! यह डर भी इसी बात की सूचना है कि अब ब्राह्मण ब्राह्मण नहीं है, अन्यथा फासला टूटने से वह डरने वाला नहीं था। फासला टूट नहीं सकता। शूद्र बगल में बैठ जाए ब्राह्मण के, इससे फासला नहीं टूटता। शूद्र ब्राह्मण की थाली में बैठकर खा ले, इससे फासला नहीं टूटता। अगर ब्राह्मण असली है, तो फासला ऐसे टूटता नहीं। लेकिन अगर ब्राह्मण खुद ही शूद्र है, तो फासला तत्काल टूट जाता है। ब्राह्मण डरा हुआ है, क्योंकि वह शूद्र हो चुका है करीब-करीब। और शूद्र आतुर है कि ब्राह्मण को शूद्र बनाकर रहे।

यह मैं जो कह रहा हूं, वह इसलिए कह रहा हूं, ताकि यह ख्याल आ सके कि भारत की वर्ण की धारणा के पीछे बड़े मनोवैज्ञानिक ख्याल थे। मनोवैज्ञानिक ख्याल यह था कि प्रत्येक व्यक्ति ठीक से पहचान ले कि उसका टाइप क्या है, ताकि उसकी आगे जीवन की यात्रा व्यर्थ यहां-वहां न भटक जाए; वह यहां-वहां न डोल जाए। वह समझ ले कि वह अंतर्मुखी है कि बहिर्मुखी है, और उस यात्रा पर चुपचाप निकल जाए। एक क्षण भी खोने के

योग्य नहीं है। और जीवन का अवसर एक बार खोया जाए, तो न मालूम कितने जन्मों के लिए खो जाता है। व्यक्तित्व ठीक से पहचानकर साधना में उतरे, यह जरूरी है।

इसलिए मैंने कहा, अगर आप बहिर्मुखी हैं, तो या तो आप वैश्य हो सकते हैं या क्षत्रिय हो सकते हैं। अंतर्मुखी हैं, तो या शूद्र हो सकते हैं या ब्राह्मण हो सकते हैं। ये पोलेरिटीज हैं, ये ध्रुवताएं हैं। लेकिन शूद्र होना तो प्रकृति से ही हो जाता है; ब्राह्मण होना उपलब्धि है। वैश्य होना प्रकृति से ही हो जाता है; क्षत्रिय होना उपलब्धि है।

प्रश्नः भगवान श्री, दूसरी बात, कल आपने बताया कि अंतर्मुखी, इंट्रोवर्ट व्यक्ति ज्ञान से शून्यत्व को अर्थात निर्वाण को प्राप्त होता है; उसी तरह बहिर्मुखी, एक्सट्रोवर्ट व्यक्ति साधना से पूर्णत्व अर्थात ब्रह्म को प्राप्त करता है। तो फिर गीता के द्वितीय अध्याय के अंतिम श्लोक में श्रीकृष्ण ने बताया है, ब्रह्मनिर्वाणमृच्छति। यह क्या है? क्या यह दोनों का समन्वय है?

समन्वय की जरूरत सत्य को कभी नहीं होती, सिर्फ असत्यों को होती है। सत्य समन्वित है। ब्रह्म-निर्वाण, ऐसे शब्द के प्रयोग का एक ही मतलब होता है कि कुछ लोग जिसे ब्रह्म कहते हैं, कुछ लोग उसी को निर्वाण कहते हैं। जो शून्य से चलते हैं, वे निर्वाण कहते हैं; जो पूर्ण से चलते हैं, वे ब्रह्म कहते हैं। लेकिन जिस अनुभूति के लिए ये शब्द प्रयोग किए जा रहे हैं, वह एक ही है। ब्रह्म-निर्वाण, ब्रह्म की अनुभूति और निर्वाण की अनुभूतियों के बीच समन्वय नहीं है, क्योंकि समन्वय के लिए दो का होना जरूरी है। ब्रह्म-निर्वाण एक ही अनुभूति के लिए दिए गए दो नामों का इकट्ठा उच्चार है। सिर्फ इस बात को बताने के लिए कि कुछ लोग उसे निर्वाण कहते हैं और कुछ लोग उसे ब्रह्म कहते हैं। लेकिन वह जो है, वह एक ही है। जो लोग विधायक हैं, पाजिटिव हैं, वे उसे ब्रह्म कहते हैं; जो लोग निगेटिव हैं, नकारात्मक हैं, वे उसे निर्वाण कहते हैं। लेकिन वे जिसे कहते हैं, वह एक्स, वह अज्ञात, वह एक ही है।

इसलिए कृष्ण ब्रह्म-निर्वाण दोनों का एक साथ प्रयोग कर रहे हैं, समन्वय के लिए नहीं, सिर्फ इस बात की सूचना के लिए कि सत्य एक ही है, जिसे जानने वाले बहुत तरह से कहते हैं। और बड़े से बड़े जो भेद हो सकते हैं उनके कहने के, वे दो हो सकते हैंः या तो वे कह दें कि वह शून्य है या वे कह दें कि वह पूर्ण है। यह अपनी रुचि की, व्यक्तित्व की बात है। यह अपने देखने के ढंग की बात है।

और हम जब भी कुछ कहते हैं, तो हम उस संबंध में कम कहते हैं जिस संबंध में कह रहे हैं, अपने संबंध में ज्यादा कहते हैं। जब भी हम कुछ कहते हैं, तो वह खबर हमारे बाबत होती है कि हम किस तरह के व्यक्ति हैं। हमें जो दिखाई पड़ता है, वह गेस्टाल्ट है। उसमें हम भी जुड़ जाते हैं।

अब जैसे उदाहरण के लिए, कहीं एक गिलास में आधा पानी भरा रखा हो और एक व्यक्ति कमरे के बाहर आकर कहे कि गिलास आधा खाली है और दूसरा आदमी बाहर आकर कहे कि गिलास आधा भरा है। इन दोनों ने दो चीजें नहीं देखीं। इन दोनों ने दो चीजें कही भी नहीं। लेकिन फिर भी इन दो व्यक्तियों के देखने का ढंग बिल्कुल प्रतिकूल है।

एक ने देखा कि आधा खाली है। खाली पर उसकी नजर गई है, भरे पर उसकी नजर नहीं गई। एंफेटिकली खाली उसे दिखाई पड़ा है, भरा किनारे पर रहा है। खाली बीच में रहा है, सेंटर में, भरा परिधि पर रहा है। खाली ने उसको पकड़ा है; भरे ने उसे नहीं पकड़ा है। दूसरा व्यक्ति कहता है, आधा भरा है। भरा उसके बीच में है

ध्यान के, खाली बाहर है, परिधि पर है। खाली उसे दिखाई नहीं पड़ा, दिखाई उसे भरा पड़ा है, खाली ने सिर्फ भरे की सीमा बनाई है। भरा है असली, खाली पड़ोस में है, सिर्फ सीमांत है। तो वह कह रहा है, आधा भरा है।

और गिलास, गिलास से पूछें कि गिलास आधा भरा है या आधा खाली है? गिलास कुछ भी नहीं कहेगा। क्योंकि गिलास कहेगा, यह विवाद पागलपन का है। मैं दोनों हूं। मैं एक साथ दोनों हूं। लेकिन यह दो भी इसलिए कहना पड़ रहा है, क्योंकि दो लोगों ने मुझे देखा है। असल में मैं तो जो हूं, हूं। यहां तक पानी है और यहां से पानी नहीं है। बीच तक पानी है और बीच तक पानी नहीं है। एक रेखा है, जहां मेरा आधा खालीपन और आधा भरापन मिलते हैं।

दो आदमियों ने दो तरह से देखा है। ये दो आदमी दो तरह से कहते हैं। और अगर ये दोनों आदमी बाजार में चले जाएं और ऐसे लोगों के बीच में पहुंच जाएं जिन्होंने कभी आधी भरी और आधी खाली चीज न देखी हो, तो दो संप्रदाय बन जाएंगे उस बाजार में। एक आधे खाली वालों का संप्रदाय होगा, एक आधे भरे वालों का संप्रदाय होगा। और उनमें भारी विवाद चलेगा; और उनके पंडित बड़ा तर्क करेंगे और विश्वविजय की यात्राएं निकालेंगे और झंडे फहराएंगे और शास्त्रों से सिद्ध करेंगे कि सत्य बात क्या है। दूसरा असत्य है।

ठीक भी है। जिनको पता न हो, उनके लिए दोनों वक्तव्य एकदम कंट्राडिक्टरी हैं। कि गिलास आधा खाली है; खाली है, इस पर ध्यान जाता है। गिलास आधा भरा है; भरा है, इस पर ध्यान जाता है। एक कहता है, खाली है। एक कहता है, भरा है। और जिन्होंने देखा नहीं, जिन्हें कुछ पता नहीं, वे कहेंगे, इससे ज्यादा विरोधी वक्तव्य क्या हो सकते हैं! ये दोनों अलग-अलग बातें हैं। दो में से कोई एक ही सही हो सकता है। इसलिए निर्णय करो कि सही कौन है।

यह निर्णय हजारों साल तक चलेगा और कभी नहीं हो पाएगा। क्योंकि वहां सिर्फ एक ही गिलास है, जो आधा खाली है और आधा भरा है। दो आदमियों ने देखा है। बस, वक्तव्य इसीलिए भिन्न हो गए हैं।

ब्रह्म-निर्वाण दो बातों का समन्वय नहीं है। एक सत्य के लिए उपयोग किए गए दो शब्दों का समवेत प्रयोग है। समन्वय सिर्फ असत्यों में करना पड़ता है। सत्य में समन्वय नहीं हो सकता, क्योंकि सत्य एक है। दूसरा है नहीं, जिससे समन्वय करना पड़े।

इसलिए जितने लोग समन्वय की बातें करते हैं, इन्हें सत्य का कोई भी पता नहीं है। सत्य को समन्वय की कोई भी जरूरत नहीं है। सत्य है ही एक। किससे समन्वय करना है? असत्य से! हां, असत्य से करना हो तो हो सकता है। लेकिन सत्य से असत्य का समन्वय कैसे होगा? कोई उपाय नहीं है। और दो सत्य नहीं हैं कि जिनका समन्वय करना हो। हां, एक ही सत्य को बहुत लोगों ने देखा है, बहुत शब्दों में कहा है। भेद शब्दों के हैं, सत्यों के नहीं।

प्रश्नः भगवान श्री, कल आपने कहा कि कर्ता तो प्रभु है, मनुष्य तो केवल निमित्त-मात्र है। तो कोई व्यक्ति जब दुष्कर्म की ओर प्रवृत्त होता है, तो क्या दुष्कर्म का कर्ता और प्रेरक भी प्रभु है? और कर्तापन के अभाव से बुरे कर्म का अभिनय करना कहां तक उचित है?

अच्छे और बुरे का फासला आदमी का है, परमात्मा का नहीं है। और जो अच्छे-बुरे में फर्क करता है, उससे कभी न कभी बुरा होगा; वह बुरे से बच नहीं सकता है। सिर्फ बुरे से वही बच सकता है, जिसने सभी परमात्मा पर छोड़ दिया हो।

लेकिन हम कहेंगे कि एक आदमी चोरी कर सकता है और कह सकता है कि मैं तो निमित्त-मात्र हूं; चोरी मैं नहीं करता हूं, परमात्मा करता है। कहे; अड़चन अभी नहीं है, अड़चन जब घर के लोग पकड़कर उसे मारने लगते हैं, तब पता चलेगी। क्योंकि अगर वह तब भी यही कहे कि परमात्मा ही मार रहा है और ये घर के लोग कर्ता नहीं हैं, निमित्त-मात्र हैं, तभी पता चलेगा।

और ध्यान रहे, जो आदमी, कोई दूसरा उसे मार रहा हो और फिर भी जानता हो कि परमात्मा ही मार रहा है, निमित्त-मात्र हैं दूसरे, ऐसा आदमी चोरी करने जाएगा, इसकी संभावना नहीं है। असंभव है, यह बिल्कुल असंभव है।

हम बुरा करते ही अहंकार से भरकर हैं। बिना अहंकार के बुरा हम कर नहीं सकते। और जिस क्षण हम परमात्मा को सब कर्तृत्व दे देते हैं, अहंकार छूट जाता है; बुरे को करने की बुनियादी आधारशिला गिर जाती है। बुरा करिएगा कैसे?

कभी आपने ख्याल किया है कि बुरे कर्म को करके तो कोई भी अपने को कर्ता नहीं बताना चाहता है। कभी आपने यह ख्याल किया है! एक आदमी चोरी भी करता है, तो वह कहता है, मैंने नहीं की। फंस जाए, हम सिद्ध कर दें, बात अलग। लेकिन अपनी तरफ से वह इनकार ही करता चला जाता है कि मैंने नहीं की। बुरे का कर्ता तो कोई भी होने को राजी नहीं है। और मजा यह है कि बुरा बिना कर्ता के होता नहीं है।

उलटी बात भी ख्याल में ले लें, कोई आदमी दो पैसे दान दे, तो दो लाख जैसे दान दिया हो, ऐसी खबरें उड़ाना चाहता है! न भी खबर उड़ा पाए, दो पैसा दान दे, तो भी दो लाख दिया है, इतनी अकड़ से चलना तो चाहता ही है। भिखारी भी जानते हैं, अगर आप अकेले मिल जाएं रास्ते पर, तो उनको भरोसा कम होता है कि दान मिलेगा। चार आदमी आपके साथ हों, तब उनका भरोसा बढ़ जाता है। तब वे आपका पैर पकड़ लेते हैं। तब आप पर भरोसा नहीं होता, चार आदमियों की मौजूदगी पर भरोसा होता है। ये चार आदमियों के सामने यह आदमी इतनी दीनता प्रकट न कर पाएगा कि कह दे कि नहीं देते। इसलिए भिखारी को अकेला कोई मिल जाए, तो काम नहीं सधता। उसे भीड़ में पकड़ना पड़ता है।

अच्छा काम आदमी न भी किया हो, तो भी घोषणा करना चाहता है कि मैं कर्ता हूं। और मजा यह है कि जब तक कर्ता होता है, तब तक अच्छा काम होता नहीं है। अब इस मिस्ट्री को, इस रहस्य को ठीक से समझ लेना चाहिए।

कर्ता की मौजूदगी, अहंकार की मौजूदगी ही जीवन में पाप का जन्म है। अहंकार की अनुपस्थिति, गैर-मौजूदगी ही जीवन में पुण्य की सुगंध का फैलाव है। इसलिए अगर कोई कर्ता रहकर पुण्य भी करे, तो पाप हो जाता है। कर नहीं सकता, इसीलिए हो जाता है। हो ही नहीं सकता। दूसरी बात भी नहीं हो सकती। कोई कर्ता मिट जाए और पाप करे, यह भी नहीं हो सकता।

हमने जो फर्क किया है पाप और पुण्य का, अच्छे और बुरे का, वह उन लोगों ने किया है, जिनके पास कर्ता मौजूद है, जिनका अहंकार मौजूद है। और इस अहंकार के मौजूद रहते हमें ऐसा इंतजाम करना पड़ा है कि हम बुरे आदमी को बहुत बुरा कहते हैं, ताकि अहंकार को चोट लगे। हम अहंकार से ही बुराई को रोकने की कोशिश कर रहे हैं। इसलिए बुराई रुक नहीं पाई, सिर्फ अहंकार बढ़ा है। सारी मारेलिटी, सारा नीतिशास्त्र क्या करता है? वह इतना ही करता है कि आपके अहंकार को ही उपयोग में लाता है बुराई से रोकने के लिए।

बाप अपने बेटे से कहता है, ऐसा करोगे तो गांव के लोग क्या कहेंगे? बात गलत है या सही है, यह सवाल नहीं है बड़ा। बड़ा सवाल यह है कि गांव के लोग क्या कहेंगे! कोई आदमी किसी के घर में चोरी करने जाता है,

तो सोचता है--यह नहीं कि चोरी बुरी है--यह कि पकड़ तो न जाऊंगा! अगर पक्का विश्वास दिला दिया जाए कि नहीं पकड़े जा सकोगे, तो कितने लोग हैं जो अचोर रह पाएंगे! पुलिस वाला चौरस्ते पर न हो चौबीस घंटे के लिए, अदालत चौबीस घंटे के लिए छुट्टी पर चली जाएं, कानून चौबीस घंटे के लिए स्थगित कर दिया जाए, कितने भले लोग भले रह जाएंगे? और चौबीस घंटे के लिए यह भी तय कर लिया जाए कि जो बुरा करेगा, उसे सम्मान मिलेगा और जो अच्छा करेगा, उसे अपमान मिलेगा, तब तो और मुश्किल हो जाएगी।

नहीं, हम बुरे से नहीं रुके हैं। बुरे से रोकने के लिए भी हमने अहंकार का ही उपयोग किया है कि लोग क्या कहेंगे? इज्जत का क्या होगा? कुल का क्या होगा? वंश का क्या होगा? प्रतिष्ठा, सम्मान, आदर--इसका क्या होगा? इससे हम रोके हुए हैं आदमी को।

लेकिन जिस चीज का हम उपयोग कर रहे हैं रोकने के लिए, वही पाप की जड़ है। हम जहर सींचकर ही बुराई को मिटाने की कोशिश कर रहे हैं। इसलिए हजारों साल हो गए, बुराई मिटती नहीं है। सिर्फ जहर सिंचता है और बुराई नए रास्तों से निकलकर प्रकट होती है।

अच्छे आदमी से भी हम क्या करवाते हैं? उसके भी अहंकार को बल देते हैं। हम कहते हैं, तुम्हारे नाम की तख्ती लगा देंगे मंदिर पर, तुम्हारा संगमरमर पर नाम खोद देंगे। काम अच्छा है, यह सवाल नहीं है; हम तुम्हारे अहंकार के लिए सील-मोहर दे देंगे। अच्छा आदमी भी मंदिर बनाने के लिए मंदिर नहीं बनाता, मंदिर में नाम का पत्थर लगाने के लिए मंदिर बनाता है। अच्छे काम के लिए भी हमें जहर को ही सींचना पड़ता है। इसलिए सब मंदिर, मस्जिद अगर जहरीले हो गए हैं, तो कोई आश्चर्य नहीं है। उनकी जड़ में जहर है, वहां अहंकार खड़ा हुआ है। अच्छाई करवानी हो तो भी अहंकार, बुराई रोकनी हो तो भी अहंकार!

कृष्ण कुछ और ही सूत्र कह रहे हैं; वह बहुत अदभुत है। वह एक अर्थ में, कहें कि धर्म का बुनियादी सूत्र है। वे यह कह रहे हैं कि नीति से काम नहीं चलेगा अर्जुन, क्योंकि नीति तो अहंकार पर ही खड़ी होती है। धर्म से काम चलेगा, क्योंकि धर्म कहता है, छोड़ो तुम मैं को, परमात्मा को करने दो जो कर रहा है, तुम निमित्त-मात्र हो जाओ।

हमें डर लगता है कि अगर हम निमित्त-मात्र हुए, तो अभी चोरी पर निकल जाएंगे। हमें डर लगता है कि अगर हम निमित्त-मात्र हुए और हमने कहा कि अब हम कर्ता नहीं हैं, तो हम अभी चोरी पर निकल जाएंगे।

मैंने सुना है कि एक दफ्तर में एक मैनेजर को एक बुद्धिमानी की बात सूझी। वैसे आमतौर से मैनेजर्स को बुद्धिमानी की बात नहीं सूझती। या ऐसा हो सकता है कि मैनेजर होते-होते तक आदमी को बुद्धि खो देनी पड़ती है। या ऐसा हो सकता है कि मैनेजर तक पहुंचने के लिए बुद्धि बिल्कुल ही गैरजरूरी तत्व है, या बाधा है। लेकिन एक मैनेजर को बुद्धिमानी सूझी और उसने अपने दफ्तर में एक तख्ती लगा दी। लोग काम नहीं करते थे, टालते थे, पोस्टपोन करते थे, तो उसने एक तख्ती लगा दी। एक वचन किसी संत का लगा दिया। लगा दियाः काल करे सो आज कर, आज करे सो अब। जो कल करना चाहता था, वह आज कर; जो आज करना चाहता था, वह अभी कर, क्योंकि समय का कोई भरोसा नहीं है कि कल आएगा कि नहीं आएगा।

सात दिन बाद उसके मित्रों ने पूछा, तख्ती का क्या परिणाम हुआ? उसने कहा, बड़ी मुश्किल में पड़ गया हूं। मेरा सेक्रेटरी टाइपिस्ट को लेकर भाग गया। एकाउंटेंट सारा पैसा लेकर नदारत हो गया। सब गड़बड़ हो गई है। पत्नी का सात दिन से कोई पता नहीं चल रहा है, चपरासी के साथ भाग गई है। दफ्तर में अकेला ही रह गया हूं। क्योंकि उन लोगों ने, जो-जो उन्हें कल करना था, आज ही कर लिया है; और जो आज करना था, वह अभी कर लिया है।

हमें भी ऐसा लगता है कि अगर हम परमात्मा पर सब छोड़ दें, तो फिर तो छूट मिल जाएगी। फिर तो हमें जो भी करना है, वह हम अभी कर लेंगे। हां, अगर उसको करने के लिए ही निमित्त बन रहे हैं, अगर उसे करने के लिए ही परमात्मा को कर्ता बना रहे हैं, तो जरूर ऐसा हो जाएगा।

लेकिन जो कुछ करने के लिए निमित्त बन रहा है, वह निमित्त बन ही नहीं रहा है। और जो कुछ करने के लिए परमात्मा को कर्ता बना रहा है, वह परमात्मा को कर्ता बना ही नहीं रहा है। योजना तो उसकी अपनी ही है, अहंकार तो अपना ही है, परमात्मा का भी शोषण करना चाह रहा है।

नहीं, कृष्ण उसके लिए नहीं कह रहे हैं। कृष्ण कह रहे हैं कि अगर तुम परमात्मा में अपने को छोड़ दो, तो छोड़ने के साथ ही अपनी योजनाएं भी छूट जाती हैं; छोड़ने के साथ ही अपनी कामनाएं भी छूट जाती हैं; छोड़ने के साथ ही अपनी वासनाएं भी छूट जाती हैं; छोड़ने के साथ ही अपना भविष्य भी छूट जाता है; छोड़ने के साथ ही हम ही छूट जाते हैं। फिर हम बचते ही नहीं। फिर जो हो। फिर जो हो!

लेकिन हमें डर लगेगा। क्योंकि जो-जो होने की, हमें करने की इच्छा है, वह फौरन दिखाई पड़ेगी कि यह-यह होगा। तब हम कृष्ण को नहीं समझ पा रहे हैं। तब कृष्ण को समझना मुश्किल होगा।

जिस दिन कोई व्यक्ति स्वयं को समर्पित करने का साहस जुटाता है--और स्वयं को समर्पित करना बड़े से बड़ा साहस है। उससे बड़ा कोई साहस नहीं, कोई एडवेंचर नहीं, उससे बड़ा कोई दुस्साहस नहीं। स्वयं को छोड़ना परमात्मा के चरणों में, आसान बात नहीं है। और जो आदमी स्वयं को छोड़ सकता है, वह चोरी नहीं छोड़ पाएगा, यह सोचना भी मुश्किल है। जो स्वयं को ही छोड़ सकता है, वह चोरी किसके लिए करेगा? जो स्वयं को छोड़ सकता है, हत्या किसके लिए करेगा? जो स्वयं को छोड़ सकता है, बेईमानी किसके लिए करेगा? उसका कोई उपाय नहीं है। स्वयं को छोड़ते ही, सब छूट जाता है। फिर जो भी हो--कृष्ण कहते हैं--वह परमात्मा का है। तू निमित्त भर है। निमित्त भर जो है, उसे योजना नहीं बनानी है। निमित्त भर जो है, उसे कामना नहीं करनी है। निमित्त की क्या कामना? निमित्त की क्या वासना?

कृष्ण का संदेश धार्मिक है, नैतिक नहीं। और नैतिक संदेश भी कोई संदेश होता है! कामचलाऊ, कनवीनिएंट होता है। अनीति को किसी तरह रोकने का उपाय हम करते रहते हैं। रुकती नहीं। किसी तरह इंतजाम करते रहते हैं, काम चलाते हैं। धर्म का संदेश कामचलाऊ नहीं है। धर्म का संदेश तो जीवन की आमूल क्रांति का संदेश है। जो स्वयं को सब भांति छोड़ देता है, उसके जीवन से सब कुछ गिर जाता है, जो कल तक था। न बुरा, न अच्छा--दोनों गिर जाते हैं। फिर तो परमात्मा ही शेष रह जाता है। फिर जो भी हो, उससे अंतर नहीं पड़ता, वह सभी कुछ परमात्मा के लिए समर्पित है।

चौबीस घंटे के लिए भी कभी प्रयोग करके देखें। फिर वासना को उठाना मुश्किल होगा। क्योंकि वासना केवल कर्ता ही उठा सकता है। निमित्त वासना कैसे उठाएगा? फिर यह सोचना मुश्किल होगा कि मैं करोड़ रुपया इकट्ठा कर लूं, क्योंकि मैं हूं कौन? मैं हूं कहां? यह करोड़ रुपया इकट्ठा करने की वासना निमित्त-मात्र व्यक्ति में नहीं उठ सकती। सारी वासना का आधार, मूल स्रोत अहंकार है।

प्रश्नः भगवान श्री, कल की चर्चा पर एक छोटा-सा प्रश्न और आया है। आपने कहा कि तीन बार किसी बात का संकल्प करना कमजोर संकल्प घोषित करता है। आपके ध्यान में संकल्प तीन बार किया जाता है, तो यह क्या है? और ध्यान-साधना से ज्ञान होगा कि ध्यान-साधना स्वयं में कर्म है?

ध्यान के प्रयोग में तीन बार संकल्प किया जाता है, वह भी कम पड़ता है। तीन सौ बार किया जाए, तब पूरा पड़े! क्योंकि आप अर्जुन नहीं हैं। आप अर्जुन नहीं हैं। आपको तीन सौ बार कहने पर भी एक बार सुनाई पड़ जाए तो बहुत है। तीन बार इसीलिए कहा जाता है कि शायद एकाध बार सुनाई पड़ जाए। बहरों के बीच मेहनत अलग तरह की होती है।

कृष्ण भीड़ को नहीं बता रहे हैं। और जब मैं ध्यान करवा रहा हूं, तो भीड़ को। कृष्ण एक आदमी से बात कर रहे हैं--सीधे, आमने-सामने। जब मैं हजारों लोगों से कुछ बात कर रहा हूं, तो आमने-सामने कोई भी नहीं है। दिखाई पड़ते हैं आमने-सामने, है कोई भी नहीं। तीन सौ बार भी कहा जाए, तो थोड़ा पड़ेगा। आशा यही है कि तीन सौ बार कहने में शायद एकाध बार आपको सुनाई पड़ जाए। काम तो एक ही बार में हो जाता है, लेकिन वह एक बार सुनाई पड़ना चाहिए न!

और पूछ रहे हैं कि ध्यान से क्या फलित होगा?

अगर बहिर्मुखी व्यक्तित्व है, तो ध्यान से वह ब्रह्म की यात्रा पर निकल जाता है। अगर अंतर्मुखी व्यक्तित्व है, तो ध्यान से निर्वाण की यात्रा पर निकल जाता है। ध्यान दोनों यात्राओं पर वाहन का काम करता है। इसलिए ध्यान किसी व्यक्ति विशेष के टाइप से संबंधित नहीं है। ध्यान तो ऐसा है, जैसे कि आप ट्रेन पर पश्चिम जाना चाहें, तो पश्चिम चले जाएं; और पूर्व जाना चाहें, तो पूर्व चले जाएं। ट्रेन नहीं कहती कि कहां जाएं। ट्रेन कहीं भी जा सकती है।

ध्यान सिर्फ एक वाहन है। बहिर्मुखी व्यक्ति अगर ध्यान में उतरे, तो वह ब्रह्म की यात्रा पर, बहिर्यात्रा पर निकल जाएगा, कास्मिक जर्नी पर निकल जाएगा--जहां सारा अखंड जगत उसे अपना ही स्वरूप मालूम होने लगेगा। अगर अंतर्मुखी व्यक्ति ध्यान के वाहन पर सवार हो, तो अंतर्यात्रा पर निकल जाएगा, शून्य में, और शून्य में, और महाशून्य में--जहां सब बबूले फूटकर मिट जाते हैं और महासागर अस्तित्व का, शून्य का ही शेष रह जाता है। ध्यान दोनों के काम आ सकता है। ध्यान का टाइप से संबंध नहीं है। ध्यान का संबंध यात्रा के वाहन से है!

कर्मेन्द्रियाणि संयम्य य आस्ते मनसास्मरन्।

इन्द्रियार्थान्विमूढात्मा मिथ्याचारः स उच्यते।। 6।।

इसलिए जो मूढ़बुद्धि पुरुष कर्मेंद्रियों को हठ से रोककर इंद्रियों के भोगों का मन से चिंतन करता है, वह मिथ्याचारी अर्थात दंभी कहा जाता है

अदभुत वचन है। कृष्ण कह रहे हैं कि जो मूढ़ व्यक्ति-- मूढ़ ख्याल रखना--जो नासमझ, जो अज्ञानी इंद्रियों को हठपूर्वक रोककर मन में काम के चिंतन को चलाए चला जाता है, वह दंभ में, पाखंड में, अहंकार में पतित होता है। मूढ़ कहेंगे! कह रहे हैं, ऐसा व्यक्ति मूढ़ है, जो इंद्रियों को दमन करता है, सप्रेस करता है!

काश! फ्रायड को यह वचन गीता का पढ़ने मिल जाता, तो फ्रायड के मन में धर्म का जो विरोध था, वह न रहता। लेकिन फ्रायड को केवल ईसाई दमनवादी संतों के वचन पढ़ने को मिले। उसे केवल उन्हीं धार्मिक लोगों की खबर मिली, जिन्होंने जननेंद्रियां काट दीं, ताकि कामवासना से मुक्ति हो जाए। फ्रायड को उन सूरदासों की खबर मिली, जिन्होंने आंखें फोड़ दीं, ताकि कोई सौंदर्य आकर्षित न कर सके। उन विक्षिप्त, न्यूरोटिक लोगों की खबर मिली, जिन्होंने अपने शरीर को कोड़े मारे, लहू बहाया, ताकि शरीर कोई मांग न करे। जो रात-रात सोए

नहीं, कि कहीं कोई सपना मन को वासना में न डाल दे। जो भूखे रहे, कि कहीं शरीर में शक्ति आए, तो कहीं इंद्रियां बगावत न कर दें।

स्वभावतः, अगर फ्रायड को लगा कि इस तरह का सब धर्म न्यूरोटिक है, पागल है और मनुष्य जाति को विक्षिप्त करने वाला है, तो आश्चर्य नहीं। लेकिन कृष्ण का एक वचन भी फ्रायड के मन की सारी ग्रंथियों को खोल देता।

कृष्ण कह रहे हैं, मूढ़ है वह व्यक्ति--फ्रायड से पांच हजार साल पहले--जो अपनी इंद्रियों को दबाता है। क्योंकि इंद्रियों को दबाने से मन नहीं दबता, बल्कि इंद्रियों को दबाने से मन और प्रबल होता है। इसलिए मूढ़ है वह व्यक्ति। क्योंकि इंद्रियों का कोई कसूर ही नहीं, इंद्रियों का कोई सवाल ही नहीं है। असली सवाल भीतर छिपे मन का है। वह मन मांग कर रहा है, इंद्रियां तो केवल उस मन के पीछे चलती हैं। वे तो मन की नौकर-चाकर, मन की सेविकाएं, इससे ज्यादा नहीं हैं।

मन कहता है, सौंदर्य देखो, तो आंख सौंदर्य देखती है। और मन कहता है, बंद कर लो आंख, तो आंख बंद हो जाती है। आंख की अपनी कोई इच्छा है? आंख ने कभी कहा कि मेरी यह इच्छा है? हाथ ने कभी कहा कि छुओ इसे? मन कहता है, छुओ, तो हाथ छूने चला जाता है। मन कहता है, मत छुओ, तो हाथ ठहर जाता है और रुक जाता है। इंद्रियों की अपनी कोई इच्छा ही नहीं है।

लेकिन कितनी इंद्रियों को गालियां दी गई हैं! इंद्रियों के खिलाफ कितने वक्तव्य दिए गए हैं! और इंद्रियां बिल्कुल निष्पाप और निर्दोष और इनोसेंट हैं। इंद्रियों का कोई संबंध नहीं है। कोई इंद्रिय मनुष्य को किसी काम में नहीं ले जाती, मन ले जाता है। और जब कोई इंद्रियों को दबाता है, इंद्रियों को रोकता है और मन जब इंद्रियों का सहयोग नहीं पाता है, तो पागल होकर भीतर ही उन चीजों की रचना करने लगता है, जो उसने बाहर चाही थीं।

अगर दिनभर आप भूखे रहे हैं, तो रात सपने में आप राजमहल में आमंत्रित हो जाते हैं। मन ने इंतजाम किया, मन ने कहा कि ठीक है। मन ने जिस स्त्री, जिस पुरुष के प्रति दिन में अपने को रोका, रात सपने में मन नहीं रोक पाता।

खुद फ्रायड ने अपने एक पत्र में लिखा है--और फ्रायड जानता है--खुद लिखा है। कोई पैंतालीस साल की उम्र में लिखा गया पत्र है। एक मित्र को लिखा है कि आज मैं रास्ते पर चलते वक्त हैरान हुआ, एक सुंदर स्त्री को देखकर मेरे मन में उसे छूने की इच्छा जगी। फिर मैंने सोचा भी कि मैं कैसा पागल हूं। इस उम्र में! और फ्रायड जैसा आदमी, जिसने जिंदगीभर सेक्स को समझने की शायद मनुष्य जाति के इतिहास में सर्वाधिक कोशिश की है, जो जानता है कि सेक्स क्या है, जो जानता है वासना क्या है। उसने लिखा है कि मैंने अपने को रोकना चाहा, लेकिन मैं रोकता भी रहा और मैंने बढ़कर भीड़ में उस स्त्री को छू भी लिया, स्पर्श भी कर लिया। आधे मन से रोकता भी रहा, आधे मन से स्पर्श भी कर लिया। पछताता भी रहा, कामना भी करता रहा। फ्रायड ने लिखा है कि अब भी मेरे भीतर यह संभव है, यह मैंने सोचा न था।

मरते वक्त तक भी संभव है। मुर्दा भी, अगर थोड़ी-बहुत शक्ति बची हो, तो उठकर यही कर सकता है। मुर्दों ने तो कभी नहीं किया, लेकिन मुर्दों के साथ करने वाले लोग मिल गए हैं।

क्लियोपैट्रा जब मरी और उसकी लाश दफना दी गई कब्र में, तो उसकी लाश चोरी चली गई। सुंदर स्त्री! पंद्रह दिन बाद उसकी लाश मिली और चिकित्सकों ने कहा कि पंद्रह दिन में हजारों लोगों ने उसकी लाश से संभोग किया है। लाशों से भी संभोग होता है! अगर लाशें भी उठ आएं, तो वे भी कर सकती हैं।

कृष्ण कह रहे हैं कि बाहर से दबा लोगे इंद्रियों को--इंद्रियों का तो कोई कसूर नहीं, इंद्रियों का कोई हाथ नहीं। इररेलेवेंट हैं इंद्रियां, असंगत हैं, उनसे कोई वास्ता ही नहीं है। सवाल है मन का। रोक लोगे इंद्रियों को, न करो भोजन आज, कर लो उपवास। मन, मन दिनभर भोजन किए चला जाएगा। ऐसे मन दो ही बार भोजन कर लेता है दिन में, उपवास के दिन दिनभर करता रहता है। यह जो मन है, मूढ़ है वह व्यक्ति, जो इस मन को समझे बिना, इस मन को बदले बिना, केवल इंद्रियों के दबाने में लग जाता है। और उसका परिणाम क्या होगा? उसका परिणाम होगा कि वह दंभी हो जाएगा। वह दिखावा करेगा कि देखो, मैंने संयम साध लिया; देखो, मैंने संयम पा लिया; देखो, मैं तप को उपलब्ध हुआ; देखो, ऐसा हुआ, ऐसा हुआ। वह बाहर से सब दिखावा करेगा और भीतर, भीतर बिल्कुल उलटा और विपरीत चलेगा।

अगर हम साधुओं के--तथाकथित साधुओं के, सो काल्ड साधुओं के; और उनकी ही संख्या बड़ी है, वही हैं निन्यानबे प्रतिशत--अगर उनकी खोपड़ियों को खोल सकें और उनके हृदय के द्वार खोल सकें, तो उनके भीतर से शैतान निकलते हुए दिखाई पड़ेंगे। अगर हम उनके मस्तिष्क के सेल्स को तोड़ सकें और उनसे पूछ सकें कि तुम्हारे भीतर क्या चलता है? तो जो चलता है, वह बहुत घबड़ाने वाला है। ठीक विपरीत है। जो बाहर दिखाई पड़ता है, उससे ठीक उलटा भीतर चलता चला जाता है।

कृष्ण इसे मूढ़ता कह रहे हैं। क्योंकि जो भीतर चलता है, वही असली है। जो बाहर चलता है, उसका कोई मूल्य नहीं है। धर्म का दिखावे से, एक्जीबिशन से कोई संबंध नहीं है। धर्म का प्रदर्शन से क्या संबंध है? धर्म का होने से संबंध है। हो सकता है, बाहर कुछ उलटा भी दिखाई पड़े, तो कोई फिक्र नहीं; भीतर ठीक चलना चाहिए। बाहर भोजन भी चले, तो कोई फिक्र नहीं, भीतर उपवास होना चाहिए। लेकिन होता उलटा है। बाहर उपवास चलता है, भीतर भोजन चलता है। बाहर स्त्री भी पास में बैठी रहे तो कोई हर्ज नहीं, पुरुष भी पास में बैठा रहे तो कोई हर्ज नहीं, भीतर--भीतर स्वयं के अतिरिक्त और कोई भी नहीं होना चाहिए। लेकिन होता उलटा है। बाहर आदमी मंदिर में बैठा है, मस्जिद में बैठा है, गुरुद्वारे में बैठा है; और भीतर उसके गुरुद्वारे में, खुद के गुरुद्वारे में कोई और बैठे हुए हैं; वे चल रहे हैं।

जिंदगी को बदलाहट देनी है, तो बाहर से नहीं दी जा सकती; जिंदगी को बदलाहट देनी है, तो वह भीतर से ही दी जा सकती है। और जो आदमी बाहर से देने में पड़ जाता है, वह भूल ही जाता है कि असली काम भीतर है। सवाल इंद्रियों का नहीं, सवाल मन का है। सवाल वृत्ति का है; सवाल वासना का है; सवाल शरीर का जरा भी नहीं है।

इसलिए शरीर को कोई कितना ही दबाए और नष्ट करे, मार ही डाले, तो भी कोई फर्क नहीं पड़ता है। उसकी प्रेतात्मा भटकेगी, उन्हीं वासनाओं में वह नए जन्म लेगा। नए शरीर ग्रहण करेगा उन्हीं वासनाओं के लिए, जिनको छोड़ दिया था पिछले शरीर में। उसकी यात्रा जारी रहेगी। वह अनंत-अनंत जन्मों तक वही खोजता रहेगा, जो उसका मन खोजना चाहता है।

दंभ, पाखंड, धोखा--किसको दे रहे हैं हम? दूसरे को? दूसरे को दिया भी जा सके, स्वयं को कैसे देंगे? और इसलिए प्रत्येक उस व्यक्ति को जो धर्म की दिशा में उत्सुक होता है, ठीक से समझ लेना चाहिए कि स्वयं को धोखा तो देने नहीं जा रहा है! सेल्फ डिसेप्शन, आत्मवंचना में तो नहीं पड़ रहा है! कृष्ण उसी के लिए कह रहे हैं--मूढ़!

सोचने जैसा है, कृष्ण जैसा आदमी मूढ़ जैसे शब्द का उपयोग करे! अगर मैं किसी को कह दूं कि तुम मूढ़ हो, तो वह लड़ने खड़ा हो जाएगा। कृष्ण ने अर्जुन को मूढ़ कहा। उन सब को मूढ़ कहा। एक आगे के सूत्र में तो

अर्जुन को महामूढ़ कहा, कि तू बिल्कुल महामूर्ख है। फिर भी अर्जुन लड़ने खड़ा नहीं हो गया। कृष्ण जो कह रहे हैं, वह फैक्चुअल है, कंडेमनेटरी नहीं है। कृष्ण जो कह रहे हैं, वह मूढ़ शब्द का उपयोग किसी की निंदा के लिए नहीं है, तथ्य की सूचना के लिए है।

मूढ़ हैं जगत में; कहना पड़ेगा, उन्हें मूढ़ ही कहना पड़ेगा। अगर सज्जनता और शिष्टाचार के कारण उन्हें कहा जाए कि हे बुद्धिमानो! तो बड़ा अहित होगा। लेकिन कृष्ण जैसे हिम्मत के धार्मिक लोग अब नहीं रह गए। अब तो धार्मिक आदमी के पास कोई भी जाए, तो उसको मूढ़ नहीं कह सकता। धार्मिक आदमी ही नहीं रहा।

झेन फकीर होते हैं जापान में, तो डंडा पास में रखते हैं। जरा गलत-सलत पूछा, तो सिर पर एक डंडा भी लगाते हैं। यहां तो किसी से अगर इतना भी कह दो कि गलत पूछ रहे हो, तो वह लड़ने को खड़ा हो जाएगा। चूंकि कोई पूछने की जिज्ञासा भी नहीं है और सैकड़ों वर्षों से उस हिम्मतवर धार्मिक आदमी का भी तिरोधान हो गया है, जो तथ्य जैसे थे उनको वैसा कहने की हिम्मत रखता था। तो आज किसी को मूढ़ कह दो, तो वह कहेगा कि अरे! उन्होंने मूढ़ कह दिया। तो वह आदमी ठीक नहीं है, जिसने मूढ़ कह दिया।

कृष्ण कह रहे हैं कि मूढ़ हैं वे, जो इंद्रियों को दबाते, दमन करते, रिप्रेस करते और परिणामतः भीतर जिनका चित्त उन्हीं-उन्हीं वासनाओं में परिभ्रमण करता है, तूफान लेता है, आंधियां बन जाता है; ऐसे व्यक्ति दंभ को, पाखंड को पतित हो जाते हैं। और इस जगत में अज्ञान से भी बुरी चीज पाखंड है। इसलिए उन्होंने कहा कि वे मिथ्या आचरण में, मिथ्यात्व में, फाल्सिटी में गिर जाते हैं।

इस शब्द को भी ठीक से समझ लेना उचित है। मिथ्या किसे कहें? एक तो होता है सत्य; एक होता है असत्य। मिथ्या क्या है? असत्य? मिथ्या का अर्थ असत्य नहीं है। मिथ्या का अर्थ है, दोनों के बीच में। जो है तो असत्य और सत्य जैसा दिखाई पड़ता है। मिथ्या मिडिल टर्म है।

कृष्ण कह रहे हैं--ऐसे लोग असत्य में पड़ते हैं, यह नहीं कह रहे हैं--वे कह रहे हैं, ऐसे लोग मिथ्या में पड़ जाते हैं। मिथ्या का मतलब? दिखाई पड़ते हैं, बिल्कुल ठीक हैं; और बिल्कुल ठीक होते नहीं हैं। ऐसे धोखे में पड़ जाते हैं। बाहर से दिखाई पड़ते हैं, बिल्कुल सफेद हैं; और भीतर बिल्कुल काले होते हैं। अगर बाहर भी काले हों, तो वह सत्य होगा; अगर भीतर भी सफेद हों, तो वह सत्य होगा। इसको क्या कहें? यह मिथ्या स्थिति है, यह इल्यूजरी स्थिति है। हम और तरह की शकल बाहर बना लेते हैं और भीतर कुछ और चलता चला जाता है।

इस मिथ्या में जो पड़ता है, वह अज्ञानी से भी गलत जगह पहुंच जाता है। क्योंकि अज्ञान में पीड़ा है। गलत का बोध हो और मुझे पता हो कि मैं गलत हूं, तो मैं अपने को बदलने में भी लगता हूं। मुझे पता हो कि मैं बीमार हूं, तो मैं चिकित्सा का भी इंतजाम करता हूं, मैं चिकित्सक को भी खोजता हूं, मैं निदान भी करवाता हूं। लेकिन मैं हूं बीमार और मैं घोषणा करता हूं कि मैं स्वस्थ हूं, तब कठिनाई और भी गहरी हो जाती है। अब मैं चिकित्सक को भी नहीं खोजता, अब मैं निदान भी नहीं करवाता, अब मैं डाइग्नोसिस्ट के पास भी नहीं फटकता। अब तो मैं स्वस्थ होने की घोषणा किए चला जाता हूं और भीतर बीमार होता चला जाता हूं। भीतर होती है बीमारी, बाहर होता है स्वास्थ्य का दिखावा। तब आदमी सबसे ज्यादा जटिल उलझाव में पड़ जाता है। मिथ्यात्व, मनुष्य के जीवन में सबसे बड़ी जटिलता पैदा कर देता है।

तो कृष्ण कहते हैं, ऐसा आदमी अंततः बहुत जटिल और कांप्लेक्स हो जाता है। करता कुछ, होता कुछ। जानता कुछ, मानता कुछ। दिखलाता कुछ, देखता कुछ। सब उसका अस्तव्यस्त हो जाता है। वह आदमी अपने ही भीतर दो हिस्सों में कट जाता है।

मनोविज्ञान की भाषा में कहें तो वैसा आदमी सीजोफ्रेनिक, सिजायड हो जाता है। दो हिस्से हो जाते हैं उसके और दो तरह जीने लगता है--डबल बाइंड। उसके दोनों दाएं-बाएं पैर उलटे चलने लगते हैं। उसकी एक आंख इधर और एक आंख उधर देखने लगती है। उसका सब इनर एलाइनमेंट टूट जाता है। बाईं आंख इस तरफ देखती है, दाईं आंख उस तरफ देखती है; बायां पैर इस तरफ चलता है, दायां पैर उस तरफ चलता है। सब उसके भीतर की हार्मनी, उसके भीतर का सामंजस्य, तारतम्य--सब टूट जाता है।

ऐसे व्यक्ति को मिथ्या में गिरा हुआ व्यक्ति कहते हैं, जिसका इनर एलाइनमेंट, जिसकी भीतरी ट्यूनिंग, जिसके भीतर का सब सुर-संगम अस्तव्यस्त हो जाता है। जिसके भीतर आग जलती है और बाहर से जो कंपकंपी दिखाता है कि मुझे सर्दी लग रही है। जिसके भीतर क्रोध जलता है, ओंठ पर मुस्कुराहट होती है कि मैं बड़ा प्रसन्न हूं। जिसके भीतर वासना होती, और बाहर त्याग होता कि मैं संन्यासी हूं। जिसके बाहर-भीतर ऐसा भेद पड़ जाता है, ऐसा व्यक्ति अपने जीवन के अवसर को, जिससे एक महासंगीत उपलब्ध हो सकता था, उसे गंवा देता है और मिथ्या में गिर जाता है। मिथ्या रोग है, सीजोफ्रेनिया। मिथ्या का मतलब, खंड-खंड चित्त, स्वविरोध में बंटा हुआ व्यक्तित्व, डिसइंटिग्रेटेड।

कृष्ण क्यों अर्जुन को ऐसा कह रहे हैं? इसकी चर्चा उठाने की क्या जरूरत है? लेकिन कृष्ण इसे सीधा नहीं कह रहे हैं। वे ऐसा नहीं कह रहे हैं कि अर्जुन, तू मिथ्या हो गया है। वे ऐसा नहीं कह रहे हैं। कृष्ण बहुत कुशल मनोवैज्ञानिक हैं, जैसा मैंने कल कहा। वे ऐसा नहीं कह रहे हैं कि अर्जुन, तू मिथ्या हो गया है। ऐसा कह रहे हैं कि ऐसा व्यक्ति मूढ़ है अर्जुन, जो इस भांति मिथ्या में पड़ जाता है।

वे अर्जुन को भलीभांति जानते हैं। वह व्यक्तित्व उसका भीतर से एक्सट्रोवर्ट है, बहिर्मुखी है; क्षत्रिय है। तलवार के अतिरिक्त उसने कुछ जाना नहीं। उसकी आत्मा अगर कभी भी चमकेगी, तो तलवार की झलक ही उससे निकलने वाली है। उसके प्राणों को अगर उघाड़ा जाएगा, तो उसके प्राणों में युद्ध का स्वर ही बजने वाला है। उसके प्राणों को अगर खोला जाएगा, तो उसके भीतर से हम एक योद्धा को ही पाएंगे। लेकिन बातें वह पेसिफिस्ट की कर रहा है, बर्ट्रेंड रसेल जैसी कर रहा है। आदमी है वह अर्जुन और बात कर रहा है बर्ट्रेंड रसेल जैसी। मिथ्या में पड़ रहा है अर्जुन। अगर यह अर्जुन भाग जाए छोड़कर, तो यह दिक्कत में पड़ेगा। इसको फिर अपनी इंद्रियों को दबाना पड़ेगा। और इसके मन में यही सब उपद्रव चलेगा।

इसलिए कृष्ण बड़े इशारे से, सीधा नहीं कह रहे हैं। और बहुत बार सीधी कही गई बात सुनी नहीं जाती। मैंने भी बहुत बार अनुभव किया। कोई व्यक्ति सीधा आ जाता है पूछने, साथ में उसके दो मित्र आ जाते हैं। तो मैं निरंतर जानकर हैरान हुआ हूं कि जो व्यक्ति सीधा सवाल पूछता है, वह कम समझ पाता है; और वे दो लोग जो साथ में चुपचाप बैठे रहते हैं, पूछने नहीं आते, वे ज्यादा समझकर जाते हैं। क्योंकि जो आदमी सीधा सवाल पूछता है, वह बहुत कांशस हो जाता है, बहुत ईगो से भर जाता है। उसका सवाल है। और जब उसे समझाया जा रहा होता है, तब वह समझने की कोशिश में कम और नए सवाल के चिंतन में ज्यादा होता है। जब उससे कहा जा रहा है, तब वह उसके खिलाफ और पक्ष-विपक्ष में सोचता हुआ होता है। वह पूरा का पूरा डूब नहीं पाता। लेकिन दो लोग शांत पास बैठे हैं, न उनका सवाल है, न ही उनका कोई सवाल है, वे बाहर हैं। वे परिधि पर हैं। वे चुपचाप मौजूद हैं, वे आब्जर्वर्स हैं। उनके मन में ज्यादा शीघ्रता से चली जाती है बात।

कृष्ण अर्जुन को सीधा नहीं कह रहे हैं कि तू मिथ्या में पड़ रहा है। क्योंकि हो सकता है, ऐसा कहने से अहंकार मजबूत हो जाए। और अर्जुन कहे, मिथ्या में? कभी नहीं; मैं और मिथ्या में! आप कैसी बात करते हैं? समझाना फिर मुश्किल होता चला जाएगा।

कृष्ण कहते हैं, मिथ्या में पड़ जाता है ऐसा व्यक्ति, जिसकी इंद्रियों को दबा लेता है जो और भीतर जिसका मन रूपांतरित नहीं होता। तो मन जाता है पश्चिम, इंद्रियां हो जाती हैं पूरब, फिर उसके भीतर का सब संगीत टूट जाता है। ऐसा व्यक्ति रुग्ण, डिसीज्ड हो जाता है। और करीब-करीब सारे लोग ऐसे हैं। इसीलिए जीवन में फिर कोई आनंद, फिर कोई सुवास, कोई संगीत अनुभव नहीं होता है।

प्रश्नः भगवान श्री, पिछले श्लोक में श्रीकृष्ण अर्जुन को कहते हैं कि क्षणमात्र भी बिना कर्म किए आदमी नहीं रह सकता है और सब लोग प्रकृति के गुणों द्वारा परवश हुए कर्म करते हैं। तो शरीर व इंद्रियों की प्राकृतिक क्रियाओं को कर्म क्यों कहा गया है? कर्म और क्रिया क्या अलग नहीं हैं? इसे समझाएं।

कर्म और क्रिया गहरे में अलग नहीं हैं। ऊपर से अलग दिखाई पड़ते हैं। अब जैसे मैं सो भी जाऊं, तो भी शरीर पचाने का काम करता रहेगा, खून बनाने का काम करता रहेगा; हड्डियां निर्मित होती रहेंगी, पुराने सेल मरते रहेंगे, निकलते रहेंगे, नए सेल बनते रहेंगे। रात मैं सोया रहूंगा, क्रिया जारी रहेगी। उसको हम कर्म न कह सकेंगे, क्योंकि मैं तो बिल्कुल भी नहीं था, अहंकार को तो मौका नहीं था। असल में जिस क्रिया से हम अहंकार को जोड़ने में सफल हो जाते हैं, उसको कर्म कहने लगते हैं। और जिस क्रिया में हम अहंकार को नहीं जोड़ पाते, उसको हम क्रिया कहते हैं, उसको हम फिर कर्म नहीं कहते। लेकिन गहरे में कोई भी क्रिया मात्र क्रिया नहीं है; क्रिया भी कर्म है।

यह क्यों? ऐसा क्यों? क्योंकि रात जब मैं सो रहा हूं, या मुझे बेहोश कर दिया गया है--समझ लें कि मुझे मार्फिया दे दिया गया है, अब मैं बिल्कुल बेहोश पड़ा हूं--तो भी तो खून अपना काम करेगा, हड्डियां अपना काम करेंगी, पेट अपना काम करेगा, श्वास चलती रहेगी, फेफड़े-फुफ्फस अपना काम करेंगे। सब काम जारी रहेगा। मैं तो बिल्कुल बेहोश हूं। तो इसको कैसे कर्म से जोड़ा जा सकता है?

इसलिए जोड़ना पड़ेगा, इसलिए जोड़ना जरूरी है कि मेरे जीने की आकांक्षा, लस्ट फार लिविंग, जीवेषणा, मेरी गहरी से गहरी बेहोशी में भी मौजूद है। और मेरी जीवेषणा के कारण ही ये सारी क्रियाएं चलती हैं। अगर मेरी जीवेषणा छूट जाए, तो स्वस्थ शरीर भी इसी वक्त बंद हो जाएगा। अगर मेरे जीने की इच्छा तत्काल छूट जाए, तो सारी क्रियाएं तत्काल बंद हो जाएंगी। गहरे में, मेरा ही अचेतन, मेरा ही अनकांशस मेरी क्रियाओं को भी चला रहा है; मैं ही चला रहा हूं। लेकिन चूंकि अचेतन मन में अहंकार का कोई भाव नहीं है, इसलिए मैं उनको कर्म नहीं कहता।

आप रात सो रहे हैं; गहरी नींद में पड़े हैं। हम इतने लोग हैं यहां, हम सारे लोग यहीं सो जाएं। और फिर कोई आदमी जोर से आकर चिल्लाए, राम! तो हजारों लोगों में कोई नहीं सुनेगा, सब सोए रहेंगे। राम भर करवट लेगा और कहेगा कि कौन रात डिस्टर्ब कर रहा है? कौन परेशान कर रहा है? किसने नाम लिया?

इतने लोग सो रहे हैं, किसी ने नहीं सुना। लेकिन जिसका नाम राम था, चाहे नींद में भी हो, सुन रहा था कि मेरा नाम लिया जा रहा है; मेरा नाम राम है। नींद के गहरे में भी इतना उसे पता है कि मैं राम हूं। नींद में भी!

एक मां है। तूफान चल रहा हो बाहर, आंधी बह रही हो, बर्फ पड़ रही हो, वर्षा हो रही हो, बिजली कड़क रही हो, उसे पता नहीं चलता। उसका छोटा-सा बच्चा इतनी कड़कती बिजली में, गूंजते बादलों के बीच

जरा-सा रोता है, करवट लेता है, वह जाग जाती है। जरूर कोई मन का हिस्सा पहरा दे रहा है रात के गहरे में भी। तूफान को नहीं सुनता, लेकिन बच्चे की आवाज सुनाई पड़ जाती है।

हिप्नोटिस्ट कहते हैं--जो लोग सम्मोहन की गहरी खोज करते हैं, वे कहते हैं--कि कितना ही किसी आदमी को सम्मोहित, हिप्नोटाइज कर दिया जाए, लेकिन उससे भी गहरे में उसकी इच्छा के विपरीत काम नहीं करवाया जा सकता है।

जैसे एक, एक सती स्त्री को, जिसके मन में एक पुरुष के अलावा दूसरे पुरुष का कभी कोई ख्याल नहीं आया। कठिन है बहुत, अस्वाभाविक है बहुत, करीब-करीब असंभव है। इसीलिए तो सती का मूल्य भी है। अगर बहुत सरल, संभव और स्वाभाविक होता, तो इतना मूल्य नहीं हो सकता था। अगर उसे हिप्नोटाइज किया जाए, बेहोश कर दिया जाए, कोई मैक्स कोली या कोई उसे बेहोश कर दे पूरा और गहरी बेहोशी में उससे कहे कि नाचो--वह नाचे। उससे कहे, दूध दुहो--वह दूध दुहे। उससे कहे कि भागो--वह भागे। लेकिन उससे कहे कि इस पुरुष को आलिंगन करो--फौरन हिप्नोटिज्म टूट जाएगा, फौरन बेहोशी टूट जाएगी। वह स्त्री खड़ी हो जाएगी कि आप क्या बात कह रहे हैं! भागती थी, दौड़ती थी, रोती थी, हंसती थी, यह सब करती थी। लेकिन कहा, इस पुरुष का आलिंगन करो। आलिंगन नहीं होगा, सम्मोहन टूट जाएगा। क्यों? इतने गहरे में भी, इतने गहरे में भी, इतने अचेतन में भी, उसकी जो गहरी से गहरी मनोभावना है, वह मौजूद है। नहीं, यह नहीं हो सकता।

मनुष्य के भीतर जो भी चल रहा है, उसमें हमारा सहारा है। सहारे का मतलब, हमारी गहरी आकांक्षा है कि हम जीएं, इसलिए नींद में भी जीने का काम चलता है, बेहोशी में भी चलता है।

मैं एक स्त्री को देखने गया, जो नौ महीने से बेहोश है, कोमा में पड़ी है। और चिकित्सक कह रहे थे कि वह तीन साल तक बेहोश पड़ी रहेगी। ठीक नहीं हो सकेगी, लेकिन ऐसी ही बेहोश पड़ी रहेगी। ऐसे ही इंजेक्शंस से, दवाएं और भोजन और ये सब दिया जाता रहेगा। कभी मर जाएगी। बड़ी हैरानी की बात है कि वह नौ महीनों से बेहोश पड़ी है। तो मैंने कहा कि और जब जीने की अब कोई लौटने की आशा ही नहीं है, फिर क्या कारण होगा? उन्होंने कहा, हम कुछ भी नहीं कह सकते। लेकिन मनसविद कहेगा कि जीने की आकांक्षा अभी भी गहरे में है। जीवेषणा, अचेतन से अचेतन में जीवेषणा अभी भी है। वह जीवेषणा चलाए जा रही है।

अब पूछें कि यह जीवेषणा किसकी है? यह जीवेषणा अगर हमारी ही हो, तो शायद कभी-कभी हम चूक भी जाएं। यह जीवेषणा परमात्मा की ही है, अन्यथा हम चूक जाएं कभी-कभी। इसलिए जो भी गहरे हिस्से हैं जीवन के, वे हम पर नहीं छोड़े गए हैं। वे हमारे कर्म नहीं, हमारी क्रियाएं बन गए हैं। जैसे अगर श्वास लेना आपके ही हाथ में हो कि आप श्वास लें तो लें; न लें तो न लें--जैसे पैर का चलना, चलें तो चलें, न चलें तो न चलें--ऐसा अगर श्वास लेना भी आपके हाथ में हो, तो आदमी दिन में दस-बीस दफा मर जाए; जरा चूके और मरे।

तो आपके हाथ में जो बिल्कुल व्यर्थ की बातें हैं, जिनके हेर-फेर से कोई खास फर्क नहीं पड़ता, वे ही दिखाई पड़ती हैं। बाकी सब महत्वपूर्ण गहरी जीवनधारा के हाथ में, परमात्मा के हाथ में हैं। वे आपके हाथ में नहीं हैं। नहीं तो आप तो कई दफे भूल-चूक कर जाएं। भूल गए, दो मिनट श्वास न ली। दस रुपए का नोट खो गया; दस मिनट भूल गए, श्वास न ली; पत्नी गुस्से में आ गई, भूल गए, दो मिनट हृदय न धड़काया--गए।

नहीं, आपके चेतन मन पर वह निर्भर नहीं है, अचेतन पर निर्भर है। और अचेतन एक तरफ आपसे जुड़ा है और एक तरफ परमात्मा से जुड़ा है। अचेतन एक तरफ आपसे जुड़ा है और दूसरी तरफ गहरे में परमात्मा से जुड़ा है।

इसलिए जब हम कहते हैं, परमात्मा स्रष्टा है, क्रिएटर है, तो उसका यह मतलब नहीं होता, जैसा कि लोग समझ लेते हैं। मानने वाले भी और न मानने वाले भी, दोनों ही गलत समझते हैं। उसका यह मतलब नहीं है कि किसी तिथि-तारीख में, किसी मुहूर्त को देखकर परमात्मा ने दुनिया बना दी। उसका यह मतलब नहीं है। मानने वाले भी ऐसा ही समझते हैं, विरोध करने वाले भी ऐसा ही समझते हैं। वे दोनों ही एक से नासमझ हैं।

परमात्मा स्रष्टा है, उसका मतलब केवल इतना ही है कि इस क्षण भी उसकी शक्ति ही सृजन कर रही है और जीवन को चला रही है। इस क्षण भी, अभी भी, वही है। गहरे में वही निर्मित करता है। अगर सागर में लहर उठती है, तो वह उसी की लहर है। अगर हवाओं में आंधी आती है, तो वह उसी की आंधी है। अगर प्राणों में जीवन आता है, तो वह उसी का जीवन है। अगर मस्तिष्क के जड़ सेल्स में बुद्धि चमकती है, तो वह उसी की बुद्धि है।

ऐसा नहीं है कि किसी इतिहास के किसी क्षण में--जैसा ईसाई कहते हैं कि जीसस से चार हजार चार वर्ष पहले--एक तिथि कैलेंडर में, परमात्मा ने सारी दुनिया बना दी। मामला खतम हो गया; तब से उसकी कोई जरूरत भी नहीं है। एक दफा आर्किटेक्ट मकान बना गया, फिर उसको विदा कर दिया। अब उसको बार-बार, उसकी क्या जरूरत है बीच में लाने की! वह गया। परमात्मा ऐसा कुछ निर्माण करके चला नहीं गया है। जीवन की सारी प्रक्रिया उसकी ही प्रक्रिया है। एक छोर पर हम यहां चेतन हो गए हैं, तो वहां हमको भ्रम पैदा हुआ है कि हम कर रहे हैं।

कृष्ण वही कह रहे हैं कि तू कर रहा है, ऐसा मानना भर छोड़। कर्म तो होता ही रहेगा, क्रिया तो चलती ही रहेगी, तू अपना भ्रम भर बीच से छोड़ दे कि तू कर रहा है। तब तुझे दिखाई पड़ेगा कि तेरे पीछे, तेरे पार, परमात्मा के ही हाथ तेरे हाथों में हैं; परमात्मा की ही आंख तेरी आंख में है; परमात्मा की ही धड़कन तेरी धड़कन में है; परमात्मा की ही श्वास तेरी श्वास में है। तब रोएं-रोएं में तू अनुभव करेगा, वही है। अपने ही नहीं, दूसरे के रोएं-रोएं में भी अनुभव करेगा कि वही है।

एक बार अहंकार का भ्रम टूटे, एक बार आदमी अहंकार की नींद से जागे, तो पाता है कि मैं तो था ही नहीं। जो था, वह बहुत गहरा है, मुझसे बहुत गहरा है। पहले है, मुझसे बहुत पहले है। बाद में भी होगा, मेरे बाद भी। मैं भी उसमें हूं। लेकिन मेरा मैं, लहर को आ गया अहंकार है। लेकिन अहंकार आ जाए, तो भी लहर सागर से अलग नहीं हो जाती, होती तो सागर में ही है। लहर अगर सोचने भी लगे कि मैं उठ रही हूं, तो भी लहर नहीं उठती; उठता तो सागर ही है। और लहर सोचने लगे कि मैं चल रही हूं, तब भी चलती नहीं; चलता तो सागर ही है। और लहर गिरती है और सोचने लगे, मैं गिर रही हूं, तब भी लहर गिरती नहीं है; गिरता तो सागर ही है। और इस पूरे वहम में, इस पूरे भ्रम में जब लहर होती है, तब भी वह होती सागर ही है।

इतना ही कृष्ण कह रहे हैं कि तू पीछे देख, गहरे देख, ठीक से देख! करना तेरा नहीं है, करना उसका है। तू नाहक बीच में मैं को खड़ा कर रहा है। उस, उस मैं को जाने दे।

एक छोटी-सी कहानी और अपनी बात, आज की बात मैं पूरी करूं।

मैंने सुना है कि एक आदमी परदेश में गया है। वहां की भाषा नहीं जानता, अपरिचित है, किसी को पहचानता नहीं। एक बहुत बड़े महल के द्वार पर खड़ा है। लोग भीतर जा रहे हैं, वह भी उनके पीछे भीतर चला गया है। वहां देखा कि बड़ा साज-सामान है, लोग भोजन के लिए बैठ रहे हैं, तो वह भी बैठ गया है। भूख उसे जोर से लगी है। बैठते ही थाली बहुत-बहुत भोजनों से भरी उसके सामने आ गई, तो उसने भोजन भी कर लिया है। उसने सोचा कि ऐसा मालूम पड़ता है, सम्राट का महल है और कोई भोज चल रहा है। अतिथि आ-जा रहे हैं।

वह उठकर धन्यवाद देने लगा है। जिस आदमी ने भोजन लाकर रखा है, उसे बहुत झुक-झुककर सलाम करता है। लेकिन वह आदमी उसके सामने बिल बढ़ाता है। वह एक होटल है। वह आदमी उसे बिल देता है कि पैसे चुकाओ। और वह सोचता है कि शायद मेरे धन्यवाद का प्रत्युत्तर दिया जा रहा है! वह बिल लेकर खीसे में रखकर और फिर धन्यवाद देता है कि बहुत-बहुत खुश हूं कि मेरे जैसे अजनबी आदमी को इतना स्वागत, इतना सम्मान दिया, इतना सुंदर भोजन दिया। मैं अपने देश में जाकर प्रशंसा करूंगा।

लेकिन वह बैरा कुछ समझ नहीं पाता, वह उसे पकड़कर मैनेजर के पास ले जाता है। वह आदमी सोचता है कि शायद मेरे धन्यवाद से सम्राट का प्रतिनिधि इतना प्रसन्न हो गया है कि शायद किसी बड़े अधिकारी से मिलने ले जा रहा है। जब वह मैनेजर भी उससे कहता है कि पैसे चुकाओ, तब भी वह यही समझता है कि धन्यवाद का उत्तर दिया जा रहा है। वह फिर धन्यवाद देता है। तब मैनेजर उसे अदालत में भेज देता है।

तब वह समझता है कि अब मैं सम्राट के सामने ही मौजूद हूं। मजिस्ट्रेट उससे बहुत कहता है कि तुम पैसे चुकाओ, तुम यह क्या बातें करते हो? या तो तुम पागल हो या किस तरह के आदमी हो? लेकिन वह धन्यवाद ही दिए जाता है, वह कहता है, मेरी खुशी का कोई ठिकाना ही नहीं। तब वह मजिस्ट्रेट कहता है कि इस आदमी को गधे पर उलटा बिठाकर, इसके गले में एक तख्ती लगाकर कि यह आदमी बहुत चालबाज है, गांव में निकालो।

जब उसे गधे पर बिठाया जा रहा है, तो वह सोचता है कि अब मेरा प्रोसेशन, अब मेरी शोभायात्रा निकल रही है। निकलती है शोभायात्रा। दस-पांच बच्चे भी ढोल-ढमाल पीटते हुए पीछे हो लेते हैं। लोग हंसते हैं, खिलखिलाते हैं, भीड़ लग जाती है। वह सबको झुक-झुककर नमस्कार करता है। वह कहता है कि बड़े आनंद की बात है, परदेशी का इतना स्वागत!

फिर भीड़ में उसे एक आदमी दिखाई पड़ता है, जो उसके ही देश का है। उसे देखकर वह आनंद से भर जाता है। क्योंकि जब तक अपने देश का कोई देखने वाला न हो, तो मजा भी बहुत नहीं है। घर जाकर कहेंगे भी, तो कोई भरोसा भी करेगा कि नहीं करेगा! एक आदमी भीड़ में दिखाई पड़ता है, तो वह चिल्लाकर कहता है कि अरे भाई, ये लोग कितना स्वागत कर रहे हैं! लेकिन वह आदमी सिर झुकाकर भीड़ से भाग जाता है। क्योंकि उसे तो पता है कि यह क्या हो रहा है! लेकिन वह गधे पर सवार आदमी समझता है, ईर्ष्या से जला जा रहा है। ईर्ष्या से जला जा रहा है।

करीब-करीब अहंकार पर बैठे हुए हम इसी तरह की भ्रांतियों में जीते हैं। उनका जीवन के तथ्य से कोई संबंध नहीं होता, क्योंकि जीवन की भाषा हमें मालूम नहीं है। और हम जो अहंकार की भाषा बोलते हैं, उसका जीवन से कहीं कोई तालमेल नहीं होता।

शेष कल।

तीसरा प्रवचन

परमात्म समर्पित कर्म

यस्त्विन्द्रियाणि मनसा नियम्यारभतेऽनर्जुन।
कर्मेन्द्रियैः कर्मयोगमसक्तः स विशिष्यते।। 7।।

और हे अर्जुन, जो पुरुष मन से इंद्रियों को वश में करके अनासक्त हुआ कर्मेंद्रियों से कर्मयोग का आचरण करता है, वह श्रेष्ठ है।

मनुष्य के मन में वासना है, कामना है। उस कामना का परिणाम सिवाय दुख के और कुछ भी नहीं है। उस वासना से सिवाय विषाद के, फ्रस्ट्रेशन के और कभी कुछ मिलता नहीं है। लगता है, मिलेगा सुख, मिलता है सदा दुख। लगता है, मिलेगी शांति, मिलती है सदा अशांति। लगता है, उपलब्ध होगी स्वतंत्रता, लेकिन आदमी और भी गहरे बंधन में बंधता चला जाता है। कामना मनुष्य का दुख है, तृष्णा मनुष्य की पीड़ा है।

निश्चित ही, वासना से उठे बिना, वासना के पार हुए बिना, कोई व्यक्ति कभी आनंद को उपलब्ध नहीं हुआ है। पर इस वासना से ऊपर उठने के लिए दो काम किए जा सकते हैं; क्योंकि इस वासना के दो हिस्से हैं। एक तो वासना से भरा हुआ चित्त है, मन है; और एक वासना के उपयोग में आने वाली इंद्रियां हैं। जो आदमी ऊपर से पकड़ेगा; उसे इंद्रियां पकड़ में आती हैं और वह इंद्रियों की शत्रुता में पड़ जाता है।

कृष्ण ने कहा, वैसा आदमी नासमझ है, अज्ञानी है, मूढ़ है। दूसरी बात अब वे कह रहे हैं। वे कह रहे हैं, लेकिन वह मनुष्य श्रेष्ठ है, जो मन को ही रूपांतरित करके इंद्रियों को वश में कर लेता है। इंद्रियों का वश में होना, इंद्रियों का मर जाना नहीं है। इंद्रियों का वश में होना, इंद्रियों का निर्वीर्य हो जाना नहीं है। इंद्रियों का वश में होना, इंद्रियों का अशक्त हो जाना नहीं है। क्योंकि अशक्त को वश में भी किया, तो क्या वश किया? निर्बल को जीत भी लिया, तो क्या जीता?

कृष्ण कहते हैं, श्रेष्ठ है वह पुरुष, जो इंद्रियों से लड़ता ही नहीं, बल्कि मन को ही रूपांतरित करता है और इंद्रियों को वश में कर लेता है। मारता नहीं, लड़ता नहीं, वश में कर लेता है।

निश्चित ही, लड़ने की कला बिल्कुल ही नासमझी से भरी है। कहना चाहिए, कला नहीं है, कला का धोखा है। वश में करने की कला बहुत ही भिन्न है। इंद्रियां किसके वश में होती हैं? साधारणतः तो हम प्रतीत होता है कि इंद्रियों के वश में हैं। इस बात को ठीक से समझ लेना जरूरी है।

साधारणतः तो ऐसा प्रतीत होता है कि हम इंद्रियों के गुलाम हैं। साधारणतः तो जिंदगी ऐसी ही है, जहां इंद्रियां आगे चलती मालूम पड़ती हैं और हम पीछे चलते मालूम पड़ते हैं। जब मैं कह रहा हूं, इंद्रियां आगे चलती मालूम पड़ती हैं, तो उसका मतलब है कि वासनाएं आगे चलती मालूम पड़ती हैं। वासनाएं हमें दिखाई नहीं पड़ती हैं, जब तक कि वे इंद्रियों में प्रविष्ट न हो जाएं। वासनाएं तब तक अदृश्य होती हैं, जब तक इंद्रियों पर हावी न हो जाएं। इसलिए हमें तो इंद्रियां ही दिखाई पड़ती हैं। वासनाओं का जो सूक्ष्मतम रूप है, अतींद्रिय, वह हमें दिखाई नहीं पड़ता है।

आपके मन में कोई भी वासना उठे, तो वासना दिखाई नहीं पड़ती, जब तक उस वासना से संबंधित इंद्रिय आविष्ट न हो जाए। अगर आपके मन में किसी को छूने की वासना उठी है, तो तब तक उसका स्पष्ट बोध नहीं होता, जब तक छूने के लिए शरीर आतुर न हो जाए। जब तक वासना शरीर नहीं लेती, आकार नहीं लेती, जब तक वासना इंद्रियों में गति नहीं बन जाती, तब तक हमें पता नहीं चलता। इसलिए बहुत बार ऐसा होता है कि क्रोध का हमें तभी पता चलता है, जब हम कर चुके होते हैं। काम का हमें तभी पता होता है, जब वासना हम पर आविष्ट हो गई होती है। हम पजेस्ड हो गए होते हैं, तभी पता चलता है। और शायद तब तक लौटना मुश्किल हो गया होता है, तब तक शायद वापसी असंभव हो गई होती है।

वासना हमारे आगे चलती है और हम छाया की तरह पीछे चलते हैं। मनुष्य की गुलामी यही है। और जो मनुष्य ऐसी गुलामी में है, उसे कृष्ण कहेंगे, वह निकृष्ट है, उसे अभी मनुष्य कहे जाने का हक नहीं है। मनुष्य का हक तो उसे है, जिसकी वासनाएं उसके पीछे चलती हैं। लेकिन इधर फ्रायड के बाद सारी दुनिया को यह समझाया गया है कि वासनाएं कभी पीछे चल ही नहीं सकतीं; वासनाएं आगे ही चलेंगी। और यह भी समझाया गया है कि वासनाओं को वश में किया ही नहीं जा सकता। आदमी को ही वासना के वश में रहना होगा। और यह भी समझाया गया है कि विल पावर या संकल्प की शक्ति की जितनी बातें हैं, वे सब झूठी हैं। आदमी के पास कोई संकल्प नहीं है।

इसके परिणाम हुए हैं। इसके परिणाम ये हुए हैं कि आदमी ने इंद्रियों की गुलामी को परिपूर्ण रूप से स्वीकार कर लिया है। आदमी राजी हो गया है कि हम तो वासनाओं के गुलाम रहेंगे ही। और जब गुलाम ही रहना है, तो फिर ठीक तरह से, पूरी तरह से ही गुलाम हो जाना उचित है; जब मालिक होने का कोई उपाय ही नहीं है।

शरीरवादी सदा से यही कहते रहे हैं। इस देश में भी शरीरवादी थे। सच तो यह है, अधिक लोग शरीरवादी ही हैं। अधिक लोग चार्वाक से सहमत ही हैं। अधिक लोग मार्क्स से सहमत ही हैं। अधिक लोग फ्रायड से सहमत ही हैं। अधिक लोग इस बात से राजी ही हैं कि हम शरीर से ज्यादा कुछ भी नहीं हैं। इसलिए शरीर की मांग ही हमारी जिंदगी है और शरीर की वासना ही हमारी आत्मा है। इसलिए जहां ले जाएं अंधी इंद्रियां और जहां ले जाएं अंधी वासनाएं, हमें वहीं भागते चले जाना है। आदमी का कोई वश नहीं है।

यह बात अगर एक बार कोई मानने को राजी हो जाए, तो वह सदा के लिए अपनी आत्मा खो देता है। क्योंकि आत्मा पैदा ही तब होती है, जब वासना पीछे हो और स्वयं का होना आगे हो। आत्मा का जन्म ही तब होता है, जब वासना छाया बन जाए। जब तक वासना आगे होती है और हम छाया होते हैं, तब तक हममें आत्मा पैदा नहीं होती है। सिर्फ संभावना होती है, पोटेंशियलिटी होती है, एक्चुएलिटी नहीं होती है। तब तक आत्मा हमारे लिए बीज की तरह होती है, वृक्ष की तरह नहीं होती है।

कृष्ण कह रहे हैं, वह आदमी श्रेष्ठ है अर्जुन, जो अपनी इंद्रियों को मन के वश में कर लेता है।

मन के वश में इंद्रियों को करिएगा कैसे? हमें तो एक ही रास्ता दिखाई पड़ता है कि लड़ो, इंद्रियों को दबा दो, तो इंद्रियां वश में हो जाएंगी। दबाने से कोई इंद्रिय वश में नहीं होती। दबाने से सिर्फ इंद्रियां परवर्ट होती हैं, विकृत होती हैं और सीधी मांगें तिरछी मांगें बन जाती हैं; और हम सीधे न चलकर पीछे के दरवाजों से पहुंचने लगते हैं; और पाखंड फलित होता है। दबाना मार्ग नहीं है। फिर क्या मार्ग है?

मनुष्य की वासनाएं तब तक उसे पकड़े रहती हैं, जब तक उसके पास संकल्प, विल न हो, जब तक उसके पास संकल्प जैसी सत्ता का जन्म न हो। इस संकल्प के संबंध में थोड़ा गहरे उतरना आवश्यक है, क्योंकि इसके बिना कोई आदमी कभी वासनाओं पर वश नहीं पा सकता है।

संकल्प का क्या अर्थ है? संकल्प का अर्थ इंद्रियों का दमन नहीं, संकल्प का अर्थ स्वयं के होने का अनुभव है। संकल्प का अर्थ है, स्वयं की मौजूदगी का अनुभव।

आपको भूख लगी है, शरीर कहता है कि भूख लगी है; आप कहते हैं कि सुन ली मैंने आवाज, लेकिन अभी, अभी मैं भोजन करने को राजी नहीं हूं। और अगर आप पूरे मन से यह बात कह सकें कि अभी मैं भोजन करने को राजी नहीं हूं, तो शरीर तत्काल मांग बंद कर देता है। तत्काल मांग बंद कर देता है। जैसे ही शरीर को पता चल जाए कि आपके पास शरीर से ऊपर भी संकल्प है, वैसे ही शरीर तत्काल मांग बंद कर देता है। आपकी कमजोरी ही शरीर की ताकत बन जाती है। आपकी ताकत ही शरीर की कमजोरी बन जाती है।

लेकिन हम कभी शरीर से भिन्न अपनी कोई घोषणा नहीं करते हैं।

कभी छोटे-छोटे प्रयोग करके देखना जरूरी है। बहुत छोटे प्रयोग, जिनमें आप शरीर से भिन्न अपने होने की घोषणा करते हैं। सारे धर्मों ने इस तरह के प्रयोग विकसित किए हैं। लेकिन करीब-करीब सभी प्रयोग नासमझ लोगों के हाथ में पड़कर व्यर्थ हो जाते हैं। उपवास इसी तरह का प्रयोग था, जो मनुष्य के संकल्प को जन्माने के लिए था।

आदमी अगर कह सके कि नहीं, भोजन नहीं, पूरे मन से, तो शरीर मांग बंद कर देता है। और जब पहली दफा यह पता चलता है कि शरीर के अतिरिक्त भी मेरी कोई स्थिति है, तो आपके भीतर एक नई ऊर्जा, एक नई शक्ति जन्मने लगती है, अंकुरित होने लगती है। नींद आ रही है और आपने कहा कि नहीं, मैं नहीं सोना चाहता हूं। और अगर यह टोटल है, अगर यह बात पूरी है, अगर यह पूरे मन से कही गई है, तो शरीर तत्काल नींद की आकांक्षा छोड़ देगा। आप अचानक पाएंगे कि नींद खो गई है और जागरण पूरा आ गया है। लेकिन हम जिंदगी में कभी इसका प्रयोग नहीं करते हैं। हम कभी शरीर से भिन्न होने का कोई भी प्रयोग नहीं करते हैं। शरीर जो कहता है, हम चुपचाप उसको पूरा करते चले जाते हैं।

मैं यह नहीं कह रहा हूं कि शरीर जो कहे, उसे आप पूरा न करें। लेकिन कभी-कभी किन्हीं क्षणों में अपने अलग होने का अनुभव भी करना जरूरी है। और एक बार आपको यह अनुभव होने लगे कि आप, शरीर से भिन्न भी आपका कुछ होना है, तो आप हैरान हो जाएंगे, उसी दिन से आपके मन की ताकत आपकी इंद्रियों पर फैलनी शुरू हो जाएगी।

गुरजिएफ, एक अदभुत फकीर, अभी कुछ दिन पहले था। जैसा मैंने पिछली चर्चा में आपसे कहा कि अगर इस युग में हम सांख्य का कोई ठीक-ठीक व्यक्तित्व खोजना चाहें, तो कृष्णमूर्ति हैं। और अगर हम योग का कोई ठीक-ठीक व्यक्तित्व खोजना चाहें, तो वह जार्ज गुरजिएफ है। गुरजिएफ एक छोटा-सा प्रयोग अपने साधकों को कराता था। बहुत छोटा। कभी आप भी करें, तो बहुत हैरान होंगे और आपको पता चलेगा कि संकल्प का अनुभव क्या है।

उस प्रयोग को वह कहता था, स्टाप एक्सरसाइज। वह अपने साधकों को बिठा लेता और वह कहता कि मैं अचानक कहूंगा, स्टाप! तो तुम जहां हो, वहीं रुक जाना। अगर किसी ने हाथ उठाया था, तो वह हाथ यहीं रुक जाए; अगर किसी की आंख खुली थी, तो वह खुली रह जाए; अगर किसी ने बोलने को ओंठ खोले थे, तो वे

खुले रह जाएं; अगर किसी ने चलने के लिए कदम उठाया था एक और एक जमीन पर था, तो वहीं रह जाए। स्टाप! ठहर जाओ! तो जो जहां है, वह वहीं ठहर जाए; वैसा ही ठहर जाए।

और जिन साधकों पर वह दो-तीन महीने प्रयोग करता इस छोटे-से अभ्यास का, उन साधकों को पता चलता कि जैसे ही वे ठहरते हैं, शरीर तो कहता है, पैर नीचे रखो; आंख तो कहती है, पलक झपकाओ; ओंठ तो कहते हैं, बंद कर लो; लेकिन वे रुक गए हैं--न आंख झपकेंगे, न पैर हटाएंगे, न हाथ हिलाएंगे--अब मूर्ति की तरह रह गए हैं। तीन महीने के थोड़े-से अभ्यास में ही उन्हें पता चलना शुरू होता है कि उनके भीतर कोई एक और भी है, जो शरीर को जहां चाहे वहां आज्ञा दे सकता है।

कभी आपने अपने शरीर को आज्ञा दी है? कभी भी आपने आदेश दिया है? आपने सिर्फ आदेश लिए हैं; आपने कभी भी आदेश दिया नहीं है। वन वे ट्रैफिक है अभी। शरीर की तरफ से आदेश आते हैं, शरीर की तरफ कोई आदेश जाता नहीं है; कभी नहीं जाता है। उसके परिणाम खतरनाक हैं। उसका बड़े से बड़ा परिणाम है वह यह है कि हमें कल्पना ही मिट गई है कि हमारे भीतर विल जैसी, संकल्प जैसी भी कोई चीज है! और जिस व्यक्ति के पास संकल्प नहीं है, वह व्यक्ति श्रेष्ठ नहीं हो सकता। संकल्पहीनता ही निकृष्टता है। संकल्पवान होना ही आत्मवान होना है।

कृष्ण कह रहे हैं, अर्जुन! वह मनुष्य श्रेष्ठ है, जो अपनी इंद्रियों पर वश पा लेता है। जो इंद्रियों का मालिक हो जाता है। जो इंद्रियों को आज्ञा दे सकता है। जो कह सकता है, ऐसा करो।

हम सिर्फ इंद्रियों से पूछते हैं, क्या करें? हम जिंदगीभर, जन्म से लेकर मृत्यु तक इंद्रियों से पूछते चले जाते हैं, क्या करें? इंद्रियां बताए चली जाती हैं और हम करते चले जाते हैं। इसलिए हम शरीर से ज्यादा कभी कोई अनुभव नहीं कर पाते।

आत्म-अनुभव संकल्प से शुरू होता है। और मनुष्य की श्रेष्ठता संकल्प के जन्म के साथ ही यात्रा पर निकलती है।

प्रश्नः भगवान श्री, कृष्ण यहां मन से इंद्रियों को वश में करने को कह रहे हैं; लेकिन आप तो मन को ही विसर्जित करने को कहते हैं! यह कैसी बात है?

कृष्ण भी यही कहेंगे, मन को विसर्जित करने को कहेंगे। लेकिन मन विसर्जित करने के लिए होना भी तो चाहिए! अभी तो मन है ही नहीं। इंद्रियां और इंद्रियों के पीछे दौड़ना हमारा अस्तित्व है। हमारे पास मन जैसी कोई, संकल्प जैसी चीज नहीं है। पहले चरण पर संकल्प पैदा करना पड़ेगा और दूसरे चरण पर संकल्प को भी समर्पित कर देना होगा। लेकिन समर्पित तो वही कर पाएंगे, जिनके पास होगा। जिनके पास नहीं है, वे समर्पित क्या करेंगे!

हम एक आदमी से कहते हैं, धन का त्याग कर दो। लेकिन त्याग के लिए धन तो होना चाहिए न! जब हम कहते हैं, धन का त्याग कर दो, धन हो ही न, तो त्याग क्या करेगा?

मन आपके पास है या सिर्फ इंद्रियों की आकांक्षाओं के जोड़ का नाम आपने मन समझा हुआ है? तो जब हमसे कोई कहेगा कि समर्पण कर दो मन को परमात्मा के चरणों में, तो हमारे पास कुछ होता ही नहीं, जिसको हम समर्पण कर दें। हमारे पास केवल दौड़ती हुई वासनाओं का समूह होता है, जिनको समर्पित नहीं किया जा सकता। किसी ने कभी कहा है कि वासनाओं को परमात्मा को समर्पित कर दो? किसी ने कभी नहीं कहा। मन

को समर्पित किया जा सकता है। एक इंटिग्रेटेड विल हो, तो समर्पित की जा सकती है। और समर्पण सबसे बड़ा संकल्प है। बड़े से बड़ा, अंतिम संकल्प जो है, वह समर्पण है।

समर्पण दूसरे चरण में संभव है। पहले चरण में तो संकल्प ही निर्मित करना पड़ेगा। आत्मा भी तो चाहिए! परमात्मा के चरणों में नैवेद्य चढ़ाना हो, तो वासनाओं को लेकर पहुंच जाइएगा? आत्मा चाहिए उसके पास चढ़ाने को। आप भी तो होने चाहिए! आप हैं? अगर बहुत खोजेंगे, तो आप कहीं न पाएंगे कि आप हैं। आप पाएंगे कि यह इच्छा है, वह इच्छा है, यह वासना है, वह वासना है। आप कहां हैं?

डेविड ह्यूम ने अपने संस्मरणों में लिखा है कि मैंने डेल्फी के मंदिर पर लिखा हुआ वचन पढ़ा--नो दाई सेल्फ--अपने को जानो, और तब से मैं अपने भीतर जाकर कोशिश करता हूं कि अपने को जानूं। लेकिन मैं तो स्वयं को कहीं मिलता ही नहीं हूं; जब भी मिलता है भीतर तो कोई इच्छा मिलती है, कोई विचार मिलता है, कोई वासना मिलती है, कोई कामना मिलती है। मैं तो कभी भीतर मिलता ही नहीं हूं। मैं थक गया खोज-खोजकर। जब भी मिलती है--कोई वासना, कोई कामना, कोई इच्छा, कोई विचार, कोई स्वप्न--मैं तो कहीं मिलता ही नहीं हूं।

मिलेगा भी नहीं। क्योंकि स्वयं को जानने के पहले वासनाओं के बीच में स्वयं की सत्ता को भी तो अंकुरित करना पड़ेगा। वह डेविड ह्यूम ठीक कहता है। आप भी भीतर जाएंगे, तो आत्मा नहीं मिलेगी, विचार मिलेंगे, वासनाएं मिलेंगी, इच्छाएं मिलेंगी। आत्मा तो संकल्प के द्वार से ही मिल सकती है।

इसलिए निश्चित ही धर्म का पहला चरण है, संकल्प को निर्मित करो, क्रिएट दि विल फोर्स। और दूसरा चरण है, निर्मित संकल्प को सरेंडर करो, समर्पण करो। पहला चरण है, आत्मवान बनो; दूसरा चरण है, आत्मा को परमात्मा के चरणों में फूल की तरह चढ़ा दो। पहला चरण है, आत्मा को पाओ; दूसरा चरण है, परमात्मा को पाओ। आत्मा को पाना हो तो वासनाओं से ऊपर उठना पड़ेगा। और परमात्मा को पाना हो तो आत्मा से भी ऊपर उठना पड़ेगा। आत्मा को पाना हो तो वासनाओं पर वश चाहिए; और परमात्मा को पाना हो तो आत्मा पर भी वश चाहिए। वह लेकिन दूसरा चरण है। वह इसके विपरीत नहीं है। वह इसी का आगे का कदम है। जिसके पास है, वही तो समर्पित कर सकेगा।

जीसस का एक बहुत अदभुत वचन है, वह मैं आपको याद दिलाऊं, वह कृष्ण की बात के बहुत करीब है। जीसस ने कहा है, जो अपने को बचाएगा, वह अपने को खो देगा; और जो अपने को खो देगा, वह अपने को बचा लेगा। लेकिन खोने या बचाने के पहले होना भी तो चाहिए। आप हैं?

गुरजिएफ के पास कोई जाता था और पूछता था कि मैं स्वयं को जानना चाहता हूं, तो वह गुरजिएफ कहता था, आप हो? आर यू? आप भी चौंकेंगे, अगर आप जाएं ऐसे आदमी के पास और वह पूछे, आप हो? तो आप कहेंगे, हूं तो! लेकिन आपका होना सिर्फ एक जोड़ है। आपमें से सारी वासनाएं निकाल ली जाएं, और सारी इच्छाएं और सारे विचार, तो आप एकदम खो जाएंगे शून्य की भांति। आपके पास ऐसा कोई संकल्प नहीं है, जो विचार के पार हो, वासना से अलग हो, इच्छाओं से भिन्न हो। आपके पास आत्मा का कोई भी अनुभव नहीं है। आप सिर्फ एक जोड़ हैं, एक एक्युमुलेशन, एक संग्रह। इस संग्रह को कहां समर्पित करिएगा? कौन समर्पित करेगा? समर्पित करने वाला भी भीतर नहीं है।

इसलिए कृष्ण अर्जुन से कह रहे हैं, पहले तू श्रेष्ठ बन। श्रेष्ठ बनने का अर्थ, पहले तू आत्मवान बन, पहले तू मनस्वी हो, पहले तू संकल्प को उपलब्ध हो। फिर पीछे वे कहेंगे कृष्ण अर्जुन से, सब छोड़ दे और शरण में आ जा। लेकिन छोड़ तो वही सकता है सब, जिसके पास संकल्प हो। लेकिन जो जरा-सा कुछ भी नहीं छोड़ सकता,

वह सब कैसे छोड़ सकेगा! जो एक पैसा नहीं छोड़ सकता, वह स्वयं को कैसे छोड़ सकेगा! जो एक मकान नहीं छोड़ सकता, वह स्वयं की आत्मा को कैसे छोड़ सकेगा? स्वयं को छोड़ने के पहले स्वयं का परिपूर्ण शक्ति से होना जरूरी है।

इसलिए संकल्प धर्मों की पहली साधना है; समर्पण अंतिम साधना है। कहें कि धर्म के दो ही कदम हैं। पहले कदम का नाम है, संकल्प, विल; और दूसरे कदम का नाम है, समर्पण, सरेंडर। इन दो कदमों में यात्रा पूरी हो जाती है। जो संकल्प पर रुक जाएंगे, उनको आत्मा का पता चलेगा, लेकिन परमात्मा का कोई पता नहीं चलेगा। जो वासना पर ही रुक जाएंगे, उनको वासना का पता चलेगा, आत्मा का कोई पता नहीं चलेगा। लेकिन जो आत्मा को भी समर्पित कर देंगे, उन्हें परमात्मा का पता चलता है। वह अंतिम घटना है, वह अल्टिमेट है। वह चरम, परम अनुभूति है। और उसके लिए कृष्ण अर्जुन को अ, ब, स से शुरू कर रहे हैं। वे उससे कह रहे हैं, पहले तू संकल्पवान बन। फिर पीछे जब देखेंगे कि उसके भीतर संकल्प पैदा हुआ है, तो वे उससे कहेंगे, अब तू सब छोड़ दे--सर्व धर्मान परित्यज्य, मामेकं शरणं व्रज--अब तू सब छोड़ और मेरी शरण में आ जा।

लेकिन शरण में कमजोर लोग कभी नहीं आ सकते। यह सुनकर आपको कठिनाई होगी। आमतौर से कमजोर लोग शरण में जाते हैं। कमजोर आदमी कभी शरण में नहीं जा सकता। कमजोर आदमी के पास इतनी शक्ति ही नहीं होती कि दूसरे के चरणों में अपने को पूरा समर्पित कर दे। समर्पण बड़ी से बड़ी शक्ति है--बहुत कठिन, बहुत आरडुअस। आसान बात मत समझ लेना आप समर्पण। आमतौर से लोग समझते हैं कि हम कमजोर हैं, हम तो समर्पण में ही भगवान को पा लेंगे। लेकिन कमजोर समर्पण कर नहीं सकता। कमजोर इतना कमजोर होता है... कमजोर होता ही नहीं; समर्पण करेगा किसका? हां, वह सिर चरणों में रख देता है। स्वयं को रखना बिल्कुल और बात है। सिर रखना, बच्चे भी रख सकते हैं। स्वयं को चरणों में रखना और ही बात है।

स्वयं को चरणों में रखने की एक घटना कीर्कगार्ड ने... ईसाइयत में एक कहानी है। कहानी है कि एक व्यक्ति को परमात्मा ने कहा कि तू अपने इकलौते बेटे को आकर और मेरे मंदिर में गरदन काटकर चढ़ा दे। ऐसी उसे आवाज आई कि वह जाए और अपने बेटे को मंदिर में काटकर चढ़ा दे। वह उठा, उसने अपने बेटे को लिया और मंदिर में पहुंच गया। उसने तलवार पर धार रखी। बेटे की गरदन मंदिर में रखी, तलवार उठाई और गरदन काटने को था, तब आवाज आई कि बस, रुक जा! मैं तो सिर्फ यही जानना चाहता था कि तू समर्पण की बातें करता है, लेकिन समर्पण के योग्य शक्ति तुझमें है?

बेटे की गरदन काटने में भी लेकिन उतनी शक्ति नहीं पड़ती, जितनी अपनी गरदन काटने में पड़ती है। समर्पण का मतलब है, अपनी ही गरदन चढ़ा देना, सिर झुकाना नहीं। क्योंकि वह तो क्षण झुकाया और उठा लिया। समर्पण का मतलब है, झुके तो झुके रहे, झुके तो झुक गए। समर्पण का मतलब है, अब यह गरदन न उठेगी। समर्पण का मतलब है, अब हम गए चरणों में; अब वे चरण ही सब कुछ हैं, अब हम नहीं हैं। लेकिन कौन करेगा यह? यह वही कर सकता है, जिसने पहले संकल्प को संगृहीत कर लिया हो, जिसके भीतर एक इंटिग्रेटेड इंडिविजुएशन घटित हो गया हो, जिसके भीतर आत्मा क्रिस्टलाइज्ड हो गई हो। जिसके भीतर आत्मा निर्मित हो गई हो, वह आदमी आत्मा से आखिरी काम भी कर सकता है कि समर्पण कर दे।

इसलिए कृष्ण अर्जुन को पहला पाठ दे रहे हैं। वे कह रहे हैं, श्रेष्ठ पुरुष वह है, जिसका मन वासनाओं पर, इंद्रियों पर वश पा लेता है।

नियतं कुरु कर्म त्वं ज्यायो ह्यकर्मणः।

शरीरयात्राऽपि च ते न प्रसिद्ध्येदकर्मणः।। 8।।

इसलिए शास्त्र-विधि से नियत किए हुए स्वधर्म कर्म को कर। कर्म न करने की अपेक्षा कर्म करना श्रेष्ठ है तथा कर्म न करने से तेरा शरीर-निर्वाह भी नहीं सिद्ध होगा।

कर्म न करने की अपेक्षा कर्म करना श्रेष्ठ है। क्योंकि कर्म न करना, सिर्फ वंचना है, डिसेप्शन है। कर्म तो करना ही पड़ेगा। जो करना ही पड़ेगा, उसे होशपूर्वक करना श्रेष्ठ है। जो करना ही पड़ेगा, उसे जानते हुए करना श्रेष्ठ है। जो करना ही पड़ेगा, उसे स्पष्ट रूप से सामने के द्वार से करना श्रेष्ठ है। जब करना ही पड़ेगा, तो पीछे के द्वार से जाना उचित नहीं। जब करना ही पड़ेगा, तो अनजाने, बेहोशी में, अपने को धोखा देते हुए करना ठीक नहीं। क्योंकि तब करना गलत रास्तों पर ले जा सकता है। जो अनिवार्य है, वह जाग्रत, स्वीकृतिपूर्वक, समग्र चेष्टा से ही किया जाना उचित है।

इसलिए कृष्ण कहते हैं, जो करना ही है, उसे परिपूर्ण रूप से जानते हुए, होशपूर्वक, स्वधर्म की तरह करना उचित है। और एक दूसरी बात कहते हैं। वे कहते हैं, जो स्वधर्म है, और साथ में एक बात कहते हैं, शास्त्र-सम्मत। जो शास्त्र-सम्मत स्वधर्म है। शास्त्र का अर्थ है--किताब नहीं--शास्त्र का मौलिक, गहरा अर्थ है, आज तक जिन लोगों ने जाना, उनके द्वारा सम्मत; जो जानते हैं, उनके द्वारा सम्मत; जो पहचानते हैं, उनके द्वारा सम्मत।

एक लंबी यात्रा है मनुष्य की चेतना की, उसमें हम सौ-पचास वर्ष के लिए आते हैं और विदा हो जाते हैं। आदमी आता है, विदा हो जाता है, आदमीयत चलती चली जाती है। आदमी के अनुभव हैं करोड़ों वर्ष के, सार है अनुभव का। आदमी ने जाना है, उस जाने को निचोड़कर रखा है। कृष्ण कह रहे हैं कि वह जो अनादि से, सदा से जानने वाले लोगों ने जिस बात को कहा है, उससे सम्मत स्वधर्म।

इसमें दो बातें समझ लेनी जरूरी हैं। एक तो इस देश में बहुत प्राचीन समय से हमने समाज को चार वर्णों में बांट रखा था। अर्जुन उसमें क्षत्रिय वर्ण से आता है। जन्म से ही हमने समाज को चार हिस्सों में बांट रखा था। कोई हाइरेरकी नहीं थी, कोई ऊंचा-नीचा नहीं था। सिर्फ गुण विभाजन था--वर्टिकल नहीं, हॉरिजांटल। दो तरह के विभाजन होते हैं, एक तो क्षैतिजिक विभाजन होता है कि मैं यहां मंच पर बैठा हूं, मेरे बगल में एक और आदमी बैठा है और मेरे पीछे एक और आदमी बैठा है। हम तीनों एक ही तल पर बैठे हैं, लेकिन फिर भी तीन हैं, विभाजन हॉरिजांटल है। एक विभाजन होता है कि मैं एक सीढ़ी पर खड़ा हूं, दूसरा उससे ऊंची सीढ़ी पर खड़ा है, तीसरा उससे ऊंची सीढ़ी पर खड़ा है। तब भी विभाजन होता है, तब विभाजन वर्टिकल है।

भारत में जो वर्ण का प्राथमिक विभाजन था, हॉरिजांटल था। उसमें शूद्र, ब्राह्मण, वैश्य, क्षत्रिय एक-दूसरे के ऊपर-नीचे हाइरेरकी में बंटे हुए नहीं थे। समाज में एक ही भूमि पर खड़े हुए चार विभाजन थे। बाद में हॉरिजांटल विभाजन वर्टिकल हो गया, ऊपर-नीचे हो गया। जिस दिन से ऊपर-नीचे हुआ, उस दिन से वर्ण की जो कीमती आधारशिला थी, वह गिर गई और वर्ण का सिद्धांत और वर्ण का मनसशास्त्र शोषण का आधार बन गया।

लेकिन कृष्ण के समय तक यह बात घटित न हुई थी। इसलिए कृष्ण कहते हैं कि जो तेरा स्वधर्म है, जिस वर्ण में तू जन्मा है और जिस वर्ण में तू बड़ा हुआ है और जिस वर्ण की तूने शिक्षा पाई है और जिस वर्ण की तेरी तैयारी है और जिस वर्ण से तेरा हड्डी, खून, मांस, तेरा मन, तेरे संस्कार, तेरी पूरी कंडीशनिंग हुई है, उस वर्ण को छोड़कर भागने से उस वर्ण के काम को करना ही श्रेयस्कर है। क्यों? अनेक कारण हैं। दो-तीन गहरे कारणों पर ख्याल कर लेना जरूरी है।

एक तो प्रत्येक व्यक्ति की अनंत संभावनाएं हैं। लेकिन उन अनंत संभावनाओं में से एक ही संभावना वास्तविक बन सकती है। सभी संभावनाएं वास्तविक नहीं बन सकतीं। एक व्यक्ति जब जन्मता है, तो उसके जीवन की बहुत यात्राएं हो सकती हैं, लेकिन अंततः एक ही यात्रा पर उसे जाना पड़ता है। जीवन की वास्तविकता हमेशा वन डायमेंशनल होती है, एक आयामी होती है; और जीवन की पोटेंशियलिटी मल्टी-डायमेंशनल होती है, जीवन की संभावना अनंत आयामी होती है।

हम एक बच्चे को डाक्टर भी बना सकते हैं, वकील भी बना सकते हैं, इंजीनियर भी बना सकते हैं। हम एक बच्चे को बहुत-बहुत रूपों में ढाल सकते हैं। बच्चे में बहुत लोच है, वह अनंत आयामों में जाने की संभावना रखता है। लेकिन जाएगा एक ही आयाम में। हम उसे अनंत आयामों में ले जा नहीं सकते। और अगर ले जाएंगे, तो हम सिर्फ उसको विक्षिप्त कर देंगे, पागल कर देंगे।

आज विज्ञान इस बात को स्वीकार करता है। वह कहता है, प्रत्येक व्यक्ति के जानने की क्षमता अनंत है। लेकिन जब भी कोई व्यक्ति जानने जाएगा, तो स्पेशलाइजेशन हो जाएगा। अगर एक व्यक्ति जानने निकलेगा, तो वह डाक्टर ही हो पाएगा। अब तो पूरा डाक्टर होना मुश्किल है, क्योंकि डाक्टर की भी बहुत शाखाएं हैं। वह कान का डाक्टर होगा कि आंख का डाक्टर होगा कि हृदय का डाक्टर होगा कि मस्तिष्क का डाक्टर होगा! ये भी शाखाएं हैं।

मैंने तो एक मजाक भी सुनी है कि आज से पचास साल बाद एक औरत एक डाक्टर के दरवाजे पर अंदर प्रवेश हुई है और उसने कहा कि मेरी आंख में बड़ी तकलीफ है। डाक्टर उसे भीतर ले गया और फिर पूछा कि कौन-सी आंख में? बाईं या दाईं? क्योंकि मैं सिर्फ दाईं आंख का डाक्टर हूं। बाईं आंख का डाक्टर पड़ोस में है।

असल में एक आंख भी इतना बड़ा फिनामिनन है, एक छोटी-सी आंख इतनी बड़ी घटना है कि उसे एक आदमी पूरी जिंदगी जानना चाहे, तो भी पूरा नहीं जान सकता है। इसलिए स्पेशलाइजेशन हो जाएगा, इसलिए विशेषज्ञ पैदा होगा ही; उससे बचा नहीं जा सकता है। आज पश्चिम में जिस तरह विशेषज्ञ ज्ञान के पैदा हुए हैं कि एक आदमी गणित को, तो गणित को ही जानता है; फिजिक्स के संबंध में वह उतना ही नासमझ है, जितना नासमझ कोई और आदमी है। और जो आदमी फिजिक्स को जानता है, वह केमिस्ट्री के संबंध में उतना ही अज्ञानी है, जितना गांव का कोई किसान। प्रत्येक व्यक्ति की जानने की एक सीमा है और उस सीमा में उसको यात्रा करनी पड़ती है। और रोज सीमा नैरो होती चली जाएगी, संकरी होती चली जाएगी।

जैसे आज पश्चिम में विज्ञान स्पेशलाइज्ड हुआ, ऐसे ही भारत में हजारों साल पहले हमने चार व्यक्तित्वों को स्पेशलाइज्ड कर दिया था। हमने कहा था, जब कुछ लोग क्षत्रिय ही होना चाहते हैं, तो उचित है कि उन्हें बचपन से ही क्षत्रिय होने का मौका मिले। हमने सोचा कि जब कुछ लोग ब्राह्मण ही हो सकते हैं और क्षत्रिय नहीं हो सकते, तो उचित है कि उन्हें बचपन के पहले क्षण से ही ब्राह्मण की हवा मिले, ब्राह्मण का वातावरण मिले। उनका एक क्षण भी व्यर्थ न जाए।

इसमें एक और गहरी बात आपसे कह दूं, जो कि साधारणतः आपके ख्याल में नहीं होगी। और वह यह है कि जब हमने यह बिल्कुल तय कर दिया कि जन्म से ही कोई व्यक्ति ब्राह्मण हो जाएगा और कोई व्यक्ति क्षत्रिय हो जाएगा, तब भी हमने यह उपाय रखा था कि कभी अपवाद हो, तो हम व्यक्तियों को दूसरे वर्णों में प्रवेश दे सकते थे। लेकिन वह एक्सेप्शन की बात थी। वह नियम नहीं था, नियम की जरूरत न थी। कभी-कभी ऐसा होता था कि कोई विश्वामित्र वर्ण बदल लेता था। लेकिन वह अपवाद था, वह नियम नहीं था। साधारणतः जो

व्यक्ति जिस दिशा में दीक्षित होता था, जिस दिशा में निर्मित होता था, साधारणतः वह उसी दिशा में आनंदित होता था, उसी दिशा में यात्रा करता था।

कृष्ण भी अर्जुन को कह सकते थे कि तू वर्ण बदल ले, लेकिन कृष्ण बहुत भलीभांति अर्जुन को जानते हैं। वह क्षत्रिय होने के अतिरिक्त कुछ और हो नहीं सकता। उसका रोआं-रोआं क्षत्रिय का है, उसकी श्वास-श्वास क्षत्रिय की है। सच तो यह है कि अर्जुन जैसा क्षत्रिय फिर दुबारा हम पैदा नहीं कर पाए। इसके स्वधर्म के बदलने का कोई उपाय नहीं है। इसका व्यक्तित्व वन डायमेंशनल हो गया है। सारी तैयारी उसकी जिस काम के लिए है, उसी को वह छोड़कर भागने की बात कर रहा है।

जब हमने यह तय कर लिया था कि लोग जन्म से ही, चार वर्गों में हमने उन्हें बांट दिया था, तो हमने आत्माओं को भी जन्म लेने के चयन की सुविधा दे दी थी। यह जरा ख्याल में ले लेना जरूरी है और इस पर ही वर्णों का जन्मगत आधार टिका था। आज जो लोग भी वर्ण के विरोध में बात करते हैं, उन्हें इस संबंध का जरा भी कोई पता नहीं है। जैसे ही एक व्यक्ति मरता है, उसकी आत्मा नया जीवन खोजती है। नया जीवन, पिछले जन्मों में उसने जो कुछ किया है, सोचा है, पिछले जन्म में वह जो कुछ बना है, पिछले जन्म में उसकी जो-जो निर्मिति हुई है, उसके आधार पर वह नया गर्भ खोजता है। वर्ण की व्यवस्था ने उस गर्भ खोजने में आत्माओं को बड़ी सुविधा बना दी थी।

एक ब्राह्मण मरते ही ब्राह्मण-गर्भ को खोज पाता था। वह सरल था। इतनी कठिन नहीं रह गई थी वह बात; वह बहुत आसान बात हो गई थी। वह उतनी ही आसान बात थी, जैसे हमने दरवाजों पर आंख के स्पेशलिस्ट की तख्ती लगा रखी है, तो बीमार को खोजने में आसानी है। हमने हृदय की जांच करने वाले डाक्टर की तख्ती लगा रखी है, तो बीमार को खोजने में आसानी है। ठीक हमने आत्मा को भी, उसके अपने इंट्रोवर्ट या एक्सट्रोवर्ट होने की जो भी सुविधा और संभावना है, उसके अनुसार गर्भ खोजने के लिए सील लगा रखी थी। इसलिए आमतौर से यह होता था कि ब्राह्मण अनंत-अनंत जन्मों तक ब्राह्मण के गर्भ में प्रवेश कर जाता था। क्षत्रिय अनंत जन्मों तक क्षत्रिय का गर्भ खोज लेता था। इसके परिणाम बहुत कीमती थे।

इसका मतलब यह हुआ कि हम एक जन्म में ही स्पेशलाइजेशन नहीं देते थे, हम अनंत जन्मों कीशृंखला में स्पेशलाइजेशन दे देते थे। अगर किसी दिन यह हो सके कि आइंस्टीन फिर एक ऐसे बाप के घर में पैदा हो जाए जो फिजिसिस्ट हो, अगर यह संभव हो सके कि आइंस्टीन फिर एक ऐसी मां को मिल जाए जो गणितज्ञ हो, अगर यह संभव हो सके कि आइंस्टीन फिर नए जन्म के साथ ही, जहां उसका पिछला जन्म समाप्त हुआ था, वहां से उसे जो-जो उसने विकसित किया था, उसको विकास करने का मौका मिल जाए, तो हम दुनिया में बहुत-बहुत विकास करने की संभावनाएं पैदा कर पाएंगे। लेकिन आइंस्टीन को फिर नया गर्भ खोजना पड़ेगा। हो सकता है, वह एक घर में पैदा हो, जो दुकानदार का घर है। और तब उसकी पिछले जन्म की यात्रा और नई यात्रा में बहुत व्याघात पड़ जाएगा।

यह आज हमारी कल्पना में भी आना मुश्किल है कि अनेक जन्मों कीशृंखला में भी व्यक्ति को हमने चैनेलाइज करने की कोशिश की थी। इसलिए कृष्ण कहते हैं कि शास्त्र-सम्मत, वह जो अनंत-अनंत दिनों से अनंत-अनंत लोगों के द्वारा जाना हुआ विज्ञान है! तो तेरी आत्मा आज ही कोई क्षत्रिय हो, ऐसा भी नहीं है। क्षत्रिय होना तेरा बहुत जन्मों का स्वधर्म है। उसे लेकर तू पैदा हुआ है। आज तू अचानक उससे मुकरने की बात करेगा, तो तू सिर्फ एक असफलता बन जाएगा, एक विषाद, एक फ्रस्ट्रेशन। तेरी जिंदगी एक भटकाव हो

जाएगी। लेकिन तेरी जिंदगी अनुभव की उस चरम सीमा को, उस पीक एक्सपीरिएंस को नहीं पा सकती, जो तू क्षत्रिय होकर ही पा सकता है।

वर्ण के संबंध में जब भी लोग वर्ण के विरोध में या पक्ष में बोलते हैं, तो उन्हें कोई भी अंदाज नहीं है कि वर्ण के पीछे अनंत जन्मों का विज्ञान है। ध्यान इस बात का है कि हम व्यक्ति की आत्मा को दिशा दे सकें, वह अपने योग्य गर्भ खोज सके, अपने स्वधर्म के अनुकूल घर खोज सके। आज धीरे-धीरे कनफ्यूजन पैदा हुआ है। आज धीरे-धीरे सारी व्यवस्था टूट गई, क्योंकि सारा विज्ञान खो गया। और आज हालत यह है कि आत्माओं को निर्णय करना अत्यंत कठिन होता चला जाता है कि वे कहां जन्म लें! और जहां भी जन्म लें, वहां से उनकी पिछली यात्रा का तारतम्य ठीक से जुड़ेगा या नहीं जुड़ेगा, यह बिल्कुल सांयोगिक हो गई है बात। इसको हमने वैज्ञानिक विधि बनाई थी।

ऐसे तो नदियां भी बहती हैं, लेकिन जब विज्ञान विकसित होता है, तो हम नहर पैदा कर लेते हैं। नदियां भी बहती हैं, लेकिन नहर सुनियोजित बहती है। वर्ण की व्यवस्था आत्माओं के लिए नहर का काम करती थी। वर्ण की व्यवस्था जिस दिन टूट गई, उस दिन से आत्माएं नदियों की तरह बह रही हैं। अब उनकी यात्रा का कोई सुसम्मत मार्ग नहीं है।

इसलिए कृष्ण कहते हैं, शास्त्र-सम्मत। शास्त्र-सम्मत अर्थात उस दिन तक जानी गई आत्माओं का जो विज्ञान था, उससे सम्मत जो बात है अर्जुन, तू उस स्वधर्म को कर। वही श्रेयस्कर है। और वैसे भी न-करने से, सदा करना श्रेयस्कर है, क्योंकि करने से बचने का कोई उपाय नहीं है।

प्रश्नः भगवान श्री, पिछले श्लोक में आपने कहा, संकल्प की बात की, तो संकल्प में और इंद्रियों के दमन में क्या फर्क है? यह जानना चाहते हैं।

संकल्प में और इंद्रियों के दमन में बुनियादी फर्क है। संकल्प पाजिटिव एक्ट है, विधायक कृत्य है और इंद्रियों का दमन निगेटिव एक्ट है, नकारात्मक कृत्य है। इसे ऐसा समझें, एक आदमी को भूख लगी है। वह भूख को दबा रहा है--नकारात्मक। वह यह नहीं कह रहा है कि मैं खाना नहीं खाऊंगा, भूख अब मत लग। नहीं, वह यह नहीं कह रहा है। मन में तो वह सोच रहा है कि खाना खाना है, भूख लगी है। उसे उभार रहा है और दबा भी रहा है। लेकिन उसका कोई पाजिटिव विल नहीं है कि जो कहे कि नहीं, खाना नहीं खाना है; बात बंद! ऐसा कोई विधायक कृत्य नहीं है। भूख लगी है, वह उसको दबाए जा रहा है, भूख से लड़ रहा है। लेकिन भूख से अन्यथा उसके पास कोई संकल्प का जन्म नहीं हो रहा है।

इसे ऐसा समझें, एक आदमी, अपने भीतर कोई भी कामना उठी है, समझें कि कामवासना उठी है; जिसके प्रति उठी है, उसके साथ काम का संबंध संभव नहीं है। सामाजिक होगी परिस्थिति, और कोई परिस्थिति होगी, संभव नहीं है। वासना को उकसा रहा है और दबा भी रहा है। वासना को उकसा रहा है, अगर संभव हो, तो वासना को पूरा करना चाहेगा। लेकिन संभव नहीं है। असुविधापूर्ण है, खतरनाक है, सुरक्षा नहीं है, मर्यादा के बाहर है, समाज के नियम के विपरीत है, प्रतिष्ठा को धक्का लगेगा, अहंकार के पक्ष में नहीं पड़ता है; पत्नी क्या कहेगी? पिता क्या कहेगा? भाई क्या कहेगा? लोग क्या कहेंगे? ये सारी बातें नकारात्मक हैं। इसलिए वह अपनी कामवासना को दबा रहा है। हालांकि साथ में ही वह कामवासना से बंधे हुए चित्रों को भी

उभारता चला जा रहा है। रस भी ले रहा है, दबा भी रहा है। इससे विल पैदा नहीं होगी, इससे विल थोड़ी-बहुत होगी, तो वह भी नष्ट हो जाएगी।

नहीं, वह आदमी न इसकी फिक्र कर रहा है कि कौन क्या कहेगा, न वह फिक्र कर रहा है कि पत्नी क्या कहेगी, पति क्या कहेगा, भाई क्या कहेगा, समाज क्या कहेगा, यह कोई सवाल नहीं है। वह आदमी यह कह रहा है कि मेरे भीतर ऐसी कोई वासना उठ आए, जिसमें मेरा वश न हो, तो यह गलत है। कोई और डर नहीं है। कोई और कारण नहीं है। सिर्फ मैं अपने भीतर वासनाओं के पीछे नहीं चलना चाहता हूं। मैं मालिक होना चाहता हूं। इसलिए वह कहता है, चुप! तब फिर वह कल्पनाएं नहीं करता, इमेजिनेशन नहीं करता, सेक्सुअल इमेज नहीं पैदा करता, प्रतिमाएं नहीं बनाता, सपने नहीं देखता। वह कहता है, बस। और यह जो बस है, यह किसी चीज को दबाने में कम लगता है, किसी चीज को जगाने में ज्यादा लगता है। अब वह अपने को जगा रहा है। अब वह कह रहा है कि इतनी ताकत मुझमें होनी चाहिए कि मैं जब कहूं, बस! तो बात समाप्त हो जाए। तब उसके भीतर संकल्प पैदा होगा।

संकल्प एक क्रिएटिव एक्ट है। संकल्प अपने भीतर किसी नई शक्ति को जगाना है। और दमन अपने भीतर पुरानी वासनाओं की शक्तियों को ही दबाना है। दबाने में पुरानी शक्तियां ही नजर में होंगी, उठाने में नई शक्ति का आविर्भाव होगा। अब इस नई शक्ति के आविर्भाव के लिए, इसीलिए सीधा वासनाओं से प्रयोग करना शुभ नहीं होता। ज्यादा शुभ होता है और तरह की चीजों से करना। जैसे कि आप, सर्दी चल रही है और आप सर्दी में बैठे हैं। और आप अपने भीतर उस शक्ति को जगा रहे हैं, जो इस सर्दी को झेलेगी, लेकिन भागेगी नहीं। आप कहते हैं, मैं इस सर्दी में घंटेभर बैठूंगा, भागूंगा नहीं। अब इसमें कोई समाज का डर नहीं है, कोई सामाजिक नियम-नैतिकता नहीं है, कोई बात नहीं है। आप कहते हैं, मैं भागूंगा नहीं। एक घंटा मैं सर्दी को झेलने की तैयारी रखकर बैठा हूं और देखूंगा कि मेरे भीतर कोई शक्ति जगती है जो सर्दी को घंटेभर झेल पाए! आप कुछ दबा नहीं रहे हैं, आप कुछ जगा रहे हैं।

तिब्बत में तो एक पूरा प्रयोग ही है, जिसको वे हीट योग कहते हैं, जिसको संकल्प से गर्मी पैदा करना कहते हैं। और ल्हासा युनिवर्सिटी में प्रत्येक विद्यार्थी को परीक्षा के साथ वह प्रयोग में से भी गुजरना पड़ता था। वह परीक्षा भी बड़ी अजीब थी। सर्द बर्फ से भरी रात में विद्यार्थियों को नग्न खड़ा रहना पड़ेगा और उनके शरीर से पसीना चूना चाहिए, तब वे परीक्षा उत्तीर्ण हो सकेंगे। न केवल पसीना, क्योंकि पसीना तो सबसे चू जाएगा। वह तो प्रयोग है कि अगर संकल्पपूर्वक आप कहें कि सर्दी नहीं है और गर्मी है, तो शरीर पसीना छोड़ता है।

हिप्नोसिस में किसी को भी छूट जाता है। अगर किसी को बेहोश कर दें, सम्मोहित कर दें और कहें कि तेज धूप पड़ रही है और गर्मी सख्त है, तो उस आदमी के माथे से, शरीर से पसीना बहना शुरू हो जाएगा। गर्मी पड़ रही हो, आप पसीने से भरे हों। और हिप्नोटाइज्ड आदमी बेहोश पड़ा है। हिप्नोटिस्ट उससे कहे कि सर्दी बहुत जोर की है, बर्फ पड़ रही है बाहर, और ठंडी हवाएं आ रही हैं, हाथ-पैर कंप रहे हैं, उस गर्मी की हालत में उसके हाथ-पैर कंपने शुरू हो जाएंगे। अगर बेहोशी की, सम्मोहन की हालत में आपके हाथ में एक साधारण रुपया रख दिया जाए और आपसे कहा जाए कि हाथ पर अंगारा रखा है, तो आप इस तरह चीखकर उसको फेंकेंगे, जैसे हाथ पर अंगारा हो। यहां तक तो ठीक है। लेकिन हाथ पर फफोला भी आ जाएगा! क्योंकि जब संकल्प ने स्वीकार कर लिया कि अंगारा है, तो शरीर को स्वीकार करना ही पड़ता है। अगर हाथ ने मान लिया कि अंगारा है, तो शरीर को जलना ही पड़ेगा, फफोला उठ ही आएगा।

उस युनिवर्सिटी में, ल्हासा युनिवर्सिटी में, तिब्बती लामा जब अपनी पूरी शिक्षा करके बाहर निकलेगा, तो उसे यह भी प्रमाण देना पड़ेगा। यह संकल्प की परीक्षा होगी। पसीना तो सभी को आ जाएगा, लेकिन यह कैसे पता चलेगा कि पहला कौन आया? दूसरा कौन आया? तो सबके पास पानी में डुबाए हुए गीले कपड़े रखे रहेंगे। उन कपड़ों को पहनो और शरीर को इतना गरमा लो कि कपड़े सूख जाएं! तो जो जितने कपड़े रातभर में सुखा देगा, वह प्रथम। जो उससे कम सुखा पाएगा, वह द्वितीय। जो उससे कम सुखा पाएगा, वह तृतीय। और अब यह कोई तिब्बत की ही बात नहीं रह गई है, आज तो पश्चिम की भी बहुत-सी प्रयोगशालाओं में सम्मोहन के द्वारा यह बात सिद्ध हो चुकी है कि मनुष्य के मन का संकल्प जो स्वीकार कर ले, वही घटित होना शुरू हो जाता है।

संकल्प को जगाएं, तब आपको वासनाओं से लड़ना न पड़ेगा। वासनाओं को दबाना ही इसलिए पड़ता है कि संकल्प पास में नहीं है। संकल्प पास में होगा, तो दबाना नहीं पड़ेगा।

बर्ट्रेंड रसेल ने कहीं अपने एक संस्मरण में लिखा है। बर्ट्रेंड रसेल तो काफी जिंदा रहा न! बहुत, एक सदी के करीब जिंदा रहा; तो उसने दुनिया बहुत रंगों में देखी। उसने लिखा है कि अब जब मैं आक्सफोर्ड जाता हूं या कैंब्रिज जाता हूं, तो बड़ा माइक से शोरगुल मचाना पड़ता है कि चुप हो जाओ, चुप हो जाओ। उपकुलपति आ रहे हैं, वाइस चांसलर आ रहे हैं, चुप हो जाओ। फिर भी कोई चुप नहीं होता। और जब शुरू-शुरू में युनिवर्सिटी में गया था, तो उसने लिखा है, जैसे ही भीड़ चुप होने लगती थी विद्यार्थियों की, हम समझते थे कि वाइस चांसलर आ रहे हैं। जैसे ही चुप्पी छाने लगती थी, वैसे ही हम समझते थे कि उपकुलपति आ रहे हैं। लोगों का चुप हो जाना बताता था कि गुरु आ रहा है। अब चिल्लाना पड़ता है कि चुप हो जाओ, क्योंकि गुरु आ रहे हैं। फिर भी कोई चुप नहीं होता। जब चिल्लाना पड़ेगा, तो चुप कौन होगा?

जब संकल्प होता है भीतर, तो वासनाएं चुप हो जाती हैं। जब संकल्प नहीं होता, तो वासनाओं को जबर्दस्ती चुप करना पड़ता है। वह संकल्प के अभाव के कारण मुखर है।

पुरानी परिभाषा आपसे कहूं। अब साधारणतः हम कहते हैं, गुरु के पैर छूने चाहिए। पुरानी परिभाषा और है। वह यह कहती है कि जिसके चरण के पास पहुंचकर छूना ही पड़े, वह आदमी गुरु है। अब हम कहते हैं, पिता को आदर करना चाहिए। पुरानी परिभाषा और है। जिसको आदर दिया ही जाता है, वह पिता है। आज नहीं कल हम माताओं को सिखाएंगे कि बच्चों को प्रेम करना ही चाहिए; सिखाएंगे ही, सिखाना ही पड़ेगा। लेकिन बच्चे को जो प्रेम देती है, वही मां है। करना चाहिए, तो बात ही फिजूल हो गई।

संकल्प जब भीतर होता है, पाजिटिव शक्ति जब भीतर होती है, तो वासनाओं को दबाना नहीं पड़ता। इशारा काफी है। इधर संकल्प खड़ा हुआ, उधर वासना विदा हुई। वासना दबानी पड़ती है, क्योंकि संकल्प भीतर नहीं है। वासनाओं को दबाकर संकल्प पैदा नहीं होगा। संकल्प पैदा होगा, तो वासनाओं से छुटकारा होता है। और उस संकल्प की दिशा में आपको... सिर्फ वासनाओं से मत लड़ते रहें। क्योंकि एक नियम ख्याल में ले लें कि आप जिस चीज से लड़ते हैं, उस चीज को आप जरूरत से ज्यादा ध्यान दे देते हैं। और जिसको भी ध्यान मिल जाता है, वह मजबूत हो जाता है।

वासनाओं के लिए ध्यान भोजन है। अगर कोई आदमी सेक्स से लड़ेगा, तो उसका सेक्स बढ़ेगा, कम नहीं होगा। क्योंकि सेक्स पर जितना ध्यान दिया जाएगा, उतना ही सेक्स शक्तिशाली होता चला जाता है। ध्यान भोजन है। आपने ध्यान दिया कि और शक्ति पकड़ेगी। नहीं, सेक्स की फिक्र छोड़ें। इसलिए हम, हमने जो शब्द खोजा है, वह है ब्रह्मचर्य। ब्रह्मचर्य का मतलब आपने सोचा है कभी! उसका मतलब होता है, ब्रह्म में चर्या, ब्रह्म

में डूबना। हम कहते हैं, कामवासना की फिक्र छोड़ो, तुम तो ब्रह्म में डूबने की फिक्र करो। इधर तुम ब्रह्म में डूबोगे, उधर कामवासना विदा होने लगेगी। कामवासना से लड़े कि मुश्किल में पड़े। फिर वह विदा नहीं होगी, फिर वह पीछा करेगी।

और एक ला आफ रिवर्स इफेक्ट का एक नियम है। जिसको पीछे पश्चिम में फ्रांस के एक विचारक इमाइल कुए ने खोजा। उसका कहना है, विपरीत परिणाम का नियम। आप जो भी करना चाहते हैं, अगर बहुत ज्यादा कोशिश की, तो उससे विपरीत परिणाम आ जाता है।

जैसे एक नया आदमी साइकिल चलाना सीखता है। साठ फीट चौड़े रास्ते पर साइकिल चलाता है। और किनारे पर मील का पत्थर लगा है जरा-सी जगह में। नया सिक्खड़ है; एकदम से पत्थर उसको पहले दिखाई पड़ता है। इतना बड़ा रास्ता दिखाई नहीं पड़ता, साठ फीट चौड़ा। उसे पत्थर दिखाई पड़ता है कि मरे, अब कहीं यह पत्थर से टकराहट न हो जाए। और जैसे ही उसकी पत्थर से टकराहट न हो जाए, यह निगेटिव ख्याल उसको पकड़ा, रास्ता मिटा और पत्थर ही उसको अब दिखाई पड़ेगा। अब उसकी साइकिल चली पत्थर की तरफ। अब वह घबड़ाया। जितनी साइकिल चली पत्थर की तरफ, उतना वह घबड़ाया; और उतना उसने ध्यान दिया पत्थर को कि बचना है इस पत्थर से।

लेकिन जिससे बचना है, उस पर ध्यान देना पड़ेगा। और जिस पर ध्यान देना पड़ेगा, उससे बचना मुश्किल है। वह जाकर टकराएगा। अंधा आदमी भी साइकिल चलाए, तो सौ में एक मौका है पत्थर से टकराने का। क्योंकि रास्ता साठ फीट चौड़ा है। लेकिन यह आंख वाला पत्थर पर पहुंच जाता है एकदम। क्या, मामला क्या है? यह पत्थर पर हिप्नोटाइज्ड होकर जाता है। इसको पत्थर से बचना है, बस यही इसकी मुश्किल हो जाती है। इसी में उलझ जाता है। और जो चाहता है कि न हो, चाहने के कारण, वही हो जाता है।

आपने अगर तय किया कि क्रोध न करेंगे, तो आपसे क्रोध जल्दी होने लगेगा। नहीं, आप क्रोध की फिक्र छोड़ें, आप क्षमा करने की फिक्र करें। आप पाजिटिवली क्षमा की तरफ देखें, क्रोध की फिक्र छोड़ें। आप क्षमा करेंगे, इसकी फिक्र करें। आप क्रोध नहीं करेंगे, ऐसी नकारात्मक फिक्र मत करें। आप कामवासना से बचेंगे, ऐसी नकारात्मक दृष्टि मत लें। आप ब्रह्मचर्य में प्रवेश करेंगे, ऐसी विधायक दृष्टि लें। नहीं तो आप ला आफ रिवर्स इफेक्ट में फंस जाएंगे। अधिक लोग फंसे हुए हैं। इसलिए जो वे चाहते हैं कि न हो, रोज-रोज वही होता है। और जब वही होता है, तो संकल्प और कमजोर होता है कि इतना तो चाहा कि न हो, फिर भी वही हुआ। अब अपने से कुछ भी न हो सकेगा। संकल्प और कमजोर होता चला जाता है। संकल्प बढ़ता है विधायक मार्ग से। वासनाओं का दबाना नकारात्मक है। यह अंतर है।

यज्ञार्थात्कर्मणोऽन्यत्र लोकोऽयं कर्म बन्धनः।

तदर्थं कर्म कौन्तेय मुक्तसंगः समाचर।। 9।।

और हे अर्जुन, बंधन के भय से भी कर्मों का त्याग करना योग्य नहीं है। क्योंकि यज्ञ-कर्म के सिवाय अन्य कर्म में लगा हुआ ही यह मनुष्य कर्मों द्वारा बंधता है। इसलिए हे अर्जुन, आसक्ति से रहित हुआ उस परमेश्वर के निमित्त कर्म का भली प्रकार आचरण कर।

एक और भी अदभुत बात कृष्ण कहते हैं। वे कहते हैं, कर्मों के बंधन से बचने के ही निमित्त जो आदमी कर्म से भागता है, वह उचित नहीं करता है। वह जो मैं कह रहा था वही बात, ला आफ रिवर्स इफेक्ट। जो

आदमी कर्मों के बंधन से बचने के लिए ही कर्मों को छोड़कर भागता है, वह उलटे परिणाम को उपलब्ध होगा। वह और बंध जाएगा। और फिर कर्मों के बंधन से भागने की जो इच्छा है, वह स्वयं की स्वतंत्रता की घोषणा नहीं, स्वयं की परतंत्रता की ही घोषणा है। कर्‌म के बंधन से कोई भाग भी न सकेगा। क्योंकि कहीं भी जाए, कुछ भी करे, कर्म करना ही पड़ेगा। तब क्या करे आदमी?

कृष्ण कहते हैं, यज्ञरूपी कर्म। कृष्ण कहते हैं, ऐसा कर्म जो प्रभु को समर्पित है, ऐसा कर्म जो मैं अपने लिए नहीं कर रहा हूं। परमात्मा ने जीवन दिया, जन्म दिया, जगत दिया, उसने ही कर्म दिया। उसके लिए ही कर रहा हूं। ऐसे यज्ञरूपी कर्म को जो करता है, वह बंधन में नहीं पड़ता है।

इसमें दो बातें ध्यान देने योग्य हैं। एक तो सिर्फ बंधन से बचने के लिए जो भागता है, वह भाग नहीं पाएगा। वह नए बंधनों में घिर जाएगा। ध्यान रहे, बंधन से बचने के लिए भागने वाला शक्तिशाली व्यक्ति नहीं है। भागते सिर्फ कमजोर हैं। शक्तिशाली भागते नहीं, कमजोर ही भागता है। और जितना भागता है, उतना और कमजोर हो जाता है। भयभीत भागता है। और जो भयभीत है, वह यहां बंधन में है; जहां भी जाएगा, वहां बंधन में पड़ जाएगा। कमजोर बंधन से बचेगा कैसे!

एक आदमी गृहस्थी में है। वह कहता है, घर बंधन है। बड़े आश्चर्य की बात है। घर कहीं भी नहीं बांधता। दरवाजे खुले हैं। घर कहीं भी लोहे कीशृंखला नहीं बना हुआ है! घर कहीं पैर में जंजीर की तरह अटका नहीं है। घर कहीं नहीं बांधता है। लेकिन वह आदमी कहता है, घर बांधता है। तो मैं घर छोड़ दूं। अब समझने जैसा जरूरी है कि उसको घर बांधता है? तब तो घर छोड़ने से वह मुक्त हो जाएगा। लेकिन घर किसको बांधेगा? घर तो बिल्कुल जड़ है। वह न बांधता है, न स्वतंत्र करता है। जब यह छोड़कर जाने लगेगा, तब इतना भी नहीं कहेगा कि रुको, कहां जा रहे हो? वह इसकी फिक्र ही नहीं करेगा! लेकिन यह कहता है, घर बांधता है।

असल में, यह बात कहीं न कहीं गलत समझ रहा है। यह घर को अपना मानता है, इससे बंधता है। घर नहीं बांधता। मेरा है घर, मेरे से घर बंधता है। लेकिन मेरा तो इसके पास ही रहेगा। यह घर छोड़कर भाग जाएगा, तब मेरा आश्रम। फिर मेरा आश्रम बांध लेगा। वह मेरा इसके साथ चला जाएगा। वह मेरा इसकी कमजोरी है। घर तो छूट जाएगा। घर छोड़ने में क्या कठिनाई है! घर जरा भी नहीं रोकेगा कि रुकिए! बल्कि प्रसन्न ही होगा कि गए तो अच्छा हुआ, उपद्रव टला! लेकिन आप उस तरकीब को तो साथ ही ले जाएंगे, जो गुलामी बनेगी। मेरा आश्रम हो जाएगा, फिर वह बांध लेगा।

पत्नी नहीं बांधती। पत्नी को छोड़कर भाग जाएं। तो क्या कामवासना पत्नी को छोड़कर भागने के साथ पत्नी के पास छूट जाएगी? तो पत्नी नहीं थी आपके पास, तब कामवासना नहीं थी? जब यात्रा पर चले जाते हैं, पत्नी नहीं होती है, तब कामवासना नहीं होती है? और जब पत्नी को छोड़कर चले जाएंगे, तो कामवासना पत्नी के पास छूट जाएगी कि आपके साथ चली जाएगी? वह कामवासना आपके साथ चली जाएगी। और ध्यान रहे, पत्नी तो पुरानी पड़ गई थी, नई स्त्रियां दिखाई पड़ेंगी जो बिल्कुल नई होंगी, वह वासना उन नई पर और भी ज्यादा लोलुप होकर बंध जाएगी। भागता हुआ आदमी यह भूल जाता है कि जिससे वह भाग रहा है, वह बांधने वाली चीज नहीं है। जो भाग रहा है, वही बंधने वाला है।

इसलिए कृष्ण कहते हैं, भागना व्यर्थ है, पलायन व्यर्थ है, एस्केप व्यर्थ है। और ध्यान रहे, इस पृथ्वी पर एस्केप के खिलाफ, पलायन के खिलाफ कृष्ण से ज्यादा बड़ी आवाज दूसरी पैदा नहीं हुई। पलायन व्यर्थ है, भागना व्यर्थ है। भागकर जाओगे कहां? अपने से भागोगे कैसे? सबसे भाग जाओगे, खुद तो साथ ही रहोगे। और

उस खुद में ही सारी बीमारियां हैं। इसलिए कृष्ण कहते हैं, कर्म से कोई अगर बंधन से छूटने के लिए भागता है, तो नासमझ है। कर्म में कोई बंधन नहीं है। कर्म मेरा है, यही बंधन है। इसलिए अगर कर्म को परमात्मा का है, ऐसा कहने का कोई साहस जुटा ले, तो कर्म यज्ञ हो जाता है और उसका बंधन गिर जाता है। क्यों गिर जाता है? क्योंकि वह फिर मेरा नहीं रह जाता।

सार बात इतनी है कि मेरा ही बंधन है--चाहे वह मेरा मकान हो, चाहे मेरा धन हो, चाहे मेरा बेटा हो, चाहे मेरा धर्म हो, चाहे मेरा कर्म हो, चाहे मेरा संन्यास हो--जो भी मेरा है, वह बंधन बन जाएगा। सिर्फ एक तरह का कर्म बंधन नहीं बनता है, ऐसा कर्म जो मेरा नहीं, परमात्मा का है। ऐसे कर्म का नाम यज्ञ है।

यज्ञ बहुत पारिभाषिक शब्द है। इसका अनुवाद दुनिया की किसी भी भाषा में नहीं हो सकता है। असल में कर्म का एक बिल्कुल ही नया रूप, जिसमें मैं कर्ता नहीं रहता, बल्कि परमात्मा कर्ता होता है। कर्म की एक बिल्कुल नई अवधारणा, कर्म का एक बिल्कुल नया कंसेप्शन कि जिसमें मैं कर्ता नहीं होता, मैं सिर्फ निमित्त होता हूं और कर्ता परमात्मा होता है। जिसमें मैं सिर्फ बांसुरी बन जाता हूं, गीत परमात्मा का, स्वर उसके।

यज्ञरूपी कर्म बंधन नहीं लाता है। इसलिए कृष्ण अर्जुन से कहते हैं, तू कर्म से मत भाग, बल्कि कर्म को यज्ञ बना ले। यज्ञ बना ले अर्थात उसको तू परमात्मा को समर्पित कर दे। तू कह दे पूरे प्राणों से कि मैं सिर्फ निमित्त हूं और तुझे जो करवाना हो, करवा ले।

नानक की जिंदगी में एक घटना है, जिस घटना से नानक संत बने। उस दिन से नानक का कर्म यज्ञ हो गया। छोटी-मोटी जागीरदारी में वे नौकर हैं। और काम उनका है सिपाहियों को राशन बांटना। तो वे दिनभर सुबह से शाम तक गेहूं, दाल, चना, तौलते रहते हैं और सिपाहियों को देते रहते हैं।

पर एक दिन कुछ गड़बड़ हो गई। ऐसी गड़बड़ बड़ी सौभाग्यपूर्ण है। और जब किसी की जिंदगी में हो जाती है, तो परमात्मा प्रवेश हो जाता है। एक दिन सब अस्तव्यस्त हो गया, सब गणित टूट गया, सब नाप टूट गई। नापने बैठे थे; एक से गिनती शुरू की। बारह तक सब ठीक चला। लेकिन तेरह की जो गिनती आई, तो अचानक उन्हें तेरा से तेरे का ख्याल आ गया, उसका, परमात्मा का। बारह तक तो सब ठीक चला, तेरहवें पल्ले को उलटते वक्त उनको आया ख्याल, तेरा। वह जो तेरह शब्द है, वह तेरा। फिर चौदह नहीं निकल सका मुंह से। फिर दूसरा भी पलवा भरा और फिर भी कहा, तेरा। फिर तीसरा भी पलवा भरा... । फिर लोग समझे कि पागल हो गए। भीड़ इकट्ठी हो गई। उन्होंने कहा, यह क्या कर रहे हो, गिनती आगे नहीं बढ़ेगी? तो नानक ने कहा, उसके आगे अब और क्या गिनती हो सकती है! मालिक ने बुलाया और कहा, पागल हो गए! नानक ने कहा, अब तक पागल था। अब बस, इस गिनती के आगे कुछ नहीं है। अब सब तेरा।

फिर नौकरी तो छूट ही गई। लेकिन बड़ी नौकरी मिल गई, परमात्मा की नौकरी मिल गई। छोटे-मोटे मालिक की नौकरी छूटी, परम मालिक की नौकरी मिल गई। और जब भी कोई नानक से पूछता कि तुम्हारी जिंदगी में यह कहां से आई रोशनी? तो वे कहते, तेरे, तेरा, उस शब्द से यह रोशनी आई। जब भी कोई पूछता, कहां से आया यह नृत्य? कहां से आया यह संगीत? कहां से यह उठा नाद? तो वे कहते, बस एक दिन स्मरण आ गया कि तू ही है, तेरा ही है, मेरा नहीं है।

तो जो कृष्ण कह रहे हैं अर्जुन से, वह यही कह रहे हैं कि एक दफा हिम्मत करके, संकल्प करके अगर तू जान पाए कि तेरा नहीं है कृत्य, तो फिर कोई बंधन नहीं। क्यों बंधन नहीं? क्योंकि बंधने के लिए भी मैं का भाव चाहिए। बंधेगा कौन? मैं तो चाहिए ही, अगर बंधना है।

अब यह बड़े मजे की बात है कि मैं अगर नहीं हूं, तो बंधेगा कौन? बंधूंगा कैसे? मैं चाहिए बंधने के लिए और मेरा चाहिए बांधने के लिए। ये दो सूत्र ख्याल में ले लें। मैं चाहिए बंधने के लिए और मेरा चाहिए बांधने के लिए। मैं बनेगा कैदी और मेरा बनेगा जंजीर। लेकिन जिस दिन कोई व्यक्ति कह पाता है, मैं नहीं, तू ही; मेरा नहीं, तेरा; उस दिन न तो बंधन बचता है और न बंधने वाला बचता है। ऐसे क्षण में व्यक्ति का जीवन यज्ञ हो जाता है। यज्ञ मुक्ति है। यज्ञ के भाव से किया गया कर्म स्वतंत्रता है।

सहयज्ञाः प्रजाः सृष्ट्वा पुरोवाच प्रजापतिः।

अनेन प्रसविष्यध्वमेष वोऽस्त्विष्टकामधुक्।। 10।।

प्रजापति ब्रह्मा ने कल्प के आदि में यज्ञ सहित प्रजा को रचकर कहा कि इस यज्ञ द्वारा तुम वृद्धि को प्राप्त होओ और यह यज्ञ तुम लोगों को इच्छित कामनाओं को देने वाला होवे।

यज्ञपूर्वक कर्म, इसे कहने के ठीक पीछे कृष्ण कहते हैं, सृष्टि के प्रथम क्षण में स्रष्टा ने भी ऐसे ही यज्ञरूपी कर्म का विस्तार किया है।

इसे भी थोड़ा समझ लेना उपयोगी है।

हम निरंतर परमात्मा को स्रष्टा कहते हैं। हम निरंतर परमात्मा को बनाने वाला, क्रिएटर कहते हैं। लेकिन बनाना, सृजन, निर्माण--किसी भी चीज का--दो ढंग से हो सकता है। अगर परमात्मा भी मैं के भाव से सृजन करे, तो वह यज्ञ नहीं रह जाएगा। परमात्मा के लिए यह सृजन बिल्कुल ईगोलेस, मैं-भाव से रिक्त और शून्य है। कहना चाहिए, यह सारी सृष्टि परमात्मा के लिए सहज आविर्भाव है, स्पांटेनियस फ्लावरिंग है। मैं सृजन करूं, मैं बनाऊं, ऐसा कहीं कोई भाव नहीं है। हो भी नहीं सकता। क्योंकि मैं सिर्फ वहीं पैदा होता है, जहां तू की संभावना हो। परमात्मा के लिए कोई भी तू नहीं है, अकेला है। इसलिए मैं का कोई भाव परमात्मा में नहीं हो सकता। और जिस दिन हम में भी मैं का कोई भाव नहीं रह जाता, हम परमात्मा के हिस्से हो जाते हैं।

यह सारी सृष्टि परमात्मा के भीतर किसी वासना के कारण नहीं है, फल नहीं है। यह सारी सृष्टि, कहना चाहिए, परमात्मा का स्वभाव है। ऐसे ही जैसे बीज टूटकर अंकुर बन जाता है और जैसे अंकुर टूटकर वृक्ष बन जाता है और जैसे वृक्ष फूलों से भर जाता है, ठीक ऐसे ही परमात्मा के लिए सृष्टि अलग चीज नहीं है। परमात्मा का स्वभाव है।

इसलिए मैं निरंतर एक बात कहना पसंद करता हूं कि हम परमात्मा को क्रिएटर कहकर थोड़ी-सी गलती करते हैं, स्रष्टा कहकर थोड़ी-सी गलती करते हैं। क्योंकि जब हम परमात्मा को स्रष्टा कहते हैं, तो हम सृष्टि और स्रष्टा को अलग तोड़ देते हैं। ऐसा नहीं है। ज्यादा उचित होगा कि हम परमात्मा को स्रष्टा न कहकर, सृजन की प्रक्रिया कहें। ज्यादा उचित होगा कि हम क्रिएटर न कहकर, क्रिएटिविटी कहें। ज्यादा उचित होगा कि हम सृष्टि और स्रष्टा को दो में न तोड़ें, बल्कि एक में ही रखें। वही है।

प्रथम दिन--कहने के लिए प्रथम दिन, बात करने के लिए प्रथम दिन, अन्यथा सृष्टि के लिए कोई प्रथम दिन नहीं है और कोई अंतिम दिन नहीं है--कृष्ण कह रहे हैं, प्रथम दिन जगत का स्रष्टा जगत को जो जीवन, गति और सृजन देता, वह भी यज्ञ है। और जिस दिन कोई दूसरा व्यक्ति भी उसी तरह यज्ञरूपी कर्म में संयुक्त हो जाता है, वह भी स्रष्टा का हिस्सा हो जाता है, वह भी उसका अंग हो जाता है।

मीरा नाचती है। कोई अगर मीरा को पूछे, तू नाचती है? तो मीरा कहेगी, नहीं, वही नचाता है, वही नाचता है। अगर कोई कबीर को कहे कि तुम कपड़े बुनते हो, किसके लिए? तो कबीर कहते हैं, वही बुनता है, उसी के लिए बुनता है। इसलिए कबीर जब कपड़ा बुनते और गांव की तरफ कपड़े बेचने जाते, तो राह पर जो भी मिलता उससे कहते कि राम! देखो कितना अच्छा, तुम्हारे लिए बनाया है। कहते, राम! बाजार में बैठते, तो ग्राहकों को कहते कि राम, कहां चले जा रहे हो? कितनी मेहनत की है! ग्राहक भी मुश्किल में पड़ते। उनकी कल्पना में न होता यह कि उन्हें कोई राम पुकारेगा।

और जब कबीर के पास हजारों, सैकड़ों भक्त आने लगे, तो उन्होंने कहा, बंद करिए आप कपड़ा बुनना। आपको कपड़ा बुनने की क्या जरूरत है? तो कबीर ने कहा, जब परमात्मा को अभी बुनने की जरूरत है, तो मैं बुनने से कैसे बचूं! अभी परमात्मा ही बुने जा रहा है जीवन को और जगत को। तो मैंने तो अपने को उसी के हाथ में छोड़ दिया है। अब उसी की अंगुलियां मेरी अंगुलियों से बुनती हैं। उसी की आंखें मेरी आंखों से देखती हैं। अब वह चाहेगा, तो बंद हो जाएगा बुनना। और वह चाहेगा, तो जारी रहेगा। अब उसकी मरजी।

तो कबीर कपड़ा बुनना बंद नहीं करते, कपड़ा बुने चले जाते हैं। मेरे देखे कबीर ज्यादा गहरे साधु हैं, कपड़ा बुनना जारी रखते हैं। जो चलता था, चलता है। फर्क पड़ गया लेकिन। यज्ञ हो गया अब कर्म। अब वे कहते हैं, वही बुनता है, उसी के लिए बुनता है। मैं हूं ही नहीं। इसलिए ठीक है, जो उसकी मर्जी।

जीसस को जिस दिन सूली लगाई गई, उस दिन सूली पर जब उनके हाथ में कीले ठोंके गए, तो एक क्षण को जीसस भी कंप गए। एक क्षण को जीसस भी डांवाडोल हो गए। एक क्षण को जीसस के मुंह से निकल गया, हे परमात्मा! यह क्या कर रहा है? यह क्या दिखला रहा है? शिकायत हो गई। जीसस को ख्याल में भी आ गई। और दूसरे ही वाक्य में उन्होंने कहा, क्षमा कर, माफ कर, भूल हो गई; जो तेरी मर्जी।

मेरे देखे, इन दो वाक्यों के बीच में क्रांति घटित हुई। जिस क्षण जीसस ने कहा, यह क्या कर रहा है? उस समय जीसस का मैं मौजूद है। अभी कर्म यज्ञ नहीं हुआ। दिखाई पड़ गया जीसस को कि भूल हो गई। क्योंकि जब कोई कहता है परमात्मा से कि यह क्या कर रहा है? तो उसका मतलब यह है कि कुछ गलत कर रहा है। उसका मतलब यह है कि जो होना चाहिए था, वह नहीं हो रहा है। उसका मतलब यह है कि मैं तुझसे ज्यादा समझदार था। मुझसे भी पूछ लेता, तो यह करने को न कहता! भूल हो रही है ईश्वर से कुछ। जब जीसस कहते हैं, यह क्या कर रहा है? गहरी शिकायत है। जीसस अभी कर्म में हैं। अभी यज्ञ नहीं हो पाया। लेकिन एक ही क्षण में सारी क्रांति घटित हो गई।

तो मैं तो निरंतर कहता हूं कि सूली पर जिस क्षण जीसस ने कहा कि परमात्मा, यह क्या दिखला रहा है? उस समय तक वे मरियम के बेटे जीसस थे। और एक क्षण बाद--एक क्षण, मोमेंट--जैसे ही उन्होंने कहा, जो तेरी मर्जी; माफ कर, जो तू चाहे; दाई विल बी डन, तेरी इच्छा पूरी हो, उसी क्षण वे क्राइस्ट हो गए। उसी क्षण क्रांति घटित हो गई। वे मरियम के बेटे नहीं रहे। उसी क्षण वे परमात्मा के हिस्से हो गए। उसी क्षण में यज्ञ हो गया कर्म। अब अपनी कोई मर्जी न रही; अपनी कोई बात न रही। जो उसकी मर्जी!

परमात्मा इस बड़े सृजन को फैलाकर भी निरंतर यही कह रहा है, इस बड़ी धारा को चलाकर निरंतर यही कह रहा है--पहले दिन, बीच के दिन, आखिरी दिन--एक ही बात है कि हम इस छोटे-से मैं को बीच में न ले आएं। उस मैं के कारण ही सारा उपद्रव, सारा विघ्न, सारा उत्पात खड़ा हो जाता है। उस मैं के आस-पास ही कर्म बंधन बन जाता है। जैसे परमात्मा मुक्त... ।

कभी आपने ख्याल किया कि परमात्मा कहीं दिखाई नहीं पड़ता। सृष्टि दिखाई पड़ती है और स्रष्टा दिखाई नहीं पड़ता। लेकिन कभी सोचा आपने कि इसका कारण क्या होगा? अनेक लोग कहते हैं, ईश्वर कहां है? असल में जिसका मैं नहीं है, वह दिखाई कहां पड़े! असल में जिसको कभी ख्याल ही नहीं आया कि मैंने सृष्टि की है, वह दिखाई कहां पड़े! जो किया है, वह दिखाई पड़ रहा है और करने वाला बिल्कुल दिखाई नहीं पड़ रहा है! कर्ता बिल्कुल अदृश्य है और कर्म बिल्कुल दृश्य है।

ऐसे ही कृष्ण कह रहे हैं कि तू ऐसे कर्म में जूझ जा कि कर्म ही दिखाई पड़े और कर्ता बिल्कुल दिखाई न पड़े; कर्ता रहे ही न।

परमात्मा को देखते हैं, कितना एब्सेंट है! जगत बहुत प्रेजेंट है। संसार बहुत मौजूद है और परमात्मा बिल्कुल गैर-मौजूद है। असल में जिसके पास अहंकार नहीं, वह मौजूद हो भी कैसे सकता है! उसके मौजूद होने का कोई उपाय भी तो नहीं है, वह गैर-मौजूद ही हो सकता है। उसकी एब्सेंस ही उसकी प्रेजेंस है; उसकी अनुपस्थिति ही उसकी मौजूदगी है।

मैंने सुना है, एक ईसाई फकीर पर देवता प्रसन्न हो गए--कहानी है--और उन्होंने आकर उसके पैर पकड़ लिए, देवताओं ने, उन्होंने कहा कि हम तुझे कोई वरदान देने आए हैं। मांग ले, तुझे जो कुछ मांगना हो। तो उस फकीर ने कहा, बड़ी गलती की, बड़ी देर से आए। जब मेरे पास मांग थी, तब तुम्हारा कोई पता न चला; और अब जब मेरी कोई मांग नहीं रह गई, तब तुम आए हो! अब तो कुछ मांगने को नहीं बचा, क्योंकि मांगने वाला ही नहीं बचा। अब तुम व्यर्थ परेशान हो रहे हो। तुम किससे कह रहे हो? उन्होंने कहा, हम तुम से कह रहे हैं! उस फकीर ने कहा, लेकिन मैं तो अब हूं नहीं; तुम परमात्मा से ही पूछ लेना, अब तो वही है।

लेकिन ऐसे आदमी पर देवता और प्रसन्न हो गए। उन्होंने बिल्कुल उसके पैर ही पकड़ लिए और कहा कि कुछ मांगना ही पड़ेगा। उसने कहा, लेकिन अब मांगे कौन? किससे मांगे? और अगर मैं मांगूंगा, तो वह सबूत होगा इस बात का कि परमात्मा पर मेरा भरोसा नहीं। जो उसे देना होगा, देगा; जो उसे नहीं देना होगा, नहीं देगा। जो उचित होगा, वह होगा। जो उचित नहीं होगा, वह नहीं होगा। असल में जो होगा, वह उचित होगा। और जो नहीं होगा, वह अनुचित होगा। इसलिए तुम जाओ। तुम गलत आदमी के पास आ गए हो।

लेकिन उन्होंने कहा कि हम ऐसे आदमी की तलाश में रहते हैं; जो मांगता है, उसके पास तो हम कभी नहीं जाते। जो नहीं मांगता, हम उसके पास आते हैं। जो होता है, उसके पास तो हम कभी नहीं जाते, क्योंकि उसके भीतर जगह ही नहीं होती हमारे आने लायक। जो नहीं हो जाता है, हम उसके भीतर आते हैं। हम आ गए हैं। तुम जरूर मांगो! उस फकीर ने कहा, अब तुम नहीं मानते, तुम्हें कुछ देना हो तो दे जाओ। मेरा मांगने का कोई सवाल नहीं है।

तो उन्होंने कहा, हम तुम्हें एक वरदान देते हैं कि तुम अगर मुरदे को छू दोगे, तो वह जिंदा हो जाएगा। अगर तुम बीमार पर हाथ रख दोगे, तो वह स्वस्थ हो जाएगा। अगर तुम मुरझाए फूल की तरफ देख दोगे, तो वह फिर से खिल जाएगा।

उस फकीर ने कहा, यह तो ठीक, लेकिन अब जब तुम दे ही रहे हो, तो थोड़ी बात और दे दो। और क्या? पहले तो तुमने कुछ भी न मांगा! उसने कहा, पहले मांगने की कोई जरूरत न थी। लेकिन एक चीज जहां मिले, वहां चीजों कीशृंखला शुरू हो जाती है। एक चीज और दे जाओ। वह चीज क्या?

उस फकीर ने कहा, यह और जोड़ दो इसमें कि इसका मुझे पता न चले। मुरदा जिंदा हो, हो; लेकिन मुझे पता न चले कि जिंदा हो गया। बीमार ठीक हो, हो; लेकिन मुझे पता न चले। क्योंकि अब वापस मेरे मैं को

बुलाने की पीड़ा और नर्क में मैं नहीं पड़ना चाहता हूं। अब तुम मुझे क्षमा कर दो। यह वरदान खतरनाक है। जब मुरदा जिंदा होगा, तो मुझे पता न चल जाए कि मैंने जिंदा किया है। तो तुम ऐसा करो कि यह वरदान मुझे मत दो, मेरी छाया को दे दो। मेरी छाया किसी मुरदे पर पड़ जाएगी, वह जिंदा हो जाएगा, तो मुझे पता ही नहीं चलेगा। छाया पीछे पड़ेगी, मुरदा ठीक हो जाएगा, फूल खिल जाएंगे; मुरझाए हुए पौधे ठीक हो जाएंगे, मैं भागता रहूंगा छाया से। कृपा करके तुम यह वरदान मेरी छाया को दे दो।

परमात्मा कहीं दिखाई नहीं पड़ता, सिर्फ उसकी छाया कभी-कभी कहीं-कहीं दिखाई पड़ती है। सिर्फ उसकी छाया। इतना सारा जगत उसकी छाया से चलता है।

कृष्ण अर्जुन से यही कह रहे हैं, तू छाया भर हो जा, इस मैं को जाने दे। तू जी, श्वास ले, कर्म कर। भाग मत। क्योंकि भागने में भी तेरा अहंकार तो बना ही रहेगा कि मैं बच निकला, मैं भाग निकला। मैं हूं। मैंने अपने को बंधन से बचा लिया, कर्म से बचा लिया। तेरा मैं तो जाएगा नहीं; बंधन मौजूद होगा। तू तो इतना ही भर कर कि मैं को छा.ेड दे और यज्ञरूपी कर्म में प्रवृत्त हो जा। जैसे पूरा परमात्मा जगत को यज्ञरूपी कर्म में निर्मित कर रहा है, ऐसे ही तू भी उसका एक हिस्सा हो जा, तो तू मुक्त हो जाता है।

देवान्भावयतानेन ते देवा भावयन्तु वः।
परस्परं भावयन्तः श्रेयः परमवाप्स्यथ।। 11।।

तथा तुम लोग इस यज्ञ द्वारा देवताओं की उन्नति करो और वे देवता लोग तुम लोगों की उन्नति करें। इस प्रकार आपस में कर्तव्य समझकर उन्नति करते हुए परम कल्याण को प्राप्त होओगे।

अंतिम श्लोक। कृष्ण कह रहे हैं, इस भांति यज्ञरूपी कर्म करते हुए तुम देवताओं के सहयोगी बनो और वे देवता तुम्हारे सहयोगी बनें। इस भांति तुम कर्तव्य को उपलब्ध हो सकते हो।

यह देवता शब्द को थोड़ा समझना जरूरी है। इस शब्द से बड़ी भ्रांति हुई है। देवता शब्द बहुत पारिभाषिक शब्द है। देवता शब्द का अर्थ है... इस जगत में जो भी लोग हैं, जो भी आत्माएं हैं, उनके मरते ही साधारण व्यक्ति का जन्म तत्काल हो जाता है। उसके लिए गर्भ तत्काल उपलब्ध होता है। लेकिन बहुत असाधारण शुभ आत्मा के लिए तत्काल गर्भ उपलब्ध नहीं होता। उसे प्रतीक्षा करनी पड़ती है। उसके योग्य गर्भ के लिए प्रतीक्षा करनी पड़ती है। बहुत बुरी आत्मा, बहुत ही पापी आत्मा के लिए भी गर्भ तत्काल उपलब्ध नहीं होता। उसे भी बहुत प्रतीक्षा करनी पड़ती है। साधारण आत्मा के लिए तत्काल गर्भ उपलब्ध हो जाता है। इसलिए साधारण आदमी इधर मरा और उधर जन्मा। इस जन्म और मृत्यु और मृत्यु और नए जन्म के बीच में बड़ा फासला नहीं होता। कभी क्षणों का भी फासला होता है। कभी क्षणों का भी नहीं होता। चौबीस घंटे गर्भ उपलब्ध हैं; तत्काल आत्मा गर्भ में प्रवेश कर जाती है।

लेकिन एक श्रेष्ठ आत्मा नए गर्भ में प्रवेश करने के लिए प्रतीक्षा में रहती है। इस तरह की श्रेष्ठ आत्माओं का नाम देवता है। निकृष्ट आत्माएं भी प्रतीक्षा में होती हैं। इस तरह की आत्माओं का नाम प्रेतात्माएं हैं। वे जो प्रेत हैं, ऐसी आत्माएं जो बुरा करते-करते मरी हैं; लेकिन इतना बुरा करके मरी हैं। अब जैसे कोई हिटलर, कोई एक करोड़ आदमियों की हत्या जिस आदमी के ऊपर है, इसके लिए कोई साधारण मां गर्भ नहीं बन सकती, और न कोई साधारण पिता गर्भ बन सकता है। ऐसे आदमी को तो गर्भ के लिए बहुत प्रतीक्षा करनी पड़ेगी। लेकिन

इसकी आत्मा इस बीच क्या करेगी? इसकी आत्मा इस बीच खाली नहीं बैठी रह सकती। भला आदमी तो कभी खाली भी बैठ जाए, बुरा आदमी बिल्कुल खाली नहीं बैठ सकता। कुछ न कुछ करने की कोशिश जारी रहेगी।

तो जब भी आप कोई बुरा कर्म करते हैं, तब तत्काल ऐसी आत्माओं को आपके द्वारा सहारा मिलता है, जो बुरा करना चाहती हैं। आप वीहिकल बन जाते हो; आप साधन बन जाते हो। जब भी आप कोई बुरा कर्म करते हो, तो ऐसी कोई आत्मा अति प्रसन्न होती है और आपको सहयोग देती है, जिसे बुरा करना है, लेकिन उसके पास शरीर नहीं है। इसलिए कई बार आपको लगा होगा कि बुरा काम आपने कोई किया और पीछे आपको लगा होगा, बड़ी हैरानी की बात है, इतनी ताकत मुझमें कहां से आ गई कि मैं यह बुरा काम कर पाया! यह अनेक लोगों का अनुभव है।

आप क्रोध में इतना बड़ा पत्थर उठा सकते हो, जितना आप शांति में नहीं उठा सकते, तब आपको कल्पना भी नहीं हो सकती कि कोई बुरी आत्मा भी आपके लिए सहयोग देती है। जब एक आदमी किसी की हत्या करने जाता है, तो उसकी साधारण स्थिति नहीं रह जाती, असाधारण पजेस्ड हो जाता है। और अनेक हत्यारे अदालतों में यह कहते हैं कि हम मान नहीं सकते कि हमने हत्या की है, क्योंकि हमें तो ख्याल ही नहीं आता कि हम कैसे हत्या कर सकते हैं! असल में आपमें हत्या की वृत्ति उठे, तो हत्या के लिए उत्सुक कोई आत्मा आपके ऊपर सवार हो सकती है, आपका सहयोग कर सकती है।

ठीक इससे उलटा, अर्जुन से कृष्ण कह रहे हैं कि अगर तू एक शुभ कर्म में कर्ता को छोड़कर संलग्न होता है, तो अनेक देवताओं का सहारा तुझे मिलता है। जब आप कोई अच्छा कर्म करते हैं, तब भी आप अकेले नहीं होते। तब भी वे अनेक आत्माएं, जो अच्छा करने के लिए आतुर, अभीप्सित होती हैं, तत्काल आपके आस-पास इकट्ठी और सक्रिय हो जाती हैं। तत्काल आपको उनका सहयोग मिलना शुरू हो जाता है। तत्काल आपके लिए अनंत मार्गों से शक्ति मिलनी शुरू हो जाती है, जो आपकी नहीं है।

इसलिए अच्छा आदमी भी अकेला नहीं है इस पृथ्वी पर और बुरा आदमी भी अकेला नहीं है इस पृथ्वी पर, सिर्फ बीच के आदमी अकेले होते हैं। सिर्फ बीच के आदमी अकेले होते हैं, जो न इतने अच्छे होते हैं कि अच्छों से सहयोग पा सकें, न इतने बुरे होते हैं कि बुरों से सहयोग पा सकें। सिर्फ साधारण, बीच के, मीडियाकर, मिडिल क्लास--पैसे के हिसाब से नहीं कह रहा--आत्मा के हिसाब से जो मध्यवर्गीय हैं, उनको, वे भर अकेले होते हैं, वे लोनली होते हैं। उनको कोई सहारा-वहारा ज्यादा नहीं मिलता। और कभी-कभी हो सकता है कि या तो वे बुराई में नीचे उतरें, तब उन्हें सहारा मिले; या भलाई में ऊपर उठें, तब उन्हें सहारा मिले। लेकिन इस जगत में अच्छे आदमी अकेले नहीं होते, बुरे आदमी अकेले नहीं होते।

जब महावीर जैसा आदमी पृथ्वी पर होता है या बुद्ध जैसा आदमी पृथ्वी पर होता है, तो चारों ओर से अच्छी आत्माएं इकट्ठी सक्रिय हो जाती हैं। इसलिए जो आपने कहानियां सुनी हैं, वे सिर्फ कहानियां नहीं हैं। यह बात सिर्फ कहानी नहीं है कि महावीर के आगे और पीछे देवता चलते हैं। यह बात कहानी नहीं है कि महावीर की सभा में देवता उपस्थित हैं। यह बात कहानी नहीं है कि जब बुद्ध गांव में प्रवेश करते हैं, तो देवता भी गांव में प्रवेश करते हैं। यह बात, यह बात माइथोलॉजी नहीं है, पुराण नहीं है।

इसलिए भी कहता हूं, पुराण नहीं है, क्योंकि अब तो वैज्ञानिक आधारों पर भी सिद्ध हो गया है कि शरीरहीन आत्माएं हैं। उनके चित्र भी, हजारों की तादात में चित्र लिए जा सके हैं। अब तो वैज्ञानिक भी अपनी प्रयोगशाला में चकित और हैरान हैं। अब तो उनकी भी हिम्मत टूट गई है यह कहने की कि भूत-प्रेत नहीं हैं। कोई सोच सकता था कि कैलिफोर्निया या इलेनाइस ऐसी युनिवर्सिटीज में भूत-प्रेत का अध्ययन करने के लिए

भी कोई डिपार्टमेंट होगा! पश्चिम के विश्वविद्यालय भी कोई डिपार्टमेंट खोलेंगे, जिसमें भूत-प्रेत का अध्ययन चलता होगा! पचास साल पहले पश्चिम पूर्व पर हंसता था कि सुपरस्टीटस हो। हालांकि पूर्व में अभी भी ऐसे नासमझ हैं, जो पचास साल पुरानी पश्चिम की बात अभी दोहराए चले जा रहे हैं।

पचास साल में पश्चिम ने बहुत कुछ समझा है और पीछे लौट आया है। उसके कदम बहुत जगह से वापस लौटे हैं। उसे स्वीकार करना पड़ा है कि मनुष्य के मर जाने के बाद सब समाप्त नहीं हो जाता। स्वीकार कर लेना पड़ा है कि शरीर के बाहर कुछ शेष रह जाता है, जिसके चित्र भी लिए जा सकते हैं। स्वीकार करना पड़ा है कि अशरीरी अस्तित्व संभव है, असंभव नहीं है। और यह छोटे-मोटे लोगों ने नहीं, ओलिवर लाज जैसा नोबल प्राइज विनर गवाही देता है कि प्रेत हैं। सीड़ी.ब्राड जैसा वैज्ञानिक चिंतक गवाही देता है कि प्रेत हैं। जे.बी.राइन और मायर्स जैसे जिंदगीभर वैज्ञानिक ढंग से प्रयोग करने वाले लोग कहते हैं कि अब हमारी हिम्मत उतनी नहीं है पूर्व को गलत कहने की, जितनी पचास साल पहले हमारी हिम्मत थी।

कृष्ण कह रहे हैं अर्जुन से कि अगर तू अपने कर्ता को भूलकर परमात्मा के दिए कर्म में प्रवृत्त होता है, तो देवताओं का तुझे साथ है, तुझे सहयोग है। और न केवल तू अपना कर्तव्य निभाने में पूर्ण हो पाएगा, बल्कि बहुत से देवता भी, जो अपना कर्तव्य निभाने के लिए आतुर हैं, तेरे माध्यम से वे भी अपने कर्तव्य को निभाने में पूर्ण हो जाएंगे।

अकेला नहीं है अच्छा आदमी। अकेला नहीं है बुरा आदमी। इसलिए बुरा आदमी भी बड़ा शक्तिशाली हो जाता है और अच्छा आदमी भी बड़ा शक्तिशाली हो जाता है। वह शक्ति चारों तरफ अशरीरी आत्माओं से उपलब्ध होनी शुरू होती है।

शेष कल।

चौथा प्रवचन

समर्पित जीवन का विज्ञान

इष्टान्भोगान्हि वो देवा दास्यन्ते यज्ञभाविताः।

तैर्दत्तानप्रदायैभ्यो यो भुङ्क्तेस्तेन एव सः।। 12।।

यज्ञशिष्टाशिनः सन्तो मुच्यन्ते सर्वकिल्बिषैः।

भुंजते ते त्वघं पापा ये पचन्त्यात्मकारणात्।। 13।।

तथा यज्ञ द्वारा प्रेरित हुए देवता लोग तुम्हारे लिए, बिना मांगे ही प्रिय भोगों को देंगे। उनके द्वारा दिए हुए भोगों को जो पुरुष उनके लिए बिना दिए ही भोगता है, वह निश्चय चोर है।

यज्ञ से शेष बचे हुए अन्न को खाने वाले श्रेष्ठ पुरुष सब पापों से छूटते हैं और जो पापी लोग अपने शरीर पोषण के लिए ही पकाते हैं, वे तो पाप को ही खाते हैं।

अध्यात्मिक विवाद का इस सूत्र को हम जन्मदाता कह सकते हैं। इस सूत्र में दो बातें कही गई हैं। एक तो सबसे पहली बात और बहुत महत्वपूर्ण, यज्ञरूपी कर्म से दिव्य शक्तियां प्रसन्न होकर बिना मांगे ही सब कुछ देती हैं।

जीवन के रहस्यात्मक नियमों में से एक नियम यह है कि जो मांगा जाएगा, वह नहीं मिलेगा; जो नहीं मांगा जाएगा, वही मिलता है। जिसके पीछे हम दौड़ते हैं, उसे ही खो देते हैं; और जिसको हम दौड़ना छोड़ देते हैं जिसके पीछे, वह हमारे पीछे छाया की तरह चला आता है। इस नियम को न समझ पाने से जीवन में बड़ा दुख और बड़ी पीड़ा है। और साधारण जीवन में शायद कभी हमें ऐसा भ्रम भी हो जाए कि मांगने से भी कुछ मिल जाता है, लेकिन दिव्य शक्तियों से तो कभी भी मांगने से कुछ नहीं मिलता है। दिव्य शक्तियों के लिए जो अपने हृदय में द्वार खोल देता है, उसे सब मिल जाता है, लेकिन बिना मांगे ही।

जीसस का एक वचन है, जिसमें जीसस ने कहा है, सीक यी फर्स्ट दि किंगडम आफ गॉड, देन आल एल्स शैल बी एडेड अनटु यू--तुम पहले प्रभु के राज्य को खोज लो और शेष सब फिर तुम्हें अपने आप ही मिल जाएगा। लेकिन हम शेष सबको खोजते हैं, प्रभु के राज्य को नहीं। और शेष सब तो हमें मिलता ही नहीं, प्रभु का राज्य भी खो जाता है। जिसे जीसस ने किंगडम आफ गॉड कहा है, प्रभु का राज्य कहा है, उसे ही कृष्ण दिव्य शक्ति, देवता कह रहे हैं।

जैसे ही हम मांगते हैं... मांगने में होता क्या है? कामना करने में होता क्या है? इच्छा करने में होता क्या है? जैसे ही हम मांगते हैं, हमारा हृदय सिकुड़ जाता है मांग के आस-पास, और चेतना के द्वार तत्काल बंद हो जाते हैं। मांगें और देखें। भिखारी कभी भी फूल की तरह खिला हुआ नहीं होता; हो नहीं सकता। भिखारी सदा सिकुड़ा हुआ, अपने में बंद, क्लोज्ड। जब भी हम कुछ मांगते हैं, तो मन एकदम बंद हो जाता है। जब हम कुछ देते हैं, तब मन खुलता है। दान से तो मन खुलता है और मांग से मन बंद होता है। तो जब कोई परमात्मा के सामने भी, दिव्य शक्तियों के सामने भी मांगने खड़ा हो जाता है, तो उसे पता नहीं कि मांगने के कारण ही उसके हृदय के द्वार बंद हो जाते हैं, वह पाने से वंचित रह जाता है।

जीसस का एक और वचन मुझे स्मरण आता है, जिसमें उन्होंने कहा है, भिखारियों के लिए नहीं, सम्राटों के लिए है। जीसस ने कहा है, जिनके पास है, उन्हें और दे दिया जाएगा; और जिनके पास नहीं है, उनसे और भी छीन लिया जाएगा। बड़ी उलटी बात है। जिनके पास है, उन्हें और भी दे दिया जाएगा; और जिनके पास नहीं है, उनसे और भी छीन लिया जाएगा। और जब भी आप मांगते हैं, तब आप खबर देते हैं, मेरे पास नहीं है। और जब भी आप देते हैं, तब आप खबर देते हैं, मेरे पास है। असल में इस सूत्र का भी अर्थ यही है कि जो बांटता है, उसे मिल जाएगा; और जो बटोरता है, वह खो देगा।

भिखारी बटोर रहा है। भिखारी के चित्त की दो-चार बातें और ख्याल में ले लेनी चाहिए, क्योंकि एक अर्थ में हम सब भिखारी हैं। दानी होना बड़ा असंभव है। भिखारी होना बिल्कुल आसान है। लेकिन कठिनाई यही है कि भिखारियों को कभी कुछ नहीं मिल पाता और देने वालों को सदा सब कुछ मिल जाता है।

जैसे ही कोई मांगता है--वैसे ही उसका मन तो सिकुड़ता ही है, चित्त के द्वार तो बंद हो ही जाते हैं--जैसे ही कोई मांगता है, वैसे ही भीतर डर भी समा जाता है कि पता नहीं मिलेगा या नहीं मिलेगा! मांगने वाला कभी निर्भय नहीं हो सकता। मांग के साथ भय, फिअर हमेशा मौजूद होता है। मांगा कि भय खड़ा है। और परमात्मा से केवल वे ही जुड़ सकते हैं, जो निर्भय हैं; जो भयभीत हैं, वे नहीं जुड़ सकते।

जब भी आप मांगेंगे, तभी प्राण कंप जाएंगे और भयभीत हो जाएंगे और डर पकड़ जाएगा, पता नहीं मिलेगा या नहीं! यह जो डर है, यह भी मन को बंद कर देगा। और यह जो डर है, यह परमात्मा और स्वयं के बीच फासला पैदा कर देता है। परमात्मा के पास इसलिए जो मांगने जाता है, वह अपने हाथ से ही खोने का कारण बन जाता है।

तीसरी बात भी ख्याल रखें, जब भी हम मांगते हैं, तो हम गलत ही मांगते हैं। हम सही मांग ही नहीं सकते। हम सही इसलिए नहीं मांग सकते कि हमें सही का कुछ पता ही नहीं है। हम सही इसलिए नहीं मांग सकते कि हम खुद सही नहीं हैं। और यह और मजे की बात है कि जो सही है, उसे मांगना नहीं पड़ता है; क्योंकि जो सही है, उसे तत्काल मिलना शुरू हो जाता है। जो ठीक है, उस पर संपदा बरसने लगती है जीवन के सब रूपों में। जो गलत है, वही वंचित रह जाता है; और वही मांगता है। और उसकी मांग भी गलत ही होगी; वह सही मांग नहीं सकता है। गलत आदमी गलत ही मांग सकता है।

एक छोटी-सी घटना से आपको समझाऊं। विवेकानंद के पिता मर गए। कर्ज छोड़ गए बहुत। चुकाने का कोई उपाय नहीं। खाने-पीने तक की सुविधा नहीं। घर में इतना मुश्किल से जुटा पाते कि एक बार एक जन का भोजन हो पाए। और दो थे घर में; मां थी और विवेकानंद थे। तो मां उन्हें खिला दे और खुद भूखी रह जाए, पानी पीकर। तो विवेकानंद उससे कहते कि आज फलां मित्र के घर निमंत्रण है, मैं वहां जा रहा हूं; सिर्फ इसलिए कि वह खाना खा लेगी। और वे सड़कों पर चक्कर लगाकर वापस बड़ी खुशी से घर लौटें और उन भोजन की चर्चा करें, जो उन्होंने किए नहीं हैं। कोई मित्र के घर निमंत्रण था नहीं। लेकिन यह कितने दिन चलता!

रामकृष्ण को खबर लगी, तो रामकृष्ण ने कहा, तू कैसा पागल है! तू जा और काली से मांग ले। मांग क्यों नहीं लेता है! जो चाहिए, मिल जाएगा; मांग ले। विवेकानंद को रामकृष्ण ने वस्तुतः धक्का दे दिया मंदिर में कि तू जा और मां से मांग ले। क्षण बीते, घड़ी बीती। रामकृष्ण बार-बार झांककर भीतर देखें; विवेकानंद खड़े हैं। वे बड़े हैरान हुए कि इतनी-सी बात मांगनी है, इतनी देर! फिर विवेकानंद लौटे, तो रामकृष्ण ने कहा, मांगा? तो विवेकानंद ने कहा, अरे! काली के सामने पहुंचा, तो मांग की बात ही भूल गई! तो रामकृष्ण ने कहा, पागल, भेजा तुझे मांगने को था; फिर से जा। विवेकानंद फिर गए, और फिर घड़ी बीती, रामकृष्ण दरवाजे पर बैठे राह

देखते रहे और विवेकानंद फिर वहां से आनंदित लौटे। रामकृष्ण ने कहा, लगता है कि मांग पूरी हो गई! मिल गया? मांग लिया? विवेकानंद ने कहा, कौन-सी मांग? रामकृष्ण ने कहा, तू पागल तो नहीं है! तुझे मांगने भेजा था। विवेकानंद ने कहा, बड़ी मुश्किल मालूम होती है। जब तक मैं बाहर रहता हूं, तब तक तो मांग का ख्याल रहता है। जैसे ही मंदिर में प्रविष्ट होता हूं और काली की मूर्ति सामने आती है, तो खुद ही सम्राट हो जाता हूं। उनकी मौजूदगी में मांगने का सवाल ही नहीं उठता; गुंजाइश भी नहीं रह जाती। तीसरी बार, और तीसरी बार भी यही हुआ। और रामकृष्ण ने कहा, कैसा है तू! विवेकानंद ने कहा कि आप क्यों मेरी नाहक परीक्षा ले रहे हैं! मैं जानता हूं कि अगर मांग लूं, तो ये द्वार मेरे लिए सदा के लिए बंद हो जाएंगे।

ये द्वार तो उन्हीं के लिए खुले हैं, जो मांगते नहीं हैं। और फिर जो उसकी मर्जी! जो ठीक है, वही हो रहा है। जो होना चाहिए, वही हो रहा है। उससे अन्यथा चाहने का कोई कारण भी नहीं है।

कृष्ण इस सूत्र में कहते हैं कि बिना मांगे, बिना मांगे यज्ञ की भांति जो जीवन को जीता, यज्ञरूपी कर्म में जो प्रविष्ट होता, दिव्य शक्तियां उसे बिना मांगे सब दे जाती हैं। लेकिन हमें अपने पर भरोसा ज्यादा, जरूरत से ज्यादा, खतरनाक भरोसा है। या तो हम कोशिश करते हैं, पा लें, तब हमारा कर्म यज्ञरूपी नहीं हो पाता। और या फिर हम मांगते हैं कि मिल जाए, तब आकांक्षा से दूषित हो जाता है और दिव्य शक्तियों से हमारे संबंध टूट जाते हैं।

इसलिए ध्यान रखें, जो प्रार्थना भी मांग के साथ जुड़ी है, वह प्रार्थना नहीं रह जाती। जिस प्रार्थना में भी रंचमात्र मांग है, वह प्रार्थना प्रार्थना नहीं रह गई। जो प्रार्थना निस्पृह, निपट प्रार्थना है, जिसमें कोई मांग नहीं, सिर्फ धन्यवाद है उसका, जो मिला है; उसकी मांग नहीं, जो मिलना चाहिए। इसलिए ठीक प्रार्थना सदा ही धन्यवाद होती है। और गलत प्रार्थना सदा ही मांग होती है। मंदिर में ठीक आदमी वही है प्रार्थना करने गया, जो धन्यवाद देने गया है कि परमात्मा कितना दिया है! गलत आदमी वह है, जो मांगने गया है कि फलां चीज नहीं दी, फलां चीज नहीं दी, यह और मिलनी चाहिए। मांग प्रार्थना में जहर हो जाती है, धन्यवाद प्रार्थना में अमृत बन जाता है।

यज्ञरूपी कर्म, धन्यवादपूर्वक परमात्मा जो कर रहा है, जो करा रहा है, उसकी परम स्वीकृति, टोटल एक्सेप्टिबिलिटी है। और तब बड़े रहस्य की बात है कि सब मिल जाता है। सीक यी फर्स्ट दि किंगडम आफ गॉड, देन आल एल्स शैल बी एडेड अनटु यू, पहले खोज लो परमात्मा का राज्य और फिर सब उसके पीछे चला आता है। जिसे कभी नहीं मांगा, वह मिल जाता है। जिसे मांग-मांगकर भी कभी नहीं पाया था, वह बिन मांगे मिल जाता है। यह तो पहला हिस्सा, प्रार्थना करते समय ख्याल में रखें, मंदिर में प्रवेश करते समय ख्याल में रखें, साधु-संत के पास जाते समय ख्याल में रखें।

और यह भी ख्याल में रखें कि जो साधु-संत प्रलोभन देता हो कि आओ, मैं यह दे दूंगा, वहां भूलकर मत जाना। क्योंकि वहां प्रार्थना घटित ही नहीं हो सकती। वहां प्रार्थना असंभव है। और चूंकि लोग मांगते हैं, इसलिए साधु देने वाले पैदा हो गए हैं। वे आपने पैदा किए हैं। आप नौकरी मांगते हैं, तो नौकरी देने वाले साधु हैं। धन मांगते हैं, तो धन देने वाले साधु हैं। स्वास्थ्य मांगते हैं, तो स्वास्थ्य देने वाले साधु हैं। राख मांगते हैं, तो राख देने वाले साधु हैं। ताबीज मांगते हैं, तो ताबीज देने वाले साधु हैं। जो-जो बेवकूफी हम मांगते हैं, उसको सप्लाई कोई तो करना चाहिए। परमात्मा नहीं करता, तो दूसरे लोग करते हैं। लेकिन ध्यान रखें, वहां धर्म का फूल कभी नहीं खिलेगा, वहां प्रार्थना प्राणों से कभी नहीं निकलेगी और गूंजेगी। बाजार है, वह भी बाजार का ही हिस्सा है। धर्म का उससे कोई लेना-देना नहीं है। यह पहला सूत्र है।

इस सूत्र का दूसरा हिस्सा है, जिसमें कृष्ण और भी गहरी बात कहते हैं। वे यह कहते हैं कि यज्ञरूपी कर्म से जो मिले, उसे बांट दो, उसमें दूसरों को साझीदार बना लो! क्यों? उसे शेयर करो! क्यों? यह भी एक नियम है जीवन का--परम नियमों में से एक--कि जितना हम अपने आनंद को बांटते हैं, उतना वह बढ़ता है; और जितना उसे रोकते हैं, उतना सड़ता है। जितना हम अपने आनंद में दूसरों को सहभागी बनाते हैं, शेयरिंग करते हैं, उतना वह अनंत गुना होता चला जाता है। और जितना हम कंजूस की तरह अपने आनंद को तिजोरी में बंद कर लेते हैं, आखिर में हम पाते हैं कि वहां सिर्फ सड़ांध और बदबू रह गई और कुछ भी नहीं बचा है। आनंद का जीवन विस्तार में है, फैलाव में है।

और ख्याल रखें, जब आप दुख में होते हैं, तो सिकुड़ जाते हैं। दुख में मन करता है कि किसी कोने में दबकर बैठ जाएं, कोई मिले न, कोई देखे न, कोई बात न करे। बहुत दुखी होते हैं, तो मन होता है, मर ही जाएं। उसका मतलब यह है कि ऐसे कोने में चले जाएं, जहां से कोई संबंध जिंदगी से न रह जाए। लेकिन जब भी आप आनंद में होते हैं, तब आप कोने में नहीं बैठना चाहते हैं, तब आप चाहते हैं, मित्र के पास, प्रियजनों के पास जाएं।

कभी आपने ख्याल किया कि बुद्ध जब दुखी थे, तो जंगल में गए; और जब आनंद से भर गए, तो शहर में वापस लौट आए! महावीर जब दुखी थे, तो पहाड़ों में गए; और जब आनंद भर गया जीवन में, तो वापस भीड़ में लौट आए। मोहम्मद जब दुखी हैं, तो पहाड़ पर; और जब आनंद से भर गए, तो जिंदगी में, बाजार में। जहां भी आनंद घटित होगा, आनंद को बांटना पड़ेगा। वैसे ही जैसे जब बादल पानी से भर जाते हैं, तो बरसते हैं; ऐसे ही जब आनंद प्राणों में भरता है, तो बरसता है। बरसना ही चाहिए। अगर न बरसा, तो रोग बन जाएगा।

इसलिए कृष्ण दूसरा सूत्र कहते हैं कि अर्जुन! जब यज्ञरूपी कर्म से दिव्य शक्तियां वह सब देने लगें जिसकी कि प्राणों में सदा से प्यास और मांग रही, लेकिन कभी मिला नहीं और अब बिना मांगे मिल गया है, तो कंजूस मत हो जाना। उसे रोक मत लेना, उसे बांट देना। क्योंकि जितना तुम बांटोगे, उतना ही वह बढ़ता चला जाता है।

आनंद का यह नियम अगर ख्याल में आ जाए कि बांटने से बढ़ता है... । कबीर ने कहा है, दोनों हाथ उलीचिए। आनंद को ऐसे ही उलीचना चाहिए जैसे नाव चलती हो और पानी नाव में भर जाए, तब दोनों हाथ आदमी उलीचने लगता है। आनंद को भी ऐसे ही दोनों हाथ उलीचिए। उसे बांट दीजिए, उसे रोकिए मत। उसे रोका कि वह सड़ा। वही नहीं सड़ेगा, उसे रोकने से वह जो द्वार खुला था--अन-मांगा मिलने का--वह भी बंद हो जाएगा। क्योंकि वह द्वार उसी के लिए खुला रह सकता है, जो बिना मांगे खुद भी दे।

आप जानते हैं कि घर में अगर दो खिड़कियां हों, तो आप एक नहीं खोलते। एक खोलने से कुछ मतलब नहीं होता। क्रास वेंटिलेशन चाहिए। एक खिड़की खोलते हैं, उससे हवा नहीं आती, जब तक कि दूसरी खिड़की न खुले, जिससे हवा बाहर जाए। एक खिड़की खोले बैठे रहें, तो कमरे में हवा नहीं आएगी। खिड़की तो खुली है, लेकिन हवा नहीं आएगी कमरे में। ताजी हवाएं कमरे में नहीं भरेंगी, क्योंकि कमरे से हवाओं को निकलने का कोई मार्ग ही नहीं है। इसलिए इसके पहले कि आप हवाओं को निमंत्रित करें, उस द्वार को भी खोल दें, जहां से हवाएं आएं और जा भी सकें।

आनंद भी क्रास वेंटिलेशन है। इधर से परमात्मा की तरफ से आनंद मिलना शुरू हो, तो दूसरी तरफ से बांट दें। और जितना बांटेंगे, उतना ही परमात्मा की तरफ से आनंद बढ़ता चला जाता है। जितने रिक्त होंगे, खाली होंगे, उतने भर दिए जाएंगे।

इसलिए जीसस कहते हैं, जिसके पास भी हिम्मत नहीं है देने की, वह पाने का पात्र भी नहीं है। जिसमें देने की हिम्मत है, वह पाने का भी पात्र है। हम सिर्फ पाना चाहते हैं और देना कभी नहीं चाहते। इसलिए कृष्ण ऐसे आदमी को कहते हैं, वह चोर है।

कृष्ण ने यह बात जो कही कि वह आदमी चोर है, जो परमात्मा से, जीवन से, जगत से जो भी मिल रहा है, उसे रोक लेता है। अपने तईं, निजी अहंकार के आस-पास, इर्द-गिर्द इकट्ठा कर लेता है, वह चोर है। प्रूधो ने तो बहुत बाद में कहा कि लोग चोर हैं। मार्क्स ने तो बहुत बाद में कहा कि लोग चोर हैं। कृष्ण ने सबसे पहले कहा कि लोग चोर हैं। अगर वे शेयर नहीं करते, अगर वे बांटते नहीं, अगर वे आनंद में दूसरे को साझीदार नहीं बनाते, तो वे चोर हैं।

लेकिन कृष्ण जब लोगों को चोर कहते हैं, तो बहुत और मतलब है। और जब मार्क्स और प्रूधो लोगों को चोर कहते हैं, तो मतलब और है। जब मार्क्स और प्रूधो लोगों को कहते हैं कि लोग चोर हैं, तो उनका मतलब यह है कि उनकी गरदन दबा दो; छीन लो, जो उनके पास है; बांट दो, जो उनके पास है। लेकिन कृष्ण जब कहते हैं कि चोर हो तुम, तो वे यह नहीं कहते कि कोई तुम्हारी गरदन दबा दे और छीन ले। वे यह कहते हैं कि तुम ही जानो कि तुम अपने ही दुश्मन हो। तुम्हें और बहुत मिल सकता था, लेकिन तुम रोककर बैठ गए हो और उस बड़े मिलने से वंचित रह गए हो। इसे तुम बांट दो, ताकि तुम्हें और बड़ा मिलता चला जाए। तुम जितना बांट सकोगे, उतने बड़े को पाने के निरंतर अधिकारी और हकदार होते चले जाओगे।

और अगर कृष्ण कहते हैं कि ऐसा आदमी गलत कर रहा है, तो उनका मतलब यही है कि वह दूसरों के लिए तो गलत कर रहा है, वह ठीक ही है, लेकिन वह गौण है, वह अपने लिए ही गलत कर रहा है। वह आदमी आत्मघाती है। उसको एक किरण मिली थी, और उसने दरवाजा बंद कर लिया कि कहीं वह निकल न जाए। एक किरण उतरी आपके घर में, आपने जल्दी से दरवाजा बंद कर लिया कि कहीं वह किरण निकलकर पड़ोसी के घर में न चली जाए। लेकिन आपको पता नहीं कि जब आप दरवाजा बंद कर रहे हैं, तभी वह किरण मर गई! और जिस दरवाजे से वह आई थी, उसको ही आपने बंद कर दिया। अब आने का भी द्वार बंद हो गया। और किरणें बचती नहीं, आती रहें, तो ही बचती हैं।

यह बात भी ख्याल में ले लें कि आनंद कोई ऐसी चीज नहीं है कि मिल गया, और मिल गया। आनंद ऐसी चीज है कि आता ही रहे, तो ही रहता है। आनंद एक बहाव है, प्रवाह है, एक धारा है। ऐसा नहीं कि गंगा आ गई, और आ गई। आती ही रहे रोज, तो ही। अगर एक दिन आए और फिर बस आ गई; और दूसरे दिन से धारा बंद हो जाए, तो सिर्फ डबरा बन जाएगा, गंगा नहीं होगी। उस डबरे में गंदगी होगी, बास उठेगी, उसके पास रहना मुश्किल हो जाएगा। गंगा आए और जाए, आती रहे और जाती रहे। रुके न, ठहरे न। ऐसे ही जिस दिन कोई व्यक्ति अपने पूरे जीवन को परमात्मा को समर्पित करके जीता है, उसके जीवन में आनंद की गंगा आती रहती है और बढ़ती रहती है, आती रहती है और बढ़ती रहती है। उसकी जिंदगी एक बहाव, एक सरिता की भांति है, जीवित; रुके हुए सरोवर की भांति नहीं, घेरों में बंद नहीं, बहती हुई।

और कभी आपने ख्याल किया कि जब गंगा आती है, कहां से लाती है यह गंगा पानी? और कहां ले जाती है? कभी आपने इस वर्तुल का ख्याल किया, इस सर्कल का ख्याल किया कि गंगा जहां से लाती है, वहीं लौटा देती है! सागर की तरफ भागी चली जा रही है। सागर में गिरेगी, सूरज की किरणों पर चढ़ेगी, बादलों में उठेगी, हिमालय पर बरसेगी, फिर भागेगी। फिर सागर, फिर सूरज की किरणों पर चढ़ना, फिर बादल, फिर पहाड़, फिर मैदान, फिर सागर। एक वर्तुल है, एक सर्कल है।

जीवन की सभी गतियां सरक्युलर हैं। आनंद की भी वैसी ही गति है। परमात्मा से ही आता है, परमात्मा में ही जाता है। आप में आए, तत्काल उसे आस-पास जो भी परमात्मा का रूप फैला है, उसे बांट दें, ताकि वह सागर तक फिर पहुंच जाए। फिर बादलों में उठे, फिर आप में गिरे। अगर आपने कहा कि नहीं, पता नहीं, फिर आया कि नहीं आया। रोक लें। बस, उस रोकने से आदमी चोर हो जाता है।

सब तरह के आनंद में जब भी रोकने का ख्याल पैदा होता है, तभी थेफ्ट, चोरी पैदा हो जाती है। और यह चोरी परमात्मा के खिलाफ है। जहां से आया है, वहां जाने दें। आप से गुजरा, यही क्या कम है! आप से गुजरता रहेगा, यही क्या कम है! और सतत गुजरता रहे, यही जीवन की धन्यता है।

प्रश्नः भगवान श्री, तेरहवें श्लोक के पहले हिस्से में कहा गया है, यज्ञ से बचे हुए अन्न को खाने वाला श्रेष्ठ पुरुष सब पापों से मुक्त हो जाता है। कृपया यज्ञ से बचे हुए अन्न का अर्थ स्पष्ट करें।

साधारणतः तो यज्ञ से बचे हुए अन्न को अगर हम शाब्दिक अर्थों में लें, जैसा कि भूल से लिया जाता रहा है, तो जो यज्ञ की प्रक्रिया है, सबको बांट देने के बाद; यज्ञ में जो भी है सबको बांट देने के बाद, जो बच रहा, उसे लेने वाला श्रेष्ठ पुरुष है। सबको बांट देने के बाद जो बच रहा!

जो पहले ही ले ले और फिर जो बच रहे उसे बांट दे, वह निकृष्ट पुरुष है। घर में मेहमान आए, तो पहले घर के लोग खा लें और फिर मेहमान को जो बच रहे, दे दें, तो वह निकृष्ट परिवार है। मेहमान को पहले दे दें, फिर जो बच रहे, जो बच रहे; अगर कुछ भी न बच रहे, तो उसी को भोजन मानकर सो जाएं, तो वह श्रेष्ठ पुरुष है, वह श्रेष्ठ परिवार है।

सामान्य अर्थ तो यह है। लेकिन और गहरे में जिस यज्ञ का मैं अर्थ कर रहा हूं, ऐसा कर्म, जो परमात्मा को समर्पित है। ऐसे कर्म से जो भी उपलब्ध हो, पहले बांट देना; और जब कोई लेने वाला न बचे, तो जो बच रहे, उसको अपने लिए स्वीकार कर लेना, तो ऐसा पुरुष श्रेष्ठ है। जो भी मिले, उसे पहले बांट देना।

मोहम्मद की जिंदगी में इस सूत्र की सीधी व्याख्या है। और कई बार बड़ा मजेदार... कि कृष्ण का सूत्र और मोहम्मद के जीवन में व्याख्या होती है। जिंदगी इतनी ही रहस्यपूर्ण है। लेकिन हिंदू- मुसलमान, जो पागलों के गिरोह हैं, वे नहीं समझ पाते। मोहम्मद ने कह रखा था अपनी पत्नी को, अपने परिवार के लोगों को, अपने मित्रों को, प्रेम करने वालों को कि अगर तुम घर में भोजन बनाओ, तो जहां तक उसकी सुगंध पहुंचे, समझो वहां तक निमंत्रण हो गया। निमंत्रण देने तुम गए नहीं, लेकिन तुम्हारे घर में बने हुए भोजन की सुगंध जहां तक पहुंच गई, वहां तक निमंत्रण हो गया। उन सबको खबर कर आना कि आ जाओ।

यह जो सुगंध भी पहुंचे, तो निमंत्रण हो जाए! तो पहले उन सबको खिला देना, फिर बच रहे, तो खुद खा लेना। सारे जीवन के लिए। जीवन में जो भी मिले, जिसने अपने जीवन को ही यज्ञ बना लिया, जीवन में जो भी मिले--चाहे ज्ञान, चाहे धन, चाहे अन्न, चाहे शक्ति--जो भी जीवन में मिले, उसे पहले बांट देना। और जब कोई और लेने वाला न बचे, तो जो आखिरी हिस्सा बच जाए--यदि बच जाए--तो वह अपने लिए उपयोग कर लेना। ऐसा व्यक्तित्व श्रेष्ठ है।

लेकिन हमारा सारा व्यक्तित्व निकृष्ट है। अगर कभी हम बांटते हैं, तो तभी बांटते हैं, जब वह हमारे काम का नहीं होता। अगर कभी देते हैं, तो तभी देते हैं, जब वह व्यर्थ होता है हमारे लिए। जब वह हमारे लिए किसी अर्थ का नहीं होता और सिर्फ बोझ बनता है, तब हम देते हैं। ठीक है, न देने से तो अच्छा ही है; लेकिन निकृष्ट

दान है। न देने से तो अच्छा है, अदान से तो बेहतर है; क्योंकि हो सकता है, किसी के काम पड़ जाए। लेकिन दान से जो व्यक्तित्व का फूल खिलता है, वह इससे खिलने वाला नहीं है। क्योंकि आप सिर्फ कचरा फेंक रहे हैं। आप कुछ भी मूल्यवान नहीं दे रहे हैं। देने में आपके भीतर कहीं भी आपको अपने लिए कोई कटौती नहीं करनी पड़ रही है। देने में आपके भीतर कहीं भी कोई प्रेम, कहीं भी कोई प्रेम नहीं है। यह अर्थ है।

और अगर कोई व्यक्ति इसका स्मरण रखे, तो धीरे-धीरे हैरान होगा कि जो हम सोचते हैं कि बचा लेंगे और उससे आनंद पाएंगे, हमें पता ही नहीं है। एक बार उसे देकर भी देखें और हैरान होंगे कि चीजें बचाने से उतना आनंद कभी भी नहीं देतीं, जितना देने से दे जाती हैं। मगर वह हमें पता नहीं चलता, क्योंकि हमने कभी उसका कोई प्रयोग नहीं किया है जीवन में। वह हमारे लिए अपरिचित गली है, उस रास्ते हम कभी गुजरे नहीं।

इस जीवन में जो भी श्रेष्ठतम अनुभव हैं, वे सभी किसी न किसी अर्थों में देने से पैदा होते हैं। प्रेम का अनुभव है, वह देने का अनुभव है। केवल वे ही लोग प्रेम अनुभव कर पाते हैं, जो दे सकते हैं। अन्यथा अनुभव नहीं कर पाते। प्रार्थना का अनुभव है, वह देने का अनुभव है। वे ही लोग अनुभव कर पाते हैं, जो चरणों में अपने को परमात्मा के दे पाते हैं। एक वैज्ञानिक को एक आनंद की प्रतीति होती है, क्योंकि वह अपने समस्त जीवन को विज्ञान के लिए दे पाता है। एक चित्रकार को एक आनंद का अनुभव होता है, क्योंकि वह अपने समस्त जीवन को कला को दे पाता है। एक संगीतज्ञ को आनंद अनुभव होता है, क्योंकि वह अपना समस्त, सब कुछ संगीत को दे पाता है। जहां भी इस जगत में आनंद का अनुभव है, वहां पीछे सदा दान खड़ा ही रहता है, चाहे वह दान दिखाई पड़ता हो या न दिखाई पड़ता हो।

इसलिए कृष्ण कहते हैं, श्रेष्ठ है वह पुरुष, जो पहले बांट देता, फिर जो बचता है, उसे ही अपना भाग, उसे ही अपना भाग मान लेता है। जो बच जाता है, उसे ही अपना भाग मान लेता है। लेकिन सदा ही बहुत बच जाता है उनके पास, जो बहुत देने में समर्थ हैं। और जो बहुत रोकने में समर्थ हैं, उनके पास कभी कुछ भी नहीं बचता है।

असल में, वे रोकने में इतने समर्थ हैं कि जब खुद को भी देने का वक्त आता है, वे नहीं दे पाते। जो आदमी रोकने में इतना समर्थ है कि कभी किसी को कुछ नहीं दिया, पक्का समझना कि यह आदमी अपने को भी उसमें से नहीं दे पाएगा। इसको देने की आदत ही नहीं है। यह अपने को भी वंचित रख लेगा, दूसरों को भी वंचित रख देगा। यह सिर्फ चीजों को सम्हाले हुए मर जाएगा। यह पागल है, यह विक्षिप्त है, आब्सेस्ड है।

इस तरह के व्यक्ति के लिए वे कह रहे हैं कि ऐसा व्यक्ति श्रेष्ठ की, श्रेष्ठत्व की, गरिमापूर्ण जीवन की यात्रा पर नहीं निकल पाता है। ऐसे व्यक्ति का जीवन यज्ञ नहीं बन पाता।

प्रश्नः भगवान श्री, एक मित्र पूछते हैं कि आपने अभी कहा कि आनंद आदि जो मिले, उसे बांट देना चाहिए। तो उसी तरह क्या दुख को भी बांट देना चाहिए? इस पर आपका क्या ख्याल है?

दुख बांटा ही नहीं जा सकता। जैसे आनंद रोकने से रोका नहीं जा सकता, सिर्फ चेष्टा की जा सकती है; दुख बांटा नहीं जा सकता। लेकिन हम दुख को बांटने की कोशिश करते हैं। और आनंद, जो कि बांटा ही जा सकता है, उसे हम रोकने की कोशिश करते हैं। हम दुख को बांटने की बहुत कोशिश करते हैं। कैसे करते हैं?

एक तो दुखी आदमी दूसरों को दुखी करना शुरू कर देता है। हजार तरकीबें निकालता है दूसरे को दुखी करने की। असल में उसे किसी को सुखी देखकर बड़ी बेचैनी और तकलीफ होने लगती है। अगर दुनिया सुखी है,

तो उसकी पीड़ा हजार गुनी ज्यादा हो जाती है; उसका दुख भारी हो जाता है। तो दुखी आदमी दूसरे को दुखी करना शुरू कर देता है, दुखी देखने की आकांक्षा शुरू कर देता है, दुखी देखकर थोड़ा प्रसन्न होने लगता है। और दुखी आदमी दूसरों से निरंतर अपने दुख की बात करके भी उनको उदास करना चाहता है, दुखी करना चाहता है। व्यवहार भी करता है, अगर एक आदमी दुखी है, तो वह दूसरों के साथ ज्यादा क्रोधित होगा; अगर आनंदित है, तो ज्यादा क्रोधित नहीं होगा। आनंदित आदमी क्रोधित हो नहीं सकता, दुखी आदमी ही हो सकता है।

दुखी आदमी दूसरों को दबाने, सताने के हजार उपाय करने लगेगा। और दुख की चर्चा तो करेगा ही, जो भी मिलेगा, उससे दुख की चर्चा करेगा। और अगर आपके चेहरे पर उसकी दुख की चर्चा से कोई कालिमा नहीं आई, तो दुखी होगा। अगर कालिमा आई और आप भी उदास हुए, तो उसका चित्त हलका होगा। दुखी आदमी दुख बांटने की कोशिश करता है। लेकिन दुख बांटा नहीं जा सकता। और जो बांटता है, उसका भी उसी तरह दुख बढ़ जाता है, जैसा आनंद बांटने से आनंद बढ़ जाता है।

इसको भी समझ लेना जरूरी है। बांटना बहुत मुश्किल प्रक्रिया है। क्यों मुश्किल प्रक्रिया है? इंट्रिंजिकली मुश्किल है, आंतरिक स्वभाव से मुश्किल है। आनंद इसलिए बांटा जा सकता है कि दूसरे आनंद लेने को तैयार हैं। दुख लेने को कोई तैयार नहीं है, इसलिए नहीं बांटा जा सकता। आखिर बांटिएगा न किसी को, तो वह तैयार भी होना चाहिए लेने को! तभी बांट सकते हैं न? बांटने में दूसरा भी तो मौजूद है, आप अकेले नहीं हैं।

आनंद बांटा जा सकता है, क्योंकि दूसरे उसे लेने को तैयार हैं। दुख बांटा नहीं जा सकता, क्योंकि कोई उसे लेने को तैयार नहीं है। जिसके दरवाजे पर जाएंगे, वही दरवाजा बंद कर लेगा। आप और दुखी होकर वापस लौटेंगे कि हम गए थे दान करने और दरवाजा बंद कर लिया! जिसके भिक्षापात्र में डालेंगे, वह भिक्षापात्र छिपाकर और भाग खड़ा होगा। आप और दुखी होकर लौटेंगे।

दुख बांटा नहीं जा सकता, क्योंकि कोई दुख लेने को तैयार नहीं है। दुख ऐसे ही इतना ज्यादा है कि अब और आपसे कौन लेने को तैयार होगा! लोग आनंद लेने को तैयार हैं, क्योंकि लोग दुखी हैं। लोग दुख लेने को तैयार नहीं हैं, क्योंकि लोग दुखी पहले से ही काफी हैं। लेकिन दुख देने की कोशिश चलती है। और देने में आपका दुख उसी तरह बढ़ेगा, जिस तरह आनंद भी देने में बढ़ता है। लेकिन बढ़ने की प्रक्रिया दोनों की अलग होगी, परिणाम एक होगा। आनंद इसलिए बढ़ेगा कि जैसे ही आप किसी को आनंद देते हैं, आपकी आत्मा विस्तीर्ण होती है। असल में दूसरे को आनंद देने की कल्पना करने से भी आप बड़े होते हैं, छोटे नहीं रह जाते। असल में दूसरे को आनंदित देखना ही आत्मा का फैलाव है।

बहुत कठिन है। दूसरे के आनंद में आनंदित होना बड़ी कठिन बात है। दूसरे के दुख में दुखी होना उतनी कठिन बात नहीं है, दूसरे के आनंद में आनंदित होना बड़ी कठिन बात है। किसी के घर में आग लग गई है, तो आप दुखी हो पाते हैं; लेकिन आपके बगल में किसी ने एक महल खड़ा कर लिया, तो सुखी नहीं हो पाते। किसी की पत्नी मर गई है, तो आप दुखी हो पाते हैं; लेकिन किसी को सुंदर पत्नी मिल गई है, तो आप फिर भी दुखी होते हैं, सुखी नहीं हो पाते।

दूसरे के सुख में सुख अनुभव करना बहुत बड़ा आत्मिक फैलाव है। लेकिन इससे भी बड़ा फैलाव तो तब होगा, जब हम दूसरे को आनंद देने में भी समर्थ होंगे। यह तो दूसरे का अपना आनंद है, उसमें हम आनंदित हों, तो भी आत्मा बड़ी होती है; दूसरे को आनंद देना तो और भी बड़ी घटना है। बड़ी, जिसको कहें, एक्सपैंशन आफ कांशसनेस, चेतना का विस्तार है।

चेतना का विस्तार होता है आनंद को देने से। और जब चेतना का विस्तार होता है, तो आपका परमात्मा से आनंद लेने का आयतन बढ़ जाता है। जितनी बड़ी आत्मा है आपके पास, उतनी ही परमात्मा की वर्षा आप पर हो सकती है। छोटी-सी आत्मा है, छोटा-सा पात्र है, तो उतनी वर्षा होती है। आत्मा बड़ी हो जाती है, तो उतना बड़ा। जिस दिन किसी के पास पूरे ब्रह्मांड जैसी आत्मा हो जाती है, तो ब्रह्म का सारा आनंद उस पर बरस पड़ता है। पात्रता चाहिए।

लेकिन ध्यान रहे, दुख में उलटा होता है। जब आप किसी को दुख देना चाहते हैं, तो आप और छोटे हो जाते हैं। आपने कभी दुख दिया हो, तो आपको पता चलेगा, कि एक संकोच का, फिजिकल संकोच का पता चलता है; भीतर कुछ सिकुड़ जाता है। किसी को मारें एक चांटा, तो आपको पता लगेगा कि कोई चीज भीतर सिकुड़ गई है। किसी के घाव पर मलहम-पट्टी रखें, और आपको-- फिजिकली मैं कह रहा हूं--भौतिक रूप से आपको अनुभव होगा कि भीतर कोई चीज फैल गई, समथिंग एक्सपैंडिंग। रास्ते पर गिर पड़े किसी को उठाएं और भीतर देखें, तो आपको पता लगेगा, कोई चीज बड़ी हो गई। किसी की छाती में छुरा भोंक दें, तो आपको पता लगेगा, भीतर कोई चीज एकदम छोटी हो गई। दुख जब आप दूसरे को देते हैं, तब आप एकदम सिकुड़ जाते हैं। और जितने सिकुड़ जाते हैं, तो उतना ही आनंद पाने में असमर्थ हो जाते हैं।

अब यह बड़े मजे की बात है कि आनंद के लिए बड़ा हृदय चाहिए और दुख के लिए छोटा हृदय चाहिए। दुख छोटे हृदय को पात्र बनाता है और आनंद बड़े हृदय को पात्र बनाता है। दुख चूहों जैसा है, छोटी-छोटी पोलों में प्रवेश करता है। जितना छोटा हृदय होता है, दुख उतने जल्दी प्रवेश करता है। क्योंकि जितना छोटा हृदय रहता है, उतना ही कम प्रकाशित है। वहां प्रकाश मुश्किल है पहुंचना। अंधेरा, गंदगी, वह सब वहां होगी।

और जब आप दूसरे को दुख देते चले जाते हैं, तो धीरे-धीरे हृदय सिकुड़कर पत्थर की भांति कड़ा हो जाता है। हम ऐसे ही नहीं कहते हैं भाषा में कि फलां आदमी पाषाण-हृदय है; हम ऐसे ही नहीं कहते कि पत्थर जैसा उसका हृदय है! क्यों? पत्थर जैसे हृदय में क्या बात होती है? पत्थर में बिल्कुल भी जगह नहीं होती प्रवेश की। ठोस, उसमें कहीं से कोई चीज प्रवेश नहीं कर सकती। जितना हृदय पत्थर जैसा हो जाता है--और दूसरे को दुख देने में पत्थर जैसा हो ही जाता है। दूसरे को दुख देने के लिए पत्थर जैसा होना जरूरी है, अन्यथा दूसरे को दुख नहीं दे सकते। और जितने पथरीले हो जाएंगे, उतने ही आनंद को पाने की क्षमता क्षीण हो जाएगी।

दुख है क्या? आनंद को पाने की जो अक्षमता है, आनंद को पाने की जो इनकैपेसिटी है, जो अपात्रता है, वही दुख है। जितना हम कम आनंद को पा सकते हैं, उतने दुखी हो जाते हैं। और जितना हम दुख बांटते हैं, उतने दुखी होते चले जाते हैं। क्योंकि कोई दुख तो लेता नहीं, दुख लौट-लौटकर आ जाता है। हर जगह द्वार बंद मिलते हैं। और हृदय क्रोधित होता है, और दुख लौट आता है। और हृदय क्रोधित होता है, और हम बांटने जाते हैं, और दरवाजे बंद होते चले जाते हैं। आखिर में दुखी आदमी पाता है, आइलैंड बन गया, अकेला रह गया, लोनली हो गया, कोई नहीं है उसका संगी-साथी। दुख में कोई मित्र होता है? दुख में कोई संगी-साथी होता है? दुख में आप अकेले हो जाते हैं।

एक पंक्ति मुझे याद आती है बचपन में पढ़ी हुई। एक आंग्ल कवि की पंक्ति है, रोओ और तुम अकेले रोते हो, वीप एंड यू वीप एलोन; हंसो और सारा जगत तुम्हारे साथ हंसता है, लाफ एंड दि होल वर्ल्ड लाफ्स विद यू। देखें करकेः रोओ और तुम अकेले रोते हो, हंसो और सारा जगत तुम्हारे साथ हंसता है।

जितना दुखी आदमी, उतना अकेला रह जाता है। जितना आनंदित आदमी, उतना ही सबके साथ एक हो जाता है। इसलिए दुख बांटा नहीं जा सकता, बांटा जाता है। आनंद बांटा जा सकता है, बांटा नहीं जाता है। आनंद जो बांटता है, उसका आनंद बढ़ जाता है। दुख जो बांटता है, उसका दुख बढ़ जाता है।

अन्नाद्भवन्ति भूतानि पर्जन्यादन्नसम्भवः।
यज्ञाद्भवति पर्जन्यो यज्ञः कर्मसमुद्भवः।। 14।।

संपूर्ण प्राणी अन्न से उत्पन्न होते हैं और अन्न की उत्पत्ति वृष्टि से होती है। और वृष्टि यज्ञ से होती है। और यह यज्ञ कर्मों से उत्पन्न होने वाला है।

सूत्र को समझने के लिए कुछ और बातें भी भूमिका के रूप में समझनी जरूरी हैं।

पूर्व और पश्चिम के दृष्टिकोण में एक बुनियादी फर्क है। और चूंकि आज सारी दुनिया ही पश्चिम के दृष्टिकोण से प्रभावित है--पूर्व भी--इसलिए इस सूत्र को समझना बहुत कठिन हो गया है।

पूर्व ने सदा ही प्रकृति को और मनुष्य को दुश्मन की तरह नहीं लिया, मित्र की तरह लिया। प्रकृति को हमने कहा मां, पृथ्वी को हमने कहा माता, आकाश को हमने कहा पिता। यह सिर्फ काव्य नहीं है, यह एक दृष्टि है, जिसमें हम जीवन को समग्रीभूत एक परिवार मानते हैं, इस सारे विश्व को एक परिवार मानते हैं। इसलिए हमने कभी प्रकृति को जीतने की भाषा नहीं सोची। कांकरिंग दि नेचर! पश्चिम में प्रकृति और आदमी के बीच बुनियादी शत्रुता की दृष्टि है। इसलिए वे कहते हैं, जीतना है प्रकृति को। अब मां को कोई जीतता नहीं! लेकिन पश्चिम में प्रकृति और जीवन और जगत और मनुष्य के बीच एक शत्रुता का भाव है--जीतना है, लड़ना है, हराना है।

बर्ट्रेंड रसेल की एक किताब है, कांक्वेस्ट आफ नेचर। पश्चिम का कोई दार्शनिक लिख सकता है, प्रकृति की विजय। लेकिन कोई कणाद, कोई कपिल, कोई महावीर, कोई बुद्ध, कोई कृष्ण, पूर्व का कोई भी दार्शनिक नहीं कह सकता, प्रकृति की विजय। क्योंकि हम प्रकृति के ही तो हिस्से हैं, अंश हैं। उसकी विजय हम कैसे करेंगे? वह विजय वैसा ही पागलपन है, जैसे मेरा हाथ सोचे, शरीर की विजय कर ले। पागलपन है। मेरा हाथ शरीर की विजय कैसे करेगा? मेरा हाथ मेरे शरीर का एक हिस्सा है। मेरा हाथ मेरा शरीर ही है। हाथ लड़ेगा किससे? जीतेगा किससे? जीतने की भाषा ही खतरनाक है।

लेकिन पश्चिम कांफ्लिक्ट, द्वंद्व की भाषा में सोचता है। वह सोचता है, प्रकृति और हम दुश्मन हैं। यह बड़े आश्चर्य की बात है। और इसलिए पश्चिम में अगर बेटा बाप का दुश्मन हुआ जा रहा है, तो ठीक कोरोलरी है। उसका परिणाम होने वाला है। क्योंकि प्रकृति मां है अगर, और आदमी उसका दुश्मन है, तो अपनी मां से दोस्ती कितने दिन चलेगी? उस मां से भी दुश्मनी हो ही जाने वाली है।

इस सूत्र के लिए मैं यह क्यों कह रहा हूं कि यह समझ लेना जरूरी है? यह समझ लेना इसलिए जरूरी है कि जब लोग अत्यंत सरल भाव से भरते हैं और जीवन को और अपने को तोड़कर नहीं देखते--कोई गल्फ, कोई खाई नहीं देखते--तो फिर उस स्थिति में सब कुछ परिवर्तित होता है और ढंग से।

जैसे कृष्ण कहते हैं, अन्न से बनता है मनुष्य। अन्न से बनता है मनुष्य। हम कहेंगे, अन्न से? बड़ी मैटीरियलिस्ट, बड़ी भौतिकवादी बात कहते हैं कृष्ण। और कृष्ण जैसे आध्यात्मिक व्यक्ति से ऐसी बात! फिर वह

पश्चिम का दृष्टिकोण दिक्कत देता है। असल में पश्चिम कहता है कि यह सब पदार्थ है। पूर्व तो कहता ही नहीं कि पदार्थ कुछ है। पूर्व तो कहता है, सभी परमात्मा है। अन्न भी। अन्न भी पदार्थ नहीं है, वह भी जीवंत परमात्मा है।

इसलिए कृष्ण जब कहते हैं, अन्न से निर्मित होता है मनुष्य, तो कोई इस भूल में न पड़े कि वे वही कह रहे हैं जैसा कि भौतिकवादी कहता है कि बस खाना-पीना, इसी से निर्मित होता है; मिट्टी, पदार्थ, तत्व, इन्हीं से निर्मित होता है। वे यह नहीं कह रहे हैं। यहां मामला बिल्कुल उलटा है। यहां वे यह कह रहे हैं कि अन्न से निर्मित होता है मनुष्य; और जब अन्न से मनुष्य निर्मित होता है, तो अन्न भी जीवंत है, जीवन है। अन्न भी पदार्थ नहीं है। और अन्न आता है वृष्टि से। वह आता है वर्षा से। वर्षा न हो, तो अन्न न हो। यहां वे जोड़ रहे हैं, जीवन और प्रकृति को गहरे में।

वे कहते हैं, अन्न आता है वर्षा से। और वर्षा कहां से आती है? अब वर्षा कहां से आती है? कृष्ण कहते हैं, यज्ञ से। वैज्ञानिक कहेगा, बेकार की बात कर रहे हैं! वर्षा और यज्ञ से? पागल हैं! वैज्ञानिक कहेगा, वर्षा! वर्षा यज्ञ से नहीं आती, वर्षा बादलों से आती है। लेकिन कृष्ण पूछना चाहेंगे कि बादल कहां से आते हैं? विज्ञान उत्तर देता चला जाएगा, समुद्र से आता है, नदी से आता है। लेकिन अंततः सवाल यह है कि क्या मनुष्य में और आकाश में चलने वाले बादलों के बीच कोई आत्मिक संबंध है या नहीं है?

कृष्ण जब कहते हैं कि वर्षा आती है यज्ञ से, तो वे यह कह रहे हैं कि वर्षा और हमारे बीच भी संबंध है। वर्षा हमारे लिए आती है; हमारी कामनाओं, हमारी आकांक्षाओं, हमारी भूख, हमारी प्यास को पूरा करने आती है। वे यह कह रहे हैं कि हमारी प्रार्थनाएं सुनकर आती है। समझने की बात सिर्फ इतनी है कि प्रकृति और मनुष्य के बीच कोई लेन-देन है, कोई कम्यूनिकेशन है या नहीं है? पश्चिम कहता है, कोई कम्यूनिकेशन नहीं है; प्रकृति बिल्कुल अंधी है; उसे मनुष्य से कोई मतलब नहीं है। लेकिन ऐसा दिखाई नहीं पड़ता। वैज्ञानिक खोजों से भी दिखाई नहीं पड़ता। दो-चार उदाहरण मैं देना चाहूंगा, ताकि ख्याल में बात आ सके।

शायद आपको पता न हो, जब भी युद्ध होते हैं, जब भी युद्ध होते हैं, तो युद्ध के बाद बच्चे जो पैदा होते हैं, उनमें पुरुष बच्चों की संख्या एकदम से बढ़ जाती है और स्त्री बच्चों की संख्या कम हो जाती है। बड़ी हैरानी की बात है। अब वैज्ञानिक मुश्किल में पड़ा है दो युद्धों के बाद। क्योंकि कोई अर्थ समझ में नहीं आता। युद्ध से क्या मतलब कि पुरुष ज्यादा पैदा हों कि स्त्रियां ज्यादा पैदा हों! युद्ध से क्या संबंध! लेकिन युद्ध के बाद... और आमतौर से सौ लड़कियां पैदा होती हैं, तो एक सौ सोलह लड़के पैदा होते हैं। और पंद्रह साल के होते-होते सौ लड़कियां रह जाती हैं और सौ लड़के रह जाते हैं, सोलह लड़के मर जाते हैं। लड़के का शरीर, स्त्री के शरीर से रेजिस्टेंस में कमजोर है। इसलिए लड़कियां सोलह कम पैदा होती हैं; लड़के सोलह ज्यादा पैदा होते हैं; क्योंकि विवाह की उम्र आते-आते तक बराबर संख्या रह जानी चाहिए। अगर बराबर लड़के-लड़कियां पैदा हों, तो लड़के कम पड़ जाएंगे। लेकिन युद्ध के बाद अनुपात बहुत हैरानी का हो जाता है, अनुपात एकदम बढ़ जाता है। पुरुष बहुत बड़ी संख्या में पैदा होते हैं। क्योंकि युद्ध पुरुषों को मार डालता है।

अगर प्रकृति और मनुष्य के बीच कोई बहुत आंतरिक संबंध नहीं है, तो यह घटना नहीं घटनी चाहिए। अगर आंतरिक संबंध नहीं है, तो इसकी भी कोई जरूरत नहीं है कि कितनी लड़कियां पैदा हों और कितने लड़के पैदा हों! कितने ही हों। कभी ऐसा भी हो सकता है कि किसी जमाने में पुरुष इतने ज्यादा हो जाएं कि स्त्रियां बहुत कम पड़ जाएं। कभी ऐसा हो सकता है कि स्त्रियां बहुत ज्यादा हो जाएं और पुरुष कम पड़ जाएं। लेकिन ऐसा कभी नहीं होता। जरूर स्त्री और पुरुष के पैदा होने के पीछे प्रकृति कोई हार्मनी बनाए रखती है, कोई व्यवस्था बनाए रखती है। जीवन और हम जुड़े हैं, गहरे में जुड़े हैं।

अभी एक नई साइंस है, इकोलाजी; अभी नई विकसित होती है। आज नहीं कल इकोलाजी जब बहुत विकसित हो जाएगी, तो कृष्ण का वचन पूरी तरह समझ में आ सकेगा। यह इकोलाजी नया विज्ञान है, जो पश्चिम में विकसित हो रहा है; क्योंकि वहां मुश्किल खड़ी हो गई, क्योंकि उन्होंने सारी की सारी प्रकृति को अस्तव्यस्त कर दिया है।

पिछली बार तिब्बत में एक गांव में ऐसा हुआ कि डीड़ी.टी. छिड़का गया। तिब्बत के ग्रामीण, उन्होंने बहुत कहा कि मत छिड़किए, मच्छड़ चलते हैं, कोई हर्जा नहीं; हमारे साथी हैं। और हम भी हैं, वे भी हैं। और हम सदा से साथ रह रहे हैं। ऐसी कोई ज्यादा अड़चन भी नहीं है। लेकिन एक्सपर्ट तो मान नहीं सकता! तो उसने डीड़ी.टी. छिड़ककर सारे मच्छड़ मार डाले। गांव के बूढ़े प्रधान ने, लामा ने कहा भी कि भई, मच्छड़ तो मर जाएंगे, वह तो ठीक है। लेकिन मच्छड़ों के साथ, उनके मरने के साथ कोई और दिक्कत तो हमें खड़ी नहीं हो जाएगी? क्योंकि वे सदा से थे और हमारे जीवन के हिस्से थे; उनके गिरने से कहीं और ईंटें तो नहीं गिर जाएंगी? लेकिन उन्होंने कहा, क्या पागलपन की बातें करते हैं!

लेकिन हुआ यही। मच्छड़ तो मरे सो मरे, बिल्लियां भी मर गईं। वह डीड़ी.टी. में बिल्लियां मर गईं। बिल्लियां मर गईं, तो चूहे बढ़ गए। चूहे बढ़ गए तो मलेरिया तो गांव के बाहर हुआ, प्लेग गांव के भीतर आ गई। गांव के प्रधान लामा ने कहा कि अब बड़ी मुश्किल में हमको डाल दिया! मलेरिया फिर भी ठीक था, यह प्लेग और मुसीबत है। और फिर मलेरिया से तो हम लड़ ही लेते थे, अब यह प्लेग हमारे लिए बिल्कुल नई घटना है। अब इसके लिए हम क्या करें?

तो उन्होंने कहा, ठहरो; एक्सपर्ट्स ने कहा, ठहरो, हम दूसरा पाउडर लाते हैं, जिससे हम चूहों को मार डालेंगे। लेकिन उस बूढ़े ने कहा, अब हम तुम्हारी न मानेंगे। क्योंकि पहले ही हमने तुमसे पूछा था कि मच्छड़ मर जाएं, तो कोई और दिक्कत तो न आएगी! लेकिन तुमने कहा, कोई दिक्कत न आएगी। अब हम तुमसे पूछते हैं कि अगर चूहे मर जाएं और प्लेग गांव के बाहर हो, कोई महाप्लेग गांव के भीतर आ जाए, तो जिम्मेदार कौन होगा? और अब हम तुम पर भरोसा नहीं कर सकते।

उस एक्सपर्ट ने कहा, फिर तुम क्या करोगे? तो उस ब.ूढे आदमी ने कहा, हम पुरानी व्यवस्था फिर से निर्मित कर देंगे। कैसे करोगे? तो उसने आस-पास के गांवों से बिल्लियां उधार बुलवाईं और गांव में छोड़ीं। बिल्लियां आईं, चूहे कम हुए, मच्छड़ वापस लौट आए।

इकोलाजी का मतलब है, जिंदगी एक परिवार है, उस परिवार में सब चीजें जुड़ी हैं; सब संयुक्त है, एक ज्वाइंट फैमिली है। सड़क के किनारे पड़ा हुआ पत्थर भी आपकी जिंदगी का हिस्सा है। अब सारी दुनिया में हमने वृक्ष काट डाले। जब हमने वृक्ष काट डाले, तब हमको पता चला कि हम मुश्किल में पड़ गए। क्योंकि वृक्ष कट गए, तो बादल अब वर्षा नहीं करते। लेकिन हमें पहले पता नहीं था कि वृक्ष काटने से बादल वर्षा नहीं करेंगे। हमने कहा, क्या करना है! जमीन साफ करो। लेकिन वे वृक्ष बादलों को निमंत्रित करते थे। अब वे वृक्ष निमंत्रण नहीं भेजते बादलों को। अब बादल चले जाते हैं, उनको कोई रोकता नहीं।

अभी हमने जब चांद पर पहली दफा अपना अंतरिक्ष यान भेजा, तो हमें पता नहीं कि हमने क्या-क्या किया है। वह पता चलने में शायद पचास वर्ष लगेंगे। क्योंकि पृथ्वी के दो सौ मील के बाद, जहां हवा समाप्त होती है, वहां एक बड़ी पर्त--अनेक-अनेक गैसेस की बनी हुई पर्त, जो सदा से पृथ्वी को घेरे हुए है--उसकी एक मोटी पर्त, एक दीवार की तरह मोटी पर्त पूरी पृथ्वी को घेरे हुए है। उस पर्त के कारण सूरज की वही किरणें पृथ्वी तक आ पाती हैं, जो जीवन के लिए हितकर हैं। और वे किरणें बाहर रह जाती हैं, जो हितकर नहीं हैं।

लेकिन अब वैज्ञानिकों को पता चला है कि जितने हमने अंतरिक्ष यान भेजे हैं, जहां-जहां से हमने भेजे हैं, वहां-वहां विंडोज पैदा हो गई हैं। जहां-जहां से वह पर्त तोड़कर यान गया है, वहां खिड़कियां पैदा हो गई हैं। उन खिड़कियों से सूरज की वे किरणें भी भीतर आने लगीं, जो कि जीवन के लिए अत्यंत खतरनाक हैं।

कृष्ण यह कह रहे हैं इस छोटे-से सूत्र में कि जीवन एक संयुक्त घटना है। आकाश में बादल भी चलता है, तो वह भी हमारे प्राणों की धड़कन से जुड़ा है। सूरज भी चलता है, तो वह भी हमारे हृदय के किसी हिस्से से संयुक्त है। अभी सूरज ठंडा हो जाए, तो हम यहीं सब ठंडे हो जाएंगे। दस करोड़ मील दूर है सूरज। हमको पता ही नहीं चलेगा कि कब ठंडा हो गया। क्योंकि वहां से कोई अखबार भी नहीं निकलता! वहां से कोई सूचना भी नहीं आएगी। पर हमको यह भी पता नहीं चलेगा कि वह ठंडा हो गया, क्योंकि उसके ठंडे होने के ठीक आठ मिनट बाद हम भी ठंडे हो जाएंगे। ठीक आठ मिनट बाद। आठ मिनट बाद--इसलिए इतनी देर लगेगी--कि आठ मिनट तक उसकी पुरानी किरणें हमारे काम आती रहेंगी, जो चल चुकी हैं उसके ठंडे होने के पहले। आठ मिनट बाद हम ठंडे हो जाएंगे।

इससे उलटा भी सच है। अगर सूरज से हम जुड़े हैं और अगर सूरज के बिना हम ठंडे हो जाएंगे, तब दूसरी बात आपसे कहता हूं--जो इस मुल्क ने अकेले हिम्मत की है कहने की--वह यह है कि अगर हम भी ठंडे हो जाएं, तो सूरज भी कुछ गवां देगा। अब यह जरा कठिन पड़ता है समझना। लेकिन यह भी समझ में आ सकेगा। अगर जीवन इंटररिलेटेड है, अगर पति के मरने से पत्नी में कुछ कम हो जाता है, तो पत्नी के मरने से पति में भी कुछ कम होगा। अगर सूरज के मिटने से पृथ्वी ठंडी हो जाती है, तो पृथ्वी के ठंडे होने से सूरज में भी कुछ टूटेगा और बिखरेगा। जीवन संयुक्त है, जुड़ा हुआ है।

तो जब कृष्ण कहते हैं, अन्न से बनता है मनुष्य, तो वे यह कह रहे हैं कि पदार्थ और चेतना में कोई बुनियादी भेद नहीं है, दोनों एक ही चीज हैं। पदार्थ से ही बनती है आत्मा। इसका मतलब सिर्फ इतना है कि पदार्थ भी पदार्थ नहीं है। वह भी छिपी हुई, लेटेंट आत्मा है। वह भी गुप्त आत्मा है। आप अन्न खाते हैं, वह खून बनता है, हड्डियां बनता है, चेतना बनता है, होश बनता है, बुद्धि बनता है। निश्चित ही जो अन्न बनता है, वह उसमें छिपा है। वह भी जीवन है। कहना चाहिए, वह भी बिल्ट इन जीवन है उसके भीतर, जो आपमें आकर फैल जाता और खिल जाता है।

अन्न आता है वर्षा से, वर्षा आती है यज्ञ से। क्यों? यज्ञ का यहां क्या अर्थ है?

यहां कृष्ण यह कह रहे हैं कि जब मनुष्य अच्छे काम करता है और जब मनुष्य परमात्मा पर समर्पित होकर जीता है, तो परमात्मा उसकी फिक्र करता है सब तरफ से। पूरी प्रकृति उसकी चिंता करती है सब तरफ से। बादल वर्षा डालते हैं, वृक्ष फलों से भर जाते हैं, नदियां बहती हैं, सूरज चमकता है, जीवन में एक मौज और एक खुशी और एक रंग और एक सुगंध होती है। और जब आदमी बुरा होना शुरू होता है और आदमी जब अहंकार से भरता है और आदमी कहने लगता है, मैं ही सब कुछ हूं, कोई परमात्मा नहीं, तब जीवन सब तरफ से विकृत होना शुरू हो जाता है।

यज्ञ का अर्थ है, परमात्मा को समर्पित लोग, परमात्मा को समर्पित कर्मी जीवन को ऐसा सामंजस्य, ऐसी हार्मनी देते हैं कि सारी प्रकृति उनके लिए अपना सब कुछ लुटाने को तैयार हो जाती है। अब इसको भी मैं एक छोटा-सा उदाहरण देकर आपके ख्याल में लाना चाहूं, तो आए, शायद आ जाए।

आक्सफोर्ड युनिवर्सिटी में एक छोटी-सी प्रयोगशाला है, डिलाबार। वहां वे कुछ बहुत गहरे प्रयोग कर रहे हैं। उसमें से एक प्रयोग मैं आपको याद दिलाना चाहता हूं। वह प्रयोग है कि उन्होंने दो क्यारियों में बीज बोए।

एक-से बीज, एक-सी खाद, एक-सी क्यारी, एक-सा सूरज का रुख। लेकिन एक क्यारी के ऊपर उन्होंने पॉप म्यूजिक बजाया। पॉप म्यूजिक, जो आज सारी दुनिया की नई जेनरेशन का संगीत है। संगीत कम है, विसंगीत ज्यादा है। लेकिन उसका नाम तो संगीत ही है। तो पॉप म्यूजिक बजाया रोज एक घंटे। और दूसरी क्यारी पर क्लासिकल, शास्त्रीय संगीत बजाया-- बिथोवन, मोझर्ट, वेजनर--इनका संगीत बजाया। शास्त्रीय संगीत, जो कि सही अर्थों में स्वरों का संगम और सामंजस्य है। बड़ी हैरानी का अनुभव हुआ। और यह प्रयोग वैज्ञानिकों के द्वारा किया गया।

जिस क्यारी पर पॉप म्यूजिक बजाया गया, उस क्यारी के बीजों ने फूटने से इनकार कर दिया। और जिस क्यारी पर शास्त्रीय संगीत बजाया गया, उसके बीज जल्दी फूट गए, समय के पहले। बामुश्किल पॉप वाली क्यारी के बीज टूटे भी, तो उनमें जो अंकुर आए, अर्द्धमृत, पहले से ही मरे हुए। उनमें फूल तो लग ही नहीं सके। और शास्त्रीय संगीत वाली क्यारी पर, जैसे फूल साधारणतः उन बीजों से आने चाहिए थे, उससे डेढ़ गुने बड़े फूल आए और डेढ़ गुने ज्यादा बड़ी संख्या में आए।

अब डिलाबार लेबोरेटरी के वैज्ञानिकों का कहना है कि संगीत की जो तरंगें पैदा हुईं, उन्होंने अंतर पैदा किया है। क्या संगीत से जब तरंगें पैदा होती हैं, तो आदमियों के कर्मों से तरंगें पैदा नहीं होती हैं? और अगर संगीत से तरंगें पैदा होती हैं, तो क्या आदमी की चेतना, चित्त की अवस्थाओं से तरंगें पैदा नहीं होती हैं? क्या अहंकार से भरा हुआ आदमी अपने चारों तरफ विसंगीत नहीं फैलाता है? क्या अहंकार से शून्य, विनम्र आदमी अपने चारों ओर शास्त्रीय संगीत को नहीं फैलाता है?

कृष्ण जब कह रहे हैं, यज्ञ से होती है वर्षा, तो वे यह कह रहे हैं कि जब निरहंकारी लोग इस पृथ्वी पर जीते हैं, तो सारा जीवन उनके लिए सब कुछ करने के लिए तैयार हो जाता है। बादल भी वर्षा करते हैं, पौधे भी अन्न से भर जाते हैं, अन्न भी प्राण को लेकर आता है। और जब व्यक्ति गलत तरंगें अपने चारों ओर फैलाने लगते हैं... ।

और यह भी मैं आपको कहना चाहूं कि आप कहेंगे कि संगीत से व्यक्ति की तरंगों का क्या संबंध? व्यक्ति से कोई तरंगें उठती हैं? तो आपमें से बहुतों को निरंतर अनुभव हुआ होगा कि जब आप किसी एक व्यक्ति के पास जाते हैं, तो अचानक रिपल्सिव मालूम होता है कि हट जाएं; जैसे कि कोई चीज आपको धक्का देती है। किसी के पास जाते हैं, तो लगता है कि आलिंगन भर लें, कोई जैसे पास बुलाता है; कोई चीज खींचती है, अट्रैक्ट करती है।

लेकिन ये तो खैर मनोभाव हैं, हो सकता है, कल्पना हो। फ्रांस के एक वैज्ञानिक ने एक यंत्र विकसित किया है, जो यंत्र बताता है कि व्यक्ति से जो तरंगें निकल रही हैं, वे रिपल्सिव हैं या अट्रैक्टिव हैं। उस यंत्र के पास, जैसे आप वजन तौलने की मशीन पर खड़े होते हैं और कांटा घूमकर बताता है, ऐसा ही उस मशीन के सामने खड़े हो जाते हैं और कांटा घूमकर बताना शुरू कर देता है कि इस व्यक्ति से जो किरणें निकल रही हैं, वे लोगों को दूर हटाने वाली होंगी कि पास खींचने वाली होंगी।

आज नहीं कल, जब हम मनुष्य के जीवन में और थोड़ी गहराई से समझ पाएंगे, तो हमें इन सत्यों का पता चलेगा। और अगर आज वर्षा खो गई है, और आज अगर अन्न खो गया है, और आज अगर सब कुछ खो गया है, और सब दुर्दिन और दुख से भर गया है, तो उसका कुल कारण इतना ही नहीं है, कुल कारण इतना ही नहीं है कि संख्या बढ़ गई है; उसका कुल कारण इतना ही नहीं है कि पृथ्वी की पैदा करने की क्षमता कम हो गई है; उसका कुल कारण इतना ही नहीं है कि हम वैज्ञानिक खाद नहीं डाल पा रहे हैं। नहीं, उसके और गहरे कारण

भी हैं। मनुष्य से जो तरंगें निकलती थीं और सारी प्रकृति से उन तरंगों का जो तालमेल था, वह टूट गया है; जो इनर हार्मनी थी, वह टूट गई है। मनुष्य ने अपने हाथ से ही सब तालमेल तोड़ डाला है। वह अकेला खड़ा हो गया है दुश्मन की तरह। न बादलों से कोई दोस्ती है, न नदियों से कोई प्रेम है।

वे लोग आज हमें पागल ही मालूम पड़ते हैं, जो किसी नदी को नमस्कार करते हैं। पागल हैं; नदी को और नमस्कार कर रहे हैं! ऐसे तो पागलपन लगता ही है कि नदी को नमस्कार कर रहे हैं। लेकिन जिन लोगों ने पहली बार नदी को नमस्कार किया था, उनके भाव का आपको कुछ ख्याल है? जिन्होंने पहली बार नदी के चरणों में सिर रखा था, उनके भाव का कुछ ख्याल है? जरूर उन्होंने नदी से एक मैत्री, एक हार्मनी का अनुभव किया था। जो पहाड़ों पर चढ़कर नमस्कार करने गए थे, उनके भाव का कोई ख्याल है? लेकिन आज की दुनिया में भाव सिर्फ बिना भाव की चीज है; उसका कोई भाव नहीं रह गया है, उसका कोई मूल्य ही नहीं है। उसका कोई मूल्य ही नहीं है। भावपूर्ण होना मूर्खतापूर्ण होना हो गया है। इससे बड़ी हालांकि मूर्खता नहीं हो सकती है।

यह जो कृष्ण कह रहे हैं, यज्ञपूर्ण कर्मों से, यज्ञपूर्ण प्रार्थनाओं से... । तो मैं यह नहीं कह रहा हूं कि आप आग जलाकर, उसमें गेहूं डालकर वर्षा कर लेंगे। यह मैं नहीं कह रहा हूं। आग जलाकर, गेहूं डालकर आप वर्षा कर लेंगे, यह मैं नहीं कह रहा हूं। मैं उससे कहीं ज्यादा गहरी बात कह रहा हूं। मैं आपसे यह कह रहा हूं कि यह तभी संभव हो पाएगा, जब प्रकृति और मनुष्य दुश्मन की तरह नहीं, मित्रों की तरह, प्रेमियों की तरह, एक ही चीज के हिस्से की तरह जीते हैं। तब हमारा पूरा जीवन यज्ञ हो जाता है। और उस क्षण में अगर हम आग जलाकर भी बादलों से बात करते हैं, तो उसका कोई अर्थ होता है। आज नहीं हो सकता। उस दिन जब इतने भाव से भरकर अगर हम यज्ञ की वेदी बनाते हैं और उसके चारों तरफ नाचकर बादलों से प्रार्थना करते हैं... । लेकिन आज नहीं हो सकता।

मैंने सुना है, एक गांव में बहुत दिनों से वर्षा नहीं हुई है। गांव के बाहर यज्ञ हो रहा है। सारे गांव के लोग प्रार्थना करने जा रहे हैं। एक छोटा बच्चा छाता लगाकर निकल आया घर से, बगल में छाता दबाकर। लोगों ने, बड़े-ब.ूढों ने कहा, पागल! छाता घर फेंककर आ। वर्षा तो हो नहीं रही है दो साल से, छाते का क्या करेगा? तो उसने कहा कि आप सब लोग यज्ञ में जा रहे हैं, मैंने सोचा कि आपको भरोसा होगा कि आपकी प्रार्थना सुनी जाएगी। इसलिए मैं छाता लेकर चल रहा हूं।

आपको ही भरोसा नहीं है, तो जलाओ आग, डालो गेहूं उसमें। और जो पास में है, वह और खराब करो। उससे कुछ होने वाला नहीं है।

वह एक छोटा बच्चा भर उस गांव में यज्ञ करने का अधिकारी था; बाकी सब पूरा गांव अधिकारी नहीं था। और यह बच्चा अगर सच में ही... । लेकिन घर के बड़े-बूढ़ों ने डांटा-डपटा और छाता रखवा दिया कि रख छाता, पागल कहीं का। कोई छीन ले, छुड़ा ले, भीड़-भाड़ में टूट जाए। पानी दो साल से नहीं गिर रहा है। गिर गया ऐसे पानी! यह एक ही बच्चा यज्ञ का अधिकारी हो सकता था। और यह एक बच्चा भी अगर पूरे प्राणों से प्रार्थना करे, तो बादल भी आ सकते हैं। क्योंकि हम सब जुड़े हैं। हम इतने अलग नहीं हैं, जितने बादल और हम दिखाई पड़ते हैं।

इस जगत में कुछ भी अलग-अलग नहीं है, सब संयुक्त है। इस जगत में दूर से दूर का तारा भी मेरे हाथों से जुड़ा है। दूर से दूर का तारा भी आपके हाथों से जुड़ा है। अनंत-अनंत दूरी पर जो है, वह भी मेरे शब्दों की ध्वनि से प्रतिध्वनित होता है। अनंत दूरी पर जो है, वह भी मेरे हृदय की झंकार से झंकृत होता है, मेरा हृदय

भी उसकी झंकार से झंकृत होता है। जीवन एक इकोलाजी है, एक परिवार है। इस बात को ख्याल में रखें, तो कृष्ण का वह सूत्र समझ में आ सकता है।

एक श्लोक और ले लें।

प्रश्नः भगवान श्री, एक छोटा-सा सवाल है। कुछ दिन पहले गुजरात में कोटिचंडी यज्ञ को आपने मूर्खतापूर्ण बताया था। इस पर दो शब्द कहें कि उसके क्या कारण थे?

वह तो मैं अभी भी कह रहा हूं। आपके कोई कोटिचंडी यज्ञ काम के नहीं हैं। क्योंकि यज्ञ करने के पीछे जो भाव, जो मनःस्थिति, जो मनुष्य चाहिए, वह मौजूद नहीं है। रिचुअल है--मुरदा, मरा हुआ। इसमें कोई अर्थ नहीं है। यज्ञ न भी करें, वह आदमी वापस लौटा लें, जो यज्ञ का अधिकारी है, तो बिना कोटिचंडी यज्ञ किए वर्षा शुरू हो सकती है। सवाल असल में कृत्य का नहीं है, सवाल गहरे में भाव का है। आप क्या करते हैं, यह सवाल नहीं है। वह करने वाला चित्त कौन है, उसका सवाल है। वह तो नहीं है। वह तो बिल्कुल नहीं है।

वे जो वहां यज्ञ की वेदी पर जो इकट्ठे हुए हैं, उनका चित्त प्रार्थनापूर्ण जरा भी नहीं है। जब यज्ञ पूरा हो जाए, तब जिन ब्राह्मणों ने यज्ञ करवाया उनके झगड़े देखिए जाकर! किसी को फीस कम मिली, किसी को दक्षिणा कम मिली; कोई नीचे बैठ गया, कोई ऊपर बैठ गया। इन लोगों ने यज्ञ करवाया है! कोई दस रुपए की फीस पर आया है रोज, कोई पंद्रह रुपए की फीस पर आया है रोज। इनके द्वारा आप बादलों तक संदेश पहुंचाएंगे?

एक मित्र हैं मेरे। कुछ दिन हुए मिलने आए थे। पूरी जिंदगी उन्होंने जैन साधु-साध्वियों को शिक्षण देने में बिताई। साधु- साध्वियों को धर्म की शिक्षा देते पूरी जिंदगी बीत गई। न मालूम कितने साधु-साध्वी उन्होंने ट्रेंड किए। मैंने उनसे पूछा कि जिंदगी हो गई, आप अब तक साधु नहीं बने? उन्होंने कहा कि मेरा काम तो सिर्फ साधु-साध्वियों को शिक्षा देने का है। सिखाते क्या हैं? सिखाते हैं साधु होना। कि साधु ठीक से कैसे होना! साधु के नियम क्या! साधु की साधना क्या! मैंने कहा, चालीस वर्ष तक दूसरों को सिखाने के बाद भी अभी तक आपको ऐसा नहीं लगा कि आप साधु हो जाएं, तो जिनको आपने सिखाया उनको लगा होगा? कैसे लगेगा? कभी नहीं लगने वाला है।

अब भी कहता हूं, आपके कोटिचंडी यज्ञ नहीं कोई काम करेंगे, क्योंकि यज्ञ करने वाली चेतना नहीं है। वह होनी चाहिए। वही है अर्थपूर्ण। और वह हो, तो पूरा जीवन ही यज्ञ हो जाता है। और वह हो, तो ये यज्ञ जो आप करते हैं, ये भी सार्थक हो सकते हैं। मैं निरंतर इनके खिलाफ बोलता हूं। कई लोगों को भ्रम पैदा हो जाता है कि शायद मैं यज्ञ के खिलाफ हूं। मैं, और यज्ञ के खिलाफ कैसे हो सकता हूं? लेकिन जिसे आप यज्ञ कह रहे हैं, वह यज्ञ ही नहीं है। वह सिर्फ पाखंड है, दिखावा है, धोखा है, व्यर्थ का जाल है। कभी सार्थक रहा होगा। लेकिन जिन लोगों की वजह से वह सार्थक था, वे लोग अब नहीं हैं। उन लोगों को पैदा करें, फिर सार्थक हो सकता है।

मैंने एक छोटी-सी कहानी सुनी है। मैंने सुना है, एक घर में छोटे बच्चे थे। बाप बूढ़ा था। बच्चे छोटे ही थे, तभी बाप मर गया। लेकिन बच्चों ने देखा था कि बाप खाना खाने के बाद, उठकर चौके में से, दीवार पर जाता था। दीवार पर एक आला था। उस आले में कुछ उठाता, कुछ करता था। बच्चे बड़े हुए, तो उन्होंने उस आले को सम्हालकर रखा। बाप कुछ करता नहीं था विशेष। आले में उसने एक सींक रख छोड़ी थी दांत साफ करने के लिए। लड़के बड़े हुए और उन्होंने देखा था कि बाप खाना खाने के बाद रोज आले पर जाता था। अब बाप की

याद में वे भी जाने लगे। उनको पता तो नहीं था कि सींक वहां रखी है, उससे दांत साफ करने। अभी उनके दांत भी इस योग्य न थे कि उन्हें साफ करने की जरूरत पड़े। तो उन्होंने सोचा, करना क्या वहां जाकर, तो वे नमस्कार कर लेते थे।

फिर बड़े हुए। फिर उन्हें बड़ा ऐसा लगा कि नमस्कार तो करते हैं, आले में कुछ है तो नहीं, सिर्फ एक सींक रखी है। पर उन्होंने सोचा कि बाप गरीब था, पैसे लड़कों ने काफी कमाए, तो उन्होंने सोचा कि हटाओ इस सींक को। उन्होंने एक चंदन की लकड़ी खुदवाकर रख ली। जब लकड़ी ही रखनी है, तो इस सींक को क्या रखना, चंदन की लकड़ी खुदवाकर रख ली।

फिर और पैसा कमाया, और बड़े हुए। फिर नया मकान बनाया, तो उन्होंने कहा, वह आला तो बनाना ही पड़ेगा। तो उन्होंने कहा, अब आला क्या बनाना, एक छोटा मंदिर ही बना लो। मंदिर बना लो। चंदन की लकड़ी छोटी पड़ी, मंदिर बड़ा हो गया, तो उन्होंने कहा, एक बड़ा स्तंभ ही बना लो। तो उन्होंने एक सोने का स्तंभ मंदिर के बीच में बनाकर रख दिया। रोज खाना खाकर उसको नमस्कार करके अपने काम पर चले जाते।

मैंने सुना है, अब भी उनके घर में वही हो रहा है। आपके घर में भी वही हो रहा है। सभी घरों में वही हो रहा है। कभी जो बातें सार्थक होती हैं, जब वे व्यक्तित्व खो जाते हैं और बोध खो जाते हैं उनके पीछे से, उनकी प्रक्रिया खो जाती है, तब कोरे रिचुअल, डेड रिचुअल, मरे हुए क्रियाकांड शेष रह जाते हैं। फिर हम उनको करते चले जाते हैं। और अगर उन क्रियाकांडों से कुछ नहीं होता, तो भी हम सजग नहीं होते। तो भी हम सजग नहीं होते कि बहुत मूल बात व्यक्तित्व, मनुष्य की चेतना है। वह चेतना वापस हो, तो यज्ञ आज भी संभव है।

लेकिन हम चेतना वापस लौटाने के लिए उत्सुक नहीं हैं, क्योंकि चेतना को वापस लौटाना कठिन काम है। हम यज्ञ करने को बिल्कुल तैयार हैं कि ले जाओ दस रुपया, कर डालो। इसमें कुछ बनता-बिगड़ता नहीं है। बहुत से बहुत दस रुपए का नुकसान होगा, करो। यज्ञ करने में उत्सुक हैं, यज्ञ की चेतना में हम उत्सुक नहीं हैं। मेरा जोर इस पर है कि वह यज्ञ करने वाली चेतना हो, तो सारा जीवन ही यज्ञ हो जाता है। फिर यह जो यज्ञ की वेदी बनती है, उस पर जो होता है, उसकी भी सार्थकता हो सकती है। वह हमेशा करने वाले आदमी पर निर्भर है, वह कभी भी की जाने वाली क्रिया पर निर्भर नहीं।

कर्म ब्रह्मोद्भवं विद्धि ब्रह्माऽक्षर समुद्भवम्।
तस्मात सर्वगतं ब्रह्म नित्यं यज्ञे प्रतिष्ठितम्।। 15।।

तथा उस कर्म को तू वेद से उत्पन्न हुआ जान और वेद अविनाशी परमात्मा से उत्पन्न हुआ है। इससे सर्वव्यापी ब्रह्म सदा ही यज्ञ में प्रतिष्ठित है।

ऐसे कर्म को तू वेद से उत्पन्न हुआ जान। कृष्ण अर्जुन को कहते हैं, ऐसे कर्म को तू वेद से उत्पन्न हुआ जान। वेद शब्द का अर्थ होता है, ज्ञान। वेद शब्द का अर्थ सिर्फ वेद के नाम से चलती हुई संहिताएं नहीं है। जिस दिन हमने यह नासमझी की कि हमने वेद को सीमित किया संहिताओं पर, चार वेद पर वेद को सीमित किया, उसी दिन भारत के भाग्य में बड़ी से बड़ी दुर्घटना हो गई। वेद है ज्ञान। और ज्ञान सतत गतिमान है, डायनेमिक है, स्टैटिक नहीं है। करोड़ों संहिताओं में भी पूरा नहीं होता ज्ञान। अरबों संहिताओं में भी पूरा नहीं होता ज्ञान। संहिताएं सब चुक जाएंगी, तो भी ज्ञान नहीं चुकता, वह अनंत है। ऐसे ज्ञान से उत्पन्न हुआ जान।

दो तरह के कर्म हैं। एक अज्ञान से उत्पन्न हुआ कर्म, जो हम करते हैं। एक ज्ञान से उत्पन्न हुआ कर्म, जिसकी कृष्ण सूचना कर रहे हैं। अज्ञान से उत्पन्न हुआ कर्म, कौन-सा कर्म है? अज्ञान से उत्पन्न हुआ कर्म वह कर्म है, जिसमें कर्ता और अहंकार मौजूद है। जिसमें हम कहते हैं, मैं कर रहा हूं, वह अज्ञान से उत्पन्न हुआ कर्म है। जिसमें मैं कहता हूं, परमात्मा कर रहा है, वह ज्ञान से उत्पन्न हुआ कर्म है। उसमें अहंकार नहीं है। यह भी समझ लें कि अहंकार और अज्ञान संयुक्त घटना है। जहां अज्ञान है, वहीं अहंकार हो सकता है। और जहां अहंकार है, वहीं अज्ञान हो सकता है। ये दोनों अलग-अलग नहीं हो सकते। ऐसा नहीं हो सकता कि अहंकार चला जाए और अज्ञान रह जाए। और ऐसा भी नहीं हो सकता कि अज्ञान चला जाए और अहंकार रह जाए। अज्ञान और अहंकार संयुक्त घटना है। ज्ञान और निरहंकार संयुक्त घटना है।

तो कृष्ण जो कह रहे हैं कि यह ज्ञान से उत्पन्न हुआ कर्म है, यज्ञरूपी कर्म, ज्ञान से उत्पन्न हुआ कर्म है। और ज्ञान परमात्मा से उत्पन्न होता है।

जो हम यह कहते हैं कि वेद परमात्मा ने रचे, यह सिम्बालिक है। कोई किताब परमात्मा नहीं रचता; रच नहीं सकता। रचने का कोई कारण नहीं है। कोई किताब परमात्मा नहीं रचता, लेकिन परमात्मा बहुत-सी चेतनाओं में उतरता है, ज्ञान बनता है। जो चेतनाएं भी अपने अहंकार को विदा करने में समर्थ हैं, परमात्मा उनमें उतर आता है। हां, वे चेतनाएं किताब लिखती हैं। इसलिए उन चेतनाओं के द्वारा लिखी गई किताब को अगर हम परमात्मा के द्वारा लिखी हुई किताब कहें, तो एक अर्थ में सही है। इसी अर्थ में सही है कि उन्होंने वही लिखा है, जो परमात्मा ने उनके भीतर उतरकर उन्हें जनाया। अपौरुषेय हैं। वे किताबों के दावेदार, लिखने वाले यह नहीं कह रहे हैं कि हम इनके लेखक हैं। वे इतना कह रहे हैं कि हम सिर्फ मीडियम हैं, माध्यम हैं; लेखक परमात्मा ही है। लेकिन जब भी किसी व्यक्ति के भीतर ज्ञान उतरता है, तो वह परमात्मा से उतरता है। ज्ञान परमात्मा का स्वभाव है, प्रकाश की भांति। अंधेरा अहंकार का स्वभाव है।

हम अहंकार से भरे हों, तो जीवन में जो भी कर्म होता है, वह कर्म अज्ञान से ही निकला हुआ कर्म है। और अज्ञान से निकले हुए कर्म की पहचान और परख क्या है? जिस कर्म से बंधन पैदा हो, जिस कर्म से दुख पैदा हो, जिस कर्म से संताप पैदा हो, जिस कर्म से पीड़ा पैदा हो, वह कर्‍म अज्ञान से निकला हुआ जानना। वह उसका लक्षण है। जिस कर्म से बंधन पैदा न हो, जिस कर्म से आनंद पैदा हो; जिस कर्म से चिंता न आए, निश्चिंतता आए; जिस कर्म में गुलामी न हो, मुक्ति हो, उस कर्म को ज्ञान से निकला हुआ कर्म जानना। और ज्ञान से वह तभी निकलेगा, जब अहंकार भीतर न हो। और जब अहंकार नहीं है, तो परमात्मा है।

अहंकार की अनुपस्थिति परमात्मा की उपस्थिति बन जाती है। जिस दिन हम मिटते हैं, उसी दिन परमात्मा हमारे भीतर प्रकट हो जाता है। जब तक हम मजबूती से बने रहते हैं, तब तक परमात्मा को जगह ही नहीं मिलती हमारे भीतर प्रवेश की।

मैं एक छोटी-सी कहानी आपसे कहूं, फिर हम अपनी बात पूरी करें। सुना है मैंने, एक झेन फकीर हुआ, बांकेई। टोकियो युनिवर्सिटी का एक प्रोफेसर उससे मिलने गया; दर्शनशास्त्र का अध्यापक था। बांकेई का नाम सुना और सुना कि सत्य उसे पता चल गया है, तो पता लगाने गया। जाकर बैठा। दोपहर थी, थका था, पहाड़ चढ़ा था, झोपड़े तक बांकेई के आते-आते पसीना झर रहा था। बैठते ही उसने पूछा कि मैं जानने आया हूं, व्हाट इ.ज ट्रुथ? सत्य क्या है? मैं जानने आया हूं, परमात्मा क्या है? व्हाट इ.ज गॉड? मैं जानने आया हूं, धर्म क्या है? व्हाट इ.ज रिलीजन?

बांकेई ने कहा, जरा धीरे, और जरा आहिस्ता। जरा बैठ जाएं, पसीना बहुत ज्यादा है माथे पर, थक गए हैं; श्वास चढ़ी है, जल्दी न करें। मैं एक कप बना लाऊं चाय का। चाय ले लें, थोड़ा विश्राम कर लें, फिर हम बात करें। और यह भी हो सकता है कि बात करने की जरूरत न पड़े, चाय पीने से ही आप जो पूछने आए हैं, उसका उत्तर भी मिल जाए।

प्रोफेसर ठनका, सोचा कि नाहक मेहनत की पहाड़ चढ़ने की। पागल है यह आदमी। कह रहा है, चाय पीने से और उत्तर मिल जाए! कोई मैंने ऐसा सवाल पूछा है कि चाय पीने से उत्तर मिल जाए? तो चाय तो हम घर ही पी लेते। घर पीते ही हैं। तो इस पहाड़ पर, इस दुपहरी में, इस श्रम को करने की जरूरत थी! निढाल होकर बैठ गया। लेकिन सोचा, अब चाय तो पी ही लें और तो कोई आशा नहीं है। चाय पीकर वापस लौट जाएं।

वह बांकेई भीतर से चाय बनाकर लाया। उसने प्रोफेसर के हाथ में कप और प्याली दी। केतली से चाय ढाली। भीतर का बर्तन पूरा भर गया, फिर भी वह चाय ढालता गया। फिर तो नीचे का बर्तन भी पूरा भर गया, फिर भी वह चाय ढालता गया। वह प्रोफेसर चिल्लाया कि रुकिए! मैं तो पहले ही समझ गया कि आपका दिमाग ठीक नहीं मालूम होता। यह चाय नीचे गिर जाएगी, अब एक बूंद चाय रखने की जगह प्याली में नहीं है!

बांकेई ने कहा, यही मैं आपसे कहना चाहता था। सत्य, परमात्मा, धर्म--एक बूंद भी जगह तुम्हारे भीतर रखने के लिए है? इतने-इतने बड़े लोगों को मेहमान बनाना चाहोगे--सत्य, परमात्मा, धर्म! जगह है? स्पेस है भीतर? लेकिन प्याली में एक बूंद जगह नहीं है, तुम्हें दिखाई पड़ता है! और तुम्हारे मन की प्याली में भी एक बूंद जगह नहीं है, यह तुम्हें दिखाई नहीं पड़ता! जाओ, जगह बनाकर आओ।

घबड़ाहट में प्रोफेसर चाय भी न पी सका। घबड़ाकर उठ गया। बात तो ठीक मालूम पड़ी। जाने लगा, सीढ़ियां उतरने लगा। सीढ़ियों पर से उसने कहा कि अच्छा, तो जब खाली कर लूंगा, तो आऊंगा। तो बांकेई खिलखिलाकर हंसने लगा। उसने कहा, पागल, जब तू खाली कर लेगा, तो परमात्मा खुद वहां आ जाएगा। तुझे यहां आने की कोई जरूरत नहीं है।

जहां अहंकार मिटा, जहां भीतर जगह खाली हुई, इनर स्पेस, वहीं ज्ञान उतर आता है, वहीं प्रभु उतर आता है।

यज्ञरूपी कर्म जो करता है, उसके भीतर ज्ञान से कर्म विकसित होते, निकलते। और ज्ञान से निकला हुआ कर्म मुक्तिदायी है।

शेष कल बात करेंगे।

पांचवां प्रवचन

पूर्व की जीवन-कलाः आश्रम प्रणाली

एवं प्रवर्तितं चक्रं नानुवर्तयतीह यः।

अघायुरिन्द्रियारामो मोघं पार्थ स जीवति।। 16।।

यस्त्वात्मरतिरेव स्यादात्मतृप्तश्च मानवः।

आत्मन्येव च संतुष्टस्तस्य कार्यं न विद्यते।। 17।।

नैव तस्य कृतेनार्थो नाकृतेनेह कश्चन।

न चास्य सर्वभूतेषु कश्चिदर्थव्यपाश्रयः।। 18।।

हे पार्थ, जो पुरुष इस लोक में इस प्रकार चलाए हुए सृष्टि-चक्र के अनुसार नहीं बर्तता है (अर्थात शास्त्र के अनुसार कर्मों को नहीं करता है), वह इंद्रियों के सुख को भोगने वाला पाप-आयु पुरुष व्यर्थ ही जीता है।

परंतु, जो मनुष्य आत्मा ही में प्रीति वाला और आत्मा ही में तृप्त तथा आत्मा में ही संतुष्ट होवे, उसके लिए कोई कर्तव्य नहीं है।

क्योंकि, इस संसार में उस पुरुष का किए जाने से भी कोई प्रयोजन नहीं है और न किए जाने से भी कोई प्रयोजन नहीं है तथा इसका संपूर्ण भूतों में कुछ भी स्वार्थ का संबंध नहीं है। तो भी उसके द्वारा केवल लोकहितार्थ कर्म किए जाते हैं।

सृष्टि के क्रम के अनुसार! कृष्ण पहली बात इस सूत्र में कह रहे हैं, सृष्टि के क्रम के अनुसार... । इसे समझ लें, तो बाकी बात भी समझ में आ सकेगी।

जीवन दो ढंग से जीया जा सकता है। एक तो सृष्टि के क्रम के प्रतिकूल--विरोध में, बगावत में, विद्रोह में। और एक सृष्टि के क्रम के अनुसार--सहज, सरल, प्रवाह में। एक तो जीवन की धारा के प्रतिकूल तैरा जा सकता है और एक धारा में बहा जा सकता है। संक्षिप्त में कहें तो ऐसा कह सकते हैं कि दो तरह के लोग हैं। एक, जो जीवन में धारा से लड़ते हैं, उलटे तैरते हैं। और एक वे, जो धारा के साथ बहते हैं, धारा के साथ एक हो जाते हैं।

सृष्टि-क्रम के अनुसार दूसरी तरह का व्यक्ति जीता है, जीवन की धारा के साथ--जीवन से लड़ता हुआ नहीं--जीवन के साथ बहता हुआ। धार्मिक व्यक्ति का वही लक्षण है। अधार्मिक व्यक्ति का उसके प्रतिकूल लक्षण है।

अधार्मिक व्यक्ति अगर कहता है कि ईश्वर नहीं है, तो इसलिए नहीं कि उसे पता चल गया है कि ईश्वर नहीं है। ईश्वर के न होने का पता तो किसी को भी नहीं चल सकता है। ईश्वर के न होने का पता तो तभी चल सकता है, जब कि कुछ भी जानने को शेष न रह जाए। जब तक कुछ भी जानने को शेष है, तब तक कोई आदमी हकदार नहीं कि कहे कि ईश्वर नहीं है। क्योंकि जो शेष है, उसमें ईश्वर हो सकता है। ईश्वर के न होने का पता इसलिए किसी को भी नहीं चल सकता है। लेकिन ढेर लोग हैं, जो कहेंगे, ईश्वर नहीं है। बिना पता चले वे क्यों कहते होंगे कि ईश्वर नहीं है?

असल में, वे चाहते हैं कि ईश्वर न हो। ईश्वर न हो, तो फिर जीवन के क्रम के साथ बहने की कोई जरूरत नहीं रह जाती। ईश्वर न हो, तो फिर जीवन से लड़ा जा सकता है। ईश्वर हो, तो जीवन से लड़ा नहीं जा सकता। ईश्वर हो, तो जीवन के साथ एक ही हुआ जा सकता है। ईश्वर नहीं है, ऐसा कोई अनुभव में किसी के कभी नहीं आता। लेकिन जो लोग जीवन से लड़ना चाहते हैं, वे ईश्वर नहीं है, ऐसा बिना माने लड़ नहीं सकते। इसलिए जीवन से लड़ने वाले सभी शास्त्र, जीवन से लड़ने वाले सभी वाद ईश्वर को इनकार करने से शुरू होते हैं।

आश्चर्यजनक लगती है कभी यह बात कि मार्क्स या एंजिल्स या लेनिन या स्टैलिन या माओ, जो लोग जीवन से लड़ने की धारणा मन में लिए हुए हैं, उनको अपने वाद का प्रारंभ, ईश्वर नहीं है, इस बात से करना पड़ता है। असल में लड़ना हो, तो ईश्वर को अस्वीकार कर देना जरूरी है। ईश्वर से लड़ा नहीं जा सकता; उससे तो सिर्फ प्रेम ही किया जा सकता है; उससे तो प्रार्थना ही की जा सकती है।

इस सूत्र में जीवन के क्रम के अनुसार का अर्थ है कि सारा जगत हमसे भिन्न नहीं है, हमसे अलग नहीं है। हम उसमें ही पैदा होते हैं और उसी में लीन हो जाते हैं। इसलिए जो व्यक्ति भी इस जगत की जीवन-धारा से लड़ता है, वह रुग्ण और डिसीज्ड हो जाता है; वह बीमार हो जाता है। जो व्यक्ति भी परिपूर्ण स्वस्थ होना चाहता है, उसे जीवन के क्रम के साथ बिल्कुल एक हो जाना चाहिए। इस जीवन के क्रम के आधार पर ही भारत ने जीवन की एक सहज धारणा विकसित की थी। वह मैं आपको कहना चाहूंगा।

वर्ण के संबंध में मैंने कुछ आपसे कहा। आज आश्रम के संबंध में कुछ आपसे कहना चाहूंगा। तभी आप समझ सकेंगे कि सृष्टि के क्रम के अनुसार का मौलिक अर्थ क्या है। और शास्त्र-सम्मत कर्म करने का अर्थ क्या है।

कृष्ण जब शास्त्र शब्द का प्रयोग करते हैं, तो वे ठीक वैसे ही करते हैं, जैसे आज हम साइंस, विज्ञान शब्द का प्रयोग करते हैं। अगर आप एलोपैथिक चिकित्सक के पास जाते हैं, तो हम कहेंगे, आप विज्ञान-सम्मत चिकित्सा करवा रहे हैं। और अगर आप किसी नीमहकीम से इलाज करवाने जाते हैं, तो हम कहेंगे, आप विज्ञान-सम्मत चिकित्सा नहीं करवा रहे हैं। कृष्ण जब भी कहते हैं शास्त्र-सम्मत, तो कृष्ण का अर्थ शास्त्र से यही है। शास्त्र का अर्थ भी गहरे में यही है। उस दिन तक जो भी जानी गई साइंस थी, उस दिन तक जो भी जाना गया विज्ञान था, उसके द्वारा जो सम्मत कर्म हैं, उस कर्म की ओर वे इशारा कर रहे हैं।

और जितना विज्ञान हम आज जानते हैं, वह एक अर्थ में आंशिक है, टोटल नहीं है, खंडित है। हम सिर्फ पदार्थ के संबंध में विज्ञान को जानते हैं, जीवन के संबंध में हमारे पास अभी कोई विज्ञान नहीं है। कृष्ण के सामने एक पूर्ण विज्ञान था। पदार्थ और जीवन को खंड-खंड में बांटने वाला नहीं, अखंड इकाई में स्वीकार करने वाला। उस विज्ञान ने जीवन को चार हिस्सों में बांट दिया था। जैसे व्यक्तियों को चार टाइप, प्रकार में बांट दिया था, ऐसे एक-एक व्यक्ति की जिंदगी को चार हिस्सों में बांट दिया था। वे हिस्से जीवन की धारा के साथ थे।

पहले हिस्से को हम कहते थे, ब्रह्मचर्य--पच्चीस वर्ष। यदि सौ वर्ष आदमी की उम्र स्वीकार करें, तो पच्चीस वर्ष का काल ब्रह्मचर्य आश्रम का था। दूसरे पच्चीस वर्ष गृहस्थ आश्रम के थे, तीसरे पच्चीस वर्ष वानप्रस्थ आश्रम के थे और चौथे पच्चीस वर्ष संन्यास आश्रम के थे। पहले पच्चीस वर्ष जीवन-प्रभात के हैं, जब कि ऊर्जा जगती है, शरीर सशक्त होता है, इंद्रियां बलशाली होती हैं, बुद्धि तेजस्वी होती है, जीवन उगता है--सुबह। इस पच्चीस वर्ष के जीवन को हमने ब्रह्मचर्य आश्रम कहा था।

इसे थोड़ा समझ लेना जरूरी है। पहले पच्चीस वर्ष संयम के। क्यों? क्योंकि जिसके पास शक्ति है, जीवन के भोग में वही उतर सकेगा। जो अशक्त है, वह जीवन के भोग से वंचित रह जाएगा। जिसके पास जितनी शरीर

संपदा, मन की संपदा है, संरक्षित शक्ति है, वह जीवन के रस में उतने ही गहरे जा सकेगा। इसलिए पहले पच्चीस वर्ष शक्ति-संचय के वर्ष हैं, जीवन की तैयारी के।

और यह बहुत मजे की बात है कि जो ठीक से भोग सकेगा, वही ठीक से त्याग को उपलब्ध होता है। कमजोर भोग नहीं पाता, इसलिए कभी त्याग को उपलब्ध नहीं हो पाता। असल में कमजोर जान ही नहीं पाता कि भोग क्या है, इसलिए उसके पार कभी नहीं हो पाता। जीवन का एक अनिवार्य नियम है, हम जिसे ठीक से जान लेते हैं, उससे मुक्त हो जाते हैं। जिसे हम ठीक से नहीं जानते, उससे हम कभी मुक्त नहीं हो पाते।

अब यह बड़ी उलटी बात मालूम पड़ेगी कि पच्चीस वर्ष तक हम व्यक्ति को ब्रह्मचर्य की साधना में से गुजारते थे, ताकि वह कामवासना से किसी दिन मुक्त हो सके। पच्चीस वर्ष हम उसे ब्रह्मचर्य साधना में रखते थे, ताकि वह पच्चीस वर्ष काम-उपभोग की गहराई में उतर सके; वह सेक्स की जो गहरी से गहरी अनुभूतियां हैं, उनमें जा सके। क्योंकि वही सेक्स के बाहर जा सकेगा, जो उसमें गहरा गया है। जो उसमें गहरा नहीं गया है, वह कभी बाहर नहीं जा सकेगा।

आज बूढ़े आदमी भी कामवासना के बाहर नहीं जा पाते हैं। क्योंकि कामवासना में जाने के लिए जितनी शक्ति की जरूरत है, वही हम कभी नहीं जुटा पाते। जितनी प्रगाढ़ और जितनी इंटेंस और तीव्र शक्ति चाहिए कि हम अनुभव कर सकें और अनुभव के बाहर जा सकें। उतनी शक्ति ही कभी इकट्ठी नहीं हो पाती। इसलिए ये पच्चीस वर्ष दोहरे अर्थ के थे।

एक तो जिन व्यक्तियों को कल संसार के अनुभव में जाना है, इंद्रियों के अनुभव में--कृष्ण इस वचन में कहते हैं, इंद्रियों का सुख भोगते हैं जो--उनके लिए भी जीवन के क्रम से ही जाना उचित है। जीवन का अगर क्रम खंडित, टूटता, केआटिक हो जाए, अराजक हो जाए, तो कोई भी जीवन के चरम शिखर को उपलब्ध नहीं होता है। इसलिए पहले पच्चीस वर्ष शक्ति के संचय के। कल फिर शक्ति के व्यय के क्षण आएंगे।

कभी आपने सोचा कि कमजोर आदमी कभी भी कामवासना से मुक्त नहीं हो पाता। जितना कमजोर, उतना काम में गिर जाता है। यह उलटी बात लगती है। लेकिन यही सच है। जितना शक्तिशाली, उतना कामवासना के शीघ्र बाहर हो जाता है। इसलिए जितने शक्तिशाली युग थे, वे कामुक युग नहीं थे। और जितने कमजोर युग होते हैं, उतने सेक्सुअल और कामुक युग होते हैं। कामवासना कमजोर करती है और कमजोरी कामवासना को बढ़ाती है। शक्ति कामवासना से मुक्त करती है और कामवासना से मुक्ति आती है, तो शक्ति बढ़ती है। ये दोनों जुड़ी हुई बातें हैं। कमजोर आदमी वासना के बाहर कभी नहीं जा पाता।

असल में कमजोर आदमी वासना में ही नहीं जा पाता, सिर्फ वासना का चिंतन करता है। सेरिब्रल, मानसिक हो जाता है उसका सारा काम। शक्ति न होने से मन में ही सोचता है। स्वस्थ युग कामवासना को कभी मन में नहीं ले जाते। अस्वस्थ युग कामवासना को मन में ले जाते हैं। जितना युग अस्वस्थ होता है, उतनी कामवासना काम के केंद्र से हटकर मस्तिष्क के केंद्र पर गतिमान हो जाती है। यह वैसा ही पागलपन है, जैसे कोई आदमी पेट में भोजन न पचाए और मस्तिष्क में पचाने की सोचने लगे। जैसे कोई आदमी पैर से न चले और मस्तिष्क में चलने की योजनाएं, कल्पनाएं और स्वप्न देखता रहे। विक्षिप्त हो जाएगा। मस्तिष्क से चला नहीं जा सकता, मस्तिष्क से सिर्फ सोचा जा सकता है। पैर से सोचा नहीं जा सकता, पैर से सिर्फ चला जा सकता है। मस्तिष्क अपना काम करे, पैर अपना काम करे। लेकिन अगर पैर कमजोर हों, तो आदमी दौड़ने के सपने देखने लगता है। अगर पेट कमजोर हो, तो आदमी भोजन की योजनाएं बनाने लगता है, भोजन नहीं करता। सेक्स कमजोर हो, सेक्स की ऊर्जा कमजोर हो, तो आदमी सेक्स का चिंतन करने लगता है।

पच्चीस वर्ष, हमारे पहले पच्चीस वर्ष हमने व्यक्ति के जीवन में शक्ति-संचय के वर्ष निर्मित किए थे। जितनी शक्ति इकट्ठी करनी है, कर लो। क्योंकि जितनी तुम्हारे पास शक्ति होगी, उतने गहरे तुम इंद्रियों के अनुभव में जा सकोगे। और जितने गहरे जाओगे, उतने इंद्रियों से मुक्त हो जाओगे। जब इंद्रियों के सब अनुभव जान लिए जाते हैं, तो आदमी जानता है, उनमें कुछ भी पाने योग्य नहीं है। बात समाप्त हो जाती है। लेकिन हम इंद्रियों के अनुभव को ही उपलब्ध नहीं हो पाते। इसलिए पढ़ते रहते हैं शास्त्र में कि इंद्रियों में कुछ भी नहीं है; और सोचते रहते हैं कि इंद्रियों में ही सब कुछ है। सुनते रहते हैं, इंद्रियां दुश्मन हैं; और मानते रहते हैं कि इंद्रियों के सिवाय और कुछ भी प्रीतिकर नहीं है। इंद्रियों के खिलाफ प्रवचन सुनते हैं, इंद्रियों के पक्ष में चित्र, फिल्म, उपन्यास, कविता देखते हैं। वही आदमी प्रवचन सुनता है इंद्रियों के विपरीत, सुखों के विपरीत; वही जाकर नाटक देखता है, वही नृत्य देखता है, वही वेश्या के घर भी दिखाई पड़ता है। क्या बात क्या हो गई है?

जीवन के क्रम के साथ व्यक्ति नहीं है। जीवन का पहला क्रम है, शक्ति-संचय। और इसमें एक दूसरी बात और ख्याल में ले लेनी जरूरी है। इस ब्रह्मचर्य के पच्चीस वर्ष के आश्रम में हमने एक दूसरी और अत्यधिक गहरी मनोवैज्ञानिक बात जोड़ी थी, जो आज नहीं कल जगत को वापस लौटा लेनी पड़ेगी, अन्यथा जगत का बचना असंभव है। और वह थी कि पच्चीस वर्ष हार्डशिप के, कठिन श्रम का समय था।

अब यह बड़े मजे की बात है कि जिस व्यक्ति का बचपन जितना ही श्रम का हो, उसकी शेष जिंदगी उतने ही सुख की होती है। और जिसका बचपन जितना सुख का हो, उसकी शेष जिंदगी उतनी ही विषाद और दुख की होती है। बचपन में जो चटाई पर सोया, बचपन में जिसने रूखी-सूखी रोटी खाई, बचपन में जिसने कुदाली चलाई, लकड़ी चीरी, गाएं चराईं, जिंदगी उसे जो भी देगी, वह इससे सदा ज्यादा होगा। और सुख सदा तुलना में है, कंपेरिजन में है। जिंदगी जो भी देगी, वह सदा इससे ज्यादा होगा।

आज हम ठीक उलटा पागलपन करते हैं। बाप को जो सुख नहीं है, वह बेटे को मिल जाता है। घर में जो सुख नहीं है, वह हास्टल में, छात्रावास में मिल जाता है। पच्चीस वर्ष बीतते हैं बिल्कुल बिना श्रम के, बिना काम के, बिना हार्डशिप के, बिना स्ट्रगल के। और पच्चीस साल के बाद जिंदगी में आता है संघर्ष, आता है श्रम। और फिर इसलिए जो भी मिलता है, वह कोई भी तृप्त नहीं कर पाता। कंपेरेटिव, जो भी मिलता है, वह सब बेकार लगता है। जो भी मिलता है, वह आशाओं के प्रतिकूल लगता है।

पच्चीस वर्ष का पहला आश्रम श्रम का, साधना का, संकल्प का आश्रम था। इसलिए जिंदगी जो भी देती थी, रूखी-सूखी रोटी भी देती थी, तो इतनी स्वादिष्ट थी, जिसका कोई हिसाब नहीं। रोटी अब उतनी स्वादिष्ट नहीं है। सच बात, रोटी तो बहुत स्वादिष्ट है, लेकिन खाने वाला स्वाद लेने की कला भूल गया है। रोटी आज दुनिया में पहले से बहुत ज्यादा स्वादिष्ट है। लेकिन स्वाद लेने वाला पहले से बहुत कमजोर है, स्वाद लेने वाला बिल्कुल बीमार है। मकान दुनिया में आज जैसे हैं, ऐसे कभी भी न थे। सम्राटों को, अकबर को और अशोक को जो मकान नहीं थे, वे आज एक साधारण आदमी को भी मिल सकते हैं, मिल गए हैं। लेकिन आज मकानों में रहने का कोई सुख नहीं है; क्योंकि रहने वाले के पास सुख को तौलने का कोई मापदंड नहीं है, सुख को अनुभव करने की कोई क्षमता नहीं है।

पच्चीस वर्ष ब्रह्मचर्य के कठिन श्रम के वर्ष थे। बाद की जिंदगी प्रतिपल पर कम श्रम की होती चली जाती थी। यह ठीक क्रम है। अधिक शक्ति जब है हाथ में, तो अधिक श्रम कर लेना चाहिए। आज बच्चे कम श्रम कर रहे हैं और बूढ़े ज्यादा श्रम कर रहे हैं। यह बिल्कुल उलटा क्रम है। बच्चों के पास शक्ति है, बूढ़ों की शक्ति क्षीण हो रही है। लेकिन बूढ़े जुते हैं बैलों की तरह और बच्चे आराम कर रहे हैं। फिर ये आराम करते बच्चे अगर युनिवर्सिटीज में

आग लगाएं, अगर ये आराम करते बच्चे पत्थर फेंकें, कांच फोड़ें, तो कुछ आश्चर्य नहीं है। इनके पास काम नहीं है। ये बिल्कुल बेकाम हैं। इन्हें कुछ काम चाहिए। इन्हें कुछ तोड़ने को चाहिए। ये जंगल की लकड़ी काट लेते थे, तब ये गुरु के झोपड़े पर पत्थर नहीं फेंकते थे। लकड़ी काटने में ही इनकी इतनी शक्ति लग जाती थी, इतने हलके हो जाते थे। अब काटने-पीटने, ठोंकने जैसा कुछ भी उनके हाथ में नहीं है, अब वे पत्थर फेंक रहे हैं।

पहला आश्रम, जब कि व्यक्ति के जीवन में प्रभात है शक्ति का, शक्ति के संचय, प्रयोग, क्षमता के विकास का समय है, विश्राम का नहीं। विश्राम का समय धीरे-धीरे आएगा। आखिरी क्षण, जिंदगी के सूर्यास्त के समय विश्राम का क्षण होगा। तो हम पचहत्तर साल के बाद आखिरी संन्यास के आश्रम में पूर्ण विश्राम की व्यवस्था किए थे--पूर्ण विश्राम। पहला पूर्ण श्रम, अंतिम पूर्ण विश्राम। बीच में दो सीढ़ियां थीं।

इस पहले को एक तरफ से और समझ लें, कि व्यक्ति का जो भी विकास है, वह करीब-करीब पच्चीस वर्ष में पूरा हो जाता है। मनोवैज्ञानिक तो कहते हैं, और जल्दी पूरा हो जाता है। इसलिए विकास इसके पहले कि पूरा हो जाए, व्यक्ति की पूरी पोटेंशियलिटी को जगा लेने की कोशिश की जानी चाहिए। इसके पहले कि विकास का क्षण बीत जाए, व्यक्ति के भीतर जो भी शक्ति छिपी है बीजरूप, वह सब वृक्षरूप बन जानी चाहिए, वह वास्तविक हो जानी चाहिए। इसलिए रत्तीभर विश्राम का मौका पच्चीस वर्ष में नहीं था। सतत श्रम था। कठोर श्रम था। अथक श्रम था। और इसके दो परिणाम होते थे। एक तो वह व्यक्ति अपनी पूरी शक्तियों को जगाकर जीवन में जाने के योग्य हो जाता। और दूसरा, इसके बाद जीवन उसे जो भी देता, वह उसके लिए संतोष और आनंद बनता।

आज की दुनिया में कोई भी चीज संतोष नहीं बन सकती। आज हमारी सारी व्यवस्था ऐसी है कि हर चीज असंतोष ही बनेगी। उसे असंतोष बनना ही पड़ेगा। क्योंकि संतोष की एक कला थी, वह जीवन के क्रम के साथ थी। जब वृक्ष पर फूल आते हैं, तभी आने चाहिए। और जब वृक्ष के पत्ते झड़ते हैं, तभी झड़ने चाहिए। जब वृक्ष बूढ़ा हो जाए, तब हमें उससे वैसी आशा नहीं रखी चाहिए, जैसे जब वृक्ष जवान था, तब हमने आशा रखी थी। आज बड़ी हैरानी की बात है कि आज जवान से हम कोई आशा ही नहीं रखते, जिससे सर्वाधिक आशा रखी जानी चाहिए।

इस ब्रह्मचर्य के काल में एक तीसरी और प्रक्रिया थी, जो आपको ख्याल दिला दूं, वह भी जीवन का हिस्सा थी। इस ब्रह्मचर्य के काल में चाहे किसी परिवार से कोई व्यक्ति आए, जीवन साम्यवादी था, कम्यून का था। गरीब का हो, अमीर का हो, सम्राट का लड़का हो, कोई भी हो, इससे कोई फर्क नहीं पड़ता था। ब्रह्मचर्य के पच्चीस वर्ष सहजीवन के वर्ष थे और समान जीवन के वर्ष थे। सम्राट का लड़का भी लकड़ियां चीरता, वह भी गाय-बैल को चराने जाता, वह भी गोबर से सफाई करता, वह भी गुरु के पैर दबाता। ये पच्चीस वर्ष कम्यून के, समानता के वर्ष थे। और इन पच्चीस वर्ष में जो भी हृदय में प्रविष्ट हो जाता है, वह जीवनभर साथ रहता है। इसलिए चाहे समाज में असमानता दिखाई पड़ती रही हो, व्यक्तियों के चित्तों में कभी असमानता नहीं थी। और समानता की कोई पागल प्यास भी नहीं थी। जिसको स्पर्धा कहें दूसरे से, वह पच्चीस वर्ष में इस अर्थों में पैदा ही नहीं हो पाती थी, क्योंकि सब समान था। इसलिए हमने एक नान-कांपिटीटिव, एक स्पर्धामुक्त, महत्वाकांक्षा-शून्य समाज के निर्माण का प्राथमिक आधार रखा था।

दूसरा आश्रम था गृहस्थ का। शायद इस पृथ्वी पर इस देश ने मनुष्य को जितनी वैज्ञानिकता से स्वीकार किया है, इतनी वैज्ञानिकता से किसी ने कभी स्वीकार नहीं किया है। अब कैसी हैरानी की बात है कि पच्चीस वर्ष

तक हम उसे ब्रह्मचर्य का पाठ देते और पच्चीस साल के बाद उसे गृहस्थ जीवन में भेज देते--विवाहित, कामवासना, इंद्रियों के सुख में प्रवेश का मौका देते।

कोई कहेगा, यह क्या पागलपन है! पच्चीस वर्ष तक जब ब्रह्मचर्य सिखाया, तो अब क्यों उसे भेज रहे हैं? ब्रह्मचर्य उसे सिखाया ही इसलिए कि अब वह तौल भी सकेगा कि आनंद ब्रह्मचर्य में है कि वासना में! और जो आनंद उसने ब्रह्मचर्य में जाना, वह आनंद वासना से कभी नहीं उसे मिल सकेगा। इसलिए वासना सिर्फ कर्तव्य रह जाएगी। इसलिए वासना कभी भोग की तृष्णा नहीं बनेगी, मात्र कर्तव्य रह जाएगी। और उसके प्राणों का पंछी निरंतर इसी आशा में रहेगा कि कब पचास वर्ष पूरे हो जाएं और मैं ब्रह्मचर्य की दुनिया में वापस लौट जाऊं। इसलिए कामवासना का जितना सुख हम सोचते हैं, इतना सुख... !

जिन लोगों के जीवन में ब्रह्मचर्य की किरण उतरी, उन्हें हैरानी होती है कि पागल हैं आप! लेकिन आपके पास तुलना का कोई उपाय भी तो नहीं है। ब्रह्मचर्य का तो कोई आनंद कभी जाना नहीं, इसलिए तौलें किससे! तौलने का कोई उपाय नहीं है। हां, एक ही उपाय है। एक आदमी एक स्त्री के साथ संबंधित होता है; नहीं सुख पाता, तो सोचता है कि शायद दूसरी स्त्री से संबंधित होने में सुख मिले। तौलने का एक ही उपाय है, इस स्त्री से नहीं मिलता, तो दूसरी से मिले; दूसरी से नहीं मिलता, तीसरी से मिले। इस पुरुष से नहीं मिलता, दूसरे पुरुष से मिले; दूसरे से नहीं मिलता, तीसरे से मिले। तौलने का और कोई उपाय नहीं है। व्यक्ति बदलो, तो शायद मिल जाए। लेकिन अवस्था बदलो, तो शायद मिल जाए, इसकी हमारे मन में कोई कल्पना पैदा नहीं होती। क्योंकि और किसी अवस्था का हमें पता ही नहीं है।

इसलिए वासना के जगत में यात्रा करने के पहले ब्रह्मचर्य का अनुभव अनिवार्य है, अन्यथा वासना मरने तक, कब्र तक नहीं छोड़ेगी पीछा। क्योंकि तुलना का कोई उपाय नहीं रह जाएगा। और ब्रह्मचर्य के सुख को, शांति को, आनंद को जिसने जाना; ब्रह्मचर्य की शक्ति को, ब्रह्मचर्य की ऊर्जा को, ब्रह्मचर्य के आह्लाद को जिसने जाना और ब्रह्मचर्य जिसके प्राणों में नृत्य किया, संगीत बजा ब्रह्मचर्य का, उसके सामने जब वासना की दुनिया आएगी, तो वह तौल सकेगा कि बहुत फीकी है। फीकी भी कहना बेकार है, उसमें कुछ बहुत स्वाद नहीं है। अत्यंत साधारण है। तब वह इसे कर्तव्य की भांति निभा पाएगा। ठीक है; जगत, परमात्मा, जीवन का क्रम, ठीक है। वह पैदा किया गया है, वह किसी को पैदा कर जाए। वह जगह भर दे। लेकिन विक्षिप्त होकर कामवासना उसे पकड़ने वाली नहीं है।

इसलिए इस देश के शास्त्र कह सके कि जो व्यक्ति संतान के लिए ही संभोग में उतरता है, वह यद्यपि पुराने अर्थ में ब्रह्मचारी नहीं रहा, लेकिन फिर भी ब्रह्मचारी है। संतान के लिए ही जो काम-संभोग में उतरता है, वह भी ब्रह्मचारी है, यह इस देश के शास्त्र कह सके। यह कह सके इसीलिए कि कामवासना के लिए सीधा कोई कामवासना में नहीं उतरता, जो एक बार ब्रह्मचर्य को जान ले। उसके लिए कामवासना सिर्फ कर्तव्य, एक ड्यूटी है, जिसे निभा देना और मुक्त हो जाना है--पच्चीस वर्ष। पचास वर्ष की उम्र में उसके बच्चे आश्रम से लौटने के योग्य होने लगेंगे। पचास वर्ष में उसके बच्चे आश्रम से लौटने के योग्य होने लगेंगे। उसके बच्चे पच्चीस वर्ष के होने के करीब आ जाएंगे।

इस देश ने एक और गहरी बात खोजी और वह यह कि एक ही घर में बाप भी संभोग करे और बेटा भी संभोग करे, यह बहुत अनैतिक है। है भी, क्योंकि बाप भी फिर बचकाना है। बेटा शादी करके आ जाए, वह बच्चे पैदा करे और बाप भी बच्चे पैदा कर रहा हो उस घर में, बहुत शर्म की बात है। बेटा क्या सोचेगा? बाप चाइल्डिश है, बाप बचकाना है, प्रा.ैढ़ नहीं है। अभी तक वासना से, काम से मुक्त नहीं हो पाया!

इसलिए इस मुल्क का एक ख्याल था कि जिस घर में बेटा विवाहित हो जाए, उसी दिन बाप समझे कि वानप्रस्थ हो गया, मां समझे कि वानप्रस्थ हो गया। वानप्रस्थ का मतलब समझते हैं? जिसका मुंह जंगल की तरफ हो गया। अभी जंगल चले नहीं जाना है। सिर्फ टुवर्ड्स दि फारेस्ट, अभी सिर्फ मुंह हो गया जंगल की तरफ--वानप्रस्थ। जंगल की तरफ प्रस्थान की तैयारी अब उसे कर लेनी है। अभी अगर वह जंगल चला जाए, तो क्रम में बाधा पड़ेगी। बच्चे अभी ब्रह्मचर्य के आश्रम से घर लौट रहे हैं। इस बाप ने पच्चीस साल में जिंदगी का जो अनुभव लिया है, वह उन बच्चों को देना जरूरी है। अन्यथा वह अनुभव उन्हें कहां से मिलेगा! इसने जिंदगी से जो जाना है, वह बच्चों को संभाल देना जरूरी है। इसने जिंदगी से जो पाया है, वह बच्चों को सौंप देना जरूरी है। घर की, ज्ञान की, अनुभव की सारी चाबियां बच्चों को दे देनी हैं। अब यह वानप्रस्थ हो जाएगा, बच्चों को देता जाएगा।

और पचहत्तर साल की उम्र में तो इसके बच्चों के बच्चे जंगल से आने शुरू हो जाएंगे। तब तक इसके बच्चे पचास साल के हो गए होंगे। अब तो वे भी वानप्रस्थ होने के करीब आ गए। अब यह उनसे नमस्कार ले लेगा और जंगल चला जाएगा। अब यह संन्यासी हो जाएगा। यह जीवन की संध्या आ गई। संसार को देखने की यात्रा पूरी हुई। सुबह हुई, दोपहर हुई, अब सांझ होने लगी। सूरज लौटने लगा अपने घर वापस। अब ये पच्चीस साल इसके प्रभु-स्मरण के हैं।

और बड़े मजे की बात, ये पच्चीस साल, ये वानप्रस्थ के बाद संन्यास के आश्रम में गया हुआ व्यक्ति ही, जो बच्चे समाज से आएंगे, उनके लिए गुरु का काम कर देगा। और जिस समाज में बूढ़े गुरु न हों, उस समाज में गुरु होते ही नहीं। आज विद्यार्थी और गुरु के बीच दो-चार साल का भी फासला होता है। कभी-कभी नहीं भी होता, और कभी-कभी विद्यार्थी भी उम्र में ज्यादा हो जाता है। अब अगर विद्यार्थी उम्र में ज्यादा हो गुरु से, तो वे संबंध निर्मित नहीं हो सकते, जो पचहत्तर साल जीवन की सारी अनुभूतियों को लिए गए आदमी के साथ छोटे बच्चों के हो सकते थे।

जीवन का शिखर था वह आदमी। उसके रोएं-रोएं में जीवन अपनी छाप छोड़ गया। उसकी श्वास-श्वास में जीवन अपना अनुभव छोड़ गया। उसकी धड़कन-धड़कन में जीवन सारी संपत्ति छोड़ गया। उसके चेहरे की झुर्री-झुर्री में जीवन की प्रौढ़ता और जीवन का सब कुछ छिपा है। जब छोटे बच्चे जंगल आते और इस पचहत्तर साल, अस्सी साल, सौ साल के बूढ़े के पास बैठते, तो स्वाभाविक था कि उनके मन में आदर और पूज्य का भाव उठता। न इस आदमी में कोई वासना होती, निर्वासना हो जाता। यह पूज्य मालूम पड़ता, यह भगवान मालूम पड़ता।

तो अगर ये बच्चे कह सके कि गुरु ब्रह्मा, तो आज के गुरु को नहीं कहा जा सकता। क्योंकि यह बिल्कुल परमात्मा जैसा ही लगता, जिसमें वासना विलीन हो गई, जिसकी कोई इच्छा न रही, जिसको चीजों पर कोई मोह न रहा; घटनाएं कुछ भी घट जाएं, जो उनको एक-सा ही लेने लगा; जिसका चित्त अनासक्त हुआ; जो सब छोड़े तो, सब बचे तो, न बचे तो, सब बराबर हो गया, ऐसे जीवन के शिखर पर बैठे हुए वृद्ध के पास अगर बच्चे अनुभव करते कि वह परमात्मा है, तो आश्चर्य तो नहीं है।

लेकिन आज का गुरु सोचे कि उसे कोई परमात्मा माने, तो वह पागल है। उसे परमात्मा मानने का कारण ही नहीं रह गया है, सारी बुनियाद गिर गई है। और हम कहते ही उसे थे कि गुरु होने के योग्य ही वही हुआ, जो सारे जीवन को जानकर आ गया, अन्यथा गुरु नहीं हो सकता था। आज जो गुरु है, वह सिर्फ इनफार्मेटिव है;

उसके पास कुछ सूचनाएं हैं, जो विद्यार्थी के पास नहीं हैं। लेकिन जहां तक जीवन का, एक्झिस्टेंस का, अस्तित्व का संबंध है, उसमें और विद्यार्थी में कोई बुनियादी फर्क नहीं है।

अक्सर ऐसा हो जाता है कि युनिवर्सिटी में लड़के भी उसी लड़की को प्रेम करने लगते हैं और शिक्षक भी। कांपिटीटिव हो जाता है। एक ही लड़की के लिए स्पर्धा हो सकती है कक्षा में। तब इस बच्चे के मन में इस गुरु के प्रति कौन-सा आदर हो सकता है? यह गुरु भी उसी पान की दुकान पर पान खाता है, यह लड़का भी उसी पान की दुकान पर पान खाता है। यह गुरु भी उसी फिल्म को देखता है, उसी की बगल में बैठकर उसका विद्यार्थी भी देखता है! और जब फिल्म में नंगा चित्र आता है, तो गुरु की भी रीढ़ सीधी हो जाती है और लड़के की भी रीढ़ सीधी हो जाती है। इन दोनों के बीच कोई जीवनगत भेद नहीं है।

लेकिन हमने सोचा यह था कि जब तक जीवनगत भेद न हो, तब तक गुरु-शिष्य का संबंध निर्मित नहीं हो सकता। गुरु-शिष्य का संबंध सिर्फ इनफार्मेटिव नहीं है, एक्झिस्टेंशियल है। और सिर्फ इस पृथ्वी के इस हिस्से पर ही हमने एक्झिस्टेंशियल, अस्तित्वगत भेद पैदा किया था, कि गुरु होना चाहिए जीवन का अस्त और विद्यार्थी होना चाहिए जीवन का उदय। इन दोनों के बीच पचास, साठ, सत्तर साल का फासला; साठ साल, सत्तर साल के अनुभव का फासला। और सिर्फ अनुभव ज्ञान नहीं देता, अनुभव वासनाओं से भी मुक्ति दिला देता है। और अनुभव, वे सब क्षुद्रताएं जो कल बड़ी महत्वपूर्ण थीं, उनका अंत बन जाता है। और अनुभव, कल तक के वे सब विकार--क्रोध, काम, लोभ--उन सबसे छुटकारा बन जाता है। और जब ऐसे व्यक्ति के पास बच्चे इकट्ठे होते, तो वे जीवन का दान लेकर वापस लौटते थे, चिर-ऋणी होकर वापस लौटते थे। यह चौथा आश्रम संन्यास का आश्रम था। शास्त्र-सम्मत ऐसी जीवन के क्रम की व्यवस्था थी।

कृष्ण कहते हैं अर्जुन से, जो इस भांति शास्त्र-सम्मत जीवन की कर्म-व्यवस्था में प्रवेश करता है, अनुकूल जीवन के बहता है, वह इंद्रियों के सुखों को तो उपलब्ध हो ही जाता है, अंततः आत्मा के आनंद को भी उपलब्ध हो जाता है। और इस जीवन के क्रम में प्रवाहित होकर अंत में जरूर वह ऐसी जगह पहुंच जाता है, जब करने और न-करने में कोई फर्क नहीं रहता अर्जुन।

क्यों, अर्जुन से कृष्ण यह क्यों कह रहे हैं? अर्जुन से वे यह कह रहे हैं कि अभी, अभी तू उस जगह नहीं है, जहां से तू संन्यस्त हो सके। अभी तू उस जगह नहीं है, जहां से संन्यास फलित हो सके। अभी तू उस जगह नहीं है जीवन के क्रम में, जहां से तू मुक्त हो सके कर्म से। अभी तुझे करने और न-करने में समानता नहीं हो सकती। अभी तू अगर न-करने को चुनेगा, तो भी चुनेगा, वह तेरी च्वाइस होगी। लेकिन एक ऐसी घड़ी भी आती है जीवन के प्रवाह में, जब करना और न-करना बराबर हो जाता है; चुनाव नहीं होता, च्वाइसलेस हो जाता है, चुनावरहित हो जाता है।

तो कृष्ण उससे यह कह रहे हैं... पहले उन्होंने जोर दिया कि तू क्षत्रिय है। वह इस मुल्क के द्वारा खोजे गए विज्ञान का एक हिस्सा था--वर्ण। और अब वे एक दूसरे विज्ञान के हिस्से पर जोर दे रहे हैं--आश्रम। वर्णाश्रम, मनुष्य के जीवन के संबंध में इस मुल्क का बड़ा से बड़ा कांट्रिब्यूशन है, बड़ा से बड़ा दान जो हम जगत को दे सके हैं, वह वर्ण और आश्रम की धारणा है।

अब वे दूसरी बात कह रहे हैं; अब वे यह कह रहे हैं कि अगर तू शास्त्र-सम्मत... । इसका यह मतलब नहीं है कि वेद में लिखा है, इसलिए। इसका कुल मतलब इतना कि उस दिन तक जितने भी समझदार लोग हुए थे, सब ने यही कहा, इसलिए। सब ने निरपवाद रूप से यही कहा, इसलिए। जो भी जाना गया है, वह इसकी सहमति देता है कि तू ऐसे जीवन के साथ बह और एक दिन वह घड़ी आएगी जिस दिन करना और न-करना

बराबर हो जाएगा। लेकिन उसे आने दे, उसके लिए दौड़-धूप मत कर। भागकर उसे नहीं पाया जा सकता। जिंदगी से बचकर तू उसे नहीं ला सकता। जिंदगी में उतर गहरा और जिंदगी को ही तुझे पार निकालने दे, जिंदगी ही तुझे पार कर दे।

पानी का एक नियम--और फिर हम दूसरा सूत्र लें--अगर कभी आप पानी में गिर गए हों और तैरना न जानते हों, या तैरना जानते हों और कभी पानी में भंवर पड़ते हैं, उसमें आप फंस गए हों, तो कृष्ण के इस सूत्र को याद रखना। यह जीवन के भंवर का सूत्र नदी के भंवर में भी काम आता है। अगर नदी के भंवर में फंस गए हैं, तो हम साधारणतः क्या करेंगे? लड़ेंगे भंवर से। लड़ेंगे कि डूबेंगे, लड़े कि डूबे। क्योंकि जितने जोर से भंवर से आप लड़ेंगे, आपकी शक्ति कम होगी, भंवर की कम नहीं होगी। और जितनी आपकी कमजोर होगी शक्ति, भंवर की ताकत उतनी ही ज्यादा हो जाएगी--तुलनात्मक, रिलेटिवली। और थोड़ी देर में आप थक गए होंगे, भंवर अपनी ताकत में होगा। उतनी ही ताकत में, जितना तब था, जब लड़ाई शुरू हुई। फिर वह आप, कमजोर आदमी को नीचे डुबा लेगा।

इसलिए जो लोग तैरने का शास्त्र जानते हैं, वे कहते हैं कि अगर भंवर में फंस जाओ, तो लड़ना मत। अपनी तरफ से भंवर में डूब जाना। भंवर के साथ ही डूब जाना। भंवर के साथ खूबी यह है कि भंवर नदी की सतह पर बड़ा होता है और नीचे छोटा होता जाता है; उसके वर्तुल छोटे होते जाते हैं नीचे। उसका स्क्रू छोटा होता जाता है नीचे। ऊपर से निकलना बहुत मुश्किल है। नीचे वह इतना छोटा हो जाता है कि उसके भीतर रहना मुश्किल है, आप एकदम बाहर हो जाते हैं। और अगर लड़े, तो बहुत मुश्किल है। अगर नहीं लड़े, उसके साथ डूब गए, तो खुद भंवर ही आपको अपने बाहर कर देता है।

जीवन का भंवर भी अगर हम उससे लड़ें, तो उलझ जाते हैं। कृष्ण कहते हैं कि जीवन का, सृष्टि का जो क्रम है, उसके साथ ही बह, जल्दी मत कर। जल्दी हो नहीं सकती; जल्दी मत कर, धैर्य से उसके साथ बह। अपने आप वह घड़ी आ जाती है--जीवन के समस्त कर्मों को करते हुए, अपने को कर्ता भर मत मान और वह घड़ी आ जाती है--जिस दिन करना और न-करना, हार और जीत, जीवन और मृत्यु, सुख और दुख सब बराबर हो जाते हैं।

तस्मादसक्तः सततं कार्यं कर्म समाचार।
असक्तो ह्याचरन्कर्म परमाप्नोति पुरुषः।। 19।।
कर्मणैव हि संसिद्धिमास्थिता जनकादयः।
लोकसंग्रहमेवापि संपश्यन्कर्तुमर्हसि।। 20।।

इससे तू अनासक्त हुआ निरंतर कर्तव्य-कर्म का अच्छी प्रकार आचरण कर, क्योंकि अनासक्त पुरुष कर्म करता हुआ परमात्मा को प्राप्त होता है।

जनकादि ज्ञानीजन भी आसक्तिरहित कर्म द्वारा ही परम सिद्धि को प्राप्त हुए हैं, इसलिए तथा लोकसंग्रह को देखता हुआ भी तू कर्म करने को ही योग्य है।

अनासक्तिपूर्वक--कृष्ण कह रहे हैं कि इस भांति तू कर्म से मत भाग; भागने की मत सोच। न तो वह संभव है, न उपादेय। संभव भी यही है, उपादेय भी यही कि तू अनासक्त कर्म में प्रवृत्त हो।

इस अनासक्त शब्द को थोड़ा समझें। साधारणतः हमारे जीवन में अनासक्त होने का कोई अनुभव नहीं होता। इसलिए यह शब्द बहुत विजातीय, फारेन है। यह हमारे अनुभव में कहीं होता नहीं। इसलिए इसे और भी ठीक से समझना पड़ेगा।

हमारे अनुभव में दो शब्द आते हैं, आसक्त और विरक्त; अनासक्त कभी नहीं आता। या तो हम किसी चीज की तरफ आकर्षित होते हैं और या किसी चीज से विकर्षित होते हैं, या तो अट्रैक्ट होते हैं या रिपेल्ड होते हैं। सुंदर हुआ कुछ, तो आकर्षित होते हैं; कुरूप हुआ कुछ, तो विकर्षित होते हैं। सुंदर हुआ, तो आसक्ति बनती है मन में पाने की। सुंदर नहीं हुआ, तो विरक्ति बनती है मन में छोड़ने की। या तो हम दौड़ते हैं किसी चीज को पाने के लिए और या हम दौड़ते हैं किसी चीज से बचने के लिए। ये दो हमारे अनुभव हैं। या तो हम किसी चीज की तरफ जाते हैं या किसी चीज की तरफ से जाते हैं। बाकी अनासक्ति बड़ी और बात है, इन दोनों से अलग।

अनासक्ति इन दोनों का मध्यबिंदु है, दि मिडिल प्वाइंट। ठीक इन दोनों के बीच में, जहां न तो अट्रैक्शन काम करता और न रिपल्सन काम करता है। बहुत अदभुत बिंदु है अनासक्ति का, जहां से न तो हम किसी चीज के लिए आतुर होकर पागल होते हैं और न आतुर होकर बचने के लिए पागल होते हैं। नहीं, जहां हम किसी चीज के प्रति कोई रुख ही नहीं लेते; जहां किसी चीज के प्रति हमारी कोई दृष्टि ही नहीं रहती; हम बस साक्षी ही होते हैं। अनासक्त का अर्थ है, विरक्त भी नहीं, आसक्त भी नहीं।

विरक्त होना बहुत आसान है, आसक्ति का ही दूसरा हिस्सा है, इसलिए। और जिस चीज में भी हमारी आसक्ति होती है, उसमें ही आज नहीं कल हमारी विरक्ति अपने आप हो जाती है। आज एक मकान में बहुत आसक्ति है, कल वह मिल जाएगा, परसों उसमें रहेंगे, दस दिन बाद भूल जाएगा, आसक्ति खो जाएगी। फिर धीरे-धीरे विरक्ति आ जाएगी। जिस दिन आपको कोई दूसरा मकान दिख जाएगा आसक्ति को पकड़ने के लिए, उसी दिन इस मकान से विरक्ति हो जाएगी। जिस चीज से भी हम आकर्षित होते हैं, किसी न किसी दिन उससे विकर्षित होते हैं। जो चीज भी हमें खींचती है, किसी दिन हम उससे हटते हैं। आकर्षण और विकर्षण, अट्रैक्शन और रिपल्सन एक ही प्रक्रिया के दो हिस्से हैं। अनासक्ति इस पूरी प्रक्रिया के पार है, ट्रांसेंडेंट है। इन दोनों प्रक्रियाओं के ऊपर, अलग, अतीत है।

अनासक्त का मतलब कि न हमें अब खींचती है चीज, न हमें हटाती है; न हमें बुलाती है, न हमें भगाती है। हम खड़े रह गए। बुद्ध ने इस अनासक्ति के लिए उपेक्षा शब्द का प्रयोग किया है। अर्थ यही है, न इस तरफ, न उस तरफ; दोनों तरफ से उपेक्षा है। न आसक्ति, न विरक्ति, दोनों तरफ से इंडिफरेंस है। न तो धन खींचता, न धन भगाता। कृष्ण ने अनासक्ति का प्रयोग किया है, महावीर ने वीतराग शब्द का प्रयोग किया है। राग, विराग, वीतराग। महावीर ने वीतराग शब्द का प्रयोग किया है, जहां न राग हो, न विराग हो, वीतराग हो। दोनों के पार हो जाए। बुद्ध कहते हैं, जहां न आकर्षण, न जहां विकर्षण; उपेक्षा हो, इंडिफरेंस हो; दोनों बराबर हो जाएं। कृष्ण कहते हैं, अनासक्ति, जहां न आसक्ति हो, न विरक्ति हो; दोनों ही न रह जाएं।

लेकिन आसक्त भी कर्म करता और विरक्त भी कर्म करता। अनासक्त क्या करेगा? आसक्त भी कर्म करता, विरक्त भी कर्म करता; यद्यपि जो कर्म आसक्त करता, विरक्त उससे उलटे कर्म करता। अगर आसक्त धन कमाने का काम करता, तो विरक्त धन छोड़ने का, त्यागने का काम करता। अगर आसक्त पदों का लोलुप होता और पदों की सीढ़ियां चढ़ने के लिए दीवाना होता, तो विरक्त पदों से भागने के लिए आतुर और उत्सुक होता, सीढ़ियां उतरने को। आसक्त और विरक्त दोनों कर्म में रत होते, लेकिन दोनों के रत होने का ढंग विपरीत होता, एक-दूसरे की तरफ पीठ किए होते। अनासक्त क्या करेगा?

अनासक्त न तो आसक्त की तरह कर्म करता और न विरक्त की तरह। अनासक्त के कर्म करने की क्वालिटी बदल जाती है। इसे समझ लें।

विरक्त का काम करने का रुख, दिशा बदल जाती है, उलटी हो जाती है। भीतरी चित्त जरा भी नहीं बदलता, कर्म की दिशा प्रतिकूल हो जाती है। अगर आसक्त सीधा खड़ा है, तो विरक्त शीर्षासन लगाकर खड़ा हो जाता है। और कोई फर्क नहीं होता, भीतर आदमी वही का वही होता है। क्वालिटी जरा भी नहीं बदलती, गुण जरा भी नहीं बदलता, भीतर आदमी वही का वही होता है।

एक आदमी है, उसके सामने रुपया ले जाओ, तो उसके मुंह में पानी आने लगता है। एक दूसरा आदमी है, उसके पास रुपया ले जाओ, तो वह आंख बंद कर लेता है और राम-राम जपने लगता है। ये दोनों एक-से आदमी हैं। रुपया दोनों के लिए सिग्नीफिकेंट है, महत्वपूर्ण है। हां, एक के लिए महत्वपूर्ण है, लार टपकती है। एक के लिए महत्वपूर्ण है, घबड़ाकर आंख बंद हो जाती है। लेकिन दोनों शीर्षासन एक-दूसरे के प्रति कर रहे हैं। लेकिन रुपए के मामले में दोनों का गुणधर्म एक है। दोनों रुपए में बहुत उत्सुक हैं--एक पक्ष में, एक विपक्ष में; एक मित्र की तरह, एक शत्रु की तरह--लेकिन रुपये के प्रति उपेक्षा नहीं है।

एक है, जो स्त्री के पीछे भागता; एक है कि स्त्री दिखी कि भागा। इन दोनों में बुनियादी गुणात्मक फर्क नहीं है। इनके कृत्य में फर्क है दिशा का। इनके चित्त में फर्क नहीं है। इनके चित्त का बिंदु, इनके चित्त का आब्जेक्ट, इनके चित्त का विषय एक ही है, वही कामवासना है। एक पक्ष में, एक विपक्ष में।

अनासक्त का गुणधर्म बदलता है। अनासक्त दोनों काम कर सकता है। जो विरक्त करता है, वह भी कर सकता है; जो आसक्त करता है, वह भी कर सकता है। लेकिन करने वाला चित्त बिल्कुल और ढंग का होता है। उस चित्त का क्या फर्क है, वह ख्याल में ले लें।

न तो आसक्त साक्षी हो सकता है, विटनेस हो सकता है, न विरक्त साक्षी हो सकता है, क्योंकि दोनों का राग है। राग शब्द आपने कभी ख्याल किया कि इसका क्या मतलब होता है? इसका मतलब होता है, रंग, कलर। राग का मतलब होता है, रंग। दोनों के चित्त रंगे हुए हैं उसी से, जिस पर उनकी नजर है। आसक्त का चित्त रंगा हुआ है रुपए से मित्र की तरह। विरक्त का चित्त रंगा हुआ है रुपए से शत्रु की तरह। अनासक्त का चित्त रंगा हुआ नहीं है। रुपया उस पर कोई प्रतिबिंब ही नहीं बनाता; रुपया उसको रंगता ही नहीं। रुपया वहां और अनासक्त यहां। उन दोनों के बीच डिस्टेंस होता है। अर्थात अनासक्त साक्षी होता है। वह देखता है कि यह स्त्री है, यह रुपया है; बात खतम हो गई। मैं मैं हूं; यह रुपया है; यह मकान है; यह स्त्री है; यह पुरुष है।

बुद्ध एक जंगल में बैठे हैं। रात है पूर्णिमा की। गांव से कुछ मनचले युवक एक वेश्या को लेकर चले आए हैं। पूर्णिमा की रात, झील का तट। उन्होंने आकर खूब शराब पी ली। उस वेश्या को नग्न कर दिया, उसके वस्त्र छिपा दिए। जब वे शराब में काफी बेहोश हो गए, तो वह वेश्या निकल भागी। लेकिन नग्न, कपड़े तो उसे मिले नहीं। जब आधी रात बीते उन्हें थोड़ा होश आया, तब उन्हें ख्याल हुआ कि हम जिसको मानकर कि है, राग-रंग कर रहे हैं, वह नदारद है। वे उस वेश्या को मानकर बातें किए जा रहे थे, गीत गाए जा रहे थे, नाचे चले जा रहे थे! आधी रात गए उन्हें पता चला कि हम बड़ी भूल में पड़े हैं, वह स्त्री तो नदारद है। वह यहां है नहीं। बड़ी मुश्किल में पड़े, अब उसे कहां खोजें! निकले।

थोड़ी ही दूर एक वृक्ष के नीचे बुद्ध बैठे हैं। रात है, पूर्णिमा का चांद है। वह देख रहे हैं चांद को। यहां तक रास्ता एक ही है, इसलिए स्त्री यहां से तो निकली ही है। तो उन्होंने जाकर हिलाया और कहा कि सुनो, एक नग्न स्त्री, सुंदर वेश्या यहां से भागती हुई गई है, जरूर तुमने देखी होगी। बुद्ध ने कहा, तुम मुझे बड़ी मुश्किल में

डालते हो, क्योंकि आदमी को वही दिखाई पड़ता है, जो वह देखना चाहता है। उन्होंने कहा, अंधे तो हो नहीं। आंख तो है ही। यहां से एक सुंदर स्त्री निकली है, हजारों की भीड़ में भी दिखाई पड़ जाए, ऐसी स्त्री है। यहां तो जंगल का सन्नाटा है।

उन्होंने कहा, कोई निकला जरूर। कोई निकला जरूर, क्योंकि मैं देखता था चांद को, तो कोई छाया बीच से गुजरी। लेकिन स्त्री थी या पुरुष था, कहना मुश्किल है। क्योंकि जब तक मेरा पुरुष बहुत आतुर था स्त्रियों के लिए, तभी तक फर्क भी कर पाता था। अब फर्क करने का कोई कारण भी तो नहीं रहा है। और सुंदर थी या असुंदर, यह तो और भी कठिन सवाल है। क्योंकि जब से अपने को जाना, तब से न कुछ सुंदर रहा, न कुछ असुंदर रहा। चीजें जैसी हैं, हैं। कुछ को लोग सुंदर कहते, कुछ को लोग असुंदर कहते। वह उनकी अपनी पसंदगियों के ढंग हैं। क्योंकि एक ही चीज को कोई सुंदर कहता है और कोई असुंदर कहता है। जब से अपनी कोई पसंदगी ही न रही, कोई नापसंदगी न रही, तो न कुछ सुंदर रहा, न कुछ असुंदर रहा।

उन्होंने कहा, हम भी कहां के पागल से उलझ गए हैं। हम खोजें। इस आदमी से कुछ सहारा न मिलेगा। बुद्ध खूब हंसने लगे और उन्होंने कहा, कब तक उसे खोजते रहोगे? अच्छा हो कि इतनी अच्छी रात है, अपने को ही खोजो। और वह मिल भी जाएगी, तो क्या मिलेगा? अपने को खोज लो, तो शायद कुछ मिल भी जाए।

पता नहीं, उन्होंने सुना या नहीं सुना! नहीं सुना होगा। आदमी बहुत बहरा है। दिखाई पड़ता है, सुनता हुआ, सुनता नहीं है। दिखाई पड़ता है, देखता हुआ, देखता नहीं है। दिखाई पड़ता है, समझता हुआ, समझता नहीं है। यह जो बुद्ध ने कहा, यह अनासक्त की चित्तदशा का गुण है। देखते हुए भी भेद नहीं करता, क्या सुंदर है, क्या असुंदर है। करते हुआ भी भेद नहीं करता, जीते हुए भी भेद नहीं करता, क्या पकडूं, क्या छोडूं! क्या लाभ है, क्या हानि है! साक्षी की तरह, एक विटनेस की तरह, एक गवाह की तरह जिंदगी में चलता है।

राम अमेरिका गए। एक जगह से निकल रहे थे, कुछ लोगों ने पत्थर फेंके और गालियां दीं। लौटकर--बहुत हंसते हुए वापस लौटे--मित्रों से कहने लगे, आज तो बड़ा मजा आ गया। राम को आज बड़ी गालियां पड़ीं! कुछ लोगों ने पत्थर भी मारे। पिटोगे, गालियां खाओगे। लोग कहने लगे, किस की बात कर रहे हैं आप! तो उन्होंने कहा, इस राम की बात कर रहा हूं। इस राम की, अपनी छाती की तरफ हाथ करके कहा, इस राम की बात कर रहा हूं। आज इन पर काफी गालियां पड़ीं, आज इन पर काफी पत्थर पड़े। लोगों ने कहा, आप पर ही पड़े न? राम ने कहा, नहीं, हम तो देखते थे। हम पर पड़े नहीं, हम देखते थे। हम साक्षी थे, हम सिर्फ गवाह थे। हमने देखा कि पड़ रहे हैं। हमने देखा कि गालियां दी जा रही हैं। तीन थे वहां--गाली देने वाले थे; जिसको गाली दी जा रही थीं, वह था; और एक और भी था, मैं भी था वहां, जो देख रहा था।

अनासक्त का यह गुणधर्म है। अनासक्त देखता है जिंदगी को; न इस तरफ भागता, न उस तरफ भागता। और परमात्मा जो ले आता है जिंदगी में, उसमें से चुपचाप साक्षी की भांति गुजर जाता है। इसलिए कृष्ण ने उल्लेख किया जनक का। और कृष्ण जब उल्लेख करें, तो सोचने जैसा है। कृष्ण ने उल्लेख किया जनक का कि जनक जैसे ज्ञानी। और अर्जुन तू तो इतना ज्ञानी नहीं है। उनका मतलब साफ है। वे यह कह रहे हैं कि तू तो इतना ज्ञानी नहीं है कि तू वैराग्य की बात करे। जनक जैसा ज्ञानी भी छोड़ने को, भागने को आतुर न हुआ! जनक जैसा ज्ञानी चुपचाप वहीं जीए चला गया, जहां था।

तो क्या था सूत्र जनक का? सूत्र था, अनासक्तियोग। सूत्र था, जहां हमें दो दिखाई पड़ते हैं, वहां तीसरा भी दिखाई पड़ने लगे, दि थर्ड फोर्स। दो तो हमें सदा दिखाई पड़ते हैं, तीसरा दिखाई नहीं पड़ता है। विरक्त को भी दो दिखाई पड़ते हैं। आसक्त को भी दो दिखाई पड़ते हैं--मैं, और वह, जिस पर मैं आसक्त हूं। विरक्त को भी

दो दिखाई पड़ते हैं--मैं, और वह, जिससे मैं विरक्त हूं। अनासक्त को तीन दिखाई पड़ते हैं--वह जो आकर्षण का केंद्र है या विकर्षण का, और वह जो आकर्षित हो रहा या विकर्षित हो रहा, और एक और भी, जो दोनों को देख रहा है।

यह जो दोनों को देख रहा है--अर्जुन से कृष्ण कहते हैं--तू इसी में प्रतिष्ठित हो जा। इसमें तेरा हित तो है ही, तेरा मंगल तो है ही, इसमें लोकमंगल भी है। क्यों, इसमें क्या लोकमंगल है? यह तो मेरी समझ में पड़ता है, आपकी भी समझ में पड़ता है कि अर्जुन का मंगल है। अनासक्त कोई हो जाए, तो जीवन के परम आनंद के द्वार खुल जाते हैं। आसक्त भी दुखी होता है, विरक्त भी दुखी होता है। आसक्त भी सुखी होता है, विरक्त भी सुखी होता है। बुद्ध ने कहा है, जिसे हम प्रेम करते हैं, वह आ जाए, तो सुख देता है; जिसे हम घृणा करते हैं, वह चला जाए, तो सुख देता है। जिसे हम घृणा करते हैं, वह आ जाए, तो दुख देता है; जिसे हम प्रेम करते हैं, वह चला जाए, तो दुख देता है। फर्क क्या है? बुद्ध ने पूछा है। दोनों ही दोनों काम करते हैं। हां, किसी के आने से सुख होता है, किसी के जाने से। किसी के जाने से सुख होता है, किसी के आने से--बस इतना ही फर्क है।

मित्र भी सुख देते हैं, मित्र भी दुख देते हैं। शत्रु भी सुख देते हैं, शत्रु भी दुख देते हैं। असल में जो भी सुख देता है, वह दुख भी देगा। और जो भी दुख देता है, वह सुख भी देगा। क्योंकि सुख और दुख एक ही सिक्के के दो पहलू हैं। जो ऊपर होता है, वह हमें दिखाई पड़ता है; जो नीचे होता है, वह छिप जाता है। थोड़ी देर बाद, जब एक पहलू से ऊब जाते हैं और उलटते हैं, तब दूसरा पहलू दिखाई पड़ता है।

लेकिन कृष्ण कह रहे हैं, तेरा तो मंगल होगा ही, लोकमंगल भी होगा। लोकमंगल क्या होगा? सबका मंगल क्या होगा?

असल में जो आसक्त हैं, वे भी; और जो विरक्त हैं, वे भी, जगत को आनंद के मार्ग पर ले जाने वाले नहीं बनते। नहीं बनते हैं दो कारणों से। एक तो जो स्वयं ही आनंद के मार्ग पर नहीं है, उसके जीवन से किसी को भी आनंद नहीं मिल सकता। क्योंकि हम वही दे सकते हैं, जो हमारे पास है। हम वह नहीं दे सकते, जो हमारे पास नहीं है। दूसरा, जो व्यक्ति जितना आसक्त या विरक्त होकर कर्म में लगता है, उतना ही तनाव, उतना ही टेंस उसका व्यक्तित्व होता है।

और ध्यान रहे, हम करीब-करीब ऐसे ही हैं, जैसे कोई पानी में एक पत्थर फेंके। झील है, एक पत्थर फेंक दिया। तो पत्थर तो झील में थोड़ी देर में नीचे बैठ जाता है तलहटी में, भूमि में बैठ जाता है। लेकिन पत्थर से उठी लहरें फैलती चली जाती हैं; दूर अनंत किनारों तक फैलती चली जाती हैं। ठीक वैसे ही, जब भी हमारे चित्त में जरा-सा तनाव उठता है, तो हम मनुष्य के जीवन के सरोवर में तरंगें पैदा करते हैं। फिर चाहे हमारा तनाव चला भी जाए, वे तरंगें फैलती चली जाती हैं। वे न मालूम कितने लोगों को स्पर्श करती हैं और न मालूम कितने लोगों के जीवन में अमंगल बन जाती हैं।

सिर्फ अनासक्त व्यक्ति के भीतर से तनाव की, चिंता की, दुख की, पीड़ा की विकृत तरंगें नहीं उठती हैं। सिर्फ अनासक्त व्यक्ति से जो तरंगें उठती हैं, वे सदा मंगलकारी हैं। इसलिए लोकमंगल है। लोकमंगल यहां बहुत ही गहरे अर्थों में कहा है।

हम चौबीस घंटे अपने चारों तरफ रेडिएट कर रहे हैं। जो भी हमारे भीतर है, वह रेडिएट हो रहा है, वह विकीर्णित हो रहा है, उसकी किरणें हमारे चारों तरफ फैल रही हैं। हर आदमी अपने चारों ओर प्रतिपल उसी तरह लहरें उठा रहा है, जैसे पत्थर फेंका गया झील में उठाता है। हम कल समाप्त हो जाएंगे। लेकिन हमारे द्वारा उठाई गई लहरें अनंत हैं; वे कभी समाप्त न होंगी; वे चलती ही रहेंगी; वे कभी दूर तारों के निवासियों को भी

छुएंगी। अब वैज्ञानिक कहते हैं, कोई पचास हजार तारों पर जीवन है। अभी तक उन्होंने कोई चार अरब तारे खोज निकाले हैं। जीवन वहां समाप्त नहीं होता मालूम पड़ता, हमारी सामर्थ्य चुक जाती है--उसके आगे, उसके आगे, उसके आगे।

एक-एक व्यक्ति से जो तरंग उठती है, वह उठती ही चली जाती है। व्यक्ति कभी का समाप्त हो जाएगा, उसके द्वारा उठाई गई तरंगें अनंतकाल तक उठती रहती हैं--अनादि, अनंत।

कृष्ण कह रहे हैं कि जो अनासक्त चित्त है, उसके भीतर जो गुण परिवर्तन होता है, उससे जो तरंगें उठती हैं, वे बिल्कुल बिना जाने, परोक्ष, चुपचाप लोगों के जीवन में मंगल की वर्षा कर जाती हैं। तो तू लोकमंगल के लिए भी अनासक्त हो जा। अपने लिए तो अनासक्त होना उचित ही है, आनंदपूर्ण ही है, औरों के लिए भी आनंदपूर्ण है। इसलिए जैसे जनक और सब जानने वालों ने जीवन से भागने की कोई चेष्टा न की, तू भी मत भाग। भागने से कभी कोई कहीं पहुंचा भी नहीं है। भागने से कभी कोई रूपांतरित भी नहीं हुआ है। भागने से कभी कोई क्रांति भी घटित नहीं होती। क्योंकि भागते केवल वे ही हैं, जो नहीं जानते हैं। जो जानते हैं, वे भागते नहीं हैं, रूपांतरित करते हैं, स्वयं को बदल डालते हैं। विरक्ति भागना है आसक्ति से।

और एक बात और इस संबंध में, फिर हम दूसरा सूत्र लें।

जो आदमी आसक्ति में जीएगा, उसके मन में सदा ही विरक्ति के ख्याल आते रहेंगे, आते ही रहेंगे। क्योंकि जिंदगी पोलर है, ध्रुवीय है। यहां हर चीज का दूसरा ध्रुव है। यहां बिजली का अगर पाजिटिव पोल है, तो निगेटिव पोल भी है। यहां अगर अंधेरा है, तो उजाला भी है। यहां अगर सर्दी है, तो गर्मी भी है। यहां अगर जन्म है, तो मृत्यु भी है। यहां जीवन में हर चीज का दूसरा विरोधी हिस्सा है। तो जो व्यक्ति आसक्ति में जीएगा, उसको जिंदगी में हजारों बार विरक्ति के दौरे पड़ते रहेंगे, उसको विरक्ति का फिट आता रहेगा। आप सबको आता है। कभी ऐसा लगता है, सब बेकार है, सब छोड़ दो। घड़ीभर बाद दौरा चला जाता है, सब सार्थक, फिर सबमें लग जाता है।

जो लोग विरक्त हो जाते हैं, उनको आसक्ति के दौरे पड़ते रहते हैं, उनको भी पड़ते रहते हैं, उनको भी फिट आते हैं। जो आश्रम में बैठ जाते हैं, उनको भी एकदम से ख्याल आ जाता है, सारी दुनिया सिनेमागृह में बैठी होगी और हम यहां बैठे हैं! जो मंदिर में बैठते हैं, उनको भी ख्याल आ जाता है कि पड़ोसी दुकान पर पहुंच गया होगा, हम यहां क्या कर रहे हैं?

जो आसक्त है, उसकी जिंदगी में विरक्ति बीच-बीच में प्रवेश करती रहेगी। जो विरक्त है, उसकी जिंदगी में आसक्ति बीच-बीच में प्रवेश करती रहेगी। असल में जिस हिस्से को हमने दबाया और छोड़ा है, वह असर्ट करता रहेगा, वह हमला करता रहेगा। वह कहेगा, मैं भी हूं, मुझे भी थोड़ा ध्यान दो। लेकिन सिर्फ अनासक्त व्यक्ति ऐसा है, जिसकी जिंदगी में दौरे नहीं पड़ते। क्योंकि न वहां विरक्ति है, न वहां आसक्ति है, इसलिए दौरे पड़ने का कोई उपाय नहीं है। दौरा विपरीत का पड़ता है। वहां अब कोई विपरीत ही नहीं है; नान-पोलर है।

अब इसको समझ लेना आप। अनासक्ति जो है, नान-पोलर है, अध्रुवीय है। इसलिए अनासक्त जो हुआ, वह ध्रुवीय जगत के बाहर हो जाता है--जहां ऋण और धन चलता है, जहां स्त्री और पुरुष चलते हैं, जहां हानि और लाभ चलता है। वे जितने द्वंद्व हैं, सब ध्रुवीय हैं, पोलर हैं। जो व्यक्ति अनासक्त हुआ, वह अद्वैत में प्रवेश कर जाता है; क्योंकि अनासक्ति नान-पोलर है।

ब्रह्म में केवल वे ही प्रवेश करते हैं, जो अनासक्त हैं। जो आसक्त हैं या विरक्त हैं, वे द्वैत में ही भटकते रहते हैं। असल में जिसने भी पक्ष लिया, विपक्ष लिया, वह पोलर में गया, वह ध्रुवीय जगत में प्रवेश कर गया; वह ब्रह्म को कभी स्पर्श नहीं कर पाता। ब्रह्म को वही स्पर्श करता है, जो दो की जगह एक में उठता है।

आसक्ति और विरक्ति दोनों से उठना पड़े। और इन दोनों से उठने की जो स्थिति है, वह कर्म में साक्षी बन जाना है।

प्रश्नः भगवान श्री, अनासक्त कर्म साधना है या सिद्धि का सहज प्रतिफलन है? इसे स्पष्ट करें।

मनुष्य के पास जितने शब्द हैं, वे सभी शब्द कुछ बताते हैं, कुछ समझाते हैं, और कुछ नासमझी भी पैदा कर देते हैं, और कुछ उलझा भी देते हैं। अब जैसे एक रास्ता है, मंजिल तक पहुंचता है। जो आदमी रास्ते पर है, वह एक अर्थ में मंजिल से जुड़ गया, क्योंकि रास्ता मंजिल से जुड़ा है। जो आदमी रास्ते पर एक कदम चला, वह मंजिल पर भी एक कदम पहुंच गया, क्योंकि रास्ता मंजिल से जुड़ा है। लेकिन एक अर्थ में अभी मंजिल पर कहां पहुंचा? अभी तो सिर्फ रास्ते पर है, अभी तो बहुत चलना है। अगर सौ कदम मंजिल दूर है, तो निन्यानबे कदम भी चल ले, तो भी रास्ते पर ही है। अभी मंजिल पर कहां पहुंचा? अभी तो रास्ते पर ही है। अभी मंजिल कहां आई? तो एक अर्थ में तो निन्यानबे कदम पर खड़ा हुआ आदमी भी रास्ते पर है, मंजिल पर नहीं है। और एक अर्थ में पहले कदम पर खड़ा हुआ आदमी भी मंजिल पर है, क्योंकि एक कदम तो मंजिल पा ही ली। एक कदम तो कम हुआ।

तो साधना और सिद्धि, रास्ते और मंजिल की तरह हैं, अनासक्ति दोनों है। जब आप शुरू करेंगे, तब वह साधना है; और जब पूर्ण होगी, तब वह सिद्धि है। जब आप शुरू करेंगे, पहला कदम रखेंगे, तब तो साधना ही है, तब तो साधना ही रहेगी वह। चूकेंगे, भूलेंगे, भटकेंगे, गिरेंगे। कभी चित्त विरक्त हो जाएगा, कभी आसक्त हो जाएगा। फिर संभलेंगे, फिर पहचानेंगे कि यह तो विरक्ति हो गई, यह तो आसक्ति हो गई।

और ध्यान रहे, आसक्ति उतना धोखा न देगी अनासक्ति का, जितना विरक्ति देती है। क्योंकि विरक्ति में ऐसा लगता है, यह तो अनासक्ति हो गई। विरक्ति जल्दी धोखा देती है। आसक्ति तो इतना धोखा नहीं देती; क्योंकि आसक्ति हमारा अनुभव है। विरक्ति अपरिचित है। तो अनेक लोग वैराग्य को ही अनासक्त-भाव समझ लेते हैं। धोखे पड़ेंगे, भूल होगी, कई दफा लगेगा कि पहुंचे-पहुंचे और एकदम फिसल जाएंगे और पाएंगे कि वहीं खड़े हैं; पोलेरिटी में वापस आ गए, ध्रुव में वापस गिर गए।

अनासक्ति का पहला कदम तो साधना ही बनेगा। साधना का मतलब, अभी आश्वस्त नहीं हुए कि पहुंच गए; चल रहे हैं। लेकिन चलना ही तो पहुंचने के लिए पहला चरण है। जो चलेगा नहीं, वह तो पहुंचेगा ही नहीं। चलना तो पड़ेगा ही। लेकिन चलना ही पहुंच जाना नहीं है। यह भी ख्याल रख लेना जरूरी है। जिस दिन चलने का अंत होगा, उस दिन पहुंचना होगा। अब इसमें बड़ी उलटी बातें कह रहा हूं मैं। जो चलेगा, वही पहुंच सकता है। जो चलता ही रहेगा, वह कभी नहीं पहुंचेगा। जो नहीं चलेगा, वह कभी नहीं पहुंचेगा और जो नहीं-चलने में पहुंच जाता है, वही पहुंच गया है। लेकिन यह बिल्कुल अलग-अलग तल पर बात है, लेवल्स अलग हैं।

नीचे खड़ा है एक आदमी सीढ़ियों के, वह भी खड़ा है। सीढ़ियां पार करके जो आदमी छत पर खड़ा हो गया है, वह भी खड़ा है। दोनों सीढ़ियों पर नहीं हैं। लेकिन एक सीढ़ियों के नीचे है, एक सीढ़ियों के ऊपर है। जो सीढ़ियों के बीच में है, वह दोनों जगह नहीं है। वह खड़ा नहीं है, वह चल रहा है। न तो वह नीचे की भूमि पर

है, न अभी ऊपर पहुंच गया है। अभी वह गिर सकता है वापस; अभी वह सीढ़ियों पर ही रुक सकता है; अभी वह पहुंच भी सकता है। सब संभावनाएं खुली हैं।

अनासक्ति का प्राथमिक कदम तो साधना का होगा, अंतिम कदम सिद्धि का होगा। लेकिन पहचान क्या होगी? जब तक आपको स्मरण रखना पड़े अनासक्ति का, तब तक साधना है; और जब स्मरण की कोई जरूरत न रह जाए, तब सिद्धि है। जब तक आपको ख्याल रखना पड़े कि अनासक्त रहना है, तब तक साधना है। जब आपको ख्याल न रखना पड़े, आप कैसे भी रहें, अनासक्ति ही पाएं, तब समझना सिद्धि है।

एक जापानी गुड्डा देखा होगा आपने; बाजार में मिलता है; उसे खरीदकर रख लेना चाहिए। दारुमा डाल्स कहलाते हैं वे गुड्डे। नीचे चौड़े होते हैं और उनके पैरों में सीसा भरा होता है। कैसे ही फेंको उसको, वह सदा पालथी मारकर बैठ जाता है सिद्धासन में। कहीं भी पटको, कुछ भी करो; वह वापस अपनी जगह बैठ जाता है। यह सिद्ध है। यह दारुमा डाल जो है न, यह सिद्ध है। इसको तुम कुछ भी करो, यह अपनी पालथी मारकर अपनी जगह बैठ जाता है।

यह दारुमा शब्द बड़ा अदभुत है। हिंदुस्तान से एक फकीर चौदह सौ साल पहले चीन गया, उसका नाम था बोधिधर्म। वह एक अनासक्त व्यक्ति था; थोड़े से फूलों में से एक, जो मनुष्य जाति में खिले। बोधिधर्म का जापानी नाम दारुमा है। बोधिधर्म को देखकर वह गुड़िया बनाई गई। क्योंकि बोधिधर्म को कुछ भी करो--सोता है, तो अनासक्त; जागता है, तो अनासक्त; कुछ भी करे, अनासक्त--उसको कहीं से पटको, कुछ भी करो, वह वापस अपनी अनासक्ति में ही रहता है। इसलिए फिर यह गुड़िया बनाई गई। यह दारुमा डाल जो है, यह एक बहुत बड़े सिद्धपुरुष के रूप में बनाई गई।

वह गुड़िया अपने घर में रखनी चाहिए। उसे लुढ़काकर देखते रहना चाहिए। वह वापस अपनी पोजीशन में आ जाती है। आप कुछ भी उपाय करें, उसकी पोजीशन नहीं मिटा सकते। जब आपको अपने भीतर ऐसा लगे, कुछ भी हो जाए--दुख आए, सुख आए, सफलता, असफलता, कोई जीए, कोई मरे, तूफान टूट जाए, बैंक्रप्ट हो जाएं, दिवालिया हो जाएं, मौत आ जाए--कुछ भी हो जाए, आपके भीतर का दारुमा डाल जो है, आपकी चेतना जो है, वह हमेशा सिद्धासन लगाकर बैठी रहती है, उसमें कोई फर्क नहीं पड़ता है, तब आप जानना कि सिद्धि हो गई है। जब तक ऐसा न हो जाए, जब तक स्मरण रखना पड़े, जब तक होश रखना पड़े, और अगर होश चूके, तो या तो आसक्ति आ जाए या विरक्ति आ जाए, तब तक जानना कि साधना है।

यद्यदाचरति श्रेष्ठस्तत्तदेवेतरो जनः।
स यत्प्रमाणं कुरुते लोकस्तदनुवर्तते।। 21।।

श्रेष्ठ पुरुष जो-जो आचरण करता है, अन्य पुरुष भी उस-उस के ही अनुसार बर्तते हैं। वह पुरुष जो कुछ प्रमाण कर देता है, लोग भी उसके अनुसार बर्तते हैं।

अंतिम श्लोक की बात और कर लें; बहुत कीमती बात इसमें कृष्ण ने कही है। मनुष्य के चित्त का एक बहुत बुनियादी लक्षण इमिटेशन है, नकल है। सौ में से निन्यानबे आदमी आथेंटिक नहीं होते, प्रामाणिक नहीं होते, इमिटेटिव होते हैं, सिर्फ नकल कर रहे होते हैं। सौ में से निन्यानबे लोग वही नहीं होते, जो उन्हें होना चाहिए; वही होते हैं, जो वे अपने चारों तरफ लोगों को देखते हैं कि लोग हैं। छोटे बच्चे नकल करते हैं, अनुकरण करते हैं; सब कुछ नकल से ही छोटे बच्चे सीखते हैं। लेकिन हममें से बहुत कम लोग हैं, जो छोटे बच्चों की सीमा पार कर

पाते हैं। हममें से अधिक लोग जीवनभर ही छोटे बच्चे रह जाते हैं। हम सिर्फ नकल ही करते हैं। हम देख लेते हैं, वही करने लगते हैं।

अगर आज से हम हजार साल पहले भारत के गांव में जाते, तो बच्चे ओंकार की ध्वनि करते मिलते। ऐसा नहीं कि बच्चे कोई बहुत पवित्र थे। अभी उसी गांव में जाएं, बच्चे फिल्मी गाना गाते मिलते हैं। ऐसा नहीं कि बच्चे अपवित्र हो गए हैं। नहीं, बच्चे तो वही करते हैं, जो चारों तरफ हो रहा है। जो बच्चे ओंकार की ध्वनि कर रहे थे, वे कोई बहुत पवित्र थे, ऐसा नहीं है। लेकिन ओंकार की ध्वनि से पवित्रता के आने का द्वार खुलता था। और जो बच्चे फिल्म का गीत गा रहे हैं, वे कोई अपवित्र हैं, ऐसा नहीं है। लेकिन फिल्म के गीत से पवित्रता का द्वार बंद होता है। लेकिन वे तो इमिटेट कर रहे हैं।

बच्चों की तो बात छोड़ दें। हम जानते हैं कि बच्चे तो नकल करेंगे, लेकिन कभी आपने सोचा कि आप इस उम्र तक भी नकल ही किए जा रहे हैं। हम कपड़े वैसे पहन लेते हैं, जैसे दूसरे लोग पहने हैं। हम मकान वैसा बना लेते हैं, जैसा दूसरे लोगों ने बनाया है। हम पर्दे वैसे लटका लेते हैं, जैसा पड़ोसियों ने लटकाया है। हम कार वैसी खरीद लेते हैं, जैसी पड़ोसी लोग खरीदते हैं। अमेरिका में तो कारों की वजह से मुहल्ले तक जाने जाते हैं। क्योंकि एक मुहल्ले में लोग एक-सी ही कारें खरीद लेते हैं, तो शेवरलेट नेबरहुड हो जाती है, शेवरलेट वालों का मुहल्ला। आदमी एक-दूसरे को देखकर करने लगता है।

तो कृष्ण एक और गहरी बात इसमें कह रहे हैं। वे अर्जुन से कह रहे हैं कि तू उन पुरुषों में से है, जिन पर लाखों लोगों की नजर होती है। तू जो करेगा, वही वे लोग भी करेंगे। अगर तू जीवन से भाग गया, तो वे भी भाग जाएंगे। और हो सकता है कि तेरे लिए जीवन से भागना बड़ा प्रामाणिक हो, तो भी वे लाखों लोग बिल्कुल गैर-प्रामाणिक ढंग से जीवन से भाग जाएंगे।

जब बुद्ध ने संन्यास लिया, तो बुद्ध का संन्यास तो बहुत आथेंटिक है। बुद्ध का संन्यास तो उनके प्राणों की पूरी की पूरी प्यास और पुकार है। लेकिन लाखों लोग बुद्ध के पीछे संन्यासी हुए। उतने लाखों लोग बुद्ध की हैसियत के नहीं हैं। महावीर ने जब संन्यास लिया, तो महावीर तो, महावीर के लिए संन्यास नियति है, डेस्टिनी है; उससे अन्यथा नहीं हो सकता। लेकिन महावीर के पीछे लाखों लोग संन्यासी हुए। वे सारे लाखों लोग महावीर की हैसियत के नहीं हैं।

लेकिन फिर भी मैं कहूंगा कि अगर नकल ही करनी है, तो फिल्म स्टार की बजाय संन्यासी की ही करनी बेहतर है--अगर नकल ही करनी है। और नकल ही करनी है, तो फिर बेहतर है कि महावीर की नकल ही हो जाए। क्यों? क्योंकि अच्छे की नकल शायद कभी स्वयं के अच्छे का द्वार भी बन जाए। जैसे कि बुरे की नकल निश्चय ही कभी बुरे के आगमन का द्वार बन जाती है।

मैं बुरे के लिए निश्चित कहता हूं और अच्छे के लिए शायद कहता हूं। क्यों? क्योंकि अच्छा चढ़ाई है और बुरा ढलान है। ढलान बहुत निश्चित बन जाती है। उसमें कुछ भी नहीं करना पड़ता; सिर्फ छोड़ दिया और उतर जाते हैं। चढ़ाई पर कुछ करना पड़ता है श्रम। लेकिन अगर नकल में भी चढ़े, अगर कोई कैलाश पर किसी के पीछे नकल में भी चढ़ गया, तो भी कैलाश पर तो पहुंच ही जाएगा। और कैलाश पर पहुंचकर जो घटित होगा, वह सारी नकलें तोड़ देगा और उसके प्रामाणिक व्यक्तित्व के भी प्रकट होने का क्षण आ सकता है।

कृष्ण यह कह रहे हैं कि और हजारों-लाखों लोग अर्जुन, तुझे देखकर जीते हैं। अर्जुन साधारण व्यक्ति नहीं है। अर्जुन असाधारण व्यक्तियों में से है। उस सदी के असाधारण लोगों में से है। अर्जुन को लोग देखेंगे। अर्जुन जो करेगा, वह अनेकों के लिए प्रमाण हो जाएगा। अर्जुन जैसा जीएगा, वैसा करोड़ों के लिए अनुकरणीय हो

जाएगा। तो कृष्ण कहते हैं, तुझे देखकर जो लाखों लोग जीते हैं, अगर तू भागता है, वे भी जीवन से भाग जाएंगे। अगर तू पलायन करता है, वे भी पलायन कर जाएंगे। अगर तू विरक्त होता है, वे भी विरक्त हो जाएंगे।

तो अर्जुन, उचित ही है कि तू अनासक्त हो जा, तो शायद उनमें भी अनासक्ति का ख्याल पहुंचे। तेरी अनासक्ति की सुगंध उनके भी नासापुटों को पकड़ ले। तेरी अनासक्ति का संगीत, हो सकता है, उनके भी हृदय के किसी कोने की वीणा को झंकृत कर दे। तेरी अनासक्ति का आनंद, हो सकता है, उनके भीतर भी अनासक्ति के फूल के खिलने की संभावना बन जाए। तो तू उन पर ध्यान रख। यह सिर्फ तेरा ही सवाल नहीं है। क्योंकि तू सामान्यजन नहीं है, तू असामान्य है; तुझे देखकर न मालूम कितने लोग चलते, उठते और बैठते हैं। तू उनका भी ख्याल कर। और अगर तू अनासक्त हो सके, तो उन सबके लिए भी तेरा जीवन मंगलदायी हो सकता है।

इस संबंध में दो बातें अंत में आपसे और कहूं। इधर पिछले पचास-साठ वर्षों में पश्चिम के मनोवैज्ञानिकों ने कुछ इस तरह की भ्रांति पैदा की--उनको भी अब भ्रांति मालूम पड़ने लगी--जिसमें उन्होंने मां-बाप को, शिक्षकों को, सबको समझाया कि बच्चों को इमिटेशन से बचाओ। यह बात थोड़ी दूर तक सच थी। और थोड़ी दूर तक जो बातें सच होती हैं, कभी-कभी खतरनाक होती हैं, क्योंकि थोड़ी दूर के बाद वे सच नहीं होतीं। इसमें थोड़ी दूर तक बात सच थी कि बच्चों को हम ढालें न, उनको पैटर्नाइज न करें। उनको ऐसा न करें कि एक ढांचा दे दें और जबर्दस्ती ढालकर रख दें। तो पश्चिम के मनोवैज्ञानिकों ने बहुत जोर से जोर दिया कि बच्चों को ढालो मत; बच्चों को कोई दिशा मत दो; बच्चों को कोई डिसिप्लिन, कोई अनुशासन मत दो; क्योंकि उससे बच्चों की आत्मा का जो प्रामाणिक रूप है, वह प्रकट नहीं हो सकेगा। बच्चे इमिटेटिव हो जाएंगे।

कृष्णमूर्ति ने भी इस पर भारी जोर दिया। लेकिन यह बात थोड़ी दूर तक ही सच है। क्योंकि अगर बच्चे न ढाले जाएं, तो भी बच्चे ढलते हैं। हां, तब बाप नहीं ढालता, तब सड़क की होटल ढाल देती है; तब मां नहीं ढालती, लेकिन फिल्म अभिनेत्री ढाल देती है; तब गीता नहीं ढालती, लेकिन सुबह का अखबार ढाल देता है। और हम किसी बच्चे को जिंदगी के सारे इंप्रेशन से, प्रभावों से मुक्त कैसे रख सकते हैं? पचास साल में मनोवैज्ञानिकों ने जो कहा, तो सारी दुनिया के मां-बाप, कम से कम शिक्षित मां-बाप, बहुत डर गए। जितनी जिस मुल्क में शिक्षा बढ़ी, मां-बाप बहुत डर गए।

एक जमाना था कि बच्चे घर में घुसते थे, तो डरते हुए घुसते थे। आज अमेरिका में बाप घर में घुसता है, तो बच्चों से डरा हुआ घुसता है कि कोई मनोवैज्ञानिक भूल न हो जाए; कि कहीं बच्चा बिगड़ न जाए, न्यूरोटिक न हो जाए, कहीं पागल न हो जाए, कहीं दिमाग खराब न हो जाए, कहीं कुछ गड़बड़ न हो जाए, तो बाप डरा हुआ घुसता है घर में! मां डरती है अपने बच्चों से कुछ कहने में कि कहीं कोई ऐसी चीज न पैदा हो जाए कि कांप्लेक्स पैदा हो जाए दिमाग में, गं्रथि हो जाए; कहीं बीमार न हो जाए। सब डरे हुए हैं।

लेकिन इससे हुआ क्या? अठारहवीं सदी और उन्नीसवीं सदी में जो बच्चे थे, उनसे बेहतर बच्चे हम पैदा नहीं कर पाए। बच्चे तो ढाले ही गए, लेकिन मां-बाप जो कि बहुत प्रेम से ढालते, मां-बाप जो कि बहुत केअर और कंसर्न से ढालते, उन्होंने नहीं ढाला। लेकिन बाजार ढाल रहा है उनको, अखबार ढाल रहे हैं, पत्रिकाएं ढाल रही हैं, डिटेक्टिव्स ढाल रहे हैं, फिल्में ढाल रही हैं।

सारी दुनिया, आज दुनिया का बाजार, एक जमाना था कि नब्बे प्रतिशत स्त्रियों से चलता था। आज दुनिया का बाजार पचास प्रतिशत बच्चों से चल रहा है। और बच्चों को परसुएड किया जा रहा है। क्योंकि कोई भी नई चीज पकड़ानी है, तो पिता को पकड़ाना जरा मुश्किल पड़ती है; बच्चे को पकड़ाना आसान पड़ती है; वह जल्दी पकड़ लेता है। और उसके घर में कोई शिष्ट, कोई अनुशासन नहीं है, इसलिए वह बाहर से जो भी सीखने

मिलता है, उसे सीख लेता है। अगर आज सारी दुनिया में बच्चे बगावती हैं, तो उसका कुल कारण इतना है--केआटिक हैं, अराजक हैं, तो उसका कुल कारण इतना है--कि हम उनके लिए कोई भी आधार, कोई भी अनुशासन, कोई भी दृष्टि, कोई भी दिशा देने में समर्थ नहीं रहे हैं। और मां-बाप डरते हैं कि कहीं बच्चे उनकी नकल न करने लगें।

लेकिन बच्चे नकल करेंगे ही। कभी लाख में एकाध बच्चा होता है, जो नकल नहीं करता और खुद जीता है। लेकिन वह कभी होता है, वह अपवाद है; उसका कोई हिसाब नहीं रखा जा सकता। अधिकतर बच्चे तो नकल करके ही जीएंगे। बाप डरता है कि कहीं मेरी नकल न कर ले। मां डरती है कि लड़की कहीं मेरी नकल न कर ले, नहीं तो बिगड़ जाए, क्योंकि सारा मनोविज्ञान कह रहा है कि बिगाड़ मत देना। और मजा यह है कि वे बच्चे तो नकल करेंगे ही। तब वे किसी की भी नकल करते हैं। और वह नकल जो परिणाम ला रही है, वह हमारे सामने है।

कृष्ण ने जब यह कहा अर्जुन से, तो उस कहने का प्रयोजन इतना ही है कि तेरे ऊपर न मालूम कितने लोगों की आंखें हैं। तू ऐसा कुछ कर, तू कुछ ऐसा जी कि उनकी जिंदगी में तेरा अनुशासन, मार्ग, प्रकाश, ज्योति बन सके। उनका जीवन तेरे कारण अंधकारपूर्ण न हो जाए। इससे लोकमंगल सिद्ध होता है।

शेष कल बात करेंगे।

छठवां प्रवचन

वर्ण व्यवस्था की वैज्ञानिक पुनर्स्थापना

न मे पार्थास्ति कर्तव्यं त्रिषु लोकेषु किंचन।

नानवाप्तमवाप्तव्यं वर्त एव च कर्मणि।। 22।।

यदि ह्यहं न वर्तेयं जातु कर्मण्यतन्द्रितः।

मम वर्त्मानुवर्तन्ते मनुष्याः पार्थ सर्वशः।। 23।।

उत्सीदेयुरिमे लोका न कुर्यां कर्म चेदहम्।

संकरस्य च कर्ता स्यामुपहन्यामिमाः प्रजाः।। 24।।

इसलिए हे अर्जुन, यद्यपि मुझे तीनों लोकों में कुछ भी कर्तव्य नहीं है तथा किंचित भी प्राप्त होने योग्य वस्तु अप्राप्त नहीं है, तो भी मैं कर्म में ही बर्तता हूं। क्योंकि यदि मैं सावधान हुआ कर्म में न बर्तूं, तो हे अर्जुन, सब प्रकार से मनुष्य मेरे बर्ताव के अनुसार बर्तने लग जाएं। तथा यदि मैं कर्म न करूं, तो ये सब लोग भ्रष्ट हो जाएं और मैं वर्णसंकर का करने वाला होऊं तथा इस सारी प्रजा का हनन करूं अर्थात इनको मारने वाला बनूं।

सनाई के पर्वत पर मोजेज को परमात्मा का दर्शन हुआ और उस दर्शन में परमात्मा के दस आदेश, टेन कमांडमेंट्स भी मिले। फिर मोजेज सनाई के पर्वत से नीचे उतरे। लेकिन जब वे पर्वत पर गए थे, तो मोजेज थे; और जब पर्वत से नीचे उतरे, तो परमात्मा हो गए। पर्वत से नीचे आकर उन्होंने अपने लोगों से जो वचन कहा, यहूदी इतिहास में वह सदा ही विचारणीय बना रहा। मोजेज ने नीचे उतरकर लोगों से कहा कि नाउ आई गिव यू दि ला, मैं तुम्हें धर्म देता हूं। परमात्मा और मूसा एक हो गए, मोजेज एक हो गए। जिसने भी परमात्मा को जाना, वह परमात्मा से एक हो जाता है। मोजेज को कहना चाहिए था, परमात्मा के मुझे दर्शन हुए; उन्होंने मुझे धर्म का नियम दिया, वह मैं परमात्मा की तरफ से तुम्हें देता हूं। लेकिन मोजेज ने कहा, मैं तुम्हें धर्म देता हूं।

एक हसीद फकीर से उसके शिष्य पूछ रहे थे कि मोजेज का ऐसा कहना अनुचित नहीं है क्या? क्या यह अनधिकारपूर्ण नहीं है? क्या मोजेज का इस तरह का वक्तव्य अहंकार से भरा हुआ नहीं है?

तो उस हसीद फकीर ने एक छोटी-सी कहानी कही, वह मैं आपसे कहना चाहूं।

उस हसीद फकीर ने कहा, एक बहुत बड़ा व्यापारी, एक बहुत बड़ा व्यवसायी तीर्थयात्रा को जाना चाहता था। दूर था उसका तीर्थ, संभावना वर्षों के लग जाने की थी। अकेला था घर में। उसके बड़े व्यवसाय को संभालने वाला कोई भी न था। उसने एक आदमी को नौकर की तरह नियुक्त किया। नौकर के हाथ में सारा कारोबार सौंप दिया और खुद दुकान के पीछे के कमरे में बैठने लगा।

एक वर्ष बीत गया, लेकिन उसे ऐसा नहीं लगा कि अभी तीर्थयात्रा पर जाने का समय परिपक्व हुआ है। अनेक बार वह पीछे के कमरे में से बैठा हुआ नौकर की बातचीत ग्राहकों से सुनता। नौकर अक्सर कहता, दि मास्टर विल नाट गिव यू दिस थिंग एट दिस प्राइस, मालिक इस कीमत पर चीज नहीं देगा। दूसरा वर्ष शुरू हो गया। वह पीछे के कमरे में ही रहता और फिर नौकर को सुनता रहता। लेकिन दूसरे वर्ष उसे थोड़ी आशा बंधी। नौकर ने ग्राहकों से कहना शुरू कर दिया, वी विल नाट गिव यू दिस थिंग एट दिस प्राइस, हम इस कीमत

पर चीज नहीं दे सकते। लेकिन तब भी मालिक ने सोचा कि अभी ठीक समय नहीं आया कि मैं यात्रा पर निकल जाऊं। तीसरा वर्ष लग गया। और एक दिन मालिक को लगा कि ठीक समय आ गया, क्योंकि नौकर ने ग्राहकों से कहा, आई विल नाट गिव यू दिस थिंग एट दिस प्राइस, मैं तुम्हें इस कीमत पर चीज नहीं दूंगा। मालिक ने अपनी पत्नी से कहा कि अब बेफिक्र रहो। अब मैं यात्रा पर जा सकता हूं। अब नौकर में और मुझमें कोई फासला नहीं रहा। अब हमारे बीच की दीवाल टूट गई है। अब नौकर मेरी वाणी बोल रहा है। अब मैं ही बोल रहा हूं। अब बेफिक्र हुआ जा सकता है।

उस हसीद फकीर ने यह छोटी-सी कहानी कही थी, यह आपसे मैं कहता हूं, इस सूत्र को समझाने के पहले।

कृष्ण जब ऐसा कहते हैं कि मुझे अब कुछ भी ऐसा नहीं है जो पाने योग्य हो, क्योंकि मैंने सब पा लिया; अब कुछ भी ऐसा नहीं है जो मेरे लिए करने योग्य हो, क्योंकि सब किया जा चुका; जो पाना था, वह पा लिया गया; जो करना था, वह कर लिया गया; अब कर्म मेरे लिए कर्तव्य नहीं है; तो यहां कृष्ण नहीं बोल रहे हैं, परमात्मा ही बोल रहा है। और इतने साहस से सिर्फ वही बोल सकता है, जो परमात्मा के साथ बिल्कुल एक हो गया है।

राम इतने साहस से नहीं बोलते। इसलिए राम को हम पूर्ण अवतार नहीं कह सके। कृष्ण ही इस साहस से बोलते हैं। और इतना बड़ा साहस सिर्फ निरहंकारी को ही उपलब्ध होता है। अहंकारी तो सदा भयभीत रहता है। सच तो यह है कि भय को हम अपने अहंकार से छिपाए रखते हैं। अहंकारी सदा डांवाडोल रहता है। लेकिन कृष्ण जब बोलते हैं, तो वे यह कह रहे हैं कि मैं, कुछ भी करने योग्य नहीं है, फिर भी किए चला जाता हूं; और कुछ भी पाने योग्य नहीं है, फिर भी दौड़ता हूं और चलता हूं। क्यों? इसलिए कि चारों ओर जो लोग हैं, मैं चाहूं तो सब छोड़ सकता हूं करना, मैं चाहूं तो सब छोड़ सकता हूं पाना; लेकिन तब मुझे देखकर वे बहुत से लोग, जिन्हें अभी पाने को बहुत कुछ शेष है, पाना छोड़ देंगे; और जिन्हें अभी करने को बहुत कुछ शेष है, करना छोड़ देंगे।

इस बात को थोड़ा गहरे देखना जरूरी है। असल में जिसे अभी परमात्मा नहीं मिला, उसे बहुत कुछ पाने को शेष है। सच तो यह है कि जिसे परमात्मा नहीं मिला, उसे सभी कुछ पाने को शेष है। उसने अभी जो भी पाया है, उसका कोई भी मूल्य नहीं है। और जिसे अभी मुक्ति नहीं मिली और जिसने आत्मा की स्वतंत्रता को अनुभव नहीं किया, अभी उसे बहुत कुछ करने को शेष है। असल में अभी तक उसने जो कुछ भी किया है, उससे वह कहीं भी नहीं पहुंचा है। लेकिन कृष्ण जैसा व्यक्ति, जिसके पाने की यात्रा पूरी हुई, करने की यात्रा पूरी हुई, जो मंजिल पर खड़ा है, अगर वह भी बैठ जाए, तो हम रास्तों पर ही बैठ जाएंगे।

हम तो बैठना ही चाहते हैं। हम तो उत्सुक हैं कि बैठने के लिए बहाना मिल जाए। हम तो आतुर हैं कि हमें कोई कारण मिल जाए और हम यात्रा बंद कर दें। हम यात्रा बड़े बेमन से कर रहे हैं। हम चल भी रहे हैं तो ऐसे जैसे कि बोझ की भांति चलाए जा रहे हैं। जिंदगी हमारी कोई मौज का गीत नहीं, और जिंदगी हमारा कोई नृत्य नहीं है। जिंदगी हमारी वैसी है, जैसे बैल चलते हैं गाड़ी में जुते हुए, ऐसे हम जिंदगी में जुते हुए चलते हैं। हम तो कभी भी आतुर हैं कि मौका मिले और हम रुकें।

लेकिन अगर हम रुक जाएं, तो हम परमात्मा को पाने से ही रुक जाएंगे। क्योंकि अभी जो पाने योग्य है, वह पाया नहीं गया; अभी जो जानने योग्य है, वह जाना नहीं गया। और जानने योग्य क्या है? जानने योग्य वही है, जिसको जान लेने के बाद फिर कुछ जानने को शेष नहीं रह जाता है। और पाने योग्य क्या है? पाने

योग्य वही है कि जिसको पा लेने के बाद फिर पाने की आकांक्षा ही तिरोहित हो जाती है। मंजिल वही है, जिसके आगे फिर कोई रास्ता ही नहीं होता। जिस मंजिल के आगे रास्ता है, वह मंजिल नहीं है, पड़ाव है।

हम तो अभी पड़ाव पर भी नहीं हैं, रास्तों पर हैं। शायद ठीक रास्तों पर भी नहीं हैं, गलत रास्तों पर हैं। ऐसे रास्तों पर हैं, जिन पर अगर हम बैठ गए, जिन पर अगर हम रुक गए, जिन पर अगर हम ठहर गए, तो हम पदार्थ के ही घेरे में बंद रह जाएंगे और परमात्मा के प्रकाश को कभी उपलब्ध न हो पाएंगे।

इसलिए कृष्ण कहते हैं, मैं जिसे कि सब कुछ मिल गया, मैं जिसने कि सब कुछ पा लिया, जिसके लिए अब कोई आकांक्षा शेष नहीं रही, जिसके लिए अब कोई भविष्य नहीं है... । ख्याल रहे, भविष्य निर्मित होता है आकांक्षाओं से, कल निर्मित होता है वासनाओं से। कल हम निर्माण करते हैं इसलिए कि आज बहुत कुछ है, जो पाने को शेष रह गया। कृष्ण जैसे व्यक्ति के लिए कोई भविष्य नहीं है। सब कुछ अभी है, यहीं है। रुक जाना चाहिए।

लेकिन बड़े मजे की बात है, कृष्ण जैसा व्यक्ति नहीं रुकता और हम रुक जाते हैं! जिन्हें नहीं रुकना चाहिए, वे रुक जाते हैं; जिसे रुक जाना चाहिए, वह नहीं रुकता है। हम नासमझ रुकने वालों के लिए, ठहर जाने वालों के लिए, पड़ाव को मंजिल, गलत रास्ते को सही रास्ता समझ लेने वालों के लिए कृष्ण जैसे व्यक्ति को करुणा से ही चलते रहना पड़ता है।

इसलिए कृष्ण कह रहे हैं अर्जुन से कि तू रुकेगा, तू ठहरेगा, तो खतरनाक है। खतरनाक दो कारणों से है। खुद अर्जुन के लिए भी खतरनाक है। अर्जुन भी अभी वहां नहीं पहुंच गया है, जो मंजिल है। अभी श्रम अपेक्षित है। अभी संकल्प की जरूरत है। अभी साधना आवश्यक है। अभी कदम उठाने हैं, सीढ़ियां चढ़नी हैं। अभी मंदिर आ नहीं गया और प्रतिमा दूर है। अर्जुन के लिए भी रुक जाना खतरनाक है। और अर्जुन के लिए खतरनाक है ही, पर वह एक ही व्यक्ति के लिए खतरनाक है। अर्जुन को देखकर पीछे चलने वाले बहुत से लोग रुक जाएंगे। जब अर्जुन जैसा व्यक्ति रुके, तो वे रुक जाएंगे।

कृष्ण की सारी सक्रियता करुणा है। करुणा उन पर, जो अभी अपनी मंजिल पर नहीं पहुंच गए हैं। उनके लिए कृष्ण दौड़ते रहेंगे कि उनमें भी गति आती रहे। उनके लिए कृष्ण खोजते रहेंगे उसको, जिसे उन्होंने पा ही लिया है, ताकि वे भी खोज में लगे रहें। उनके लिए कृष्ण श्रम करते रहेंगे उसके लिए, जो कि उनके हाथ में है, ताकि वे भी श्रम करते रहें, जिनके कि हाथ में अभी नहीं है।

इस सत्य को अगर हम ठीक से देख पाएं, तभी हम बुद्ध, महावीर, कृष्ण या क्राइस्ट की सक्रियता को समझ पाएंगे। उनकी सक्रियता और हमारी सक्रियता में एक बुनियादी भेद है। वे कुछ पाने के बाद भी सक्रिय हैं और हम कुछ पाने के पहले सक्रिय हैं। एक-सा ही लगेगा। हम और वे रास्ते पर चलते हुए एक-से ही मालूम पड़ेंगे, लेकिन हम एक-से नहीं हैं। इस तरह के व्यक्तियों को ही हमने अवतार कहा है। इसलिए अवतार शब्द के संबंध में दो बातें ख्याल में ले लें।

अवतार हम उस व्यक्ति को कहते हैं, जिसे पाने को कुछ भी शेष नहीं रहा, फिर भी पाने वालों के बीच में खड़ा है। अवतार हम उस व्यक्ति को कहते हैं, जिसे जानने को कुछ शेष नहीं रहा, फिर भी जानने वालों की पाठशाला में बैठा हुआ है। अवतार हम उसे कहते हैं, जिसके लिए जिंदगी में अब लेने योग्य कुछ भी नहीं है, फिर भी जिंदगी के घनेपन में खड़ा है। अवतार का कुल अर्थ इतना ही है कि जो पहुंच चुका, वह भी रास्ते पर है।

बुद्ध के जीवन में एक उल्लेख है। उल्लेख है कि बुद्ध का निर्वाण हुआ। कहानी है बहुत मधुर, बहुत मीठी। फिर भी सत्य, कहानी की तरह नहीं, उसके अभिप्राय की तरह। बुद्ध का निर्वाण हो गया और निर्वाण के बाद की कथा है कि वे मोक्ष के द्वार पर खड़े हैं। द्वारपाल ने दरवाजे खोल दिए हैं, लेकिन बुद्ध द्वार से प्रवेश नहीं करते। द्वारपाल कहता है, भीतर आएं, स्वागत है। और मोक्ष प्रतीक्षा करता है आपकी बहुत दिनों से। चालीस वर्ष पहले बुद्ध को आ जाना चाहिए था, क्योंकि मरने के चालीस वर्ष पहले यात्रा पूरी हो गई थी। मरने के चालीस वर्ष पहले ही जो पाना था, पा लिया गया; और जो जानना था, वह जान लिया गया था। लेकिन चालीस वर्ष कहां थे? चालीस वर्ष से मोक्ष प्रतीक्षा करता है कि आएं। द्वार चालीस वर्ष से खुले हैं।

लेकिन बुद्ध कहते हैं, अभी भी मैं प्रवेश नहीं करूंगा। द्वार को अभी और बहुत दिन तक खुले रहना पड़ेगा। वह द्वारपाल कहता है, क्या कह रहे हैं आप! लोग द्वार खटखटाते हैं, तब भी मोक्ष के द्वार नहीं खुलते। लोग छाती पीटते हैं, तो भी मोक्ष के द्वार नहीं खुलते। लोग गिड़गिड़ाते हैं, तो भी मोक्ष के द्वार नहीं खुलते। मोक्ष के द्वार खुले हैं और आप रुके हैं बाहर! प्रवेश करें, रुकते क्यों हैं? तो बुद्ध कहते हैं कि जब तक एक आदमी भी मेरे पीछे मोक्‌ष के बिना रह गया है, तब तक मैं प्रवेश नहीं कर सकता हूं। मैं अंतिम ही आदमी हो सकता हूं, जो मोक्ष में प्रवेश करेगा।

महायान बौद्ध धर्म के फकीर कहते हैं, बुद्ध अब भी मोक्ष के द्वार पर खड़े हैं। द्वार खुले हैं और बुद्ध द्वार पर ही खड़े हैं। अब भी खड़े हैं। जब तक अंतिम आदमी प्रवेश न कर जाए, तब तक वे खड़े ही रहने वाले हैं। कहानी है। अभिप्राय गहरा है और सत्य है।

कृष्ण यही कह रहे हैं। अर्जुन को वे एक बात स्मरण दिलाना चाहते हैं और वह यह कि अपने लिए ही कर्म करना काफी नहीं है। असली कर्म तो उसी दिन शुरू होता है, जिस दिन वह दूसरे के लिए शुरू होता है। अपने लिए ही जीना पर्याप्त नहीं है। असली जिंदगी तो उसी दिन शुरू होती है, जिस दिन वह दूसरे के लिए शुरू होती है।

ध्यान रहे, जो सिर्फ अपने लिए, खुद के कुछ पाने के लिए जीता है, वह बोझ से ही जीएगा, बर्डनसम ही होगी उसकी जिंदगी--एक बोझ, एक भार। लेकिन जिस दिन व्यक्ति अपने लिए सब पा चुका होता, सब जान चुका होता, फिर भी जीता है, तब जिंदगी निर्भार, वेटलेस हो जाती है। तब जिंदगी से ग्रेविटेशन, जमीन की कशिश खो जाती है; और आकाश का प्रसाद, प्रभु की ग्रेस बरसनी शुरू हो जाती है।

हम जमीन से बंधे हुए जीते हैं, हम जिंदगी के बोझ से भरे हुए जीते हैं। जो भी अपने लिए जी रहा है, वह जमीन के बोझ से भरा हुआ जीएगा। अपने लिए जीने से ज्यादा बड़ा कष्ट दूसरा नहीं है। इस साधारण जिंदगी में भी वे ही क्षण हमारे आनंद के होते हैं, जब हम थोड़ी देर के लिए दूसरे के लिए जीते हैं। मां जब अपने बेटे के लिए जी लेती है, तब आनंद से भर जाती है। मित्र जब अपने मित्र के लिए जी लेता है, तो आनंद से भर जाता है। क्षणभर को भी अगर हम दूसरे के लिए जीते हैं, तभी हमारे जीवन में आनंद होता है।

कृष्ण कह रहे हैं, जिसने सब पा लिया, वह दूसरे के लिए ही जीता है, अपने लिए जीने का तो कोई कारण ही शेष नहीं रह जाता। और तब आनंद की अनंत वर्षा उसके ऊपर हो जाती है। अर्जुन को वे कह रहे हैं कि तू अपने लिए ही मत सोच। केवल अपने लिए ही मत सोच--अपने लिए सोच, क्योंकि तेरे लिए भी अभी यात्रा बाकी है--लेकिन उनके लिए भी सोच, जिनके लिए बहुत यात्रा बाकी है और जो अभी जीवन के अंधेरे पथों पर हैं और जिन्हें मंजिल का कोई भी प्रकाश दिखाई नहीं पड़ा है।

प्रश्नः भगवान श्री, कल की चर्चा पर दो छोटे प्रश्न हैं। एक मित्र पूछते हैं कि आपने वर्ण व्यवस्था के बारे में जो कहा, क्या आज वह व्यवस्था आज की स्थिति में उचित है उसे लाना? और दूसरा प्रश्न है कि आश्रमों की चर्चा आपने की और उम्र का भी विभाजन किया। संन्यास चौथी अवस्था में आता है, तो मित्र पूछते हैं कि आप बहुत छोटी उम्र के लोगों को भी संन्यास की दीक्षा दे रहे हैं, तो क्या वह उचित है?

समय बदल जाता है, परिस्थिति बदल जाती है, लेकिन जीवन के मूल सत्य नहीं बदलते हैं। और जो उन मूल सत्यों को अस्वीकार करता है, वह केवल कष्ट में, दुख में और चिंता में पड़ता है। सब कुछ बदल जाता है, लेकिन जीवन के जो आधार-सत्य हैं, वे नहीं बदलते हैं। वर्ण और आश्रम की व्यवस्था किसी समाज विशेष और किसी परिस्थिति विशेष के नियम पर निर्मित नहीं थी। वर्णाश्रम की व्यवस्था मनुष्य के चित्त के ही नियमों पर निर्भर थी। और आज भी उतने ही उपयोग की है, जितनी कभी हो सकती थी और कल भी उतने ही उपयोग की रहेगी। इसका यह मतलब नहीं है कि वर्ण व्यवस्था के नाम पर जो चल रहा है, वह उपयोगी है। जो चल रहा है, वह तो वर्ण व्यवस्था नहीं है। जो चल रहा है, वह तो वर्ण व्यवस्था के नाम पर रोग है, बीमारी है।

असल में सभी ढांचे सड़ जाते हैं। सत्य नहीं सड़ते, ढांचे सड़ जाते हैं। और अगर सत्यों को बचाना हो, तो सड़े हुए ढांचों को रोज अलग करने का साहस रखना चाहिए। जो ढांचा निर्मित हुआ था, वह तो सड़ गया; उसके प्राण तो कभी के खो गए, उसकी आत्मा तो कभी की लोप हो गई; सिर्फ देह रह गई है। और उस देह में हजार तरह की सड़ांध पैदा होगी, क्योंकि आत्मा के साथ ही उस देह में सड़ांध पैदा नहीं हो सकती थी।

दो बातें वर्ण के संबंध में। एक तो, जिस दिन वर्ण हाइरेरिकल हो गया, जिस दिन वर्ण नीचे-ऊंचे का भेद करने लगा, उसी दिन सड़ांध शुरू हो गई। वर्ण के सत्य में नीचे-ऊंचे का भेद नहीं था; वर्ण के सत्य में व्यक्तित्व भेद था। शूद्र ब्राह्मण से नीचा नहीं है, ब्राह्मण शूद्र से ऊंचा नहीं है। क्षत्रिय शूद्र से ऊंचा नहीं है, वैश्य ब्राह्मण से नीचा नहीं है। नीचे-ऊंचे की बात खतरनाक सिद्ध हुई। शूद्र शूद्र है, ब्राह्मण ब्राह्मण है। यह टाइप की बात है।

जैसे कि समझें, एक आदमी पांच फीट का है और एक आदमी छह फीट का है। तो पांच फीट का आदमी छह फीट के आदमी से नीचा नहीं है। पांच फीट का आदमी पांच फीट का आदमी है, छह फीट का आदमी छह फीट का आदमी है। एक आदमी काला है, एक आदमी गोरा है। काला आदमी गोरे आदमी से नीचा नहीं है। काला आदमी काला है, गोरा आदमी गोरा है। पिगमेंट का फर्क है, चमड़ी में थोड़े-से रंग का फर्क है। मुश्किल से दो, तीन, चार आने के दाम का फर्क है। और चमड़ी के फर्क से कोई आदमी में फर्क नहीं होता। गोरे की चमड़ी में भी आज नहीं कल, तीन-चार आने का पिगमेंट काला डाला जा सकेगा, तो वह काली हो जाएगी। काले की चमड़ी गोरी हो जाएगी। गोरा गोरा है, काला काला है; ऊंचे-नीचे का फासला जरा भी नहीं है। एक आदमी के पास थोड़ी ज्यादा बुद्धि है, एक आदमी के पास थोड़ी कम बुद्धि है। ऊंचे-नीचे का फिर भी कोई कारण नहीं है। कोई कारण नहीं है। जैसे पिगमेंट का फर्क है, ऐसे ही बुद्धि की मात्रा का फर्क है। है फर्क।

वर्ण की व्यवस्था में फर्क, डिफरेंस की स्वीकृति थी, वेल्युएशन नहीं था, मूल्यांकन नहीं था। और उचित है कि स्वीकृति हो, क्योंकि जिस दिन स्वीकृति खो जाती है, उस दिन उपद्रव, उत्पात शुरू होता है। अब आज वर्ण टिकेगा नहीं। क्योंकि सड़ी हुई वर्ण की व्यवस्था, कोई लाख उपाय करे, टिक नहीं सकती। लेकिन वर्ण लौटेगा। यह व्यवस्था तो मरेगी, लेकिन वर्ण लौटेगा।

जितना मनुष्य के संबंध में वैज्ञानिक चिंतन बढ़ेगा आने वाली सदी में, वर्ण की व्यवस्था वापस लौट आएगी। हिंदुओं की वर्ण की व्यवस्था नहीं लौटेगी। वह तो गई, वह मर गई। वर्ण की व्यवस्था लौट आएगी और

अब और ज्यादा वैज्ञानिक होकर लौटेगी। क्योंकि जितना मनुष्य के संबंध में समझदारी बढ़ रही है, जितना मनोविज्ञान विकसित हो रहा है, उतनी बात साफ होती जा रही है कि चार तरह के लोग हैं। उनको इनकार करने का कोई उपाय नहीं है। और हम कुछ भी उपाय करें, हम सारे लोगों को सिर्फ एक ही तरह से एक वर्ण का बना सकते हैं। और वह यह कि हम लोगों की आत्मा को बिल्कुल नष्ट कर दें और लोगों को बिल्कुल मशीनें बना दें। वर्ण की व्यवस्था उसी दिन असत्य होगी, जिस दिन आदमी मशीन हो जाएगा, आदमी नहीं होगा; उसके पहले असत्य नहीं हो सकती।

मशीनें एक-सी हो सकती हैं। फोर्ड की कारें हैं, तो लाख कारें एक-सी हो सकती हैं। रत्तीभर फर्क खोजा नहीं जा सकता। एक ढांचे में ढलती हैं, एक-सी हो सकती हैं। कारें इसीलिए एक-सी हो सकती हैं, क्योंकि उनके पास कोई आत्मा नहीं है। हां, आत्मा होगी, तो व्यक्ति एक-से कभी नहीं हो सकते। आत्मा का अर्थ ही भेद है। व्यक्तित्व का अर्थ ही अंतर है, डिफरेंस है। आपके पास व्यक्तित्व है, उसका मतलब ही यही है कि आप दूसरे व्यक्तियों से कहीं न कहीं भिन्न हैं। अगर आप बिल्कुल भिन्न नहीं हैं, तो व्यक्तित्व नहीं है, आत्मा नहीं है। मनुष्य के पास जब तक आत्मा है, तब तक वर्ण का सत्य झुठलाया नहीं जा सकता है। हम इनकार कर सकते हैं।

एक आदमी कह सकता है कि हम ग्रेविटेशन को नहीं मानते, जमीन की कशिश को नहीं मानते। मत मानिए! इससे सिर्फ आपकी टांग टूटेगी। इससे ग्रेविटेशन का सत्य गलत नहीं होता। एक आदमी कह सकता है कि हम आक्सीजन के सत्य को नहीं मानते; हम श्वास लेंगे नहीं। तो ठीक है, मत लीजिए। इससे सिर्फ आप मरेंगे, आक्सीजन नहीं मरती। जीवन के नियम को इनकार किया जा सकता है, लेकिन इससे जीवन का नियम नष्ट नहीं होता, सिर्फ हम नष्ट होते हैं।

हां, जीवन के नियम पर हम झूठी व्यवस्थाएं भी खड़ी कर सकते हैं। और तब झूठी व्यवस्थाओं के कारण जीवन का नियम भी बदनाम हो जाता है। हमने जो हाइरेरिकल व्यवस्था निर्मित की ऊंचे-नीचे की, उससे बदनामी पैदा हुई; उससे वर्ण की व्यवस्था दूषित हुई। उससे वर्ण की व्यवस्था गंदी हुई, कंडेम्ड हुई। आज वह कंडेम्ड है, लेकिन वर्ण का सत्य कभी भी कंडेम्ड नहीं है।

और मैं आपसे कहना चाहूंगा कि यह पहली सदी है, जब पश्चिम के मनोविज्ञान ने पुनः इस बात को साफ करना शुरू कर दिया है कि दो व्यक्तियों के बीच पूरी समानता, पूरी एकता, पूरा एक-सा पन कभी भी सिद्ध नहीं किया जा सकता। और दुर्भाग्य का होगा वह दिन, जिस दिन विज्ञान सब आदमियों को बराबर कर देगा, क्योंकि उसी दिन आदमी की आत्मा नष्ट हो जाएगी।

इसलिए वर्ण के सत्य में कहीं भी अंतर नहीं पड़ा है; पड़ेगा भी नहीं; पड़ना भी नहीं चाहिए; पड़ने भी नहीं देना। लड़ना भी पड़ेगा आज नहीं कल आदमी को, कि हम अलग हैं, भिन्न हैं, और हमारी भिन्नता कायम रहनी चाहिए। हालांकि राजनीति भिन्नता को तोड़ डालने की पूरी चेष्टा में लगी है।

सब भिन्नता टूट जाए और आदमी मशीन जैसा व्यवहार करे, तो राजनीतिज्ञों के लिए बड़ी सरल और सुलभ हो जाएगी बात। तब डिक्टेटोरियल हुआ जा सकता है, तब तानाशाही लाई जा सकती है, तब टोटेलिटेरियन हुआ जा सकता है। तब व्यक्तियों की कोई चिंता करने की जरूरत नहीं है, व्यक्ति हैं ही नहीं। लेकिन जब तक व्यक्ति भिन्न हैं, तभी तक लोकतंत्र है जगत में। जब तक व्यक्तियों में आत्मा है, तभी तक रस भी है जगत में, वैविध्य भी है जगत में, सौंदर्य भी है जगत में, रंग-बिरंगापन भी है जगत में।

वर्ण की व्यवस्था इस रंग-बिरंगेपन को, इस वैविध्य को अंगीकार करती है। ऊंच-नीच की बात गलत है। और जो लोग ऊंच-नीच बनाए रखने के लिए वर्ण की व्यवस्था का समर्थन कर रहे हैं, वे लोग खतरनाक हैं।

लेकिन मैं वह बात नहीं कह रहा हूं। मैं कुछ और ही बात कह रहा हूं। मैं यह कह रहा हूं, आदमी चार प्रकार के हैं। हम चाहे मानें और चाहे हम न मानें।

आज अमेरिका में तो कोई वर्ण व्यवस्था नहीं है। लेकिन सभी लोग वैज्ञानिक नहीं हैं। और वैज्ञानिक शुद्ध ब्राह्मण है। आइंस्टीन में और ब्राह्मण में कोई भी फर्क नहीं है। आज पश्चिम का वैज्ञानिक ठीक वही है, जैसा ब्राह्मण था। सारी खोज उसकी सत्य की है, और सत्य की खोज के लिए वह सब तकलीफें झेलने को राजी है। लेकिन सभी लोग सत्य की खोज के लिए उत्सुक नहीं हैं। राकफेलर ब्राह्मण नहीं है। और न मार्गन ब्राह्मण है। और न रथचाइल्ड ब्राह्मण है। वे वैश्य हैं शुद्धतम, शुद्धतम वैश्य हैं। धन ही उनकी खोज है। धन ही उनकी आकांक्षा है, धन ही सब कुछ है। लेकिन एक बहुत बड़ा वर्ग है सारी पृथ्वी पर, जो लड़ने के लिए उत्सुक और आतुर है। उसकी लड़ाई के ढंग भले बदल जाएं, लेकिन वह लड़ने के लिए उत्सुक और आतुर है।

नीत्से ने कहा है कि जब कभी मैं रास्ते पर सिपाहियों की संगीनें धूप में चमकती हुई देखता हूं, और जब कभी मैं सैनिकों के जूतों की आवाज सड़क पर लयबद्ध सुनता हूं, तो मुझे लगता है, इससे श्रेष्ठ कोई भी संगीत नहीं है। अब यह जो नीत्से है, इसको मोजार्ट बेकार है, बीथोवन बेकार है; इसके लिए वीणा बेकार है। यह कहता है, जब चमकती हुई संगीनें सुबह के सूरज में दिखाई पड़ती हैं, तो उनकी चमक में जो गीत है, इससे सुंदर कोई गीत नहीं है। और जब सैनिक रास्ते पर चलते हैं, और उनके जूतों की लयबद्ध आवाज में जो भाव है, वह किसी संगीत में नहीं है। यह आदमी जो भाषा बोल रहा है, वह ब्राह्मण की नहीं है। यह आदमी जो भाषा बोल रहा है, वह शूद्र की नहीं है। यह आदमी जो भाषा बोल रहा है, वह क्षत्रिय की है। यह रहेगा। इस आदमी को हम इनकार करेंगे, तो यह बदला लेगा।

किसी आदमी को इनकार नहीं किया जा सकता। प्रत्येक आदमी को उसके टाइप के फुलफिलमेंट के लिए, उसके व्यक्तित्व के रूप के अनुसार, अनुकूल, समाज में सुविधा होनी चाहिए। शूद्र भी हैं। कई दफा शूद्र अगर दूसरे घर में पैदा हो जाए, तो बहाने खोजकर शूद्र हो जाता है। बहाने खोजकर शूद्र हो जाता है। अगर वह ब्राह्मण के घर में पैदा हो जाए, तो वह कहेगा कि नहीं, ब्रह्म की खोज से क्या होगा? मैं तो कोढ़ी की सेवा करूंगा! वह कहेगा, ध्यान-ब्यान से कुछ भी नहीं होगा। धर्म यानी सर्विस, सेवा!

अगर इस मुल्क के धर्मों में हम खोज करने जाएं, तो इस मुल्क का धर्म मौलिक रूप से ब्राह्मणों ने निर्मित किया। इसलिए इस मुल्क के धर्म में सेवा नहीं आ सकी, सर्विस का कंसेप्ट नहीं आया। इस मुल्क के धर्म ने सेवा की बात ही नहीं की कभी, क्योंकि वह मौलिक रूप से ब्राह्मण ने उसको निर्मित किया था। वह एक वर्ण के द्वारा निर्मित था, उसकी दृष्टि उसमें प्रवेश कर गई।

इसलिए पहली दफे जब क्रिश्चिएनिटी से हिंदू और जैन और बौद्धों की टक्कर आई, तो बहुत मुश्किल में पड़ गए वे। क्योंकि क्रिश्चिएनिटी जिस घर से आई थी, जीसस एक बढ़ई के बेटे थे। वे एक शूद्र परिवार से आते हैं। जन्म उनका एक घुड़साल में होता है। जिंदगी के जो उनके बचपन का काल है, वह बिल्कुल ही समाज का जो चौथा वर्ग है, उसके बीच व्यतीत हुआ है। इसलिए जीसस ने जब धर्म निर्मित किया, तो उस धर्म में सर्विस मौलिक तत्व बना। इसलिए सारी दुनिया में ईसाई के लिए सेवा धर्म का श्रेष्ठतम रूप है। ध्यान नहीं, मेडिटेशन नहीं, सर्विस! ब्रह्म का चिंतन नहीं, पड़ोसी की सेवा! और इसलिए ईसाइयत ने सारी दुनिया में जो ब्राह्मण से उत्पन्न धर्म थे, उन सबको कंडेम्ड कर दिया।

बुद्ध और महावीर पैदा तो हुए क्षत्रिय घरों में, लेकिन उनके पास बुद्धि ब्राह्मण की थी। और यह भी जानकर आपको हैरानी होगी कि महावीर क्षत्रिय घर से आए, लेकिन महावीर का जो धर्म निर्मित किया, वह

जिन गणधरों ने किया, वे ग्यारह के ग्यारह ब्राह्मण थे। महावीर ने जो बातें कहीं, उनको जिन्होंने संगृहीत किया, वे ग्यारह ही ब्राह्मण थे। महावीर के ग्यारह जो बड़े शिष्य हैं--ग्यारह बड़े शिष्य, जिन्होंने महावीर के सारे धर्मशास्त्र निर्मित किए--वे ग्यारह के ग्यारह ब्राह्मण थे। इसलिए कोई उपाय न था कि हिंदुस्तान का कोई भी धर्म सेवा पर जोर दे सके।

हां, विवेकानंद ने जोर दिया, क्योंकि विवेकानंद शूद्र परिवार से आते हैं, कायस्थ हैं। इसलिए विवेकानंद ने रामकृष्ण मिशन को ठीक क्रिश्चियन मिशनरी के ढंग पर निर्मित किया। हिंदुस्तान में सेवा के शब्द को लाने वाला आदमी विवेकानंद है। फिर गांधी ने जोर दिया।

यह टाइप की बात है। ब्राह्मण की कल्पना के बाहर है कि शूद्र के पैर दबाने से ब्रह्म कैसे मिल जाएगा! शूद्र की कल्पना के बाहर है कि आंख बंद करके शून्य में उतर जाने से ब्रह्म कैसे मिल जाएगा! क्षत्रिय की कल्पना के बाहर है कि बिना लड़े जब कुछ भी नहीं मिलता, तो ब्रह्म कैसे मिल जाएगा! वैश्य की कल्पना के बाहर है कि जब धन के बिना कुछ भी नहीं मिलता, तो धर्म कैसे मिल जाएगा! वैश्य अगर पहुंचेगा भी धर्म के पास, तो धन से ही पहुंचेगा। ये टाइप हैं। और जब मैं यह कह रहा हूं कि व्यक्तियों के टाइप का सवाल है... ।

वर्ण की धारणा समाज के बीच नीच-ऊंच का प्रश्न नहीं है। वर्ण की धारणा समाज के बीच व्यक्ति वैभिन्य का प्रश्न है। और इसलिए दुनिया में चार तरह के लोग सदा रहेंगे और चार तरह के धर्मों की धारणा सदा रहेगी। हां, इन चार से मिल-जुलकर भी बहुत-सी धारणाएं बन जाएंगी, लेकिन वे मिश्रित होंगी। लेकिन चार शुद्ध स्वर धर्मों के सदा पृथ्वी पर रहेंगे, जब तक आदमी के पास आत्मा है। और वह समाज स्वस्थ समाज होगा, जो इस भेद को इनकार न करे--क्योंकि इनकार करने से नियम नहीं मिटता, सिर्फ समाज को नुकसान होता है--जो इस भेद को स्वीकार कर ले।

अब उलटी हालतें होती हैं न! अगर रामकृष्ण मिशन में कोई आदमी संन्यासी हो जाए, तो वे उससे कहेंगे, सेवा करो। वह टाइप अगर ब्राह्मण का है, तो मुश्किल में पड़ जाएगा। उसकी कल्पना के बाहर होगा, कैसी सेवा! सेवा से क्या होगा? लेकिन अगर कोई सेवाभावी व्यक्ति बुद्ध का अनापानसती योग साधने लगे--कि सिर्फ श्वास पर ध्यान करो--तो वह सेवाभावी व्यक्ति कहेगा, यह क्या पागलपन है! नानसेंस। श्वास पर ध्यान करने से क्या होगा? कुछ करके दिखाओ! लोग गरीब हैं, लोग भूखे हैं, लोग बीमार हैं। उनकी सेवा करो।

ये व्यक्तियों के भेद हैं। और अगर इन भेदों को हम वैज्ञानिक रूप से साफ-साफ न समझ लें, तो बड़ी कठिनाई होती है। लेकिन हमारा युग भेद को तोड़ रहा है, कई तरह से तोड़ रहा है। जैसे उदाहरण के लिए आपको कहूं। स्त्री और पुरुष का बायोलाजिकल भेद है, ब्राह्मण और क्षत्रिय का साइकोलाजिकल भेद है। शूद्र और वैश्य का मनोवैज्ञानिक भेद है, स्त्री और पुरुष का जैविक भेद है। लेकिन हमने भेद तोड़ने का तय कर रखा है। हम भेद को इनकार करने को उत्सुक हैं। तो हमने पहले वर्णों को तोड़ने की कोशिश की सारी दुनिया में। एक तो सारी दुनिया में वर्ण बहुत स्पष्ट नहीं थे, सिर्फ इसी मुल्क में थे। हमने उनको तोड़ने की कोशिश की। हमने करीब-करीब उनको जराजीर्ण कर दिया। अब एक दूसरा जैविक भेद है स्त्री-पुरुष का, उसको भी तोड़ने की कोशिश की जा रही है।

तो एक बहुत मजेदार घटना घट रही है। वह घटना यह घट रही है कि लड़कियां यूरोप और अमेरिका में लड़कों के कपड़े पहन रही हैं और लड़के लड़कियों जैसे बाल बढ़ा रहे हैं। दोनों करीब आ रहे हैं। बायोलाजिकल भेद तोड़ने की कोशिश चल रही है। लेकिन इससे क्या होगा? इससे क्या भेद टूट जाएगा? इससे भेद नहीं टूटेगा; सिर्फ लड़कियां कम लड़कियां हो जाएंगी, और लड़के कम लड़के हो जाएंगे; और दोनों के बीच जो फासले

से, भेद से, जो रस पैदा होता था, वह क्षीण हो जाएगा। इसलिए आज यूरोप और अमेरिका में लड़के और लड़की के बीच से रोमांस विदा हो गया है, रोमांस नहीं है। हो नहीं सकता। वह भेद पर निर्भर है। कितना भेद है, उतना रस है। जितना भेद टूटा, उतना रस टूट जाता है।

हम सब तरह के भेद तोड़ने को पागल लोग हैं। भेद रहने ही चाहिए। उसका मतलब लेकिन यह नहीं कि स्त्री छोटी है और पुरुष बड़ा है। वह गलत बात है। भेद के आधार पर ऊंचाई-नीचाई तय करना गलत बात है। सब भेद हॉरिजांटल हैं। कोई भेद वर्टिकल नहीं है। न तो पुरुष ऊंचा है और न तो स्त्री ऊंची है। लेकिन इसका यह मतलब नहीं है कि पुरुष और स्त्री एक हैं। पुरुष अलग है, स्त्री अलग है। ऊंचा-नीचा कोई भी नहीं है। लेकिन भेद स्पष्ट है और भेद स्पष्ट रहना चाहिए।

और स्त्री को पूरी कोशिश करनी चाहिए कि वह कितनी स्त्रैण हो सके, और पुरुष को पूरी कोशिश करनी चाहिए कि वह कितना पुरुष हो सके। और स्त्री जितनी ज्यादा स्त्री, पुरुष जितना ज्यादा पुरुष, उन दोनों के बीच के जीवन का रस उतना ही गहरा होगा, आकर्षण उतना ही गहरा होगा। उन दोनों के बीच प्रेम के प्रवाह की धारा उतनी ही तीव्र होगी। जितना कम पुरुष और जितनी कम स्त्री, तो स्त्री नंबर दो का पुरुष हो जाती है और पुरुष नंबर दो की स्त्री हो जाता है। और वे दोनों करीब तो बहुत आ जाते हैं, लेकिन उनके बीच की पोलैरिटी टूट जाती है, और उनके बीच का रस टूट जाता है। आज पहली दफे पश्चिम में स्त्री और पुरुष के बीच का जो रस-संगीत था, वह टूट गया है।

वर्ण मनोवैज्ञानिक भेद हैं। और समाज में उनसे भी रस-संगीत पैदा होता है। एकसुरा समाज ऐसा ही है जैसा इकतारा बजता है। इकतारे का भी थोड़ा रस तो है, लेकिन उबाने वाला है। और इकतारा रस दे सकता है अगर और वाद्यों के साथ बजता हो। अकेले ही बजता रहे, तो घबड़ाहट हो जाती है।

मैंने एक घटना सुनी है, कि एक सज्जन वीणा बजाते हैं। लेकिन बस वे एक तार को और एक ही जगह दबाए चले जाते हैं। महीनों हो गए। उनकी पत्नी, उनके बच्चे बहुत घबड़ा गए हैं। और एक दिन उनके पड़ोसियों ने भी सबने हाथ जोड़कर प्रार्थना की कि आप क्या कर रहे हैं! हमने औरों को भी बजाते देखा है, लेकिन हाथ चलता है, अलग तार छुए जाते हैं, अलग दबाव दिया जाता है। यह क्या पागलपन है कि एक ही जगह उंगली को दबाए हैं आप! और अब महीनों हो गए, वहीं दबाए चले जा रहे हैं! हम घबड़ा गए हैं। उन सज्जन ने कहा कि तुम्हें पता नहीं, दूसरे लोग ठीक स्थान खोज रहे हैं; मुझे मिल गया है! वे वहीं अपना सब... । इसलिए वे लोग इधर-उधर हाथ फैलाते हैं। मुझे कोई जरूरत न रही। मैं मंजिल पर आ गया हूं। अब मैं उसी को बजाता रहूंगा।

लेकिन यह आदमी तो पागल है, पड़ोस के लोगों को भी पागल कर देगा।

जीवन एक संगीत है, लेकिन संगीत अर्थात एक आर्केस्ट्रा। उसमें बहुत विभिन्न स्वर चाहिए। उसमें क्षत्रिय की चमक भी चाहिए; उसमें शूद्र की सेवा भी चाहिए। उसमें ब्राह्मण का तेज भी चाहिए; उसमें वैश्य की खोज भी चाहिए। उसमें सब चाहिए। और इनमें ऊपर-नीचे कोई भी नहीं है। और यह सत्य आज भी असत्य नहीं हो गया और कल भी असत्य नहीं हो जाने वाला है।

दूसरी बात पूछी है कि मैंने कहा कि जीवन का एक क्रम है और संन्यास उसमें अंतिम अवस्था है... ।

लेकिन यह क्रम टूट गया। और अभी तो ब्रह्मचर्य भी अंतिम अवस्था नहीं है। ब्रह्मचर्य पहली अवस्था थी उस क्रम में, यह क्रम टूट गया। अब तो ब्रह्मचर्य अंतिम अवस्था भी नहीं है! पहले की तो बात ही छोड़ दें। मरते क्षण तक आदमी ब्रह्मचर्य की अवस्था में नहीं पहुंचता। तो अब तो संन्यास तो कब्र के आगे ही कहीं कोई अवस्था हो सकती है। और जब बूढ़े ब्रह्मचर्य को उपलब्ध न होते हों, तो मैं कहता हूं, बच्चों को भी हिम्मत करके संन्यासी

होना चाहिए, जस्ट टु बैलेंस, संतुलन बनाए रखने को। जब बूढ़े भी ब्रह्मचर्य को उपलब्ध न होते हों, तो बच्चों को भी संन्यासी होने का साहस करना चाहिए। तो शायद बूढ़ों को भी शर्म आनी शुरू हो, अन्यथा बूढ़ों को शर्म आने वाली नहीं है। एक तो इसलिए।

और दूसरा इसलिए भी कि जीवन का जो क्रम है, उस क्रम में बहुत-सी बातें इंप्लाइड हैं, उसमें बहुत-सी बातें अंतर्गर्भित हैं। जैसे महावीर ने अंतिम अवस्था में संन्यास नहीं लिया, बुद्ध ने अंतिम अवस्था में संन्यास नहीं लिया। क्योंकि जिनके जीवन की पिछले जन्म की यात्रा वहां पहुंच गई, जहां से इस जन्म में शुरू से ही संन्यास हो सकता है, वे पचहत्तर वर्ष तक प्रतीक्षा करें, यह बेमानी है। यही जन्म सब कुछ नहीं है। हम इस जन्म में कोरे कागज, टेबुलारेसा की तरह पैदा नहीं होते हैं, जैसा कि रूसो और सारे लोग मानते हैं। गलत मानते हैं। हम कोरे कागजकी तरह पैदा नहीं होते। हम सब बिल्ट-इन-प्रोग्रैम लेकर पैदा होते हैं। हमने पिछले जन्म में जो भी किया, जाना, सोचा, समझा है, वह सब हमारे साथ जन्मता है। इसलिए जीवन के साधारण क्रम में यह बात सच है कि आदमी चौथी अवस्था में संन्यास को उपलब्ध हो, लेकिन जो लोग पिछले जन्म से संन्यास का गहरा अनुभव लेकर आए हों, या जीवन के रस से पूरी तरह डिसइल्यूजंड होकर आए हों, उनके लिए कोई भी कारण नहीं है। लेकिन वे सदा अपवाद होंगे।

इसलिए बुद्ध और महावीर ने अपवाद के लिए मार्ग खोजा। कभी-कभी नियम भी बंधन बन जाते हैं, उसके लिए हमें अपवाद छोड़ना पड़ता है। आइंस्टीन को अगर हम गणित उसी ढंग से सिखाएं, जिस ढंग से हम सबको सिखाते हैं, तो हम आइंस्टीन की शक्ति को जाया करेंगे। अगर हम मोजार्ट को संगीत उसी तरह सिखाएं, जिस तरह हम सबको सिखाते हैं, तो हम उसकी शक्ति को बहुत जाया करेंगे। मोजार्ट ने तीन साल की उम्र में संगीत में वह स्थिति पा ली, जो कि कोई भी आदमी अभ्यास करके तीस साल में नहीं पा सकता है। तब मोजार्ट के लिए हमें अपवाद बनाना पड़ेगा। बीथोवन ने सात साल में संगीत में वह स्थिति पा ली, जो कि संगीतज्ञ सत्तर साल की उम्र में नहीं पा सकते अभ्यास करके। तो बीथोवन के लिए हमें अलग नियम बनाना पड़ेगा। इनके लिए हमें नियम वही नहीं देने पड़ेंगे।

इसलिए हर नियम के अपवाद तो होते ही हैं। और अपवाद से नियम टूटता नहीं, सिर्फ सिद्ध होता है। एक्सेप्शन प्रूव्स दि रूल। वह जो अपवाद है, वह सिद्ध करता है कि अपवाद है, इसलिए शेष सबके लिए नियम प्रतिकूल है। तो ऐसा नहीं है कि भारत में बचपन से संन्यास लेने वाले लोग न थे, वे थे, लेकिन वे अपवाद थे।

और आज तो अपवाद को नियम बनाना पड़ेगा। क्यों बनाना पड़ेगा? वह इसलिए बनाना पड़ेगा, कि आज तो चीजें इतनी रुग्ण और अस्तव्यस्त हो गई हैं कि अगर हम प्रतीक्षा करें कि लोग वृद्धावस्था में संन्यस्त हो जाएंगे, तो हमारी प्रतीक्षा व्यर्थ होने वाली है। उसके कई कारण हैं। वृद्धावस्था में संन्यास तभी फलित हो सकता है, जब तीन आश्रम पहले गुजरे हों, अन्यथा फलित नहीं हो सकता। आप कहें कि वृक्ष में फूल आएंगे वसंत में। लेकिन वसंत में फूल तभी आ सकते हैं, जब बीज बोए गए हों, जब खाद डाली गई हो, जब वर्षा में पानी भी पड़ा हो और गर्मी में धूप भी मिली हो। न गर्मी में धूप आई, न वर्षा में पानी गिरा, न बीज बोए गए, न माली ने खाद दिया--और वसंत में फूल की प्रतीक्षा कर रहे हैं!

चौथा आश्रम संन्यास फलित होता था, यदि तीन आश्रम नियमबद्ध रूप से पहले गुजरे हों, अन्यथा फलित नहीं होगा। ब्रह्मचर्य बीता हो पच्चीस वर्ष का, गार्हस्थ्य बीता हो पच्चीस वर्ष का, वानप्रस्थ बीता हो पच्चीस वर्ष का, तब अनिवार्यरूपेण, गणित के हल की तरह, चौथे आश्रम का चरण उठता था।

आज तो कठिनाई है। आज तो तीन चरण का कोई उपाय नहीं रहा। तो अब दो ही उपाय हैं। एक तो उपाय यह है कि हम संन्यास के सुंदरतम फूल को--जिससे सुंदर फूल जीवन में दूसरा नहीं खिलता--मुरझा जाने दें, उसे खिलने ही न दें। और या फिर हिम्मत करें और जहां भी संभव हो सके, जिस स्थिति में भी संभव हो सके, संन्यास के फूल को खिलाने की कोशिश करें।

इसका यह मतलब नहीं है कि सारे लोग संन्यासी हो सकते हैं। असल में जिसके मन में भी आकांक्षा पैदा होती है संन्यास की, उसके प्राण उसे सूचना दे रहे हैं कि उसके पिछले जन्मों में कुछ अर्जित है, जो संन्यास बन सकता है।

फिर मैं यह कहता हूं कि बुरे काम को करके सफल हो जाना भी बुरा है; अच्छे काम को करके असफल हो जाना भी बुरा नहीं है। एक आदमी चोरी करके सफल भी हो जाए, तो बुरा है; और एक आदमी संन्यासी होकर असफल भी हो जाए, तो बुरा नहीं है। अच्छे की तरफ आकांक्षा और प्रयास भी बहुत बड़ी घटना है। और अच्छे के मार्ग पर हार जाना भी जीत है और बुरे के मार्ग पर जीत जाना भी हार है। और आज हारेंगे, तो कल जीतेंगे। इस जन्म में हारेंगे, तो अगले जन्म में जीतेंगे। लेकिन प्रयास, आकांक्षा, अभीप्सा होनी चाहिए।

फिर चौथे चरण में जो संन्यास आता था, उसकी व्याख्या बिल्कुल अलग थी; और जिसे मैं संन्यास कहता हूं, उसकी व्याख्या को मजबूरी में अलग करना पड़ा है--मजबूरी में, स्मरण रखें। चौथे चरण में जो संन्यास आता था, वह पूरे जीवन से ऐसे अलग हो जाना था, जैसे पका हुआ फल वृक्ष से अलग हो जाता है, जैसे सूखा पत्ता वृक्ष से गिर जाता है। न वृक्ष को खबर मिलती है, न सूखे पत्ते को पता चलता, कब अलग हो गए। वह बहुत नेचरल रिनंसिएशन था। उसके कारण हैं।

अभी भी पचहत्तर साल का बूढ़ा घर से टूट जाता है--अभी भी। लेकिन न तो बूढ़ा टूटना चाहता है... । अभी भी पचहत्तर साल का बूढ़ा घर में बोझ हो जाता है। कोई कहता नहीं, सब अनुभव करते हैं। बेटे की आंख से पता चलता है, बहू की आंख से पता चलता है, घर के बच्चों से पता चलता है कि अब इस बूढ़े को विदा होना चाहिए। कोई कहता नहीं; शिष्टाचार कहने नहीं देता; लेकिन अशिष्ट आचरण सब कुछ प्रकट कर देता है। टूट जाता है, टूट ही जाता है। लेकिन बूढ़ा भी हटने को राजी नहीं। वह भी पैर जमाकर जमा रहता है। और जितना हटाने के आंखों में इशारे दिखाई पड़ते हैं, वह उतने ही जोर से जमने की कोशिश करता है। बहुत बेहूदा है, एब्सर्ड है।

असल में वक्त है हर चीज का, जब जुड़े होना चाहिए, और जब टूट जाना चाहिए। वक्त है, जब स्वागत है; और वक्त है, जब अलविदा भी है। समय का जिसे बोध नहीं होता, वह आदमी नासमझ है। पचहत्तर साल की उम्र ठीक वक्त है, क्योंकि तीसरी, चौथी पीढ़ी जीने को तैयार हो गई है। और जब चौथी पीढ़ी जीने को तैयार हो गई, तो आप कट चुके जीवन की धारा से। अब जो नए बच्चे घर में आ रहे हैं, उनसे आपका कोई भी तो संबंध नहीं है। आप उनके लिए करीब-करीब प्रेत हो चुके, घोस्ट हो चुके। अब आपका होना सिर्फ बाधा है। आपकी मौजूदगी सिर्फ जगह घेरती है। आपकी बातें सिर्फ कठिन मालूम पड़ती हैं। आपका होना ही बोझ हो गया है। उचित है कि हट जाएं; वैज्ञानिक है कि हट जाएं।

लेकिन नहीं, आप कहां हटकर जाएं? ख्याल ही भूल गया है। ख्याल इसलिए भूल गया है कि तीन चरण पूरे नहीं हुए। अन्यथा बच्चे हटाते, उसके पहले आप हट जाते। और जो पिता बच्चों के हटाने के पहले हट जाता है, वह कभी अपना आदर नहीं खोता है, कभी अपना आदर नहीं खोता। जो मेहमान विदा करने के पहले विदा हो जाता है, वह सदा स्वागतपूर्ण विदा पाता है। जो मेहमान डटा ही रहता है जब तक कि घर के लोग पुलिस को न

बुला लाएं, तब फिर सब अशोभन हो जाता है। इससे घर के लोगों को भी तकलीफ होती है, अतिथि को भी तकलीफ होती है और आतिथ्य का भाव भी नष्ट होता है। ठीक समझदार आदमी वह है कि जब लोग रोक रहे थे, तभी विदा हो जाए; जब घर के लोग रोते हों, तभी विदा हो जाए; जब घर के लोग कहते हों कि रुकें, अभी मत जाएं, तभी विदा हो जाए। यही ठीक क्षण है। वह अपने पीछे एक मधुर स्मृति छोड़ जाए। वह मधुर स्मृति घर के लोगों के लिए ज्यादा प्रीतिकर होगी, बजाय आपकी कठिन मौजूदगी के।

लेकिन वह चौथा चरण था। तीन चरण जिसने पूरे किए हों, और जिसने ब्रह्मचर्य का आनंद लिया हो, और जिसने काम का दुख भोगा हो, और जिसने वानप्रस्थ होने की, वन की तरफ मुख रखने की अभीप्सा और प्रार्थना में क्षण बिताए हों, वह चौथे चरण में अपने आप चुपचाप--चुपचाप--विदा हो जाता है।

नीत्से ने कहीं लिखा है, राइपननेस इ.ज आल, पक जाना सब कुछ है। लेकिन अब तो कोई नहीं पकता। पका हुआ आदमी भी लोगों को धोखा देना चाहता है कि मैं अभी कच्चा हूं।

मैंने सुना है कि एक स्कूल में शिक्षक बच्चों से पूछ रहा था कि एक व्यक्ति उन्नीस सौ में पैदा हुआ, तो उन्नीस सौ पचास में उसकी उम्र कितनी होगी? तो एक बच्चे ने खड़े होकर पूछा कि वह स्त्री है कि पुरुष? क्योंकि अगर पुरुष होगा, तो पचास साल का हो गया होगा। और अगर स्त्री होगी, तो कहना मुश्किल है कि कितने साल की हुई हो। तीस की भी हो सकती है, चालीस की भी हो सकती है, पच्चीस की भी हो सकती है।

लेकिन जो स्त्री पर लागू होता था, अब वह पुरुष पर भी लागू है। अब उसमें कोई फर्क नहीं है। पका हुआ भी कच्चे होने का धोखा देना चाहता है। बूढ़ा आदमी भी नई जवान लड़कियों से राग-रंग रचाना चाहता है। इसलिए नहीं कि नई लड़की बहुत प्रीतिकर लगती है, बल्कि इसलिए कि वह अपने को धोखा देना चाहता है कि मैं अभी लड़का ही हूं।

मनोवैज्ञानिक कहते हैं कि बूढ़े लोग कम उम्र की स्त्रियों में इसीलिए उत्सुक होते हैं कि वे भुलाना चाहते हैं कि हम बूढ़े हैं। और अगर कम उम्र की स्त्रियां उनमें उत्सुक हो जाएं, तो वे भूल जाते हैं कि वे बूढ़े हैं। अगर बर्ट्रेंड रसेल अस्सी साल की उम्र में बीस साल की लड़की से शादी करता है, तो इसका असली कारण यह नहीं है कि बीस साल की लड़की बहुत आकर्षक है। अस्सी साल के बूढ़े को आकर्षक नहीं रह जानी चाहिए। और साधारण बूढ़े को नहीं, बर्ट्रेंड रसेल की हैसियत के बूढ़े को। हमारे मुल्क में अगर दो हजार साल पहले बर्टें्रड रसेल पैदा हुआ होता, तो अस्सी साल की उम्र में वह महर्षि हो जाता। लेकिन इंग्लैंड में वह अस्सी साल की उम्र में बीस साल की लड़की से शादी रचाने का उपाय करता है। वह धोखा दे रहा है अपने को। अभी भी मानने का मन होता है कि मैं बीस ही साल का हूं। और अगर बीस साल की लड़की उत्सुक हो जाए, तो धोखा पूरा हो जाता है, सेल्फ डिसेप्शन पूरा हो जाता है। क्योंकि बीस साल की लड़की उत्सुक ही नहीं हो सकती न अस्सी साल के बूढ़े में! वह अस्सी साल का बूढ़ा भी मान लेता है कि अभी दो-चार ही साल बीते हैं बीस साल को।

यह जो मनोदशा है, इस मनोदशा में संन्यास की नई ही धारणा का मेरा ख्याल है। अब हमें संन्यास के लिए चौथे चरण की प्रतीक्षा करनी कठिन है। आना चाहिए वह वक्त, जब हम प्रतीक्षा कर सकें। लेकिन वह तभी होगा, जब आश्रम की व्यवस्था पृथ्वी पर लौटे। उसे लौटाने के लिए श्रम में लगना जरूरी है। लेकिन जब तक वह नहीं होता, तब तक हमें संन्यास की एक नई धारणा पर, कहना चाहिए ट्रांजिटरी कंसेप्शन पर, एक संक्रमण की धारणा पर काम करना पड़ेगा। और वह यह कि जो जहां है, वृक्ष से टूटने की तो कोशिश न करे, क्योंकि पका फल ही टूटता है। लेकिन कच्चा फल भी वृक्ष पर रहते हुए अनासक्त हो सकता है। जब पका हुआ फल कच्चे होने

का धोखा दे सकता है, तो कच्चा फल पके होने का अनुभव क्यों नहीं कर सकता है? इसलिए जो जहां है, वह वहीं संन्यस्त हो जाए।

मेरे संन्यास की धारणा जीवन छोड़कर भागने वाली नहीं है। मेरे संन्यास की धारणा वानप्रस्थ के करीब है। मेरे संन्यास की धारणा वानप्रस्थ के करीब है। और मैं मानता हूं, वानप्रस्थी ही नहीं हैं, तो संन्यासी कहां से पैदा होंगे! तो मैं जिसको अभी संन्यास कह रहा हूं, ठीक से समझें तो वानप्रस्थी। वानप्रस्थी का मतलब यह है कि वह घर में है, लेकिन रुख उसका मंदिर की तरफ है। दुकान पर है, लेकिन ध्यान उसका मंदिर की तरफ है। काम में लगा है, लेकिन ध्यान किसी दिन काम से मुक्त हो जाने की तरफ है। राग में है, रंग में है, फिर भी साक्षी की तरफ उसका ध्यान दौड़ रहा है। उसकी सुरति परमात्मा में लगी है। इसके स्मरण का नाम मैं अभी संन्यास कहता हूं।

यह संन्यास की बड़ी प्राथमिक धारणा है। लेकिन मैं मानता हूं कि जैसी आज समाज की स्थिति है, उसमें यह प्राथमिक संन्यास ही फलित हो जाए, तो हम अंतिम संन्यास की भी आशा कर सकते हैं। बीज हो जाए, तो वृक्ष की भी आशा कर सकते हैं। इसलिए जो जहां है, उसे मैं वहीं संन्यासी होने को कहता हूं--घर में, दुकान पर, बाजार में--जो जहां है, वहीं संन्यासी होने को कहता हूं, सब करते हुए। लेकिन सब करते हुए भी संन्यासी होने की जो धारणा है, संकल्प है, वह सबसे तोड़ देगा और साक्षी पैदा होने लगेगा। आज नहीं कल, यह वानप्रस्थ जीवन संन्यस्त जीवन में रूपांतरित हो जाए, ऐसी आकांक्षा और आशा की जा सकती है।

सक्ताः कर्मण्यविद्वांसो यथा कुर्वन्ति भारत।

कुर्याद्विद्वांस्तथासक्तश्चिकीर्षुर्लोकसंग्रहम्।। 25।।

इसलिए हे भारत, कर्म में आसक्त हुए अज्ञानीजन जैसे कर्म करते हैं, वैसे ही अनासक्त हुआ विद्वान (भी) लोकशिक्षा को चाहता हुआ कर्म करे।

कर्म में आसक्त अज्ञानीजन जैसा कर्म करते हैं, ठीक वैसा ही अनासक्त व्यक्ति भी कर्म करे। कर्म में जो आसक्त है, वह तो करता ही है, लेकिन करता है आसक्ति के कारण। इसीलिए हमें कठिन होती है यह बात समझनी कि अनासक्त होकर कर्म कैसे करेंगे! फिर कारण क्या होगा? अभी तो धन इकट्ठा करना है। आनंद मालूम होता है धन में, इसलिए धन इकट्ठा करते हैं, अभी तो बड़ा मकान अहंकार को तृप्ति देता है, इसलिए बड़ा मकान बनाते हैं। अभी तो दौड़ते हैं, धूपते हैं, विक्षिप्त होकर श्रम करते हैं, क्योंकि आसक्ति है भीतर। लेकिन अनासक्त हो जाएंगे, आसक्ति नहीं होगी, तो फिर कैसे दौड़ेंगे? फिर कैसे भागेंगे? फिर कैसे श्रम करेंगे?

तो कृष्ण यहां दो बातें कहते हैं। एक तो वे यह कहते हैं कि ठीक वैसा ही कर्म करें, जैसा आसक्त व्यक्ति कर्म करता है। अंतर कर्म में न करें, अंतर आसक्ति में करें। क्या होगा इससे? इससे जीवन एक अभिनय हो जाएगा। एक अभिनेता भी तो कर्म करता है।

राम की सीता खो जाती है। राम जंगल में चिल्लाते हैं, रोते हैं, पुकारते हैं, सीता! सीता कहां है? वृक्षों को पकड़कर सिर पीटते हैं, सीता कहां है? फिर रामलीला में बना हुआ राम भी, सीता खो जाती है, तो चिल्लाता है। राम से जरा ज्यादा ही आवाज में चिल्लाता है! क्योंकि राम के लिए कोई आडिएंस वहां नहीं थी, कोई देखने वाला, सुनने वाला नहीं था। धीमे चिल्लाए होंगे, तो भी चला होगा; जोर से चिल्लाए होंगे, तो भी चला होगा। लेकिन अभिनेता जोर से चिल्लाता है। राम एक-दो दफे ही कहे होंगे, तो भी चल गया होगा। अभिनेता को बहुत

बार चिल्लाना पड़ता है, पूरी प्रक्रिया करनी पड़ती है। अगर एक कोने में राम और एक कोने में अभिनेता खड़ा किया जाए, तो शायद अभिनेता ही प्रतियोगिता में जीत जाए! उसके भी कारण हैं, क्योंकि राम को तो एक ही दफे, बिना रिहर्सल के, ऐसा मौका आया। अभिनेता के लिए रिहर्सल के काफी मौके मिले। फिर अभिनेता वर्षों से कर रहा है राम का पार्ट अदा। लेकिन अभिनेता और राम में वही फर्क है, जो कृष्ण कह रहे हैं। अभिनेता कर्म तो पूरा कर रहा है, लेकिन आसक्ति कोई भी नहीं है।

कर्म हो सकता है बिना आसक्ति के। अभिनय से समझें। इसलिए हम कृष्ण के जीवन को लीला कहते हैं और राम के जीवन को चरित्र कहते हैं। राम का जीवन लीला नहीं है। राम बहुत गंभीर हैं, बहुत सीरियस हैं। एक-एक चीज तौलते हैं, नापते हैं। खेल नहीं है जिंदगी; जिंदगी एक काम है, वहां रत्ती-रत्ती हिसाब है। कृष्ण की जिंदगी एक अभिनय है, वहां कुछ हिसाब नहीं है। वहां खेल है। वहां जो वे कर रहे हैं, कर रहे हैं पूरी तरह, और फिर भी भीतर जैसे कोई दूर, अलूफ खड़ा हुआ है। इसलिए कृष्ण के जीवन को हम कहते हैं लीला, चरित्र नहीं। चरित्र में बड़ा गंभीर होना पड़ता है। चरित्र में जो हम कर रहे हैं, उससे संयुक्त होना पड़ता है। लीला में जो हम कर रहे हैं, उससे वियुक्त होना पड़ता है। कृष्ण अगर रोएं भी, तो भरोसा मत करना। और कृष्ण अगर हंसें भी, तो भरोसा मत करना। और कृष्ण प्रेम भी करें, तो भरोसा मत करना। और कृष्ण सुदर्शन लेकर लड़ने भी खड़े हो जाएं, तो भरोसा मत करना। क्योंकि यह आदमी सब कृत्यों के बाहर ही खड़ा है। इसके लिए पूरी पृथ्वी एक नाटक के मंच से ज्यादा नहीं है।

वही वे अर्जुन से कह रहे हैं। वे कह रहे हैं, कर तो तू ठीक वैसा ही, पूरी कुशलता से, जैसा अज्ञानीजन आसक्त होकर कर्म करते हैं। लेकिन हो अनासक्त। अर्थात तू अभिनय कर। तू यह मत सोच कि तू युद्ध कर रहा है। तू यही सोच कि अभिनय कर रहा है। तू यह मत सोच कि तू लोगों को मार रहा है और लोग मर रहे हैं। तू यही सोच कि तू अभिनय कर रहा है। लेकिन हम अभिनय में भी कभी-कभी इतने उलझ जाते हैं--अभिनय में भी--कि वह भी कर्म मालूम पड़ने लगता है।

मैंने सुना है कि एक बार रामलीला में ऐसा हो गया। जो रावण बना था और जो स्त्री सीता बनी थी, वे दोनों एक-दूसरे के प्रेमी थे, मंच के बाहर। इसका पता न था मंडली को। और यह भी ख्याल न था कि उपद्रव हो जाएगा। उपद्रव हो गया। क्योंकि जब स्वयंवर रचा और लोग चिल्लाने लगे कि रावण, तू लंका जा, लंका में आग लगी है। रावण ने कहा, आज न जाऊंगा। बड़ी मुश्किल खड़ी हो गई। रावण उठा और उसने उठाया धनुष-बाण और तोड़कर रख दिया। और उसने कहा जनक से कि निकाल सीता कहां है?

वह तो जनक थोड़ा समझदार आदमी था। उसने अपने नौकरों से कहा, भृत्यो, यह तुम मेरे बच्चों के खेलने का धनुष-बाण उठा लाए, शिवजी का धनुष कहां है? परदा गिराया, रावण को निकाल बाहर किया! दूसरे आदमी को रावण बनाया। तब पीछे पता चला कि वे प्रेमी थे। ऐसे तो शादी नहीं हो सकती थी, उसने सोचा कि यहीं हो जाए! भूल गया कि हम रावण का पार्ट करने आए हैं। अभिनय में भी ऐसा हो जाता है। इससे उलटा भी हो सकता है। जीवन में भी अभिनय हो सकता है।

अज्ञानीजन आसक्त होकर, मोहग्रस्त होकर, जैसे कर्म में डूबे हुए दिखाई पड़ते हैं, कृष्ण कहते हैं, तू भी उसी तरह डूब। फर्क डूबने में मत कर, फर्क डूबने वाले में कर। फर्क कर्म में मत कर, फर्क कर्ता में कर। फर्क बाहर मत कर, फर्क भीतर कर।

कृष्ण का सारा जोर, वह जो इनर रियलिटी है, वह जो भीतर का सत्य है, उसको रूपांतरित करने का है। उसको बदल डाल! वहां तू बस अभिनेता हो जा। लेकिन अर्जुन तो पूछेगा न, कि अभिनेता भी क्यों हो जाऊं?

क्योंकि अभिनेता अभी अर्जुन हो नहीं गया। इसलिए बेचारे कृष्ण को मजबूरी में, इन कंपल्शन, एक कारण बताना पड़ता है। और वह कारण यह कि लोकमंगल के कारण, लोक के मंगल के लिए।

वस्तुतः इस कारण की भी कोई जरूरत नहीं है। और अगर कृष्ण कृष्ण की ही हैसियत से बात करते होते, दूसरा आदमी भी कृष्ण की हैसियत का आदमी होता, तो यह शर्त न जोड़ी गई होती। क्योंकि अनासक्त व्यक्ति का कर्म अनकंडीशनल है। जब सारा लोक ही लीला है, तो लोकमंगल की बात भी बेमानी है। लेकिन कृष्ण को जोड़नी पड़ती है यह शर्त। जिससे वे बात कर रहे हैं, वह पूछेगा, फिर भी कोई कारण तो हो? कि अभिनय भी बेकार करें? जहां कोई देखने ही न आया हो, वहां अभिनय क्या करें? तो कृष्ण कहते हैं, दर्शकों के आनंद के लिए तू अभिनय कर।

यह जो दूसरी बात वे कह रहे हैं कि लोकमंगल के लिए, इस बात को कृष्ण बहुत मजबूरी में कह रहे हैं। यह मजबूरी अर्जुन की समझ के कारण पैदा हुई है। अर्जुन समझ ही नहीं सकता कि बिना कारण भी कोई कर्म हो सकता है, अकारण भी, अनकाज्ड, अनकंडीशनल, बेशर्त। कि जहां कोई वजह नहीं है, तो वहां क्यों काम करूं? हम भी पूछेंगे, हम भी कहेंगे कि यह तो बिल्कुल पागल का काम हो जाएगा। जब कोई भी कारण नहीं है, तो काम करें ही क्यों? हमारा वही आसक्त मन पूछ रहा है। आसक्त मन कहता है, कारण हो, तो काम करो। कारण न हो, तो मत करो। यह हमारे आसक्त मन की शर्त है। यह हमारा आसक्त मन या तो कहता है कि लोभ हो, तो काम करो; लोभ न हो, तो मत करो, विश्राम करो। यह आसक्त मन का तर्क है।

अर्जुन तो आसक्त है। अभी वह अनासक्त हुआ नहीं। कृष्ण को उसको ध्यान में रखकर एक बात और कहनी पड़ती है। अन्यथा इतना कहना काफी है कि जैसे अज्ञानी आसक्तजन कर्म करते हैं, ऐसा ही तू अनासक्त होकर कर। अभिनेता हो जा। लेकिन इतना अर्जुन के लिए काफी नहीं होगा। अर्जुन के लिए थोड़ा-सा कारण चाहिए। तो कृष्ण कहते हैं, दूसरों के हित के लिए! दूसरों के हित के लिए तू कर। क्यों? इतना झूठ भी क्यों? है वह झूठ। झूठ इस अर्थों में--ऐसा नहीं है कि दूसरों का हित नहीं होगा; ध्यान रखें, दूसरों का हित होगा, उस अर्थ में झूठ नहीं है--झूठ इस अर्थों में कि अनासक्त कर्म के लिए इतनी शर्त भी उचित नहीं है।

इसलिए मैं आपसे कहना चाहूंगा कि कृष्ण, बुद्ध और महावीर के सभी वचन पूर्ण सत्य नहीं हैं; उनमें थोड़ा असत्य आता है। उनके कारण, जिनसे वे बोले गए हैं। क्योंकि पूर्ण सत्य अर्जुन नहीं समझ सकता। पूर्ण सत्य बुद्ध के सुनने वाले नहीं समझ सकते। पूर्ण सत्य बोलना हो, तो असत्य मिश्रित होता है। और अगर पूर्ण सत्य ही बोलना हो और असत्य मिश्रित न करना हो, तो चुप रह जाना पड़ता है, बोलना नहीं पड़ता। इन दो के अतिरिक्त कोई उपाय नहीं है।

इस दूसरे हिस्से में अर्जुन को कारण बताया जा रहा है। वह कारण वैसे ही है जैसे हम मछलियों के लिए, पकड़ने के लिए आटा और आटे के भीतर कांटा लगाकर डाल देते हैं। मछली कांटा नहीं पकड़ेगी, भाग खड़ी होगी। अर्जुन भी शुद्ध अनासक्त कर्म नहीं पकड़ सकता। वह कहेगा, फिर करें ही क्यों? यही तो मैं कह रहा हूं माधव! वह कहेगा, यही तो मैं कह रहा हूं कृष्ण! कि जब अनासक्ति ही है, तो मैं जाता हूं। कर्म क्यों करूं? यही तो मैं कह रहा हूं! आप भी यही कह रहे हैं, तो मुझे जाने दें। इस युद्ध से बचाएं, इस भयंकर कर्म में मुझे न जोतें।

कृष्ण को उस कांटे पर थोड़ा आटा भी लगाना पड़ता है। वह आटा लोकमंगल का है। तो शायद अर्जुन लोकमंगल के लिए... । क्यों? लेकिन अगर अर्जुन की जगह ब्राह्मण होता, तो लोकमंगल काम नहीं करता शब्द। क्षत्रिय को काम कर सकता है। क्षत्रिय को काम कर सकता है। अगर बुद्ध से कृष्ण ने कहा होता कि लोकमंगल के

लिए रुके रहो राजमहल में, वे कहते, कोई लोकमंगल नहीं है। जब तक आत्मा का मंगल नहीं हुआ, तब तक लोकमंगल हो कैसे सकता है? बुद्ध स्पष्ट कह देते कि बंद करो गीता, हम जाते हैं!

वह आदमी ब्राह्मण है। उस आदमी पर कृष्ण की गीता काम न करती उस तरह से, जिस तरह से अर्जुन पर काम कर सकती है। असल में कृष्ण ने फिर यह गीता कही ही न होती। यह गीता एड्रेस्ड है। यह अर्जुन के लिए, क्षत्रिय व्यक्तित्व के लिए है। इस पर पता लिखा है। इसलिए वे कहते हैं, लोकमंगल के लिए। क्योंकि क्षत्रिय के मन में, लोग क्या कहते हैं, इसका बड़ा भाव है। शक्ति के आकांक्षी के मन में, लोग क्या कहते हैं, लोगों का क्या होता है, इसका बड़ा भाव है। क्षत्रिय अपने पर पीछे, लोगों की आंखों में पहले देखता है। लोगों की आंखों में देखकर ही वह अपनी चमक पहचानता है।

इसलिए कृष्ण बार-बार अर्जुन को कहते हैं, लोकमंगल के लिए। ऐसा नहीं है कि लोकमंगल नहीं होगा, लोकमंगल होगा। लेकिन वह गौण है, वह हो जाएगा; वह बाइप्रोडक्ट है। लेकिन कृष्ण को जोर देना पड़ता है लोकमंगल के लिए, क्योंकि वे जानते हैं, सामने जो बैठा है, शायद लोगों के मंगल के लिए ही रुक जाए। शायद लोगों की आंखों में उसके लिए जो भाव बनेगा, उसके लिए रुक जाए। क्षत्रिय है। यद्यपि रुक जाए, तो कृष्ण धीरे-धीरे उसे उस अनासक्ति पर ले जाएंगे, जहां आटा निकल जाता है और कांटा ही रह जाता है। एक-एक कदम, एक-एक कदम बढ़ना होगा। और कृष्ण एक-एक कदम ही बढ़ रहे हैं।

न बुद्धिभेदं जनयेदज्ञानां कर्मसंगिनाम्।

जोषयेत्सर्वकर्माणि विद्वान्युक्तः समाचरन्।। 26।।

तथा ज्ञानी पुरुष को चाहिए कि कर्मों में आसक्ति वाले अज्ञानियों की बुद्धि में भ्रम अर्थात कर्मों में अश्रद्धा उत्पन्न न करे, किंतु स्वयं परमात्मा के स्वरूप में स्थित हुआ और सब कर्मों को अच्छी प्रकार करता हुआ उनसे भी वैसा ही करावे।

यह सूत्र बहुमूल्य है। बहुत-सी दिशाओं से इसे समझना हितकर है। ज्ञानीजन को चाहिए कि अज्ञानियों के मन में कर्म के प्रति अश्रद्धा उत्पन्न न करे। ज्ञानीजन को चाहिए कि अज्ञानीजनों के जीवन में उत्पात न हो जाए, इसका ध्यान रखे। ज्ञानी की स्थिति वस्तुतः बहुत नाजुक है। नाजुक उसी तरह, जैसे किसी पागलखाने में उस आदमी की होती है, जो पागल नहीं है। पागलखाने में पागल इतनी नाजुक स्थिति में नहीं होते, जितनी नाजुक स्थिति में वह आदमी होता है, जो पागल नहीं होता है।

मैं अपने एक मित्र को जानता हूं, जो पागल हो गए थे। घर से भाग गए। चोरी, और-और न मालूम क्या-क्या पागलपन में किया। अपना नाम-पता भी भूल गए। फिर किसी अदालत ने उन्हें डेढ़ साल की सजा दे दी और लाहौर के पागलखाने में बंद करवा दिया। छह महीने तक तो वे पूरे पागल थे। किसी दिन भूल-चूक से पागलखाने के अधिकारियों की, फिनाइल का पूरा डब्बा मिल गया, वे उसको पी गए। फिनाइल पी जाने से कुछ हुआ--कभी ऐसा हो जाता है--कि उनको इतने कै-दस्त हुए कि उनका पागलपन कै-दस्त में निकल गया। पांच-सात दिन के बाद वे बिल्कुल स्वस्थ हो गए। पागल न रहे।

तो वे मुझे कहते थे कि मुझे सालभर फिर गैर-पागल हालत में पागलों के बीच बितानी पड़ी। और वह जो कष्ट मैंने देखा जिंदगी में, उसका कोई हिसाब नहीं। जब तक पागल था, मुझे कष्ट का कोई पता ही नहीं था। क्योंकि जो दूसरे कर रहे थे, वही मैं भी कर रहा था। सब लाजिकल मालूम होता था। सब ठीक मालूम होता

था। अगर कोई मेरा सिर हिला देता था, पैर खींच लेता था, तो कुछ गड़बड़ नहीं मालूम होती थी, सब ठीक मालूम होता था। जब मैं ठीक हो गया, तब उपद्रव शुरू हुआ। क्योंकि अब मैं दूसरे के पैर नहीं खींच सकता था, लेकिन दूसरे तो मेरे खींचे ही चले जा रहे थे। और जितना ही मैं अधिकारियों से कहता कि मैं बिल्कुल ठीक हूं, तो वे कहते, यह तो सभी पागल कहते हैं। अगर न कहूं कि मैं बिल्कुल ठीक हूं, तो कोई सुनने वाला नहीं है; अगर कहूं, तो भी कोई सुनने वाला नहीं। क्योंकि वे कहते, यह तो सभी पागल कहते हैं। कौन पागल है, जो मानता है कि मैं पागल हूं! एक साल पागलखाने में गैर-पागल को बितानी पड़ी।

ज्ञानी की हालत करीब-करीब अज्ञानियों के बीच ऐसी ही डेलिकेट, ऐसी ही नाजुक हो जाती है। अगर ज्ञानी अपने ज्ञान के अनुसार आचरण करे, तो अनेक अज्ञानियों के लिए भटकने का कारण बन सकता है। अगर ज्ञानी अपने शुद्ध आचरण में जीए, तो अनंत अज्ञानियों के लिए और गहन अंधकार में, गहन नर्क में गिरने का कारण बन सकता है। अगर ज्ञानी अपने शुद्ध ज्ञान की बात भी कहे, तो अनेक अज्ञानियों के जीवन को अस्तव्यस्त कर देगा।

ज्ञानी कैसे आचरण करे; क्या कहे, क्या न कहे; कैसे उठे, कैसे बैठे; क्या बोले, क्या न बोले--यह बड़ा नाजुक मामला है। और कई बार जब ज्ञानी इतना स्मरण नहीं रखता, तो नुकसान पहुंचता है। बहुत बार पहुंचा है। क्योंकि ज्ञानी जहां से बोलता है, वहां से वह अज्ञानी के चित्त में प्रकाश का द्वार खोले, यह जरूरी नहीं है। जरूरी नहीं है कि उसकी वाणी, उसका आचरण सूर्य का द्वार बन जाए अज्ञानी के जीवन में। यह भी हो सकता है कि अज्ञानी का जो टिमटिमाता दीया था, जिसकी रोशनी में वह किसी तरह टटोलकर जी लेता था, वह भी बुझ जाए।

इतना तो निश्चित है कि जिसने सूर्य को देखा, वह कहेगा, बुझा दो दीयों को, इनसे क्या होने वाला है! इतना तो निश्चित है, जिसने अनासक्त कर्म को अनुभव किया, वह कहेगा, पागलपन कर रहे हो तुम। लेकिन पागलपन कह देने से कुछ पागलपन नहीं होता। और पागल एक चीज को छोड़कर दूसरे को पकड़ ले, तो भी कुछ फर्क नहीं पड़ता; अंतर जरा भी नहीं आता। वह आदमी वही का वही रह जाता है। सिर्फ रूप, आकार बदल जाते हैं।

इसलिए कृष्ण यहां एक बहुत महत्वपूर्ण सूत्र कह रहे हैं। शायद इस सदी के लिए और भी ज्यादा महत्वपूर्ण, क्योंकि इस सदी का सारा उपद्रव अज्ञानियों के कारण कम और ज्ञानियों के कारण ज्यादा है। फ्रायड ने कुछ सत्य उपलब्ध किए, ये सत्य नए नहीं हैं। ये सत्य पतंजलि को भी पता हैं; ये सत्य मौलिक नहीं हैं। ये सत्य गौतम बुद्ध को भी पता हैं; ये सत्य कोई बहुत नूतन आविष्कार नहीं हैं। जिन्होंने भी जीवन की गहराई में प्रवेश किया है, उन्हें इनका सदा ही पता रहा है। लेकिन फिर भी ये सत्य इस भांति कभी नहीं कहे गए थे, जिस भांति फ्रायड ने कहे हैं। फ्रायड को कृष्ण के इस सूत्र का कोई पता नहीं है। इसलिए इन सत्यों से लाभ नहीं हुआ, हानि हुई है। इसलिए इन सत्यों से मंगल नहीं हुआ, अमंगल हुआ है।

कृष्णमूर्ति जो कहते हैं, वह कृष्ण को भलीभांति पता था, बुद्ध को भी पता था, महावीर को भी पता था, लाओत्से को भी पता था, क्राइस्ट को भी पता था। लेकिन क्राइस्ट, लाओत्से, बुद्ध और महावीर और कृष्ण ने इस भांति नहीं कहा, जिस भांति वे कहते हैं। इसलिए बुद्ध, क्राइस्ट और महावीर से तो लोगों के जीवन में मंगल फलित हुआ; कृष्णमूर्ति की बातों से मंगल फलित नहीं हुआ है, नहीं हो सकता है। इसलिए नहीं कि जो कहा जा रहा है वह गलत है, बल्कि इसलिए कि वह जिनसे कहा जा रहा है, उनको बिना समझे कहा जा रहा है।

इसलिए चालीस-चालीस वर्ष से कृष्णमूर्ति को लोग बैठकर सुन रहे हैं। उससे कृष्णमूर्ति उनकी समझ में नहीं आए, सिर्फ महावीर, बुद्ध और कृष्ण उनकी समझ के बाहर हो गए हैं। उससे सूरज उनकी जिंदगी में नहीं उतरा, सिर्फ जो उनके पास छोटे-मोटे दीए थे, वे भी उन्होंने बुझा दिए हैं। और अब अगर उनसे कोई दीयों की बात करे, तो वे सूरज की बात करते हैं। और सूरज उनकी जिंदगी में नहीं है। अब अगर उनसे कोई साधना की बात करे, तो वे कहते हैं, साधना से क्या होगा? साधना से कुछ नहीं हो सकता। और बिना साधना की उनकी जिंदगी में कुछ भी नहीं हुआ है! अब अगर उनसे कोई उपाय की बात करे कि इस उपाय से मन शांत होगा, आनंदित होगा, तो वे कहेंगे, उपाय से कंडीशनिंग हो जाती है, संस्कार हो जाते हैं। उपाय से कुछ भी नहीं हो सकता, इससे तो कंडीशनिंग हो जाएगी। और नान-कंडीशनिंग उनकी हुई नहीं है सुन-सुनकर। सूरज उतरा नहीं! जिन दीयों से सूरज के अभाव में काम चल सकता था, वे भी बुझा दिए गए हैं। सूरज निकल आए, फिर तो दीए अपने से ही बुझ जाते हैं, बुझाने नहीं पड़ते। और जलते भी रहें, तो दिखाई नहीं पड़ते। उनका कोई अर्थ ही नहीं रह जाता, वे व्यर्थ हो जाते हैं। लेकिन सूरज न निकले, तो छोटे-से दीए भी काम करते हैं।

बुद्ध और महावीर में ज्यादा करुणा है, कृष्णमूर्ति के बजाय। कृष्ण और क्राइस्ट में ज्यादा करुणा है, कृष्णमूर्ति के बजाय। करुणा इस अर्थों में कि वे निपट सत्य को निपट सत्य की तरह नहीं कह दे रहे हैं, आप पर भी ध्यान है कि जिससे कह रहे हैं, उस पर क्या होगा! सवाल यही महत्वपूर्ण नहीं है कि मैं कह दूं सत्य को। सवाल यह भी महत्वपूर्ण है, परिणाम क्या है? इससे होगा क्या? उससे जो होगा, वह ज्यादा महत्वपूर्ण है, बजाय मेरे कह देने के। क्योंकि अंततः मैं कह इसलिए रहा हूं कि कुछ हो, और वह मंगलदायी हो।

फ्रायड ने, डार्विन ने, कृष्णमूर्ति ने सारे जगत में जो बातें कही हैं, वे झूठ नहीं हैं, वे सच हैं। उनकी सचाई में रत्तीभर फर्क नहीं है। लेकिन उन्हें बुद्धिमानी से नहीं कहा गया है। जानते हैं; जो जानते हैं, वह ठीक जानते हैं। लेकिन जिनसे कहा जा रहा है, उन्हें ठीक से नहीं जानते। आदमी से गलत छुड़ा लेना बहुत आसान है, जरा भी कठिन नहीं है। किसी चीज को भी गलत सिद्ध कर देना बहुत आसान है, जरा भी कठिन नहीं है। लेकिन सही का पदार्पण, सही का आगमन और अवतरण बहुत कठिन है।

कृष्ण यही कह रहे हैं। वे यह कह रहे हैं कि अर्जुन, अनासक्त व्यक्ति को अज्ञानियों पर ध्यान रखकर जीना चाहिए। ऐसा न हो कि अनासक्त व्यक्ति छोड़कर भाग जाए, तो अज्ञानी भी छोड़कर भाग जाएं। अनासक्त छोड़कर भागेगा, तो उसका कोई भी अहित नहीं है। लेकिन अज्ञानी छोड़कर भाग जाएंगे, तो बहुत अहित है। क्योंकि अज्ञान में छोड़कर वे जहां भागेंगे, वहां फिर कर्म घेर लेगा। उससे कोई अंतर नहीं पड़ने वाला है। दुकान छोड़कर मंदिर में जाएगा अज्ञानी, तो मंदिर में नहीं पहुंचेगा, सिर्फ मंदिर को दुकान बना देगा। कोई फर्क नहीं पड़ेगा। खाते-बही पढ़ते-पढ़ते एकदम से गीता पढ़ेगा, तो गीता नहीं पढ़ेगा, गीता में भी खाते-बही ही पढ़ेगा।

अज्ञानी सत्यों का भी दुरुपयोग कर सकता है, करता है। सत्यों का भी दुरुपयोग हो सकता है और असत्यों का भी सदुपयोग हो सकता है। ज्ञानी छोड़ दे सब। अज्ञानी भी छोड़ना चाहता है, लेकिन छोड़ना चाहने के कारण बिल्कुल अलग हैं। ज्ञानी इसलिए छोड़ देता है कि पकड़ना, न पकड़ना, बराबर हो गया। चीजें छूट जाती हैं, दे जस्ट विदर अवे। अज्ञानी छोड़ता है; चीजें छूटती नहीं, चेष्टा करके छोड़ देता है। जिस चीज को भी चेष्टा करके छोड़ा जाता है, उसमें पीछे घाव छूट जाता है।

जैसे कच्चे पत्ते को कोई वृक्ष से तोड़ लेता है, कच्ची डाल को कोई वृक्ष से तोड़ लेता है, तो पीछे घाव छूट जाता है। पका पत्ता भी टूटता है, लेकिन कोई घाव नहीं छूटता। पके पत्ते को सम्हलकर छूटना चाहिए, कच्चे पत्तों को टूटने का ख्याल न आ जाए। कच्चे पत्ते भी टूटने के लिए आतुर हो सकते हैं। पके पत्ते का आनंद देखेंगे हवाओं

में उड़ते हुए और खुद को पाएंगे बंधा हुआ। और पका पत्ता हवाओं की छाती पर सवार होकर आकाश में उठने लगेगा, और पका पत्ता पूर्व और पश्चिम दौड़ने लगेगा, और पके पत्ते की स्वतंत्रता--वृक्ष से टूटकर, मुक्त होकर--कच्चे पत्तों को भी आकर्षित कर सकती है। वे भी टूटना चाह सकते हैं। वे भी कह सकते हैं, हम भी क्यों बंधे रहें इस वृक्ष से! टूटें। लेकिन तब पीछे वृक्ष में भी घाव छूट जाता और कच्चे पत्ते में भी घाव छूट जाता। और घाव खतरनाक है।

इसलिए ध्यान रखें, पका पत्ता जब वृक्ष से गिरता है, तो सड़ता नहीं। कच्चा पत्ता जब वृक्ष से गिरता है, तो सड़ता है। पका पत्ता सड़ेगा क्या! सड़ने के बाहर हो गया पककर। कच्चा पत्ता जब भी टूटेगा तो सड़ेगा। अभी कच्चा ही था; अभी पका कहां था? अभी तो सड़ेगा। और ध्यान रखें, पकना एक बात है, और सड़ना बिल्कुल दूसरी बात है।

कच्चा आदमी वैसा ही होता है, जैसे कच्ची लकड़ी को हम ईंधन बना लें। तो आग तो कम जलती है, धुआं ही ज्यादा निकलता है। पकी लकड़ी भी ईंधन बनती है, लेकिन तब धुआं नहीं निकलता, आग जलती है। जो व्यक्ति जानकर जीवन से छूट जाता है सहज, वह पकी लकड़ी की तरह ईंधन बन जाता है, उसमें धुआं नहीं होता। कच्चे व्यक्ति अगर छूट जाते हैं पक्के लोगों को देखकर, तो आग पैदा नहीं होती, सिर्फ धुआं ही धुआं पैदा होता है। और लोगों की आंखें भर जलती हैं, भोजन नहीं पकता है।

कृष्ण कह रहे हैं, ज्ञानी को बहुत ही... तलवार की धार पर चलना होता है। उसे ध्यान रखना होता है अपने ज्ञान का भी, चारों तरफ घिरे हुए अज्ञानियों का भी। इसलिए ऐसा उसे बर्तना चाहिए कि वह किसी अज्ञानी के कर्म की श्रद्धा को चोट न बन जाए; वह उसके कर्म के भाव को आघात न बन जाए; वह उसके जीवन के लिए आशीर्वाद की जगह अभिशाप न बन जाए।

बन गए बहुत दफा ज्ञानी अभिशाप! और अगर ज्ञान के प्रति इतना भय आ गया है, तो उसका कारण यही है। बुद्ध को देखकर लाखों लोग घर छोड़कर चले गए। चंगेज खां ने भी लाखों घरों को बरबाद किया। लेकिन चंगेज खां को इतिहास दोषी ठहराएगा, बुद्ध को नहीं ठहराएगा। हजारों स्त्रियां रोती, तड़पती-पीटती रह गईं। हजारों बच्चे अनाथ हो गए पिता के रहते। हजारों स्त्रियां पतियों के रहते विधवा हो गईं। हजारों घरों के दीए बुझ गए। कृष्ण यही कह रहे हैं... । और इसके दुष्परिणाम घातक हुए और लंबे हुए। इसका सबसे घातक परिणाम यह हुआ कि संन्यास में एक तरह का भय समाहित हो गया।

अब अगर मेरे पास कोई आता है--और मेरा संन्यास बिल्कुल और है; अभिशाप की तरह नहीं है, वरदान की तरह है--तो वह कहता है, मेरी पत्नी खिलाफ है। क्योंकि पत्नी संन्यासी के खिलाफ होगी ही। पत्नी अगर आती है, तो वह कहती है, मेरा पति खिलाफ है कि भूलकर संन्यास मत ले लेना। क्योंकि संन्यास की जो धारणा निर्मित हुई हमारे देश में, वह धारणा कच्चे पत्तों के टूटे होने की धारणा थी। तो डर लगता है कि अगर पति संन्यासी हुआ, तो क्या होगा? सब बरबाद हो जाएगा। पत्नी संन्यासिनी हो गई, तो क्या होगा? सब बरबाद हो जाएगा।

बुद्ध और महावीर के अनजाने ही कच्चे पत्ते टूटे। और कच्चे पत्ते टूटे, तो पीछे घाव छूट गए। वे घाव अब तक भी मनस, हमारे समाज के मानस में भर नहीं गए हैं। अभी भी दूसरे का बेटा संन्यासी हो, तो हम फूल चढ़ा आते हैं उसके चरणों में; खुद का बेटा संन्यासी होने लगे, तो प्राण कंपते हैं। खुद का बेटा चोर हो जाए, तो भी चलेगा; संन्यासी हो जाए, तो नहीं चलता है। डाकू हो जाए, तो भी चलेगा। कम से कम घर में तो रहेगा! दो साल सजा काटेगा, वापस आ जाएगा। संन्यासी हो जाए, तो गया; फिर कभी वापस नहीं लौटता। इसलिए इस

देश में संन्यास को हमने इतना आदर भी दिया, उतने ही हम भयभीत भी हैं भीतर; डरे हुए भी हैं; घबड़ाए हुए भी हैं। यह घबड़ाहट उन ज्ञानियों के कारण पैदा हो जाती है, जो अज्ञानियों का बिना ध्यान लिए वर्तन करते हैं।

तो कृष्ण कहते हैं कि तू ऐसा बर्त कि तेरे कारण किसी अज्ञानी के सहज जीवन की श्रद्धा में कोई बाधा न पड़ जाए। हां, ऐसी कोशिश जरूर कर कि तेरी सुगंध, तेरे अनासक्ति की सुवास, उनके जीवन में भी धीरे-धीरे अनासक्ति की सुवास बने, अनासक्ति की सुगंध बने और वे भी जीवन में रहते हुए अनासक्ति को उपलब्ध हो सकें। तो शुभ है, तो मंगल है, अन्यथा अनेक बार मंगल के नाम पर अमंगल हो जाता है।

आखिरी श्लोक।

प्रकृतेः क्रियमाणानि गुणैः कर्माणि सर्वशः।
अहंकारविमूढात्मा कर्ताहमिति मन्यते।। 27।।
(वास्तव में) संपूर्ण कर्म प्रकृति के गुणों द्वारा किए हुए हैं,
(तो भी) अहंकार से मोहित हुए अंतःकरण वाला पुरुष,
मैं कर्ता हूं, ऐसे मान लेता है।

समस्त कर्म प्रकृति के गुणों के द्वारा किए हुए हैं। लेकिन अज्ञान से, अहंकार से भरा हुआ पुरुष, मैं कर्ता हूं, ऐसा मान लेता है। दो बातें हैं।

सच ही, सब कुछ किया हुआ है प्रकृति का। जिसे आप कहते हैं, मैं करता हूं, वह भी प्रकृति का किया हुआ है। जिसे आप कहते हैं, मैं चुनता हूं, वह भी प्रकृति का चुना हुआ है। आप कहते हैं कि कोई चेहरा मुझे प्रीतिकर लगता है, चुनता हूं इस चेहरे को, विवाह करता हूं। लेकिन कभी आपने सोचा कि यह चेहरा आपको प्रीतिकर क्यों लगता है? अंधा है चुनाव! क्या कारण हैं इसके प्रीतिकर लगने का? यह आंख, यह नाक, यह चेहरा, प्रीतिकर क्यों लगता है? बस, लगता है। कुछ और कह सकेंगे, क्यों लगता है? शायद कहें कि आंख काली है। लेकिन काली आंख क्यों प्रीतिकर लगती है? यह आंख आपकी आंख में प्रीतिकर लगती है। यह आपकी प्रकृति और इस आंख की प्रकृति के बीच हुआ तालमेल है। इसमें आप कहां हैं?

आप कहते हैं, यह चीज मुझे बड़ी स्वादिष्ट लगती है। कभी आपने सोचा कि स्वादिष्ट लगती है, आपको? लेकिन बुखार चढ़ जाता है, और फिर स्वादिष्ट नहीं लगती। सिर्फ आपकी जीभ पर प्रकृति के रसों का और भोजन के रसों का तालमेल है। आप नाहक बीच में पड़ जाते हैं। आप नाहक हर जगह बीच में खड़े हो जाते हैं।

आप कहते हैं, मुझे जीने की इच्छा है। लेकिन आपको जीने की इच्छा है या आप ही जीने की इच्छा के एक अंग हैं? एक आदमी कहता है, मैं आत्महत्या कर रहा हूं। यह आदमी स्वयं आत्महत्या कर रहा है कि जीवन के सारे गुण उस जगह आ गए हैं, जहां आत्महत्या घटित होती है? यदि हम कर्मों में गहरे उतरकर देखें, और अहंकार में भी, तो अहंकार एक भ्रांति है। जीवन कर रहा है, सब कुछ जीवन कर रहा है। सुख-दुख, जो आपको सुखद लगता है, वह भी प्रकृति का गुणधर्म है। जो आपको दुखद लगता है, वह भी प्रकृति का गुणधर्म है।

मैं एक राजमहल में मेहमान था। पहली ही दफा राजमहल में मेहमान हुआ, तो बड़ी मुश्किल में पड़ गया, रातभर सो न सका। ऐसी मुश्किल मुझे कभी न आई थी। ऐसे सुख का कोई अभ्यास न था। सुख का भी अभ्यास चाहिए, अन्यथा दुख बन जाता है। क्योंकि तालमेल, कोई हार्मनी नहीं बन पाती। जिनका अतिथि था, उनके पास जो श्रेष्ठतम, जो भी श्रेष्ठतम था, उन्होंने इंतजाम किया था। गद्दी ऐसी थी कि मैं पूरा ही उसमें डूब

जाऊं। करवट लूं, तो मुसीबत; फिर नींद खुल जाए। एक तो नींद लगनी ही मुश्किल। ऊपर मसहरी पर पूरा आईना था। अंदर ही पंखे थे। जरा आंख खुले, तो पूरी तस्वीर ऊपर दिखाई पड़े! अकेला होना मुश्किल हो गया, अपनी ही तस्वीर पीछा करे! आधी रात तक जद्दोजहद की, लड़ाई की कि कोई तरह जीत जाऊं उस गद्दी से, जीत नहीं हो सकी। फिर नीचे फर्श पर सो गया और नींद आ गई। सुबह मित्र आए। मुझे फर्श पर देखा, तो दुखी हुए। और कहा कि कुछ अड़चन हुई आपको? इंतजाम ठीक नहीं कर पाए? मैंने कहा, ज्यादा कर दिया! फर्श पर बड़ा सुख मिला। तालमेल पड़ गया। गद्दी आपकी जरा ज्यादा गद्दी थी; अभ्यास नहीं था, तालमेल नहीं हो सका।

जिसे हम सुख कहते हैं, वह भी तालमेल है। जिसे हम दुख कहते हैं, वह भी तालमेल है या तालमेल का अभाव है। लेकिन मैं सुखी होता हूं, मैं दुखी होता हूं, वह भ्रांति है। सिर्फ मेरे भीतर जो प्रकृति है और मेरे बाहर जो प्रकृति है, उसके बीच संबंध निर्मित होते हैं। जन्म भी एक संबंध है, मृत्यु भी एक संबंध है। लेकिन मैं कहता हूं, मैं जन्मा; और मैं कहता हूं, मैं मरा। और जवानी भी एक संबंध है, मेरे भीतर की प्रकृति और बाहर की प्रकृति के बीच। और बुढ़ापा भी एक संबंध है। लेकिन मैं कहता हूं, मैं जवान हुआ और मैं बूढ़ा हुआ। हार भी एक संबंध है, मेरी प्रकृति के बीच और बाहर की प्रकृति के बीच। जीत भी एक संबंध है, मेरी प्रकृति के बीच और बाहर की प्रकृति के बीच। लेकिन मैं हारता हूं, मैं जीतता हूं-- अकारण, व्यर्थ।

कृष्ण कह रहे हैं, ज्ञानी पुरुष इस अहंकार, इस अज्ञान, इस भ्रम से बच जाता है कि मैं कर्ता हूं, और देखता है, प्रकृति करती है। और जैसे ही ख्याल आता है कि प्रकृति करती है, कि सब सुख-दुख खो जाते हैं। और जैसे ही ख्याल आता है कि प्रकृति के गुणधर्मों का फैलाव सब कुछ है, हम उसमें ही उठी हुई एक लहर से ज्यादा नहीं, उसके ही एक अंश--वैसे ही जीवन से आसक्ति-विरक्ति खो जाती है, और आदमी अनासक्त, वीतराग, ज्ञान को उपलब्ध हो जाता है। अर्जुन से वे कह रहे हैं कि तू लड़ रहा है, ऐसा मत सोच, प्रकृति लड़ रही है।

कौरवों की एक प्रकृति है, एक गुणधर्म है; पांडवों की एक प्रकृति है, एक गुणधर्म है। तालमेल नहीं है। संघर्ष हो रहा है। जैसे सागर की लहर आती और तट से टकराती। लेकिन हम कभी ऐसा नहीं कहते कि सागर की लहर तट से लड़ रही है। लेकिन अगर लहर को होश आ जाए और लहर चेतन हो जाए, तो लहर तैयारी करके आएगी कि लड़ना है तट से। और तट तैयारी रखेगा कि लड़ना है लहर से। अभी दोनों को कोई होश नहीं है, इसलिए कोई लड़ाई नहीं है। लहर तट से टकराती, बिखरती, तट भी टूटता रहता। दोनों गुणधर्म चलते रहते हैं। कहीं कोई जीतता नहीं, कहीं कोई हारता नहीं। आदमी, आदमियों की लहरें जब लड़तीं हैं, तो हम लड़ते हैं, प्रकृति को भूलकर।

कृष्ण के हिसाब से धर्म और अधर्म की लड़ाई है। कृष्ण के हिसाब से प्रकृति के बीच ही उठी हुई दो लहरों का संघर्ष है। इसमें अर्जुन नाहक ही... । हां, अर्जुन लहर के ऊपर है, एक लहर के ऊपर है; इसलिए भ्रम में हो सकता है कि मैं लड़ रहा हूं। इस भ्रम में हो सकता है कि मैं हारूंगा, मैं जीतूंगा। इस भ्रम में हो सकता है कि मैं मारूंगा, मिटूंगा। वह सिर्फ लहर के ऊपर है, जैसे समुद्र की लहर के ऊपर झाग होती है। झाग भी अकड़ उठे, अगर उसको होश आ जाए। लहर के ऊपर होती है। जैसे कि सम्राटों के सिर पर राजमुकुट होते हैं, ऐसे ही लहर पर झाग होती है। अर्जुन भी झाग है एक लहर की, वह दुर्योधन भी झाग है एक लहर की। दोनों लहरें टकराएंगी और प्रकृति निर्णय करती रहेगी कि क्या होना है।

जिस दिन कोई व्यक्ति जीवन को अहंकार से मुक्त करके देख पाता, उसी दिन हार-जीत, सुख-दुख, सब खो जाते हैं। ज्ञानी तब कर्म करता और कर्ता नहीं बनता है। ज्ञानी तब सब कुछ होता और फिर भी भीतर से कुछ

भी नहीं होता है। तब ज्ञानी जवान होता और जवान नहीं होता, भीतर वही रहता है, जो बचपन में था। और बूढ़ा होता और बूढ़ा नहीं होता है, भीतर वही रहता है, जो जवानी में था। और मरता है और नहीं मरता, भीतर वही रहता है, जो जीवन में था। तब ज्ञानी भीतर अस्पर्शित, अनटच्ड।

लेकिन स्पर्शित हो जाते हैं हम अहंकार के कारण। अहंकार बहुत सेंसिटिव है; छुआ नहीं कि दुखा नहीं। छुओ और दुखा। बस, अहंकार ही सारा स्पर्श ले लेता है। रास्ते पर आप जा रहे हैं, कोई हंस देता है। और आपका अहंकार स्पर्श ले लेता है; दुखी होने लगे। बड़ी मुश्किल है। एक लहर हंसती है, उसे हंसने दें। और एक लहर को हक है कि दूसरी लहर को देखकर हंसे। आप क्यों परेशान हैं? नहीं, लेकिन आप परेशान न होते, अगर आपने जाना होता कि प्रकृति ऐसी है।

आप गिर पड़े हैं। केले के छिलके पर पैर फिसल गया और चार लोग हंस दिए हैं। बिल्कुल ठीक है; इसमें कहीं कोई गड़बड़ नहीं है। जैसे छिलके के ऊपर पैर पड़ता है, आप गिर जाते हैं, वैसे ही उनके ऊपर आपके गिरने की घटना पड़ती है और हंसी फूट जाती है। यह सब प्रकृति का गुणधर्म है। आपके हाथ में नहीं है, छिलके पर पैर पड़ा, गिर गए। उनके हाथ में नहीं, कि हंसी बिखर गई। और आप अब दुखी होकर चले जा रहे हैं। अब कल आप जरूर उनके रास्ते पर छिलके बिछाएंगे। जरूर कल उनको गिराकर हंसना चाहेंगे। अब आप जाल में पड़ते हैं, अब आप व्यर्थ के जाल में पड़ते हैं। वह जाल अहंकार स्पर्शित होने से हुआ है।

कृष्ण इतना ही कहते हैं कि ज्ञानी करता है कर्म, लेकिन कर्ता नहीं बनता है। बस जो कर्ता नहीं बनता, वह जीवन के परम सत्य को उपलब्ध हो जाता है।

शेष रात बात करेंगे।

सातवां प्रवचन

अहंकार का भ्रम

तस्वविसु महाबाहो गुणकर्मविभागयोः।

गुणा गुणेषु वर्तन्ते इति मत्वा न सज्जते।। 28।।

परंतु हे महाबाहो, गुण-विभाग और कर्म-विभाग को जानने वाला ज्ञानी पुरुष, संपूर्ण गुण गुणों में ही बर्तते हैं, ऐसा मानकर आसक्त नहीं होता है।

जीवन को दो प्रकार से देखा जा सकता है। एक तो, जैसे जीवन का केंद्र हम हैं, मैं हूं और सारा जीवन परिधि है। कील मैं हूं और सारा जीवन परिधि है। अज्ञान की यही मनोदशा है। अज्ञानी केंद्र पर होता है, सारा जगत उसकी परिधि पर घूमता है। सब कुछ उसके लिए हो रहा है और सब कुछ उससे हो रहा है। न तो वह यह देख पाता है कि प्रकृति के गुण काम करते हैं, न वह यह देख पाता है कि परमात्मा की समग्रता कर्म करती है। जो कुछ भी हो रहा है, वही करता है। उसकी स्थिति ठीक वैसी होती है, जैसे मैंने एक कहानी सुनी है कि छिपकली राजमहल की दीवार पर छत से लटकी है और भयभीत है कि अगर वह छत से हट जाए, तो कहीं छत गिर न जाए! वही संभाले हुए है!

कुछ ही समय पहले, कोपरनिकस के पहले, आज से कुल तीन सौ वर्ष पहले आदमी सोचता था कि जमीन केंद्र है सारे यूनिवर्स का, सारे विश्व का। चांद-तारे जमीन के आस-पास घूमते हैं। सूरज जमीन का चक्कर लगाता है। दिखाई भी पड़ता है। सुबह उगता है, सांझ डूबता है। कोपरनिकस ने एक बड़ी क्रांति उपस्थित कर दी आदमी के मन के लिए, जब उसने कहा कि बात बिल्कुल उलटी है; सूरज जमीन के चक्कर नहीं लगाता, जमीन ही सूरज के चक्कर लगाती है। बहुत धक्का पहुंचा। धक्का इस बात से नहीं पहुंचा कि हमें कोई फर्क पड़ता है कि चक्कर कौन लगाता है, सूरज लगाता है कि जमीन लगाती है। हमें क्या फर्क पड़ता है? नहीं, धक्का इस बात से पहुंचा कि आदमी जिस जमीन पर रहता है, वह जमीन भी चक्कर लगाती है! मैं जिस जमीन पर रहता हूं, वह जमीन भी चक्कर लगाती है सूरज का!

आदमी ने हजारों वर्ष अपने अहंकार के आस-पास सारे विश्व को चक्कर लगवाया। कोपरनिकस का मजाक उड़ाते हुए और आदमी का मजाक उड़ाते हुए बर्नार्ड शा ने एक बार कहा था कि कोपरनिकस की बात गलत है। यह बात झूठ है कि जमीन सूरज का चक्कर लगाती है। सूरज ही जमीन का चक्कर लगाता है। बर्नार्ड शा जैसे बुद्धिमान आदमी से ऐसी बात की आशा नहीं हो सकती थी। तो किसी आदमी ने सभा में खड़े होकर पूछा कि आप क्या कह रहे हैं! अब तो सिद्ध हो चुका है कि जमीन ही सूरज के चक्कर लगाती है। आपके पास क्या प्रमाण है? बर्नार्ड शा ने कहा, मुझे प्रमाण की जरूरत नहीं। इतना ही प्रमाण काफी है कि बर्नार्ड शा जिस जमीन पर रहता है, वह जमीन किसी का चक्कर नहीं लगा सकती। सूरज ही चक्कर लगाता है।

सारा मनुष्य का अहंकार सोचता है कि वही केंद्र पर है और सब कुछ। अज्ञानी की यह दृष्टि है, सेंटर जो है जगत का, वह मैं हूं। जैसे गाड़ी का चाक घूमता है कील पर, ऐसे कील मैं हूं; और सब कुछ, विराट मेरे ही आस-पास घूम रहा है।

ज्ञानी की मनोदशा इससे बिल्कुल उलटी है। ज्ञानी कहता है, केंद्र हो कहीं भी, हम परिधि पर हैं, यह भी परमात्मा की बहुत कृपा है। केंद्र तो हम नहीं हैं। ज्ञानी कहता है, केंद्र मैं नहीं हूं। केंद्र अगर होगा, तो परमात्मा होगा। हम तो परिधि पर उठी हुई लहरों से ज्यादा नहीं हैं। कोई उठाता है, उठ आते हैं। कोई गिराता है, गिर जाते हैं। कोई करवाता है, कर लेते हैं। कोई रोक देता है, रुक जाते हैं। किसी का इशारा जिंदगी बन जाती है; किसी का इशारा मौत ले आती है। न हमें जन्म का कोई पता है, न हमें मृत्यु का कोई पता है। न हमें पता है कि श्वास क्यों भीतर जाती है और क्यों बाहर लौट जाती है। नहीं, हमें कोई भी पता नहीं है कि हम क्यों हैं, कहां से हैं, कहां के लिए हैं।

तो ज्ञानी कहता है, विराट का कर्म है और मैं तो उस कर्मों की लहरों पर एक तिनके से ज्यादा नहीं हूं। इसलिए कर्म मेरा नहीं, कर्म विराट का है। और जो भी फलित हो रहा है--हार या जीत, सुख या दुख, प्रेम या घृणा, युद्ध या शांति--जो भी घटित हो रहा है जगत में, वह प्रकृति के गुणों से घटित हो रहा है। ऐसा जो व्यक्ति जान लेता है, उसके जीवन में अनासक्ति फलित हो जाती है। उसके जीवन में फिर आसक्ति का जहर नहीं रह जाता है। फिर आसक्ति की बीमारी नहीं रह जाती है।

एक घटना मैंने सुनी है। मैंने सुना है, एक झेन फकीर हुआ, रिंझाई। वह एक गांव के रास्ते से गुजरता था। एक आदमी पीछे से आया, उसे लकड़ी से चोट की और भाग गया। लेकिन चोट करने में उसके हाथ से लकड़ी छूट गई और जमीन पर नीचे गिर गई। रिंझाई लकड़ी उठाकर पीछे दौड़ा कि मेरे भाई, अपनी लकड़ी तो लेते जाओ। पास एक दुकान के मालिक ने कहा, पागल हो गए हो? वह आदमी तुम्हें लकड़ी मारकर गया और तुम उसकी लकड़ी लौटाने की चिंता कर रहे हो! रिंझाई ने कहा, एक दिन मैं एक वृक्ष के नीचे लेटा हुआ था। वृक्ष से एक शाखा मेरे ऊपर गिर पड़ी। तब मैंने वृक्ष को कुछ भी नहीं कहा। आज इस आदमी के हाथ से लकड़ी मेरे ऊपर गिर पड़ी है, मैं इस आदमी को क्यों कुछ कहूं! नहीं समझा वह दुकानदार। उसने कहा, पागल हो! वृक्ष से शाखा का गिरना और बात है। इस आदमी से लकड़ी तुम्हारे ऊपर गिरना वही बात नहीं है।

रिंझाई कहने लगा, एक बार मैं नाव खे रहा था। एक खाली नाव आकर मेरी नाव से टकरा गई। मैंने कुछ भी न कहा। और एक बार ऐसा हुआ कि मैं किसी और के साथ नाव में बैठा था। और एक नाव, जिसमें कोई आदमी सवार था और चलाता था, आकर टकरा गई। तो वह जो नाव चला रहा था मेरी, वह गालियां बकने लगा। मैंने उससे कहा, अगर नाव खाली होती, तब तुम गाली बकते या न बकते? तो उस आदमी ने कहा, खाली नाव को क्यों गाली बकता! रिंझाई ने कहा, गौर से देखो; नाव भी एक हिस्सा है इस विराट की लीला का। वह आदमी जो बैठा है, वह भी एक हिस्सा है। नाव को माफ कर देते हो, आदमी पर इतने कठोर क्यों हो?

शायद वह दुकानदार फिर भी नहीं समझा होगा। हममें से कोई भी नहीं समझ पाता है।

एक आदमी क्रोध से भर जाता है और किसी को लकड़ी मार देता है। इस मारने में प्रकृति के गुण ही काम कर रहे हैं। एक आदमी शराब पीए होता है और आपको गाली दे देता है; तब आप बुरा नहीं मानते; अदालत भी माफ कर सकती है उसे, क्योंकि वह शराब पीए था। लेकिन अगर एक आदमी शराब पीए, तो हम माफ कर देते हैं; और एक आदमी के शरीर में क्रोध के समय ऐड्रीनल नामक गं्रथि से विष छूट जाता है, तब हम उसे माफ नहीं करते।

जब एक आदमी क्रोध में होता है, तो होता क्या है? उसके खून में विष छूट जाता है। उसके भीतर की ग्रंथियों से रस-स्राव हो जाता है। वह आदमी उसी हालत में आ जाता है, जैसा शराबी आता है। फर्क इतना ही है, शराबी ऊपर से शराब लेता है, इस आदमी को भीतर से शराब आ जाती है। अब जिस आदमी के खून में

जहर छूट गया है, अगर वह घूंसा बांधकर मारने को टूट पड़ता है, तो इसमें इस आदमी पर नाराज होने की बात क्या है! यह इस आदमी के भीतर जो घटित हो रहा है प्रकृति का गुण, उसका परिणाम है।

कृष्ण यह कह रहे हैं कि जो आदमी जीवन के इस रहस्य को समझ लेता है, वह आदमी अनासक्त हो जाता है।

बुद्ध एक गांव में ठहरे हैं--अंतिम दिन, जहां उनकी बाद में मृत्यु हुई--एक गरीब आदमी ने उन्हें भोजन पर बुलाया। बिहार के गरीब सब्जी तो नहीं जुटा पाते थे। अब भी नहीं जुटा पाते हैं। तो कुकुरमुत्ता बरसात में पैदा हो जाता है--वृक्षों पर, पत्थरों पर, जमीन में--छतरी, उसको ही काटकर रख लेते हैं। फिर उसे सुखा लेते हैं। फिर उसी की सब्जी बना लेते हैं। गरीब था आदमी। उसके घर में कोई सब्जी न थी। लेकिन बुद्ध को निमंत्रण कर आया, तो कुकुरमुत्ते की सब्जी बनाई। कुकुरमुत्ता कभी-कभी विषाक्त हो जाता है, पायजनस हो जाता है। कहीं भी उगता है; अक्सर गंदी जगहों में उगता है।

वह सूखा कुकुरमुत्ता विषाक्त था। बुद्ध ने चखा, तो वह कड़वा था। लेकिन वह गरीब पंखा झल रहा था, और उसकी आंखों से आनंद के आंसू बह रहे थे। तो बुद्ध ने कुछ कहा न, वे खाते चले गए। वह कड़वा जहर था। लौटे तो बेहोश हो गए। चिकित्सकों ने कहा कि बचना मुश्किल है। खून में जहर फैल गया है। उस आदमी ने बेचारे ने कहा कि आपने कहा क्यों नहीं कि कड़वा है!

बुद्ध ने कहा, देखा मैंने तुम्हारे आंखों के आंसुओं को, उनके आनंद को देखा मैंने कुकुरमुत्ते के कड़वेपन को। देखा मैंने मेरे खून में फैलते हुए जहर को। देखा मैंने मेरी आती हुई मौत को। फिर मैंने कहा, मौत तो रोकी नहीं जा सकती, आज नहीं कल आ ही जाएगी। कुकुरमुत्ता कड़वा है, इसमें नाराजगी क्या! जहर मिल गया होगा। तुम इतने आनंदित हो कि जो मृत्यु आने ही वाली है, जो रोकी न जा सकेगी, आज-कल आ ही जाएगी, उस छोटी-सी घटना के लिए तुम्हारी खुशी को छीनने वाला क्यों मैं बनूं? कहूं कि कड़वा है, तो तुम्हारी खुशी कड़वी हो जाए। और सब चीजें अपने गुण से हो रही हैंः जहर कड़वा है; भोजन कराने वाला आनंदित है; भोजन करने वाला भी आनंदित है। बुद्ध ने कहा, मैं पूरा आनंदित हूं। जहर मुझे नहीं मार पाएगा। जहर जिसे मार सकता है, उसे मार लेगा। जहर का जो गुण है, वह शरीर के जो गुण हैं, उन पर काम कर जाएगा। मैं देखने वाला हूं, मैं मरने वाला नहीं हूं।

लेकिन बुद्ध की मृत्यु हो गई। मृत्यु के पहले बुद्ध ने अपने भिक्षुओं को बुलाकर कहा कि जाओ गांव में डुंडी पीट दो, सारे गांव में खबर कर दो कि जिस आदमी ने बुद्ध को अंतिम भोजन दिया, वह परम पुण्यशाली है। भिक्षुओं ने कहा, आप क्या कहते हैं! वह आदमी हत्यारा है। बुद्ध ने कहा, तुम्हें पता नहीं है; कभी-कभी हजारों-लाखों वर्षों में बुद्ध जैसा व्यक्ति पैदा होता है। उसको जो मां पहली दफे भोजन देती है, वह भी धन्यभागी है। और जो आदमी उसे अंतिम भोजन देता है, वह भी कम धन्यभागी नहीं है। इस आदमी ने मुझे अंतिम भोजन दिया, यह बहुत धन्यभागी है।

और भिक्षु तो चले गए; आनंद रुका रहा। आनंद ने बुद्ध से कहा कि मेरा मन नहीं होता; आप यह क्या कह रहे हैं! बुद्ध ने कहा, आनंद तू समझता नहीं। जहर ने अपना काम किया, उस आदमी ने अपना काम किया। मैं बुद्ध हूं, मुझे मेरे गुणधर्म के अनुसार काम करने दो, अन्यथा लोग क्या कहेंगे। और अगर मैं यह कहकर न जाऊं और मर जाऊं, तो मुझे ख्याल है कि तुम मिलकर कहीं उसकी हत्या न कर दो! कहीं उसके घर में आग न लगा दो! अगर तुमने यह भी न किया, तो वह जन्मों-जन्मों के लिए नाहक अपमानित और निंदित तो हो ही जाएगा।

एक और छोटी बात कहूं। उमास्वाति ने उल्लेख किया है एक फकीर का, एक साधु का कि वह पानी में उतरा। एक बिच्छू पानी में डूब रहा है। उसने उसे हाथ में ले लिया। लेकिन बिच्छू जोर से डंक मारता है। हाथ कंप जाता है, बिच्छू गिर जाता है। वह फिर बिच्छू को उठाता है। किनारे खड़ा एक आदमी कहता है कि तुम पागल तो नहीं हो! वह बिच्छू, जो तुम्हें काट रहा है और जहर से भरे दे रहा है, तुम उसे बचाने की कोशिश क्यों कर रहे हो?

वह फकीर कहता है कि बिच्छू अपना गुणधर्म निभा रहा है, मैं अपना गुणधर्म न निभाऊं, तो परमात्मा के सामने बिच्छू जीत जाएगा और मैं हार जाऊंगा। मैं साधु हूं, बचाना मेरा गुणधर्म है। वह बिच्छू है, काटना उसका गुणधर्म है। वह अपना काम पूरा कर रहा है, तुम मुझे मेरा काम पूरा क्यों नहीं करने देते हो!

कृष्ण कह रहे हैं अर्जुन से, जो व्यक्ति, जीवन गुणों के अनुसार वर्तित हो रहा है और कर्म भी महाप्रकृति की विराट लीला के हिस्से हैं, ऐसा जान लेता है, वह कर्म में अनासक्त हो जाता है। ऐसे व्यक्ति को दुख नहीं व्यापता; ऐसे व्यक्ति को सुख नहीं व्यापता। ऐसे व्यक्ति को सफलता-असफलता समान हो जाती है। ऐसे व्यक्ति को यश-अपयश एक ही अर्थ रखते हैं। ऐसे व्यक्ति को जीवन-मृत्यु में भी कोई फर्क नहीं रह जाता है। और ऐसी चित्तदशा में ही परमात्मा का, सत्य का, आनंद का अवतरण है।

इसलिए वे कृष्ण अर्जुन से कहते हैं, तू भाग मत। तू इस भांति बर्त, समझ कि जो हो रहा है, हो रहा है। तू उसके बीच में अपने को भारी मत बना, अपने को बीच में बोझिल मत बना। जो हो रहा है, उसे होने दे और तू उस होने के बाहर अनासक्त खड़ा हो जा। यदि तू अनासक्त खड़ा हो सकता है, तो फिर युद्ध ही शांति है। और अगर तू अनासक्त खड़ा नहीं हो सकता, तो शांति भी युद्ध बन जाती है।

प्रश्नः भगवान श्री, अहंकाररूपी भ्रम से आसक्ति पैदा होती है, तो कृपया अहंकार की उत्पत्ति को अधिक स्पष्ट करें।

अहंकाररूपी भ्रम से आसक्ति उत्पन्न होती है, अहंकार कैसे उत्पन्न होता है? दो-तीन बातें समझ लेनी उपयोगी हैं। पहली बात तो अहंकार कभी उत्पन्न नहीं होता, सिर्फ प्रतीत होता है। उत्पन्न कभी नहीं होता, सिर्फ प्रतीत होता है। जैसे रस्सी पड़ी हो और सांप प्रतीत हो। उत्पन्न कभी नहीं होता, सिर्फ प्रतीत होता है। लगता है कि है, होता नहीं। अहंकार भी लगता है कि है, है नहीं।

जैसे हम लकड़ी को पानी में डालें और लकड़ी तिरछी दिखाई पड़ती है--होती नहीं, जस्ट एपियर्स--बस प्रतीत होती है। बाहर निकालें, सीधी पाते हैं। फिर पानी में डालें, फिर तिरछी दिखाई पड़ती है। और हजार दफे देख लें और पानी में डालें, अब आपको भलीभांति पता है कि लकड़ी तिरछी नहीं है, फिर भी लकड़ी तिरछी दिखाई पड़ती है। ठीक ऐसे ही अहंकार दिखाई पड़ता है, पैदा नहीं होता। इस बात को तो पहले ख्याल में ले लें। क्योंकि अगर अहंकार पैदा हो जाए, तब उससे छुटकारा बहुत मुश्किल है। अगर दिखाई ही पड़ता हो, तो समझ से ही उससे छुटकारा हो सकता है। फिर चाहे वह दिखाई ही पड़ता रहे, तो भी छुटकारा हो जाता है। अहंकार कैसे दिखाई पड़ता है, अहंकार के दिखाई पड़ने का जन्म कैसे होता है, यह मैं जरूर कहना चाहूंगा।

पहली बात। एक बच्चा पैदा होता है। हम उसे एक नाम देते हैं--अ, ब, स। कोई बच्चा नाम लेकर पैदा नहीं होता। किसी बच्चे का कोई नाम नहीं होता। सब बच्चे अनाम, नेमलेस पैदा होते हैं। लेकिन बिना नाम के काम चलना मुश्किल है। अगर आप सबके नाम छीन लिए जाएं, तो बड़ी कठिनाई पैदा हो जाएगी। और मजा यह है

कि नाम बिल्कुल झूठा है; फिर भी उस झूठ से काम चलता है। अगर नाम छीन लिए जाएं, तो सचाई तो यही है कि नाम किसी का कोई भी नहीं है। सब बिना नाम के हैं। लेकिन बड़ी कठिनाई हो जाएगी। जिस जगत में हम जीते हैं संबंधों के, जिस माया के जगत में हम जीते हैं, उस जगत में झूठे नाम बड़े काम के हैं। और कोई चीज काम की हो, इसीलिए सच नहीं हो जाती। और कोई चीज काम में न आती हो, इसीलिए झूठ नहीं हो जाती। यूटिलिटी और ट्रुथ में फर्क है; उपयोगिता और सत्य में फर्क है। बहुत-सी झूठी चीजें उपयोगी होती हैं।

घर में मिठाई रखी है और बच्चे को हम कह देते हैं, भूत है, भीतर मत जाना। भूत होता नहीं, मिठाई होती है; लेकिन बच्चा भीतर नहीं जाता। भूत का होना काम करता है, यूटिलिटेरियन है, उपयोगिता तो सिद्ध हो जाती है। और बच्चे को अगर समझाते कि मिठाई के खाने से क्या-क्या दोष हैं, और मिठाई के खाने से क्या-क्या हानियां हैं, और मिठाई के खाने से क्या-क्या बीमारियां होंगी, तो वे सब बेकार थीं। वे सच थीं, लेकिन वे कारगर नहीं थीं। बच्चे के लिए तो बिल्कुल अर्थ की नहीं थीं। भूत काम कर जाता है; बच्चा कमरे के भीतर नहीं जा पाता। जो भूत नहीं है, वह मिठाई और बच्चे के बीच खड़ा हो जाता है। उपयोगी है।

नाम बिल्कुल नहीं है, लेकिन आपके और जगत के बीच एक लेबल की जरूरत है, अन्यथा मुश्किल और कठिनाई हो जाती। एक भूत खड़ा हम कर देते हैं कि इसका नाम राम, इसका नाम कृष्ण, इसका नाम अर्जुन, इसका नाम यह, उसका नाम वह। नाम एक झूठ है। लेकिन नाम गहरे उतर जाता है। और इतना गहरे उतर जाता है कि आपको नींद में भी पता होता है कि आपका नाम क्या है, बेहोशी में भी पता होता है कि आपका नाम क्या है! जो नहीं है, वह भी पता होता है। आपके नाम को कोई गाली दे दे, तो खून में जहर दौड़ जाता है। अब नाम बिल्कुल झूठ है, लेकिन खून में दौड़ने वाला जहर बिल्कुल सच है।

यह करीब-करीब ऐसे होता है जैसे सपने में आप डर गए और एक जंगली जानवर ने आपकी छाती पर पंजा रख दिया। अब नींद खुल गई। अब पता चल गया कि सपना है, लेकिन पसीना अभी भी बहे चला जाता है और छाती अभी भी धड़के चली जाती है। अब मालूम है कि सपना था, कोई जंगली जानवर नहीं है। अपने घर में सोए हुए हैं। दरवाजा बंद है, कहीं कोई नहीं दिखाई पड़ता, बिजली जल रही है, लेकिन अभी धड़कन जारी है। वक्त लगेगा, मोमेंटम पकड़ गया। हृदय धड़कने लगा। धड़केगा थोड़ी देर। एकदम से बंद नहीं हो सकता। एकदम से बंद हो जाए, तो खतरा भी है; धीरे-धीरे, धीरे-धीरे उतरेगा। जैसे धीरे-धीरे चढ़ा, वैसे धीरे-धीरे उतरेगा। अब आप भलीभांति जानते हैं कि बड़ी अजीब बात है--सपना और हृदय को धड़का जाता है! हृदय बहुत सच है और सपना बिल्कुल झूठ है।

नाम जिंदगीभर काम देता है। लेकिन आपका नाम दूसरों के लिए काम देता है, आपके लिए काम नहीं देता। तो आपको स्वयं को बुलाने के लिए भी तो कोई इशारा चाहिए, वह इशारा मैं, ईगो, अहंकार है। तो दो तरह के नाम हैं। एक नाम जो मेरा दूसरों के बुलाने के लिए है--वह मेरा नाम; और एक जो मैं स्वयं अपने को बुलाऊंगा--मैं। अन्यथा बड़ी मुश्किल हो जाएगी कि मैं कौन हूं। और अगर मैं अपना नाम बुलाऊं, तो आपको समझने में मुश्किल होगी कि मैं किसके बाबत कह रहा हूं, अपने बाबत या दूसरों के बाबत। इसलिए मैं सबके लिए काम कर जाता है। प्रत्येक व्यक्ति अपने लिए मैं कहता है, वह कामन नेम है खुद के लिए। और दूसरे के लिए, उपयोग के लिए एक नाम है। इसलिए हो भी सकता है, आप अपना नाम कभी भूल जाएं, लेकिन मैं को आप कभी नहीं भूल सकते। क्योंकि आपका नाम दूसरे लोग उपयोग करते हैं, वह उनको याद रहता है। आप तो सिर्फ मैं का ही उपयोग करते हैं।

मैंने सुना है, पहले महायुद्ध में अमेरिका में पहली बार राशनिंग हुई। और एडिसन, एक बड़ा वैज्ञानिक, उसको भी अपना राशनकार्ड लेकर और राशन के लिए क्यू में खड़ा होना पड़ा। लेकिन एडिसन बहुत बड़ा वैज्ञानिक था। कोई एक हजार उसने आविष्कार किए। शायद पृथ्वी पर किसी दूसरे आदमी ने इतने आविष्कार नहीं किए। गहन से गहन प्रतिभा का मनुष्य था। सैकड़ों लोग उसे आदर देते थे। तो कोई उसका नाम तो कभी लेता नहीं था। तीस साल से उसने अपना नाम नहीं सुना था सीधा, कि किसी ने कहा हो, एडिसन। कोई उसको प्रोफेसर कहता, कोई उसको कुछ कहता। लेकिन नाम तो उसका कोई सीधा नहीं लेता था। क्यू में खड़ा है। उसका कार्ड लगा हुआ है राशन का।

जब उसके कार्ड का नंबर आया और क्यू में वह सामने आया, तो कार्ड वाले क्लर्क ने चश्मा ऊपर उठाकर आवाज लगाई कि थामस अल्वा एडिसन कौन है? वे सज्जन खड़े ही रहे, एडिसन खड़े ही रहे। फिर उसने दुबारा कहा कि भई, यह कौन आदमी है एडिसन, आगे आओ! तब क्यू में से किसी ने झांककर देखा और उसने कहा कि मालूम होता है, जो आदमी सामने खड़ा है, वह एडिसन है; मैंने अखबार में तस्वीर देखी है; लेकिन वह तो चुप ही खड़ा है! आदमी क्यू के बाहर आया और उसने कहा, महाशय! जहां तक हमें याद आता है, आपकी शकल एडिसन से मिलती-जुलती है। उसने कहा कि हो न हो यह मेरा ही नाम होना चाहिए। लेकिन सच बात यह है कि तीस साल से मुझे किसी ने कभी पुकारा नहीं, तो मुझे ख्याल में नहीं रहा। लेकिन परिचित मालूम पड़ता है, नाम मेरा ही होना चाहिए!

खुद के बुलाने के लिए मैं, दूसरों के बुलाने के लिए नाम। एक ही मैं से काम चल जाता है। नाम अनेक रखने पड़ते हैं, क्योंकि दूसरे बुलाएंगे। यह मैं बचपन से ही बच्चे को स्मरण हम दिलाना शुरू करते हैं। लेकिन साइकोलाजिस्ट कहते हैं कि बच्चे को पहले मैं का पता नहीं चलता, पहले तू का पता चलता है। बच्चे को पहले मैं का पता नहीं चलता। इसलिए छोटे बच्चे अक्सर कहते हैं कि इसको भूख लगी है; वे यह नहीं कहते कि मुझे भूख लगी है। मुझे का अभी बोध नहीं होता। वे कहते हैं, इसको भूख लगी है। या पेट बता देते हैं कि यहां भूख लगी है। मैं का बोध बच्चे को बाद में आता है, तू का बोध पहले आता है, क्योंकि तू पहले दिखाई पड़ता है चारों तरफ। बच्चे को अपना पूरा शरीर भी अपना है, यह भी बहुत बाद में पता चलता है।

छोटे बच्चे अगर अपना अंगूठा चूसते हैं, तो आप समझते हैं कि वे अपना अंगूठा चूस रहे हैं। मनोवैज्ञानिक, खासकर जिन्होंने बच्चों पर प्रयोग किया है--जीनपियागेट, जिंदगीभर जिसने बच्चों के अध्ययन में लगाई है--वह कहता है, बच्चों को पता नहीं होता कि अपना अंगूठा चूस रहे हैं। वे तो कोई और ही चीज समझकर चूसते रहते हैं। उनको यह पता नहीं होता कि यह उनका अंगूठा है। जिस दिन पता चल जाएगा, उनका अंगूठा है, उस दिन तो वे भी नहीं चूसेंगे।

शरीर भी पूरा अपना है, इसका भी बच्चे को पता नहीं होता। बच्चे को सपने में और जागने में भी फर्क नहीं होता। सुबह जब उठता है, तो सपने के लिए रोता है कि मेरा खिलौना कहां गया, जो सपने में उसके पास था! बच्चे को अभी मैं का भी पता नहीं होता। मैं का बोध उसे तू को देखकर पैदा होता है। चारों तरफ और लोग हैं, और धीरे-धीरे उसे पता चलता है कि मैं अलग हूं, मेरा हाथ अलग है, मेरा मुंह अलग, मेरे पैर अलग; मैं उठता हूं तो अलग, दूसरे उठते हैं तो अलग। धीरे-धीरे यह चारों तरफ जो जगत है, इससे वह अपने को आइसोलेट करना सीखता है कि मैं अलग हूं। फिर उसके मैं का जन्म होना शुरू होता है। वह प्रयोग करना शुरू करता है, मुझे भूख लगी है।

कभी आप ख्याल करें। जब भी आपको भूख लगती है, तब अगर ठीक से गौर से देखें, तो आपको पता चलता है कि भूख लगी है; आपको भूख कभी नहीं लगती। पता चलता है, भूख लगी है, पेट में लगी है। पता चलता है, पैर में चोट लगी है, दर्द हो रहा है। लेकिन आप कहते हैं, मुझे भूख लगी है। बहुत गौर से देखें और बहुत ठीक से अगर ठीक भाषा का प्रयोग करें, तो आपको कहना चाहिए, पता चलता है कि पेट में भूख लगी है। फैक्चुअल, अगर तथ्यगत सूचना देना चाहें, तो आपको कहना चाहिए, पता चलता है कि पैर में चोट लगी है। पता ही चलता है।

लेकिन अगर ऐसा कहेंगे, तो पागल समझे जाएंगे। जिंदगी की उपयोगिता मैं के आस-पास खड़ी है। पर कभी हम भूल जाते हैं धीरे-धीरे कि यह मैं एक कामचलाऊ शब्द है, यह सत्य नहीं है। यह कामचलाऊ शब्द है, यह सत्य नहीं है। और धीरे-धीरे इस कामचलाऊ शब्द को हम सत्य मानकर जीने लगते हैं। फिर हम विभाजन कर लेते हैं। विभाजन वैसा ही जैसे आप कहते हैं कि यह मेरा आंगन है! आपका आंगन है, बिल्कुल सच है, लेकिन पृथ्वी बंटती नहीं। आपका आंगन भला हो, लेकिन पृथ्वी अनबंटी है। पड़ोसी के आंगन और आपके आंगन के बीच में पृथ्वी में कोई दरार नहीं पड़ती। आपके मकान और पड़ोसी के मकान के बीच में पृथ्वी टूटती नहीं। न हिंदुस्तान और पाकिस्तान के बीच में कोई खाई है, और न हिंदुस्तान और चीन के बीच में पृथ्वी टूटती है। पृथ्वी एक है। लेकिन कामचलाऊ शब्द है कि मेरा देश। तो ऐसा लगता है कि मेरा देश कहीं टूट जाता है और दूसरे का देश वहां से शुरू होता है और बीच में कोई खाई है। कहीं कोई खाई नहीं है। मेरा देश एक राजनैतिक शब्द है, जो खतरनाक सिद्ध होता है, अगर आपने समझा कि यह जीवन का शब्द बन गया है।

मैं एक मनोवैज्ञानिक उपयोगिता है। लेकिन आप सोचते हैं, मैं का मतलब है, जहां मैं समाप्त होता हूं, वहां मैं बिल्कुल समाप्त होता हूं और दूसरे शुरू होते हैं। आप कहीं समाप्त नहीं होते। अगर हम विज्ञान से भी पूछें, तो विज्ञान भी कहेगा, आप कहीं समाप्त नहीं होते। दस करोड़ मील दूर जो सूरज है, वह अगर ठंडा हो जाए, तो मैं ठंडा हो जाऊं। तो मैं और सूरज अलग-अलग हैं? अगर अलग-अलग हैं, तो सूरज हो जाए ठंडा, मैं क्यों ठंडा होऊं! सूरज और मैं कहीं जुड़े हैं। तभी तो सूरज ठंडा हो, तो मैं ठंडा हो जाऊं। अभी हवाओं में आक्सीजन है, कल न रह जाए, तो मैं समाप्त। यह मेरे भीतर जलता हुआ दीया बुझा! तो फिर इन हवाओं से मैं अलग हूं?

एक क्षण को अलग नहीं हैं। आप जो श्वास ले रहे हैं, वह आपसे हवा का जोड़ है। आप प्रतिपल जुड़े हुए हैं। आप हवा में ही जी रहे हैं, जैसे मछली पानी में, सागर में जी रही है। सागर न रह जाए, तो मछली नहीं है। ऐसे ही आप भी हवा के सागर में जी रहे हैं। हवा न रह जाए, तो आप भी नहीं हैं। लेकिन आप कहते हैं, मैं अलग हूं। अगर आप अलग हैं, तो ठीक है, एक पांच मिनट श्वास न लें और जीकर देखें। तब आपको पता चलेगा कि यह मैं उपयोगी तो था, सत्य नहीं है।

हवा भी मुझसे जुड़ी है। अभी जो श्वास आपके पास थी थोड़ी देर पहले, अब वह मेरे पास है। और मैं कह भी नहीं पाया कि मेरे पास है, कि वह किसी और के पास चली गई। वह श्वास किसकी थी? आपके खून में जो अणु दौड़ रहे हैं, वे अभी आपके पास हैं, कल किसी वृक्ष में थे, परसों किसी नदी में, उसके पहले किसी बादल में थे। किसके हैं वे? आपके शरीर में जो हड्डी है, वह न मालूम कितने लोगों के शरीर की हड्डी बन चुकी है और अभी न मालूम कितने लोगों के शरीर की हड्डी बनेगी। उस पर जल्दी से अपना कब्जा मत कर लेना। वह आपकी क्या है? आपके पास जो आंख है, वे आंख के अणु और न मालूम किन-किन आंखों के अणु बन चुके हैं। पूरी जिंदगी इकट्ठी है।

जब कृष्ण कहते हैं यह कि अज्ञानीजन अपने को अहंकार में बांधकर व्यर्थ फंस जाते हैं, तो उसका मतलब केवल इतना है। इसका मतलब यह नहीं है कि कृष्ण मैं का उपयोग न करेंगे। कृष्ण भी उपयोग करेंगे, उपयोग तो करना ही पड़ेगा। लेकिन उपयोग को कोई सत्य न मान ले। उपयोग तो करना ही पड़ेगा, लेकिन उपयोग को कोई पकड़कर यह न समझ ले कि वही सत्य है। बस, इतना स्मरण रहे, तो जीवन से आसक्ति कम होनी शुरू हो जाती है। क्योंकि आसक्ति वहीं है, जहां मैं है। मेरा वहीं है, जहां मैं है। अगर मुझे यह पता चल जाए कि मेरी जैसी कोई सत्ता ही नहीं है, सब इकट्ठा है, तो मैं किस चीज को मेरा कहूं और किस चीज को पराया कहूं! फिर कोई चीज अपनी नहीं, कोई चीज पराई नहीं; सब उसकी है, सब प्रभु की है। ऐसी मनोदशा में आसक्ति विलीन हो जाती है।

प्रकृतेर्गुणसंमूढाः सज्जन्ते गुणकर्मसुः।

तानकृत्स्नविदोमन्दान्कृत्स्नविन्नविचालयेत्।। 29।।

और प्रकृति के गुणों से मोहित हुए पुरुष गुण और कर्मों में आसक्त होते हैं। उन अच्छी प्रकार न समझने वाले मूर्खों को, अच्छी प्रकार जानने वाला ज्ञानी पुरुष चलायमान न करे।

बहुत कीमती सूत्र कृष्ण इसमें कह रहे हैं। वे कह रहे हैं, प्रकृति के गुणों से मोहित हुए... ।

इस मोहित शब्द को थोड़ा गहरे में समझना जरूरी है। मोहित हुए अर्थात सम्मोहित हुए, हिप्नोटाइज्ड। सुना होगा आपने कि सिंह के सामने शिकार जब जाता है, तो भाग नहीं पाता, सम्मोहित हो जाता है, हिप्नोटाइज्ड हो जाता है, खड़ा रह जाता है; भूल ही जाता है कि भागना है। सिंह की आंखों में देखता हुआ अवरुद्ध हो जाता है, मैग्नेटाइज्ड हो जाता है, रुक ही जाता है। भागना ही भूल जाता है। यह भी भूल जाता है कि मृत्यु सामने खड़ी है। अजगर के बाबत तो कहा जाता है कि शिकार अपने आप खिंचा हुआ उसके पास चला आता है। आकाश में उड़ता हुआ पक्षी खिंचता हुआ चला आता है; कोई परवश, कोई खींचे चला जाता है।

संस्कृत का यह शब्द है, पशु। इसका मतलब इतना ही होता है कि जो पाश में बंधा हुआ खिंचा चला आता है, उसे पशु कहते हैं। जैसे एक गाय को हमने बांध लिया रस्सी में और खींचे चले आ रहे हैं। गाय पाश में बंधी हुई खिंची चली आती है। ऐसे ही प्रत्येक व्यक्ति प्रकृति के गुणों में खिंचा हुआ पशु की तरह वर्तन करता है, मोहित हो जाता है, हिप्नोटाइज्ड हो जाता है। इसमें दो-तीन बातें हिप्नोटिज्म की ख्याल में लें, तो ख्याल में आ सकेगा।

एक चेहरा सुंदर लगता है आपको, खिंचे चले जाते हैं। लेकिन कभी आपने सोचा है कि चेहरे में क्या सौंदर्य हो सकता है! आप कहेंगे, होता है, बिल्कुल होता है। लेकिन फिर आपको सम्मोहन के संबंध में बहुत पता नहीं है। मेरे एक मित्र, जिनको सुंदर चेहरों पर बड़ा ही आकर्षण था। उनसे मैंने कहा, आकर्षण है क्या सुंदर चेहरों में? उन्होंने कहा, है। फिर भी मैंने कहा, क्या है? नाक थोड़ी लंबी होती है कि थोड़ी छोटी होती है, तो आपके हृदय की धड़कन में क्यों फर्क पड़ता है? आंख थोड़ी बड़ी होती है कि छोटी होती है, कि चेहरा थोड़ा अनुपात में होता है कि गैर-अनुपात में होता है, इससे आपके भीतर क्या होता है? उन्होंने कहा, होता है। आप सौंदर्य को नहीं मानते?

तो मैंने उन्हें सम्मोहित करके बेहोश किया। जब वे बेहोश हो गए, तो पास में पड़े हुए तकिए को मैंने उनके पास रखा और मैंने कहा, यह तकिया इतना सुंदर है, जितनी कोई स्त्री आपने कभी नहीं देखी है। इसे पास

में लो, आलिंगन करो, चूमो, प्यार करो। उन्होंने तकिए को पास में लिया, खूब प्रेम किया। फिर मैंने उनसे कहा कि जब तुम होश में आ जाओगे, आधा घंटे बाद, फिर तुममें प्रेम की लहर आएगी और इस तकिए को तुम फिर छाती से लगाओगे। पोस्ट-हिप्नोटिक सजेशन! आधा घंटे बाद होश में आने के बाद, आधा घंटे बाद तुम विवश हो जाओगे, तुम्हारे बस में न रहेगा, बस तुम उठाओगे तकिए को, छाती से लगाओगे और चूमोगे।

फिर वे होश में आ गए। फिर हम सब बैठकर गपशप करने लगे। फिर सब ठीक बात हो गई। घड़ी मैं देख रहा हूं। तकिया उनके पास में पड़ा है। उसे उठाकर मैंने आलमारी में बंद कर दिया। उनकी आंखें देख रहा हूं। पच्चीस मिनट, तीस मिनट और बेचैनी उनकी शुरू हुई। जो लोग भी बैठे थे, वे भी देख रहे हैं कि अब वे बेचैन हो गए हैं। वे बड़ी मुश्किल में पड़ गए हैं। अब वे ठीक उसी हालत में हैं, जैसी हालत में कामुकता से भरा हुआ आदमी हो जाता है। लेकिन तकिए के प्रति कोई कामुकता होती है? उठे।

मैंने कहा, कहां जा रहे हैं? उन्होंने कहा कि जरा वह तकिया मुझे देखना है, क्योंकि मुझे वह बहुत पसंद पड़ा, उसी तरह का तकिया मैं भी बाजार से खरीदना चाहता हूं। अब वे रेशनलाइज कर रहे हैं। उनको भी पता नहीं है। अब वे तर्क दे रहे हैं। मैंने कहा, छोड़ो भी, मैं तुम्हें यहीं बताए देता हूं कि तकिया कहां से लिया गया है। वहां से तुम तकिया ले लेना। उन्होंने कहा कि नहीं, जरा मैं देखना ही चाहता हूं। उनकी चाल देखने जैसी थी; जैसे भौंरा फूल के पास जाता है, बस वैसे ही वे आलमारी खोलकर। लेकिन सब हम बैठे हैं। तकिए को उठाकर देखते हैं उसे, उनकी आंखें, उनके हाथ। वह तकिया बड़ा जीवित हो गया है, क्योंकि अनकांशस में सम्मोहित कर रहा है। तकिया उन्हें खींच रहा है, क्योंकि तकिया सुंदर है, यह भाव गहरे अचेतन में उनके प्रवेश कर गया है।

एक क्षण उन्होंने हमारी तरफ देखा, फिर जैसे बेहोश आदमी, फिर वे हमारी फिक्र भूल गए, फिर उन्होंने तकिए को छाती से लगाकर चूमना शुरू कर दिया। हमने कहा भी कि यह क्या पागलपन कर रहे हो! पर वे पागलपन कर चुके थे। फिर बैठ गए। पसीना आ गया। घबड़ा गए और कहने लगे, मैंने यह क्या किया? यह हुआ क्या? मैंने कहा, ठीक ऐसे ही स्त्री और पुरुष सुंदर मालूम हो रहे हैं। ठीक ऐसे ही। वह प्रकृति के द्वारा डाला गया मोह है, वह प्रकृति के द्वारा डाली गई हिप्नोसिस है। वह हमारे अचेतन में जन्मों-जन्मों से डाला गया, बांधा गया वासना का बीज है। वह काम कर रहा है। वह काम करता है, फिर वह जुड़ जाता है। वह चीजों से भी जुड़ जाता है।

कृष्ण कह रहे हैं, प्रकृति के गुणों से मोहित हुआ पुरुष... ।

वही दुख है, वही पीड़ा है सब की। हम किन-किन चीजों से मोहित होते हैं, जरा ख्याल करना, तो बड़ी हैरानी होगी। अगर चित्र देखें, फिल्म देखें, पेंटिंग्स देखें, कविताएं उठाएं, नाटक पढ़ें, उपन्यास देखें; अगर सारी मनुष्य जाति का पूरा का पूरा साहित्य, जिसको हम बड़ा भारी साहित्य कहते हैं, उसे उठाकर देखें, तो बड़ी हैरानी होगी। कुछ चीजों से आब्सेशन आदमी को पैदा हो गया है, पागल की तरह। और किसी को ख्याल में नहीं है कि क्या हो गया है। और कभी ख्याल में नहीं आता कि प्रकृति के गुण इस भांति मोहित कर सकते हैं!

अब स्त्रियों के स्तन सारी मनुष्य जाति को पीड़ित किए हुए हैं। सारे चित्र, सारी तस्वीरें, कविताएं, साहित्य, उन्हीं से भरा हुआ है। सब कवि, सब चित्रकार पागल मालूम पड़ते हैं। स्त्री के स्तन में क्या है? लेकिन छोटे बच्चे की पहली पहचान स्तन से होती है। पहला प्रेम और पहला ज्ञान स्तन से जुड़ता है। पहला एसोसिएशन, उसके दिमाग में पहला इंप्रेशन स्तन का बनता है। फिर वह जिंदगीभर पीछा करता है। वह सम्मोहित हो गया। अब वह बूढ़ा हो गया, अभी भी वह स्तन से सम्मोहित है।

यह बचपन में पड़ी पहली छाप है। इसको बायोलाजिस्ट कहते हैं, यह ट्रॉमेटिक इंप्रेशन है। वे कहते हैं, चूंकि बच्चे के चित्त पर सबसे पहली छाप मां के स्तन की पड़ती है, इसलिए बुढ़ापे के मरते दम तक स्तन पीछा करता है। और कुछ भी नहीं। बस, सम्मोहित हो गया आदमी; फिर बड़े से बड़ा कालिदास हो, कि भवभूति हो, कि पिकासो हो, कि कोई भी हो, बड़े से बड़ा चित्रकार, बड़े से बड़ा कवि, बस वह उसी में उलझा हुआ है। आश्चर्यजनक है।

लेकिन कृष्ण कहते हैं, प्रकृति के गुण को न समझने से और उनसे सम्मोहित हो जाने से, हिप्नोटाइज्ड हो जाने से आदमी अज्ञान में, मोह में, आसक्ति में, दुख में पड़ता है। और नासमझों से भरा हुआ जगत है। ये सभी इसी तरह... मनोवैज्ञानिक फेटिश शब्द का प्रयोग करते हैं। वे कहते हैं, आदमी अंगों से प्रभावित हो तो हो, वस्त्रों से, वस्तुओं से, उन तक से प्रभावित और पागल हो जाता है। उन सबसे भी उसके संबंध जुड़ जाते हैं और उनके पीछे भी वह उसी तरह मोहित होकर घूमने लगता है। यह जो स्थिति है चित्त की, इस स्थिति से जो नहीं जागेगा, वह कभी धर्म के सत्य को नहीं जान सकता। वह सिर्फ प्रकृति के गुणों में ही भटकता रहेगा।

रंग मोहित करते हैं। अब रंगों में क्या हो सकता है? लेकिन भारी मोहित करते हैं। किसी को एक रंग अच्छा लगता है, तो वह दीवाना हो जाता है। उसको पागल किया जा सकता है, उसी रंग के साथ। बहुत बड़ा चित्रकार हुआ वानगाग, वह पीले रंग से आब्सेस्ड था। पीला रंग देखे, तो पागल हो जाए। धूप में खड़ा रहे, सूरज की धूप में खड़ा रहे, क्योंकि पीली धूप बरसे। जहां पीले फूल खिल जाएं, फिर वह घर के भीतर न आ सकता था। एक साल आरलिस की धूप में खड़े होकर वह पीले रंग को देखता रहा। और इतनी धूप में खड़े होने की वजह से पागल हुआ, दिमाग विक्षिप्त हो गया। लेकिन पीला रंग उसके लिए पागलपन था। जरूर कहीं बचपन में कोई ट्रॉमेटिक एक्सपीरिएंस, बचपन में कभी कोई ऐसी घटना घट गई, जिससे वह पीले रंग से बिल्कुल आब्सेस्ड हो गया।

नेपोलियन इतना बड़ा हिम्मत का आदमी, शेर से लड़ जाए, लेकिन बिल्ली से डरे। सिंहों से जूझ जाए, लेकिन बिल्ली को देख ले, तो पूंछ दबाकर भाग जाए। क्या हो गया? छह महीने का था--क्योंकि नेपोलियन जैसे आदमी की जिंदगी उपलब्ध है, इसलिए जानने में आसानी है--छह महीने का था, पालने पर सोया था, एक जंगली बिलाव ने उसकी छाती पर पैर रख दिया। छह महीने का बच्चा, जंगली बिलाव, छाती पर पैर--चित्र बैठ गया गहरे, अनकांशस में उतर गया। फिर नेपोलियन बड़ा हो गया। सब बात भूल गई। लेकिन बिल्ली दिखे कि नेपोलियन फिर छह महीने का हो जाए। बिल्ली दिखी कि वे रिग्रेस किए, वे वापस छह महीने के हुए।

और कहते हैं मनोवैज्ञानिक कि नेल्सन से जिस युद्ध में नेपोलियन हारा, उसमें नेल्सन सत्तर बिल्लियां युद्ध के मैदान में साथ बांधकर ले गया था। बिल्लियां सामने थीं, फौज पीछे थी। और जब नेपोलियन ने बिल्लियां देखीं, अपने पास के साथी को कहा, अब मेरा बस काम नहीं कर सकता, अब मैं कुछ भी नहीं कर सकता, मेरी सूझ-बूझ खोती है। जैसे अर्जुन ने कृष्ण से कहा न कि मेरा गांडीव ढीला पड़ा जाता है। मेरे गात शिथिल हुए जाते हैं। अब मेरे बस के बाहर है। क्यों? क्योंकि ये मेरे प्रियजन हैं। यह मेरा भी आब्सेशन है। यह मेरा भी सम्मोहन है। कौन मेरा है? कौन पराया है?

बिल्ली से भय है नेपोलियन को; छह महीने का हो गया वह। अब उसकी स्थिति न रही कि वह लड़ ले। हारा पहली दफा उसी दिन। और संभावना बहुत है कि नेल्सन ने नहीं हराया, बिल्लियों ने हराया। नेल्सन की हैसियत न थी इतनी। नेपोलियन बड़ा अदभुत आदमी था। लेकिन ऐसा अदभुत आदमी भी हिप्नोटाइज्ड है। हम सब ऐसे ही, हम सब ऐसे ही जी रहे हैं।

यह अर्जुन को क्या हो गया! इतना बहादुर आदमी, जिसे कभी सवाल न उठे, अचानक युद्ध के मैदान पर खड़ा होकर इतना शिथिल, इतना निर्वीर्य क्यों हुआ जा रहा है? हुआ जा रहा है, क्योंकि बचपन से जिन्हें अपना जाना, आज उनसे ही लड़ने की नौबत है। बचपन से जिन्हें मेरा माना, आज उनसे ही लड़ने की नौबत है। बचपन से कोई भाई था, कोई बंधु था, कोई महापिता थे, कोई कोई था, कोई ससुर था, कोई रिश्तेदार था, कोई मित्र था, कोई गुरु थे, वे सब सामने खड़े हैं। वह सब मेरा घिरकर सामने खड़ा है। और उस मेरे पर हाथ उठाने की हिम्मत अब उसको नहीं होती है। ऐसा नहीं है कि वह कोई अहिंसक हो गया है। ऐसा कुछ भी नहीं है। अगर ये मेरे न होते, तो वह युद्ध में इनको जड़-मूल से काटकर रख देता। उसका हाथ ठहरता भी नहीं। उसकी श्वास रुकती भी नहीं। वह इनको काटने में सब्जी काटने जैसा व्यवहार करता। लेकिन कहां कठिनाई आ गई है? वह मेरा उसका आब्सेशन है। वह मेरा उसका सम्मोहन बन गया है।

कृष्ण कह रहे हैं, प्रकृति में गुण हैं, अर्जुन। और आदमी उनसे मोहित होकर जीता है। साधारण आदमी उनसे मोहित होकर जीता है। वही मोह उसे अंधेरे में घेरे रखता है और वही मोह उसे अंधेरे में धक्का दिए चला जाता है। ज्ञानी पुरुष को एक तो अपने इस सम्मोहन से मुक्त हो जाना चाहिए।

ज्ञानी पुरुष का अर्थ है, डिहिप्नोटाइज्ड, जिसको अब कोई चीज सम्मोहित नहीं करती। रुपया उसके सामने रखें, तो उसे वही दिखाई पड़ता है, जो है। लेकिन रुपए से जो सम्मोहित होता है, उसे रुपया नहीं दिखाई पड़ता। उसे न मालूम क्या-क्या दिखाई पड़ने लगता है! वह शेखचिल्ली की कहानियों में चला जाता है। उसे रुपए में दिखाई पड़ता है कि अब एक से दस हो जाएंगे, दस से हजार हो जाएंगे, हजार से करोड़ हो जाएंगे; और सारी दुनिया ही जीत लूंगा और न मालूम क्या-क्या उस रुपए में स्वप्न उठने लगते हैं। उस एक पड़े हुए रुपए में हजार स्वप्न पैदा होने लगते हैं। लेकिन जिसे सम्मोहन नहीं है, उसे रुपए का ठीकरा ही दिखाई पड़ता है। उपयोगिता है, वह भी दिखाई पड़ती है। लेकिन कोई सपना पैदा नहीं होता। सम्मोहन सपने का उदभावक है। हिप्नोटाइज्ड, मोहग्रस्त चित्त ही कल्पनाओं में, सपनों में भटकता है, आकांक्षाओं में, महत्वाकांक्षाओं में भटकता है।

कृष्ण कहते हैं, ज्ञानी पुरुष स्वयं भी इससे जाग जाता है और ऐसा व्यवहार नहीं करता कि वे अज्ञानी, जो सम्मोहन में भरे जी रहे हैं, उनके जीवन में अस्तव्यस्त होने का कारण बन जाए। इसका यह मतलब नहीं है कि वह उनके सम्मोहन तोड़ने का प्रयास नहीं करता। उनके सम्मोहन तोड़ने का प्रयास किया जा सकता है, लेकिन सम्मोहित हालत में उनके जीवन की धुरी को अस्तव्यस्त करना खतरे से खाली नहीं है।

यह क्यों कह रहे हैं? वे यह इसलिए कह रहे हैं कि अगर तुझे यह भी पता चल गया कि युद्ध व्यर्थ है, तो भी ये युद्ध के लिए तत्पर खड़े लोगों में से किसी को भी पता नहीं है कि युद्ध व्यर्थ है। अगर तू यहां से भागता है, तो सिर्फ कायर समझा जाएगा। अगर तुझे यह भी पता चल गया कि युद्ध व्यर्थ है, तो यहां इकट्ठे हुए युद्ध के लिए तैयार लोगों में से किसी को पता नहीं है कि युद्ध व्यर्थ है। तेरे भाग जाने पर भी युद्ध होगा, युद्ध नहीं रुक सकता है। अगर तुझे पता भी चल गया कि युद्ध व्यर्थ है और तू चला भी जाए, भाग भी जाए, तो केवल जिस धर्म और जिस सत्य के लिए तू लड़ रहा था, उसकी पराजय हो सकती है।

युद्ध तो होगा ही। युद्ध नहीं रुक सकता। ये जो चारों तरफ खड़े हुए लोग हैं, ये पूरी तरह युद्ध से सम्मोहित होकर आकर खड़े हैं। इनको कुछ भी पता नहीं है, इनको कुछ भी बोध नहीं है। इन अज्ञानियों के बीच, इन प्रकृति के गुणों से सम्मोहित पागलों के बीच तू ऐसा व्यवहार कर, जानते हुए भी, देखते हुए भी ऐसा व्यवहार कर कि इन सबके जीवन की व्यवस्था व्यर्थ ही अस्तव्यस्त न हो जाए। और अकेला तू भागकर भी कुछ

कर नहीं सकता है। हां, इतना ही कर तू कि अगर तुझे होश आया है, तो तू इतना ही समझ ले कि जिंदगी में सुख-दुख, हार-पराजय सब समान है। वह परमात्मा के हाथ में है। तू कर्ता नहीं है। तू बिना कर्ता हुए कर्म में उतर जा।

मयि सर्वाणिकर्माणि संन्यास्याध्यात्मचेतसा।
निराशीर्निर्ममो भूत्वा युध्यस्व विगतज्वरः।। 30।।

इसलिए हे अर्जुन, तू अध्यात्म चेतसा हो संपूर्ण कर्मों को मुझमें समर्पण करके आशारहित एवं ममतारहित होकर संतापरहित हुआ युद्ध कर।

कृष्ण कहते हैं, तू सब कुछ मुझमें समर्पित करके, आशा और ममता से मुक्त होकर, विगतज्वर होकर, सब तरह के बुखारों से ऊपर उठकर--बियांड फीवरिशनेस--तू कर्म कर।

इसमें दो-तीन बातें समझने की हैं। एक, सब मुझमें समर्पित करके! यहां कृष्ण जब भी कहें, जब भी कहते हैं, सब मुझमें समर्पित करके, तो यह कृष्ण नाम के व्यक्ति के लिए कही गई बातें नहीं हैं। जब भी कृष्ण कहते हैं, सब मुझमें समर्पित करके, तो यहां वे मुझसे, मैं से समग्र परमात्मा का ही अर्थ लेते हैं। यहां व्यक्ति कृष्ण से कोई प्रयोजन नहीं है। वे व्यक्ति हैं भी नहीं। क्योंकि जिसने भी जान लिया कि मेरे पास कोई अहंकार नहीं है, वह व्यक्ति नहीं परमात्मा ही है। जिसने भी जान लिया, मैं बूंद नहीं सागर हूं, वह परमात्मा ही है। यहां जब कृष्ण कहते हैं, सब मुझमें समर्पित करके, सब--कर्म भी, कर्म का फल भी, कर्म की प्रेरणा भी, कर्म का परिणाम भी--सब, सब मुझमें समर्पित करके तू युद्ध में उतर। कठिन है बहुत। समर्पण से ज्यादा कठिन शायद और कुछ भी नहीं है। यह समर्पण, सरेंडर संभव हो सके, इसलिए वे दो बातें और कहते हैं, विगतज्वर होकर, बियांड फीवरिशनेस।

हम सब बुखार से भरे हैं। बहुत तरह के बुखार हैं। तरह-तरह के बुखार हैं। क्रोध का बुखार है, काम का बुखार है, लोभ का बुखार है। इनको बुखार क्यों कह रहे हैं, इनको ज्वर क्यों कहते हैं कृष्ण? ज्वर हैं। असल में जिस चीज से भी शरीर का उत्ताप बढ़ जाए, वे सभी ज्वर हैं। मेडिकली भी, चिकित्साशास्त्र के ख्याल से भी। क्रोध में भी शरीर का उत्ताप बढ़ जाता है। ख्याल किया है आपने! क्रोध में भी आपका ब्लडप्रेशर बढ़ जाता है, रक्तचाप बढ़ जाता है। क्रोध में हृदय तेजी से धड़कता है, श्वास जोर से चलती है, शरीर उत्तप्त होकर गर्म हो जाता है। कभी-कभी तो क्रोध में मृत्यु भी घटित होती है। अगर कोई आदमी पूरी तरह क्रोधित हो जाए, तो जलकर राख हो जा सकता है, मर ही सकता है। पूरे तो हम नहीं मरते, क्योंकि पूरा हम कभी क्रोध नहीं करते, लेकिन थोड़ा तो मरते ही हैं, इंच-इंच मरते हैं। नहीं पूरे मरते, लेकिन जब भी हम क्रोध करते हैं, तभी उम्र क्षीण होती है, तत्क्षण क्षीण होती है। कुछ हमारे भीतर जल जाता है और सूख जाता है। जीवन की कोई लहर मर जाती और जीवन की कोई हरियाली सूख जाती है। क्रोध करें और देखें कि ज्वर है क्रोध। कृष्ण यहां बड़ी ही वैज्ञानिक भाषा का उपयोग कर रहे हैं।

कभी ख्याल किया है कि जब भी सेक्स, कामवासना मन को पकड़ती है, तो शरीर ज्वरग्रस्त हो जाता है, फीवरिश हो जाता है! हृदय की धड़कन बढ़ जाती, रक्तचाप बढ़ जाता, खून की गति बढ़ जाती, श्वास बढ़ जाती, शरीर का ताप बढ़ जाता। प्रत्येक कामवासना में ग्रस्त क्षण में शरीर ज्वरग्रस्त हो जाता है। और अगर बहुत जोर से कामवासना पकड़े, तो पसीना अनिवार्य है, वैसे ही जैसे कि ज्वर में आ जाता है। और अगर और जोर से

कामवासना पकड़े, तो मनोवैज्ञानिक कहते हैं कि शरीर पर, सारे शरीर पर चमड़ी पर लाल चकत्ते फैल जाते हैं। स्त्रियों के बहुत जल्दी, क्योंकि उनकी चमड़ी ज्यादा कोमल, ज्यादा डेलिकेट है। लाल चकत्ते पूरे शरीर पर फैल जाते हैं। पुरुषों के शरीर पर भी फैल जाते हैं।

कृष्ण जब कह रहे हैं कि ज्वर से मुक्त हुए बिना कोई समर्पण नहीं कर सकता। क्यों? विगतज्वर ही समर्पण कर सकता है, जिसके जीवन में कोई ज्वर नहीं रहा। अब यह बड़े मजे की बात है, अगर जीवन में ज्वर न रहे, तो अहंकार नहीं रहता, क्योंकि अहंकार के लिए ज्वर भोजन है। जितना जीवन में क्रोध हो, लोभ हो, काम हो, उतना ही अहंकार होता है। और अहंकार समर्पण में बाधा है। अहंकार ही एकमात्र बाधा है, जो समर्पण नहीं करने देती।

और अक्सर ऐसा होता है कि मंदिर में परमात्मा की मूर्ति के सामने जब आप सिर रख देते हैं, तब सिर तो जमीन पर होता है, अहंकार वापस पीछे ही खड़ा रहता है, वह नहीं झुकता। कभी ख्याल करना, जब आप मंदिर में झुकें, तो आप देखना कि सिर तो रखा है पत्थर पर और अहंकार पीछे अकड़ा हुआ खड़ा है। वह दूसरे काम कर रहा है। वह देख रहा है कि कोई देखने वाला भी है या नहीं। वह देख रहा है कि मंदिर में कोई आ रहा है कि नहीं। जरा लोग देख लें और गांव में खबर पहुंच जाए कि यह आदमी बड़ा धार्मिक है। वह यह देख रहा है; वह अपने काम में लीन है; वह अपने काम में लगा हुआ है। अहंकार सघन होगा, डेंस होगा। और सघन होता जाएगा, जितना ज्वर होगा जीवन में। और चौबीस घंटे ज्वर के अतिरिक्त क्या है हमारे जीवन में!

हां, बीच-बीच में छोटे-छोटे वक्त रहते हैं, जिनको हम कह सकते हैं, शांति के वक्त। लेकिन वे होते नहीं हैं शांति के। वह सिर्फ दूसरे ज्वर की तैयारी का समय होता है। तैयारी के लिए वक्त लगता है न! आदमी दिनभर, चौबीस घंटे क्रोध नहीं कर सकता, असंभव है। घंटेभर क्रोध करे, तो तीन घंटे विश्राम चाहिए। तीन घंटे विश्राम करके फिर ताजा होना चाहिए, तब फिर क्रोध कर सकता है। तो बीच-बीच में जिनको हम शांति के क्षण कहते हैं, वे विगतज्वर होने के नहीं हैं, वे केवल बीच में विश्राम के और पुनः तैयारी के क्षण हैं।

इसलिए आप एक और बात ख्याल करेंगे कि हर आदमी के क्रोध के दौर होते हैं, पीरियड्स होते हैं। और अगर आप डायरी रखें, तो आप अपने पीरियड पकड़ लेंगे, उसी तरह जैसे रोज आदमी जिस वक्त पर सोता है, उसी वक्त पर नींद आती है। रोज भूख लगती है वक्त पर। अगर आप एक महीनेभर डायरी रखें, तो आप बहुत हैरान हो जाएंगे कि आपके क्रोध का भी पीरियड है, जो वक्त पर लौटता है। हमेशा लौट आता है। आपके सेक्स का भी वक्त है, जो हमेशा लौट आता है। लेकिन अगर आप डायरी रखें, तो आपको ख्याल रहे कि ठीक इसका भी एक कैलेंडर है, इसके भी आवागमन का एक वर्तुल है।

पूरी जिंदगी हमारी एक ज्वरों के वर्तुल में घूमती रहती है। कभी क्रोध, कभी काम, कभी लोभ, कभी कुछ, कभी कुछ। उसी में हम जीते और रिक्त होते चले जाते हैं। इनसे जो विगत हो जाए, इनके जो पार हो जाए, वही व्यक्ति समर्पण को उपलब्ध हो सकता है। क्योंकि इनके जो पार हो जाए, उसके पास अहंकार बचता ही नहीं। इसलिए समर्पण अपने आप हो जाता है।

यहां एक बात और ख्याल में ले लेनी जरूरी है कि समर्पण आप कर नहीं सकते हैं, समर्पण सदा होता है। आपका किया हुआ समर्पण, समर्पण नहीं होगा, क्योंकि करने वाला मौजूद है। और करने वाला ही तो बाधा है, वही तो समर्पण नहीं होने देता। इसलिए अगर कोई कहे कि मैं परमात्मा को समर्पित करता हूं, तभी समझना कि समर्पण हुआ नहीं। क्योंकि कल यह आदमी कहेगा कि वापस लेता हूं, तो परमात्मा क्या कर सकता है!

वापस ले लो। नहीं, एक आदमी जब कहे कि अब कोई उपाय ही नहीं है, मैं परमात्मा को समर्पित हूं, तब अब वापस लेने वाला नहीं बचा। इसलिए कभी कोई मैं के रहते समर्पण नहीं कर सकता। अगर ठीक से समझें, तो मैं का न रह जाना ही समर्पण है। और मैं कब नहीं रहेगा? जब ज्वर नहीं रहेंगे।

इसे ऐसा भी समझ लें कि ज्वरों के जोड़ का नाम मैं है। तो अभी मैंने आपसे कहा कि मैं एक भ्रम है। लेकिन भ्रम भी काम करता है, क्योंकि ये ज्वर बड़े सत्य हैं और भ्रम इन ज्वरों के रथ पर सवार हो जाता है। ये ज्वर बड़े सत्य हैं। ये काम, क्रोध, लोभ बड़े सत्य हैं। इनका शारीरिक अर्थ भी है, इनका मानसिक अर्थ भी है। ये साइकोसोमेटिक हैं। ये शरीर और मन दोनों में इनका सत्य है। इनके ऊपर अहंकार सवारी करता है। और इनको जब तक हम विसर्जित न कर दें, तब तक अहंकार रथ के नीचे नहीं उतरता। इनको कैसे विसर्जित करें? ये ज्वर कैसे चले जाएं?

पहली तो बात यह है, इन्हें हमने कभी ज्वर की तरह, बीमारी की तरह देखा नहीं। और जिस चीज को हम बीमारी की तरह न देखें, उसे हम कभी विसर्जित नहीं कर सकते। कोई आदमी टी.बी. नहीं बचाना चाहता और कोई आदमी कैंसर नहीं बचाना चाहता। क्योंकि उनको हम बीमारियों की तरह पहचानते हैं। लेकिन क्रोध, लोभ, मोह, काम, इन्हें हम बीमारियों की तरह नहीं पहचानते। इसलिए हम इन्हें बचाना चाहते हैं। हम कहते हैं कि बिना क्रोध के चलेगा कैसा? कोई आदमी नहीं कहता कि बिना टी.बी. के चलेगा कैसे? नहीं, वह कहता है, टी.बी. हो गई, तो चलेगा ही नहीं। टी.बी. एकदम अलग करो। अभी हम शरीर की बीमारियां तो पहचानने लगे हैं। लेकिन मन की बीमारियां हम अभी तक नहीं पहचान पाए।

और ध्यान रहे, अगर कोई आपके शरीर की बीमारियों की तरफ इशारा करे, तो आप कभी नाराज नहीं होते; लेकिन अगर आपके मन की बीमारियों की तरफ कोई इशारा करे, तो आप लड़ने को तैयार हो जाते हैं। कोई आदमी कहे कि देखिए, आपके पैर में घाव हो गया है, तो आप उससे लड़ते नहीं कि तुमने हमारा अपमान कर दिया कि हमारे पैर में घाव बता दिया। आप धन्यवाद देते हैं कि तुम्हारी बड़ी कृपा कि तुमने याद दिला दी। लेकिन कोई आदमी कहे कि बड़े लोभी हो, तो लकड़ी लेकर खड़े हो जाते हैं कि आप क्या कह रहे हैं! असल में मन की बीमारी को हम बीमारी स्वीकार नहीं करते। मन की बीमारी को तो हम समझते हैं कि कोई बड़ी धरोहर है, उसे बचाना है; उसे बचा-बचाकर रखना है, उसे सम्हाल-सम्हालकर रखना है।

कृष्ण कह रहे हैं, ये सब ज्वर हैं।

इन्हें, पहली तो शर्त यह है कि बीमारी की तरह पहचानें। और जिस दिन आप इन्हें बीमारी की तरह पहचानेंगे, उसी दिन छुटकारा शुरू हो जाएगा। दि वेरी रिकग्नीशन, इस बात की प्रत्यभिज्ञा कि ये बीमारियां हैं, आपको इनमें जाने से रोकने लगेगी। और जब क्रोध आएगा, तब आपको लगेगा कि बीमारी आती है। हाथ ढीले पड़ जाएंगे, भीतर कोई चीज रुक जाएगी। लेकिन क्रोध बीमारी नहीं है, हमारी अकड़ है। हम सोचते हैं, क्रोध नहीं रहेगा, तो रीढ़ ही टूट जाएगी। हम सोचते हैं, क्रोध नहीं रहेगा, तो कौन हमारी फिक्र करेगा। हम सोचते हैं, क्रोध नहीं रहेगा, तो जीवन की गति और जीवन का मोटिवेशन और जीवन की प्रेरणा सब चली जाएगी। हम कहते हैं, लोभ नहीं रहेगा, तो फिर हम क्या करेंगे! हमें पता ही नहीं है कि हम क्या कह रहे हैं!

लोभ की वजह से हम कुछ भी नहीं कर पाते। क्रोध की वजह से हम कुछ भी नहीं कर पाते। काम की वजह से हम कुछ भी नहीं कर पाते। हमारी सारी शक्ति तो इन्हीं छिद्रों में बह जाती है। बहुत दीन-हीन भीतर जो थोड़ी-बहुत शक्ति बचती है, उससे हम किसी तरह जिंदगी घसीट पाते हैं। हमारी जिंदगी आनंद नहीं बन

सकती, क्योंकि आनंद सदा ओवर फ्लोइंग एनर्जी है। आनंद सदा ही ऊपर से बह गई शक्ति है, ओवर फ्लोइंग, जैसे नदी में बाढ़ आ जाए और किनारे टूट जाएं और नदी चारों तरफ नाचती हुई बहने लगती है।

किसी पौधे में फूल तब तक नहीं आते, जब तक पौधे में जरूरत से ज्यादा शक्ति न हो। अगर पौधे में जरूरत से ज्यादा शक्ति आती है, तो ओवरफ्लो हो जाते हैं उसके रंग, फूल बन जाते हैं। कोई पक्षी तब तक गीत नहीं गाता, जब तक उसके पास जरूरत से ज्यादा शक्ति न हो। जब जरूरत से ज्यादा शक्ति होती है, तो पक्षी गीत गाता है, मोर नाचता है। लेकिन आदमी की जिंदगी में सब नाच, सब आनंद, सब खो गया है। कारण? मोर हमसे ज्यादा होशियार हैं? कोयल हमसे ज्यादा बुद्धिमान हैं? फूल हमसे ज्यादा वैज्ञानिक हैं? नदियां हमसे ज्यादा प्रज्ञावान हैं?

नहीं, एक ही बात की भूल हो रही है। हम अपने को जरूरत से ज्यादा बुद्धिमान समझे हुए हैं और अपनी बुद्धिमानी में न मालूम कितने प्रकार की मूढ़ताओं को पाल रखा है। बीमारियों को भी हम स्वास्थ्य समझे बैठे हैं। दुश्मनों को मित्र समझते हैं। कांटों को फूल समझ लेते हैं, फिर छाती से लगा लेते हैं। फिर वे गड़ते हैं, चुभते हैं, घाव कर देते हैं। और इन सारे ज्वरों में हमारी इतनी शक्ति व्यर्थ ही व्यय हो जाती है कि ओवरफ्लो करने के लिए, फूल बनने के लिए कभी कोई शक्ति शेष नहीं बचती। इसलिए जिंदगी में आनंद, ब्लिस कभी दिखाई नहीं पड़ता। जिंदगी एक उदास कहानी है।

शेक्सपियर ने कहीं कहा है, ए टेल टोल्ड बाय एन ईडियट, फुल आफ फ्यूरी एंड न्वायज सिग्नीफाइंग नथिंग। एक मूर्ख के द्वारा कही हुई कहानी है जिंदगी। शोरगुल बहुत, मतलब कुछ भी नहीं। बस, बचपन से लेकर बुढ़ापे तक बड़ा शोरगुल, जैसे भारी कुछ होने जा रहा है। अंत में हाथ कुछ भी नहीं है। कहानी लंबी, दृश्य बहुत बदलते हैं, निष्कर्ष कोई भी नहीं, निष्पत्ति कोई भी नहीं। आखिर में खबर आती है, वह आदमी मर गया। और कहानी सदा बीच में ही टूट जाती है।

कहीं कुछ भूल हो रही है। वह भूल यह हो रही है कि जीवन की ऊर्जा, लाइफ एनर्जी ज्वर से बह रही है, बीमारियों से बह रही है। इसलिए जीवन का संगीत, और जीवन के फूल वंचित ही रह जाते हैं, उन्हें शक्ति ही नहीं मिल पाती है। इसलिए आपसे यह भी कहना चाहता हूं, इस सूत्र में कृष्ण के यह भी ख्याल कर लें कि वे कह रहे हैं, विगतज्वर होकर अर्जुन, तू मुझको समर्पित हो। समर्पित वही हो सकता है, जो परम शक्तिशाली है। कमजोर कभी समर्पित नहीं होता। समर्पण बड़ा भारी आत्मबल है।

मैंने सुना है, एक युवक ने विवाह किया था नया-नया। और अपनी पत्नी को लेकर वह दूर देश की यात्रा पर गया, नाव में। पुरानी कहानी है। तूफान आ गया और नाव डोलने-डगमगाने लगी और सारे यात्री कंपने-थर्राने लगे। कोई प्रार्थना करने लगा, कोई हाथ जोड़ने लगा, कोई भगवान को बुलाने लगा, कोई मनौती मनाने लगा। लेकिन वह युवक बैठा हुआ है। उसकी पत्नी ने कहा, क्या कर रहे हो तुम! कुछ प्रार्थना नहीं करोगे? कोई उपाय नहीं करोगे? तुम जरा भी भयभीत नहीं मालूम होते! नाव खतरे में है।

उस युवक ने अपनी तलवार म्यान के बाहर निकालकर उस नई-नई दुल्हन के कंधे पर रख दी। चमकती हुई तलवार, गरदन पास में है। जरा और गरदन अलग। लेकिन वह युवती हंसती रही। उस युवक ने पूछा, तुझे भय नहीं लगता? तो उस युवती ने कहा, जब तुम्हारे हाथ में तलवार हो, तो मुझे भय कैसा? उस युवक ने कहा, छोड़! जब परमात्मा के हाथ में सब कुछ है, तो मुझे भय कैसा? तलवार म्यान के भीतर रख ली। जब परमात्मा के हाथ में सब कुछ है, तो मुझे भय कैसा?

लेकिन सब कमजोर प्रार्थनाएं कर रहे हैं; वे प्रार्थनाएं करने वाले मालूम पड़ते हैं कि भक्त हैं बड़े, धार्मिक हैं। यह आदमी धार्मिक है। इतना भरोसा! लेकिन इतने भरोसे के लिए बड़ा बलशाली आदमी चाहिए। यह कहता है, ठीक है, उसके हाथ में है। वह जानेगा, हम क्या सलाह दें? और जब हाथ में तलवार उसके है, तो उसकी मर्जी; अगर गरदन ही काटनी है, तो काट ले। इसी में कुछ हित होगा, तो यही सही।

शक्तिशाली ही समर्पण करता है, अहंकारी सदा कमजोर होता है। लेकिन हम कहेंगे, गलत। अहंकारी कमजोर! अहंकार तो बड़ा बलशाली मालूम पड़ता है।

यहां आपसे एक और मनोवैज्ञानिक सत्य कहूं। एडलर ने इस सदी में कुछ गहरे मनोवैज्ञानिक सत्यों की शोध की है। उसमें एक सत्य यह भी है कि जितना हीन आदमी होता है, उतना ही अहंकारी होता है। जितना इनफीरिआरिटी से पीड़ित आदमी होता है, उतना अहंकारी होता है। क्योंकि जिसके पास शक्ति होती है, उसे अहंकार की कोई जरूरत ही नहीं होती। उसकी शक्ति दिखती ही है; उसकी घोषणा की कोई जरूरत नहीं होती। उसके लिए बैंड-बाजे बजाकर कोई खबर नहीं करनी पड़ती। वह होती ही है।

सूरज कोई खबर नहीं करता कि मैं आता हूं। आ जाता है और सारी दुनिया जानती है कि आ गया। फूल खिलने लगते हैं और पक्षी गीत गाने लगते हैं और लोगों की नींद टूट जाती है। वृक्ष उठ जाते हैं, हवाएं बहने लगती हैं, सागर की लहरें उठने लगती हैं। सब तरफ पता चल जाता है कि आ गया। उसका आना ही काफी है। लेकिन कोई नकली सूरज अगर आ जाए, जिसके पास भीतर कोई ताकत न हो, तो सामने वह बैंड मास्टरों को लाएगा, चोट करो, खबर करो कि मैं आता हूं। क्योंकि खुद के आने से तो कोई खबर नहीं हो सकती।

यह जो हमारा अहंकार है, यह भीतर की कमजोरी को छिपाता है; यह सामने से इंतजाम करता है। पता है इसे कि भीतर मैं कमजोर हूं। सीधा तो मेरा कोई भी पता नहीं चलेगा। हां, मिनिस्टर हो जाऊं, तो पता चल सकता है। कुर्सी पर बैठ जाऊं, तो पता चल सकता है। धन मेरे पास हो, तो पता चल सकता है। बड़ा मकान मेरे पास हो, तो पता चल सकता है। ऐसे मेरा तो कोई पता नहीं चलेगा। कुछ हो, जिसके सहारे मैं घोषणा कर सकूं कि मैं हूं। मैं समबडी हूं, नोबडी नहीं हूं। मैं ना-कुछ नहीं हूं, कुछ हूं। लेकिन कुछ हूं अगर भीतर, तब तो कोई जरूरत नहीं है। महावीर नंगे भी खड़े हो जाएं, तो भी पता चलता है कि वे हैं। बुद्ध भिक्षा का पात्र लेकर भी गांव में निकल जाएं, तो भी पता चलता है कि वे हैं।

बुद्ध एक गांव में गए। उस गांव के सम्राट ने अपने वजीर से पूछा कि मेरी पत्नी कहती है कि बुद्ध के स्वागत के लिए मुझे भी जाना चाहिए। लेकिन क्या यह उचित है? मैं सम्राट, वह एक भिखारी, उसे आना होगा आ जाएगा। आजकल का कोई मंत्री होता, तो वह कहता, धन्य महाराज! आप बिल्कुल ठीक कहते हैं। लेकिन उस मंत्री ने इतना सुना, कागज उठाया, कलम उठाया; तो सम्राट ने पूछा, क्या करते हो? उसने कहा, मेरा इस्तीफा स्वीकार करें। उसने कहा, कोई बात नहीं हुई, इस्तीफा किस बात का? तो उसने कहा कि नहीं, ऐसी जगह एक क्षण रुकना कठिन है। क्योंकि जिस दिन सिर्फ अहंकार आत्मा के सामने अपने को श्रेष्ठ समझेगा, उस दिन से बड़ा दुर्भाग्य नहीं हो सकता है। आपको जाना पड़ेगा। क्योंकि बुद्ध भिक्षा का पात्र लिए हुए भी भिखारी नहीं हैं, सम्राट हैं। और तुम सम्राट होते हुए भी भिखारी हो। तुम्हारे पास कुछ नहीं है। तुम से अगर सब छीन लिया जाए, तो तुम ना-कुछ हो जाओगे। बुद्ध ने सब छोड़ दिया है, फिर भी वे सब कुछ हैं।

असल में जो सब कुछ है, वही सब कुछ छोड़ पाता है। जो कुछ भी नहीं है, वह छोड़ेगा कैसे?

अहंकार बहुत दीनता को छिपाए रहता है भीतर। वह हमेशा इनफीरिआरिटी कांप्लेक्स का बचाव है। वह हीनगं्रथि का इंतजाम है, सुरक्षा का, सेफ्टी मेजर है। तो अहंकारी निर्बल होता है। निर्बल अहंकारी होता

है। सबल, आत्मबल से भरा हुआ, अहंकारी नहीं होता। और आत्मबल से भरा हुआ व्यक्ति ही समर्पण कर सकता है। क्योंकि समर्पण शक्ति की सबसे बड़ी घोषणा है। यह बात बड़ी कंट्राडिक्टरी मालूम होगी। संकल्प समर्पण का सबसे बड़ा संकल्प है। इससे बड़ा कोई विल पावर नहीं है जगत में कि कोई आदमी कह सके कि मैंने छोड़ा, सब छोड़ा।

कृष्ण जब अर्जुन से कहते हैं, तू सब मुझ पर छोड़ दे। सब-- छोड़ अपनी सब बीमारियों को, छोड़ आकांक्षाओं को, छोड़ ममताओं को, छोड़ आशाओं को, छोड़ अपेक्षाओं को--सब छोड़ दे, मुझ पर छोड़ दे। इसमें दो मजेदार बात हैं। अगर अर्जुन बहुत सबल हो, तो छोड़ सकता है। लेकिन कृष्ण बहुत सबल आदमी हैं। छोड़ना भी सबल के लिए संभव है और किसी को इस भांति छोड़ने के लिए कहना भी सबल के लिए संभव है। निर्बल के लिए संभव नहीं है।

कृष्ण कितनी सहजता से कहते हैं, छोड़ सब मेरे ऊपर! दूसरे की बीमारियां लेने को केवल वही राजी हो सकता है, जिसे अब बीमार होने की कोई संभावना नहीं है। दूसरों के भार लेने को केवल वही राजी हो सकता है, जो इतना निर्भार है कि अब कोई भार उसके लिए भार नहीं बन सकता है। दूसरों को सहारा देने के लिए वही कह सकता है, जिसे अब खुद किसी तरह के सहारे की कोई भी जरूरत नहीं रह गई है। कृष्ण बड़ी सबलता से कहते हैं। इतनी सबलता से बहुत मुश्किल से कभी कहा गया है। और अब, अब इतने सबल आदमी खोजना बहुत मुश्किल होता चला जाता है, जो कहें कि छोड़, तू सब मुझ पर छोड़ दे। यह तभी वे कह पाते हैं, जब कि परमात्मा से तादात्म्य इतना गहरा है कि मुझ पर क्या छूटता है, परमात्मा पर छूटता है। कृष्ण बीच में हैं ही नहीं।

अर्जुन भी तभी छोड़ सकता है, जब उसके सारे ज्वरों के बाहर हो जाए। तब तक नहीं छोड़ सकता है, तब तक उसे एक-एक ज्वर पकड़ेगा। वह एक-एक सवाल उठाएगा। उसकी हर बीमारी के अपने सवाल हैं, अपनी जिज्ञासाएं हैं। और गीता अर्जुन की एक-एक बीमारी का उत्तर है। अनेक-अनेक मार्गों से वह कृष्ण से वही-वही पूछेगा। वह कृष्ण से उत्तर नहीं चाह रहा है, वह कृष्ण से मार्ग नहीं चाह रहा है। क्योंकि मार्ग इससे सरल और क्या हो सकता है कि कृष्ण कहते हैं, छोड़ मुझ पर।

एक महिला मेरे पास आई, अभी कोई आठ-दस दिन पहले। वह मुझे कहने लगी कि संतों के हाथ में तो सब कुछ है। आप सब कुछ कर दें मेरे लिए। मैंने कहा, राजी। तू क्या करने का इरादा रखती है? उसने कहा, हमसे क्या हो सकता है! मैंने उसको कहा, राजी। तू अपने को छोड़ने की हिम्मत रखती है? छोटी उम्र नहीं; सत्तर साल उम्र होगी। बूढ़ी स्त्री है। अब कुछ छोड़ने को बचा भी नहीं है, सिर्फ मौत है आगे। न, उसने कहा कि मैं घर अपने लड़के से, बहू से पूछकर आपको कुछ कहूंगी। लेकिन बोली कि संत तो सभी कर सकते हैं, आप कर ही दें। संत क्या नहीं कर सकते!

बड़ा मजेदार है सब मामला। संत निश्चित ही सब कुछ कर सकते हैं, लेकिन सिर्फ उन्हीं के लिए, जो सब कुछ छोड़ने की हिम्मत रखते हैं। तत्काल हो जाता है सब कुछ। संत को कुछ करना नहीं पड़ता, संत तो सिर्फ वीहिकल बन जाता है, सिर्फ परमात्मा के लिए साधन हो जाता है।

कृष्ण कहते हैं, छोड़ मुझ पर। दुनिया बहुत बदल गई है। दुनिया बहुत बदल गई है। कृष्ण कहते हैं, छोड़ मुझ पर। अर्जुन छोड़ने की हिम्मत नहीं जुटा पाता। आज तो हालत और उलटी है। आज तो कोई कहेगा नहीं किसी से कि छोड़ मुझ पर। क्योंकि हम समझेंगे कि पता नहीं बैंक बैलेंस छुड़ा लेगा, कि पता नहीं क्या मतलब

है। फिर दुबारा आएंगे ही नहीं वहां। क्योंकि हम तो संतों के पास लेने जाते हैं, देने तो नहीं जाते। यह किस तरह का संत है!

गुरजिएफ था अभी। कोई उससे सवाल पूछता, तो वह कहता, सौ रुपए पहले रख दो। लोग कहते, आप कैसे संत हैं? हम तो सवाल पूछते हैं, आप सौ रुपए! तो गुरजिएफ कहता कि मैं बहुत सस्ते में तुम्हें जवाब दे रहा हूं।

ये कृष्ण बड़ा महंगा जवाब हैं। वे कह रहे हैं, तू छोड़ दे सब। सौ रुपए नहीं, सब। तू अपने को ही छोड़ दे। वे अर्जुन से कह रहे हैं, तू सब छोड़ दे मुझ पर--सारी आशा, सारी आकांक्षा, सारी ममता--मैं तैयार हूं। लेकिन अर्जुन तैयार नहीं है।

अर्जुन की हालत वैसी है, जैसे कभी-कभी ऐसा होता है न कि ट्रेन में कभी कोई देहाती आदमी आ जाता, तो सिर पर बिस्तर रखकर बैठ जाता है। इस ख्याल में कि ट्रेन पर कहीं ज्यादा वजन न पड़े। तो वह खुद बैठे रहते हैं, सिर पर बिस्तर रखे रहते हैं। हम सब भी ऐसा ही करते हैं। हम सोचते हैं, कहीं परमात्मा पर ज्यादा वजन न पड़ जाए, इसलिए अपना वजन खुद ही रखे रहते हैं। सब वजन परमात्मा पर है, आपका भी, आपके वजन का भी। और जब उसी पर है, और जब ट्रेन चल ही रही है, तो नाहक सिर पर क्यों बोझ रखे हुए हैं!

वे कृष्ण इतना ही कहते हैं कि बिस्तर नीचे रख, मुझ पर छोड़ दे, तू आराम से बैठ। तू नाहक इतना बोझ क्यों लिए हुए है? तू इतनी चिंता में क्यों पड़ता है कि क्या होगा युद्ध से? कौन मरेगा, कौन बचेगा? इतने लोग मर जाएंगे, फिर क्या होगा? समाज का क्या होगा? राज्य का क्या होगा? तू इतनी सारी चिंताएं अपने सिर पर क्यों लेता है? तू छोड़ दे मेरे ऊपर।

अर्जुन को चिंता है भी नहीं वह सब। हम कभी भी नहीं पहचान पाते कि हम सब तरह से रेशनलाइजेशंस करते रहते हैं। अर्जुन सिर्फ भागना चाहता है। वह अपनों से लड़ने की हिम्मत नहीं जुटा पा रहा है, इसलिए सब तर्क खोज रहा है। वह तर्क का एक जाल खड़ा कर रहा है। वह कह रहा है, यह तकलीफ होगी, यह तकलीफ होगी, यह तकलीफ होगी। कुल मामला इतना है कि तकलीफों से उसे कोई मतलब नहीं है। मतलब उसे सिर्फ इतना है कि मेरों से कैसे लड़ूं? यह उसका मैं जो है, वह मेरों से लड़ने के लिए तैयार नहीं हो पाता। किसी का मैं नहीं तैयार हो पाता। मेरों से हम कभी लड़ने को तैयार नहीं होते। और इसलिए अक्सर ऐसा होता है कि अगर मेरों से लड़ने की हालत आ जाए, तो बड़ी कठिनाई होती है, तब अगर तेरों से लड़ने का कोई मौका मिल जाए, तो मेरों की लड़ाई एकदम बंद हो जाती है।

आपने देखा, चीन का हमला हो गया हिंदुस्तान पर। तो फिर, फिर हिंदुस्तान में हिंदी बोलने वाले, गैर-हिंदी बोलने वाले का कोई झगड़ा नहीं। फिर हिंदू-मुसलमान का कोई झगड़ा नहीं। फिर मैसूर-महाराष्ट्र का कोई झगड़ा नहीं। फिर मद्रास इसका-उसका, कोई झगड़ा नहीं। सब झगड़े शांत, मेरों से लड़ाई बंद। क्योंकि तेरों से लड़ाई शुरू हो गई।

लड़ने में कोई दिक्कत नहीं, लेकिन मेरों से लड़ने में बड़ी कठिनाई होती है। हां, जब कोई तेरे मिलते ही नहीं, तो मजबूरी में मेरों से लड़ते हैं। इसलिए सारी दुनिया में तेरों से लड़ाई खोजी जाती है; चौबीस घंटे खोजी जाती है। नहीं तो मेरों से लड़ाई हो जाएगी।

अभी मेरे एक मित्र की पत्नी मेरे पीछे पड़ी थी कि मेरे पति को समझा दें कि वे अलग हो जाएं मां-बाप से। मैंने मित्र को बुलाकर पूछा कि लगता तो है कि इतना उपद्रव चलता है, तो अलग हो जाओ। लेकिन एक ही बात मुझे पूछनी है कि अभी तो तुम्हारी पत्नी तुम्हारे मां-बाप से लड़ लेती है, तुम्हें पक्का भरोसा है कि उनसे

छूटकर तुमसे नहीं लड़ेगी? मैंने कहा, जहां तक मैं समझता हूं, लड़ेगी। क्योंकि करेगी क्या? वह तेरों से लड़ाई बंद हो जाएगी, तो और पास सरक आएगी।

इसलिए संयुक्त परिवार थे, तो पति-पत्नियों में कलह नहीं थी। आपको मालूम है, संयुक्त परिवार थे, तो पति-पत्नी में कभी कलह नहीं थी। जिस दिन से संयुक्त परिवार टूटा, उस दिन से पति-पत्नी की कलह बहुत गहरी हो गई। पति-पत्नी बच नहीं सकते, वे भी टूटेंगे। संयुक्त परिवार में बड़ा हिस्सा चलता रहता था, अपनों को बचाकर लड़ाई चलती रहती थी। दूसरे काफी थे, उनसे लड़ाई हो जाती थी। अब कोई बचे ही नहीं। अब वे दोनों ही बचे हैं पति-पत्नी। अब वे लड़ेंगे ही। इसलिए अक्सर ऐसा होता है कि पति-पत्नी, सांझ अकेली न बीत जाए, इससे डरे रहते हैं। किसी मित्र को बुला लो, किसी मित्र के घर चले जाओ। कोई तीसरा मौजूद रहे, तो थोड़ा, तो सांझ सरलता से बीत जाती है।

यह जो कृष्ण अर्जुन को कह रहे हैं, तू सब छोड़ दे मुझ पर, फिर तेरे लिए कुछ करने को नहीं बचता। मैं करूंगा, तू वाहन हो जा।

धर्म की एक ही पुकार है कि आप सिर्फ वाहन हो जाएं और परमात्मा को करने दें। आप कर्ता न बनें, परमात्मा पर कर्तृत्व छोड़ दें सब और आप इंस्ट्रूमेंट, साधन मात्र रह जाएं। कबीर ने कहा है कि जब से मैंने जाना, तब से गीत मेरे नहीं रहे। मैं तो सिर्फ बांसुरी हूं। मैं तो सिर्फ बांस की पोंगरी हूं, गीत परमात्मा के हैं। जो भी जान लेता है, वह बांस की पोंगरी रह जाता है। स्वर परमात्मा के, गीत परमात्मा का, हम केवल मार्ग रह जाते हैं।

कृष्ण कहते हैं अर्जुन से, तू बस मार्ग बन जा। मुझे मार्ग दे; जो मुझे करना है, होने दे। मुझे से मतलब, परमात्मा को जो करना है, वह होने दे।

और कृष्ण क्यों इतने आश्वस्त ढंग से अर्जुन से कह सके? अर्जुन को शक नहीं आता कि ये कृष्ण अपने को परमात्मा क्यों बनाए चले जा रहे हैं! अनेकों को शक आता है। जब भी कोई गीता पढ़ता है, तो अगर भक्त पढ़ता है, तब तो उसे कुछ पता नहीं चलता; लेकिन अगर कोई विचार करके पढ़ता है, तो उसे ख्याल आता है कि कृष्ण क्यों ऐसा कहते हैं कि मैं, मुझ पर छोड़ दे। बड़े अहंकारी मालूम होते हैं! मुझे अनेक लोगों ने कहा कि कृष्ण का अहंकार भारी मालूम पड़ता है। वे कहते हैं, मुझ पर सब छोड़ दे। एक तरफ अर्जुन से कहते हैं, अहंकार छोड़; और एक तरफ कहते हैं, मुझ पर सब छोड़! तो यह अहंकार नहीं है?

मैंने उनसे कहा कि कृष्ण इतनी सरलता से कहते हैं कि मुझ पर सब छोड़ कि अहंकार नहीं हो सकता। अहंकार कभी सीधा नहीं कहता कि मुझ पर सब छोड़। अहंकार सदा तरकीब से जीता है। अहंकार कहता है कि मैं तो आपके पैर की धूल हूं। जरा आंख में देखें, तब पता चलेगा। इधर हाथ पैर में झुके होते हैं, उधर आंखें आकाश में चढ़ी होती हैं। अहंकार कहता है, मैं तो कुछ भी नहीं। लेकिन अगर आपने मान लिया कि आप बिल्कुल ठीक कह रहे हैं, बिल्कुल सच कह रहे हैं कि कुछ भी नहीं, तो बड़ा दुखी होता है। नहीं, जब अहंकार कहता है, मैं कुछ भी नहीं, तो वह सुनना चाहता है कि आप कहो कि आप भी कैसी बात कर रहे हैं! आप तो सब कुछ हैं। तब वह प्रसन्न होता है।

अहंकार कभी सीधा नहीं बोलता। उसका कारण है। अहंकार इसलिए सीधा नहीं बोलता कि सीधा अहंकार दूसरे के अहंकार को चोट पहुंचाता है। और दूसरे के अहंकार को चोट पहुंचाकर आप कभी अपने अहंकार की तृप्ति नहीं कर सकते। इसलिए जो कनिंग अहंकार है, जो चालाक अहंकार है--और सब अहंकार चालाक हैं--वे तरकीब से अपनी तृप्ति करते हैं। वे दूसरे के अहंकार को परसुएड करते हैं।

वान पेकार्ड ने एक किताब लिखी है, दि परसुएडर्स, फुसलाने वाले। चारों तरफ हैं। लेकिन अहंकार से बड़ा परसुएडर और कोई भी नहीं है। अहंकार बड़ी तरकीब से फुसलाता है। वह जो कहलवाना चाहता है, जो वह खुद कहना चाहता है, वह दूसरे से कहलवाता है। अगर आप किसी स्त्री से कहलवाना चाहते हैं कि आप बड़े सुंदर हैं, तो आप खुद मत कह देना जाकर कि मैं बड़ा सुंदर हूं, नहीं तो मुश्किल में पड़ जाएंगे। नहीं, आप कहेंगे कि तुम बड़ी सुंदर हो; तुमसे सुंदर कोई भी नहीं; और फिर प्रतीक्षा करना। फिर वह स्त्री जरूर कहेगी कि आपसे सुंदर कोई भी नहीं है।

यह म्यूचुअल ग्रेटिफिकेशन है, यह एक-दूसरे के अहंकार की तृप्ति है। आप उन्हें बड़ा बनाओ, वे आपको बड़ा बनाते हैं। एक नेता दूसरे नेता को बड़ा बनाता है, दूसरा नेता दूसरे को। एक महात्मा दूसरे महात्मा को, दूसरा महात्मा दूसरे को। एक-दूसरे को बड़ा बनाते चले जाओ। इस तरह परोक्ष, इनडाइरेक्ट, अहंकार अपने रास्ते खोजता है।

कृष्ण अदभुत निरहंकारी व्यक्ति हैं। वे कहते हैं, छोड़ मुझ पर। वे इतनी सरलता से कहते हैं कि अहंकार का कहीं लेशमात्र मालूम नहीं पड़ता। अहंकार कभी इतना सरल होता ही नहीं। अहंकार हमेशा तिरछा चलता है। कृष्ण की इतनी सहजता... वे यह भी नहीं कहते कि मैं भगवान हूं, इसलिए छोड़ मुझ पर। क्योंकि वह भी इनडाइरेक्ट हो जाएगा। वे अगर यह भी कहें कि मैं भगवान हूं, छोड़ मुझ पर। ऐसा भी वे नहीं कहते। वे कहते हैं, छोड़ मुझ पर। कोई कारण भी नहीं देते। कोई परोक्ष उपाय भी नहीं करते। सीधा कहते हैं कि छोड़ मुझ पर। यह सरलता ही उनके निरहंकार होने की घोषणा है। इतना अत्यधिक सीधापन, स्ट्रेट फारवर्डनेस उनके निरहंकार होने का सबूत है। और जब वे कहते हैं, छोड़ मुझ पर, तो हमारे सामने वे मौजूद नहीं हैं, इसलिए बड़ी कठिनाई होती है।

दुनिया में जो भी महत्वपूर्ण सत्य आज तक प्रकट हुए हैं, वे लिखे नहीं गए, बोले गए हैं। इस बात को ख्याल में रखना। दुनिया का कोई पैगंबर, कोई तीर्थंकर लेखक नहीं था। और दुनिया का कोई अवतार लेखक नहीं था। यह स्मरण रखना। चाहे बाइबिल, और चाहे कुरान, और चाहे गीता, और चाहे बुद्ध और चाहे महावीर के वचन, और चाहे लाओत्से--ये सब वचन बोले गए हैं, ये लिखे नहीं गए हैं। और इनके मुकाबले लेखक कभी भी कुछ नहीं पहुंच पाता, कहीं नहीं पहुंच पाता। उसका कारण है। बोले गए शब्द में एक लिविंग क्वालिटी है।

जब अर्जुन से कृष्ण ने बोला होगा, तो सिर्फ शब्द नहीं था। हमारे सामने सिर्फ शब्द है। जब कृष्ण ने अर्जुन से कहा होगा कि छोड़ मुझ पर, तो कृष्ण की आंखें, और कृष्ण के हाथ, और कृष्ण की सुगंध, और कृष्ण की मौजूदगी ने, सब ने अर्जुन को घेर लिया होगा। कृष्ण की उपस्थिति अर्जुन को चारों तरफ से लपेट ली होगी। कृष्ण के प्रेम, और कृष्ण के आनंद, और कृष्ण के प्रकाश ने अर्जुन को सब तरफ से भर लिया होगा। नहीं तो अर्जुन भी पूछता कि आप भी क्या बात करते हैं! सारथी होकर मेरे और मुझसे कहते हैं, आपके चरणों में सब छोड़ दूं?

नहीं, अर्जुन यह कहने का उपाय भी नहीं पाया होगा। पाया ही नहीं। अर्जुन को यह प्रश्न भी नहीं उठा, क्योंकि कृष्ण की मौजूदगी ने ये सब प्रश्न गिरा दिए होंगे। कृष्ण की मौजूदगी अर्जुन को वहां-वहां छू गई होगी, जहां-जहां प्राण के अंतराल में छिपे हुए स्वर हैं, जहां-जहां प्राण की गहराइयां हैं--वहां-वहां। और इसलिए अर्जुन को शक भी नहीं उठता कि यह कहीं अहंकार तो नहीं पूछ रहा है मुझसे कि इसके चरणों में मैं छोड़ दूं। अहंकार वहां मौजूद ही नहीं था; वहां कृष्ण की पूरी प्रतिभा, पूरी आभा मौजूद थी।

बुद्ध के चरणों में लोग आते हैं और बुद्ध के चरणों में लोग सिर रखते हैं। और बुद्ध के पास आकर त्रिरत्न की घोषणा करते हैं। वे कहते हैं, बुद्धं शरणं गच्छामि। एक दिन एक आदमी आया और उसने बुद्ध से कहा, आप

तो कहते हैं, किसी की शरण मत जाओ। आप तो कहते हैं, किसी की शरण मत जाओ; और आपकी ही शरण में लोग आकर आपके सामने ही कहते हैं, बुद्धं शरणं गच्छामि, मैं बुद्ध की शरण जाता हूं। आप रोकते क्यों नहीं?

बुद्ध ने कहा, जो रोक सकता था, वह अब मेरे भीतर कहां है? जो रोक सकता था, वह अब मेरे भीतर कहां है? और किसने तुमसे कहा कि वे मेरी शरण जाते हैं! मेरी शरण वे जाते नहीं, क्योंकि मैं तो बचा नहीं। शायद मेरे द्वारा वे किसी और की शरण जाते होंगे, जो बचा है। मैं तो सिर्फ एक दरवाजा हूं--जस्ट ए डोर, जस्ट ए विंडो--एक खिड़की, एक दरवाजा।

इस खिड़की पर आप हाथ रखकर मकान के भीतर के मालिक को नमस्कार करते हैं। खिड़की क्यों रोके? खिड़की क्यों कहे कि अरे-अरे! यह क्या कर रहे हैं? मत करिए नमस्कार मुझे। लेकिन आप उसको कर ही नहीं रहे हैं।

बुद्ध कहते हैं, मुझे वे नमस्कार करते ही नहीं, मेरी शरण वे जाते नहीं, मैं तो हूं नहीं। एक द्वार है, जहां से वे किसी को निवेदन करते हैं।

कृष्ण जरूर इस क्षण में एक द्वार बन गए होंगे। नहीं तो अर्जुन भी सवाल उठाता, उठाता ही। अर्जुन छोटा सवाल उठाने वाला नहीं है। द्वार बन गए होंगे। और अर्जुन ने अनुभव किया होगा कि जो कह रहा है, वह मेरा सारथी नहीं है; जो कह रहा है, वह मेरा सखा नहीं है; जो कह रहा है, वह स्वयं परमात्मा है। ऐसी प्रतीति में अगर अर्जुन को कठिनाई लगी होगी, तो वह कृष्ण के भगवान होने की नहीं, वह अपने समर्पण के सामर्थ्य न होने की कठिनाई लगी होगी। वही लगी है।

उस पर हम आगे कल बात करेंगे। आज इतना ही।

आठवां प्रवचन

श्रद्धा है द्वार

ये मे मतमिदं नित्यमनुतिष्ठन्ति मानवाः।
श्रद्धावन्तोऽनसूयन्तो मुच्यन्तेऽपिकर्मभिः।। 31।।
ये त्वेतदभ्यसूयन्तो नानुतिष्ठन्ति मे मतम्।
सर्व ज्ञानविमूढांस्तान्विद्धि नष्टानचेतसः।। 32।।
सदृशं चेष्टते स्वस्याः प्रकृतेर्ज्ञानवानपि।
प्रकृतिं यान्ति भूतानि निग्रहः किं करिष्यति।। 33।।

और हे अर्जुन जो कोई भी मनुष्य दोषबुद्धि से रहित और श्रद्धा से युक्त हुए सदा ही मेरे इस मत के अनुसार बर्तते हैं, वे पुरुष संपूर्ण कर्मों से छूट जाते हैं। और जो दोषदृष्टि वाले मूर्ख लोग इस मेरे मत के अनुसार नहीं बर्तते हैं, उन संपूर्ण ज्ञानों में भ्रमित चित्त वालों को तू कल्याण मार्ग से भ्रष्ट हुए ही जान। क्योंकि सभी प्राणी प्रकृति को प्राप्त होते हैं अर्थात अपने स्वभाव से परवश हुए कर्म करते हैं। ज्ञानवान भी अपनी प्रकृति के अनुसार चेष्टा करता है। फिर इसमें किसी का हठ क्या करेगा!

कृष्ण अर्जुन से कह रहे हैं कि जो मैंने कहा है, श्रद्धापूर्ण हृदय से उसे अंगीकार करके जो जीता और कर्म करता है, वह समस्त कर्मों से मुक्त हो जाता है, वह समस्त कर्मबंधन से मुक्त हो जाता है।

श्रद्धा शब्द को थोड़ा समझेंगे, तो इस सूत्र के हृदय के द्वार खुल जाएंगे। श्रद्धा शब्द के आस-पास बड़ी भ्रांतियां हैं। सबसे बड़ी भ्रांति तो यह है कि श्रद्धा का अर्थ लोग करते हैं, विश्वास, बिलीफ; या कुछ लोग श्रद्धा का अर्थ करते हैं, फेथ, अंधविश्वास। दोनों ही अर्थ गलत हैं। क्यों? जो भी विश्वास करता है, उसके भीतर अविश्वास सदा ही मौजूद होता है।

असल में अविश्वासी के अतिरिक्त और कोई विश्वास करता ही नहीं है। यह उलटी लगेगी बात। लेकिन विश्वास की जरूरत ही इसलिए पड़ती है कि भीतर अविश्वास है। जैसे बीमार को दवा की जरूरत पड़ती है, ऐसे अविश्वासी चित्त को विश्वास की जरूरत पड़ती है। भीतर है संदेह, भीतर है अविश्वास, उसे दबाने के लिए विश्वास, बिलीफ को हम पकड़ते हैं।

श्रद्धा विश्वास नहीं है। भीतर अविश्वास हो और उसे दबाने के लिए कुछ पकड़ा हो, तो उसका नाम विश्वास है। और भीतर अविश्वास न रह जाए, शून्य हो जाए, तब जो शेष रह जाती है, वह श्रद्धा है। भीतर अविश्वास हो... एक आदमी को विश्वास न हो कि ईश्वर है और विश्वास करे, जैसा कि अधिक लोग किए हुए हैं, विश्वास बिल्कुल नहीं है, लेकिन किए हुए हैं। विश्वास भी नहीं है, अविश्वास करने की हिम्मत भी नहीं है। भीतर अविश्वास है गहरे में, ऊपर से विश्वास के वस्त्र ओढ़े हुए हैं। ऐसी बिलीफ, ऐसा विश्वास स्किनडीप, चमड़ी से ज्यादा गहरा नहीं होता। जरा जोर से खरोंचो, भीतर का अविश्वास बाहर निकल आता है।

श्रद्धा का ऐसा अर्थ नहीं है। श्रद्धा बहुत ही कीमती शब्द है। श्रद्धा का अर्थ है, जहां से अविश्वास नष्ट हो गया--विश्वास आ गया नहीं। श्रद्धा का अर्थ है, जहां अविश्वास नहीं रहा। जब भीतर कोई अविश्वास नहीं होता,

तब श्रद्धा फलित होती है। कहें, श्रद्धा अविश्वास का अभाव है। एब्सेंस आफ डिसबिलीफ, प्रेजेंस आफ बिलीफ नहीं, विश्वास की उपस्थिति नहीं, अविश्वास की अनुपस्थिति। इसलिए कोई आदमी कितना ही विश्वास करे, कभी श्रद्धा को उपलब्ध नहीं होता। उसके भीतर अविश्वास खड़ा ही रहता है और कांटे की तरह चुभता ही रहता है।

अब एक आदमी कहे चला जाता है, आत्मा अमर है; और फिर भी मरने से डरता चला जाता है। एक तरफ कहता है, आत्मा अमर है, दूसरी तरफ मरने से भयभीत होता है। यह कैसा विश्वास है? इसके पीछे अविश्वास खड़ा है। कहता है, आत्मा अमर है, और डरता है मरने से। अगर आत्मा अमर है, तो मरने का डर? मरने का डर बेमानी है। अब यह कैसे आश्चर्य की बात है!

लेकिन अगर ठीक से देखेंगे, तो आश्चर्य नहीं मालूम पड़ेगा। सौ में निन्यानबे मौकों पर संभावना यही है कि चूंकि मरने का डर है, इसलिए आत्मा अमर है, इस विश्वास को किए चले जाते हैं। डर है भीतर कि मर न जाएं, तो आत्मा अमर है, इस पाठ को रोज-रोज पढ़े चले जाते हैं; दोहराए चले जाते हैं, आत्मा अमर है; समझाए चले जाते हैं अपने को, आत्मा अमर है। और भीतर जिसे दबाने के लिए आप कह रहे हैं, आत्मा अमर है, वह मिटता नहीं। वह भय और गहरे में सरकता चला जाता है। हमारे सारे विश्वास ऐसे ही हैं।

कृष्ण भी कह सकते थे, विश्वासपूर्वक जो मेरी बात को मानता है, वह कर्म से मुक्त हो जाता है। उन्होंने वह नहीं कहा। यद्यपि गीता के अर्थ करने वाले वही अर्थ किए चले जाते हैं। वे लोगों को यही समझाए चले जाते हैं, विश्वास करो। कृष्ण कह रहे हैं, श्रद्धा, विश्वास नहीं। विश्वास दो कौड़ी की चीज है। श्रद्धा की कोई कीमत ही आंकनी मुश्किल है। उदाहरण के लिए थोड़ा समझाऊं।

विवेकानंद खोजते थे कि परमात्मा है या नहीं है। खबर मिली--रवींद्रनाथ के दादा महर्षि थे--खबर मिली कि महर्षि गांव में आए हैं। नाव पर, बजरे में वे साधना करते हैं। रात, आधी रात किसी मित्र ने कहा बारह बजे। आपसे कहा होता, तो आप कहते, सुबह उठकर चल पड़ेंगे; सुबह मिल लेंगे। पर विवेकानंद आधी रात ही गंगा पार करके बजरे पर चढ़ गए। धक्का दिया, दरवाजा खुल गया। महर्षि ध्यान कर रहे थे। ध्यान उचट गया। विवेकानंद ने जाकर कोट का कालर पकड़ लिया और कहा, ईश्वर है?

अब ऐसे जिज्ञासाएं नहीं की जातीं! ये कोई शिष्ट बातें नहीं हैं। लेकिन जो परमात्मा के लिए दीवाने हैं, वे शिष्टाचार के लिए नहीं रुक पाते हैं। कोई भी दीवाना नहीं रुक पाता है। महर्षि ने कहा, बैठो भी, यह भी कोई ढंग है! अंधेरी रात, पानी से तर-बतर, नदी में तैरकर आया हुआ युवक, आकर गर्दन पकड़ ले और कहे, ईश्वर है? महर्षि ने कहा, बैठो भी। पर विवेकानंद ने कहा कि नहीं, जवाब मिल गया। आपकी झिझक ने कह दिया कि आपको पता नहीं है। अन्यथा मैं पूछता हूं, ईश्वर है? और आप देखते हैं कि मेरे कपड़े पानी में भीगे हुए हैं। और मैं पूछता हूं, ईश्वर है? और आप देखते हैं कि आधी रात है। मैंने नहीं देखी, जो अभी खोज रहा है। तो जिसको मिल गया है, वह क्या खाक देखेगा कि आधी रात है! कूद पड़े वापस। महर्षि ने बहुत बुलाया कि युवक, ठहर! जवाब लेकर जा। विवेकानंद ने पानी से कहा कि जवाब मिल गया। झिझक ने सब कह दिया कि अभी कुछ पता नहीं है।

फिर यही विवेकानंद कुछ महीनों के बाद रामकृष्ण के पास गए। भक्त इकट्ठे थे; बीच में घुसकर जाकर उनके पास खड़े होकर कहा, ईश्वर है? उसी तरह जैसे उस दिन रात महर्षि को पकड़कर कहा था, ईश्वर है? रामकृष्ण ने यह नहीं कहा कि है या नहीं। रामकृष्ण ने जवाब में ही जवाब दिया और कहा, तुझे जानना है? विवेकानंद ने लिखा है कि वे आंखें, रामकृष्ण का वह कहना कि तुझे जानना है? फिक्र छोड़ इसकी कि है या

नहीं। तुझे जानना है, यह बता, तो मैं तैयार हूं। विवेकानंद ने लिखा है कि मैंने महर्षि को दिक्कत में डाल दिया था। रामकृष्ण ने मुझे दिक्कत में डाल दिया। मैंने यह सोचा ही न था कि कोई इतने जोर से पकड़कर कहेगा कि तेरी तैयारी है, देखना है, जानना है? यह मत पूछ। मैं दिखाने को तैयार हूं।

रामकृष्ण एक श्रद्धा से बोल रहे हैं, जहां सब अविश्वास गिर गए हैं। महर्षि देवेंद्रनाथ बोलते भी, तो विश्वास से बोलते, जहां सब अविश्वास भीतर किसी कोने में मौजूद प्रतीक्षा कर रहे हैं। श्रद्धा का अर्थ है, ऐसा हृदय जहां विरोध में कोई भी स्वर नहीं है। जहां जो है, वह पूरी तरह से है, जिसके विपरीत कुछ है ही नहीं। जिससे अन्य का कोई अस्तित्व नहीं है। जिससे भिन्न का कोई सवाल नहीं है। जो है, है; पूरा है, टोटल है। श्रद्धा का अर्थ है, हृदय की समग्रता।

कृष्ण कह रहे हैं कि श्रद्धापूर्वक, हृदय की समग्रता से, जिसके भीतर विपरीत कुछ स्वर ही नहीं है, जिसके भीतर अविश्वास की रेखा भी नहीं है, वही व्यक्ति इस मार्ग पर चलकर कर्मों को क्षीण करके मुक्त हो जाता है।

तो पहला फर्क विश्वास और श्रद्धा में ठीक से समझ लें। और आपके पास जो हो, उसे जरा ठीक से देख लें। वह विश्वास है या श्रद्धा है? और ध्यान रहे, अविश्वासी तो कभी श्रद्धा पर पहुंच भी सकता है, विश्वासी कभी नहीं पहुंच पाता है। उसके कारण हैं। जिस आदमी के हाथ में कुछ भी नहीं है, कंकड़-पत्थर भी नहीं हैं, वह आदमी हीरों की खोज कर सकता है। लेकिन जिस आदमी ने कंकड़-पत्थर के रंगीन टुकड़ों को समझा हो हीरे-जवाहरात और उन पर मुट्ठी बांधे रहे, वह कभी हीरों की खोज पर ही नहीं निकलता है।

अविश्वासी तो किसी दिन श्रद्धा को पा सकता है। उसके कारण हैं। क्योंकि अविश्वास में जीना असंभव है, इंपासिबल है। अविश्वास आग है, जलाती है, पीड़ा देती है, चुभाती है; अंगारे हैं उसमें। अविश्वास में कोई भी खड़ा नहीं रह सकता। उसे आज नहीं कल या तो श्रद्धा में प्रवेश करना पड़ेगा या विश्वास में प्रवेश करना पड़ेगा।

ध्यान रहे, श्रद्धा का विरोध अविश्वास से नहीं है; श्रद्धा का विरोध विश्वास से है। बिलीफ करने वाले लोग कभी भी श्रद्धा को उपलब्ध नहीं होते हैं। यह बहुत उलटी-सी बात लगेगी। क्योंकि हम तो सोचते हैं, पहले विश्वास करेंगे, फिर धीरे-धीरे श्रद्धा आ जाएगी। ऐसा कभी नहीं होता। क्योंकि जिसने विश्वास कर लिया, वह झूठी श्रद्धा में पड़ जाता है। और झूठे सिक्के असली सिक्कों के मार्ग में अवरोध बन जाते हैं। आप ठीक से जांच कर लेना कि आपके पास जो है, वह विश्वास है कि श्रद्धा है।

और ध्यान रहे, विश्वास सदा मिलता है दूसरों से, श्रद्धा सदा आती है स्वयं से। एक आदमी हिंदू है, यह विश्वास है, श्रद्धा नहीं; क्योंकि अगर वह मुसलमान के घर में रखकर बड़ा किया गया होता, तो मुसलमान होता। एक आदमी मुसलमान है, यह विश्वास है, श्रद्धा नहीं; क्योंकि वह ईसाई के घर में रखकर बड़ा किया गया होता, तो ईसाई होता। और एक आदमी आस्तिक है; यह विश्वास है, श्रद्धा नहीं। वह रूस में अगर पैदा हुआ होता, तो नास्तिक हो गया होता। जो हमें बाहर से मिल जाता है, वह विश्वास है। जो हमारे भीतर से जन्मता है, वह श्रद्धा है।

इसलिए और तीसरी बात, विश्वास हमेशा मुर्दा होता है, डेड। श्रद्धा सदा जीवंत होती है, लिविंग। और मुर्दे आपको डुबा सकते हैं, पार नहीं करवा सकते। मरे हुए विश्वास सिर्फ डुबा सकते हैं, पार नहीं करवा सकते। और मरे हुए विश्वास जंजीर बन सकते हैं, मुक्ति नहीं बन सकते। और मरे हुए विश्वास बांध सकते हैं, खोल नहीं सकते। इसलिए कृष्ण जब कह रहे हैं, श्रद्धापूर्वक, तो विश्वास को बिल्कुल काट डालना; विश्वास से कुछ लेना-देना कृष्ण का नहीं है। विश्वास--जिनके पास श्रद्धा नहीं है, वे अपने को श्रद्धा का धोखा देते हैं विश्वास से। जैसे आपके पास असली मोती नहीं हैं, तो इमिटेशन के मोती गले में डालकर घूम लेते हैं। किसी को धोखा नहीं

होता। मोती को तो धोखा होता ही नहीं। उसको तो पता ही है! आपको भी धोखा नहीं होता। आपको भी पता है। और जिनको आप धोखा दे रहे हैं, उनको धोखा देने से कोई प्रयोजन नहीं है। उनको कोई प्रयोजन नहीं है। विश्वास आरोपित है, श्रद्धा जन्मती है। यह फर्क है।

दूसरी बात, अगर श्रद्धा जन्मती है, तो आ कैसे जाएगी? विश्वास तो उधार लिया जा सकता है, बारोड हो सकता है। सब बारोड है। कोई बाप से, कोई गुरु से, कोई कहीं से, कोई कहीं से उधार ले लेता है, विश्वास बना लेता है। बिना विश्वास के जीना बहुत मुश्किल है। मुश्किल इसीलिए है कि अविश्वास में जीना मुश्किल है।

और इसलिए एक अदभुत घटना घटती है कि नास्तिक को हम अविश्वासी कहते हैं। कहना नहीं चाहिए। नास्तिक पक्का विश्वासी होता है ईश्वर के न होने में। नास्तिक भी अविश्वास में नहीं जीता, नकारात्मक, निगेटिव बिलीफ में जीता है। उसका भी पक्का विश्वास होता है और वह भी लड़ने-मारने को तैयार हो जाता है। अगर आप कहो कि ईश्वर है, तो उसके ईश्वर नहीं होने की धारणा को चोट लगे, तो वह भी लड़ने को तैयार हो जाता है।

नास्तिक के अपने विश्वास हैं। आस्तिक से उलटे हैं, यह दूसरी बात है, पर उसके अपने विश्वास हैं। उनके बिना वह भी नहीं जीता। कम्युनिस्ट भी नहीं जीता बिना विश्वासों के। हां, उसके विश्वास और तरह के हैं। यह बिल्कुल दूसरी बात है, इससे कोई भी फर्क नहीं पड़ता है। बिना विश्वास के जीना मुश्किल है। अविश्वास इतनी तकलीफ पैदा कर देता है कि आपको श्रद्धा की यात्रा करनी ही पड़ेगी। लेकिन आप विश्वास... ।

इसे थोड़ा दो-चार आयाम से देखना पड़े। और धार्मिक चित्त को इसे समझ लेना बहुत ही आधारभूत है।

विश्वास और अविश्वास दोनों ही तर्क से जीते हैं। विश्वास भी, अविश्वास भी, दोनों का भोजन तर्क है। नास्तिक तर्क देता है, ईश्वर नहीं है। आस्तिक तर्क देता है, ईश्वर है। लेकिन दोनों तर्क देते हैं और दोनों का तर्क पर भरोसा है। सेंट एनसैन के आपने ईश्वर के लिए प्रमाण सुने होंगे। सारी दुनिया के आस्तिकों ने, ईश्वर है, इसके प्रमाण दिए हैं। नास्तिकों ने प्रमाणों का खंडन किया है कि ईश्वर नहीं है। विश्वास, अविश्वास दोनों ही तर्क से चलते हैं। और श्रद्धा, श्रद्धा इस अनुभूति का नाम है कि तर्क ना-काफी है, नाट इनफ। तर्क पर्याप्त नहीं है, इस प्रतीति से श्रद्धा की शुरुआत होती है। जिस मनुष्य को जीवन में गहरे देखकर ऐसा दिखाई पड़ता है कि तर्क की सीमा है और जीवन तर्क की सीमा के आगे भी है। जिस व्यक्ति को ऐसा दिखाई पड़ता है कि तर्क थोड़ी दूर तक चलता है और फिर नहीं चलता। जिसे अनुभव होता है कि जीवन में बहुत कुछ है जो तर्क के बाहर पड़ जाता है, जो तर्क में नहीं है। जीवन खुद तर्क के बाहर है। जीवन खुद अतर्क्य है, इल्लाजिकल है। आप न होते, तो आप किसी से भी नहीं कह सकते थे कि मैं क्यों नहीं हूं? आप हैं, तो आप किसी से पूछ नहीं सकते कि मैं क्यों हूं?

जिंदगी बिल्कुल अतर्क्य है। जिंदगी के पास कोई तर्क नहीं है। हैं तो हैं, नहीं हैं तो नहीं हैं। प्रेम अतर्क्य है, प्रार्थना भी अतर्क्य है। जीवन में जो भी गहरा और महत्वपूर्ण है, वह तर्क से समझ में आता नहीं, पकड़ में आता नहीं, तर्क चुक जाता है और जीवन बाहर रह जाता है। ऐसे अनुभव से पहली बार श्रद्धा की ओर कदम उठते हैं। कैसे पता चलता है कि जीवन अतर्क्य है? कैसे पता चलता है कि बुद्धि थक जाती है और जीवन नहीं चुकता? आदमी कितना सोचता है, कितना सोचता है, फिर कहीं नहीं पहुंचता। सिद्धांत हाथ में आ जाते हैं कोरे, राख; अनुभव कोई भी हाथ में नहीं आता। सब गणित हार जाते हैं; कुछ अनजाना पीछे शेष रह जाता है; अननोन सदा ही पीछे शेष रह जाता है। जो हम जानते हैं, वह बहुत क्षुद्र है। जो हमारे जानने के क्षुद्र को घेरे हुए है अनजाना, वह बहुत विराट है।

अठारहवीं सदी का वैज्ञानिक सोचता था कि सौ वर्ष में वह घटना घट जाएगी कि दुनिया में जानने को कुछ भी शेष नहीं रहेगा। उसे पक्का विश्वास था विज्ञान पर। सौ साल पहले वैज्ञानिक को पक्का विश्वास था विज्ञान पर, कि हम सब जान लेंगे, जो भी अनजाना है, जान लिया जाएगा। आज वैज्ञानिक कहता है कि जो हमने जाना, वह तो कुछ नहीं, लेकिन जितना हमने जानने की कोशिश की, उससे हजार गुना अनजाना प्रकट हो गया है। एक इंच हम जानते हैं, हजार इंच और खुल जाते हैं, जो अनजाने हैं। एक सवाल हल होता है, हजार सवाल खड़े हो जाते हैं। और अब वैज्ञानिक हिम्मत बांधकर नहीं कह पाता कि हम कभी भी सब जान लेंगे। अब वह इतना ही कह पाता है कि हम जो भी जानेंगे, वह उसके मुकाबले ना-कुछ होगा, जो अनजाना छूट जाएगा। विज्ञान सौ साल में हारा। दार्शनिक हजारों साल कोशिश करके हार गए और उन्होंने कहा, कुछ है, जो विचार के बाहर छूट जाता है। इस बात की प्रतीति कि कुछ है, जो विचार के बाहर छूट जाता है, श्रद्धा के जन्म का पहला अंकुर है।

क्या आपको जीवन रहस्य मालूम पड़ता है, मिस्ट्री? तो आपकी जिंदगी में श्रद्धा पैदा हो सकती है। और ध्यान रखें, विश्वासी को जिंदगी मिस्ट्री नहीं मालूम पड़ती है। उसके लिए तो सब खुला हुआ मामला है। सब गणित साफ है। वह कहता है, यहां स्वर्ग है, यहां नर्क है; यहां मोक्ष है, यहां भगवान बैठा हुआ है। यहां यह हो रहा है, वहां वह हो रहा है। सब नक्शा साफ है। विश्वासी के पास पूरा गणित है, पूरा मैप है, सब सिद्धांत हैं, सब साफ है। विश्वासी कभी भी रहस्य में नहीं होता। जो आदमी रहस्य में होता है, वह श्रद्धा में जा सकता है। मिस्ट्री श्रद्धा का द्वार है। तर्क, गणित, प्रमाण विश्वासों के द्वार हैं। उनसे हम विश्वास निर्मित कर लेते हैं। क्या आपको जिंदगी में रहस्य मालूम होता है? क्या आपको लगता है कि हम कुछ भी नहीं जानते? तो आपकी जिंदगी में श्रद्धा पैदा हो सकती है।

कृष्ण अर्जुन से कह रहे हैं, जो श्रद्धापूर्वक अर्थात जो जीवन के रहस्य को अंगीकार करता है... ।

और जो जीवन के रहस्य को अंगीकार करता है, उसके पास संदेह का उपाय नहीं बचता। यह भी समझ लेना जरूरी है। आप में संदेह तभी तक उठते हैं, जब तक आप विश्वास को पकड़ते हैं, क्योंकि सब संदेह विश्वास के खिलाफ उठते हैं। जिस आदमी का कोई विश्वास नहीं, उसके भीतर कोई संदेह भी नहीं पैदा होता। संदेह पैदा होते हैं विश्वास के खिलाफ।

आपने विश्वास किया कि परमात्मा ने दुनिया बनाई, तब सवाल उठता है, क्यों बनाई! एक विश्वास हुआ कि सवाल खड़ा हुआ, क्यों बनाई! फिर दूसरा सवाल उठता है कि ऐसी क्यों बनाई, जिसमें इतना दुख है! फिर तीसरा सवाल उठता है कि जब वही बनाने वाला है, तो इस सब दुख को क्यों नहीं मिटा देता! फिर सवाल उठते चले जाते हैं। आपने तय किया कि ईश्वर ने दुनिया नहीं बनाई। तब फिर सवाल उठता है, फिर कैसे बनी? तो फिर वैज्ञानिक खोजता है कि नेबुला, और अणु, और परमाणु और उन सबसे दुनिया बनती है। लेकिन वे अणु-परमाणु कहां से आते हैं? और तब सवालों की यात्रा फिर शुरू हो जाती है। हर विश्वास सवालों की यात्रा पर ले जाता है। लेकिन रहस्य का बोध सवालों को गिरा देता है और मिस्ट्री में, रहस्य में डुबा देता है। और जब कोई व्यक्ति रहस्य में डूबता है, तो श्रद्धा अंकुरित होती है।

जैसे बीज को अगर पत्थर पर रख दें, तो कभी अंकुर न आएगा। जीसस कहा करते थे कि मैं एक मुट्ठीभर बीज फेंक दूं अंधेरे में; कुछ पत्थर पर गिरें, कुछ रास्ते पर गिरें, कुछ खेत की मेड़ पर गिरें, कुछ खेत के बीच की भूमि में गिर जाएं। जो पत्थर पर गिरेंगे, वे पड़े ही रहेंगे, वे कभी अंकुरित न होंगे। जो रास्ते पर गिरेंगे, वे अंकुरित होना भी चाहेंगे, रास्ता उन्हें अंकुरित होने के लिए सहायता भी देगा। तो इसके पहले कि वे अंकुरित

हों, किन्हीं के पैर उनकी संभावनाओं को नष्ट कर जाएंगे। खेत की मेड़ पर जो बीज गिरेंगे, वे अंकुरित हो जाएंगे। लेकिन मेड़ से लोग कभी न कभी गुजरते हैं, वे भी बच न सकेंगे। खेत के ठीक बीच में जो बीज पड़ गए हैं, वे अंकुरित भी होंगे, बड़े भी होंगे, फूल को उपलब्ध भी होंगे।

श्रद्धा का बीज जब रहस्य की भूमि में गिरता है, तभी अंकुरित होता है। रहस्य की भूमि में श्रद्धा अंकुरित होती है। और श्रद्धावान ही--और ध्यान रहे, श्रद्धावान से मेरा मतलब कभी भी भूलकर विश्वास करने वाला नहीं है--श्रद्धावान अर्थात वह जो जीवन को रहस्य की भांति अनुभव करता है। ऐसा व्यक्ति, कृष्ण कहते हैं, अगर मेरे मार्ग पर आ जाए... और ऐसा व्यक्ति सदा ही पूरा का पूरा आ जाता है। क्योंकि रहस्य खंड-खंड नहीं बनाता, तर्क खंड-खंड बनाता है।

यह भी ख्याल में ले लें कि तर्क एनालिटिक है; तर्क तोड़ता है; तर्क चल ही नहीं सकता तोड़े बिना। तर्क प्रिज्म की तरह है। जैसे कि कांच के प्रिज्म में से हम सूरज की किरण निकालें, तो सात टुकड़ों में टूट जाती है। ऐसे ही तर्क के प्रिज्म से कुछ भी निकले, तो खंड-खंड हो जाता है। तर्क तोड़ता है, एनालिटिक है। श्रद्धा जोड़ती है, सिंथेटिक है। सब जुड़ जाता है, एक हो जाता है, जैसे किरणें प्रिज्म से वापस लौट गईं और एक हो गईं।

रहस्य टोटल है। विश्वास हमेशा पार्शियल है। आप कभी पूरा विश्वास नहीं कर सकते। लेकिन आप कभी अधूरे रहस्य में नहीं हो सकते। यह आपने कभी ख्याल किया, आप यह नहीं कह सकते कि मैं थोड़ा-थोड़ा रहस्य अनुभव कर रहा हूं! रहस्य जब भी अनुभव होता है, तो पूरा अनुभव होता है। रहस्य कभी थोड़ा-थोड़ा अनुभव नहीं होता। मिस्ट्री कभी थोड़ी-थोड़ी अनुभव नहीं होती है, पूरी अनुभव होती है। या तो होती है अनुभव या नहीं होती। लेकिन जब भी होती है, तो पूरी अनुभव होती है।

विश्वास सदा थोड़ा-थोड़ा होता है, इसलिए हिस्सा मन का कटा रहता है। रहस्य का अनुभव मन को इकट्ठा कर देता है। इसलिए जितना सरल चित्त व्यक्ति हो, उतने रहस्य को अनुभव कर पाता है। छोटे बच्चे इसीलिए, उनकी आंखों में, उनके उठने-बैठने, उनके खेलने में परमात्मा की झलक कहीं-कहीं से दिखाई पड़ती है। क्योंकि सारा जीवन रहस्य है। तितलियां उड़ रही हैं, और उनके लिए हीरे-जवाहरात उड़ रहे हैं। पत्थर खिसक रहे हैं, और उनके लिए स्वर्ग का आनंद उतर रहा है। नदी बह रही है, और उनके लिए द्वार खुला है कुबेर के खजाने का। सब रहस्य है।

जेकब बोहमे ने कहा है कि जब मैं पहली दफे रहस्य के अनुभव को उपलब्ध हुआ, तब मैंने कहा कि मैं भी क्या पागल था! यह तो बचपन को ही फिर से पा लेना है। यह तो मैं फिर से बच्चा हो गया हूं।

जीसस से किसी ने पूछा कि कौन लोग तुम्हारे स्वर्ग के राज्य को पाने के अधिकारी होंगे? तो उन्होंने कहा, वे जो बच्चों की भांति फिर से हो जाएंगे।

तो बच्चे श्रद्धालु होते हैं। बूढ़े ज्यादा से ज्यादा विश्वासी हो सकते हैं, बच्चे श्रद्धालु होते हैं।

कभी देखा है, बच्चे को बाप का हाथ पकड़े हुए? बाप का हाथ पकड़कर बच्चा चलता है। उसका हाथ बाप के हाथ को पकड़े हुए, देखा है कभी! कितना ट्रस्ट, बाप के हाथ को छोटा-सा बच्चा पकड़े हुए, कितना भरोसा! बाप को खुद इतना भरोसा नहीं है कि हाथ को संभाल पाएगा कि नहीं संभाल पाएगा; रास्ते का पता है या नहीं है! उसको खुद भी पता नहीं है कुछ भी। लेकिन बेटा उसके हाथ को इतने ट्रस्ट... । श्रद्धा के लिए अगर अंग्रेजी में ठीक शब्द है, तो वह ट्रस्ट है--बिलीफ नहीं, फेथ नहीं--ट्रस्ट। बेटा हाथ पकड़े हुए है, जैसे कि बाप परमात्मा है, सब उसे मालूम है।

एक बेटा आया है और अपनी मां की गोद में सिर रखकर सो गया है--ट्रस्ट! जैसे मां की गोद सारे दुखों के बाहर है, सारी चिंताओं के बाहर है। मां नहीं है बाहर चिंताओं के, मां नहीं है बाहर दुखों के, मां परेशानियों में हो सकती है। लेकिन जो छोटा-सा बेटा, दिनभर थका-मांदा बाहर से खेलकर लौट आया है, वह मां की गोद में सिर रखकर सो गया निश्चिंत, उसे परमात्मा की गोद मिल गई--ट्रस्ट। मां को नहीं है, बेटे को है। और इसलिए बेटे के लिए मां की गोद परमात्मा का स्थान बन सकती है। खुद मां को नहीं है वह अनुभव। वह ट्रस्ट ने उस गोद को इतना शांत, और इतने आनंद से भर दिया है।

कृष्ण कहते हैं, जो इतनी श्रद्धा से, जैसे कि छोटा बेटा बाप का हाथ पकड़ ले और बेटा मां की गोद में सिर रखकर सो जाए और समझे कि अब दुनिया में कोई खतरा नहीं है, कोई इनसिक्योरिटी नहीं है, अब दुनिया में कोई मेरा कुछ भी नहीं बिगाड़ सकता, अब बात खतम हो गई, अब वह निश्चिंत सो गया है, अब कोई चिंता नहीं है--इस भांति जो मेरी बात को मानकर चलता है, वह सब कर्मों से मुक्त हो जाता है।

लेकिन मेरी बात को मानकर चलता है। क्या कृष्ण का मतलब यह है कि जो किसी और की बात को मानकर चलता है, वह मुक्त नहीं होता? ऐसा मतलब लगाया जाता है; लगाएंगे ही। अनुयायी तो ऐसे अर्थ लगाएंगे ही। वे कहेंगे कि देखो, कृष्ण ने कहा है कि मेरी बात को मानकर जो चलता है, तो बाइबिल की बात मत मानना, नहीं तो भटक जाओगे; कुरान की बात मत मानना, नहीं तो भटक जाओगे। कृष्ण ने साफ कहा है कि जो मेरी बात मानकर चलता है श्रद्धापूर्वक, वह कर्मों के जाल से मुक्त हो जाता है। इतनी साफ बात और क्या? अब किसी और की मत मान लेना-- महावीर की मत मानना, बुद्ध की मत मानना।

लेकिन यह बिल्कुल गलत अर्थ है। कृष्ण के भीतर से जो कह रहा है कि मेरी बात मानकर जो चलता है, वह पहुंच जाता है, वही बुद्ध के भीतर से कहता है कि मेरी बात मानकर जो चलता है, वह पहुंच जाता है। वही क्राइस्ट के भीतर से कहता है कि जो मेरी बात मानकर चलता है, वह पहुंच जाता है। वही मोहम्मद के भीतर से कहता है कि जो मेरी बात मानकर चलता है, वह पहुंच जाता है। वह जिस मैं की बात चल रही है, वह एक ही है। ये दरवाजे पच्चीस हैं, वह आवाज एक की है। इसलिए इस भ्रांति में मत पड़ना कि जो गीता की बात मानकर चलता है, वही पहुंच जाता है। कुरान की भी माने तो पहुंच जाएगा, बाइबिल की भी माने तो पहुंच जाएगा।

असली सवाल कुरान और बाइबिल का नहीं है, असली सवाल श्रद्धापूर्ण हृदय का है। इसमें एम्फेसिस में फर्क करना चाहता हूं। असली सवाल श्रद्धापूर्ण हृदय का है। अगर उतनी ही श्रद्धापूर्ण हृदय से कोई जीसस का हाथ पकड़ ले, तो वहां से भी पहुंच जाता है। कोई मोहम्मद का हाथ पकड़ ले, तो वहां से भी पहुंच जाता है। असली सवाल यह है कि श्रद्धापूर्ण हृदय, अनासक्त कर्म करता हुआ कर्म के बाहर पहुंच जाता है। और मेरी बात, कृष्ण की बात नहीं है। मेरी बात, परमात्मा की बात है।

कृष्ण सिर्फ झरोखा हैं, जिससे परमात्मा झांका है अर्जुन के सामने। कभी वह मोहम्मद से झांकता है, कभी वह मूसा से झांकता है। हजार-हजार झरोखों से वह झांकता है। और जब भी झांकता है, तब उसकी आवाज इतनी ही आथेंटिक होती है। वह कहता है, मेरी बात मानोगे, तो पहुंच जाओगे। और इससे बड़ा विवाद दुनिया में पैदा होता है। क्योंकि कोई कहते हैं, यह मोहम्मद ने कहा; कोई कहते हैं, यह कृष्ण ने कहा; कोई कहते हैं, क्राइस्ट ने कहा। फिर इन तीनों में झगड़ा होता है कि किसकी मानें! वे कहते हैं कि हमारे गुरु ने कहा है, मेरी। जीसस ने कहा है, मैं हूं मार्ग, मैं हूं द्वार, जो मुझ पर चलेगा वह पहुंच जाएगा। आई एम दि वे। आई एम दि ट्रुथ, मैं हूं सत्य। मैं हूं द्वार। आओ, मुझ पर चलोगे, तो पहुंच जाओगे। अब वह जीसस का मानने वाला जरूर कहेगा

ईसाई कि इतना साफ कहा है, और तुम कहां भटक रहे हो? राम को मानोगे, कृष्ण को मानोगे, बुद्ध को मानोगे, भटक जाओगे, नर्क में पड़ोगे।

लेकिन बड़ी भूल हो गई है। पूरी मनुष्यता से भूल हो गई है। यह जो भीतर से कह रहा है, आई एम दि वे, यह वही है, जो कृष्ण से कह रहा है, अर्जुन, मेरी बात मान, तो कर्म से मुक्त हो जाएगा। यह एक ही जीवन-धारा का अनेक-अनेक झरोखों से झांकना है।

समझें, ऐसा समझें कि गंगा के पास गए और गंगा ने कहा, मेरा पानी पीयोगे, तो प्यास से मुक्त हो जाओगे। फिर वोल्गा के किनारे गए और वोल्गा ने कहा, मेरा पानी पीयोगे, तो प्यास से मुक्त हो जाओगे। तुमने कहा कि यह तो बड़ा कंट्राडिक्टरी मामला है। गंगा भी यही कहती है, वोल्गा भी यही कहती है; हम किसकी मानें? हम तो गंगा को मानने वाले हैं, हम वोल्गा का पानी न पीएंगे। हम तो गंगा का ही पानी पीएंगे। तो आप पागल हैं। गंगा से जिस पानी ने कहा था कि मुझे पीयोगे, तो प्यास से मुक्त हो जाओगे, वही पानी वोल्गा से कह रहा है कि मुझे पीयोगे, तो प्यास से मुक्त हो जाओगे। गंगा और वोल्गा का फर्क पानी का फर्क नहीं है। गंगा और वोल्गा का फर्क सिर्फ तटों का फर्क है, पानी का फर्क नहीं है।

कृष्ण के तट अलग हैं, बुद्ध के तट अलग हैं। लेकिन जो जल की धार उनसे बहती है, वह एक ही परमात्मा की है। इसे स्मरण रखेंगे, तो यह बात ठीक से ख्याल में आ सकती है।

प्रश्नः भगवान श्री, आखिरी का श्लोक है, उसका अर्थ है, सभी प्राणी प्रकृति को प्राप्त होते हैं अर्थात अपने स्वभाव से परवश हुए कर्म करते हैं। ज्ञानवान भी अपनी प्रकृति के अनुसार चेष्टा करता है, फिर इसमें किसी का हठ क्या करेगा! इसका अर्थ भी स्पष्ट करें।

कृष्ण अर्जुन को समझा रहे हैं समर्पण के लिए, सरेंडर के लिए। वही मूल सूत्र है, जहां से व्यक्ति अपने को छोड़ता और परमात्मा को पाता है। तो वे उस समर्पण के लिए कह रहे हैं कि प्रत्येक व्यक्ति प्रकृति के गुणों के परवश कर्म करता है, ज्ञानी भी, अज्ञानी भी। और किसी का हठ इसमें कुछ भी नहीं कर सकता है। जैसे, अज्ञानी भी मरता है, ज्ञानी भी मरता है और किसी का हठ इसमें कुछ भी नहीं कर सकता है। क्योंकि शरीर का गुणधर्म है कि जो पैदा हुआ, वह मरेगा। असल में जिस दिन पैदा हुआ, उसी दिन मरना शुरू हो गया है। जिसका एक छोर है, उसका दूसरा छोर भी है। इधर जन्म एक छोर है, मृत्यु दूसरा छोर है। ज्ञानी भी मरता है, अज्ञानी भी मरता है। और अगर कोई हठ करे कि मैं न मरूंगा, तो वह पागल है। हठ से कुछ भी न होगा। लेकिन एक सवाल उठ सकता है कि अगर ज्ञानी भी मरता है, अज्ञानी भी मरता है; और अगर ज्ञानी भी परवश होकर जीता है और अज्ञानी भी परवश होकर जीता है, तो फिर दोनों में फर्क क्या है?

फर्क है, और बड़ा फर्क है। अज्ञानी हठपूर्वक प्रकृति के गुणों से लड़ता हुआ जीता है। हारता है, पर लड़ता जरूर है। ज्ञानी जानकर कि प्रकृति के गुण काम करते हैं, लड़ता नहीं, इसलिए हारता भी नहीं, और साक्षीभाव से जीता है। मृत्यु दोनों की होती है, ज्ञानी की भी, अज्ञानी की भी। अज्ञानी कोशिश करते हुए मरता है कि मैं न मरूं, ज्ञानी बांहें फैलाकर आलिंगन करता हुआ मरता है कि मृत्यु स्वाभाविक है। इसलिए अज्ञानी मरने की पीड़ा भोगता है; ज्ञानी मरने की कोई पीड़ा नहीं भोगता। अज्ञानी मरने से भयभीत, कांपता हुआ मरता है; ज्ञानी आनंद से पुलकित, नए द्वार से नए जीवन में प्रवेश करता है। दोनों मरते हैं।

प्रकृति के क्रम के अनुसार, प्रकृति के गुण के अनुसार दोनों के जीवन में सब कुछ वही घटता है। अज्ञानी भी जवान होता है प्रकृति के गुणों से; ज्ञानी भी जवान होता है। अज्ञानी समझ लेता है कि मैं जवान हूं और ज्ञानी समझता है कि जवानी एक फे.ज है, यात्रा का एक पड़ाव है, आया और गया। फिर अज्ञानी जवानी छूटती है, तो दुखी होता, पीड़ित होता, परेशान होता। ज्ञानी--छूटती है, तो जैसे सांझ सूरज डूब जाता है, ऐसी जवानी डूब जाती है, वह आगे बढ़ जाता है।

ज्ञानी और अज्ञानी में जो फर्क है, वह इतना ही है कि अज्ञानी जो होने ही वाला है, उससे भी व्यर्थ लड़कर परेशान होता है। ज्ञानी जो होने ही वाला है, उसे सहज स्वीकार करके परेशान नहीं होता है। प्रकृति के गुण दोनों पर एक-सा काम करते हैं; उससे कोई फर्क नहीं पड़ता। प्रकृति ज्ञानी और अज्ञानी को नहीं देखती, प्रकृति का अपना कर्म है, अपनी व्यवस्था है, अपने गुणधर्मों की यात्रा है। प्रकृति वैसी ही चलती रहती है। वह कभी नहीं देखती; देखने का कोई सवाल भी नहीं है।

कृष्ण यह कह रहे हैं, इसलिए हठधर्मी व्यर्थ है। क्यों वे अर्जुन से कह रहे हैं? अर्जुन थोड़ी हठधर्मी पर उतारू है। वह कहता है कि मैं यह क्षत्रिय-वत्रिय होना छोड़कर भागता हूं। मैं युद्ध बंद करता हूं। यह मैं नहीं करूंगा। वह कहता है कि मैं लोगों को नहीं मारूंगा। कृष्ण यह कह रहे हैं कि मरना जिसे है, वह मरता है; तू नाहक हठधर्मी करता है कि तू नहीं मारेगा, या तू मारेगा; ये दोनों ही हठधर्मियां हैं। जो मरता है, वह मरता है; जो नहीं मरता, वह नहीं मरता है।

कृष्ण का गणित बहुत साफ है। वे यह कह रहे हैं कि तू इसमें व्यर्थ हठधर्मी न कर। तू सिर्फ एक पात्र हो जा इस अभिनय का और जो परमात्मा से तेरे ऊपर गिरता है, उसे होने दे। और जो प्रकृति से होता है, उसे होने दे। तू इसमें बीच में मत आ, तू अपने को मत ला।

ज्ञानी और अज्ञानी में उतना ही फर्क है। घटनाएं वही घटती हैं, रुख अलग हो जाता है; कोण देखने का अलग हो जाता है। बीमारी आ जाती है, तो अज्ञानी छाती पीटकर रोता है कि बीमारी आ गई। ज्ञानी स्वीकार कर लेता है कि बीमारी आ गई। शरीर का धर्म है कि वह बीमार होगा, नहीं तो मरेगा कैसे! नहीं तो वृद्ध कैसे होगा!

शरीर एक बड़ा संस्थान है, एक संघात है, उसमें करोड़ों जीवाणुओं का जोड़ है। उतनी बड़ी मशीनरी चलेगी, खराब भी होगी, ओवर ऑयलिंग की भी जरूरत होगी; रिपेयरिंग भी होगी; वह सब होगा। इतनी बड़ी मशीन अभी पृथ्वी पर दूसरी कोई नहीं है, जितनी आदमी के पास है। इतनी कांप्लेक्स, इतनी जटिल मशीन भी कोई नहीं है, जितनी अभी आदमी है। आप कोई छोटी-मोटी घटना नहीं हैं। वह तो आपको कुछ करना नहीं पड़ता, इसलिए आपको कुछ पता नहीं चलता कि कितनी बड़ी मशीन काम कर रही है चौबीस घंटे, अहर्निश। मां के पेट में जिस दिन पहले दिन गर्भाधान हुआ था, उस दिन से काम शुरू हुआ; और जब तक लोग चिता पर न चढ़ा देंगे, तब तक जारी रहेगा। चिता पर इसलिए कह रहा हूं कि जिनको हम कब्र में गड़ाते हैं, तो गड़ाने के बाद भी बहुत दिन तक काम जारी रहता है मशीन का। आत्मा तो जा चुकी होती है। मुर्दों के भी नाखून बढ़ जाते हैं, बाल बढ़ जाते हैं कब्र में। मशीन काम ही करती रहती है, मोमेंटम पकड़ जाती है।

जैसे कि कोई साइकिल चलाता है, तो घर आने के दस-बीस कदम पहले ही पैडल मारना बंद कर देता है, फिर भी साइकिल चली ही जाती है। यात्री उछलकर उतर भी जाए नीचे, तो साइकिल अकेली ही दस-बीस कदम चली जाती है। मोमेंटम, पुरानी चलने की गति पकड़ जाती है। मुरदे कब्र में अपने नाखून बढ़ा लेते हैं, बाल बढ़ा लेते हैं, वह मशीन काम करती चली जाती है। उन्हें पता ही नहीं लगता एकदम से मशीन को कि

मालिक जा चुका है, पता लगते-लगते ही पता लगता है। इसलिए मैंने कहा, चिता तक। जब तक कि हम जला ही नहीं देते, मशीन काम करती चली जाती है, अहर्निश। बहुत आटोमेटिक है, स्वचालित है। फिर उसके अपने गुणधर्म हैं, वे आते रहेंगे।

अज्ञानी हर चीज से परेशान होता है, यह क्यों हो गया? और कभी-कभी तो ऐसा होता है कि न हो, तो भी परेशान होता है कि ऐसा क्यों नहीं हुआ? हो गया, तब तो ठीक ही है; नहीं हुआ, तो भी परेशान होता है।

एक मेरे मित्र हैं। उनको दमा का दौर पड़ता है, तो परेशान होते हैं। और किसी दिन नहीं पड़ता, तो भी परेशान होते हैं। वे मुझसे कहते हैं कि आज दौर नहीं पड़ा, क्या बात है? उन्हें इससे भी घबड़ाहट लगती है। यह भी एक जीवन का क्रम हो गया उनके कि दौर पड़ना चाहिए। न पड़े, तो भी बेचैनी होती है कि कुछ गड़बड़ है।

दुख आता है, तो परेशानी होती है; नहीं आता है, तो परेशानी होती है। सुख आता है, तो परेशानी होती है; नहीं आता है, तो परेशानी होती है। अज्ञानी हर चीज को परेशानी बनाने की कला जानता है, हठधर्मी जानता है। हठधर्मी कला है जिंदगी को परेशानी बनाने की। अगर जिंदगी को परेशानी बनाना है, तो हर चीज में हठ किए चले जाइए; जब जो हो, उसके खिलाफ लड़िए; और जब जो न हो, उसके खिलाफ भी लड़िए। और फिर आपकी पूरी जिंदगी एक संताप, एक एंग्विश, एक नर्क बन जाएगी; बन ही गई है।

कृष्ण कह रहे हैं, इस हठधर्मी में कुछ भी सार नहीं है अर्जुन, जान कि जो होता है, होता है। जो होता है, होता है--ऐसा जान।

जीसस को जिस रात पकड़ा गया और लोग उन्हें सूली पर चढ़ाने के लिए ले जाने लगे। तो जीसस को सांझ कुछ लोगों ने खबर दी थी। खबर दी थी कि आप पकड़े जाएंगे, रात खतरा है, भाग जाएं। तो जीसस ने कहा, जो होने वाला है, होगा। फिर वे वहीं गैथस्मेन के बगीचे में रुके रहे। फिर भी रात मित्रों ने कहा, अभी भी कुछ देर नहीं हुई, अभी भी हम निकल सकते हैं। लेकिन जीसस ने कहा, जो होने ही वाला है, उससे कब कौन निकल पाया है! फिर दुश्मनों की आवाज सुनाई पड़ने लगी, मशालें दिखाई पड़ने लगीं कि लोग उन्हें खोज रहे हैं। लोगों ने, शिष्यों ने, मित्रों ने कहा, देखते हैं, मशालें अंधेरे में दिखाई पड़ती हैं। मालूम होता है, वे आते हैं। तो जीसस ने कहा, अगर उन्हें पहुंचना ही है, तो रास्ता जरूर उन्हें मिल जाएगा।

अब यह, यह ज्ञानी का लक्षण है।

साक्रेटीज को जहर दिया जा रहा है। अदालत ने साक्रेटीज से कहा कि तुम एथेंस छोड़कर चले जाओ, तो हम तुम्हें मुक्त कर सकते हैं, जहर नहीं देंगे। साक्रेटीज से कहा कि अगर तुम एथेंस में भी रहो और सत्य बोलना बंद कर दो, तो हम तुम्हें मुक्त कर दें और जहर न दें। साक्रेटीज ने कहा, मैं कुछ भी नहीं कह सकता। सत्य बोला जाना होगा, तो बोला जाएगा; और नहीं बोला जाना होगा, तो नहीं बोला जाएगा। मैं वायदा कल के लिए कैसे करूं? मुझे पक्का नहीं कि कल होगा भी कि नहीं होगा! तो मैं कैसे प्रामिस कर सकता हूं? मैं वायदा कैसे कर सकता हूं? तुम अपने जहर का इंतजाम कर लो। मैं कोई वायदा नहीं कर सकता। कल का क्या पता, क्या होगा? जो होगा, मैं राजी हूं।

फिर मित्रों ने कहा कि यह तो बड़ी गलत बात है। हम रिश्वतखोरी करके और आपको जेल से निकाले ले जाते हैं रात में। साक्रेटीज ने कहा, मैं राजी हूं। लेकिन तुमसे मैं यह पूछता हूं कि अगर मेरी मौत कल आएगी, तो उसके बाहर तुम निकाल पाओगे कि नहीं? उन मित्रों ने कहा, मौत के बाहर हम कैसे निकाल पाएंगे! तो साक्रेटीज ने कहा, फिर क्यों परेशान होते हो? इतनी परेशानी भी क्या! अगर मरना ही है, और मरना है ही,

दिन दो दिन से क्या फर्क पड़ेगा। लेकिन दो दिन के लिए मुझे चोर क्यों बनाते हो! नाहक की हठधर्मी क्यों? ठीक है, मौत आती है, तो आ जाए।

फिर जहर पीस रहा है जो आदमी साक्रेटीज को देने के लिए। छह बजे जहर देना है, लेकिन सवा छह बज गया, तो साक्रेटीज खुद उठकर बाहर आया और उससे पूछा, बड़ी देर कर रहे हो! उसने कहा, तुम पागल तो नहीं हो! मैं तो तुम्हारी वजह से ही देर कर रहा हूं कि थोड़ी देर और जी लो। साक्रेटीज ने कहा कि पागल हो, कितनी देर जिला पाओगे! जब मौत आनी ही है, तो ठीक है; सूरज के रहते आ जाए, तो जरा मैं भी देख लूं कि मौत कैसी होती है। तू अंधेरा किए दे रहा है।

यह गैर-हठधर्मी का व्यक्तित्व ही ज्ञान का व्यक्तित्व है।

तो कृष्ण कह रहे हैं, तू हठधर्मी मत कर। उतनी ही बात कह रहे हैं। और हठधर्मी कर, तो समर्पण न कर सकेगा। और हठधर्मी न कर, तो समर्पण कर सकता है। समर्पण वही कर सकता है, जो हठधर्मी नहीं करता है। वह आदमी समर्पण कभी नहीं कर सकता है, जो हठधर्मी करता है।

प्रश्नः भगवान श्री, एक मित्र पूछते हैं, कृष्ण जिस श्रद्धा की बात करते हैं, वह श्रद्धा अंधश्रद्धा भी हो सकती है। कृष्ण ने विवेक शब्द का उपयोग क्यों नहीं किया, जो श्रद्धा से कहीं ज्यादा सार्थक शब्द है? कृपया इसे स्पष्ट करें।

ज्ञद्धा कभी भी अंधश्रद्धा नहीं हो सकती, सिर्फ विश्वास ही अंधविश्वास हो सकता है। सच तो यह है कि विश्वास अंधविश्वास होता ही है। श्रद्धा कभी अंधी नहीं हो सकती है। नहीं हो सकने का कारण है। नहीं हो सकने का कारण है। कारण यह है कि श्रद्धा मनुष्य के समग्र व्यक्तित्व की एकता है, पूर्ण व्यक्तित्व की एकता है। जैसा मैंने कहा, इंटिग्रेटेड माइंड का नाम श्रद्धा है; एकजुट हुए मन का नाम श्रद्धा है। और अगर इकट्ठा मन ही आपका अंधा है, तो फिर आपकी आंख का कोई उपाय नहीं, क्योंकि कोई जगह और बची नहीं। श्रद्धा का अर्थ है, पूरा, आप में जो भी चेतना है, वह पूरी है। तो अगर पूरी चेतना भी आंख न बने, तो फिर और क्या आंख बन सकेगा!

जितनी चेतना इकट्ठी होती है, उतनी आंख बन जाती है। चेतना जितनी इकट्ठी, योगस्थ होती है, उतनी देखने वाली, दर्शन के योग्य हो जाती है। इसलिए हमने सत्य के अनुभव को दर्शन कहा। क्योंकि जब चेतना पूरी जागकर एक हो जाती है, तो पूरी आंख बन जाती है और देखती है सत्य को। इसलिए हमने सत्य के साक्षात्कार की बात कही है, दिखाई पड़ता है।

श्रद्धा कभी भी अंधी नहीं हो सकती। और अगर अंधी हो, तो जानना कि वह विश्वास है। वही मैं फर्क कर रहा हूं। विश्वास अंधा होता है, अविश्वास भी अंधा होता है। आमतौर से लोग समझते हैं, विश्वास अंधा होता है। हम कहते हैं, ब्लाइंड बिलीफ, लेकिन ब्लाइंड डिसबिलीफ जैसा शब्द हम आमतौर से उपयोग नहीं करते। हम कहते हैं, अंधा विश्वास, लेकिन अंधा अविश्वास! कभी ख्याल किया आपने? अंधा अविश्वास भी होता है।

एक नास्तिक कहता है, मैं ईश्वर को नहीं मानता। यह आंख वाला अविश्वास है? इस नास्तिक ने ईश्वर को जाना है? खोजा है? सब जगह देख ली है, जहां-जहां हो सकता था, फिर कह रहा है कि नहीं है? नहीं, यह कह रहा है कि नहीं, यह बात नहीं है। चूंकि आप ईश्वर को सिद्ध नहीं कर पाते, इसलिए हम कहते हैं कि नहीं है। कोई सिद्ध न कर पाए, तो भी सिद्ध नहीं होता कि नहीं है। इतना ही सिद्ध होता है कि है, यह सिद्ध नहीं हो पा

रहा है। अविश्वास भी अंधा होता है, विश्वास भी अंधा होता है। लेकिन जो व्यक्ति न विश्वास में होता, न अविश्वास में होता, उसको पहली बार आंख मिलती है।

लेकिन ख्याल में मुझे आया कि आप क्या चाहते हैं। आपने कहा, विवेक शब्द और ऊपर है।

नहीं, बहुत ऊपर नहीं है। विवेक और श्रद्धा में कुछ बुनियादी अंतर है। वह मैं आपको ख्याल दिला दूं।

विवेक व्यक्ति की घटना है--आपकी। आप ही सोच- विचारकर, खोज-बीनकर जो तय कर लेते हैं, वह विवेक है। आप ही। लेकिन श्रद्धा आपकी घटना नहीं है। आप खोज-बीनकर, सोच-विचारकर भी पाते हैं कि नहीं पाया जाता और अपने को परमात्मा में छोड़ देते हैं, तब आप और परमात्मा संयुक्त होकर जो अनुभव घटित होता है, वह श्रद्धा है। विवेक व्यक्ति निर्भर है, श्रद्धा समष्टि निर्भर है। विवेक बूंद का है, श्रद्धा सागर की है। बूंद जब तक अपने बलबूते जीती है, तब तक विवेक है। ठीक जीए तो विवेक और गलत जीए तो अविवेक। लेकिन बूंद जब जीती ही नहीं अपनी तरफ से, सागर में अपने को छोड़ देती है और कहती है, सागर का जीवन ही अब मेरा जीवन है, तब श्रद्धा है।

श्रद्धा बहुत विराट है। विवेक बहुत सीमित है। आपकी सीमा विवेक की सीमा है, आपकी सीमा श्रद्धा की सीमा नहीं है। इसलिए श्रद्धा असीम है और विवेक सीमित है। विवेक फाइनाइट है और श्रद्धा इनफाइनाइट है। विवेक में आप ही हैं, भूल-चूक हो सकती है। क्योंकि आप सर्वज्ञ नहीं हैं, इसलिए विवेक में सदा गलती हो सकती है। श्रद्धा में गलती का कोई उपाय ही नहीं है, क्योंकि आपने परमात्मा पर ही छोड़ दिया। और अगर परमात्मा से ही गलती होती है, तो फिर अब गलती से बचने की कोई जरूरत भी नहीं है, कोई कारण भी नहीं है। फिर बचिएगा भी कैसे?

विवेक भटक सकता है, श्रद्धा कभी नहीं भटकती। विवेक चूक सकता है, श्रद्धा अचूक है। क्योंकि विवेक आपका ही है आखिर, श्रद्धा सिर्फ आपकी नहीं है। श्रद्धा का मतलब ही है कि अपने से अब न होगा; अपने हाथ नहीं पहुंच पाते उतनी दूर, जहां सत्य है; अपनी छलांग नहीं लग पाती उस खाई में, जहां परमात्मा है; अपने से न होगा। जिस क्षण इस हेल्पलेस, इस असहाय स्थिति का अनुभव होता है कि हमारी सीमा है, हमसे न होगा, उसी क्षण श्रद्धा जगती है। तब हम कहते हैं, अब तू ही कर, अब मुझसे तो नहीं होता; अब मैं नहीं चल पाता, अब तू ही चला; अब मेरे हाथ काम नहीं करते, अब तू ही हाथ पकड़; अब मेरे पैर नहीं उठते, अब तू ही उठा तो उठा। जिस क्षण व्यक्ति का थक जाता है सब, उसी क्षण उसी थकान से आविर्भाव होता है उस श्रद्धा का, जो विराट से एक कर देती है।

विवेक बहुत बड़ा शब्द नहीं है। और ध्यान रहे, विवेक में बहुत गहरे विचार छिपा है। वह, कहें कि विचार का सार अंश है, कहें कि बहुत विचार का निचोड़ है, कहें कि जैसे बहुत फूलों को निचोड़कर कोई इत्र बना ले, ऐसा बहुत विचारों को निचोड़कर कोई इत्र बना ले, तो उसका नाम विवेक है। लेकिन श्रद्धा निर्विचार है। वह किसी विचार का इत्र नहीं है। वह किन्हीं फूलों का इत्र नहीं है। वह हमारा अनुभव ही नहीं है। हमारे अनुभव की असमर्थता है। इसलिए श्रद्धा बहुत बड़ा शब्द है।

पर यह मैं जरूर कहूंगा कि श्रद्धा तक वे ही पहुंचते हैं, जो विवेकवान हैं; वे नहीं पहुंचते, जो विवेकहीन हैं। इतना कहूंगा। और इतना ही उपयोग है विवेक का। विवेकहीन श्रद्धा तक कभी नहीं पहुंचते। विवेकहीन अश्रद्धा तक पहुंच जाते हैं। विवेकवान श्रद्धा तक पहुंच जाते हैं। क्या मतलब मेरा? विवेकहीन अश्रद्धा तक पहुंच जाते हैं। मैंने अभी आपको कहा कि श्रद्धा का मैं अर्थ करता हूं, ट्रस्ट, भरोसा। भरोसा--सहज, सरल। अश्रद्धा का

अर्थ करता हूं, गैर-भरोसा--कठिन, जटिल--किसी का भी नहीं; परमात्मा तो दूर है, किसी का भी नहीं, भरोसा ही नहीं। अंततः अपना भरोसा भी नहीं।

एक आदमी को मैं जानता हूं, मेरे गांव में मेरे घर के सामने रहते थे। ताला लगाते हैं, दस कदम फिर लौटकर आकर ताला हिलाकर देखते हैं। फिर जाते हैं, फिर देखते हैं कि किसी ने देखा तो नहीं एक दफे लौटा हुआ! फिर लौटते हैं, फिर हिलाकर देखते हैं। एक दिन मैं छत पर बैठा देख रहा था। दो बार मैंने देखा, मैंने सोचा, तीसरी बार भी यह आदमी जरूर लौटेगा। क्योंकि जब दो बार में भरोसा नहीं आया कि ताला लगा है कि नहीं, तो तीसरी बार में कैसे आएगा! लेकिन उस आदमी ने भी मुझे देख लिया। तो ठीक जगह, जहां से वह लौटता था, उस जगह जाकर उसके पैर थोड़े-से डगमगाए। मैंने कहा, लौट आओ। उसने कहा कि मैं आपके ही डर से तो लौट नहीं रहा। तो मैंने कहा कि यहां मेरे पास आओ। बात क्या है? उसने कहा, मुझे भरोसा ही नहीं होता। ऐसा लगता है कि पता नहीं भूल-चूक से खुला ही न रह गया हो! और पता नहीं कि मैंने हिलाकर देखा भी है या नहीं देखा!

अब वह आदमी इतनी दफे देख चुका है हिलाकर कि शक हो जाना बिल्कुल स्वाभाविक है। अब यह जो आदमी है, यह अश्रद्धा को उपलब्ध हुआ। यह अश्रद्धा टोटल हो गई। यह पत्नी पर भरोसा नहीं कर सकता, बेटे पर भरोसा नहीं कर सकता, मित्र पर भरोसा नहीं कर सकता। यह अपने ही हाथों पर भरोसा नहीं कर सकता। यह अपनी ही बुद्धि पर भरोसा नहीं कर सकता। इसका सब भरोसा खो गया। अब ऐसा अश्रद्धावान जीते जी मर गया। पर यह इतनी अश्रद्धा कैसे आई होगी? यह अविवेक के कारण आई है। अविवेक का क्या मतलब? अविवेक का मतलब, विवेक का गलत उपयोग किया है इसने।

अगर आपको एक आदमी ने धोखा दे दिया, तो आप समझते हैं कि अब किसी आदमी पर भरोसा नहीं करना; यह अविवेक है। सच तो यह है कि जिस आदमी ने आज आपको धोखा दिया, वह भी कल धोखा देगा, यह जरूरी नहीं है। आदमी बदल जाते हैं। और आपको एक आदमी ने धोखा दिया और सारी मनुष्यता पर से आपका विश्वास उठ गया! बड़ी अविवेक की बात है। बड़ी विवेकहीन बात है। एक जगह ठोकर लग गई, तब सारी दुनिया में ठोकर लगेगी, यह निर्णय ले लिया!

एक दिन ऐसा हुआ कि मैं एक ट्रेन में सवार था। एक स्टेशन पर रुकी बहुत देर तक। एक आदमी भीख मांगने खिड़की पर आया और उसने कहा कि मैं बड़ी मुसीबत में हूं। मैंने कहा, तुम मुसीबत मत बताओ, क्योंकि मुसीबत बताने में तुम्हारा भी समय जाया होगा, मेरा भी। तुम मुझे यह कहो कि मैं क्या कर सकता हूं? उसने मेरी तरफ देखा, उसको शक हुआ, क्योंकि बिना मुसीबत बताए किसी को फंसाया नहीं जा सकता। क्योंकि जब वह पूरी मुसीबत बता ले और पांच मिनट आप सुन लें, तो फिर इनकार करने में कठिनाई हो जाती है। तो उसने कहा कि नहीं, मेरी मुसीबत... ।

मैंने कहा कि तुम मुसीबत की बात ही मत करो। तुम मुझे यह कहो कि क्या कर सकता हूं? उसने बड़ी हिम्मत जुटाकर कहा कि एक रुपया दे दें। मैंने कहा, तुम एक रुपया लो। इतनी सरलता से छूटती है बात! तुम नाहक मुसीबत मुझे बताओ, मैं तुम्हारी मुसीबत सुनूं। तुम यह रुपया लो और जाओ। वह आदमी बड़ी बेचैनी में गया। उसने बार-बार रुपए को देखा भी होगा, फिर लौटकर मुझे भी देखा कि यह आदमी भरोसे का नहीं मालूम पड़ता। क्या गड़बड़ है! कुछ मैंने कहा ही नहीं, कोई मुसीबत नहीं सुनी। होता तो ऐसा है कि मुसीबत पूरी बताओ, तब भी कोई कुछ नहीं देता। और उसने सोचा कि यह आदमी... !

पांच सात मिनट बाद वह वापस आया। टोपी लगाए था, वह उतारकर रख आया। उसने आकर फिर खिड़की पर कहा कि मैं बड़ी मुसीबत में हूं। मैंने कहा, मुसीबत की बात ही मत करो। तुम मुझे यह बताओ कि तुम्हें मैं क्या कर सकता हूं? उसने मुझे पूरी आंख से देखा कि मैं पागल तो नहीं हूं! उसने बड़ी हिम्मत जुटाई, उसने सोचा कि ऐसा नहीं हो सकता कि यह आदमी भूल ही गया हो, सिर्फ टोपी अलग कर लेने से। और वही की वही बात। उसने बहुत हिम्मत जुटाकर कहा कि मुझे दो रुपए... ! मैंने कहा, तुम यह दो रुपए लो। वह फिर मुझे बार-बार लौटता हुआ देखे, रुपए देखे।

दो-तीन मिनट बाद वह फिर आ गया। कोट पहने था, उसको भी उतार आया। खिड़की पर आया। मैंने उससे पहले ही कहा कि तू शुरू ही मत कर कि तू मुसीबत बता। उसने कहा, आप आदमी कैसे हो? मैं वही आदमी हूं, आपको समझ नहीं आ रहा है! मैंने कहा, मैं तो यह समझ रहा हूं कि तुम नहीं समझ रहे हो कि मैं वही आदमी हूं। मैं तो इस ख्याल में हूं। वह मेरे तीन रुपए वापस लौटाने लगा। उसने कहा कि रुपए रख लो आप। रुपए मैं नहीं लूंगा। रुपए तुम ले जाओ। रुपए तुमने कमाए हैं, तुमने मेहनत पूरी की है। वह रुपए रखकर छोड़ गया दरवाजे पर। उसने कहा, रुपए मैं नहीं लूंगा। मैंने कहा, बात क्या है? रुपए क्यों नहीं लेते? उसने कहा कि जिस आदमी ने मुझ पर इतना भरोसा किया, उसे मैं इस तरह धोखा नहीं दे सकता हूं।

एक आदमी धोखा दे जाए, सारी दुनिया ने धोखा दे दिया हमें। अब हम सबसे सम्हले हुए बैठे हैं। हालांकि बचाने को पास में कुछ भी नहीं है। सम्हले हुए बैठे हैं!

अविवेक अश्रद्धा पर ले जाता है। धीरे-धीरे सब तरफ अश्रद्धा हो जाती है। विवेक श्रद्धा पर ले जाता है। और धीरे-धीरे सब तरफ श्रद्धा हो जाती है। अविवेक वहां पहुंचा देता है, जहां सिवाय धोखे के और कुछ भी दिखाई नहीं पड़ता। और विवेक वहां पहुंचा देता है, जहां सिवाय भरोसे के और कुछ दिखाई नहीं पड़ता है।

तो मैं समझता हूं कि विवेक का मूल्य है, बट एज ए मीन्स, एक साधन की तरह। श्रद्धा तक पहुंचा दे, यही उसका मूल्य है। लेकिन विवेक श्रद्धा से बड़ा शब्द नहीं है। श्रद्धा बड़ी गहरी अनुभूति है।

इस जगत में इससे बड़ा कोई आनंद नहीं है कि मुझे समग्र भरोसा आ जाए कि सब परमात्मा है। इस जगत में इससे बड़ी कोई निश्चिंतता नहीं है कि मुझे स्मरण आ जाए कि सब तरफ मैं ही हूं। इस जगत में इससे बड़ी कोई अनुभूति नहीं है कि सब हाथ मेरे, सब आंखें मेरी, सब पैर मेरे। ऐसी प्रतीति का नाम श्रद्धा है। जिस दिन कोई पराया दिखाई ही नहीं पड़ता है कहीं, उसी दिन परमात्मा दिखाई पड़ता है। उसी को हम समर्पण कह सकते हैं।

कृष्ण समर्पण की ही बात समझा रहे हैं। विवेक समर्पण तक ले जाए, तो काफी है। लेकिन विवेक स्वयं समर्पण नहीं बनता। विवेक सिर्फ बता सकता है कि तुम असमर्थ हो अपने में। बस, इतना निगेटिव काम कर सकता है कि वह कह दे कि तुम न पा सकोगे सत्य को। बस इतना। इतना भी पता चल जाए, तो विवेक ने काम पूरा कर दिया। अब आप छलांग लगा सकते हैं, वहां, जहां परम श्रद्धा है।

और श्रद्धा की अपनी आंख है। लेकिन वह आंख तर्क जैसी नहीं है, वह आंख प्रेम जैसी है। वह आंख चीर-फाड़ करने वाली नहीं है, वह आंख छेद देने वाली नहीं है। आंखों में भी फर्क होता है। जब कभी कोई आपको प्रेम से देखता है, तो आंख और होती है। वह आपको चीरती-फाड़ती नहीं, सर्जरी नहीं करती है वह आंख। आपके भीतर कहीं घाव हों, तो उनको जोड़ देती है और मलहम कर जाती है। कभी प्रेम की आंख फाड़ती नहीं, काटती नहीं, विश्लेषण नहीं करती। प्रेम की आंख आपको जोड़ जाती है, फांकों को इकट्ठा कर जाती है। आपके भीतर

घाव हों, तो पूर जाती है! प्रेम की आंख आपको इंटिग्रेट कर जाती है। लेकिन घृणा की आंख? घृणा की आंख आपको टुकड़े-टुकड़े कर जाती है, छार-छार काट देती है।

हमारे पास एक शब्द है, लुच्चा। लुच्चा हम कहते हैं बुरे आदमी को। आपने कभी सोचा कि लुच्चा का मतलब क्या होता है? लुच्चा संस्कृत के लोचन शब्द से बना है, आंख से। जिसकी आंख चीर-फाड़ कर देती है किसी के भीतर जाकर, वह लुच्चा। लुच्चा का मतलब होता है, इस तरह देखने वाला आदमी कि उसकी आंख भीतर छुरी की तरह प्रवेश कर जाती है। उसकी आंख छुरी की तरह काम करती है। तो लुच्चे को पहचानने का और कोई रास्ता नहीं है, सिवाय आंख के, आंख से। हम क्रिटिक को आलोचक कहते हैं। वह भी आंख से बनता है। आलोचक, वह भी लोचन से ही बनता है। आलोचक उसे कहते हैं, जो बड़ी खोज-बीन करके देखता है कि कहां क्या है।

आंखें बहुत तरह की हैं। तर्क की भी अपनी आंख है, उसी से विज्ञान का जन्म होता है। श्रद्धा की अपनी आंख है, उसी से धर्म का जन्म होता है। श्रद्धा तर्क की नजरों में अंधी हो सकती है। श्रद्धा की नजरों में तर्क बिल्कुल विक्षिप्त है; अंधा ही नहीं, पागल भी। लेकिन वह बड़े अलग कोणों पर खड़े होकर जीवन को देखना है। हां, जिसने तर्क से ही दुनिया को देखा, वह कहेगा, श्रद्धा अंधी होती है। लेकिन जिसने श्रद्धा के और ऊंचे पर्वत शिखर से देखा, वह कहेगा, तर्क विक्षिप्त है।

और ध्यान रहे, श्रद्धा तक कोई भी नहीं पहुंचता, जो तर्क से न गुजरा हो। और जो श्रद्धा पर पहुंच जाए, वह कभी तर्क पर नहीं पहुंचता। इसलिए श्रद्धा वाले को तर्क और श्रद्धा दोनों का अनुभव होता है, तर्क वाले को सिर्फ तर्क का अनुभव होता है। और जिसको एक का अनुभव हो, उसकी बात बहुत भरोसे की नहीं होती। जिसको दोनों का अनुभव है, उसकी बात ही भरोसे की होती है।

प्रश्नः भगवान श्री, अगले श्लोक में जाने के पहले एक छोटा-सा प्रश्न और। श्लोक क्रमांक तीस में कृष्ण अर्जुन से कहते हैं कि अध्यात्म चेतसा होकर संपूर्ण कर्मों को मुझे समर्पित करके तू युद्ध कर। कृपया अध्यात्म चेतसा होकर, इसका अर्थ पुनः स्पष्ट करें।

मनुष्य के पास तीन प्रकार की चेतनाएं हो सकती हैं, थ्री टाइप्स आफ कांशसनेस। एक विज्ञान चेतना, एक कला चेतना और एक अध्यात्म चेतना। मनुष्य तीन चेतनाओं से जीवन के सत्य से संबंधित हो सकता है, तीन ढंग, तीन एप्रोच। एक विज्ञान की एप्रोच है, एक अध्यात्म की या धर्म की और एक कला या आर्ट की। ठीक है, इन तीनों का अंतर समझ लेना जरूरी भी है। अध्यात्म चेतस, स्प्रिचुअल कांशसनेस क्या है?

विज्ञान की चेतना अन्वेषण करती है; सत्य क्या है, इसकी खोज करती है। विज्ञान-चेतना सत्य क्या है, इसकी खोज करती है, अन्वेषण करती है, डिस्कवर करती है। जो ढंका है, उसे उघाड़ती है, निर्वस्त्र करती है, तथ्य को नग्न करती है। कला-चेतना, आर्ट कांशसनेस, जो है, उसे सजाती और संवारती है; उघाड़ती नहीं, ढांकती है--आभूषणों से, वस्त्रों से, रंगों से, कविताओं से, लयों से, छंदों से। विज्ञान उघाड़ता, नग्न तथ्य को खोजता, नैकेड ट्रुथ, क्या है? विज्ञान तथ्य के साथ दुश्मन की भांति लड़ता है, कांफ्लिक्ट, जूझता है; सत्य को जीतने की कोशिश करता है, कांकरिंग। कला सत्य को ढांकती, जहां-जहां कुरूप है, असुंदर है, वहां-वहां सुंदर का निर्माण करती, तथ्यों को स्वप्न बनाती, जिंदगी के सीधे-सादे रंगों को रंगीन करती, काव्य देती, फिक्शन देती। काव्य संजोता-संवारता, तथ्य जो है, उसे उघाड़ता नहीं, ढांकता, डेकोरेट करता, डेकोरेटिव है। इसलिए

विज्ञान कई दफा ऐसे तथ्य उघाड़ लेता है, जो बड़े संघातक सिद्ध होते हैं। और कला कई बार जीवन की ऐसी अभद्रताओं को ढांक जाती है, जो अप्रीतिकर हो सकती थीं।

अध्यात्म चेतस, कृष्ण कहते हैं, अध्यात्म चेतस होकर तू समर्पण कर।

अध्यात्म-चेतना तीसरे तरह की है। न तो वह सत्य को उघाड़ती और न सत्य को ढांकती, वह सत्य के साथ स्वयं को लीन करती है। विज्ञान उघाड़ता, कला ढांकती। धर्म एक हो जाता। अध्यात्म, सत्य क्या है, इसे नहीं जानना चाहता; सत्य कैसा होना चाहिए, इसे नहीं बनाना चाहता; अध्यात्म स्वयं ही सत्य हो जाना चाहता है। अध्यात्म की जिज्ञासा संघर्ष की नहीं, अध्यात्म की जिज्ञासा संवारने की नहीं, अध्यात्म की जिज्ञासा तल्लीनता की है, लीन हो जाने की है। सत्य जो है, उसी में डूब जाना चाहता है। वह जैसा भी हो--सुंदर-असुंदर--सत्य जैसा भी है, अध्यात्म उसमें डूब जाना चाहता है। विज्ञान दुश्मन की तरह व्यवहार करता। कला मित्र की तरह व्यवहार करती। अध्यात्म भेद ही नहीं रखता मित्र और शत्रु का, अभेद व्यवहार करता है।

कृष्ण कहते हैं अर्जुन से कि तू अध्यात्म चेतसा होकर, आध्यात्मिक चेतन संपन्न होकर समर्पण को उपलब्ध हो।

ठीक ही कहते हैं। क्योंकि अध्यात्म चेतन ही समर्पण कर सकता है। विज्ञान कभी समर्पण नहीं करता। विज्ञान समर्पण कर दे, तो बेकार हो गया। अगर एक वैज्ञानिक प्रयोगशाला में समर्पण कर दे, तो विज्ञान खतम। विज्ञान लड़ता है, प्रकृति को समर्पित करवाने की कोशिश करता है; खुद समर्पण कभी नहीं करता। वैज्ञानिक योद्धा की तरह जूझता है। और प्रकृति से कहता है, तू समर्पण कर, अपने रहस्यों को उघाड़, अपने वस्त्रों को अलग कर, अपने तथ्यों को प्रकट कर, मेरे सामने समर्पित हो। विज्ञान योद्धा की तरह, प्रकृति को शत्रु की भांति लेकर जीतने की कोशिश करता है।

कला लड़ती नहीं, प्रकृति को फुसलाती है, परसुएड करती है। वह कहती है, जो भी है, कोई फिक्र नहीं। लेकिन हमारा मन चाहता है, ऐसा हो। उमर खय्याम ने गीत गाया है, कि अगर मेरा बस चले, तो सारी दुनिया को मिटाकर फिर अपने मन की दुनिया ढंग से बना लूं। कवि वही करता है। नहीं बस चलता यहां, तो कविता में बना लेता है। चित्रकार वही करता है। सुंदर नहीं मिलता ऐसा पृथ्वी पर कोई, तो एक मूर्ति बना लेता है। कला संवारती है, ढांकती है,शृंगार करती है--प्रेयस बन जाए जगत, जीवन प्रिय हो जाए, बस।

अध्यात्म न मित्र है, न शत्रु। अध्यात्म कहता है, जो है, उसके साथ मैं एक होना चाहता हूं। कला सृजन करती, विज्ञान अन्वेषण करता, धर्म समर्पण करता। कला क्रिएटिव है, विज्ञान इनवेंटिव है, धर्म सरेंडरिंग है। इसलिए कृष्ण कहते हैं कि तू अध्यात्म चेतस हो, तो ही समर्पण को उपलब्ध हो सकता है।

एक आखिरी सूत्र और ले लें।

इन्द्रियस्येन्द्रियस्थार्थे रागद्वेषौ व्यवस्थितौ।
तयोर्न वशमागच्छेत्तौ ह्यस्य परिपन्थिनौ।। 34।।

इसलिए मनुष्य को चाहिए कि इंद्रिय इंद्रिय के अर्थ में अर्थात सभी इंद्रियों के भोगों में स्थित जो राग और द्वेष हैं, उन दोनों के वश में न होवे। क्योंकि वे दोनों ही कल्याण मार्ग में विघ्न करने वाले महाशत्रु हैं।

जीवन के सारे अनुभव द्वंद्व के अनुभव हैं। जीवन का सारा विस्तार ही द्वंद्व और द्वैत, डुएलिटी का पोलर, ध्रुवीय विस्तार है। यहां कुछ भी नहीं है ऐसा, जिसके विपरीत न हो। यहां कुछ भी नहीं है ऐसा, जिसका

प्रतिकूल न हो। यहां कुछ भी नहीं है ऐसा, जिससे उलटा न हो। जगत का सारा अस्तित्व पोलर है, ध्रुवीय है। ठीक वैसे ही जैसे एक आर्किटेक्ट, एक वस्तु शिल्पकार, एक भवन निर्माता द्वार बनाता है। तो कभी आपने देखा, द्वार पर वह कोई सहारे नहीं लेता। सिर्फ उलटी ईंटों को गोलाई में जोड़ देता है। सिर्फ ईंटों को उलटा और गोलाई में जोड़ देता है और आर्च बन जाता है। वह सारा भवन, भवन का सारा वजन उस गोलाई पर टिक जाता है। कभी आपने ख्याल किया कि बात क्या है? उन उलटी ईंटों का जो तनाव है, टेंशन है; वे उलटी ईंटें एक-दूसरे को दबाती हैं, पूरे भवन के वजन को उठा लेती हैं। अगर एक-सी ईंटें लगा दी जाएं, एक कोने से दूसरे कोने तक एक ही रुख वाली ईंटें लगा दी जाएं, तो भवन तत्काल गिर जाएगा, बन ही नहीं सकता।

जीवन का सारा भवन उलटी ईंटों पर टिका हुआ है। यहां सुख की भी ईंट है और दुख की भी ईंट है। यहां राग की भी ईंट है और विराग की भी ईंट है। यहां प्रेम की भी ईंट है और घृणा की भी ईंट है। और ध्यान रहे, इस जगत में अकेली प्रेम की ईंट पर भवन निर्मित नहीं हो सकता, घृणा की ईंट भी उतनी ही जरूरी है। यहां मित्र भी उतना ही जरूरी है, शत्रु भी उतना ही जरूरी है। यहां सब उलटी चीजें जरूरी हैं। क्योंकि उलटे के तनाव पर ही जीवन खड़ा होता है।

यह बिजली जल रही है, उसमें निगेटिव और पाजिटिव के पोल जरूरी हैं। अगर वह एक ही पोल हो, तो अभी अंधकार हो जाए। ये हम इतने पुरुष-स्त्रियां यहां बैठे हुए हैं, स्त्री और पुरुष के अस्तित्व के लिए स्त्री और पुरुष का विरोध और द्वैत जरूरी है। वह जिस दिन समाप्त हो जाए, उस दिन सब समाप्त हो जाए।

जगत द्वैत निर्भर है। कृष्ण कहते हैं अर्जुन से, इंद्रियों के सब अनुभव द्वंद्वग्रस्त हैं। वहां सुख आता है, तो पीछे दुख आता है। वहां सुख आता है, तो दुख को निमंत्रण देकर ही आता है। वहां दुख आता है, तो जल्दी मत करना, धैर्य मत खोना, पीछे सुख आता ही होगा। जैसे लहर के पीछे ढलान आता है, और जैसे पहाड़ के पीछे खाई आती है, ऐसे ही प्रत्येक अनुभव के पीछे विपरीत अनुभव आता है। आ ही रहा है। जब लहर आ रही है सागर की, तो समझें कि पीछे लहर का गड्ढा भी आ रहा है! क्योंकि बिना उस गड्ढे के लहर नहीं हो सकती। और जब पहाड़ देखें, उत्तुंग शिखर आकाश को छूता, तो जान लेना कि पास ही खाई भी है, खड्ड भी पाताल को छूती। दोनों के बिना दोनों नहीं हो सकते। जब वृक्ष आकाश में उठता है छूने को तारों को, तो उसकी जड़ें नीचे जमीन में उतर जाती हैं पाताल को छूने को। अगर जड़ें नीचे न जाएं, तो वृक्ष ऊपर नहीं जा सकता।

सारा जीवन विरोध पर खड़ा है। इसलिए एक बहुत अदभुत घटना मनोवैज्ञानिक कहते हैं कि घटती है। हम उलटा काम करते हैं। हम सदा यह कोशिश करते हैं कि दो में से एक बच जाए, जो हो नहीं सकता। हम इस कोशिश में लगते हैं कि मकान ऐसा बनाएं कि इकतरफा, एक रुख वाली ईंटों पर भवन खड़ा हो जाए। दबेंगे उसी के नीचे और मरेंगे। ऐसा भवन खड़ा नहीं हो सकता।

मनोवैज्ञानिक कहते हैं कि जो आदमी घृणा नहीं कर सकता, वह आदमी प्रेम भी नहीं कर सकता। हालांकि सब हमें समझाते हैं कि प्रेम करो, घृणा मत करो। लेकिन जो आदमी घृणा नहीं कर सकता, वह प्रेम भी नहीं कर सकता। सब हमें समझाते हैं कि किसी को शत्रु मत मानो, सबको मित्र मानो। लेकिन जो आदमी शत्रु नहीं बना सकता, वह आदमी मित्र भी नहीं बना सकता। है जीवन का ऐसा ही कठोर सत्य। जो आदमी क्रोध नहीं कर सकता, वह क्षमा भी नहीं कर सकता। हालांकि हम कहते हैं, क्षमा करो, क्रोध मत करो। लेकिन क्रोध न करोगे, तो क्षमा क्या खाक? किसको? और कैसे? और किस प्रकार?

जीवन वैपरीत्य पर निर्भर है। यह हमें ख्याल में न आए, तो हम एक को बचाने की कोशिश में लग जाते हैं। अज्ञानी एक को बचाने की कोशिश करता है। ज्ञानी क्या करेगा? या तो ज्ञानी दोनों को छोड़ दे--दोनों को

छोड़ दे, तो तत्क्षण जीवन के बाहर हो जाएगा, जीवन के भीतर नहीं रह सकता। या दोनों को एक साथ स्वीकार कर ले।

कृष्ण दूसरी सलाह दे रहे हैं। वे कह रहे हैं, तू दोनों को एक साथ स्वीकार कर ले। यहां सुख भी है, यहां दुख भी है। जन्म भी है, मृत्यु भी है। इंद्रियां अच्छा भी लाती हैं, बुरा भी लाती हैं। इंद्रियां प्रीतिकर को भी जन्माती हैं, अप्रीतिकर को भी जन्माती हैं। इंद्रियां सुख का भी आधार बनतीं और दुख का भी आधार बनतीं। ज्ञानी इन दोनों के जोड़ को, अनिवार्य जोड़ को जानकर दोनों में रहते हुए भी दोनों के बाहर हो जाता है, साक्षी हो जाता है। समझता है कि ठीक है; सुख आया तो ठीक है; दुख आया तो ठीक है। क्योंकि वह जानता है कि वे दोनों ही आ सकते हैं। इसलिए वह इस भूल में नहीं पड़ता कि एक को बचा लूं और दूसरे को छोड़ दूं। वह इस उपद्रव में नहीं पड़ता है। अज्ञानी उसी उपद्रव में पड़ता है और बेचैन हो जाता है। ज्ञानी चैन में होता है, बेचैन नहीं होता।

इसका यह मतलब नहीं कि ज्ञानी पर दुख नहीं आते। ज्ञानी पर दुख आते हैं, लेकिन ज्ञानी दुखी नहीं होता। इसका यह मतलब नहीं कि ज्ञानी पर सुख नहीं आते। ज्ञानी पर सुख आते हैं, लेकिन ज्ञानी सुखी नहीं होता। किस अर्थ में सुखी नहीं होता? इस अर्थ में सुखी नहीं होता कि जो भी आता है, वह उससे अपना तादात्म्य, अपनी आइडेंटिटी नहीं करता है। सुख आता है, तो वह कहता है, ठीक है; सुख भी आया, वह भी चला जाएगा। दुख आता है, वह कहता है, ठीक है; दुख भी आया, वह भी चला जाएगा। और मैं, जिस पर दुख और सुख आते हैं, दोनों से अलग हूं। ऐसा पृथकत्व, ऐसा भेद--अपने अलग होने के अनुभव को--वह कभी भी नहीं छोड़ता और खोता।

वह जानता है, सुबह आई, सांझ आई; प्रकाश आया, अंधेरा आया। तो न तो वह कहता है कि मैं अंधेरा हो गया और न वह कहता है कि मैं प्रकाश हो गया। न वह कहता है कि मैं दुख हो गया, न वह कहता है कि मैं सुख हो गया। वह कहता है, मुझ पर दुख आया, मुझ पर सुख आया, मुझ पर आया, मैं नहीं हो गया हूं। मैं अलग खड़ा हूं। मैं देख रहा हूं, यह सुख आ रहा है। सागर के तट पर बैठे, यह आई लहर, डुबा गई और यह गई लहर। आप लहर हो जाएं, तो मुश्किल में पड़ जाएंगे। आप लहर नहीं होते।

लेकिन जिंदगी के सागर में लहरें आती हैं और आप लहर ही हो जाते हैं। आप कहते हैं, मैं दुखी हो गया। इतना ही कहिए कि दुख की लहर आ गई। भीग गए हैं बिल्कुल, चारों तरफ दुख की लहर ने घेर लिया है। डूब गए हैं बिल्कुल। लेकिन हैं तो अलग ही। यह रहा दुख, यह रहा मैं। सुख आए, एकदम सुखी हो जाते हैं। दीवाने हो जाते हैं। पैर जमीन पर नहीं पड़ते। आंखें यहां-वहां देखती नहीं, आकाश में अटक जाती हैं। हृदय ऐसे धड़कने लगता है कि पता नहीं कब बंद हो जाए। सुख हो जाते हैं।

न, सुख की लहर आई है, ठीक है, आ जाने दें, डुबाने दें, जाने दें। तब समझें कि सागर है जीवन का। आता है सुख, आता है दुख; मित्र आते हैं, शत्रु आते हैं; सम्मान-अपमान, गाली आती, प्रशंसा आती। कभी कोई फूलमालाएं डाल जाता, कभी कोई पत्थर फेंक जाता। जीवन में दोनों आते रहते हैं। ज्ञानी दोनों को देखकर अपने को तीसरा जानता है।

ऐसा अनासक्त हुआ व्यक्ति, कृष्ण कहते हैं, जीवन के समस्त बंधन से, जीवन के सारे कारागृह से मुक्त हो जाता है।

शेष कल बात करेंगे।

नौवां प्रवचन

परधर्म, स्वधर्म और धर्म

श्रेयान्स्वधर्मो विगुणः परधर्मात्स्वनुष्ठितात्।
स्वधर्मे निधनं श्रेयः परधर्मो भयावहः।। 35।।
अच्छी प्रकार आचरण किए हुए दूसरे के धर्म से,
गुणरहित भी, अपना धर्म अति उत्तम है।
अपने धर्म में मरना भी कल्याणकारक है और दूसरे का धर्म भय को देने वाला है।

प्रत्येक व्यक्ति की अपनी निजता, अपनी इंडिविजुएलिटी है। प्रत्येक व्यक्ति का कुछ अपना निज है; वही उसकी आत्मा है। उस निजता में ही जीना आनंद है और उस निजता से च्युत हो जाना, भटक जाना ही दुख है।

कृष्ण के इस सूत्र में दो बातें कृष्ण ने कही हैं। एक, स्वधर्म में मर जाना भी श्रेयस्कर है। स्वधर्म में भूल-चूक से भटक जाना भी श्रेयस्कर है। स्वधर्म में असफल हो जाना भी श्रेयस्कर है, बजाय परधर्म में सफल हो जाने के।

स्वधर्म क्या है? और परधर्म क्या है? प्रत्येक व्यक्ति का स्वधर्म है। और किन्हीं दो व्यक्तियों का एक स्वधर्म नहीं है। पिता का धर्म भी बेटे का धर्म नहीं है। गुरु का धर्म भी शिष्य का धर्म नहीं है। यहां धर्म से अर्थ है, स्वभाव, प्रकृति, अंतःप्रकृति। प्रत्येक व्यक्ति की अपनी अंतःप्रकृति है, लेकिन है बीज की तरह बंद, अविकसित, पोटेंशियल है। और जब तक बीज अपने में बंद है, तब तक बेचैन है। जब तक बीज अपने में बंद है और खिल न सके, फूट न सके, अंकुर न बन सके, और फूल बनकर बिखर न सके जगत सत्ता में, तब तक बेचैनी रहेगी। जिस दिन बीज अंकुरित होकर वृक्ष बन जाता है, फूल खिल जाते हैं, उस दिन परमात्मा के चरणों में वह अपनी निजता को समर्पित कर देता है। फूल के खिले हुए होने में जो आनंद है, वैसा ही आनंद स्वयं में जो छिपा है, उसके खिलने में भी है। और परमात्मा के चरणों में एक ही नैवेद्य, एक ही फूल चढ़ाया जा सकता है, वह है स्वयं की निजता का खिला हुआ फूल--फ्लावरिंग आफ इंडिविजुएलिटी। और कुछ हमारे पास चढ़ाने को भी नहीं है।

जब तक हमारे भीतर का फूल पूरी तरह न खिल पाए, तब तक हम संताप, दुख, बेचैनी, तनाव में जीएंगे। इसलिए जो व्यक्ति परधर्म को ओढ़ने की कोशिश करेगा, वह वैसी ही मुश्किल में पड़ जाएगा, जैसे चमेली का वृक्ष चंपा के फूल लाने की कोशिश में पड़ जाए। गुलाब का फूल कमल होने की कोशिश में पड़ जाए, तो जैसी बेचैनी में गुलाब का फूल पड़ जाएगा। और बेचैनी दोहरी होगी। एक तो गुलाब का फूल कमल का फूल कितना ही होना चाहे, हो नहीं सकता है; असफलता सुनिश्चित है। गुलाब का फूल कुछ भी चाहे, तो कमल का फूल नहीं हो सकता। न कमल का फूल कुछ चाहे, तो गुलाब का फूल हो सकता है। वह असंभव है। स्वभाव के प्रतिकूल होने की कोशिश भर हो सकती है, होना नहीं हो सकता।

इसलिए गुलाब का फूल कमल का फूल होना चाहे, तो कमल का फूल तो कभी न हो सकेगा, इसलिए विफलता, फ्रस्ट्रेशन, हार, हीनता उसके मन में घूमती रहेगी। और दूसरी उससे भी बड़ी दुर्घटना घटेगी कि उसकी शक्ति कमल होने में नष्ट हो जाएगी और वह गुलाब भी कभी न हो सकेगा। क्योंकि गुलाब होने के लिए

जो शक्ति चाहिए थी, वह कमल होने में लगी है। कमल हो नहीं सकता; गुलाब हो नहीं सकेगा, जो हो सकता था, क्योंकि शक्ति सीमित है। उचित है कि गुलाब का फूल गुलाब का फूल हो जाए। और गुलाब का फूल चाहे छोटा भी हो जाए, तो भी हर्ज नहीं। न हो बड़ा फूल कमल का, गुलाब का फूल छोटा भी हो जाए, तो भी हर्ज नहीं है। और अगर न भी हो पाए, गुलाब होने की कोशिश भी कर ले, तो भी एक तृप्ति है; कि जो मैं हो सकता था, उसके होने की मैंने पूरी कोशिश की। उस असफलता में भी एक सफलता है कि मैंने वह होने की पूरी कोशिश कर ली, कुछ बचा नहीं रखा था, कुछ छोड़ नहीं रखा था।

लेकिन जो गुलाब कमल होना चाहे, वह सफल तो हो नहीं सकता। अगर किसी तरह धोखा देने में सफल हो जाए, आत्मवंचना में, सेल्फ डिसेप्शन में सफल हो जाए, सपना देख ले कि मैं कमल हो गया... सपने ही देख सकता है, परधर्म में कभी हो नहीं सकता। सपना देख सकता है कि मैं हो गया। भ्रम में पड़ सकता है कि मैं हो गया। तो वैसी सपने की सफलता से वह छोटा-सा गुलाब हो जाना, असफल, बेहतर है। क्योंकि एक तृप्ति का रस सत्य से मिलता है, स्वप्न से नहीं मिलता है।

कृष्ण ने यहां बहुत बीज-मंत्र कहा है। अर्जुन को वे कह रहे हैं कि स्वधर्म में--जो तेरा धर्म हो उसकी तू खोज कर। पहले तू इसको खोज कि तू क्या हो सकता है। तू अभी दूसरी बातें मत खोज कि तेरे वह होने से क्या होगा। सबसे पहले तू यह खोज कि तू क्या हो सकता है। तू जो हो सकता है, उसका पहले निर्णय ले ले। और फिर वही होने में लग जा। और सारी चिंताओं को छोड़ दे। तो ही तू किसी दिन संतृप्ति के अंतिम मुकाम तक पहुंच सकता है।

परधर्म लेकिन हम ओढ़ लेते हैं। इसके दो कारण हैं। एक तो स्वधर्म तब तक हमें पूरी तरह पता नहीं चलता, जब तक कि फूल खिल न जाए। गुलाब को भी पता नहीं चलता तब तक कि उसमें से क्या खिलेगा, जब तक गुलाब खिल न जाए। तो बड़ी कठिनाई है, स्वधर्म क्या है! मर जाते हैं और पता नहीं चलता; जीवन हाथ से निकल जाता है और पता नहीं चलता कि मैं क्या होने को पैदा हुआ था! परमात्मा ने किस मिशन पर भेजा था! कौन-सी यात्रा पर भेजा था। मुझे क्या होने को भेजा था! मैं किस बात का दूत होकर पृथ्वी पर आया था, इसका मरते दम तक पता नहीं चलता।

न पता चलने में सबसे बड़ी जो बाधा है, वह यह है कि चारों तरफ से परधर्म के प्रलोभन मौजूद हैं, जो कि पता नहीं चलने देते कि स्वधर्म क्या है। गुलाब तो खिला नहीं है, अभी उसे पता नहीं है, लेकिन बगल में कोई कमल खिला है, कोई चमेली खिली है, कोई चंपा खिली है। वे खिले हुए हैं, उनकी सुगंध पकड़ जाती है, उनका रूप पकड़ जाता है, उनका आकर्षण, उनकी नकल पकड़ जाती है और मन होता है कि मैं भी यही हो जाऊं। महावीर के पास से गुजरेंगे, तो मन होगा कि मैं भी महावीर हो जाऊं। खिला फूल है वहां। बुद्ध के पास से गुजरेंगे, तो मन होगा, कैसे मैं बुद्ध हो जाऊं! क्राइस्ट दिखाई पड़ जाएंगे, तो प्राण आतुर हो जाएंगे कि ऐसा ही मैं कब हो जाऊं! कृष्ण दिखाई पड़ जाएंगे, तो प्राण नाचने लगेंगे और कहेंगे, कृष्ण कैसे हो जाऊं!

खुद का तो पता नहीं कि मैं क्या हो सकता हूं; लेकिन आस-पास खिले हुए फूल दिखाई पड़ सकते हैं। और उनमें भटकाव है। क्योंकि कृष्ण, इस पृथ्वी पर कृष्ण के सिवाय और कोई दूसरा नहीं हो सकता है। उस दिन नहीं, आज भी नहीं, कल भी नहीं, कभी नहीं। परमात्मा पुनरुक्ति करता ही नहीं है, रिपिटीशन करता ही नहीं है। परमात्मा बहुत मौलिक सर्जक है। उसने अब तक दुबारा एक आदमी पैदा नहीं किया। हजारों साल बीत गए कृष्ण को हुए, दूसरा कृष्ण पैदा नहीं हुआ। हजारों साल बुद्ध को हो गए, दूसरा बुद्ध पैदा नहीं हुआ। हालांकि

लाखों लोगों ने कोशिश की है बुद्ध होने की, लेकिन कोई बुद्ध नहीं हुआ। और हजारों लोगों ने आकांक्षा की है क्राइस्ट होने की, लेकिन कहां कोई क्राइस्ट होता है! बस, एक बार।

इस पृथ्वी पर पुनरुक्ति नहीं है। पुनरुक्ति तो सिर्फ वे ही करते हैं, जिनके सृजन की क्षमता सीमित होती है। परमात्मा की सृजन की क्षमता असीम है। अक्सर बुढ़ापे में कवि अपनी पुरानी कविताओं को फिर-फिर लिखने लगते हैं। चित्रकार चुक जाते हैं और फिर उन्हीं चित्रों को पेंट करने लगते हैं, जिनको वे कई दफा कर चुके। थोड़ा बहुत हेर-फेर, और फिर वही पेंट करते हैं। आदमी की सीमाएं हैं।

खलील जिब्रान ने अपनी पहली किताब, प्रोफेट, इक्कीस साल की उम्र में लिखी, बस चुक गया। फिर बहुत किताबें लिखीं, लेकिन वे सब पुनरुक्तियां हैं। फिर प्रोफेट के आगे कोई बात नहीं कह सका। इक्कीस साल में मर गया, एक अर्थ में। एक अर्थ में, खलील जिब्रान इक्कीस साल में मर जाए, तो कोई बड़ी हानि होने वाली नहीं थी। जो वह दे सकता था, दिया जा चुका था, चुक गया।

अगर पिकासो के चित्र उठाकर देखें, तो पुनरुक्ति ही है फिर। फिर वही-वही दोहरता रहता है। फिर आदमी जुगाली करता है, जैसे भैंस घास खा लेती है और जुगाली करती रहती है। अंदर जो डाल लिया, उसी को निकालकर फिर चबा लेती है।

लेकिन परमात्मा जुगाली नहीं करता, अनंत है उसकी सृजनशीलता, इनफिनिट क्रिएटिविटी। जो एक दफा बनाया, बनाया। उस माडल को फिर नहीं दोहराता। लेकिन हमारा मन होता है कि किसी को देखकर हम आकर्षित हो जाते हैं कि ऐसे हो जाएं। बस, भूल की यात्रा शुरू हो गई।

परधर्म लुभाता है, क्योंकि परधर्म खिला हुआ दिखाई पड़ता है। स्वधर्म का पता नहीं चलता, क्योंकि वह भविष्य में है। परधर्म अभी है, पड़ोस में खिला है; वह आकर्षित करता है कि मैं भी ऐसा हो जाऊं।

कृष्ण जब कहते हैं कि स्वधर्म में हार जाना भी बेहतर है, परधर्म में सफल हो जाने के बजाए, तो वे यह कह रहे हैं कि परधर्म से सावधान। परधर्म भयावह है। इससे बड़ी फिअरफुल कोई चीज नहीं है जगत में, परधर्म से। दूसरे को अपना आदर्श बना लेने से बड़ी और कोई खतरनाक बात नहीं है, सबसे ज्यादा इससे भयभीत होना। लेकिन हम इससे कभी भयभीत नहीं हैं। हम तो अपने बच्चों को कहते हैं कि विवेकानंद जैसे हो जाओ, रामकृष्ण जैसे हो जाओ, बुद्ध जैसे हो जाओ, मोहम्मद जैसे हो जाओ। जैसे कि परमात्मा चुक गया हो, कि मोहम्मद को बनाकर अब कुछ और अच्छा नहीं हो सकता है, कि कृष्ण को बनाकर अब कुछ होने का उपाय नहीं रहा है। जैसे परमात्मा हार गया और अब आपके लिए सिर्फ रिपिटीशन के लिए भेजा है, पुनरुक्ति के लिए, डिट्टो आपको लगाकर भेज दिया है कि बस हो जाओ किसी के जैसे। जैसे कार्बन कापी होने का ही आपका अधिकार है।

नहीं, परमात्मा चुकता नहीं है। कृष्ण के इस सूत्र में बड़े कीमती अर्थ हैं, भयावह है परधर्म। अगर भयभीत ही होना है, तो मौत से भयभीत मत होना। कृष्ण नहीं कहेंगे कि मौत से डरो। जो आदमी कहता है, मौत से मत डरो, वह आदमी कहता है, परधर्म से डरो! मौत से भी ज्यादा खतरनाक है परधर्म! क्यों? क्योंकि परधर्म स्युसाइडल है। जिस आदमी ने दूसरे के धर्म को स्वीकार कर लिया, उसने आत्महत्या कर ली। उसने अपनी आत्मा को तो मार ही डाला, अब वह दूसरे की आत्मा की कापी ही बनने की कोशिश में रहेगा।

और कोई कितनी ही कोशिश करे, आवरण ही बदल सकता है। भीतर की आत्मा तो जो है अपनी, वही है। वह कभी दूसरे की नहीं हो सकती। भयावह है मृत्यु से भी ज्यादा परधर्म, क्योंकि आत्मघात है। आत्मघात जिसे हम कहते हैं, उससे भी ज्यादा भयावह है। क्योंकि जिसे हम आत्मघात कहते हैं, उसमें सिर्फ शरीर मरता

है, और जिसे कृष्ण भयावह कह रहे हैं, उसमें आत्मा को ही हम दबाकर मार डालते हैं, आत्मा को ही घोंट डालते हैं।

दूसरे के धर्म से सावधान होने की जरूरत है और स्वधर्म पर दृष्टि लगाने की जरूरत है। इस बात की खोज करने की जरूरत है कि मैं क्या होने को हूं? मैं क्या हो सकता हूं? मेरे भीतर छिपा बीज क्या मांगता है? और साहसपूर्वक उस यात्रा पर निकलने की जरूरत है।

इसलिए धर्म सबसे बड़ा दुस्साहसिक काम है, सबसे बड़ा एडवेंचर है। न तो चांद पर जाना इतना दुस्साहसिक है, न एवरेस्ट पर चढ़ना इतना दुस्साहसिक है, न प्रशांत महासागर की गहराइयों में डूब जाना इतना दुस्साहसिक है, न ज्वालामुखी में उतर जाने में इतना दुस्साहस है, जितना दुस्साहस स्वधर्म की यात्रा पर निकलने में है। क्यों? क्योंकि भला चाहे एवरेस्ट पर कोई न पहुंचा हो, लेकिन बहुत लोगों ने पहुंचने की कोशिश की है। भला कोई ऊपर तक तेनसिंह और हिलेरी के पहले न पहुंचा हो, लेकिन आदमी के चरण-चिह्न काफी दूर तक, एप्प्रॉक्सिमेटली करीब-करीब पहुंच गए हैं। यात्री जा चुके उस रास्ते पर। चाहे प्रशांत महासागर में कोई इतना गहरे न गया हो, लेकिन लोग जा चुके हैं। लोग निर्णायक रास्ता छोड़ गए हैं। लेकिन स्वधर्म की यात्रा पर, आपके पहले आपके स्वधर्म की यात्रा पर कोई भी नहीं गया, बिल्कुल अननोन है; एक इंच कोई नहीं गया। आप ही जाएंगे पहली बार एकदम अज्ञात में छलांग लगाने, जहां कोई नहीं गया है।

इसलिए परधर्म आकर्षक मालूम पड़ता है। क्योंकि परधर्म में सिक्योरिटी मालूम पड़ती है। नक्शा मिलता है न परधर्म में! हमें पता है, बुद्ध ने क्या-क्या किया है। तो ठीक वैसे ही पालथी मारकर हम भी कुछ करें, तो नक्शा हमारे पास होता है। हमें पता है, कृष्ण ने क्या किया। तो ठीक है, हम भी एक बांसुरी खरीद लाएं और किसी झाड़ के नीचे खड़े होकर बजाएं। नक्शे हैं पास में। परधर्म में नक्शा है, स्वधर्म अनचार्टर्ड है। कोई नक्शा नहीं, कोई कुतुबनुमा नहीं, कोई रास्ता बताने वाला नहीं। क्योंकि आप ही पहली दफा उस यात्रा पर जा रहे हैं, जो आपका स्वधर्म है। इसलिए आदमी डरकर दूसरे के रास्ते पर चला जाता है। बंधे-बंधाए रास्ते, तैयार पगडंडियां, राजपथ लुभाते हैं कि बंधा हुआ रास्ता है, लोग उस पर जा चुके हैं पहले भी, मैं भी इस पर चला जाऊं।

लेकिन ध्यान रहे, दूसरे के रास्ते से कोई अपनी मंजिल पर नहीं पहुंच सकता है। जब रास्ता दूसरे का, तो मंजिल भी दूसरे की। और दूसरे की मंजिल पर पहुंच जाने से बेहतर, अपनी मंजिल को खोजने में भटक जाना है। क्योंकि भटकना भी सीख बन जाती है। और भूल भी सुधारी जा सकती है। और भूल से, आदमी भूल करने से बचता है। भूल ज्ञान है। अपनी खोज में भटकना और गिरना भी उचित। दूसरे की खोज में अगर बिल्कुल राजपथ है, तो भी व्यर्थ, क्योंकि वह आपके मंदिर तक नहीं पहुंचता।

स्वधर्म दुस्साहस है। अज्ञात दुस्साहस है। अनजान, अपरिचित, यहां रास्ता बना-बनाया नहीं है। यहां तो चलना और रास्ता बनाना, एक ही बात के दो ढंग हैं कहने के। यहां तो चलना ही रास्ता बनाना है। एक बीहड़ जंगल में आप चलते हैं और रास्ता बनता है। जितना चलते हैं, उतना ही बनता है। बेकार है। क्योंकि रास्ता होना चाहिए चलने के पहले, तो उसका कोई सहारा मिलता है। आप चलते हैं जंगल में, लताएं टूट जाती हैं, वृक्षों को हटा लेते हैं, जगह साफ कर लेते हैं, लेकिन उससे कोई हल नहीं होता। आगे फिर रास्ता बनाना पड़ता है।

स्वधर्म में चलना ही मार्ग का निर्माण है। इसलिए भटकन तो निश्चित है। लेकिन भटकन से जो भयभीत है, वह कहीं परधर्म की सुरक्षापूर्ण, सिक्योर्ड यात्रा पर निकल गया, तो कृष्ण कहते हैं, वह और भी भयपूर्ण है।

क्योंकि यहां तुम भटक सकते थे, लेकिन वहां तुम पहुंच ही नहीं सकते हो। भटकने वाला पहुंच सकता है। भटकता वही है, जो ठीक रास्ते पर होता है।

जरा इसे समझ लेना उचित होगा। भटकता वही है, जो ठीक रास्ते पर होता है, क्योंकि तभी उसे भटकाव का पता चलता है कि भटक गया। लेकिन जो बिल्कुल गलत रास्ते पर होता है, वह कभी नहीं भटकता, क्योंकि भटकने के लिए कोई मापदंड ही नहीं होता। दूसरे के रास्ते पर आप कभी नहीं भटकेंगे; रास्ता मजबूती से दिखाई पड़ेगा; कोई चल चुका है। आप लकीर पीटते हुए चले जाएं। लेकिन स्वधर्म के रास्ते पर भटकाव का डर है, साहस की जरूरत है।

इसलिए मैं कहता हूं, धर्म बहुत जोखिम है। और उसी जोखिम की वजह से, उसी रिस्क की वजह से हम दूसरे का धर्म चुन लेते हैं। बेटा बाप का चुन लेता है, शिष्य गुरु का चुन लेता है, पीढ़ियां-दर-पीढ़ियां एक-दूसरे के पीछे चलती चली जाती हैं। कोई इसकी फिक्र नहीं करता कि दूसरे का धर्म मेरा धर्म नहीं हो सकता है। मैं एक स्वभाव लेकर आया हूं, जिसका अपना स्वर है, जिसका अपना संगीत है, जिसकी अपनी सुगंध है, जिसका अपना जीने का ढंग है। उस ढंग को मुझे विकसित करना होगा।

कृष्ण बहुत जोर देकर अर्जुन से कहते हैं, तू ठीक से पहचान ले, तेरा स्वधर्म क्या है। और अर्जुन अगर आंख बंद करे और जरा ध्यान करे, तो वह कह सकता है कि उसका स्वधर्म क्या है। हम कभी आंख बंद नहीं करते, नहीं तो हम भी कह सकते हैं कि हमारा स्वधर्म क्या है। हम कभी ख्याल नहीं करते कि हमारा स्वधर्म क्या है। और इसीलिए कोई चीज हमें तृप्त नहीं करती है। जहां भी जाते हैं, वहीं अतृप्ति।

आज सारी दुनिया उदास है और लोग कहते हैं, जीवन अर्थहीन है। अर्थहीन नहीं है जीवन, सिर्फ स्वधर्म खो गया है। इसलिए अर्थहीनता है। दूसरे के काम में अर्थ नहीं मिलता। अब एक आदमी जो गणित कर सकता है, वह कविता कर रहा है! अर्थहीन हो जाएगी कविता। सिर्फ बोझ मालूम पड़ेगा कि इससे तो मर जाना बेहतर है। यह कहां का नारकीय काम मिल गया। अब जो गणित कर सकता है, वह कविता कर रहा है। गणित और बात है, बिल्कुल और। उसका काव्य से कोई लेना-देना नहीं है। काव्य में दो और दो पांच भी हो सकते हैं, तीन भी हो सकते हैं। गणित में दो और दो चार ही होते हैं। वहां इतनी सुविधा नहीं है, इतनी लोच नहीं है। गणित बहुत सख्त है। काव्य बहुत लोचपूर्ण, फ्लेक्सिबल है। काव्य तो एक बहाव है। गणित एक बहाव नहीं है।

अब जो गणितज्ञ हो सकता था, वह कवि होकर अगर बैठ जाए, तो जीवनभर पाएगा कि किसी मुसीबत में पड़ा है; कैसे छुटकारा हो इस मुसीबत से! जो कवि हो सकता था, वह गणितज्ञ हो जाए, तो कठिनाई खड़ी होने वाली है; बहुत कठिनाई खड़ी हो जाने वाली है। क्योंकि इन दोनों के जीवन को देखने के ढंग ही भिन्न हैं। इन दोनों के सोचने की प्रक्रिया अलग है। इनके पास आंखें एक-सी दिखाई पड़ती हैं, एक-सी हैं नहीं।

मैंने सुना है, एक जेलखाने में दो आदमी एक ही दिन बंद किए गए। सांझ, पूर्णिमा की रात, चांद निकला है। दोनों सीखचों को पकड़कर खड़े हैं। एक के चेहरे पर इतना आह्लाद है कि जैसे उसे स्वर्ग का खजाना मिल गया हो, जेल के सीखचों के भीतर! दूसरे के चेहरे पर ऐसा क्रोध है कि अगर उसका बस चले, तो सब आग लगा दे, जैसे नर्क में खड़ा हो। तो उस दूसरे आदमी ने पास खड़े आदमी से कहा, इतने प्रसन्न दिखाई पड़ रहे हो, पागल तो नहीं हो! यह जेलखाना है; इतनी प्रसन्नता? और सामने देखते हो, डबरा भरा हुआ है, गंदगी फैली हुई है; बास आ रही है; मच्छड़-कीड़े घूम रहे हैं। कहां बंद किया हुआ है हमें लाकर! उस दूसरे आदमी ने कहा, तुमने कहा तो मुझे याद आया कि जेल के भीतर हूं, अन्यथा मैं पूर्णिमा के चांद के पास पहुंच गया था। मुझे पता ही

नहीं था कि मैं जेल के भीतर हूं। और तुम कहते हो तो मुझे दिखाई पड़ता है कि सामने डबरा है, अन्यथा पूर्णिमा का चांद जब ऊपर उठा हो, तो डबरे सिर्फ पागल देखते हैं, डबरे को देखने की फुर्सत कहां? आंख कहां?

ये दोनों आदमी एक ही साथ खड़े हैं, एक ही जेलखाने में। इन दोनों के पास एक-सी आंखें हैं, लेकिन एक-सा स्वधर्म नहीं है; स्वधर्म बिल्कुल भिन्न है। अब वह आदमी कहता है, मुझे पता ही नहीं था कि मैं जेलखाने में हूं। जब पूर्णिमा का चांद निकला हो, तो कैसे पता हो सकता है कि जेलखाने में हूं। वह दूसरा आदमी कहेगा, पागल हो गए हो! जब जेलखाने में हो, तो पूर्णिमा का चांद निकल ही कैसे सकता है? ठीक है न! जब जेलखाने में बंद है आदमी, तो पूर्णिमा का चांद निकलता है कहीं जेलखानों में! जेलखानों में कभी पूर्णिमा नहीं होती, वहां अमावस ही रहती है। पर ये दो आदमी, इनके देखने के दो ढंग। और दो ढंग ही होते, तो भी ठीक था। जितने आदमी उतने ढंग हैं।

स्वधर्म का मतलब है, पृथ्वी पर जितनी आत्माएं हैं, उतने धर्म हैं, उतने स्वभाव हैं। दो कंकड़ भी एक जैसे खोजना मुश्किल हैं, दो आदमी तो खोजना बहुत ही मुश्किल है। सारी पृथ्वी को छान डालें, तो दो कंकड़ भी नहीं मिल सकते, जो बिल्कुल एक जैसे हों। आदमी बड़ी घटना है। कंकड़ों तक के संबंध में परमात्मा व्यक्तित्व देता है, तो आदमी के संबंध में तो देता ही है।

इसलिए कृष्ण कहते हैं, खोज, पीछे देख, लौटकर देख, तू क्या हो सकता है! अर्जुन को कृष्ण, अर्जुन से भी ज्यादा बेहतर ढंग से जानते हैं। कृष्ण की आंखें अर्जुन को आर-पार देख पाती हैं।

अब पश्चिम में मनोविज्ञान कह रहा है कि प्रत्येक नर्सरी स्कूल में, किंडरगार्टन में, प्रत्येक प्राइमरी स्कूल में मनोवैज्ञानिक होने चाहिए, जो प्रत्येक बच्चे का एप्टिट्यूड--अगर कृष्ण की भाषा में कहें, तो स्वधर्म--उस बच्चे का झुकाव पता लगाएं। और मनोवैज्ञानिक कहे कि इस बच्चे का यह झुकाव है, तो बाप उस बच्चे का कुछ भी कहे कि इसको डाक्टर बनाना है, अगर मनोवैज्ञानिक कहे कि चित्रकार, तो बाप की नहीं चलनी चाहिए। सरकार कहे कि इसे डाक्टर बनाना है, तो सरकार की नहीं चलनी चाहिए। सरकार कितना ही कहे कि हमें डाक्टरों की जरूरत है, हमें पेंटर की जरूरत नहीं है, तो भी नहीं चलनी चाहिए। क्योंकि यह आदमी डाक्टर हो ही नहीं सकता। हां, डाक्टर की डिग्री इसे मिल सकती है, लेकिन यह डाक्टर हो नहीं सकता। इसके पास चिकित्सक का एप्टिट्यूड नहीं है। इसके पास वह गुणधर्म नहीं है।

इसलिए पश्चिम का मनोवैज्ञानिक इस सत्य को समझने के करीब आ गया है। और वह कहता है, अब तक बच्चों के साथ ज्यादती हो रही है। कभी बाप तय कर लेता है कि बेटे को क्या बनाना है, कभी मां तय कर लेती है, कभी कोई तय कर लेता है। कभी समाज तय कर देता है कि इंजीनियर की ज्यादा जरूरत है। कभी बाजार तय कर देता है। मार्केट वेल्यू होती है--डाक्टर की ज्यादा है, इंजीनियर की ज्यादा है, कभी किसी की ज्यादा है--इन सब से तय हो जाता है। सिर्फ एक व्यक्ति, जिसे तय किया जाना चाहिए था, वह भर तय नहीं करता है। वह उस व्यक्ति की अंतरात्मा से कभी नहीं खोजा जाता है कि यह आदमी क्या होने को है। बाजार तय कर देगा, मां-बाप तय कर देंगे, हवा तय कर देगी, फैशन तय कर देगी कि क्या होना है।

स्वभावतः मनुष्य विजड़ित हो गया है, क्योंकि कोई मनुष्य वह नहीं हो पाता है, जो हो सकता है। और जब कभी भी हम करोड़ों लोगों में एकाध आदमी वही हो जाता है, जो होने को पैदा हुआ था, तो उसका आनंद और है, उसका नृत्य और है, उसका गीत और है। उसकी जिंदगी में जो खुशी है; फिर हम तड़पते हैं कि यह खुशी हमको कैसे मिले? कौन-सा मंत्र पढ़ें, कौन-सा ग्रंथ पढ़ें, यह खुशी कैसे मिले? सच बात यह है कि खुशी सिर्फ स्वधर्म के फुलफिलमेंट से मिलती है और किसी तरह मिलती नहीं है। बाकी सब समझाने की तरकीबें हैं,

कन्सोलेशंस हैं। सिर्फ आदमी को आनंद उसी दिन मिलता है, जिस दिन उसके भीतर का बीज पूरा खिल जाता है और फूल बन जाता है। उस दिन वह परमात्मा के चरणों में समर्पित कर पाता है। उस दिन वह धन्यभागी हो जाता है। उस दिन वह कह पाता है, प्रभु तेरी अनुकंपा है, तेरी कृपा है; धन्यभागी हूं कि तूने मुझे पृथ्वी पर भेजा है। अन्यथा जिंदगीभर वह कहता रहता है कि मेरे साथ अन्याय हुआ है; मुझे क्यों पैदा किया है? क्या वजह है मुझे सताने की? मुझे क्यों न उठा लिया जाए?

कामू ने अपनी एक किताब का प्रारंभ एक बहुत अजीब शब्द से किया है। लिखा है, दि ओनली मेटाफिजिकल प्राब्लम बिफोर ह्यूमन काइंड इ.ज स्युसाइड--मनुष्य जाति के सामने एक ही धार्मिक, आध्यात्मिक, दार्शनिक प्रश्न है, सवाल है और वह है, आत्महत्या। कि हम आत्महत्या क्यों न कर लें? रहने का क्या प्रयोजन है? क्या अभिप्राय है? क्या अर्थ है? ठीक कहता है वह।

एक ओर कहां हम कृष्ण को देखते हैं बांसुरी बजाते, नाचते; कहां एक ओर हम दुख-पीड़ा से भरे हुए लोग! कहां एक ओर बुद्ध कहते हैं, परम शांति है; कहां एक ओर हम कहते हैं, शांति परिचित नहीं है, कोई पहचान नहीं है। कहां एक ओर क्राइस्ट कहते हैं, प्रभु का राज्य; और कहां हम एक ओर, जहां सिवाय नर्क के और कुछ भी दिखाई नहीं पड़ता है। या तो ये सब पागल हैं, या हम चूक गए हैं कहीं। जहां ये नहीं चूके हैं, वहां हम चूक गए हैं। चूक गए हैं, स्वधर्म से चूक गए हैं।

इसलिए मैं भी दोहराता हूं, स्वधर्म में असफल हो जाना भी श्रेयस्कर, परधर्म में सफल हो जाना भी अश्रेयस्कर। स्वधर्म में मर जाना भी उचित, परधर्म में अनंतकाल तक जीना भी नर्क। स्वधर्म में एक क्षण भी जो जी ले, वह मुक्ति को अनुभव कर लेता है। एक क्षण भी अगर मैं पूरी तरह वही हो जाऊं, जो परमात्मा ने चाहा है कि मैं होऊं, बस, उससे ज्यादा प्राणों की और कोई प्यास नहीं है।

प्रश्नः भगवान श्री, आप कहते हैं, धर्म एक है, समाधि एक है, परमात्मा एक है, लेकिन स्वधर्म अनेक हैं। तो इन दोनों में कैसे तालमेल बैठे, इसे स्पष्ट करें।

ऐसे ही, जैसे सरिताएं बहुत हैं और सागर एक है। ऐसे ही, जैसे वर्षा की बूंदें बहुत हैं, वर्षा एक है। ऐसे ही, जैसे गुलाब अलग है, कमल अलग है, लेकिन फ्लावरिंग एक है, फूल हो जाना एक है, खिल जाना एक है। स्वधर्म अलग-अलग हैं, धर्म अलग नहीं है। और जिस दिन स्वधर्म की, मैं अपने स्वधर्म की पूर्ति करता हूं और आप अपने स्वधर्म की पूर्ति करते हैं, तो जिस मंदिर पर हम पहुंच जाते हैं, वह एक है। लेकिन रास्ते अलग हैं। जिस रास्ते आप पहुंचते हैं, वह मेरा रास्ता नहीं है। जिस रास्ते मैं पहुंचता हूं, वह आपका रास्ता नहीं है।

एक कवि भी अपने गीत को गाकर उसी आनंद को उपलब्ध हो जाता है, जो एक गणितज्ञ अपने सवाल को हल करके होता है। लेकिन सवाल अलग और कविता अलग। एक चित्रकार भी अपने चित्र को बनाकर उसी आनंद को उपलब्ध हो जाता है, जैसे एक नृत्यकार नाचकर होता है। लेकिन नाचना अलग, चित्रकारी अलग, वह आनंद एक है। स्वधर्म जहां पहुंचा देता है, वह मंजिल एक है।

जैसे पहाड़ पर हम चढ़ते हों अपने-अपने रास्तों से और सब शिखर पर पहुंच जाएं। वह शिखर पर पहुंच जाना एक, उस शिखर पर हवाएं, और सूरज, और आकाश, और उड़ते हुए बादल, वे एक हैं; लेकिन जिन रास्तों से हम आए, वे सब अलग।

दो आदमी एक रास्ते से नहीं पहुंचते शिखर तक, क्योंकि दो आदमी एक जगह नहीं खड़े हैं। एक जगह खड़े भी नहीं हो सकते। जो जहां खड़ा है, वहीं से तो यात्रा शुरू करेगा। अब मैं यहां बैठा हूं, आप सब अगर मेरी तरफ चलना शुरू करें, तो आप वहीं से शुरू करेंगे न जहां आप बैठे हैं! और आप अपनी जगह अकेले ही बैठे हैं। आपकी जगह और कोई नहीं बैठा हुआ है। दूसरे जहां बैठे हैं, वहां से चलेंगे। दिशाएं अलग होंगी, ढंग चलने के अलग होंगे, चलने की शक्तियां अलग होंगी, चलने के इरादे अलग होंगे, पहुंचने के ख्याल अलग होंगे। पहुंच जाएंगे एक जगह। जैसे सब सरिताएं सागर में पहुंच जाती हैं, ऐसे ही सब स्वधर्म महाधर्म में पहुंच जाते हैं। वह धर्म एक है। लेकिन वह धर्म उस दिन मिलता है, जिस दिन स्व मिट जाता है।

अर्जुन से अभी कृष्ण उस धर्म की बात नहीं कर रहे हैं। उसकी भी बात करेंगे। तब वे अर्जुन से कहेंगे, सर्वधर्मान परित्यज्य... । वे उसकी भी बात करेंगे। वे कहेंगे, अब तू सब धर्म छोड़ दे। अभी वे कह रहे हैं, स्वधर्म पकड़ ले। यही कृष्ण अर्जुन से कहेंगे, अब तू सब धर्म-वर्म छोड़। अब तू मुझमें आ जा।

हम गंगा से नहीं कह सकते कि तू यमुना के रास्ते पर चल। हम यमुना से नहीं कह सकते कि तू सिंधु के रास्ते पर चल। हम सिंधु से नहीं कह सकते कि तू ब्रह्मपुत्र के रास्ते पर चल। लेकिन फिर सागर के किनारे पहुंचेंगी वे, और सागर कहेगा, आ जाओ, सब अपने रास्तों को छोड़ो और मुझमें आ जाओ। चलेंगी अपने रास्ते पर, फिर एक दिन रास्ते भी छोड़ देने पड़ते हैं। जिस दिन मंजिल मिल जाती है, उस दिन रास्ता छोड़ देना पड़ता है। मंजिल मिलकर जो रास्ते को पकड़े रहे, वह पागल है। परमात्मा सामने आ जाए और स्व को पकड़े रहे, वह पागल है। लेकिन परमात्मा सामने न हो और कोई पर को पकड़ ले परमात्मा की जगह, वह भी पागल है। पर, परमात्मा नहीं है। दि अदर, पर परमात्मा नहीं है।

स्व को, तब तक तो स्व ही सब कुछ है। जब तक परमात्मा नहीं मिलता, तब तक आत्मा ही सब कुछ है; तब तक आत्मा की ही फिक्र करें। जब तक सागर नहीं मिलता, तब तक नदी अपने रास्ते को पकड़े रहे। और जिस दिन सागर मिले, नाचे और लीन हो जाए। उस दिन सब रास्ते छोड़ दे, तट तोड़ दे। फिर उस दिन मोह न करे कि इन तटों ने इतने दिन साथ दिया, अब कैसे छोड़ूं! फिर उस दिन चिंता न करे कि जिन रास्तों ने यहां तक पहुंचाया, उन्हें कैसे छोड़ूं! रास्तों ने यहां तक पहुंचाया ही इसलिए कि अब यहां उन्हें छोड़ दो। बस, रास्ते समाप्त हुए। धर्म वहां मिलता है, जहां स्वधर्म लीन हो जाता है।

तीन बातें हुईं--परधर्म, स्वधर्म, धर्म। हम परधर्म में जीते हैं। अर्जुन परधर्म के लिए लालायित हो रहा है। है क्षत्रिय, एप्टिट्यूड उसका वही है। अगर मनोवैज्ञानिक कहते, तो वे कहते कि तू कुछ और नहीं कर सकता। तेरी आत्मा निखरेगी तेरी तलवार की चमक के साथ। तू जागेगा उसी क्षण में, जहां प्राण दांव पर होंगे। तू कोई आंख बंद करके ध्यान करने वाला आदमी नहीं है। तुझे ध्यान लगेगा, लेकिन लगेगा युद्ध की प्रखरता में, इंटेंसिटी में। वहां तू लीन हो जाएगा। वहां तू भूल जाएगा। तू ऐसा बैठकर सुबह और ध्यान नहीं कर सकता कि मैं शरीर नहीं हूं। नहीं, जब तलवारें चमकेंगी धूप में और दांव पर सब कुछ होगा, तब तू भूल जाएगा कि तू शरीर है, तब तुझे पता भी नहीं रहेगा कि तू शरीर है। तू भी जानेगा कि शरीर नहीं हूं। लेकिन वह तलवार के दांव पर होगा। वह यहां घर में बैठकर माला पकड़कर तुझसे होने वाला नहीं है। वह तेरा एप्टिट्यूड नहीं है, वह तेरा स्वधर्म नहीं है। तो अभी तू परधर्म पकड़ने की मत सोच।

बड़े मजे की बात है, जो परधर्म को पकड़ ले, वह परमात्मा तक कभी नहीं पहुंच सकता। परधर्म पकड़ने वाला तो स्वधर्म तक ही नहीं पहुंचता, परमात्मा तक पहुंचने का तो सवाल ही नहीं उठता। पहले परधर्म छोड़, स्वधर्म पकड़। फिर घड़ी आएगी वह भी--उसकी हम बात करेंगे--जब कृष्ण कहेंगे, अब स्वधर्म भी छोड़, अब

परमात्मा में लीन हो जा। पर को छोड़ पहले, फिर स्व को भी छोड़ देना, तब सर्व उपलब्ध होता है। पर को छोड़कर स्व, स्व को छोड़कर सर्व। उसके आगे फिर कुछ छोड़ने-पकड़ने को नहीं रह जाता।

स्वधर्म परधर्म के विपरीत है। और धर्म जो है, वह अधर्म के विपरीत है। स्वधर्म परधर्म के विपरीत है, धर्म जो है वह अधर्म के विपरीत है। परधर्म से यात्रा स्वधर्म तक, स्वधर्म से यात्रा धर्म तक। जो आदमी स्वधर्म को लेकर चलेगा, एक दिन धर्म में पहुंच जाएगा; और जो आदमी परधर्म को पकड़कर चलेगा, एक दिन अधर्म में पहुंच जाएगा। परधर्म का आखिरी कदम अधर्म होगा। क्योंकि परधर्म को पकड़ने वाले की निजता खो जाती है, उसकी आत्मा खो जाती है। और जिस दिन आत्मा खो जाती है, उसी दिन अधर्म घर कर लेता है। खुद का दीया तो बुझ गया, अब अंधेरा घर में प्रवेश कर जाएगा। जिसका स्वधर्म जागता है, वह अधर्म में कभी नहीं गिर पाता। स्वधर्म बढ़ते-बढ़ते, ज्योति बढ़ते-बढ़ते एक दिन सूर्य के साथ एक हो जाती है। उस दिन वह धर्म को उपलब्ध हो जाता है।

तो ये चार बातें ख्याल में ले लें। हमारे सामने अभी विकल्प है, या तो स्वधर्म, या परधर्म। अगर अधर्म तक जाना हो, तो परधर्म का रास्ता उपयोगी है, हितकर है, सहयोगी है। अगर धर्म तक जाना हो, तो स्वधर्म का रास्ता हितकर है, सहयोगी है। अधर्म तक हम दूसरे के द्वारा पहुंचते हैं।

इस संबंध में एक छोटी-सी कहानी आपको कहूं। अधर्म तक सदा ही हम वाया दि अदर, दूसरे के द्वारा पहुंचते हैं। और धर्म तक हम सदा ही वाया दि सेल्फ, स्व के द्वारा पहुंचते हैं।

इसलिए धर्म पर जाने वाला आदमी एकांत में चला जाता है, ताकि दूसरे न हों, जहां दूसरे न हों, दूसरे का चित्र भी न बने। इसलिए धर्म की खोज में बुद्ध जंगल चले जाते हैं, महावीर पहाड़ों पर चले जाते हैं, मोहम्मद पहाड़ चढ़ जाते हैं, मूसा सनाई के पर्वत पर खो जाते हैं।

धर्म की खोज में जाने वाला आदमी दूसरे से हटता है, चुपचाप हट जाता है। न पर रहे--न रहे बांस, न बजे बांसुरी--न पर रहे, न पर को पकड़ने का प्रलोभन रहे। हट जाता है छोड़कर चुपचाप। लेकिन जिस आदमी को अधर्म करना है, वह आदमी भीड़ खोजता है। वह आदमी कभी अकेलापन नहीं खोजता। क्योंकि अधर्म करने के लिए दूसरा बिल्कुल जरूरी है।

यह बड़े मजे की बात है कि शांत तो आप अकेले भी हो सकते हैं, अशांत के लिए दूसरा बिल्कुल जरूरी है। यह बड़े मजे की बात है कि आनंदित तो आप अकेले भी हो सकते हैं, लेकिन दुखी होने के लिए दूसरा बहुत जरूरी है। यह बड़े मजे की बात है कि पवित्रता में तो आप अकेले भी हो सकते हैं, लेकिन पाप में उतरने के लिए दूसरा बिल्कुल जरूरी है। ब्रह्मचर्य में तो आप अकेले भी हो सकते हैं, लेकिन कामुकता के लिए दूसरा बिल्कुल जरूरी है। त्याग तो आप अकेले भी कर सकते हैं, लेकिन भोग के लिए दूसरा बिल्कुल जरूरी है। इसे ख्याल ले लें।

एक ईसाई पैरेबल है, ईसाई कहानी है ओल्ड टेस्टामेंट में। ईदन के बगीचे में अदम और ईव को परमात्मा ने बनाया। कहानी है, लेकिन एक बात देखने जैसी है, इसलिए आपसे कहता हूं। और परमात्मा ने कहा कि यह एक वृक्ष है, इसके फल मत खाना। यह ज्ञान का वृक्ष है, इसके फल खाए कि तुम स्वर्ग के दरवाजे के बाहर कर दिए जाओगे। बड़ी अजीब बात! बड़ी अजीब बात! अज्ञान का कोई फल खाए और स्वर्ग के बाहर कर दिया जाए, समझ में आता है। ज्ञान का कोई फल खाए और स्वर्ग के दरवाजे के बाहर कर दिया जाए, समझ में आने में कठिनाई होती है। लेकिन साफ परमात्मा ने कहा कि यह ज्ञान का वृक्ष है, इसके फल खाए तो स्वर्ग के बाहर कर दिए जाओगे।

सांप ने आकर ईव को, स्त्री को कहा कि तू पागल है, इस धोखे में मत पड़ना। परमात्मा खुद इसी वृक्ष के फल खाकर परमात्मा है। और पागल, कहीं ज्ञान के फल खाकर कोई स्वर्ग खोता है! ज्ञान के फल से ही स्वर्ग मिलता है। तुम्हें पता ही नहीं है कुछ। खा लो और परमात्मा जैसे हो जाओ। ईव ने अदम को समझाया कि इस फल को खा ही लेना चाहिए। इसमें जरूर कोई राज है, जरूर कोई रहस्य है। और जब परमात्मा ने रोका, तो मतलब गहरा है। और परमात्मा ज्ञान के फल खाने से रोके, तो हमारा दोस्त नहीं दुश्मन है। ज्ञान का फल!

अदम को भी बात जंची, जैसा कि सदा ही स्त्रियों की बातें पुरुषों को जंच जाती हैं। यानी उसी दिन ईदन के बगीचे में ऐसी भूल हुई हो, ऐसा नहीं, हर बगीचे में और हर घर में यही भूल होती है। जंच ही जाती है। क्योंकि स्त्री परसुएड करने में बहुत कुशल है।

उसने फुसलाया अदम को। अदम ने फल खा लिया, और तत्काल स्वर्ग के दरवाजे के बाहर निकाल दिए गए। परमात्मा ने कहा, अदम, तूने फल क्यों खाया? उसने कहा, मैं क्या करूं! दूसरे ने मुझे फुसलाया, ईव ने मुझे फुसलाया। ईव से कहा कि तूने इसे क्यों फुसलाया? तो उसने कहा, दूसरे ने मुझे फुसलाया, सांप ने मुझे फुसलाया।

ईसाई कहानी कहती है कि दूसरे के मार्ग से पाप आता है। इस कहानी में दो-तीन बातें हैं। दूसरे के मार्ग से! और इसमें एक और बात ख्याल करने की है। और वह यह कि ज्ञान के फल ने आदमी को स्वर्ग के बाहर क्यों कर दिया? क्योंकि जैसे ही अदम ने फल खाया और जैसे ही ईव ने फल खाया उस ट्री आफ नालेज का, ज्ञान के वृक्ष का, वैसे ही अदम को पता चला कि मैं नंगा हूं, ईव को पता चला कि मैं नग्न हूं, उसने जल्दी से पत्ते रखकर अपनी नग्नता ढांक ली। परमात्मा ने कहा कि तुमने ज्ञान तो पा लिया, लेकिन सरलता खो दी। और सरलता में ही स्वर्ग है, कांशसनेस में नहीं, ज्ञान में नहीं, सरलता में। अब तक तुम बच्चों जैसे सरल थे। नग्न थे, तो तुम्हें पता न था कि तुम नग्न हो। अब तुम बच्चों जैसे सरल न रहे। अब तुम चालाक हो गए, अब तुम कनिंग हो गए, अब तुम कैलकुलेटिंग हो गए, अब तुम हिसाब लगाने लगे कि नग्न हैं; ऐसा है, वैसा है। अब तुम सवाल उठाओगे, अब तुम सवालों में उलझोगे और गिरोगे।

ज्ञान का फल इसलिए, जो ज्ञान इसलिए सरलता को नष्ट कर दे, वह धोखा है, ज्ञान नहीं है। नाम ही उसका ज्ञान है। जो ज्ञान सरलता को वापस लौटा दे, वही ज्ञान है। और दूसरे के मार्ग से ज्ञान नहीं आता, अज्ञान आता है। और दूसरे के मार्ग से धर्म नहीं आता, अधर्म आता है। धर्म का मार्ग स्वयं के भीतर है। वह गंगोत्री स्वयं के भीतर है जहां से ज्ञान की, धर्म की गंगा जन्मती है और एक दिन सर्व के सागर में लीन हो जाती है।

अर्जुन उवाच

अथ केन प्रयुक्तोऽयं पापं चरति पूरुषः।

अनिच्छन्नपि वार्ष्णेय बलादिव नियोजितः।। 36।।

श्री भगवानुवाच

काम एष कोध एष रजोगुणसमुद्भवः।

महाशनो महापाप्मा विद्धयेनमिह वैरिणम्।। 37।।

इस पर अर्जुन ने पूछा कि हे कृष्ण, फिर यह पुरुष बलात्कार से लगाए हुए के सदृश, न चाहता हुआ भी, किससे प्रेरा हुआ पाप का आचरण करता है?

श्री कृष्ण भगवान बोले, हे अर्जुन, रजोगुण से उत्पन्न हुआ यह काम क्रोध ही है; यही महाअशन अर्थात अग्नि के सदृश, भोगों से तृप्त न होने वाला और बड़ा पापी है।

इस विषय में इसको ही तू वैरी जान।

अर्जुन ने एक बहुत ही गहरा सवाल कृष्ण से पूछा। अर्जुन ने कहा, फिर अगर सब कुछ परमात्मा ही कर रहा है, अगर सब कुछ प्रकृति के गुणधर्म से ही हो रहा है, अगर सब कुछ सहज ही प्रवाहित है और अगर व्यक्ति जिम्मेवार नहीं है, तो फिर पाप कर्म न चाहते हुए भी कि करे, आदमी बलात पाप कर्म क्यों कर लेता है? कौन करवा देता है? अगर परमात्मा ही चला रहा है सब कुछ और मैं भी नहीं चाहता कि बुरा कर्म करूं, और परमात्मा चला रहा है सब कुछ, फिर भी मैं बुरे कर्म में प्रवृत्त हो जाता हूं, तो बलात मुझे कौन बुरे कर्म में धक्का दे देता है?

गहरा सवाल है। कहना चाहिए कि मनुष्य जाति में जो गहरे से गहरे सवाल उठाए गए हैं, उनमें से एक है। सभी धर्मों के सामने--चाहे हिब्रू, चाहे ईसाई, चाहे मोहमडन, चाहे हिंदू, चाहे जैन--गहरे से गहरा सवाल यह उठा है कि अगर परमात्मा ही चला रहा है और हम भी नहीं चाहते... । और फिर आप तो कहते हैं कि हमारे चाहने से कुछ होता नहीं। हम चाहें भी, तो भी परमात्मा जो चाहता है, उससे अन्यथा नहीं हो सकता। और हम चाहते भी नहीं कि बुरा कर्म करें और परमात्मा तो चाहेगा क्यों कि बुरा कर्म हो! फिर कौन हमें धक्के देता है और बलात बुरे कर्म करवा लेता है? फ्राम व्हेयर इ.ज ईविल? यह बुराई कहां से आती है?

अलग-अलग चिंतकों ने अलग-अलग उत्तर खोजे हैं जो बहुत गहरे नहीं गए, उन्होंने कहा, शैतान है, वह करवा लेता है। उत्तर खोजना जरूरी था, लेकिन यह कोई बहुत गहरा उत्तर नहीं है। वे कहते हैं, डेविल है, एक पापात्मा है, वह सब करवा लेती है। लेकिन यह उत्तर बहुत गहरा नहीं है, क्योंकि अर्जुन को अगर यह उत्तर दिया जाए, तो अर्जुन कहेगा, वह परमात्मा उस पापात्मा पर कुछ नहीं कर पाता? वह परमात्मा उस शैतान को कुछ नहीं कर पाता? तो क्या वह शैतान परमात्मा से भी ज्यादा शक्तिशाली है? और अगर शैतान परमात्मा से ज्यादा शक्तिशाली है, तो मुझे परमात्मा के चक्कर में क्यों उलझाते हो, मैं शैतान को ही नमस्कार करूं!

अनेक चिंतकों ने दूसरा एक तत्व खोजने की कोशिश की है। कि एक दूसरा भी है परमात्मा के अलावा, जो लोगों को पाप में धक्के दे रहा है। लेकिन यह उत्तर न तो मनोवैज्ञानिक है, न बहुत गहरा है। इससे तो केवल वे ही राजी हो सकते हैं, जो किसी भी चीज के लिए राजी हो सकते हैं। इस उत्तर से और कोई राजी नहीं हो सकता।

इसलिए कृष्ण ऐसा उत्तर नहीं देते हैं। कृष्ण बहुत मनोवैज्ञानिक उत्तर देते हैं। वे यह कहते हैं, प्रकृति के तीन गुण हैं, रजस, तमस और सत्व। उनका उत्तर बहुत वैज्ञानिक है। वे कहते हैं, प्रकृति त्रिगुणा है।

और मैं आपको यह कहूं कि यह तीन गुणों की बात जब कृष्ण ने कही थी, तब बड़े वैज्ञानिक आधार रखती थी। लेकिन कृष्ण के बाद पिछले पांच हजार सालों में जितने लोगों ने कही, उनको इसके विज्ञान का कुछ बोध नहीं था। दोहराते रहे। लेकिन अभी पश्चिम में पिछले बीस साल में विज्ञान ने फिर कहा कि प्रकृति त्रिगुणा है। जिस दिन हम आधुनिक सदी में परमाणु का विश्लेषण कर सके, परमाणु को तोड़ सके, उस दिन बड़े चकित होकर हमें पता चला कि परमाणु तीन हिस्सों में टूट जाता है। पदार्थ का जो अंतिम परमाणु है, वह तीन हिस्सों में टूट जाता है, इलेक्ट्रान, न्यूट्रान और प्रोटान में टूट जाता है। और वैज्ञानिक कहते हैं कि इन तीन के बिना

परमाणु नहीं बन सकता। और इन तीन के जो गुणधर्म हैं, वे वही गुणधर्म हैं, जो सत, रज और तम के हैं। ये तीन जो काम करते हैं, वे वही काम करते हैं, जो हम बहुत पुराने दिनों से सत, रज और तम शब्दों से लाते थे।

उसमें तमस जो है, इनरशिया, वह अवरोध का तत्व है, स्थिरता का तत्व है। अगर तमस न हो, तो जगत में कोई भी चीज स्थिर नहीं रह सकती। आप एक पत्थर उठाकर फेंकते हैं। अगर जगत में कोई तमस न हो, कोई ग्रेविटेशन न हो, रोकने वाली कोई ताकत, अवरोधक न हो, तो फिर पत्थर कभी भी गिरेगा नहीं। फिर आपने फेंक दिया, फेंक दिया; फिर वह चलता ही रहेगा, अनंत काल तक। फिर वह गिरेगा कैसे? कुछ अवरोध हो, कोई हो जो रोकता हो। आप भी पृथ्वी पर नहीं हो सकेंगे। कभी के हम उड़ गए होते। वह जमीन खींच रही है, तमस, ग्रेविटेशन का भार हमें रोके हुए है।

अभी जो अंतरिक्ष यात्री अंतरिक्ष यात्रा पर गए, उनकी बड़ी से बड़ी कठिनाइयों में एक कठिनाई यह है कि जैसे ही जमीन के ग्रेविटेशन के बाहर होते हैं दो सौ मील के पार, वैसे ही कशिश समाप्त हो जाती है, तो आदमी गुब्बारे जैसा हो जाता है, जैसे गैस भरा गुब्बारा उड़ने लगता है। तो अगर बेल्ट न बंधा हो कुर्सी से, तो आप यान की कुर्सी से तत्काल उठकर यान के टप्पर से गुब्बारे की तरह टकराने लगेंगे। फिर नीचे भी उतर नहीं सकते, कोई ताकत काम नहीं करती नीचे उतरने के लिए। चांद पर यही कठिनाई है, क्योंकि तमस चांद का कम है, आठ गुना कम है। इसलिए चांद पर अगर हम मकान बनाएंगे, तो चोर आठ गुना ऊंची छलांग लगा सकता है। फुटबाल को वहां चोट मारेगा खिलाड़ी, तो यहां जमीन पर जितनी ऊंची जाती है, उससे आठ गुनी ऊंची चली जाएगी।

यह जो तमस का अर्थ है इनरशिया, अवरोधक शक्ति। अब बड़े मजे की बात है कि अगर अवरोधक शक्ति न हो, तो गति भी असंभव है। गति भी इसीलिए संभव है कि अवरोधक शक्ति का उपयोग कर पाते हैं। आपकी कार में जैसे ब्रेक न हों, फिर गति भी संभव नहीं है, आप पक्का समझ लेना। फिर कार चलनी भी संभव नहीं है। इसका मतलब यह नहीं कि नहीं चल सकती। चल गई, बस एक ही दफा चल गई। उसमें वह ब्रेक भी चाहिए, जो अवरोधक है। एक्सीलेरेटर ही काफी नहीं है, उसमें अवरोधक... ।

जीवन एकदम विस्फोट हो जाए, अगर उसमें रोकने वाली ताकत न हो। इनरशिया, तमस जो है, वह रोकने वाली ताकत है। रजस जो है, वह गति की मूवमेंट की ताकत है। ये उलटी ताकते हैं। तमस रोकता, रजस गति देता। शक्ति है, एनर्जी है। सत्व तीसरा कोण है। जैसे कि हम एक ट्राएंगल बनाएं, दो कोण नीचे हों और एक ऊपर हो। सत्व इन दोनों के ऊपर है, कहें कि इन दोनों का बैलेंस है, संतुलन है। सत्व बैलेंसिंग है, वह संतुलन है। अगर गति भी हो, रोकने वाला भी हो, लेकिन संतुलन न हो... ।

जैसे एक कार है, उसमें एक्सीलेरेटर भी है और ब्रेक भी है, लेकिन ड्राइवर नहीं है। वह जो ड्राइवर है, वह पूरे वक्त बैलेंसिंग है। जब जरूरत होती है, तो ब्रेक पर पैर ले जाता है; जब जरूरत होती है, तो एक्सीलेरेटर पर पैर ले जाता है। वह पूरे वक्त बैलेंस कर रहा है। सत्व जो है, वह बैलेंसिंग है।

ये तीन तत्व हैं, जिनको भारत ने ऐसे नाम दिए थे। पश्चिम जिनको इलेक्ट्रान, प्रोटान, न्यूट्रान कहे, कोई और नाम दे, इससे कोई अंतर नहीं पड़ता। एक बात बहुत अनिवार्य रूप से सिद्ध हो गई है कि जीवन का अंतिम विश्लेषण तीन शक्तियों पर टूटता है। इसलिए हमने इन तीन शक्तियों को ये कई तरह से नाम दिए थे। जो लोग वैज्ञानिक ढंग से सोचते थे, उन्होंने रजस, तमस, सत्व ऐसे नाम दिए। जो लोग मेटाफोरिकल, काव्यात्मक ढंग से सोचते थे, उन्होंने कहा, ब्रह्मा, विष्णु, महेश। उनका भी काम वही है। वे तीन नाम भी यही काम करते हैं। उसमें ब्रह्मा सर्जक शक्ति हैं, विष्णु सस्टेनिंग, संभालने वाले और शिव विनाश करने वाले। उन तीन के बिना भी नहीं

हो सकता। ये जो इलेक्ट्रान, न्यूट्रान और प्रोटान हैं, ये भी ये तीन काम करते हैं। उसमें जो इलेक्ट्रान है, वह निगेटिव है। वह ठीक शिव जैसा है, निगेट करता है, तोड़ता है, नष्ट करता है। उसमें जो प्रोटान है, वह ब्रह्मा जैसा है, पाजिटिव है, इसलिए प्रोटान उसका नाम है। वह विधायक है, वह निर्माण करता है। और उसमें जो न्यूट्रान है, वह न निगेटिव है, न पाजिटिव है। वह सस्टेनिंग है, वह बीच में है, बैलेंसिंग है।

कृष्ण कहते हैं कि मनुष्य के भीतर--जो भी घटित होता है, बाहर और भीतर--वह इन तीन शक्तियों का खेल है। इन तीन शक्तियों के अनुसार सब घटित होता है। आदमी धकाया जाता, रोका जाता, जन्माया जाता, मरण को उपलब्ध होता, हंसी को उपलब्ध होता, रोने को उपलब्ध होता--वह इन सारी तीन शक्तियों का काम है। ये तीन शक्तियां अपना काम करती रहती हैं। ये परमात्मा के तीन रूप जीवन को सृजन देते रहते हैं।

अर्जुन पूछता है, फिर नहीं भी हम करना चाहते, फिर कौन करवा लेता है? आप तो चाहते हैं कि जमीन पर न गिरें, लेकिन जरा पैर फिसला कि गिर जाते हैं। कोई शैतान गिरा देता है? कोई शैतान नहीं गिरा देता; ग्रेविटेशन अपना काम करता है। आप नहीं गिरना चाहते, माना, स्वीकृत कि आप नहीं गिरना चाहते, लेकिन उलटे-सीधे चलेंगे, तो गिरेंगे। आप नहीं गिरना चाहते थे, तो भी गिरेंगे। पैर पर पलस्तर लगेगा। आप डाक्टर से कहेंगे, मैं नहीं गिरना चाहता था और परमात्मा तो टांग तोड़ता नहीं किसी की, क्यों तोड़ेगा? इतना बुरा तो नहीं हो सकता कि अकारण मुझ भले आदमी की, जो गिरना भी नहीं चाहता, उसकी टांग तोड़ दे। लेकिन मेरी टांग क्यों टूट गई? तो डाक्टर वही उत्तर देगा, जो कृष्ण ने दिया। डाक्टर कहेगा, ग्रेविटेशन की वजह से। जमीन में गुरुत्वाकर्षण है, आप कृपा करके सम्हलकर चलें। उलटे-सीधे चलेंगे, तो ग्रेविटेशन टांग तोड़ देगी। क्योंकि प्रत्येक शक्ति अगर हम उसके अनुकूल न चलें, तो नुकसान पहुंचाने वाली हो जाती है। अगर अनुकूल चलें, तो नुकसान पहुंचाने वाली नहीं होती।

प्रत्येक शक्ति का उपयोग अनुकूल और प्रतिकूल हो सकता है। अब मनुष्य के भीतर कौन-सी शक्तियां हैं, जो उसे बलात--जैसे कि एक आदमी नहीं गिरना चाहता है और गिर जाता है और टांग टूट जाती है। और एक आदमी क्रोध नहीं करना चाहता है और क्रोध हो जाता है और खोपड़ी खुल जाती है। या दूसरे की खुल जाती है या खुद की खुल जाती है। क्या, कौन कर जाता है यह सब? परमात्मा? परमात्मा को क्या प्रयोजन है! और परमात्मा ऐसे काम करे, तो परमात्मा हम उसे कैसे कहेंगे? कोई कहेगा, शैतान। कृष्ण नहीं कहते। कृष्ण कहते हैं, सिर्फ जीवन की शक्तियां काम कर रही हैं।

मनुष्य के भीतर क्रोध है। वह भी अनिवार्य तत्व है। कहें कि वह हमारे भीतर निगेटिव फोर्स है, क्रोध विनाश की शक्ति है हमारे भीतर। प्रेम हमारे भीतर निर्माण की शक्ति है। और विवेक हमारे भीतर बैलेंसिंग फोर्स है। जो आदमी विवेक को छोड़कर सारी शक्ति क्रोध में लगा देगा, वह बलात नर्क की तरफ चलने लगेगा; नहीं चाहेगा, तो भी जाएगा। जो सारी शक्ति प्रेम की ओर लगा देगा, वह बलात स्वर्ग की ओर जाने लगेगा, चाहे चाहे और चाहे न चाहे। उसके जीवन में सुख उतरने लगेगा। और जो आदमी बैलेंस कर लेगा और समझ लेगा कि दुख और सुख और दोनों के बीच में अलग, वह आदमी मुक्ति और मोक्ष की दिशा में यात्रा कर जाएगा।

इसलिए हमारे पास तीन शब्द और समझ लेने जैसे हैं, स्वर्ग, नर्क और मोक्ष। स्वर्ग में वह जाता है, जो अपने भीतर की विधायक शक्तियों के अनुकूल चलता है। नर्क में वह जाता है, जो अपने भीतर विनाशक शक्तियों के अनुकूल चलता है। मोक्ष में वह जाता है, जो दोनों के अनुकूल नहीं चलता है; दोनों को संतुलित करके दोनों को ट्रांसेंड कर जाता है, परे हो जाता है, अतीत हो जाता है।

कृष्ण कह रहे हैं, शक्तियां हैं और इन तीन शक्तियों के बिना जीवन नहीं हो सकता है। इसलिए अर्जुन, कौन तुझे धक्का देता है, ऐसा मत पूछ। यह समझ कि धक्का तेरे भीतर से कैसे निर्मित होता है। क्रोध, काम, अहंकार, अगर उनके प्रति तू अतिशय से झुक जाता है, तो जो तू नहीं चाहता वह तुझे करना पड़ता है।

कभी आपने देखा, कामवासना मन को पकड़ ले--ऐसा कहना ठीक नहीं है कि कामवासना मन को पकड़ ले, कहना यही ठीक होगा कि जब आप कामवासना को मन को पकड़ लेने देते हैं, आप जब पकड़ लेने देते हैं... । और ध्यान रहे, कामवासना आपके बिना पकड़ाए आपको नहीं पकड़ती है।

हां, एक सीमा होती है हर चीज की, उसके पार मुश्किल हो जाता है रोकना। एक सीमा होती है। जगह-जगह हमने कार की ट्रैफिक पर लिखा हुआ है कि यहां पांच मील रफ्तार। क्यों? क्योंकि वहां इतने ज्यादा लोग गुजर रहे हैं कि अगर तीस मील रफ्तार हो, तो रोकना समय पर मुश्किल है। पांच मील हो, तो समय पर रोकना आसान है। जहां लोग कम गुजर रहे हैं, वहां सत्तर मील भी हो, तो कोई हर्ज नहीं। वहां समय पर सत्तर मील भी रोकना आसान है। हर चीज की एक सीमा है।

फ्रायड, सिग्मंड फ्रायड एक कहानी कहा करता था। वह कहा करता था कि एक छोटे-से गांव में एक गरीब म्युनिसिपल कमेटी ने गांव का कचरा ढोने के लिए एक घोड़ा खरीदा, एक घोड़ागाड़ी के लिए। लेकिन गरीब थी म्युनिसिपैलिटी और कहते हैं, गांव बड़ा बुद्धिमान था। बुद्धिमान था, ऐसा कहें; या लोगों में ऐसी मजाक प्रचलित थी कि गांव बहुत बुद्धिमान है, गांव को ऐसा ख्याल था कि बहुत बुद्धिमान है। हालांकि वह जो भी करता था, वह बहुत बुद्धिहीनता के काम होते थे। म्युनिसिपल ने एक घोड़ा खरीदा। लेकिन घोड़े को घास, दाना, पानी इतना महंगा पड़ने लगा कि म्युनिसिपल के बजट पर भारी हुआ। गरीब, छोटी-सी म्युनिसिपल थी। कमेटी बुलाई गई। उन्होंने तय किया कि क्या किया जाए! उन्होंने कहा कि आधा राशन करके देखा जाए घोड़े के लिए। अगर आधे में काम चल जाए तो ठीक, नहीं फिर थोड़ा बढ़ा देंगे।

आधा राशन किया, लेकिन काम बिल्कुल ठीक चल गया। घोड़ा आधे राशन पर भी जिंदा रहा। तब तो उन्होंने कहा कि हम पागल हैं, जो इसको इतना दें। और आधा करके देखें। उन्होंने और आधा किया। घोड़ा फिर भी जिंदा रहा और फिर भी काम करता रहा! उन्होंने कहा, हम बिल्कुल पागल हैं। इसे और आधा करें। और भी आधा कर दिया। घोड़ा मुश्किल में रहा, लेकिन फिर भी किसी तरह काम करता रहा। म्युनिसिपल कमेटी ने कहा कि हम बिल्कुल नासमझी कर रहे हैं, अब राशन बिल्कुल बंद कर दें। राशन बिल्कुल बंद कर दिया। जो होना था, वही हुआ। घोड़ा मर गया। एक सीमा थी, जहां तक घोड़ा कम राशन पर भी काम किया; फिर एक सीमा आई, जहां से काम नहीं कर सका।

हमारी प्रत्येक वृत्ति की सीमाएं हैं, जहां तक हम उन्हें रोक सकते हैं, और जहां से फिर हम उन्हें नहीं रोक सकते। एक विचार मेरे मन में उठा, शब्द बना मेरे भीतर। अभी मैं आपको न कहूं, तो रोक सकता हूं। फिर मेरे मुंह से शब्द निकल गया; अब इस शब्द को वापस नहीं ला सकता। एक सीमा थी, एक जगह थी; मेरे भीतर विचार भी था, शब्द भी था, ओंठ पर भी आ गया था, फिर भी मैं रोक सकता हूं। फिर एक सीमा के बाहर बात हो गई, मैंने आपसे बोल दिया, अब मैं इसे वापस नहीं लौटा सकता। अब कोई उपाय इसे वापस लौटाने का नहीं है। एक जगह थी, जहां से यह वापस लौट जाता।

क्रोध, एक जगह है, जहां से वापस लौट सकता है। लेकिन जब उस जगह के बाहर निकल जाता है, उसके बाद वापस नहीं लौटता। काम, एक जगह है, जहां से वापस लौट सकता है। जब उसके आगे चला जाता है, तो फिर वापस नहीं लौट सकता। और ध्यान रहे, बड़े मजे की बात यह है कि उस सीमा तक, जहां तक काम वापस

लौट सकता है, उस समय तक आप उसको सहयोग देते हैं। और जब वह वापस नहीं लौटता, तब आप चिल्लाते हैं कि कौन मुझे धकाए जा रहा है परवश! कौन मुझे बलात काम करवा रहा है!

इसे ठीक से भीतर समझेंगे, तो ख्याल में आ जाएगा। एक जगह है, जहां तक हर वृत्ति आपके हाथ में होती है। लेकिन जब आप उसे इतना उकसाते हैं कि आप का पूरा शरीर और पूरा यंत्र उसको पकड़ लेता है, फिर आपकी बुद्धि के बाहर हो जाता है। फिर आप कहते हैं कि नहीं-नहीं। और फिर भी घटना घटकर रहती है। तब आप कहते हैं, कौन बलात करवाए चला जाता है, जब कि हम नहीं करते हैं! कोई नहीं करवाता, शक्तियां करती हैं। लेकिन करवाने का अंतिम निर्णय गहरे में आपका ही कोआपरेशन है, आपका ही सहयोग है।

कृष्ण इतना ही कह रहे हैं कि कोई बैठा नहीं है पार, तुम्हें क्रोध में, काम में, युद्ध में, लड़ाई-झगड़े में ले जाने को। प्रकृति के नियम हैं। अगर उन नियमों को तुम समझ लेते हो और समता को, संतुलन को उपलब्ध होते हो; अनासक्ति को, साक्षीभाव को उपलब्ध होते हो; विवेक को, श्रद्धा को उपलब्ध होते हो, तो फिर तुम्हें कोई फिक्र करने की जरूरत नहीं है, फिर जो भी होगा परमात्मा पर। लेकिन जब तक तुम ऐसी समता को और अनासक्ति को उपलब्ध नहीं होते, भीतर तुम आसक्ति को पालते चले जाते हो, बारूद में चिनगारी डालते चले जाते हो, फिर जब आग भड़ककर मकान को पकड़ लेती है, तब तुम कहते हो, मैं तो चाहता नहीं था कि आग लगे, लेकिन यह आग लग गई है। बारूद का नियम है, धर्म है, वह आग लगा देगी। तुमने चिनगारी फेंकी, चिनगारी का धर्म है कि वह आग पकड़ा देगी। और जब बारूद भड़क उठेगी, तब तुम छाती पीटोगे और चिल्लाओगे कि यह तो मैं नहीं चाहता था।

कभी आपने देखा, एक आदमी हत्या कर देता है... दोस्तोवस्की का एक बहुत कीमती उपन्यास है, क्राइम एंड पनिशमेंट। उसमें रोसकोलनिकोव नाम का एक पात्र है। वह रोज अपने सामने उसकी मकान मालकिन जो है, उसके मकान की बुढ़िया जो मालकिन है--वह कोई सत्तर साल की बूढ़ी औरत है--वह गिरवी रखने का काम करती है और लोगों से खींचकर ब्याज चूसती है। मरने के करीब है, लेकिन रत्तीभर दया नहीं करती। कोई नहीं है उसका; बहुत धन है। तो रोसकोलनिकोव--एक विद्यार्थी है--वह देखता रहता अपनी खिड़की से। गरीब आदमी गिड़गिड़ाते हैं, रोते हैं, चिल्लाते हैं, लेकिन कुछ भी नहीं। उनके कपड़े भी उतरवा लिए जाते हैं; कोई दया नहीं, कोई ममता नहीं। कई बार उसके मन में होता है, इस बुढ़िया को कोई मार क्यों नहीं डालता? इसके होने की कोई जरूरत ही क्या है? यह मर भी जाए, तो हर्ज क्या है? यह मर जाए, तो सैकड़ों लोग जो उसके चक्कर में फंसे हैं, वे मुक्त हो जाएं।

गरीब किसान, गरीब मजदूर, गरीब लोग, विधवा औरतें, बीमार आदमी, वे सब उससे ब्याज पर रुपया ले लेते हैं। फिर वह कभी चुकता नहीं। उनकी चीजें भी चुक जाती हैं और उन पर अदालत में मुकदमे भी चलते हैं, सजाएं भी हो जाती हैं। रोज यही काम। वह कई बार सोचता है, कोई इसकी गरदन क्यों नहीं दबा देता! और बहुत बार उसके हाथ खुद भिंच जाते हैं कि गरदन दबा दूं। फिर वह सोचता है कि मुझे क्या मतलब? और मैं क्यों दबाऊं? और मेरा क्या बिगाड़ा है? फिर वह बात भूल जाता है। फिर ऐसे वर्षों चलता रहा।

फिर एक दिन उसे भी फीस भरनी है और घर से पैसे नहीं आए। तो वह अपनी घड़ी रखने उस बुढ़िया के पास गया। सांझ का वक्त है, उसने घड़ी बुढ़िया को दी। बुढ़िया ठीक से देख नहीं सकती, सत्तर साल उसकी उम्र है। वह खिड़की के पास घड़ी को ले जाकर देखती है रोशनी में कि ठीक है या नहीं; कितने पैसे दिए जा सकते हैं। अचानक बस रोसकोलनिकोव को क्या हुआ कि उसने जाकर उसकी गरदन दबा दी। उसे पता ही नहीं चला, कब यह हुआ। गरदन जब दब गई और जब उसके हाथ में उसकी नसें उभर आईं, और खून उसके मुंह से गिरने

लगा, तब वह घबड़ाया कि यह मैंने क्या कर दिया! वह बुढ़िया नीचे गिर पड़ी। तब उसे पता चला, यह तो मैंने हत्या कर दी! तब वह भागा। और तब वह रातभर अपने बिस्तर में सोचता है कि मैं उसकी हत्या कैसे कर दिया! परवश। जो अर्जुन कह रहा है कि जैसे बलात कोई धक्का दे... । तो वह कहता है, कौन मेरे ऊपर सवार हो गया! कोई भूत, कोई प्रेत! क्या हुआ? मैंने हत्या क्यों कर दी? किसने मुझसे हत्या करवा दी? यह कौन शैतान मेरे पीछे पड़ा है?

कोई उसके पीछे नहीं पड़ा है। दो साल तक उसने सोचा, तैयारी की। दो साल तक उसने शक्तियों को रस दिया, दो साल तक हाथ भींचे, दो साल तक मन में क्रोध का जहर फैलाया। वह सब तैयार हो गया।

बीज बोते वक्त किसको पता चलता है कि वृक्ष निकलेगा? बीज बोते वक्त किसको पता चलता है कि इतना बड़ा वृक्ष पैदा होगा? फिर बलात वृक्ष पैदा हो जाता है। और बीज हम ही बोते हैं। बीज छोटा होता है, दिखाई भी नहीं पड़ता है। मन में क्रोध के बीज बोते हैं, काम के बीज बोते हैं, फिर शक्तियां पकड़ लेती हैं। फिर वे तीन शक्तियां अपना काम शुरू कर देती हैं। आपने बीज बोया, जमीन काम शुरू कर देती है, पानी काम शुरू कर देता है, रोशनी काम शुरू कर देती है। सूरज की किरणें आकर बीज को बड़ा करने लगती हैं।

आप हैरान होंगे कि जमीन बहुत कम काम करती है। अभी एक वैज्ञानिक ने प्रयोग किया; नाप-तौलकर प्रयोग किया। एक बट वृक्ष को लगाया एक गमले में, बड़े गमले में, नाप-तौलकर बिल्कुल। इतनी मिट्टी, इतना गमले का वजन, इतने वृक्ष के बीज का वजन, सब नाप-तौलकर लगाया। फिर वृक्ष बहुत बड़ा हो गया। फिर उसने वृक्ष पूरा का पूरा निकाल लिया और फिर नापा। तो जितना कोई दो सौ सेर का गमला उसने रखा था, उसमें केवल चार सेर की कमी हुई। चार सेर कुल! और वृक्ष को नापा-तौला, तो वह तो कोई दो सौ अस्सी सेर निकला वृक्ष। और कुल चार सेर की कमी हुई मिट्टी में। और उस वैज्ञानिक का ख्याल है कि वे चार सेर भी वृक्ष ने नहीं लिए। वह भी, हवा भी आती है, तूफान भी आता है, मिट्टी उड़ भी जाती है; पानी में बह भी जाती है। चार सेर! इतना बड़ा वृक्ष कहां से आ गया? सूरज भी दे रहा है, हवाएं भी दे रही हैं, पानी भी दे रहा है, जमीन भी दे रही है, चारों तरफ से पूरा कास्मास उसको दे रहा है।

एक छोटे-से बीज को आपने बो दिया, फिर सारी दुनिया की ताकत उसको दे रही है और वह बड़ा हो रहा है। आपने इधर क्रोध का बीज बोया, सारी दुनिया से क्रोध को साथ देने वाली ताकतें--तमस की, इनरशिया की ताकतें--आपकी तरफ बहनी शुरू हो जाएंगी। आपने प्रेम बोया, सारी तरफ से दुनिया से शुभ शक्तियां आपकी तरफ बहनी शुरू हो जाएंगी। आपने साक्षीभाव निर्मित किया, दुनिया की सारी ताकतें आपके लिए बैलेंस में हो जाएंगी। कोई आपकी तरफ नहीं बहेगा, कोई आपके बाहर नहीं बहेगा; सब चीजें सम हो जाएंगी; ठहर जाएंगी।

कृष्ण कहते हैं, न तो कोई शैतान, न कोई परमात्मा; ये तीन शक्तियां हैं अर्जुन। और तू जिसका बीज बो देता है अपने भीतर, वही शक्ति सक्रिय होकर काम करने लगती है।

प्रश्नः भगवान श्री, तीनों गुणों से चलने वाली सृष्टि ईश्वर ने बनाई। तमस गुण मनुष्य की प्रकृति में ईश्वर ने दिया, उसके पीछे क्या उद्देश्य ईश्वर का है?

ईश्वर का कोई उद्देश्य नहीं होता। उद्देश्य की भाषा सदा मनुष्य की है। उद्देश्य तो उसका होता है, जिसे भविष्य में कुछ पाना हो। जैसे एक आदमी, एक कुम्हार एक घड़ा बनाता है। उसका उद्देश्य होता है कि बाजार

में बेचना है या उसका उद्देश्य होता है कि घर का पानी भरना। फिर एक वानगाग चित्र बनाता है। वानगाग से कोई पूछता है कि यह चित्र तुमने किस उद्देश्य से बनाया है? तो वह कहता है, कोई उद्देश्य नहीं है। बनाना ही मेरा आनंद है। आप कहेंगे, बाजार में बिक सकता है। वानगाग का एक चित्र नहीं बिका, एक चित्र जिंदा रहते नहीं बिका। आप कह सकते हैं कि कोई प्रतिष्ठा मिलती होगी, कोई सम्मान करता होगा कि बड़े चित्रकार हो। किसी ने प्रतिष्ठा नहीं की, किसी ने सम्मान नहीं किया। आप कहते होंगे कि बड़ा धन वाला आदमी रहा होगा, पैसा पास में रहा होगा, फुर्सत रही होगी, तो कुछ न कुछ करता रहा होगा। नहीं, वानगाग बहुत गरीब आदमी था। और उसका भाई उसे इतना ही पैसा देता था, जिसमें सात दिन की सिर्फ रोटी चल जाए रूखी-सूखी। न रंग के लिए पैसे, न कागज के लिए, न कैनवास के लिए। तो वह सप्ताह में चार दिन खाना खाता और तीन दिन उपवास करता। और तीन दिन में उपवास में जो बच जाए, उससे पेंट करता। और जब उससे कोई पूछता, किसलिए? तो वह कहता, बस, बना लेने में आनंद है।

परमात्मा उद्देश्य से जगत को नहीं बना रहा है; बना लेने में आनंद है; बनाना ही आनंद है। आगे-पीछे कुछ भी उद्देश्य नहीं, परपजलेस। और ध्यान रहे, आनंद हमेशा ही परपजलेस होता है। एक मां अपने बेटे को बड़ा कर रही है, उससे पूछें, किसलिए? अगर वह कहे कि बाद में नौकरी करवानी है, तो समझना मां नहीं है, कोई फैक्टरी है। अगर मां है, तो वह कहेगी, किसलिए? कैसा गलत सवाल पूछते हो! बस, मेरा आनंद है।

परमात्मा के लिए सृष्टि आनंद है, उसका आनंद-कृत्य है; इसलिए उद्देश्य तो कोई नहीं है। हां, लेकिन यह सवाल फिर भी संगत है कि वह आदमी में तमस क्यों रखता है?

असल में हम तमस शब्द को सदा ही गलत अर्थों में लेते रहे हैं। हम समझते हैं, तमस कोई बुरी चीज है। तमस बुरी नहीं है, तमस अपने आप में बुरी चीज नहीं है। हां, तमस में ही पूरी तरह भर जाना बुरा है। तमस अपने आप में बुरा नहीं है, जहर भी अपने आप में बुरा नहीं है; और कभी तो बीमारी में दवा का काम करता है। हम कहें कि जहर क्यों बनाया परमात्मा ने! एक आदमी जहर खाकर मर जाए। आप कहेंगे कि जिम्मेदार परमात्मा है। जहर क्यों बनाया? न बनाता परमात्मा, न यह आदमी खाता।

लेकिन जहर अपने आप में किसी को मारता नहीं। जहर तो जिला भी सकता है। लेकिन इस आदमी ने जहर ही जहर खा लिया, तो मर गया। अमृत भी खा लो ज्यादा मात्रा में, तो मौत घटित हो सकती है। अमृत भी मात्रा में ही खाना, अगर मिल जाए! एक तो मिलता नहीं, क्योंकि डर यही है कि जहर तो बहुत कम लोग खाते हैं, अमृत अगर मिल जाए, तो बिना मात्रा में बहुत लोग खा जाएंगे। शायद इसीलिए नहीं मिलता है! क्योंकि रोकेंगे कैसे फिर अमृत मिल जाए, तो आप अपने को कि अब कहां रुकें, खाते ही चले जाएंगे। अमृत से मौत आ जाएगी।

जीवन में नियम हैं। कोई नियम बुरा नहीं, कोई नियम भला नहीं, अनिवार्य हैं। बिना तमस के, बिना इनरशिया के जगत अस्तित्व में नहीं हो सकता। उसके अस्तित्व में होने के लिए कोई अवरोधक शक्ति चाहिए। लेकिन अगर कोई आदमी सिर्फ अवरोधक शक्ति पर ही निर्भर रह जाए, तो भी खतरा हो जाएगा, क्योंकि दूसरी दो शक्तियां भी चाहिए। और श्रेष्ठतम स्वास्थ्य की स्थिति वह है, जहां तीनों शक्तियां बैलेंस करती हैं, संतुलित होती हैं। उसी क्षण में आदमी तीनों के बाहर निकल जाता है और परमात्मा को अनुभव कर पाता है। जब तक आदमी इधर-उधर डोलता है... ।

कभी आपने देखा है नट को, रस्सी पर चलता है, कभी थिर नहीं रहता। आप कहें कि थिर क्यों नहीं रहता? थिर रहे--थिर रहे, तो फौरन गिरे और मर जाए। थिर क्यों नहीं रहता है नट? नट पूरे वक्त बैलेंस करता

रहता है। और जब आपको दिखता है, अब बाएं झुक रहा है, तो आप गलती में मत पड़ जाना। बाएं झुकता ही तब है, जब दाएं गिरने का डर पैदा होता है। दाएं तब झुकता है, जब बाएं गिरने का डर पैदा होता है। वह बैलेंस कर रहा है पूरे वक्त। जब दाएं गिरने का डर पैदा होता है, वह वजन को बाएं ले जाता है, ताकि बैलेंस हो जाए। जब दाएं से बच जाता है, बाएं गिरने का डर पैदा होता है, तब उलटी तरफ बैलेंस ले जाता है कि बच जाए। और प्रकृति नीचे काम कर रही है। नट अगर बैलेंस न करे, तो जमीन पर गिरे, हड्डी-पसली टूट जाए। फिर प्रकृति से यह नहीं कह सकता कि तूने मेरी हड्डी-पसली तोड़ी! प्रकृति कहेगी, हमें कोई मतलब नहीं; तुम अपनी रस्सी पर बैलेंस करते रहो, हमें कोई मतलब नहीं।

ये तीन जो गुण हैं, इनमें जो बैलेंस कर लेता है, वह व्यक्ति धर्म को उपलब्ध हो जाता है। नहीं बैलेंस कर पाता, तो गिरता है, हड्डी-पसली टूट जाती है। फिर हम कहते हैं, किसने बलात गिरा दिया! किसी ने नहीं गिराया, आप बैलेंस नहीं कर पाए।

कृष्ण का पूरा योग समतायोग है, दि योग आफ बैलेंस। बस, नट की तरह पूरे वक्त जिंदगी एक बैलेंस है, एक संतुलन है; सदा, सदा संतुलन है। ज्यादा खा लिया, तो उपवास करो; ज्यादा उपवास कर लिया, तो ग्लूकोस के इंजेक्शन लो! बस, बैलेंस पूरे वक्त। पूरे समय जिंदगी एक बहुत बारीक संतुलन है, डेलिकेट बैलेंस है। उसमें जरा इधर-उधर हुए कि आप गए। प्रकृति अपना काम करती रहेगी। वह नीचे खड़ी है। वह कह रही है कि नट, जब तक तुम बैलेंस करो, रहो ऊपर; जब न कर पाओ, नीचे आ जाओ। हम तैयार हैं।

अनिवार्य तत्व हैं तीन, उससे कम नहीं हो सकते। तीन के बिना सृष्टि खो जाएगी, इसलिए वे हैं। लेकिन तमस में आप गिरें, इसलिए नहीं। आप तमस के द्वारा रजस को साधते रहें। जब तमस बढ़ जाए, तो रजस की तरफ झुक जाएं। जब रजस बढ़ जाए, तो तमस की तरफ झुक जाएं। दोनों को साधते रहें। और जब दोनों बिल्कुल सध जाएं, तो आपकी वर्टिकल यात्रा सत्व की तरफ शुरू होगी। फिर तीनों के बीच साधना पड़ेगा। वह और भी गहरी कीमिया है। दो के बीच साधना बहुत आसान है। दो के बीच साधेंगे, तो सत्व में उठ जाएंगे।

साधु उसे कहते हैं, जो सत्व में पहुंच गया है, जिसने दो को साध लिया। जो तमस और रजस के बीच संतुलित हो गया, उसका नाम साधु है। जो रजस, तमस और सत्व तीनों के बीच सध गया, उसका नाम संत है। वह बहुत अलग बात है। जब तीनों के बीच कोई साधता है, तो सेंटर पर पहुंच जाता है ट्राएंगल के। वह सेंटर ही द्वार है ट्राएंगल का। तीन शक्तियों के बीच में वह स्पेस है, खाली जगह है, जहां से व्यक्ति परमात्मा में, ब्रह्म में प्रवेश कर जाता है।

लेकिन यह धीरे-धीरे हम बात करेंगे, तो ख्याल में आएगी। पहले साधु बनें, दो के बीच साधें। फिर संत बनें, तीन के बीच साधें। और जिस दिन तीन के बीच सधा, उस दिन बनना बंद हो जाता है, उसी दिन परमात्मा में प्रवेश हो जाता है। उस दिन प्रकृति के तीनों गुणों के बाहर आदमी हो जाता है।

इसलिए प्रकृति है त्रिगुणा और परमात्मा है त्रिगुणातीत, वह तीनों के बाहर है।

शेष कल बात करेंगे।

दसवां प्रवचन

वासना की धूल, चेतना का दर्पण

धूमेनाव्रियते वह्निर्यथादर्शो मलेन च।
यथोल्बेनावृतो गर्भस्तथा तेनेदमावृतम्।। 38।।
आवृतं ज्ञानमेतेन ज्ञानिनो नित्यवैरिणा।
कामरूपेण कौन्तेय दुष्पूरेणानलेन च।। 39।।

जैसे धुएं से अग्नि और मल से दर्पण ढंक जाता है (तथा) जैसे स्निग्ध झिल्ली से गर्भ ढंका हुआ है, वैसे ही उस काम के द्वारा यह ज्ञान ढंका हुआ है।

और हे अर्जुन! इस अग्नि (सदृश) न पूर्ण होने वाले कामरूप ज्ञानियों के नित्य वैरी से ज्ञान ढंका हुआ है।

कृष्ण ने कहा है, जैसे धुएं से अग्नि ढंकी हो, ऐसे ही काम से ज्ञान ढंका है। जैसे बीज अपनी खोल से ढंका होता है, ऐसे ही मनुष्य की चेतना उसकी वासना से ढंकी होती है। जैसे गर्भ झिल्ली में बंद और ढंका होता है, ऐसे ही मनुष्य की आत्मा उसकी कामना से ढंकी होती है। इस सूत्र को ठीक से समझ लेना उपयोगी है।

पहले तो यह समझ लेना जरूरी है कि ज्ञान स्वभाव है--मौजूद, अभी और यहीं। ज्ञान कोई उपलब्धि नहीं है, कोई एचीवमेंट नहीं है। ज्ञान कोई ऐसी बात नहीं है, जो आज हमारे पास नहीं है और कल हम पा लेंगे। क्योंकि अध्यात्म मानता है कि जो हमारे पास नहीं है, उसे हम कभी नहीं पा सकेंगे। अध्यात्म की समझ है कि जो हमारे पास है, हम केवल उसे ही पा सकते हैं। यह बड़ी उलटी बात मालूम पड़ती है। जो हमारे पास है, उसे ही हम केवल पा सकते हैं; और जो हमारे पास नहीं है, हम उसे कभी भी नहीं पा सकते हैं। इसे ऐसा कहें कि जो हम हैं, अंततः वही हमें मिलता है; और जो हम नहीं हैं, हमारे लाख उपाय, दौड़-धूप हमें वहां नहीं पहुंचाते, वह नहीं उपलब्ध होता, जो हम नहीं हैं।

बुद्ध को जिस दिन ज्ञान हुआ, लोग उनके पास आए और उन्होंने पूछा, आपको क्या मिला? तो बुद्ध ने कहा, यह मत पूछो; यह पूछो कि मैंने क्या खोया! वे लोग हैरान हुए; उन्होंने कहा, इतनी तपश्चर्या, इतनी साधना, इतनी खोज क्या खोने के लिए करते थे या पाने के लिए? बुद्ध ने कहा, कोशिश तो पाने के लिए की थी, लेकिन अब जब पाया, तो कहता हूं कि सिर्फ खोया, पाया कुछ भी नहीं। नहीं उनकी समझ में आया होगा। उन्होंने कहा, हमें ठीक से समझाएं! तो बुद्ध ने कहा, वही पाया जो मुझे मिला ही हुआ था; और सिर्फ वही खोया, जो मेरे पास था ही नहीं, लेकिन मुझे मालूम पड़ता था कि मेरे पास है। जो नहीं था, उसे खो दिया है; और जो था, उसे पा लिया है।

जैसे धुएं में आग ढंकी हो, तो आग पाना नहीं होती; केवल धुआं अलग हो जाए, तो आग प्रकट हो जाती है। जैसे सूरज बदलियों से ढंका हो, तो सूरज पाना नहीं होता; सिर्फ बदलियां हट जाएं, तो सूरज प्रकट हो जाता है। जैसे बीज ढंका है, वृक्ष पाना नहीं है। वृक्ष बीज में है ही, अप्रकट है, छिपा है, कल प्रकट हो जाएगा। ऐसे ही ज्ञान सिर्फ अप्रकट है, कल प्रकट हो जाएगा।

इसके दो अर्थ हैं। इसका एक अर्थ तो यह है कि अज्ञानी भी उतने ही ज्ञान से भरा है, जितना परमज्ञानी। फर्क अज्ञानी और ज्ञानी में अगर हम ठीक से समझें, तो अज्ञानी के पास ज्ञानी से कुछ थोड़ा ज्यादा होता है, धुआं ज्यादा होता है। आग तो उतनी ही होती है, जितनी ज्ञानी के पास होती है; अज्ञानी के पास कुछ और ज्यादा भी होता है, धुआं भी होता है। सूरज तो उतना ही होता है जितना ज्ञानी के पास होता है; अज्ञानी के पास काली बदलियां भी होती हैं। अगर इस तरह सोचें, तो अज्ञानी के पास ज्ञानी से कुछ ज्यादा होता है। और जिस दिन ज्ञान उपलब्ध होता है, उस दिन यह जो ज्यादा है, यही खोता है, यही आवरण टूटकर गिर जाता है। और जो भीतर छिपा है, वह प्रकट हो जाता है।

तो पहली बात तो यह समझ लेनी जरूरी है कि अज्ञानी से अज्ञानी मनुष्य के भीतर ज्ञान पूरी तरह मौजूद है; अंधेरे से अंधेरे में भी, गहन अंधकार में भी परमात्मा पूरी तरह मौजूद है। कोई कितना ही भटक गया हो, कितना ही भटक जाए, तो भी ज्ञान से नहीं भटक सकता, वह उसके भीतर मौजूद है। हम कहीं भी चले जाएं और हम कैसे भी पापी हो जाएं और कितने भी अज्ञानी और कितना ही अंधेरा और जिंदगी कितने ही धुएं में घिर जाए, तो भी हमारे भीतर जो है, वह नहीं खोता है। उसके खोने का कोई उपाय नहीं है।

लोग मेरे पास आते हैं और पूछते हैं कि ईश्वर को खोजना है! तो उनसे मैं पूछता हूं, तुमने खोया कब? इसका मुझे सब हिसाब-किताब दे दो, तो मैं तुम्हें खोजने का रास्ता भी बता दूं। ईश्वर ऐसे तत्व का नाम है, जिसे हम खोना भी चाहें, तो नहीं खो सकते हैं। खोने का जिसे उपाय ही नहीं है, उसका नाम स्वभाव है, उसका नाम स्वरूप है। आग उत्ताप नहीं खो सकती, वह उसका स्वभाव है। मनुष्य ज्ञान नहीं खो सकता, यह उसका स्वभाव है। लेकिन फिर भी अज्ञान तो है। तो अज्ञान को हम क्या समझें?

अज्ञान से दो मतलब हो सकते हैं। ज्ञान का अभाव मतलब हो सकता है अज्ञान से, एब्सेंस आफ नोइंग। कृष्ण का यह मतलब नहीं है। अज्ञान ज्ञान का अभाव नहीं है, अज्ञान ज्ञान का ढंका होना है। अज्ञान ज्ञान का अभाव नहीं है, अज्ञान सिर्फ ज्ञान का अप्रकट होना है। यह भी बहुत मजे की बात है कि धुआं वहीं प्रकट हो सकता है, जहां आग हो। धुआं वहां प्रकट नहीं हो सकता, जहां आग न हो। अज्ञान भी वहीं प्रकट हो सकता है, जहां ज्ञान हो। अज्ञान भी वहां प्रकट नहीं हो सकता, जहां ज्ञान न हो। इसलिए तर्कशास्त्री से अगर पूछेंगे, नैयायिक से अगर पूछेंगे, तो वह कहेगा, जहां-जहां धुआं है, वहां-वहां आग है। हम धुआं देखकर ही कह देते हैं कि आग जरूर होगी।

दूसरी मजे की बात यह है कि धुआं तो बिना आग के कभी नहीं होता, लेकिन आग कभी बिना धुएं के हो सकती है, होती है। असल में धुएं का संबंध आग से इतना ही है कि आग बिना ईंधन के नहीं होती। और ईंधन अगर गीला है, तो धुआं होता है; और ईंधन अगर सूखा है, तो धुआं नहीं होता। लेकिन धुआं बिना आग के नहीं हो सकता, ईंधन कितना ही गीला हो। ईंधन अगर सूखा हो, तो आग बिना धुएं के हो सकती है, दमकता हुआ अंगारा बिल्कुल बिना धुएं के होता है।

अज्ञान के अस्तित्व के लिए पीछे ज्ञान जरूरी है, इसलिए अज्ञान ज्ञान का अभाव नहीं है, एब्सेंस नहीं है, अनुपस्थिति नहीं है। अज्ञान भी बताता है कि भीतर ज्ञान मौजूद है। अन्यथा अज्ञान भी संभव नहीं है, अज्ञान भी नहीं हो सकता है। अज्ञान सिर्फ आवरण की खबर देता है। और आवरण सदा उसकी भी खबर देता है, जो भीतर मौजूद है। बीज सिर्फ आवरण की खबर देता है, अंडे के ऊपर की खोल सिर्फ आवरण की खबर देती है। साथ में यह भी खबर देती है कि भीतर वह भी मौजूद है, जो आवरण नहीं है।

इसलिए अज्ञानी को हताश होने की कोई भी जरूरत नहीं है। अज्ञानी को निराश होने की कोई भी जरूरत नहीं है। और ज्ञानी को भी अहंकारी हो जाने की कोई जरूरत नहीं है। अगर हिसाब रखा जाए, तो अज्ञानी के पास ज्ञानी से सदा ज्यादा है। यह ज्ञानी को अहंकारी होने की कोई भी जरूरत नहीं है। अज्ञानी को निराश होने की कोई भी जरूरत नहीं है। जो ज्ञानी में प्रकट हुआ है, वह अज्ञानी में अप्रकट है। जो अप्रकट है, वह प्रकट हो सकता है। वह अप्रकट क्यों है? क्या कारण है? क्या बाधा है?

कृष्ण कहते हैं, धुआं जैसे आग को घेरता है, वैसे ही वासना मन को घेरे हुए है।

वासना को समझना जरूरी है, अन्यथा आत्मा को हम न समझ पाएंगे। वासना को समझना जरूरी है, अन्यथा अज्ञान को हम न समझ पाएंगे। वासना को समझना जरूरी है, अन्यथा का ज्ञान प्रकट होना असंभव है। अब अगर हम ठीक से समझें, तो ज्ञान में अज्ञान बाधा नहीं बन रहा है; ठीक से समझें, तो ज्ञान में वासना बाधा बन रही है। क्योंकि वासना ही गीला ईंधन है, जिससे कि धुआं उठता है; वासनामुक्त आदमी सूखे ईंधन की भांति है।

मैंने सुना है, फरीद के जीवन में एक छोटा-सा उल्लेख है। एक आदमी आया है और फरीद से पूछने लगा, कि मैंने सुना है कि मंसूर के हाथ-पैर काट डाले गए और उसे दुख न हुआ, यह कैसे हो सकता है? और मैंने सुना है कि जीसस को फांसी लगाई गई और जीसस परमात्मा से कहते रहे, इन सबको माफ कर देना, क्योंकि ये लोग जानते नहीं हैं कि क्या कर रहे हैं। यह कैसे हो सकता है? यह असंभव है। सूली लगाई जाए, हाथ-पैर काटे जाएं, खीले ठोंके जाएं, गरदन काटी जाए--यह संभव नहीं है, पीड़ा तो होगी ही, दुख तो होगा ही। मुझे ये सब कहानियां मालूम पड़ती हैं!

फरीद हंसने लगा। उसके पास एक नारियल पड़ा था, कोई भक्त चढ़ा गया था। उसने उसे उठाकर दे दिया और कहा, जाओ, देखते हो इस नारियल को, इसे ठीक से तोड़ लाओ; खोल अलग कर देना, गिरी अलग कर लाना; और गिरी को साबित बचा लाना। उस आदमी ने कहा, माफ करें, यह न होगा। नारियल कच्चा है। गिरी और खोल जुड़े हुए हैं। अभी मैं खोल तोडूंगा, तो गिरी भी टूट जाएगी। फरीद ने कहा, छोड़ो, दूसरा नारियल ले जाओ। यह सूखा नारियल है, इसकी तो गिरी और खोल अलग कर लाओगे! उस आदमी ने कहा, बिल्कुल कर लाऊंगा।

फरीद ने कहा, अब जाने की जरूरत नहीं है, नारियल को यहीं रख दो। मैं तुमसे यह पूछता हूं कि सूखे नारियल की गिरी और खोल को तुम बचा लाओगे, अलग कर लाओगे; खोल टूट जाएगी, गिरी बच जाएगी। क्यों? उस आदमी ने कहा, यह भी कोई पूछने की बात है? सूखे नारियल की गिरी और खोल अलग-अलग हो गई हैं। कच्चे नारियल की जुड़ी हैं। फरीद ने कहा, बस अब जाओ; तुम्हारे सवाल का जवाब मैंने दिया है। जीसस या मंसूर जैसे लोगों का नारियल सूखा नारियल है। तो शरीर को कोई चोट पहुंचाता है तो शरीर टूटता है; लेकिन आत्मा तक चोट नहीं पहुंचती है, आत्मा तक घाव नहीं बनता। हम सब कच्चे नारियल हैं; शरीर पर चोट लगी नहीं कि आत्मा तक चोट पहुंच जाती है। जुड़ा है सब।

वासना कच्चा ईंधन है। गीली लकड़ी है। क्या मतलब है मेरा? वासना को देखने के दो-तीन प्रकार हैं। एक तो वासना की मान्यता है कि जो मुझे चाहिए, वह मेरे पास नहीं है। वासना का आधार है कि जो मुझे चाहिए, वह मेरे पास नहीं है; जो भी चाहिए, वह नहीं है। वासना का स्वरूप सदा यही है कि जो भी चाहिए, वह मेरे पास नहीं है। ऐसा नहीं कि कल वह चीज मिल जाएगी तो वासना मर जाएगी, सिर्फ वासना उस चीज से सरककर किसी दूसरी चीज पर लग जाएगी। दस हजार रुपए नहीं हैं, तो वासना कहती है कि दस हजार रुपए

चाहिए। दस हजार रुपए होते हैं, तो वासना कहती है कि दस लाख चाहिए। दस लाख होते हैं, तो वासना कहती है कि दस करा.ेड चाहिए।

एण्ड्रू कार्नेगी अमेरिका का एक अरबपति मरा। जब मरा, तो वह दस अरब रुपए छोड़कर मरा। मरने के दो दिन पहले उसका जीवन लिखने वाले एक व्यक्ति ने उससे पूछा कि आप तो तृप्त होंगे! आपसे बड़ा अरबपति पृथ्वी पर कोई दूसरा नहीं है; आपने तो जिंदगी में जो पाना चाहा था, वह पा लिया है। एण्ड्रू कार्नेगी ने गुस्से से उसको कहा, चुप रहो, बकवास बंद करो। जो मैंने पाना चाहा था, वह मैंने कहां पाया है? मेरे इरादे सौ अरब रुपए छोड़ने के थे।

लेकिन क्या आप सोचते हैं, सौ अरब रुपए एण्ड्रू कार्नेगी के पास होते, तो बात हल हो जाती? क्योंकि जिसकी दस अरब से हल न हुई, उसकी सौ अरब से भी हल न होती। हां, सौ अरब होते, तो इरादे और आगे बढ़ जाते, हजार अरब पर हो जाते, लाख अरब पर हो जाते।

वासना, जो नहीं है, उसकी मांग है। इसलिए एक अर्थ में समझें, तो वासना सदा ही रिक्त है, सदा खाली है। सदा रिक्त, सदा खाली, सदा एंप्टी, कभी भरती नहीं। भर नहीं सकती। उसका स्वभाव यही है कि जो नहीं है, वह। और कुछ तो नहीं होगा ही। कुछ तो नहीं होगा ही। वह, जो नहीं है, वासना वहीं लगी रहती है। और चूंकि वासना जो नहीं है, वहां लगी रहती है, इसलिए आत्मा, जो है, वह हमें प्रकट नहीं हो पाती। हमारा सारा चित्त उस पर अटका रहता है, जो नहीं है। हम उसको कैसे देख पाएं, जो है। आत्मा अभी है, यहीं है; और वासना कल है, कहीं है। वासना सदा भविष्य में है, आत्मा सदा वर्तमान में है। इसलिए जिस आदमी का मन वासना में भटक रहा है, वह आत्मा तक नहीं पहुंच पाता। इसलिए कृष्ण कहते हैं, उसे ज्ञान उपलब्ध नहीं हो पाता।

जैसे आप अपने दरवाजे पर खड़े हैं और रास्ते पर चलते लोगों को देख रहे हैं, तो फिर घर के लोगों को न देखे पाएंगे। सच तो यह है कि अगर रास्ते पर चलते लोगों को देखने में बहुत लीन हो गए, तो अपने को भूल ही जाएंगे। असल में दूसरे को देखने में ध्यान दूसरे पर चला जाता है, स्वयं से च्युत हो जाता है।

वासना पर लगा हुआ ध्यान आत्मा से च्युत हो जाता है। आत्मा भीतर खड़ी है, मौजूद है, सदा तैयार है। आओ कभी भी, द्वार खुले हैं। लेकिन वासना की यात्रा पर निकला आदमी जन्मों-जन्मों भटकता है और वहां नहीं आता है। वह खोजता ही चला जाता है। वह खोजता ही चला जाता है। और जहां तक पहुंचता है, वासना आगे के स्वप्न बना लेती है। क्षितिज की तरह है वासना। हॅराइजन दिखाई पड़ता है आकाश का। लगता है, थोड़ी ही दूर, दस मील दूर आकाश जमीन को छू रहा है। कहीं भी छूता नहीं। मन कहता है, बस पास ही है; जरा दौड़ूं और पहुंच जाऊं। पहुंचें आप, दौड़ें आप। पहुंच भी जाएंगे दस मील, लेकिन पाएंगे कि आकाश अब भी छूता है, लेकिन अब दस मील आगे छूता है। और दस मील चलें। पहुंच जाएंगे दस मील, फिर भी पाएंगे, आकाश फिर भी छूता है, आगे दस मील छूता है। आकाश सदा ही आगे दस मील छूता है। कहीं छूता नहीं; सिर्फ छूता हुआ प्रतीत होता है। दौड़ते रहें, पूरी पृथ्वी का चक्कर लगा लें, आकाश कहीं छूता हुआ नहीं मिलेगा। लेकिन सदा मालूम पड़ेगा कि बस, जरा और आगे, और छुआ, और छुआ। बस, यह तो छू रहा है! दौड़ाता सदा रहेगा, कभी छूता हुआ मिलेगा नहीं।

वासना आकाश छूती हुई क्षितिज की रेखा जैसी है। सदा लगती है, बस अब पूरी हुई--एक वर्ष और, दो वर्ष और, दस वर्ष और, यह कारखाना और, यह मकान और, यह दुकान और--बस पूरा हुआ जाता है, क्षितिज की रेखा आई जाती है, आकाश छू लेगा। पहुंच जाते हैं वहां, पाते हैं कि रिक्त, खाली हाथ वैसे ही खड़े हैं, जैसे

दस साल पहले थे, पचास साल पहले थे और आकाश अभी भी थोड़े आगे छू रहा है। वासना अभी भी थोड़े आगे कह रही है, थोड़े और चल आओ, तो तृप्ति हो जाएगी।

इसलिए आदमी बढ़ता चला जाता है। और तब एक चीज से वंचित रह जाता है, जो उसे मिली हुई थी, जो उसके पास ही थी, जो कि परमात्मा की उसे भेंट थी, गिफ्ट थी, जो कि परमात्मा ने उसे दी थी, उस चीज से भर वंचित रह जाता है। और जो वासनाएं उसे दे नहीं सकतीं, कभी नहीं दे सकतीं, उन्हीं की दौड़ में वह दौड़ता चला जाता है। इस दौड़ के धुएं में खो जाता है ज्ञान; इस दौड़ में छिप जाता है वह, जो है। इस दौड़ में भूल जाता है वह, जो सदा से साथ है; और स्मरण आता है उसका, जो कभी साथ नहीं हो सकता है।

वासना ही अज्ञान है, डिजायरिंग इ.ज इग्नोरेंस। ठीक से समझें, तो अज्ञान कुछ और नहीं है। वासना में दौड़ा हुआ चित्त आत्मा को उपलब्ध नहीं हो पाता है। यह विस्मरण बन जाता है। वासना का स्मरण आत्मा का विस्मरण है। इच्छा के पीछे ध्यान का जाना, स्वयं से ध्यान का चूक जाना है। और ध्यान हमेशा वन डायमेंशनल है। ध्यान एक आयामी है। अगर आप इच्छा के पीछे चले गए, तो वह पीछे नहीं लौट सकता। कोई उपाय नहीं है। हां, इच्छा जाए, विदा हो, धुआं न हो, तो वह अपने पर लौट आए। इसलिए कृष्ण इस सूत्र में कहते हैं कि ज्ञान कोई खोता नहीं, लेकिन ज्ञान विस्मरण हो जाता है। फारगेटफुलनेस, खोना नहीं है, सिर्फ विस्मृति है।

मैंने सुना है, पिछले महायुद्ध में एक आदमी चोट खाकर गिर पड़ा और भूल गया नाम, पिता का नाम, घर का पता। कठिनाई न पड़ती, कठिनाई न पड़ती, अगर उसका नंबर भी रह गया होता। लेकिन युद्ध के मैदान में कहीं उसका नंबर भी गिर गया और वह बेहोश उठाकर लाया गया। नंबर होता, तो पता चल जाता। नंबर भी नहीं था और उस आदमी को होश आया, उसे पता भी नहीं था कि मैं कौन हूं! उसे रिटायर्ड भी कर दिया गया, लेकिन उसे कहां पहुंचाया जाए! उसे अपना कोई पता ही नहीं।

फिर किसी मनोवैज्ञानिक ने सुझाव दिया कि उसे इंग्लैंड के गांव-गांव में घुमाया जाए, ट्रेन से ले जाया जाए। हो सकता है, किसी स्टेशन को देखकर उसे याद आ जाए कि यह मेरा गांव है। क्योंकि गांव खोया तो नहीं है, सिर्फ विस्मरण हो गया है। गांव तो अपनी जगह होगा और यह आदमी अपनी जगह है। और गांव अपनी जगह है और यह आदमी अपनी जगह है। सब अपनी जगह है, लेकिन बीच की स्मृति का धागा टूट गया है, शायद जुड़ जाए।

उसे गांव-गांव ले जाया गया। बड़े-बड़े नगरों में ले जाया गया। लेकिन वह बस खड़ा हो जाता, उसे कुछ याद न आता। फिर एक जगह तो ट्रेन रुकनी नहीं थी, किसी कारण से छोटी स्टेशन पर रुकी थी, उस आदमी ने खिड़की से झांककर देखा। फिर वह मनोवैज्ञानिकों को बताने के लिए नहीं रुका, जो उसके साथ थे, दरवाजा खोलकर भागा। उसने कहा, मेरा गांव! मनोवैज्ञानिक, उसके साथी, जो उसे घुमा रहे थे, वे उसके पीछे भागे। उसे कहा कि रुको भाई! वह नहीं रुका। वह तो स्टेशन पार कर गया। वह तो अपनी गली में पहुंच गया। वह तो अपने घर के सामने पहुंच गया। उसने कहा, वह रहा मेरे पिता का घर। वह रही मेरी तख्ती, जो घर के सामने लगी है। विस्मरण टूट गया; स्मरण लौट आया।

परमात्मा पुनःस्मरण है, रिमेंबरिंग है। वह हमारे भीतर बैठा है। हम एक दुर्घटनाग्रस्त स्थिति में हो गए हैं। हमारा एक्सिडेंट, हमारी दुर्घटना यह है कि जो नहीं है, उसने हमें आकर्षित कर लिया है। इसका कारण है कि जो होता है, उसका आकर्षण नहीं होता है; जो नहीं है, उसमें आकर्षण होता है। जो पास है, उसे हम भूल जाते हैं; जो दूर है, उसे हम याद करते हैं। कभी आपने ख्याल किया, मित्र पास हो, तो याद नहीं आती; मित्र दूर हो, तो याद आती है। प्रियजन बगल में बैठा हो, तो भूल जाता है; अखबार पढ़ते रहते हैं। और प्रियजन दूर चला

जाए, तो अखबार क्या गीता भी नहीं पढ़ी जाती; बंद करके रख देते हैं; उसकी याद आती है। दूर है कोई चीज, तो याद आती है; नहीं है पास, तो याद आती है। पास है, बिल्कुल पास है, तो याद भूल जाती है।

और परमात्मा से ज्यादा पास हमारे और कोई भी नहीं है। मोहम्मद ने कहा है, गले की नस--जो कट जाए, तो जीवन चला जाए--उससे भी पास है परमात्मा। श्वास--जो बंद हो जाए, तो प्राण निकल जाएं--मोहम्मद ने कहा है, उससे भी पास है परमात्मा। श्वास से भी जो पास है, उसे अगर हम भूल गए, तो कोई आश्चर्य नहीं, स्वाभाविक है।

अज्ञान बिल्कुल स्वाभाविक है, लेकिन तोड़ा जा सकता है, अनिवार्य नहीं है। स्वाभाविक है, अनिवार्य नहीं है। प्राकृतिक है, मंगलदायी नहीं है। भूल गए, यह ठीक, लेकिन इस भूल से सारा जीवन दुख और पीड़ा और नर्क से भर जाता है। हमारी सारी पीड़ा एक ही है बुनियाद में, गहरे में, केंद्र पर कि हम उसे भूल गए हैं, जो हमारे भीतर बैठा है।

कृष्ण कहते हैं, जैसे धुएं से आग छिपी है, ऐसे ही तुम भी छिपे हो अपनी ही वासना से।

कभी आपने ख्याल किया कि यह धुआं बड़ा कीमती शब्द है। कुछ और शब्द भी प्रयोग किया जा सकता था, लेकिन धुआं कितना हवाई है, ठोस नहीं है जरा भी। जरा भी ठोस नहीं है, हाथ हिलाएं, तो चोट भी नहीं लगती धुएं को। तलवार चलाएं, तो धुआं कट भी नहीं सकता। धक्के देकर हटाएं, तो आप ही हट जाएंगे, धुआं वहीं का वहीं रह जाएगा। कितना ना-कुछ, जस्ट लाइक नथिंग। धुएं का इसलिए उपयोग किया है कि बिल्कुल ना-कुछ है, सब्सटेंशियल जरा भी नहीं, तत्व कुछ भी नहीं है; धुआं-धुआं है।

वासना भी ऐसी ही धुआं-धुआं है। तत्व कुछ भी नहीं है, सिर्फ धुआं-धुआं है। हाथ से हटाएं, हटती नहीं; तलवार से काटें, कटती नहीं; फिर भी है। और उसे छिपा लेती है, जो बहुत वास्तविक है। अब आग से ज्यादा वास्तविक क्या होगा! आग किसी को भी जला दे और धुएं को नहीं जला पाती! आग किसी को भी राख कर दे, और धुएं को राख नहीं कर पाती। अगर धुआं होता कुछ, तो आग उसको जला देती। वह ना-कुछ है, इसलिए जला भी नहीं पाती। और धुआं उसे घेर लेता है। ऐसे ही मनुष्य के भीतर के ज्ञान को उसकी वासना घेर लेती है। वासना अगर कुछ होती, तो ज्ञान काट भी देता, लेकिन बिल्कुल धुआं-धुआं है।

कभी आपने अगर ख्याल किया होगा अपने चित्त का, जब वह वासना से भरता है, तो आपको फौरन पता लगेगा कि जैसे धुआं-धुआं चारों ओर घिर गया। कभी कामवासना से जब मन भर जाता है, तो ऐसा ही लगता है, जैसे सुबह, सर्दी की सुबह आप बाहर निकले हों और चारों ओर धुआं-धुआं है। कुछ दिखाई नहीं पड़ता, अंधापन घेर लेता है, फिर भी बढ़े जाते हैं। कोई चीज, जहां नहीं बढ़ना चाहिए, ऐसा भी लगता है, फिर भी बढ़े जाते हैं। कोई भीतर से पुकारता भी है कि अंधेरे में जा रहे हो, गलत में जा रहे हो, फिर भी बढ़े जाते हैं।

कृष्ण ने दूसरा एक प्रतीक लिया है, जैसे दर्पण पर धूल जम जाए, दर्पण पर मल जम जाए। दर्पण है, धूल जम गई है। धूल जमने से दर्पण जरा भी नहीं बिगड़ता है, जरा भी नहीं। दर्पण का कुछ भी नहीं बिगड़ता। और दर्पण इंचभर भी कम दर्पण नहीं होता है धूल के जमने से, दि मिरर रिमेंस दि मिरर; कोई फर्क नहीं पड़ता। धूल कितनी ही पर्त-पर्त जम जाए कि दर्पण बिल्कुल खो जाए, तो भी दर्पण नहीं खोता। उसकी मिरर-लाइक क्वालिटी पूरी की पूरी बनी रहती है। उसमें कुछ फर्क नहीं पड़ता। धूल के पहाड़ जमा दें दर्पण के ऊपर, छोटे-से दर्पण पर एवरेस्ट रख दें धूल का, तो भी दर्पण का जो दर्पणपन है, मिरर-लाइक जो उसका गुण है, वह नहीं खोता। वह अपनी जगह है। और जब भी धूल हट जाएगी, दर्पण दर्पण है। और जब धूल थी दर्पण पर, तब भी

दर्पण दर्पण था, कुछ खोया नहीं था। इसलिए दूसरा प्रतीक भी कृष्ण का बहुत कीमती है। वे कहते हैं, जैसे धूल जम जाती है दर्पण पर, ऐसे ही वासना जम जाती है आदमी की चेतना पर।

चेतना को दर्पण कहना बहुत सार्थक है। चेतना है ही दर्पण। लेकिन हमारे पास चेतना दर्पण की तरह काम नहीं करती। धूल बहुत है। कुछ नहीं दिखाई पड़ता। अपनी ही शक्ल नहीं दिखाई पड़ती अपनी ही चेतना में, तो और क्या दिखाई पड़ेगा! कुछ नहीं दिखाई पड़ता। अंधे की तरह टटोलकर चलना पड़ता है। वह दर्पण, जिसमें सत्य दिखाई पड़ सकता है, जिसमें परमात्मा दिखाई पड़ सकता है, जिसमें स्वयं की झलक का प्रतिबिंब बन जाता, कुछ नहीं दिखाई पड़ता, सिर्फ धूल ही धूल है। और हम उस धूल को बढ़ाए चले जाते हैं। धीरे-धीरे हम बिल्कुल अंधे हो जाते हैं, एक स्प्रिचुअल ब्लाइंडनेस।

एक अंधापन तो आंख का है। जरूरी नहीं कि आंख का अंधा आदमी भीतर से अंधा हो। जरूरी नहीं कि आंख का ठीक आदमी भीतर से अंधा न हो। एक और अंधापन भी है, जो भीतर के दर्पण पर धूल के जम जाने से पैदा हो जाता है। हम तो दर्पण की तरह व्यवहार ही नहीं करते। एक तो हमें पता ही नहीं चलता कि हमारे भीतर कोई दर्पण है, जिसमें सत्य का प्रतिफलन हो सके! दर्‌पण का पता कब चलता है? जब दर्पण रिफ्लेक्ट करता है, तभी पता चलता है। अगर आपके पास दर्पण है, उसमें तस्वीर नहीं बनती, प्रतिबिंब नहीं बनता, तो उसे कौन दर्पण कहेगा?

आपने कभी ख्याल किया कि आपके भीतर सत्य का आज तक कोई प्रतिबिंब नहीं बना! जरूर कहीं न कहीं आपके भीतर दर्पण जैसी चीज खो गई है। वे जो जानते हैं, वे तो कहते हैं, वे तो कहते हैं कि दिल के आईने में है तस्वीरे-यार, वह तो यहां हृदय के दर्पण में उस प्रेमी की तस्वीर है; जब जरा गरदन झुकाई देख ली। बाकी हम कितनी ही गरदन झुकाएं, कुछ दिखाई नहीं पड़ता। अपनी गरदन भी नहीं दिखाई पड़ती, तस्वीरे-यार तो बहुत मुश्किल है। उस प्रेमी की तस्वीर दिखाई पड़नी तो बहुत मुश्किल है। धूल है।

धूल क्यों कहते हैं? धुआं क्यों कहते हैं, मैंने कहा। धूल क्यों कहते हैं? और कृष्ण जैसा आदमी जब एक भी शब्द का प्रयोग करता है, तो यों ही नहीं करता। कृष्ण जैसे लोग टेलीग्राफिक होते हैं; एक-एक शब्द बड़ी मुश्किल से उपयोग करते हैं।

जैसे टेलीग्राफ आफिस आप चले जाते हैं, तो एक-एक शब्द को काटते हैं कि कहीं ज्यादा न हो जाए, ज्यादा दाम न लग जाएं। आठ अक्षर, पहले दस, अब आठ से ही काम चलाना पड़ता है; आठ में ही काम हो जाता है। लेकिन कभी आपने ख्याल किया कि आठ सौ शब्दों की चिट्ठी जो काम नहीं करती, वह आठ अक्षर का तार काम कर जाता है। असल में जितने बेकार शब्द अलग हो जाते हैं, उतना ही इंटेंस, उतना ही गहरा भाव प्रकट हो जाता है।

कृष्ण जैसे लोग टेलीग्राफिक हैं, एक भी शब्द का ऐसे ही उपयोग नहीं कर लेते। जब वे कहते हैं धूल की भांति वासना को, तो कुछ बात है। उन्होंने तो ठीक शब्द मल प्रयोग किया है। मल और भी, धूल से भी कठिन शब्द है। मल में गंदी धूल का भाव है, सिर्फ धूल का नहीं। गंदगी से भर गया। धूल ही नहीं सिर्फ, गंदगी भी।

वासना में गंदगी क्या है? दुर्गंध क्या है? बहुत दुर्गंध है। और वह दुर्गंध इस बात से आती है कि एक तो वासना कभी भी दूसरे का गुलाम हुए बिना पूरी नहीं होती और जीवन में सारी दुर्गंध परतंत्रता से आती है। जीवन की सारी दुर्गंध परतंत्रता से आती है और जिंदगी की सारी सुगंध स्वतंत्रता से आती है। जितना स्वतंत्र मन, उतना ही सुवास से भरा होता है। और जितना परतंत्र मन, उतनी दुर्गंध से भर जाता है। और वासना परतंत्र बनाती है।

अगर आप एक स्त्री पर मोहित हैं, तो एक गुलामी आ जाएगी। अगर आप एक पुरुष पर मोहित हैं, तो एक गुलामी आ जाएगी। अगर आप धन के दीवाने हैं, तो धन की गुलामी आ जाएगी। अगर आप पद के दीवाने हैं, तो जाकर दिल्ली में देखें! एक दफे दिल्ली में सबको पकड़ लिया जाए और एक पागलखाना बना दिया जाए, तो मुल्क बहुत शांति में हो जाए। अलग-अलग पागलखाने खोलने की जरूरत नहीं, पूरी दिल्ली घेरकर पागलखाना बना देना चाहिए। या पार्लियामेंट को ही पकड़ लिया जाए, तो भी काफी है। कुर्सी! तो आदमी ऐसा गुलाम हो जाता है, ऐसा गिड़गिड़ाता है, ऐसी लार टपकाता है, ऐसे हाथ जोड़ता है, ऐसे पैर पड़ता है, और क्या-क्या नहीं करता--वह सब करने को राजी हो जाता है। एक गुलामी है, एक दासता है।

जहां भी वासना है, वहां गुलामी होगी। जो पैसे का पागल है, उसको देखा है आपने कि रुपए को कैसा, कैसा मोहित, कैसा मंत्रमुग्ध देखता है! रात सपने में भी गिनता रहता है। पैसा छिन जाए, तो उसके प्राण चले जाएं। उसका प्राण पैसे में होता है। पैसा बच जाए, तो उसकी आत्मा बच जाती है। वासना दुर्गंध लाती है, क्योंकि वासना परतंत्रता लाती है। और इसलिए वासना से भरा हुआ आदमी कभी सुगंधित नहीं होता। उसके चारों तरफ वह सुगंध नहीं दिखाई पड़ती, जो किसी महावीर, किसी बुद्ध, किसी कृष्ण के आस-पास दिखाई पड़ती है।

और बड़े मजे की बात है कि वासना तृप्त न हो, तो भी चित्त पीड़ित और परेशान होता है; और जो चाहा था वह मिल जाए, तो भी चित्त फ्रस्ट्रेट होता है, तो भी पीछे विषाद छूट जाता है। कामवासना तृप्त न हो, तो मन कामवासना के चित्रों की दुर्गंध से भर जाता है। और कामवासना तृप्त होने का मौका आ जाए, तो पीछे सिवाय हारे हुए, दुर्गंध से पराजित व्यक्तित्व के कुछ भी नहीं छूटता। दोनों ही स्थितियों में चेतना धूमिल होती है और चेतना पर गंदगी की पर्त जम जाती है।

लेकिन गंदगी की पर्त पता नहीं चलती, क्योंकि धीरे-धीरे हम गंदगी के आदी हो जाते हैं। दुर्गंध मालूम नहीं पड़ती! नासापुट राजी हो जाते हैं, कंडीशनिंग हो जाती है। तो ऐसा भी हो सकता है कि हमें दुर्गंध नहीं, सुगंध मालूम पड़ने लगे। ऐसा भी हो जाता है। ऐसा भी हो जाता है कि जो दुर्गंध निरंतर हम उसके आदी हो गए हैं, कंडीशनिंग हो गई है, तो हमें लगता है कि बड़ी सुगंध आ रही है। ऐसा ही हो भी गया है। और जिस दिन दुर्गंध सुगंध मालूम होने लगती है, उस दिन तो जैसे फिर छुटकारा बहुत मुश्किल है। जिस आदमी को कारागृह निवास मालूम पड़ने लगे, घर मालूम पड़ने लगे, फिर तो छुटकारा बहुत मुश्किल है। जिस आदमी को सूली सिंहासन मालूम पड़ने लगे, आप उसे उतारना भी चाहें सूली से, तो वह नाराज हो कि भाई हम सिंहासन पर बैठे हैं, आप हमें उतारने की बात करते हैं! तुम भी आ जाओ।

तो अगर हम जीसस पर, कृष्ण और क्राइस्ट पर, और बुद्ध और मोहम्मद पर अगर नाराज हो जाते हैं, तो नाराज होने का कारण है। हम अपनी दुर्गंध में बड़े मस्त हैं, तुम नाहक हमें बेचैन करते हो, डिस्टर्ब करते हो। हम बड़े मजे में हैं। गोबर का कीड़ा है, वह गोबर में ही मजे में है। आप उसे गोबर से हटाएं, तो वह बड़ी नाराजगी से फिर गोबर की तरफ चला जाता है। उसके लिए गोबर नहीं है, उसके लिए जीवन है!

ख्याल शायद हमें न आए कि जहां हम जी रहे हैं, वह दुर्गंध है। लेकिन दुर्गंध तो है ही, चाहे हम कितने ही कंडीशंड हो जाएं। फिर हम कैसे पहचानें कि वह दुर्गंध है? हम एक ही बात पहचान सकते हैं, जिससे दुख मिलता हो, हम उसे पहचान सकते हैं। अगर सुगंध है वासना, तो दुख नहीं मिलना चाहिए। लेकिन दुख मिलता है, दुख ही दुख मिलता है, फिर भी हम कहे चले जाते हैं, सुगंध।

कृष्ण कहते हैं, दुर्गंधयुक्त मल से ढंक जाए जैसे दर्पण। दर्पण कहते हैं।

दर्पण के साथ एक और बात समझ लेनी जरूरी है। दर्पण पर, आपने कभी ख्याल किया कि दर्पण के सामने आइए, तो आपकी तस्वीर बन जाती है; और हट जाइए, तो तस्वीर मिट जाती है। यह दर्पण की खूबी है। यही उसकी क्वालिटी है, यही उसका गुण है। फोटो कैमरे के भीतर भी फिल्म होती है। वह उस पर भी तस्वीर बनती है, लेकिन मिटती नहीं; बन गई, तो बन गई। एक्सपोजर हो गया, तो हो गया। एक दफे बनती है, फिर तस्वीर को पकड़ लेती है कैमरे की फिल्म, फिर छोड़ती नहीं।

दर्पण जैसा कहने का कारण है। सिर्फ जो व्यक्ति धुएं से और दुर्गंधयुक्त मल से मुक्त होता है और जिसका चित्त शुद्ध दर्पण हो जाता है, उसकी स्थिति ऐसी हो जाती है--उसके सामने जो आता है, उसकी तस्वीर बन जाती है; जो हट जाता है, दर्पण कोरा और खाली और मुक्त हो जाता है। मित्र आया, तो खुशी; और चला गया, तो भूल गए। परिवार के लोग रहे, तो आनंद; नहीं रहे, तो बात समाप्त--दर्पण जैसा। फिर कोई चीज पकड़ती नहीं, एक्सपोजर होता ही नहीं। चीजें आती हैं, चली जाती हैं, और दर्पण अपनी शुद्धता में जीता है।

दर्पण को अशुद्ध नहीं किया जा सकता। फोटो के कैमरे की जो फिल्म है, उसको अशुद्ध किया जा सकता है, वह अशुद्ध होने के लिए ही है। वही उसकी खूबी है कि वह फौरन तस्वीर को पकड़ लेती है और बेकार हो जाती है। दर्पण बेकार नहीं होता। लेकिन हम जिस चित्त से जीते हैं, उसमें हमारी हालत दर्पण जैसी कम और फोटो की फिल्म जैसी ज्यादा है। जो भी पकड़ जाता है, वह पकड़ जाता है, फिर वह छूटता नहीं। एक्सपोजर हो जाता है, छूटता ही नहीं। कल किसी ने गाली दी थी, वह अभी तक नहीं छूटी; चौबीस घंटे बीत गए, वह गूंज रही है, वह चल रही है। देने वाला हो सकता है, भूल गया हो; देने वाला हो सकता है, अब माफी मांग रहा हो मन में; देने वाला हो सकता है, अब हो ही न इस दुनिया में--लेकिन वह गाली गूंजती है। हो सकता है वह आज गूंजे, कल गूंजे; हो सकता है कब्र में आप उसे अपने साथ ले जाएं और वह गूंजती ही रहे। एक्सपोजर हो गया, दर्पण जैसा नहीं रहा आपका चित्त।

एक सुबह बुद्ध के ऊपर एक आदमी थूक गया और दूसरे दिन माफी मांगने आया। तो बुद्ध ने कहा, पागल, गंगा का बहुत पानी बह चुका है। कहां की बातें कर रहा है! इतिहासों को मत उखाड़, गड़े मुरदों को मत उखाड़; बात खत्म हो गई। अब न तो मैं वह हूं, जिस पर तू थूक गया था; न अब तू वह है, जो थूक गया था; न अब वह सूरज है, न वह आकाश है, न जमीन है; सब बदल चुका। चौबीस घंटे में गंगा बहुत बह गई। तू किससे माफी मांगता है! लेकिन वह कहने लगा, नहीं, मुझे माफ कर दें। बुद्ध ने कहा, तूने थूका ही नहीं। मालूम होता है, तू जो थूक गया था, चौबीस घंटे उसको दोहराता भी रहा है, उसकी जुगाली करता रहा है।

हम सब ऐसे ही जीते हैं। यहां कोई हम में दर्पण जैसा नहीं है। दर्पण जैसा व्यक्ति ही अनासक्त हो सकता है, क्योंकि तब चीजें आती हैं और चली जाती हैं।

वही कृष्ण अर्जुन से कह रहे हैं कि तू दर्पण जैसे ज्ञान को उपलब्ध हो जा। हटा धूल को, जिस धूल के कारण चित्र पकड़ जाते हैं। हटा धुएं को, जिस धुएं के कारण तुझे दिखाई नहीं पड़ता कि तेरे भीतर जो ज्योति है ज्ञान की, वह क्या है। अपने दर्पण को उसकी पूरी शुद्धता में, पूरी प्योरिटी में ले आ, ताकि चीजें आएं और मिटें और जाएं और तेरे ऊपर कोई प्रभाव न छूट जाए, कोई इंप्रेशन, कोई प्रभाव तेरे ऊपर पकड़ न जाए, तू खाली...
।

कबीर ने कहा न, ज्यों की त्यों धरि दीन्हीं चदरिया, खूब जतन से ओढ़ी कबीरा; बहुत जतन से ओढ़ी चादर और फिर ज्यों की त्यों धरि दीन्हीं। जरा भी दाग नहीं लगाया। दर्पण जैसी हो चादर, तभी हो सकता है ऐसा। अगर चादर दर्पण जैसी न हो, तो दाग लग ही जाएगा। जिस चादर की बात कबीर कह रहे हैं, वह कृष्ण

के दर्पण की ही बात है। अगर चित्त दर्पण जैसा है, तो कितना ही ओढ़े, कोई दाग नहीं लगता। दर्पण पर दाग लगता ही नहीं। दर्पण कुछ पकड़ता ही नहीं। सब चीजें आती हैं और चली जाती हैं, और दर्पण अपने खालीपन में, अपनी शून्यता में, अपनी निर्मलता में, अपनी शुद्धता में रह जाता है।

लेकिन शुद्धता दर्पण की तो तब हो न, जब उसके ऊपर धूल अशुद्धि की न जमे। दर्पण शुद्ध तो तब हो न, जब मैं स्वयं रहूं, मेरे ऊपर दूसरे न जम जाएं। दर्पण तो शुद्ध तब हो न, जब मैं जो हूं, वही रहूं; उसकी आकांक्षा न करूं, जो मैं नहीं हूं। दर्पण तो शुद्ध तभी हो सकता है न, जब वर्तमान का क्षण पर्याप्त हो और जब भविष्य की कामनाएं न पकड़ें और अतीत की स्मृतियां न पकड़ें, तभी मन का दर्पण शुद्ध हो सकता है।

ऐसे शुद्ध दर्पण को कृष्ण कहते हैं, ज्ञान। और ऐसा ज्ञान मुक्ति है।

प्रश्नः भगवान श्री, आप कहते हैं कि खाद की दुर्गंध ही फूल की सुगंध बनती है और काम-ऊर्जा ही आत्म-ऊर्जा बनती है, लेकिन यहां काम को ज्ञानियों का नित्य वैरी कहकर उसके प्रति निंदाभाव क्यों व्यक्त किया गया है?

नहीं, निंदाभाव नहीं है। वैरी कहकर सिर्फ एक तथ्य की सूचना दी गई है। और जब मैं कहता हूं कि खाद की दुर्गंध ही फूल की सुगंध बनती है, तब मैं यह नहीं कह रहा हूं कि खाद में दुर्गंध नहीं होती। खाद में दुर्गंध तो होती ही है। और आप घर में खाद ही रख लें लाकर, तो फूलों की सुगंध पैदा नहीं हो जाती। सिर्फ दुर्गंध ही बढ़ेगी; खाद सड़ेगा और दुर्गंध बढ़ेगी। जो आदमी खाद को घर में रखकर बैठ जाता है, उसके लिए खाद वैरी है। लेकिन जो आदमी खाद को बगिया में डालकर, मिट्टी में मिलाकर, बीजों के साथ बिछा देता है, उसके लिए खाद मित्र हो जाता है। और ध्यान रहे, वैरी का होना वैरी, कोई उसकी नियति नहीं है, वह मित्र भी हो सकता है। जो वैरी हो सकता है, वह मित्र भी हो सकता है। जो मित्र हो सकता है, वह वैरी भी हो सकता है।

यहां कृष्ण सिर्फ इतना ही कह रहे हैं कि जिसकी वासना धुआं बनकर उसके चित्त को घेर लेती है, उसकी वासना उसकी ही दुश्मन हो जाती है। लेकिन जो इस धुएं से अपनी अग्नि को पहचानता है कि अग्नि भी भीतर होनी चाहिए, क्योंकि धुआं बाहर है। और जहां-जहां धुआं है वहां-वहां अग्नि है, बिना अग्नि के धुआं नहीं हो सकता। जो इस वासना के धुएं को देखकर भीतर की अग्नि के स्मरण से भर जाता और धुएं को हटाकर अग्नि को उपलब्ध होता है, उसके लिए वासना शत्रु नहीं रह जाती, मित्र हो जाती है। लेकिन कृष्ण अर्जुन से कह रहे हैं कि वैरी है। वैरी का मतलब केवल इतना ही है कि अभी तू जिस स्थिति में खड़ा है, वहां तूने अपनी वासना को वैरी की स्थिति में ही बांध रखा है। वह तेरी मित्र नहीं बन पाएगी।

इस जगत में जो भी चीज हानि पहुंचा सकती है, वह लाभ पहुंचा सकती है। रास्ते पर पड़ा हुआ पत्थर रुकावट भी बनता है, समझदारों के लिए सीढ़ी भी बन जाता है। उसी पर चढ़कर वे और ऊपर उठ जाते हैं। जिंदगी में ऐसा कुछ भी नहीं है, जिसका शुभ उपयोग न हो सके। और जिंदगी में ऐसा भी कुछ भी नहीं है, जिसका दुरुपयोग, अशुभ उपयोग न हो सके। उपयोग सदा हम पर निर्भर है।

हम वासना का शत्रु की तरह व्यवहार कर सकते हैं। हम करते हैं। हम वासना से करते क्या हैं? हम वासना से सिर्फ अपने को थकाते हैं। हम वासना से सिर्फ अपने को गंवाते हैं। हम वासना से सिर्फ अपने को चुकाते हैं। हम वासना से सिर्फ छेद-छेद से जैसे पानी रीतता चला जाए किसी घड़े से, ऐसे हम अपने जीवन को रिताते हैं। हम और वासना से करते क्या हैं? वासना हमारे लिए शक्ति का, ऊर्जा का, परमात्मा की उपलब्धि

का द्वार नहीं बनती है। वासना हमारे लिए ऊर्जा का, शक्ति का, प्रभु का, आत्मा का खोने का मार्ग बनती है। वासना का रूपांतरण हो सकता है।

इसलिए कृष्ण जब वैरी कह रहे हैं, तो उनका प्रयोजन निंदा का नहीं है। और जब मैं मित्र कहता हूं, तो मेरा प्रयोजन भी प्रशंसा का नहीं है। फिर से दोहराऊं--जब कृष्ण कहते हैं, वासना शत्रु है, तो उनका प्रयोजन निंदा का नहीं है; और जब मैं कहता हूं, वासना मित्र है, तो मेरा प्रयोजन प्रशंसा का नहीं है। कृष्ण आधी बात कह रहे हैं कि शत्रु है और सूचना दे रहे हैं कि उसे शत्रु ही मत बनाए रखना। मैं भी आधी बात कह रहा हूं कि मित्र है और सूचना दे रहा हूं कि उसे मित्र बना लेना है।

शत्रु मित्र बनाए जा सकते हैं; दुर्गंधें सुगंधें बनाई जा सकती हैं; धुआं आग की तरफ ले जाने वाला बन सकता है और धुआं आग से दूर ले जाने वाला भी बन सकता है। यह हम पर निर्भर करता है कि हम वासना का क्या उपयोग करते हैं। वासना विनाशक हो सकती है और वासना सृजनात्मक भी हो सकती है। वासना ही मनुष्य को वहां पहुंचा सकती है, जहां परमात्मा का मंदिर है। और वासना ही वहां भी पहुंचा सकती है, जहां परमात्मा की तरफ पीठ भी हो जाती है। दोनों ही हो सकता है।

हमने तुलसीदास की कहानी पढ़ी है; सभी को पता है। वासना शत्रु थी--कृष्ण के अर्थों में--वैरी थी। पत्नी गई है मायके, तो रुक नहीं सके। पागल की तरह, विक्षिप्त की तरह, अंधे की तरह भागे। आंखें देखती नहीं, कान सुनते नहीं, हाथ छूते नहीं! वर्षा है, बाढ़ है, कूद पड़ते हैं। लगता है कि कोई लकड़ी बहती है, उसका सहरा ले लेते हैं। लकड़ी नहीं है वहां, सिर्फ एक मुरदा बह रहा है! उसी का सहारा लेकर नदी पार कर जाते हैं। मुरदा नहीं दिखाई पड़ता, दिखाई पड़ता है लकड़ी है। वासना अंधी है। आधी रात पहुंच गए हैं घर पर, द्वार खुलवाने की हिम्मत नहीं पड़ती। वासना सदा कमजोर है, वासना सदा भयभीत है। जहां भय है, वहां वासना है। जहां वासना है, वहां भय है। सिर्फ अभय वही होता है, जो वासना में नहीं है। चोरी से घर के पीछे से चढ़ते हैं। लगता है रस्सी लटकी है, सांप लटकता है वर्षा का। दिखाई नहीं पड़ता, हिप्नोटाइज्ड हैं, सम्मोहित हैं।

जो देखना चाहते हैं, वही दिखाई पड़ता है वासना में; वह नहीं दिखाई पड़ता है, जो है। जो देखना चाहते हैं, वही दिखाई पड़ता है। अभी रस्सी चाहिए चढ़ने के लिए, इसलिए सांप रस्सी दिखाई पड़ता है। अभी पार होने के लिए लकड़ी चाहिए, तो मुरदा लकड़ी दिखाई पड़ता है। वासना में वही दिखाई पड़ता है, जो आप देखना चाहते हैं; वह नहीं दिखाई पड़ता, जो है। आत्मा में वही दिखाई पड़ता है, जो है; वह नहीं दिखाई पड़ता, जो आप देखना चाहते हैं। इसलिए आत्मा तो सत्य को देखती है, वासना अपने खुद के झूठे सत्य निर्मित करती है, प्रोजेक्ट करती है। अब यह सांप नहीं दिखाई पड़ा, रस्सी दिखाई पड़ी। प्रोजेक्शन हो गया। रस्सी चाहिए थी, चढ़ गए।

पत्नी ने एक बात कही कि जितना मेरे लिए दौड़ते हैं, काश, इतना राम के लिए दौड़ें! बस, वासना मित्र हो गई! उसी दिन से मित्र हो गई, उसी घड़ी, उसी क्षण। इस क्षण के पहले तक शत्रु थी। यात्रा बदल गई, रुख बदल गया, मुंह फिर गया। कल तक जहां पीठ थी, उस तरफ आंखें हो गईं; और कल तक जहां आंखें थीं, वहां पीठ हो गई। रास्ता वही है, लेकिन यात्रा बदल गई।

आप यहां तक आए हैं। जिस रास्ते से आए हैं, उसी रास्ते से वापस लौटेंगे। रास्ता वही है, लेकिन अभी मेरी तरफ आते थे, तो आंखें मेरी तरफ थीं; अब घर की तरफ जाएंगे, तो घर की तरफ आंखें होंगी। अभी आए थे, तो घर की तरफ पीठ थी।

वासना ही रास्ता है परमात्मा से दूर जाने का भी और परमात्मा के पास आने का भी। वासना में ज्यादा जाइए, तो दूर चले जाएंगे; वासना में कम से कम जाइए--लौटते आइए, लौटते आइए--तो परमात्मा में आ जाएंगे। जिस दिन वासना पूर्ण होगी, उस दिन परमात्मा से डिस्टेंस एब्सोल्यूट होगा। जिस दिन वासना शून्य होगी, उस दिन परमात्मा से नो डिस्टेंस पूर्ण होगा। उस दिन निकटता पूरी हो जाएगी, जिस दिन वासना नहीं होगी। जिस दिन वासना ही वासना होगी, उस दिन दूरी पूर्ण हो जाएगी। रास्ता वही होता है। सीढ़ी वही होती है, जो ऊपर ले जाती है मकान के। सीढ़ी वही होती है, जो नीचे लाती है मकान के। आप भी वही होते हैं, सीढ़ी भी वही होती है, सिर्फ रुख बदल जाता है। चढ़ते वक्त ऊपर की तरफ नजर होती है, उतरते वक्त नीचे की तरफ नजर होती है।

नहीं, कृष्ण जब वैरी कह रहे हैं वासना को, तो निंदा नहीं कर रहे हैं, सिर्फ सूचना दे रहे हैं अर्जुन को कि वासना वैरी बन सकती है, बन जाती है। सौ में निन्यानबे मौकों पर वैरी ही होती है। और जब मैं कहता हूं कि वासना मित्र है, तो मैं कह रहा हूं कि सौ में निन्यानबे मौकों पर वासना वैरी होती है, लेकिन सौ में निन्यानबे मौके पर भी वासना मित्र बन सकती है। मैं संभावना की बात कह रहा हूं, कृष्ण वास्तविकता की बात कह रहे हैं। कृष्ण कह रहे हैं, जो है; मैं कह रहा हूं वह, जो हो सकता है। और जो है, वह इसीलिए कह रहे हैं, ताकि वह हो सके, जो होना चाहिए। अन्यथा जो है, उसको कहने का कोई भी प्रयोजन नहीं है।

प्रश्नः भगवान श्री, अभी आपने कहा कि वासना, अधिक वासना का अर्थ है, परमात्मा से अधिक दूरी; और दूसरी जगह आप कहते हैं कि वासना की चरम ऊंचाइयों पर ही रूपांतरण होता है। कृपया इसे स्पष्ट करें।

निश्चय ही, जितने दूर होते हैं हम, वासना में जितने गहरे होते हैं, उतने परमात्मा से दूर होते हैं। लेकिन गहराइयों का भी अंत है। और जब कोई व्यक्ति वासना की चरम सीमा पर पहुंच जाता है, तो उसके आगे वासना नहीं है फिर। जिस दिन कोई वासना के आखिरी छोर को छू लेता है, उस दिन ऐसा आदमी है वह, जो पूरी पृथ्वी का चक्कर लगा आया और अब भलीभांति जानता है कि क्षितिज आकाश को कहीं भी नहीं छूता। उस दिन रूपांतरण, उस दिन परमात्मा की तरफ लौटना शुरू होता है।

इसलिए जब मैं कहता हूं कि वासना पूरी है, तो परमात्मा से पूरी दूरी है, तब मैं यह नहीं कह रहा हूं कि लौटना असंभव है। सच तो यह है कि पूरी दूरी से ही लौटना आसान होता है, बीच से लौटना आसान नहीं होता। इसलिए हम अक्सर देखते हैं कि पापी शीघ्रता से संतत्व को उपलब्ध हो जाते हैं। मीडियाकर, मध्यवर्गीय चित्त के लोग शीघ्रता से संतत्व को उपलब्ध नहीं होते। कोई वाल्मीकि शीघ्रता से... । पाप की आखिरी गहराई छू ली। और जब कृष्ण ऐसे आदमी से कहेंगे कि पाप वैरी है, तो वाल्मीकि जितना ठीक से समझ सकता है, उतना अर्जुन नहीं समझ सकता। क्योंकि अर्जुन ने वासना को उस गहराई तक छुआ भी नहीं है, जहां उसका वैरीपन पूरा प्रकट हो जाए। वाल्मीकि जानता है अनुभव से, कृष्ण जो कहते हैं, वाल्मीकि जानता है अपनी पीड़ा से, वह कहेगा कि ठीक है। वाल्मीकि के पूरे प्राण से निकलेगा, हां, यही है सच कि वासना दुख और पीड़ा और नरक है। और उसके नरक को वह जानता है, उसका लौटना शीघ्रता से होता है।

तो जब मैं कहता हूं कि दूरी पूर्ण है परमात्मा से, तभी छलांग का क्षण भी है। वह मैं नहीं कह रहा हूं कि छलांग नहीं लग सकती। कोई आदमी इतनी वासना में नहीं हो सकता कि वहां से लौट न सके, क्योंकि कोई आदमी किसी रास्ते पर इतना आगे नहीं जा सकता कि उसी रास्ते से वापस न आ सके। हां, अगर कल-डि-सेक

आ जाए, रास्ते का अंत आ जाए, वहां से रास्ता ही खत्म हो जाए, आगे खड्ड हो अनंत और कोई रास्ता न हो, तो लौटना ज्यादा तीव्रता से होता है कि व्यर्थ हो गया यह रास्ता।

लेकिन बीच में जो लोग होते हैं, उन्हें आगे रास्ता दिखाई पड़ता है। उन्हें लगता है, अभी तो रास्ता शेष है। आप कहते हैं कि नर्क है, लेकिन हम आखिर तक जाकर तो देख लें! क्योंकि अब तक तो मन ने कहा कि स्वर्ग आगे है। आप कहते हैं, पीछे है! मन तो कहता है, आगे है। वासना तो कहती है, और थोड़ा, और थोड़ा, बस एक मील का पत्थर और पूरा करो। और वासना कभी भी पूरी बात नहीं कहती, हमेशा इंस्टालमेंट में कहती है। इतना और कर लो, बस इतने में तो देर नहीं, थोड़ी-सी तो बात रह गई है। दस-पांच कदम और, और मंजिल आ रही है। अब यहां से लौट रहे हो! पागल हो! कहते होंगे कृष्ण। पता नहीं, यह आदमी झूठ कहता हो; पता नहीं, यह आदमी धोखा देता हो; पता नहीं; इस आदमी की बात कहां तक सच है!

अर्जुन को दिक्कत होती है समझने में, वाल्मीकि को दिक्कत नहीं होगी। वाल्मीकि कहेगा, ठीक कहते हो! आगे रास्ता कहां है! अब तो सब मील के पत्थर खत्म हुए। तो वाल्मीकि जैसा आदमी क्षण में, क्षण में, सडेन क्रांति से गुजर जाता है। अनेक लोग मुझसे पूछते हैं कि वाल्मीकि जैसे पापी, और इतने बड़े संत कैसे हो सकते है! तो मैं उनसे कहता हूं कि जो आदमी इतना पापी होने की हिम्मत कर सकता है, वह आदमी उतनी ही मात्रा में संत होने की हिम्मत कर सकता है--साहस है।

हममें तो पापी होने का भी साहस नहीं होता, पुण्यात्मा होने का साहस तो जरा दूर की बात है। अगर हम पापी नहीं होते, तो उसका कारण यह नहीं होता कि हम पुण्यात्मा हैं; उसका कुल कारण इतना होता है कि पापी होने का भी साहस नहीं है। अगर आदमी चोरी नहीं करता, तो उसकी वजह यह नहीं कि वह अचोर है, सौ में निन्यानबे मौकों पर वजह इतनी ही होती है कि चोर के लिए जितनी हिम्मत चाहिए, उतनी भी उसमें नहीं है। चोर तो वह है ही, सिर्फ हिम्मत नहीं है, इसलिए एक्ट नहीं कर पाता; विचार ही करता रहता है। सोचता ही रहता है, कर नहीं पाता। सोचता ही सोचता रहता है।

वाल्मीकि जैसे लोग हिम्मतवर हैं। और जब वे पाप में छलांग लगा सकते हैं बेशर्त, तो किसी दिन अगर उनको पता चल जाए कि पाप का रास्ता समाप्त हुआ, तो परमात्मा में वे छलांग नहीं लगा सकेंगे! इतनी ही बेशर्त छलांग परमात्मा में भी लगा देते हैं। छलांग की हिम्मत जिसको पाप में भी है, उसको परमात्मा में न होगी! जो नर्क में कूद सकता है, उसके सामने स्वर्ग आ जाए, तो नहीं कूदेगा!

लेकिन हम, हम कोई हिम्मत नहीं जुटा पाते। इसलिए बीच के आदमियों की कठिनाई है; वे दोनों बातें मानते रहते हैं। इधर रोज गीता भी पढ़ लेते हैं और कहते हैं कि वासना वैरी है, और दिन-रात वासना को सोचकर सोचते भी हैं कि होता है। कहते तो हैं कृष्ण, पता नहीं, चित्त तो यही कहता है कि वासना ही मित्र है। इसलिए फिर सुबह गीता पढ़ लेते हैं, फिर चौबीस घंटे वासना में जीते हैं, फिर सुबह गीता पढ़ लेते हैं। फिर उनकी यह नियमित आदत हो जाती है। वासना में भी जीते हैं, वासना के खिलाफ पढ़कर अपने मन को भी हलका कर लेते हैं।

यह बड़ी तरकीब है चालाक, कनिंग! इस भांति वे दोहरा काम करते हैं। इस भांति वे वासना में भी जीते रहते हैं और अपने मन को भी समझाते रहते हैं कि मैं कोई बुरा आदमी नहीं हूं, रोज गीता पढ़ता हूं, वासना वैरी है। आदमी तो अच्छा हूं, जरा समय नहीं आया; अभी प्रभु की कृपा नहीं है; अभी पिछले जन्मों के कर्म बाधा डाल रहे हैं; अभी स्थिति नहीं बनी, इस तरह समझाते। गीता तो रोज पढ़ता ही हूं, इसलिए अपने अहंकार को भी भीतर बचाए रखते हैं कि मैं जानता हूं कि वासना वैरी है। और अपने चित्त को भी चलाए रखते

हैं वासना में। ऐसे वे दो नावों पर सवार होते हैं। कहीं नहीं पहुंचते। न पाप के अंत पर पहुंचते, न पुण्य के अंत पर पहुंचते। सदा ही उनकी दो नावें बीच में ही भटकती रहती हैं। अनंत जन्म ऐसे बीत सकते हैं।

अगर कोई आदमी साहस से वासना में ही चला जाए, तो आज नहीं कल वासना के बाहर आना पड़ेगा। सिर्फ परमात्मा के बाहर आने का उपाय नहीं है, बाकी तो कहीं से भी बाहर आना पड़ेगा। क्योंकि जिस दिन पता चलेगा कि व्यर्थ है, उसी दिन लौटना शुरू हो जाएगा। उस दिन फिर कृष्ण की बात उधार नहीं मालूम पड़ेगी, आथेंटिक, प्रामाणिक हो जाएगी। प्राणों की, अपने ही प्राणों से आई हुई मालूम पड़ेगी। उस दिन गवाही दे सकेगा वाल्मीकि कि ठीक कहते हो तुम, मैं भी दस्तखत करता हूं, मैं भी गवाह हूं, विटनेस हूं कि यही बात है। सिर्फ नर्क के और कुछ भी नहीं आता।

इसलिए जब मैं कहता हूं कि वासना की पूर्णता पर ही रूपांतरण होता है, तो मेरी दोनों बातों में कोई विरोध नहीं है। वासना की पूर्णता पर आप परमात्मा से सर्वाधिक दूर होते हैं, लेकिन वासना की पूर्णता पर, चरम स्थिति में रूपांतरण की संभावना भी सर्वाधिक होती है। असल में जो परमात्मा से सर्वाधिक दूर है, वही शायद परमात्मा की सर्वाधिक कमी भी अनुभव कर पाता है। और जो परमात्मा से सर्वाधिक दूर है, वही शायद दौड़कर परमात्मा की गोद में भी गिर पाता है। जिनको लगता है कि हम तो पास ही हैं मंदिर के, पड़ोस में, वे सोचते हैं, कभी भी हो लेंगे। ऐसी कोई जल्दी भी क्या है? पड़ोस में ही मंदिर है, कभी भी मंदिर में चले जाएंगे। आदमी हम भले हैं, ऐसा परमात्मा की तरफ दौड़ने की जरूरत भी क्या है? कभी भी, कभी भी।

एक अंग्रेज लेखक ने एक छोटी-सी किताब लिखी है। उस किताब में उसने लिखा है कि लंदन में दूसरे यात्री आते हैं सारी दुनिया से, तो लंदन का टावर देख लेते हैं; पर लंदन में ऐसे लाखों लोग हैं, जिन्होंने लंदन का टावर नहीं देखा है। नहीं देखा इसलिए कि देख लेंगे कभी भी। रोज उसी के पास से दफ्तर के लिए जाते हैं, देख लेंगे कभी भी! इतने पास है, ऐसा अहसास जो है--देख लेंगे। पेकिंग से आदमी आता है, देख लेता है। टोकियो से आता है, देख लेता है। बंबई से आता है, देख लेता है। लंदन का निवासी टावर के सामने ही रहता है, पत्थर फेंके तो टावर पर पहुंच जाए, लेकिन वह नहीं पहुंचता। वह सोचता है, देख लेंगे।

वैटिकन के पोप से एक दफा एक अमेरिकी यात्री मिलने आया। तीन मित्र साथ ही आए। वैटिकन के पोप ने पूछा कि फ्रांस में कितने दिन रुकने का इरादा है? एक अमेरिकन ने कहा, छः महीने। वैटिकन के पोप ने कहा कि तुम थोड़ा-बहुत फ्रांस जरूर देख लोगे। दूसरे से पूछा, तुम कितने दिन रुकोगे? उसने कहा, मैं तो सिर्फ तीन सप्ताह रुकूंगा। वैटिकन के पोप ने कहा, तुम काफी फ्रांस देख लोगे। तीसरे से पूछा, तुम कितने दिन रुकोगे? उसने कहा, मैं तो सिर्फ एक सप्ताह के लिए आया हूं। वैटिकन के पोप ने कहा कि तुम पूरा फ्रांस देख लोगे। तीनों चकित हुए। उन्होंने कहा, आप क्या कहते हैं! मैं छः महीना रुकूंगा, मुझसे कहते हैं कि थोड़ा-बहुत देख लोगे। तीन सप्ताह वाले से कहते हैं, काफी देख लोगे। एक सप्ताह वाले से कहते हैं, पूरा देख लोगे! वैटिकन के पोप ने कहा कि जिंदगी का मेरा अनुभव यही है कि जिसके पास लगता है कि बहुत समय है, वह उतना आराम कर लेता है। जिसके पास लगता है कि समय कम है, वह शीघ्रता से दौड़-धूप कर लेता है। जो चीज लगती है कि कभी भी मिल जाएगी, उसे हम कभी नहीं पाते। और जो चीज लगती है कि अब आखिरी घड़ी आ गई, जहां से छूटी तो सदा को छूट जाएगी, हम दौड़ पड़ते हैं।

इसलिए अगर कभी पापी अपने पाप की चरम सीमा से परमात्मा की गोद में सीधा पहुंच जाता है, तो बहुत चकित होने की जरूरत नहीं है। वह दौड़ पाता है। उसे लगता है, आ गई आखिरी जगह, यहां से एक कदम और कि मैं सदा के लिए खो जाऊंगा; फिर लौटने की कोई जगह न रह जाएगी। लौट पड़ता है। आपको नहीं

लगता है। आपको लगता है, रास्ता साफ सुथरा है; बिल्कुल मेटल रोड है; मजे से चले जा रहे हैं। गति अच्छी है। और फिर भगवान पास है। भले आदमी हैं, दान भी देते हैं, गीता भी पढ़ते हैं, मस्जिद भी जाते हैं, मंदिर भी जाते हैं, साधु-संत को नमस्कार भी करते हैं, और क्या चाहिए! कभी भी चले जाएंगे। पास है।

नहीं। इसलिए पाप की पीड़ा मनुष्य को परमात्मा के पास पहुंचा देती है और पुण्य का अहंकार मनुष्य को परमात्मा से दूर कर देता है।

इन्द्रियाणि मनो बुद्धिरस्याधिष्ठानमुच्यते।
एतैर्विमोहयत्येष ज्ञानमावृत्य देहिनम्।। 40।।
तस्मात्त्वमिन्द्रियाण्यादौ नियम्य भरतर्षभ।
पाप्मानं प्रजहि ह्येनं ज्ञानविज्ञाननाशनम्।। 41।।

इंद्रियां, मन (और) बुद्धि इसके वासस्थान कहे जाते हैं (और) यह (काम) इनके द्वारा ही ज्ञान को आच्छादित करके (इस) जीवात्मा को मोहित करता है।

इसलिए, हे अर्जुन! तू पहले इंद्रियों को वश में करके ज्ञान और विज्ञान को नाश करने वाले इस (काम) पापी को निश्चयपूर्वक मार।

कृष्ण कहते हैं, अर्जुन! इंद्रियां, मन, यही काम के, वासना के मूल स्रोत हैं। इन्हीं के द्वारा वासना का सम्मोहन उठता है और जीवात्मा को घेर लेता है। यही हैं स्रोत, जहां से विषाक्त झरने फैलते हैं और जीवन को भटका जाते हैं। तू पहले इन पर वश को उपलब्ध हो, तू इन्हें मार डाल। कृष्ण सख्त से सख्त शब्द का उपयोग करते हैं। वे कहते हैं, तू इन्हें मार डाल, तू इन्हें समाप्त कर दे।

इस शब्द के कारण बड़ी भ्रांति पैदा हुई है। इंद्रियों को, मन को मार डाल--इससे अनेक लोगों को ऐसा लगा कि इंद्रियां काट डालो, आंखें फोड़ डालो, टांगें तोड़ दो। न रहेंगे पैर, जब पैर ही न रहेंगे, तो भागोगे कैसे वासना के लिए!

लेकिन उन्हें पता नहीं कि वासना बिना पैर के भागती है, वासना के लिए पैरों की कोई जरूरत नहीं है। लंगड़े भी वासना में उतनी ही तेजी से भागते हैं, जितने तेज से तेज भागने वाले भाग सकते हैं। फोड़ दो आंखों को, लेकिन अंधे भी वासना में उसी तरह देखते हैं, जैसे आंख वाले देखते हैं। बल्कि सच तो यह है, आंख बंद करके वासना जितनी सुंदर होकर दिखाई पड़ती है, खुली आंख से कभी दिखाई नहीं पड़ती। इसलिए जो बहुत खुली आंख से देखता है, वह तो कभी वासना से ऊब भी जाता है। लेकिन जो आंख बंद करके ही देखता है, वह तो कभी नहीं ऊबता है।

इंद्रियों को मार डाल अर्जुन, इस वचन से बड़े ही गलत अर्थ लिए गए हैं। क्योंकि मारने की बात नहीं समझी जा सकी। हम तो मारने से एक ही मतलब समझते हैं कि किसी चीज को तोड़ डालो। जैसे कि एक बीज है। बीज को मारना दो तरह से हो सकता है। एक, जैसा हम समझते हैं। बीज को मार डालो, तो हम कहेंगे, दो पत्थरों के बीच में दबाकर तोड़ दो, मर जाएगा। लेकिन यह बीज का मारना बहुत कुशलतापूर्ण न हुआ। क्योंकि उसमें तो वह भी मर गया, जो वृक्ष हो सकता था। बीज को मारने की कुशलता तो तब है, कि बीज मरे और वृक्ष हो जाए। नहीं तो बीज को मारने से क्या फायदा होगा? निश्चित ही, जब वृक्ष पैदा होता है, तो बीज मरता है।

बीज न मरे, तो वृक्ष पैदा नहीं होता। बीज को मरना पड़ता है, मिट जाना पड़ता है। राख, धूल हो जाता है, मिट्टी में मिलकर खो जाता है, तब अंकुर पैदा होता है और वृक्ष बनता है।

इंद्रियों को मारना, दो पत्थरों के बीच में बीज को दबाकर मार डालने जैसी बात समझी है कुछ लोगों ने। और उसके कारण एक बहुत ही न्यूरोटिक एसेटिसिज्म, एक बहुत विक्षिप्त, पागल त्यागवाद पैदा हुआ; जो कहता है, तोड़ दो, मिटा दो! लेकिन जिसे तुम मिटा रहे हो, उसमें कुछ छिपा है। उसे तो मुक्त कर लो। अगर वह मुक्त न हुआ, तो तुम भी मिट जाओगे। उसमें तुम भी मिटोगे, क्योंकि इंद्रियों में कुछ छिपा है, जो हमारा है। मन में कुछ छिपा है, जो हमारा है। मन को तोड़ना है, लेकिन मन में जो ऊर्जा है, वह आत्मा तक पहुंचा देनी है। इंद्रियों को तोड़ना है, लेकिन इंद्रियों में जो छिपा है रस, वह आत्मा तक वापस लौटा देना है। इसलिए मारने का मतलब ट्रांसफार्मेशन है, मारने का मतलब रूपांतरण है। असल में रूपांतरण ही ठीक अर्थ में मृत्यु है।

अब यह बड़े मजे की बात है। अगर आप बीज को दो पत्थरों से भी कुचल डालें, तब भी बीज होता है, कुचला हुआ होता है। लेकिन जब एक बीज टूटकर वृक्ष बनता है, तो कहीं भी नहीं होता। कुचला हुआ भी नहीं होता। ख्याल किया आपने! जब एक बीज वृक्ष बनता है, तो फिर खोजने जाइए कि बीज कहां है, फिर कहीं नहीं मिलेगा। लेकिन दो पत्थरों के बीच में दबाकर कुचल दिया, तो कुचला हुआ मिलेगा। और कुचली हुई इंद्रियां और भी कुरूप जीवन को पैदा कर देती हैं। बहुत परवर्टेड हो जाती हैं।

तीन शब्द आपको कहना चाहूंगा। एक शब्द है प्रकृति। अगर प्रकृति को कुचला, तो जो पैदा होता है, उसका नाम है विकृति। और अगर प्रकृति को रूपांतरित किया, तो जो पैदा होता है, उसका नाम है संस्कृति। प्रकृति अगर कुरूप हो जाए, कुचल दी जाए, तो विकृत हो जाती है, परवर्ट हो जाती है। और प्रकृति अगर रूपांतरित हो जाए, ट्रांसफार्म हो जाए, सब्लिमेट हो जाए, तो संस्कृति पैदा होती है।

तो इंद्रियों और मन को अर्जुन से जब वे कहते हैं, मार डाल। तो कृष्ण के मुंह में ये शब्द वह अर्थ नहीं रखते, जो अर्थ त्यागवादियों के मुंह में हो जाता है। क्योंकि कृष्ण इंद्रियों के कहीं भी विरोधी नहीं हैं। कृष्ण से, इंद्रियों का कम विरोधी आदमी खोजना मुश्किल है। कृष्ण रोते हुए, उदास, मुरदा आदमी नहीं हैं।

कृष्ण से ज्यादा नाचता हुआ, कृष्ण से ज्यादा हंसता हुआ व्यक्तित्व पृथ्वी पर खोजना मुश्किल है। इसलिए कृष्ण कहीं इंद्रियों को कुचलने के लिए कह रहे हों, यह तो असंभव है; यह इंट्रिंजिकली इंपासिबल है। यह कृष्ण के व्यक्तित्व में बात आ ही नहीं सकती। जो आदमी बांसुरी बजा रहा है, जो आदमी रात चांद-तारों के नीचे नाच रहा है, इस आदमी के मुंह से इंद्रियों को कुचलने की बात समझ में नहीं आती। यह मोर-मुकुट लगाकर खड़ा हुआ आदमी, यह प्रेम से भरपूर व्यक्तित्व, यह जीवन को उसकी सर्वांगता में स्वीकार करने वाला चित्त, यह मारने की बात!

इसके मारने की बात का मतलब कुछ और है। नहीं तो, यह निरंतर अर्थ लिया गया है।

और अर्थ हम वही ले लेते हैं, जो हम लेना चाहते हैं। इंद्रियां दुख में ले जाती हैं, यह सच है। इसलिए जो दुख में ले जाता है, उसको हम मार डालें वायलेंटली, यह हमारा मन होता है। जो दुख में ले जाता है, काट डालो। आंख रूप पर मोहित करती है, फोड़ दो। कान संगीत में डांवाडोल होते हैं, फोड़ दो। लग सकता है तर्कयुक्त। ठीक है, जो दुख में ले जाता है, उसे मिटा दो। लेकिन हमें पता नहीं कि जो दुख में ले जाता है, उसमें भी हमारी ऊर्जा छिपी है; जो दुख में ले जाता है, उसमें भी हम छिपे हैं। उस छिपे हुए को भी अगर हमने कुचल दिया, तो हम ही कुचल जाएंगे।

इसलिए त्यागी-तपस्वी--तथाकथित, दि सोकाल्ड--जिसको पता नहीं है, वह आमतौर से खुद के साथ हिंसा करता रहता है। कहीं कोई रूपांतरण नहीं होता है, सिर्फ हिंसा होती है। और अगर हम दूसरे के साथ हिंसा करें, तो हम अदालत में पहुंचा दिए जाएं। और अपने साथ करें... तो अभी तक दुनिया में इतना न्याय नहीं है कि हम उस आदमी को अदालत में पहुंचाएं, जो अपने साथ हिंसा करता है।

अब यह बड़े मजे की बात है! आपकी छाती पर छुरा रख दूं, तो अदालत। और अपनी छाती पर छुरा रख लूं, तो सम्मान है! पागलपन है। छुरा दोनों हालत में छाती पर रखा जाता है। इससे क्या फर्क पड़ता है कि वह किसकी छाती है। आंखें आपकी फोड़ दूं, तो मुझे सम्मान मिलना चाहिए न, क्योंकि मैंने आपकी इंद्रियां मारने में सहायता दी! आत्मज्ञान का रास्ता दे रहा हूं। लेकिन कोई राजी न होगा। लेकिन अपनी फोड़ लूं, तो आप ही मेरे पैर छूने आएंगे कि यह आदमी परम तपस्वी है, इसने आंखें फोड़ लीं! लेकिन अगर आपकी आंखें फोड़ना अपराध है, तो मेरी आंखें फोड़ना कैसे पुण्य हो जाएगा?

इंद्रियों के विरोध में यह वक्तव्य नहीं है, इंद्रियों के रूपांतरण के लिए यह वक्तव्य है। और मजा यह है कि रूपांतरण से ही इंद्रियां मरती हैं, मारने से कोई इंद्रिय कभी नहीं मरती। इसलिए मैं कहता हूं कि रूपांतरण के लिए यह वक्तव्य है। मारकर देखें किसी इंद्रिय को। और जिस इंद्रिय को मारेंगे, वही इंद्रिय सबसे ज्यादा सशक्त हो जाएगी। सच तो यह है कि जो इंद्रिय मरती है, उसी इंद्रिय पर सारी इंद्रियों की शक्ति दौड़कर लग जाती है। नियम है हमारे शरीर का एक कि शरीर का जो हिस्सा हम कमजोर कर लेते हैं, पूरा शरीर उसे सहारा देने लगता है। देना ही चाहिए। कमजोर को सहारा मिलना ही चाहिए।

शरीर की जिस इंद्रिय से आप लड़ेंगे और कमजोर करेंगे, पूरा शरीर उस इंद्रिय को सहायता देगा और वही इंद्रिय आपके भीतर सब कुछ हो जाएगी। यानी ऐसा हो जाएगा कि अगर आप कामवासना से लड़े, तो आपके भीतर कामवासना की इंद्रिय ही आपका व्यक्तित्व हो जाएगी। सब कुछ वही हो जाएगी। अगर आप लोभ से लड़े, क्रोध से लड़े, ईर्ष्या से लड़े--जिससे भी आप लड़े--तो उसका जो केंद्र आपके भीतर है, वही सबसे ज्यादा सेंसिटिव, संवेदनशील हो जाएगा और आप उसी में घिरे हुए जीएंगे।

मैंने अभी एक... थियोडर रैक; एक बहुत बड़े मनोवैज्ञानिक ने अपने संस्मरण लिखे। उसने एक बहुत अदभुत बात लिखी है। उसने लिखा है, योरोप में ऐसे छोटे-छोटे द्वीप हैं। एक छोटा द्वीप है, जिस पर अब तक किसी स्त्री ने पैर नहीं रखा। क्योंकि वह कैथोलिक मोनेस्ट्री है; कैथोलिक ईसाइयों के साधु सिर्फ उस द्वीप पर रहते हैं। छोटा-सा दस-बारह मील के घेरे का द्वीप है। पिछले पांच सौ वर्ष से एक भी स्त्री उस पर पैर नहीं रख सकी है, क्योंकि स्त्री को मनाही है उस द्वीप पर आने की। और उस द्वीप पर जो पुरुष एक दफा उतर जाता है साधना के लिए, वह फिर जिंदा हालत में वहां से नहीं लौट सकता। पांच सौ वर्ष से शुद्ध पुरुषों का समाज है।

लेकिन थियोडर रैक ने लिखा है कि एक बड़ी अजीब बात वहां दिखाई पड़ती है और वह यह कि उस द्वीप के जो भी निवासी हैं, जो भी साधु वहां तपश्चर्या कर रहे हैं, उनके स्वप्न जितने स्त्रियों से भरे हुए हैं, उतने दुनिया में किसी भी, पृथ्वी के किसी कोने में किसी के भी स्वप्न उतने भरे हुए नहीं हैं। और इससे भी बड़े मजे की बात लिखी है और वह यह, वह यह लिखी है कि उन पुरुषों में से कुछ पुरुष स्त्रियों जैसे चलते हैं और स्त्रियों जैसे बोलते हैं। उसमें उसने कारण खोजा है कि जिंदगी पोलर है। अगर स्त्रियां बिल्कुल न होंगी, तो कुछ पुरुष स्त्रियों का एक्ट करने लगेंगे और कुछ पुरुष उन स्त्रीरूपी पुरुषों के साथ प्रेम के एक्ट करने लगेंगे। होमो-सेक्सुअल सोसाइटी वहां पैदा हो जाएगी। वहां पुरुष पुरुष के साथ ही स्त्री-पुरुष जैसा व्यवहार करने लगेंगे।

अब उस द्वीप की तकलीफ हम समझ सकते हैं कि तकलीफ क्या है। उन्होंने एक इंद्रिय को मार डालने की कोशिश की। परिणाम जो होना था वही हुआ है, इंद्रिय नहीं मरी, सिर्फ विषाक्त हो गई, विकृत हो गई, कुरूप हो गई। और उसने और दूसरे उपद्रव के रास्ते खोज लिए। मनुष्य जाति की अधिकतम विकृति और परवर्शन इंद्रियों को काट डालने और मार डालने के ख्याल से पैदा हुआ है।

लेकिन कृष्ण का वह मतलब नहीं है। कृष्ण का मतलब है, रूपांतरण। और रूपांतरण ही वस्तुतः इंद्रियों की मृत्यु है। यह रूपांतरण ही इंद्रियों को वश में करना है। इंद्रियां मार डालें, तो फिर वश में करने की कोई जरूरत नहीं रह जाती है।

अगर बाप अपने बेटे को मार डाले और फिर कहे कि बेटा मेरे वश में है, ओबिडिएंट है, बेकार की बात करता है। मरा हुआ बेटा तो ओबिडिएंट होता ही है। और अक्सर ऐसा होता है कि ओबिडिएंट बेटे मरे हुए बेटे होते हैं। अक्सर। क्योंकि उनको ओबिडिएंट बनाने में करीब-करीब मार डाला जाता है। लेकिन मरे हुए बेटे के आज्ञाकारी होने का क्या अर्थ? बेटा होना चाहिए जिंदा, जिंदा से जिंदा, और फिर आज्ञाकारी, तब पिता का कुछ अर्थ है, अन्यथा कोई अर्थ नहीं। मरे-मराए विद्यार्थी को बिठाकर गुरु अगर अकड़ता रहे और मरे हुए विद्यार्थी घिराव न करें, तो ठीक है। जिंदा होने चाहिए--पूरे जिंदा, पूरे जीवंत--और फिर गुरु के चरणों पर सिर रख देते हों, तो कुछ अर्थ है।

इंद्रियां मार डाली जाएं, काट डाली जाएं और आपके वश में हो जाएं, तो होती नहीं हैं, सिर्फ भ्रम पैदा होता है। मरी हुई इंद्रियों को क्या वश में करना! नहीं, इंद्रियां वश में हों। स्वस्थ हों, जीवंत हों, लेकिन मालिक न हों। आपको न चलाती हों, आप उन्हें चलाते हों। आपको आज्ञा न देती हों, आपकी आज्ञा उन तक जाती हो। वे आपकी छाया की तरह चलती हों।

साक्षी व्यक्ति की इंद्रियां अपने आप छाया की भांति पीछे चलने लगती हैं। जो अपने को कर्ता समझता है, वही इंद्रियों के वश में होता है। जो अपने को मात्र साक्षी समझता है, वह इंद्रियों के वश के बाहर हो जाता है। जो इंद्रियों के वश में होता है, उसके वश में इंद्रियां कभी नहीं होतीं। और जो इंद्रियों के वश के बाहर हो जाता है, सारी इंद्रियां समर्पण कर देती हैं उसके चरणों में और उसके वश में हो जाती हैं। समर्पण का, इंद्रियों के समर्पण का सूत्र क्या है? भीतर हम दो तरह के भाव रख सकते हैं, या तो भोक्ता का, कर्ता का, या साक्षी का। कर्ता भोक्ता होता है।

मैं एक छोटी-सी कहानी आपसे कहूं, फिर दूसरा सूत्र हम ले लें।

मैंने सुना है, कृष्ण के गांव के बाहर एक तपस्वी का आगमन हुआ। कृष्ण के परिवार की महिलाओं ने कहा कि हम जाएं और तपस्वी को भोजन पहुंचा दें। लेकिन वर्षा और नदी तीव्र पूर पर और तपस्वी पार। उन स्त्रियों ने कहा, हम जाएं तो जरूर, लेकिन नाव लगती नहीं, नदी कैसे पार करेंगे? खतरनाक है पूर, तपस्वी भूखा और उस पार वृक्ष के नीचे बैठा है। भोजन पहुंचाना जरूरी है। क्या सूत्र, कोई तरकीब है? कृष्ण ने कहा, नदी से कहना, अगर तपस्वी जीवनभर का उपवासा हो, तो नदी राह दे दे। भरोसा तो न हुआ, पर कृष्ण कहते थे, तो उन्होंने कहा, एक कोशिश कर लेनी चाहिए।

जाकर नदी से कहा कि नदी, राह दे दे, अगर तपस्वी उस पार जीवनभर का उपवासा हो। भरोसा तो न हुआ, लेकिन जब नदी ने राह दे दी, तो कोई उपाय न रहा! स्त्रियां पार हुईं। बहुत भोजन बनाकर ले गई थीं। सोचती थीं कि एक व्यक्ति के लिए इतने भोजन की तो जरूरत भी नहीं, लेकिन फिर भी कृष्ण के घर से भोजन

आता हो, तो थोड़ा-बहुत ले जाना अशोभन था, बहुत ले गई थीं, सौ-पचास लोग भोजन कर सकें। लेकिन चकित हुईं, भरोसा तो न आया, वह एक तपस्वी ही पूरा भोजन कर गया।

फिर लौटीं। नदी ने तो रास्ता बंद कर दिया था, नदी तो फिर बही चली जा रही थी। तब वे बहुत घबड़ाईं कि अब तो गए! क्योंकि अब वह सूत्र तो काम करेगा नहीं कि तपस्वी जीवनभर का उपवासा हो... । लौटकर तपस्वी से कहा, आप ही कुछ बताएं। हम तो बहुत मुश्किल में पड़ गए। हम तो नदी से यही कहकर आए थे कि तपस्वी जीवनभर का उपवासा हो, तो मार्ग दे दे। नदी ने मार्ग दे दिया। तपस्वी ने कहा, वही सूत्र फिर कह देना। पर उन्होंने कहा, अब! भरोसा तो पहले भी न आया था, अब तो कैसे आएगा? तपस्वी ने कहा, जाओ नदी से कहना, तपस्वी जीवनभर का उपवासा हो, तो राह दे दे।

अब तो भरोसा करना एकदम ही मुश्किल था। लेकिन कोई रास्ता न था, नदी के पार जाना था जरूर। नदी से कहा कि नदी राह दे दे, अगर तपस्वी जीवनभर का उपवासा हो। और नदी ने राह दे दी! भरोसा तो न आया। नदी पार की। कृष्ण से जाकर कहा कि बहुत मुश्किल है! पहले तो हम तुमसे ही आकर पूछने वाले थे कि अदभुत मंत्र दिया! काम कैसे किया? लेकिन छोड़ो उस बात को अब। लौटते में और भी बड़ा चमत्कार हुआ है। पूरा भोजन कर गया तुम्हारा तपस्वी और नदी ने फिर भी राह दी है और हमने यही कहा कि उपवासा हो जीवनभर का... ।

कृष्ण ने कहा, तपस्वी जीवनभर का उपवासा ही है, तुम्हारे भोजन करने से कुछ बहुत फर्क नहीं पड़ता। पर वे सब पूछने लगीं कि राज क्या है इसका? अब हमें नदी में उतनी उत्सुकता नहीं है। अब हमारी उत्सुकता तपस्वी में है। राज क्या है? उससे भी बड़ी घटना, नदी से भी बड़ी घटना तो यह है कि आप भी कहते हैं।

तो कृष्ण ने कहा, जब वह भोजन कर रहा था, तब भी वह जानता था, मैं भोजन नहीं कर रहा हूं; वह साक्षी ही था। भोजन डाला जा रहा है, वह पीछे खड़ा देख रहा है। जब वह भूखा था, तब भी साक्षी था; जब भोजन लिया गया, तब भी साक्षी है। उसका साक्षी होने का स्वर जीवनभर से सधा है। उसको अब तक डगमगाया नहीं जा सका। उसने आज तक कुछ भी नहीं किया है; उसने आज तक कुछ भी नहीं भोगा है; जो भी हुआ है, वह देखता रहा है। वह द्रष्टा ही है। और जो व्यक्ति साक्षी के भाव को उपलब्ध हो जाता है, इंद्रियां उसके वश में हो जाती हैं।

इन्द्रियाणि पराण्याहुरिन्द्रियेभ्यः परं मनः।

मनसस्तु परा बुद्धिर्यो बुद्धेः परतस्तु सः।। 42।।

(इस शरीर से तो) इंद्रियों को परे (श्रेष्ठ, बलवान और सूक्ष्म) कहते हैं (और) इंद्रियों से परे मन है और मन से परे बुद्धि है और जो बुद्धि से (भी) अत्यंत परे है, वह आत्मा है।

कृष्ण कहते हैं अर्जुन से कि और यदि तू ऐसा सोचता हो कि तेरी शक्ति के बाहर है इंद्रियों को वश में करना, तो तू गलत सोचता है, तू भूल भरी बात सोचता है।

इसे थोड़ा समझ लें। हम सब भी ऐसा ही सोचते हैं, इंद्रियों को वश में करना कठिन है। लेकिन यह ऐसी ही नासमझी की बात है कि कोई कहे, अपने हाथ को वश में करना कठिन है। हाथ मेरा है, मैं हाथ से बड़ा हूं। हाथ अंग है, मैं अंगी हूं। हाथ अंश है, मैं अंशी हूं। हाथ एक पार्ट है, मैं होल हूं। कोई भी हिस्सा अपने पूरे से बड़ा नहीं होता, कोई पार्ट होल से बड़ा नहीं होता। मेरी आंख मेरे वश में न हो! मैं आंख से ज्यादा हूं। आंख मेरे बिना

नहीं हो सकती, लेकिन मैं आंख के बिना हो सकता हूं। जैसे हाथ मेरे बिना नहीं हो सकता। इस हाथ को काट दें, तो हाथ मेरे बिना नहीं हो सकता, मर जाएगा, लेकिन मैं हाथ के बिना हो सकता हूं। मैं हाथ से ज्यादा हूं। मैं सारी इंद्रियों से ज्यादा हूं। मैं सारी इंद्रियों के जोड़ से ज्यादा हूं।

कृष्ण कहते हैं, यह तेरी भूल है, अगर तू सोचता हो कि मैं कमजोर हूं और इंद्रियों पर वश न पा सकूंगा, तो तू गलत सोचता है। इंद्रियों पर तेरा वश है ही, लेकिन तूने कभी घोषणा नहीं की, तूने कभी स्मरण नहीं किया, तूने कभी समझा नहीं है। मालिक तू है ही, लेकिन तुझे पता ही नहीं है कि तू मालिक है और अपने हाथ से तू नौकर बना हुआ है।

दूसरी बात वे यह कहते हैं कि इंद्रियों के पार मन है, मन के पार बुद्धि है, और बुद्धि के पार वह है, जिसे हम परमात्मा कहें। और ध्यान रहे, जो जितना पार होता है, वह जिसके पार होता है, उससे ज्यादा शक्तिशाली होता है। एक उदाहरण से समझें।

एक वृक्ष है। उसके पत्ते हमें दिखाई पड़ रहे हैं। पत्तों के पार शाखाएं हैं। शाखाएं पत्तों से ज्यादा शक्तिशाली हैं। आप पत्तों को काट दें, नए पत्ते शाखाओं में तत्काल आ जाएंगे। आप शाखा को काटें, तो नई शाखा को आने में बहुत मुश्किल हो जाएगी। शाखा पत्तों से शक्तिशाली है; वह पत्तों के पार है, पत्तों के पूर्व है, पत्तों से पहले है। पत्तों के प्राण शाखा में हैं, शाखा का प्राण पत्तों में नहीं है। शाखा को काटते ही पत्ते सब मर जाएंगे; पत्तों को काटने से शाखा नहीं मरती। पत्ते शाखा के बिना नहीं हो सकते हैं, शाखा पत्तों के बिना हो सकती है।

फिर शाखा से और नीचे चलें, तो पींड है वृक्ष की। पींड शाखाओं के पार है। पींड शाखाओं के बिना हो सकती है, लेकिन शाखाएं बिना पींड के नहीं हो सकती हैं। और पींड के नीचे चलें, तो जड़ें हैं। जड़ें पींड के भी पार हैं। पींड को भी काट दें, तो नए अंकुर आ जाएंगे; लेकिन जड़ों को काट दें, तो फिर नए अंकुर नहीं आएंगे। पींड के बिना जड़ें हो सकती हैं, जड़ों के बिना पींड नहीं हो सकती। जो जितना पार है, वह उतना शक्तिशाली है। जो जितना आगे है, वह उतना कमजोर है। जो जितना पीछे है, वह उतना शक्तिशाली है। असल में शक्तिशाली को पीछे रखना पड़ता है, क्योंकि वह सम्हालता है।

इसलिए कृष्ण कहते हैं, इंद्रियों के पीछे मन है। मन शक्तिशाली है, अर्जुन, इंद्रियों से बहुत ज्यादा। इसलिए अगर मन चाहे, तो किसी भी इंद्रिय को तत्काल रोक सकता है। और जब मन सक्रिय होता है, तो कोई भी इंद्रिय तत्काल रुक जाती है। आपके घर में आग लगी है, आप रास्ते से भागे चले जा रहे हैं। रास्ते पर कोई मिलता है; कहता है, नमस्कार! आपको दिखाई नहीं पड़ता है। आंखें पूरी ठीक हैं। नमस्कार करता है, कान दुरुस्त हैं, सुनाई नहीं पड़ता है। आप भागे जा रहे हैं। क्यों?

मन कहीं और है, मन अटका है, मकान में आग लगी है। अब यह वक्त नमस्कार करने का नहीं है और न लोगों को रास्ते पर देखने का है। कल वह आदमी मिलता है और कहता है, रास्ते पर मिले थे आप। बड़े पागल जैसे मालूम पड़ते थे। देखा, फिर भी आपने देखा नहीं; सुना, फिर भी आपने जवाब नहीं दिया। बात क्या है? नमस्कार की, आप कुछ बोले नहीं? आप कहते हैं, न मैंने सुना, न मैंने देखा। मकान में आग लगी थी, मन वहां था।

अगर मन हट जाए, तो इंद्रियां तत्काल बेकार हो जाती हैं। मन शक्तिशाली है। जहां मन है, इंद्रियां वहीं चली जाती हैं। जहां इंद्रियां हैं, वहां मन का जाना जरूरी नहीं है। आप ले जाते हैं, इसलिए जाता है। अगर आप

मन कहीं ले जाएं, इंद्रियों को वहां जाना ही पड़ेगा। वे कमजोर हैं, उनकी शक्ति मन से आती है; मन की शक्ति इंद्रियों से नहीं आती।

फिर कृष्ण कहते हैं, मन के पार बुद्धि है। बुद्धि जहां हो, मन को वहां जाना पड़ता है। बुद्धि जहां न हो, वहां मन को जाने की कोई जरूरत नहीं। लेकिन हमारी हालत उलटी है। मन जहां जाता है, वहीं हम बुद्धि को ले जाते हैं। मन कहता है, यह करो; हम बुद्धि से कहते हैं कि अब इसके लिए दलील दो कि क्यों और कैसे करें। मन बताता है करने के लिए और बुद्धि सिर्फ जस्टीफिकेशन खोजती है। बुद्धि से हम पूछते हैं कि चोरी करना है, तुम बताओ तर्क क्या है? तो बुद्धि कहती है कि सब धन चोरी है। जिनके पास है, उनकी भी चोरी है। तुम भी चोरी करो, हर्ज क्या है? हम बुद्धि से मन का समर्थन खोजते हैं।

कृष्ण कहते हैं, बुद्धि मन के पार है। है ही, क्योंकि जहां मन भी नहीं रह जाता, वहां भी बुद्धि रहती है। रात जब आप गहरी प्रगाढ़ निद्रा में खो जाते हैं, तो मन नहीं रह जाता। स्वप्न नहीं रह जाते, विचार नहीं रह जाते। मन गया। मन तो विचारों का जोड़ है। लेकिन सुबह उठकर आप कहते हैं कि रात बड़ा आनंद रहा, बड़ी गहरी नींद आई। न स्वप्न आए, न विचार उठे। किसको पता चला फिर कि आप गहरी नींद में रहे? किसने जाना, आनंद था? वह बुद्धि ने जाना।

बुद्धि मन के भी पार है। जो समर्थ हैं, वे बुद्धि से मन को चलाते हैं, मन से इंद्रियों को चलाते हैं। जो अपने सामर्थ्य को नहीं पहचानते और अपने हाथ से असमर्थ बने हैं, उनकी इंद्रियां उनके मन को चलाती हैं, उनका मन उनकी बुद्धि को चलाता है। वे शीर्षासन में जीते हैं; उलटे खड़े रहते हैं। फिर उनको अगर सारी दुनिया उलटी दिखाई पड़ती है, तो इसमें किसी का कोई कसूर नहीं है।

मैंने सुना है--पता नहीं कहां तक सच बात है, लेकिन सब सच हो सकता है--मैंने सुना है कि पंडित नेहरू एक दिन शीर्षासन कर रहे थे अपने बगीचे में और एक गधा उनके बंगले में घुस गया। एक तो राजनीतिज्ञों के बंगलों के आस-पास गधों के अतिरिक्त और कोई जाता नहीं। और आदमी जाता, तो संतरी रोक लेता, गधे को क्या रोकना! लेकिन वह साधारण गधा नहीं था, वह बोलने वाला गधा था। कई गधे बोलते हैं, इसमें कोई कठिनाई भी नहीं है। वह आकर पंडितजी के पास खड़ा हो गया। वे कर रहे थे शीर्षासन, उनको गधा उलटा दिखाई पड़ा। वे बड़े हैरान हुए। उन्होंने कहा, गधा, तू उलटा क्यों है? उस गधे ने कहा, पंडितजी! मैं उलटा नहीं हूं, आप शीर्षासन कर रहे हैं। तब तो वे घबड़ाकर उठकर खड़े हो गए। उन्होंने कहा, तू बोलता भी है! उस गधे ने कहा, मैं यही डर रहा था कि कहीं बोलने की वजह से आप मुझे मिलने से इनकार न कर दें। नेहरूजी ने कहा, बेफिक्र रह। मेरे पास इतने गधे आते हैं बोलते हुए कि मैं सुनते-सुनते आदी हो गया हूं। तू बेफिक्री से बोल। पर नेहरू को दिखाई पड़ा कि गधा उलटा है!

हम सबको भी जगत उलटा दिखाई पड़ता है। हम एक बहुत गहरे शीर्षासन में हैं। वह गहरा शीर्षासन शरीर के शीर्षासन से भी गहरा है, क्योंकि सब उलटा किया हुआ है। इंद्रियों की मानकर मन चल रहा है, मन की मानकर बुद्धि चल रही है और बुद्धि कोशिश करती है कि परमात्मा भी हमारी मानकर चले। पत्तों की मानकर शाखाएं चल रही हैं, शाखाओं की मानकर पींड चल रही है, पींड कोशिश कर रही है, जड़ें भी हमारी मानकर चलें। और अगर जड़ें नहीं मानती, तो हम कहते हैं, होंगी ही नहीं। अगर परमात्मा हमारी नहीं मानता, हम कहते हैं, नहीं है।

एक आदमी मेरे पास आया। उसने कहा, मैं तो परमात्मा को मानने लगा। क्या हुआ, मैंने कहा। उसने कहा कि मेरे लड़के को नौकरी नहीं लगती थी, मैंने परमात्मा को सात दिन का अल्टिमेटम दिया। सात दिन में

नौकरी लग जाए तो ठीक, अन्यथा तू नहीं है। और लग गई! और अब मैं मानने लगा। मैंने कहा कि तू परमात्मा को मानने लगा या परमात्मा तेरे को मानने लगा? उसको भी मनाने की कोशिश चल रही है। मैंने कहा, अगर कल लड़के की नौकरी छूट जाए? तो उसने कहा कि फिर मुझे भरोसा नहीं रहेगा। हम उलटे चल रहे हैं जीवन को।

कृष्ण कहते हैं, इंद्रियां मानें मन की, मन माने बुद्धि की, बुद्धि परमात्मा के लिए समर्पित हो, बुद्धि माने परमात्मा की। तब व्यक्तित्व सीधा, सरल, ऋजु--और तब व्यक्तित्व धार्मिक, आध्यात्मिक हो पाता है।

एक और, एक आखिरी और।

एवं बुद्धेः परं बुद्ध्वा संस्तभ्यात्मानमात्मना।

जाहि शत्रुं महाबाहो कामरूपं दुरासदम्।। 43।।

इस प्रकार बुद्धि से परे अपने आत्मा को जानकर (और) बुद्धि के द्वारा मन को वश में करके हे महाबाहो, (अपनी शक्ति को समझकर इस) दुर्जय कामरूप शत्रु को मार।

अंतिम श्लोक है। कृष्ण कहते हैं, अपनी शक्ति को पहचानकर, और अपनी शक्ति परमात्मा की ही शक्ति है, और अपनी परम ऊर्जा को समझकर, और अपनी परम ऊर्जा परमात्मा की ही ऊर्जा है, इंद्रियों को वश में कर मन से, मन को वश में ला बुद्धि से और बुद्धि की बागडोर दे दे परमात्मा के हाथ में। और फिर इस दुर्जय काम के तू बाहर हो जाएगा, इस दुर्जय वासना के तू बाहर हो जाएगा।

इसमें दो-तीन बातें बहुत कीमत की हैं। एक तो यह कि क्रमशः जो जितना गहरा है, उतना ही सत्यतर है; और जो जितना गहरा है, उतना ही शक्तिवान है; और जो जितना गहरा है, उतना ही भरोसे योग्य है, ट्रस्टवर्दी है। जो जितना ऊपर है, उतना भरोसे योग्य नहीं है। लहरें भरोसे योग्य नहीं हैं, सागर की गहराई में भरोसा है। ऊपर जो है, वह सिर्फ आवरण है; गहरे में जो है, वह आत्मा है। इसलिए तू ऊपर को गहरे पर मत आरोपित कर, गहरे को ही ऊपर को संचालित करने दे। और एक-एक कदम वे पीछे हटाने की बात करते हैं। कैसे?

इंद्रियों को मन से। साधारणतः इंद्रियां आदत के अनुसार चलती हैं, मन के अनुसार नहीं, क्योंकि मन के अनुसार हमने उन्हें कभी चलाया नहीं होता। इंद्रियां आदत के अनुसार चलती हैं। आपका समय हुआ, हाथ खीसे में जाएगा, सिगरेट का पैकेट निकाल लेगा, सिगरेट निकाल लेगा। अभी आपको कुछ पता नहीं कि क्या हो रहा है। हाथ कर रहा है, आटोमैटिक। हो सकता है, आपको बिल्कुल ख्याल ही न हो। अपनी दूसरी धुन में लगे हैं। मन कुछ और कर रहा है, मन कुछ और सोच रहा है। हाथ सिगरेट निकाल लेगा, मुंह में दबा देगा, माचिस जला लेगा, आग लगा देगा। धुआं खींचने लगेंगे, बाहर निकालने लगेंगे; और मन अपना काम जारी रखेगा। मन को इसका पता ही नहीं है। हां, मन को तो पता तब चले, जब खीसे में हाथ डालें और पैकेट न हो। तब मन को पता चलता है, क्या बात है? पैकेट कहां है? अन्यथा मन की कोई जरूरत ही नहीं पड़ती। इंद्रियों से हम इतने वशीभूत होकर जीते हैं कि इंद्रियां जब अड़चन में होती हैं, तभी मन की जरूरत पड़ती है। अन्यथा मन को वे कहती हैं कि तुम आराम करो, तुमसे कोई लेना-देना नहीं है, हम अपना काम कर लेंगे। पता ही नहीं चलता!

इंद्रियों ने सारा काम अपने हाथ में ले लिया है। ले लिया है, कहना ठीक नहीं, हमने दे दिया है। हमने धीरे-धीरे उन्हें आटोनामस सत्ता दे दी है, कह दिया है कि तुम सम्हालो यह काम। वे सम्हाल लेती हैं। इस स्थिति में मन को बीच में लाना पड़ेगा। अभी मन आता है बीच में, लेकिन तभी आता है, जब इंद्रियां अड़चन में होती

हैं। अर्थात इंद्रियों को जब सेवा की जरूरत होती है, तभी मन बीच में आता है। मालकियत के लिए कभी मन को बीच में नहीं बुलातीं वे। सेवा की जरूरत होती है, वे कहती हैं, पैकेट नहीं है सिगरेट का! जाओ, बाजार से खरीदकर लाओ, इंद्रियां कहती हैं। वह बाजार जाता है, वह सिगरेट का पैकेट खरीदकर लाता है। नहीं तो सिगरेट हैं, तो वे कहती हैं, तुम अपना काम करो, तुम क्यों बीच में दखलंदाजी करते हो, हम अपना काम कर रहे हैं।

हमने सारा काम अपनी इंद्रियों पर सौंप दिया है, अब वे हमें चलाती रहती हैं। मन को बीच में कब लाया जाएगा, जब हम मन को सिर्फ सेवा के लिए न लाते हों, मालकियत के लिए लाते हों।

अगली बार जब खीसे में हाथ जाए, तो मन को लाएं; हाथ से मत निकालें सिगरेट, मन से निकालें। मनःपूर्वक निकालें। मनःपूर्वक सिगरेट निकालने का मतलब है, जानते हुए निकालें कि अब मैं सिगरेट पीने जा रहा हूं, सिगरेट निकाल रहा हूं। जानते हुए मुंह में लगाएं कि अब मैं सिगरेट मुंह में लगा रहा हूं। जानते हुए आग जलाएं और जानते हुए कि अब मैं धुआं भीतर ले जाता और बाहर निकालता और मैं बड़ा बुद्धिमान आदमी हूं! परमात्मा है या नहीं, इसका विचार करता। गीता का क्या अर्थ है, इसका हिसाब लगाता। और अब मैं धुआं बाहर और भीतर करने का काम कर रहा हूं--ईडियाटिक, स्टुपिड। एक आदमी धुआं बाहर-भीतर करे, इससे स्टुपिड और कोई काम हो सकता है! अब मैं यह कर रहा हूं, मैं स्टुपिड आदमी हूं, ऐसा समझकर करें। बुद्धिमान मत समझें। हालांकि हालत उलटी है। सिगरेट पीने वाले जब सिगरेट नहीं पीते, तो उतने अकड़े हुए नहीं मालूम पड़ते, जब पीते हैं तब वे ज्यादा अकड़ जाते हैं। लगता है कि बहुत बुद्धिमानी का काम कर रहे हैं। बड़ा कोई, कोई ऐसा काम कर रहे हैं प्रतिभा का, जिसका कोई हिसाब लगाना मुश्किल है।

जरूर कहीं भूल हो रही है। थोड़ा एनालाइज करें, विश्लेषण करें कि क्या, कर क्या रहे हैं? धुआं बाहर-भीतर कर रहे हैं! मशीन भी कर सकती है। इसमें बुद्धिमानी की कहां जरूरत आती है? और जानते हुए कर रहे हैं कि यह धुआं क्या करता है! भलीभांति जानते हुए कर रहे हैं। यह क्या कर रहे हैं? अगर एक आदमी अपने कमरे की कुर्सी इधर से उठाकर उधर रखे, उधर से उठाकर इधर रखे, तो आप कहेंगे, पागल है। क्यों? धुआं इधर से उधर करना पागलपन नहीं है, तो कुर्सी इधर से उधर करना पागलपन है? तो धुएं ने ऐसा कौन-सा पुण्य कर्म किया है और कुर्सी का ऐसा क्या पाप है!

नहीं, मनःपूर्वक करें, और करना मुश्किल हो जाएगा। जो भी इंद्रियां करवाती हों, उसको पूरे मनःपूर्वक, विद फुल अवेयरनेस, पूरे होशपूर्वक करें कि यह मैं कर रहा हूं। और जानते हुए करें कि मैं क्या कर रहा हूं! और आप पाएंगे कि इंद्रियों की शक्ति मन से कम होती चली जाएगी और मन की शक्ति इंद्रियों पर बढ़ती चली जाएगी।

फिर ऐसा ही मन के साथ बुद्धि के द्वारा करें। मन कुछ भी करता रहता है, आप करने देते हैं। कभी बुद्धि को बीच में नहीं लाते, जब तक कि मन उलझ न जाए। आप करते रहते हैं मन में।

एक आदमी बैठा हुआ है अपनी कुर्सी पर। वह न मालूम क्या-क्या सोच रहा है कि इस बार अब मध्यावधि चुनाव में खड़े हो गए हैं, इलेक्शन जीत ही गए। अभी मध्यावधि हुआ नहीं, लेकिन वे जीत गए अपनी कुर्सी पर। अब वे देख रहे हैं, उनका जुलूस निकल रहा है, प्रोसेशन निकल रहा है। अब यह मन कर रहा है और बुद्धि कहीं नहीं आएगी इसमें बीच में। बुद्धि को कोई मतलब ही नहीं है; मन को करने दे रहे हैं आप।

बुद्धि को हम तभी बीच में लाते हैं। जब मन उलझ जाता। उलझ जाता मतलब यह कि आप जब कोई ऐसी चीज पाते हैं जो मन हल नहीं कर पाता, कोई प्राब्लम खड़ा हो जाता, मन के बाहर होता। गाड़ी चलाए

चले जा रहे हैं अपनी, स्टीअरिंग हाथ में लिए हैं, सिगरेट मुंह में दबी है; चले जा रहे हैं कार चलाते हुए। और मन इलेक्शन जीत रहा है और यह सब चल रहा है। एकदम एक्सिडेंट होने की हालत आ जाती है, तो मन बंद होता है और बुद्धि आती है। कभी आपने ख्याल किया, जब एकदम से ब्रेक लगता है, तो मन एकदम झटके से बंद हो जाता है। श्वास भी ठहर जाती है, विचार भी ठहर जाता है। तत्काल बुद्धि आ जाती है कि उसकी जरूरत पड़ी; अब यह मन के हाथ में नहीं छोड़ा जा सकता इतना खतरनाक मामला, तो बुद्धि बीच में आ जाती है। तत्काल बुद्धि कुछ करती है। बुद्धि को आप तभी बुलाते हैं, जब उसकी सेवा की जरूरत होती है। अन्यथा मन अपना करता रहता है।

नहीं, बुद्धि को बीच में लाएं। जब मन चुनाव जीतने लगे, जब प्रोसेशन निकलने लगे, तब जरा बुद्धि को कहें कि आओ, देखो, यह मन क्या कर रहा है! यह मैं क्या कर रहा हूं! तो आपके कितने सपने न बिखर जाएं, और आपके मन की कितनी कामनाएं न गिर जाएं, और मन के कितने व्यर्थ के जाल न टूट जाएं। और बुद्धि बीच में आए, तो मन एकदम डर जाता है। बुद्धि बीच में आए, तो मन की हालत वैसी हो जाती है, जैसे शिक्षक कमरे में आता है, तो बच्चों की हो जाती है। वे जल्दी अपनी-अपनी जगह ठीक-ठाक बैठ गए हैं। सब काम ठीक हो गया, कोई दूसरे की जगह पर नहीं है।

लेकिन बुद्धि को हम बीच में आने नहीं देते। हमारे मन की हालत ऐसी है जैसे... पुराने जमाने में तो ऐसा होता था, अब तो इससे उलटा होगा, अभी होता तो नहीं, लेकिन होगा। शिक्षक अक्सर उपद्रवी लड़कों को क्लास के बाहर कर देता था। अब आगे तो ऐसा ही होगा कि लड़के अक्सर उपद्रवी शिक्षकों को क्लास के बाहर कर देंगे, कि आप बाहर रहिए, हम भीतर अपने शांति से हैं। तो मन जो है वह शिक्षक को, बुद्धि को बाहर किए जीता है। और मन अपना करता रहता है, वह जो नासमझियां कर सकता है, करता है; क्योंकि मन के पास कोई विवेक नहीं है। मन ड्रीमिंग फैकल्टी है, सिर्फ स्वप्नवान है। मन सिर्फ सपने देख सकता, कल्पना कर सकता, स्मृतियां कर सकता है। मन सोच नहीं सकता। मन के पास विचार की शक्ति नहीं है। विचार की शक्ति बुद्धि के पास है।

बुद्धि को बीच में लाएं और मन के कामों को बुद्धि के लिए कहें कि जागरूक होकर मन को करने दे। मन जो भी करे, बुद्धि को सदा खड़ा रखें और कहें कि देख, मन क्या कर रहा है! और मन उसी तरह दीन हो जाता है, जैसे इंद्रियां मन के आने से दीन होती हैं। बुद्धि के आने से मन दीन हो जाता है।

और यह जो बुद्धि है, इसको भी सब कुछ मत सौंप दें, क्योंकि यह भी परम नहीं है। परम तो इसके पार है, जहां से यह बुद्धि भी आती है। तो यह भी हो सकता है, एक आदमी बुद्धि से मन को वश में कर ले, मन से इंद्रियों को वश में कर ले, लेकिन बुद्धि के वश में हो जाए, तो अहंकार से भर जाएगा। बुद्धि ईगोइस्ट हो जाएगी। बुद्धि बहुत ईगोइस्टिक है, बुद्धि बहुत अहंकारपूर्ण है। वह कहेगा, मैं जानता, सब मुझे पता है। मैंने मन को भी जीता, इंद्रियों को भी जीता, अब मैं बिल्कुल ही अपना सम्राट हो गया हूं। तो यहां भी अटकाव हो जाएगा। बुद्धि सोच सकती है, विचार सकती है। लेकिन जीवन का सत्य अगम है, बुद्धि की पकड़ के बाहर है। बुद्धि कितना ही सोचे, सोच-सोचकर कितना ही पाए, फिर भी जीवन एक रहस्य है, एक मिस्ट्री है; और उसके द्वार बुद्धि से नहीं खुलते।

हां, बुद्धि भी जब उलझती है, तब परमात्मा को याद करती है। लेकिन जब तक सुलझी रहती है, तब तक कभी याद नहीं करती। धंधा बिल्कुल ठीक चल रहा है, दुकान ठीक चल रही है, पैसा ठीक आ रहा है, लाभ ठीक हो रहा है, गणित ठीक हल हो रहा है, विज्ञान की खोज ठीक चल रही है--परमात्मा की कोई याद नहीं आती। आपने ख्याल किया, जब दुख में पड़ती है बुद्धि, तब परमात्मा की याद आती है। जब उलझती है, जब लगता है, अपने से अब क्या होगा! पत्नी मरती है और डाक्टर कहते हैं कि बस यहीं मेडिकल साइंस का अंत आ गया। अब हम कुछ कर नहीं सकते। जो हम कर सकते थे, वह हम कर चुके। जो हम कर सकते हैं, वह हम कर रहे हैं। लेकिन अब हमारे हाथ में कुछ भी नहीं है। तब एकदम हाथ जुड़ जाते हैं कि हे भगवान! तू कहां है? लेकिन अभी तक कहां था भगवान? यह डाक्टर की बुद्धि थक गई, अपनी बुद्धि थक गई, अब भगवान है!

नहीं, इतने से नहीं चलेगा। जब बुद्धि हारती है, तब समर्पण का कोई मजा नहीं। हारे हुए समर्पण का कोई अर्थ है? जब बुद्धि जीतती है और जब सुख चरणों पर लोटता है और जब लगता है, सब सफल हो रहा है, सब ठीक हो रहा है, बिल्कुल सब सही है, तब जो आदमी परमात्मा को स्मरण करता है, उसकी बुद्धि परमात्मा के लिए समर्पित होकर परमात्मा के वश में हो जाती है।

इंद्रियों को दें मन के हाथ में, मन को दें बुद्धि के हाथ में, बुद्धि को दे दें परम सत्ता के हाथ में।

और कृष्ण कहते हैं, हे कौन्तेय, हे अर्जुन, ऐसा जो अपने को संयमित कर लेता, वह व्यक्ति दुर्जय कामना के पार हो जाता है अर्थात वह आत्मा को उपलब्ध हो जाता है।

मेरी बातों को इतनी शांति और प्रेम से सुना, उससे बहुत अनुगृहीत हूं और अंत में सबके भीतर बैठे परमात्मा को प्रणाम करता हूं, मेरे प्रणाम स्वीकार करें।